श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रो विजयेतमाम्

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

❋ ❋ ❋

आदिलीला

❋ ❋ ❋

प्रथम परिच्छेद

कथासार—इस प्रथम परिच्छेद के पहले चरण में तत्त्वको निरूपण करने के लिए चौदह श्लोक वर्णन किये गये हैं। श्रीमदनमोहन, श्रीगोविन्ददेव और श्रीगोपी- नाथ को सम्बोधित करने वाला मङ्गलाचरण श्लोक संख्या १५-१७ में दिया गया है। पहले १४ श्लोकों के प्रथम श्लोक में सामान्य रूप से छह तत्त्वों की वन्दना की गयी है। इनकी विशेष व्याख्या में ही इस परिच्छेद की समाप्ति हुई है। गुरु-शब्द से—दीक्षागुरु एवं शिक्षागुरु को समझना चाहिए; शिष्योंमें यह अभिमान रहना आवश्यक है कि, वे श्रीकृष्ण के प्रकाश हैं। ईश के भक्त सिद्ध तथा साधक भेद से दो प्रकार के होते हैं। ईश का अर्थ स्वयंरूप श्रीकृष्ण और उनके कायव्यूह हैं। अंशावतार, गुणावतार और शक्त्यावेशावतार, ये तीन प्रकार के अवतार हैं। इस प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण के प्रकाशतत्त्व और इसके साथ- साथ विलासतत्त्व का भी वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण की तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं—इनमें वैकुण्ठ आदि में लक्ष्मीगण, द्वारका में महिषीगण और इनमें सर्वोत्तम व्रज की गोपीगण हैं। श्रीकृष्ण और उनके कायव्यूह ईशतत्त्व तथा भक्तगण आवरण तत्त्व हैं—इसलिए वह उनकी शक्ति विशेष हैं। शक्ति एवं शक्तिमान में अभेद-बुद्धि के कारण नित्य अभेद है एवं शक्तिमान और शक्ति की पृथक् बुद्धि के कारण नित्य भेद रहता है। इसी प्रकार एक अखण्ड तत्त्व अपनी अचिन्त्य-शक्ति के द्वारा प्रतिपादित होता है। इसी सिद्धान्त का वेदान्त-सम्मत नाम ही अचिन्त्यभेदाभेद

तत्त्व है। इसी परिच्छेद के अन्तिम भाग में श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु के स्वरूप तथा माहात्म्य वर्णित हुआ है।

(अ: प्र: भा:)

अमृतप्रवाह भाष्य

श्रीचैतन्य, नित्यानन्द, अद्वैत प्रेमरे कन्द,
हरिदास, स्वरूप गोसाञी।
श्रीवंशीवदनानन्द, सार्वभौम, रामानन्द,
रूप, सनातन—दुइ भाइ॥
श्रीजीव, गोपालभट्ट, दासरघुनाथ, भट्ट,
शिवानन्द, कविकर्णपूर।
नरोत्तम, श्रीनिवास, रामचन्द्र, कृष्णदास,
बलदेव, चक्रवर्त्तीधूर॥
ईश, ईशभक्तगणे, प्रणमिया सयतने,
'अमृतप्रवाह—भाष्य' सार।
चैतन्य-चरितामृत, करीलाम सुविस्तृत,
भक्तवृन्द करह विचार॥
गौरकथा-पयोराशि, कृष्णदास ताहे भासि',
आनियाछे अमृतेर धार।
सेइ काव्य-सुधापाने, वैष्णव शीतल-प्राणे,
आरो पिते चाहे बारबार॥
एइ दीन अकिञ्चने, आज्ञा दिल सर्वजने,
भाष्य तार करिते रचन।
साधु-आज्ञा शिरे धरि यत्ने एइ भाष्य करि',
साधुकरे करिनु अर्पण॥

अनुभाष्य

महाप्रभु श्रीचैतन्य, राधाकृष्ण नहे अन्य,
रूपानुग-जनेर जीवन।
विश्वम्भर-प्रियंकर श्रीस्वरूप दामोदर,
ताँर मित्र रूप-सनातन॥
रूपप्रिय महाजन, रघुनाथ भक्तधन,
ताँर प्रिय कवि कृष्णदास।
कृष्णदास-प्रियवर नरोत्तम सेवापर,
याँर पद विश्वनाथ आश॥
भक्तराज विश्वनाथ, ताँहे श्रद्ध जगन्नाथ,
ताँर प्रिय भक्तिविनोद।
महाभागवतवर, श्रीगौरकिशोर वर,
हरिभजनेते याँर मोद॥
एइ सब हरिजन, गौरांगेर निजजन,
ताँदेर उच्छिष्टे यार काम।
श्रीवार्षभानवी वरा, सदा सेव्य-सेवापरा,
ताँहार दयित-दास नाम॥
हरिजन-सेवा-आशे, भक्तिवृद्धि-अभिलाषे,
प्रवाहभाष्येर अनुगत।
गौरजन-शास्त्र देखि' सेइ अनुसारे लिखि,
'अनुभाष्य' रूपानुगमत॥

मङ्गलाचरण आरम्भ

श्रीकृष्णचैतन्यतत्त्व के प्रति सामान्य नमस्कार—

वन्दे गुरुनीशभक्तानीशमीशावतारकान्।
तत्प्रकाशांश्च तच्छक्तिः कृष्णचैतन्यसंज्ञकम्॥१॥

इष्टदेव-युगल के प्रति विशेष नमस्कार; एकसाथ चन्द्र-सूर्य की भाँति निताई-गौरका उदय और जीवोंके प्रति दया—

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ सहोदितौ।
गौडोदये पुष्पवन्तौ चित्रौ शन्दौ तमोनुदौ॥२॥

ग्रन्थ की प्रतिपाद्य तत्त्ववस्तु का निर्देश— अद्वितीय परमतत्त्व एक ही गौरकृष्ण के तीन प्रकार के प्रतीतिभेद—

यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा
य आत्मान्तर्यामी पुरुष इति सोऽस्यांशविभवः।
षडैश्वर्यैः पूर्णो य इह भगवान स स्वयमयं
न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्त्वं परमिह॥३॥

आशीर्वाद एवं गौरावतार के बाह्य कारण— (विदग्धमाधव के प्रथम अंक का द्वितीय श्लोक)

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः॥४॥

गौरावतार का मूल प्रयोजन;
(स्वरूप गोस्वामी के कड़चा से उद्धृत)
गौरतत्त्ववर्णन—

राधा कृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-
देकात्मानावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्वयं चैक्यमाप्तं
राधाभावद्युतिसुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्॥५॥

गौरावतार का मूल प्रयोजन;
तीन प्रकार के गुह्यकारण—

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यञ्चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभा-
त्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरिन्दुः॥६॥

श्रीनित्यानन्द तत्त्व एवं
उनके प्रति प्रणाम—

संकर्षणः कारणतोयशायी
गर्भोदशायी च पयोब्धिशायी
शेषश्च यस्यांशकला स नित्या-
नन्दाख्यरामः शरणं ममास्तु॥७॥

श्रीनित्यानन्द के पञ्चरूप—
(१) वैकुण्ठ में संकर्षणरूप—

मायातीते व्यापिवैकुण्ठलोके
पूर्णैश्चर्ये श्रीचतुर्व्यूहमध्ये।
रूपं यस्योद्भाति संकर्षणाख्यं
तं श्रीनित्यानन्दरामं प्रपद्ये॥८॥

(२) जीव एवं जगत् के कारण, परमात्मा—
कारणोदशायी प्रथम पुरुष—

मायाभर्त्ताजाण्डसंघाश्रयांगः
शेते साक्षात् कारणाम्बोधिमध्ये।
यस्यैकांशः श्रीपुमानादिदेव-
स्तं श्रीनित्यानन्दरामं प्रपद्ये॥९॥

(३) पद्मयोनि (ब्रह्मा) के पिता—
गर्भोदशायी द्वितीय पुरुष—

यस्यांशांशः श्रीलगर्भोदशायी
यन्नाभ्यब्जं लोकसंघातनालम्।
लोकस्रष्टुः सूतिकाधामधातु-
स्तं श्रीनित्यानन्दरामं प्रपद्ये॥१०॥

(४) क्षीरोदशायी तृतीय पुरुष
(५) भूधारी 'शेष'—

यस्यांशांशांशः परात्माखिलानां
पोष्टा विष्णुर्भाति दुग्धाब्धिशायी।
क्षौणिभर्त्ता यत्कलां सोऽप्यनन्त-
स्तं श्रीनित्यानन्दरामं प्रपद्ये॥११॥

श्रीअद्वैत तत्त्व एवं
उनके प्रति प्रणाम—

महाविष्णुर्जगतकर्त्ता मायया यः सृजत्यदः।
तस्यावतार एवायमद्वैताचार्य ईश्वरेः॥१२॥
अद्वैतं हरिणाद्वैताचार्यं भक्तिशंसनात्।
भक्तावतारमीशं तमद्वैताचार्यमाश्रये॥१३॥

पञ्चतत्त्व का स्वरूप एवं उन सबके प्रति प्रणाम—

पञ्चतत्त्वातकं कृष्णं भक्तरूपस्वरूपकम्।
भक्तावतारं भक्ताख्यं नमामि भक्तशक्तिकम्॥१४॥

अनुभाष्य

१-१४। ग्रन्थकार ने मङ्गलाचरण के उद्देश्य से आदि लीला के प्रारम्भ में चौदह श्लोकों को लिखा है, जिनमें ग्रन्थ की प्रतिपाद्य वस्तु का निर्देश, श्रोताओं को आशीर्वाद तथा नमस्कार किया गया है। आदि लीला के प्रथम सात

परिच्छेदों में इन्हीं तीनों का क्रमानुसार विस्तृत रूप से वर्णन हुआ है।

निजाभीष्ट सम्बन्धाधिदेवता के प्रति प्रणाम—

जयतां सुरतौ पंगोर्मम मन्दमतेर्गती।
मत्सर्वस्वपदाम्भोजौ राधामदनमोहनौ॥१५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५। मुझ जैसे पंगु एवं मन्दबुद्धि वाले की जो एकमात्र गति हैं तथा जिनके श्रीचरणकमल ही मेरे सर्वस्व धन हैं, वह परम कृपालु श्रीश्रीराधामदनमोहन जययुक्त हों।

अनुभाष्य

ग्रन्थकार द्वारा स्वकृत श्लोक—

१५। पंगो: (स्वपद्भ्यां निजबलेन स्थानान्तरगमने- ऽसमर्थस्य) मन्दमते: (विषयाविष्टस्याल्पधिय: अन्या- भिलाषकर्म्मज्ञानादिसाधनोद्यमरहितस्यैकान्तिन:) मम गती ('गम्यते' इति गति: आश्रय: तथाभूतौ) मत्सर्वस्वपदा- म्भोजौ (मम सर्वस्वरूपे पदाम्भोजे ययोस्तौ) सुरतौ (दयालू मिथोऽत्यन्तानुरक्तौ वा) राधामदनमोहनौ (तत्तद्भिधदेवौ) जयेतां (सर्वोत्कर्षेण वर्त्तेताम्)।

निजाभीष्ट अभिधेयादिदेवता के प्रति प्रणाम—

दीव्यद् वृन्दारण्यकल्पद्रुमाध:
श्रीमद रत्नागारसिंहासनस्थौ।
श्रीश्रीराधा श्रीलगोविन्ददेवौ
प्रेष्ठालीभि: सेव्यमानौ स्मरामि॥१६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१६। ज्योतिर्मयशोभाविशिष्ट वृन्दावन के कल्पवृक्ष के नीचे, रत्नमन्दिर में स्थित सिंहासन पर विराजमान जिन श्रीश्रीराधागोविन्द की प्रियसखीगण सेवा कर रही हैं, मैं उनका स्मरण करता हूँ।

अनुभाष्य

१६। दीव्यद्वृन्दारण्य-कल्पद्रुमाध: (दीव्यतिपरमो- त्कृष्टे मनोहरे वृन्दाविपिने कल्पवृक्षस्य अधोमूले) श्री- मद्रत्नागारसिंहासनावस्थितौ प्रेष्ठालीभि: (सेवापराभि: श्रीरूपमंजर्यादिपरिवृत श्रीललितादि-प्रियनर्मसखीभि:) सेव्यमानौ श्रीश्रीराधा-श्रीलगोविन्द देवौ स्मरामि।

निजाभीष्ट प्रयोजनाधिदेवता के प्रति प्रणाम—

श्रीमान् रासरसारम्भी वंशीवटतटस्थित:।
कर्षन् वेणुस्वनैर्गोपीर्गोपीनाथ: श्रियेऽस्तु न:॥१७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१७। वंशीवट के तट पर स्थित रासरसप्रवर्त्तक जो श्रीमद्गोपीनाथ वेणुध्वनि के द्वारा गोपियों का आकर्षण कर रहे हैं। वे हमारा मङ्गल विधान करें।

अनुभाष्य

१७। श्रीमान् (परमशोभामयविग्रह:) रासरसारम्भी (रासरसप्रवर्त्तक:) वेणुस्वनै: (वंशीध्वनिभि:) गोपी: (व्रजगोपवधू:) कर्षन् (कृष्णेतरवासना: शिथिलीकुर्वन् गृहात् वंशीनिनाद-रूपप्रेमरज्जुबलेन आनयन्) वंशीवट- तट स्थित: (वंशीवटतरोर्मूले अवस्थित: सन्) गोपी- नाथ: (स्वच्छन्दं विहरति स:) न: (अस्माक) श्रिये (प्रेमसम्पत्त्यै) अस्तु (भवतु)।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥१८॥

१८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो एवं गौरभक्तवृन्द की जय हो।

गौड़ीयों के अभीष्ट आराध्य तीन विग्रह—

एइ तिनठाकुर गौड़ीयाके करियाछेन आत्मसात्।
ए तिनेर चरण वन्दों, तिने मोर नाथ॥१९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९। श्रीमदनमोहन, श्रीगोविन्ददेव एवं श्रीगोपी- नाथ—यह तीन ठाकुर वृन्दावन के अधिदेव हैं; इन्होंने गौड़ीय भक्तों को अपनी सेवा में अधिकार प्रदान करके अपना निज जन बनाया है।

अनुभाष्य

१९। गौड़ीयवैष्णवों के सेव्य अष्टादशाक्षरमन्त्र में निर्दिष्ट श्रीकृष्ण ही श्रीमदनमोहन, श्रीगोविन्द ही श्री- गोविन्ददेव और गोपीजनवल्लभ ही श्रीगोपीनाथ हैं। मदनमोहन के रूप में श्रीकृष्ण की अनुभूति ही सम्बन्ध है। गोविन्द की सेवा ही अभिधेय है एवं गोपीजनवल्लभ के द्वारा आकर्षण ही प्रयोजन है। श्रीमन् महाप्रभु के द्वारा उपदिष्ट सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन—तीनों तत्त्वों के आश्रय भगवद्-विग्रह ये तीन ठाकुर ही श्रीवृन्दावन के अधिदेव हैं।

'गौड़ीय'-शब्द का अर्थ गौड़देश में रहने वाले हैं। हिमालय के दक्षिण में स्थित विन्ध्या के उत्तरीभाग भारतवर्ष को 'आर्यावर्त्त' कहते हैं। यहाँ पञ्च गौड़देश—यथा सारस्वत, कान्यकुब्ज (लक्ष्मणावती), मध्यगौड़, मैथिल और उत्कल (उड़ीसा) अवस्थित है। बंगदेश (बंगाल) को अनेक व्यक्ति गौड़देश कहते हैं। विशेष रूप से बंगदेश की राजधानी 'गौड़' नाम से जानी जाती थी। वही पहले गौड़पुर, बाद में श्रीमायापुर के नाम से प्रसिद्ध है। उत्कलदेश के भक्तों को जैसे 'उड़िया भक्त' कहा जाता है, और द्राविड़ देश के भक्तों को जैसे द्राविड़ी भक्त कहा जाता है, उसी प्रकार बंगदेश के भक्तों को 'गौड़ीय भक्त' के नाम से जाना जाता है। फिर दाक्षिणात्य, पञ्च- द्रविड़ के नाम से जाने जाते हैं। चारों वैष्णव सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों ने द्रविड़देश में ही जन्म ग्रहण किया है। उनके आश्रित द्रविड़-वैष्णवगण से पृथक होने के कारण गौड़ीय-शब्द प्रचलित होने की असम्भावना नहीं है। श्रीरामानुजाचार्य ने दक्षिण आन्ध्र प्रदेश के महाभूतपुरी में, श्रीमध्वाचार्य ने मांगालोर जिला में विमान गिरि के समीप 'पाजकम्' क्षेत्र में, श्रीनिम्बादित्य ने दक्षिणापथ के मुंगेरपत्तन गाँव में एवं श्रीविष्णुस्वामी ने पाण्ड्यदेश में जन्म ग्रहण किया है। श्रीमन् महाप्रभु ने यद्यपि श्रीमाध्व- सम्प्रदाय को स्वीकार किया है, तथापि माध्वमत में स्थित तत्त्व-वादशाखावलम्बी वैष्णवाचार्यगण द्राविडीय ही हैं। उनके आश्रित द्रविड़-वैष्णवों से (गौड़देश में आविर्भूत) श्रीमन् महाप्रभु के आश्रित भक्तों के पृथक परिचय 'गौड़ीय' शब्द के प्रचलित होने की असम्भावना नहीं है। इसलिए श्रीगौरपदाश्रित सम्प्रदाय 'गौड़ीय' नाम से अभिहित हैं। विशेष करके श्रीआनन्दतीर्थ पूर्णपज्ञ मध्वा- चार्य का दूसरा नाम श्रीगौड़पूर्णानन्द है। इसलिए श्रीगौर- भक्तगण माध्व अथवा गौड़ीय-शब्द से भी जाने जा सकते हैं।

स्वकृत मङ्गलाचरण-व्याख्या—

ग्रन्थेर आरम्भे करि मंगलाचरण।
गुरु, वैष्णव, भगवान्—तिनेर स्मरण॥२०॥
तिनेर स्मरणे हय विघ्नविनाशन।
अनायासे हय निज-वाञ्छितपूरण॥२१॥
से मंगलाचरण हय त्रिविध प्रकार।
वस्तुनिर्देश, आशीर्वाद, नमस्कार॥२२॥
प्रथम दुइ श्लोके इष्टदेव-नमस्कार।
सामान्य-विशेष-रूपे दुइ त' प्रकार॥२३॥
तृतीय श्लोकेते करि वस्तुर निर्देश।
याहा हैते हय परतत्त्वेर उद्देश॥२४॥

चतुर्थ श्लोकेते करि जगते आशीर्वाद।
सर्वत्र मागिये कृष्णचैतन्य-प्रसाद॥२५॥
सेइ श्लोके कहि बाह्यावतार-कारण।
पञ्च षष्ठ श्लोके कहि मूल प्रयोजन॥२६॥
एइ छय श्लोके कृष्णचैतन्येर तत्त्व।
आर पञ्च श्लोके नित्यानन्देर महत्त्व॥२७॥
आर दुइ श्लोके अद्वैत-तत्त्वाख्यान।
आर एक श्लोके पञ्चतत्त्वेर व्याख्यान॥२८॥
एइ चौद्दश्लोके करि मंगलाचरण।
तहि मध्ये कहि सब वस्तुनिरूपण॥२९॥
सब श्रोता वैष्णवेरे करि' नमस्कार।
एइ सब श्लोकेर करि अर्थ-विचार॥३०॥
सकल वैष्णव, शुन करि' एकमन।
चैतन्य-कृष्णेर शास्त्र ये मत निरुपण॥३१॥

२०-३१। प० अनु०—गुरु, वैष्णव, भगवान्—इन तीनों को स्मरण करते हुए ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण कर रहा हूँ। क्योंकि इन तीनों के स्मरण से विघ्नों का नाश हो जाता है और अनायास ही अपने वाञ्छाओं की पूर्त्ति होती है। यह मङ्गलाचरण वस्तुनिर्देश, आशीर्वाद और नमस्कार रूप से तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम दो श्लोकों में सामान्य तथा विशेष—यह दो प्रकार का इष्टदेव नमस्कार रूपी मङ्गलाचरण किया गया है। तृतीय श्लोक में वस्तुनिर्देश किया गया है, जिसमें परमतत्त्व क्या वस्तु है यह जाना जाना जा सकता है। चतुर्थ श्लोक में समस्त जगत के जीवों पर आशीर्वाद करने हेतु श्रीकृैष्णचैतन्य प्रसाद (श्रीमन् महाप्रभु की कृपा) माँगता हूँ। इसी श्लोक में ही श्रीचैतन्य महाप्रभु के अवतार के बाह्य कारणों का भी वर्णन किया गया है। पञ्चम और षष्ठ श्लोक में मूल प्रयोजन (श्रीमन् महाप्रभु के अवतार के मुख्य कारणो) के विषयों में कहा गया है। इस प्रकार इन छह श्लोकों में श्रीकृष्णचैतन्य का तत्त्व और अगले पाँच श्लोकों में (७ से ११ सख्या तक) श्रीनित्यानन्द प्रभु के महत्व का वर्णन हुआ है। इसके बाद के दो श्लोकों में (१२ और १३ संख्या तक) श्रीअद्वैत प्रभु के तत्त्व का निरूपण किया गया है और एक श्लोक (अर्थात् १४ संख्या में) पञ्चतत्त्व की व्याख्या की गयी है। इन्हीं चौदह श्लोकों के द्वारा मङ्गलाचरण कर रहा हूँ। जिसमें सब वस्तुओं का अर्थात् तत्त्वों का निरूपण किया गया है। श्रवण करनेवाले सभी वैष्णवों को नमस्कार करके इन सब श्लोकों के अर्थों को प्रकाशित कर रहा हूँ। चैतन्य स्वरूप श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में शास्त्रों ने जिस मत का निरूपण किया है उसे सभी वैष्णव एकाग्रचित होकर श्रवण करें।

अमृतप्रवाह भाष्य

३१। चैतन्यस्वरूप श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में शास्त्र ने जो मत (सिद्धान्त) निरूपित किया है।

पूर्वोक्त (मङ्गलाचरण के) चौदह श्लोकों की व्याख्या आरम्भ—
प्रथम श्लोक की व्याख्या—

कृष्ण, गुरुद्वय, भक्त, अवतार, प्रकाश।
शक्ति, एइ छय रूपे करेन विलास॥३२॥
एइ छय तत्त्वेर करि चरण वन्दन।
प्रथमे सामान्ये करि मंगलाचरण॥३३॥

३२-३३। प० अनु०—श्रीकृष्ण, गुरुद्वय, भक्त, अवतार, प्रकाश एवं शक्ति—इन छह रूपों में भगवान् विलास करते हैं। इन छह तत्त्वों के चरणों की वन्दना करते हुए सर्वप्रथम सामान्य रूप मङ्गलाचरण कर रहा हूँ।

अनुभाष्य

३२। गुरुद्वय-शब्द से दीक्षा एवं शिक्षा गुरु को कहा गया है। दोनों ही अभिन्न गुरुतत्त्व हैं। दीक्षा और शिक्षागुरु में लीलाभेद रहने पर भी शिष्य के लिए दोनों ही समतत्त्व तथा समानभाव

से पूज्य हैं।

वन्दे गुरुनीशभक्तानीशमीशावतारकान्।
तत्प्रकाशांश्च तच्छक्तीः कृष्णचैतन्यसंज्ञकम्॥३४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३४। दीक्षा एवं शिक्षा भेद से दोनों गुरुओं की, श्री- वासादि ईशभक्तवृन्द की, श्रीअद्वैत प्रभु प्रभृति ईशावतार समूहों की, श्रीनित्यानन्द प्रभु आदि उनके प्रकाश की, श्रीगदाधरादि ईशशक्तिगण की एवं ईशस्वरूप महाप्रभु श्रीकृष्ण-चैतन्य नामक परमतत्त्व की मैं वन्दना करता हूँ।

अनुभाष्य

३४। (ग्रन्थकारः कृष्णदासोऽहं) गुरुन् (वर्त्मप्रद- र्शकमन्त्रदातृशिक्षादातृन् गुरुगणान् श्रीनित्यानन्द रघुनाथ- रूपादीन्) ईशभक्तान् (गौरकृष्ण-सेवकान् श्रीवासादीन्) कृष्णचैतन्यसंज्ञकम् ईशं (भगवन्तम्) ईशावतारकान् (श्री अद्वैताचार्यादीन्) तत्प्रकाशान् (तस्य चैतन्यकृष्णस्य प्रकाशान् श्रीनित्यानन्दादीन् निजगुरुन्) तच्छक्तीः (तस्य गौरकृष्णस्य शक्तीः—श्रीगदाधरदामोदर जगदानन्दादीन्) (अभिन्नावरणात्म-कतत्त्वषट्क) (अहं) वन्दे।

लीलाभेद से गुरु—

मन्त्रगुरु आर यत शिक्षागुरुगण।
ताँहार चरण आगे करिये वन्दन॥३५॥

३५। प० अनु०—मैं सर्वप्रथम मन्त्रगुरु (दीक्षा गुरु) और समस्त शिक्षा गुरुओं के चरणों की वन्दना करता हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

३५। 'ताँहार'—दोनों प्रकार के गुरुओं के अभिन्न होने के कारण एकवचन का व्यवहार किया गया है। इसका पाठान्तर ताँ-सबार' है।

अनुभाष्य

३५। श्रीजीवप्रभु—(भक्तिसन्दर्भ में २०२ संख्या) "यद्यपि अकिञ्चना भक्तिरभिधेयेति तत्कारणत्वेनमद्- भक्त-संग एवाभिधेये सति भक्तोऽपि स एव लक्षितव्यः। तत्र प्रथमं तावत् तत्तत्संगाज्जातेन तत्तच्छ्रद्धा-तत्तत्-परस्परा-कथारुच्यादिना जातभगवत-सामुखस्य तत्तद्- नुषगेंनैव तत्तद्भजनीये भगवदाविर्भावविशेषे तद्भजन मार्गविशेषे च रुचिर्जायते। ततश्च विशेषवुभुत्सायां सत्यां तेष्वेकतोऽनेकतो वा श्रीगुरुत्वेनाश्रितात् श्रवणं क्रियते। ** प्रीतिलक्षण-भक्तीञ्छुनां तु रुचिप्रधान एव मार्गः श्रेयान् नाजात-रुचिनामिव विचारप्रधानः। तदेतदुभयस्मिन्नपि तत्तद्भजनविधिशिक्षागुरुः प्राक्तनः श्रवणगुरुरेव भवति। मन्त्रगुरुस्त्वेक एव निषेतस्य-मानत्वाद् बहूनाम्॥"

(२०६ संख्या)—"श्रवणगुरु-भजनशिक्षागुर्व्वोः प्रा- यिकमेकत्वमिति। शिक्षागुरोर्बहुत्वमपि ज्ञेयम्।" (२०७ संख्या—"अनुग्रहः मन्त्रदीक्षारूपः।" (२०८ संख्या)— तत्र श्रवणगुरुसंसर्गेणैव शास्त्रीयज्ञानोत्पत्तिः स्यात्।" (२०९ संख्या)—"ये गुरोश्चरणं समवस्हाय भगवदन्त- र्मूखीकर्त्तुं प्रयतन्ते, ते तेषु तेषु उपायेषु खिद्यन्ते; अतो व्यसनशतान्विता भवन्ति, अतएव इह संसारे तिष्ठन्त्येव, अकृतकर्णधारा जलधौ यथा, तद्वत्। "गुरुभक्तत्या स मिलति स्मरणात् सेव्यते बुधैः। मिलितोऽपि न लभ्येत जीवैरहमिकापरैः॥" (२१० संख्या)—"परमार्थगुर्वाश्रयो व्यवहारिक-गुर्वादि-परित्यागनापि कर्त्तव्यः।"

अकिञ्चना भक्ति अभिधेय होने पर कृष्णभक्त के सङ्ग से ही लक्षित होती है। प्रारम्भिक अवस्था में कृष्णभक्तों के सङ्ग से श्रद्धा का उदय प्राप्त

करने पर जीव कृष्णोन्मुख होता है। जिसके फलस्वरूप सेव्य भगवान् के आविर्भाव विशेष में और भजनमार्ग में रुचि उत्पन्न होती है। श्रीकृष्ण के विषय में अधिक जानने की इच्छा होने पर सृकृतिसम्पन्न जीव एक अथवा अनेक गुरुओं का आश्रय करके उनसे श्रवण करते हैं। प्रीतिलक्षणा भक्ति-प्रार्थियों के लिए रुचिप्रधान-पथ ही प्रशस्त है; अजातरुचि व्यक्तियों की भाँति विचारप्रधान-पथ उनके लिए नहीं है। इन दोनों के लिए प्राक्तन श्रवणगुरु ही उन-उन भजनविधियों के लिये शिक्षागुरु होते हैं। मन्त्रगुरु एक ही होता है, (क्योंकि शास्त्रों में) अनेक दीक्षा गुरु स्वीकार करने के लिए निषेध किया गया है। श्रवण-गुरु तथा भजनशिक्षागुरु प्राय एक ही समान हैं; परन्तु इन दोनों में शिक्षा गुरु का अधिक वैशिष्ट्य है। इस विषय में श्रवणगुरु के सङ्ग से ही शास्त्रीय-ज्ञान प्राप्त होता है। मन्त्रदीक्षा ही अनुग्रह है। जो गुरु-पादपद्म की अवज्ञा करके भगवान् का सान्ध्यि प्राप्त करना चाहते हैं, वे सब अन्यान्य उपायोंका अवलम्बन करके भी निराशा को ही प्राप्त होते हैं। अतः सैकडों व्यसन अर्थात् विपत्तियाँ आकर गुरुभक्ति से रहित जीव को भक्त-सज्जा में केवल संसार-दशा में ही जीवन व्यतीत करने हेतु विवश कर देते हैं। समुद्र में कर्णधार-रहित नौका की भाँति उनका संसार से उद्धार नहीं होता। गुरुसेवा द्वारा ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है। भक्तगण स्मरणादि द्वारा उनकी सेवा करते हैं। "मैं अधिक समझता हूँ; अन्य कोई गुरु इससे अधिक और क्या उपदेश देंगे?"—इस प्रकार के अहङ्कार से अपराध-वशतः कृष्णभक्ति की प्राप्ति नहीं होती। व्यावहारिक, लौकिक, कौलिक (कुल गुरु) आदि अयोग्य गुरुब्रुवों के स्थान पर पारमार्थिक गुरु का आश्रय करना चाहिए।

ग्रन्थकार के शिक्षागुरुवर्ग—

श्रीरूप, सनातन, भट्टरघुनाथ।
श्रीजीव, गोपालभट्ट, दास रघुनाथ॥३६॥
एइ छय गुरु शिक्षागुरु ये आमार।
ताँ' सबार पादपद्मे कोटि नमस्कार॥३७॥

३६-३७। प० अनु०—श्रीरूप, श्रीसनातन, श्री-रघुनाथभट्ट, श्रीजीव, श्रीगोपालभट्ट और श्रीरघुनाथ-दास—ये छह गोस्वामी मेरे शिक्षागुरु हैं, इन सभी के चरण- कमलों में मेरा कोटि-कोटि नमस्कार है।

अनुभाष्य

३६। श्रीरूप, श्रीसनातन एवं जीव—आदि, १०म पः ८५ संख्या द्रष्टव्य है। श्रीरघुनाथ भट्ट—आदि, १०म पः १५३-१५५ संख्या द्रष्टव्य है। श्रीरघुनाथ दास—आदि, १०म पः ९१ संख्या द्रष्टव्य है। श्रीगोपाल भट्ट—आदि, १०म पः १०५ संख्या द्रष्टव्य है।

ईशभक्त—

भगवानेर भक्त यत श्रीवास प्रधान।
ताँहार चरणपद्मे सहस्र प्रणाम॥३८॥

३८। प० अनु—भगवान् के जितने भी भक्त हैं, उनमें श्रीवास प्रधान हैं। इनके चरणकमलों में मेरा सहस्र प्रणाम है।

अनुभाष्य

३८। श्रीवास—आदि, १०म पः ८म संख्या द्रष्टव्य है।

ईशावतार—

अद्वैत आचार्य—प्रभुर अंश-अवतार।
ताँर पादपद्मे कोटि प्रणति आमार॥३९॥

३९। प० अनु०—श्रीअद्वैत आचार्य, श्रीमन् महाप्रभु के अंशावतार हैं। उनके चरणकमलों में मेरा कोटि नमस्कार है।

अनुभाष्य

३९। श्रीअद्वैत—आदि, छष्ठ पः।

ईशप्रकाश—

नित्यानन्दराय—प्रभुर स्वरूपप्रकाश।
ताँर पादपद्म वन्दो याँर मुञि दास॥४०॥

४०। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु के स्वरूप प्रकाश उन श्रीनित्यानन्द राय के पादपद्मों की वन्दना करता हूँ, जिनका मैं दास हूँ।

अनुभाष्य

४०। श्रीनित्यानन्द—आदि, ५म पः।

ईशशक्ति—

गदाधर पण्डितादि—प्रभुर निजशक्ति।
ताँ' सबार चरणे मोर सहस्र प्रणति॥४१॥

४१। प० अनु०—श्रीगदाधर पण्डितादि श्रीमन् महा- प्रभु की निजशक्ति हैं। उन सबके चरणों में मेरा सहस्र प्रणाम है।

स्वयं ईशतत्त्व—

श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु स्वयं भगवान्।
ताँहार पदारविन्दे अनन्त प्रणाम॥४२॥
सावरणे प्रभुरे करिया नमस्कार।
एइ छय तेंहो यैछे—करिये विचार॥४३॥

४२-४३। प० अनु०—श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु स्वयं भगवान् हैं। इनके चरणकमलों में मेरा अनन्त कोटि प्रणाम है। आवरण-सहित (परिकर सहित) श्रीमन् महाप्रभु को नमस्कार करता हूँ। यह छह तत्त्व जिस प्रकार के हैं उनका उस प्रकार से वर्णन कर रहा हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

४३। आवरण—चारों ओर विराजमान भक्तगण ही श्रीमन् महाप्रभु के आवरण हैं। उन आवरण सहित श्रीमन् महाप्रभु को नमस्कार किया गया है। यह छह तत्त्व—गुरु, ईशभक्त, ईशावतार, ईशप्रकाश, ईशशक्ति एवं ईशस्वरूप श्रीकृष्णचैतन्य—जिस प्रकार से उनके स्वरूप हैं, अब उसका वर्णन कर रहा हूँ।

अनुभाष्य

३७-४३। श्रीगौरसुन्दर के प्रति अनन्त प्रणति, श्रीअद्वैत तथा श्रीशिक्षागुरु के प्रति कोटि प्रणति, शक्ति और भक्ततत्त्व के प्रति सहस्र प्रणति किये जाने पर भी संख्यागत तारतम्य-दर्शन से मायिक भेदबुद्धि उद्दिष्ट नहीं हुई है।

गुरुद्वय, ईश्वर भक्त, ईश्वर, अवतार, प्रकाश एवं शक्ति—इन छह तत्त्वों के रूप में श्रीकृष्णचैतन्यदेव विलास करते हैं और अचिन्त्य-भेदाभेद-विचार से अद्वयज्ञान कृष्णचैतन्य कहलाते हैं।

गुरुतत्त्व—(१) दीक्षागुरु

यद्यपि आमार गुरु—चैतन्य दास।
तथापि जानिये आमि ताँहार प्रकाश॥४४॥
गुरु कृष्णरूप हन शास्त्रेर प्रमाणे।
गुरुरूपे कृष्ण कृपा करेन भक्तगणे॥४५॥

४४-४५। प० अनु०—यद्यपि मेरे गुरु श्रीचैतन्य महाप्रभु के दास हैं, तथापि मैं उनको महाप्रभु का ही प्रकाश मानता हूँ। शास्त्र के प्रमाण अनुसार गुरु, कृष्णरूप हैं तथा गुरुरूप से ही श्रीकृष्ण, भक्तों पर कृपा करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

४४। यद्यपि सभी जीव कृष्णदास हैं, अतएव मेरे गुरुदेव भी वस्तुतः कृष्णदास ही हैं, तथापि मैं अपने गुरु को श्रीकृष्ण का प्रकाश ही मानता हूँ। शिष्य के लिए गुरुदेव श्रीकृष्ण के प्रकाश स्वरूप हैं। किन्तु नित्यानन्द- बलदेव वस्तुतः विलास स्वरूप प्रकाश-तत्त्व हैं।

अनुभाष्य

४४-४५। (इन छह तत्त्वों में) महाप्रभु

श्रीचैतन्यदेव के अतिरिक्त सभी उनके दास हैं। अतएव गुरुदेव में चैतन्य-दास्य के अतिरिक्त और कोई प्रकाश की सम्भावना नहीं है। वे आश्रय-विग्रह होने के कारण सेवक हैं। सेवाप्रकाश-विग्रह गुरुदेव सेव्य (भगवान्) की सेवा के अतिरिक्त अन्य रूप में प्रकाशित नहीं है। प्रकाश-विग्रह गुरुदेव में विषय-विग्रह बुद्धि नहीं होनी चाहिए। आश्रय- विग्रह होने के कारण वे शास्त्रों में कृष्णरूप से जाने जाते हैं।

(श्रीमद्भागवत ११.१७.२७)

आचार्यं मां विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्त्यबुद्धयासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥४६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४६। श्रीभगवान् ने उद्धव से कहा,—हे उद्धव! श्रीगुरु देव को मेरा ही स्वरूप जानना, गुरु में सामान्य नरबुद्धि द्वारा असुया अर्थात् अनादर मत करना, क्योंकि श्रीगुरुदेव सर्वदेवमय हैं।

अनुभाष्य

४६। वर्णाश्रमाचारी और वर्णाश्रम से पृथक् जनसमूह के कृष्णभक्ति-लक्षणरूप स्वधर्म को सुनकर, उद्धव द्वारा उस भक्ति के अनुष्ठान के विषय में श्रीभगवान् के निकट प्रश्न पूछने पर श्रीभगवान् वर्णिगणों का स्वभाव वर्णन करके ब्रह्मचारियों के गुरुकुलवास के प्रसङ्ग में गुरु के प्रति व्यवहार का वर्णन कर रहे हैं,—

आचार्यं (गुरु) मां (मदीयप्रेष्ठ) विजानीयात्। कर्हि- चित् (कदापि) न अवमन्येत (कारणोदयेऽपि न गर्हयेत्)। (यतः) गुरुः सर्वदेवमयः (तं) मर्त्त्यबुद्धया (औपाधिक जड़देशकालपात्रवच्छिन्नधिया) न असूयेत (निज प्राकृत- जाड्येन मत्सरो भूत्वा आत्मसमं न भावयेत्)।

आचार्य—"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः। सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते॥"—(मनु २। १८०)।

"आचिनोति यः शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वय- माचरते यस्मादाचार्यस्तेन कीर्त्तितः॥"—वायुपुराण।

श्रीभगवान् आचार्य के रूप में शिष्य के समक्ष प्रकाशित होते हैं। श्रीमद् आचार्य के आचरण में हरिसेवा के अतिरिक्त कोई अन्य प्रसङ्ग नहीं होता। वे साक्षात् आश्रय-विग्रह हैं, यदि कोई हरिसेवा से विमुख होकर आचार्य अभिमान करता है, तो उसके सुदुराचारों को कोई भी सदाचार के रूप में स्वीकार नहीं करता। आचार्य का अनन्यभजन ही उनके भगवत्-प्रकाशत्व का परि- चायक है। भोगों से असन्तुष्ट इन्द्रियपरायण जनगण आचार्य का सुष्ठु आचरण देखकर भी उनसे ईर्षा करते हैं। आचार्यदेव सेव्य भगवान् के अभिन्न अङ्ग हैं, अतएव उनके प्रति विद्वेषभाव पोषण करने पर जीवों को भगवान् एवं उनके परिकर की कृपा से वञ्चित होकर दुर्गति की प्राप्ति होती है।

गुरुदेव वस्तुतः श्रीकृष्णचैतन्य के दास हैं, फिर भी शिष्य को अप्राकृत दृष्टि से उन्हें श्रीगौरसुन्दर के प्रकाश- विशेष के रूप में जानना चाहिए। गुरु कृष्ण के साथ वास्तव में नित्य सेव्य-सेवकभाव-रहित होकर किसी भी प्रकार से व्रजेन्द्रनन्दन के साथ लीलावैचित्री के आधार पर भिन्न नहीं है, ऐसा नहीं। निर्विशेषवादियों के मतानुसार अप्राकृत् अनुभूति में स्वगत-सजातीय-विजातीय विशेष- त्व न रहने पर उन सबकी दृष्टि के अनुगमन में कोई भी भक्तिमान वैष्णवाचार्य ऐसा नहीं कहते हैं कि, गुरु एवं कृष्ण में किसी प्रकार का भेद नहीं है। परन्तु अचिन्त्य- भेदाभेदतत्त्व का ही उपदेश देते हैं। श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी गुरु के सम्बन्ध में कहते हैं—'मुकुन्दप्रेष्ठत्वे गुरुवरं स्मर'।

श्रीजीव गोस्वामी प्रभु ने भी भक्तिसन्दर्भ के (२१३) संख्या में लिखा है—"शुद्धभक्ताः श्रीगुरोः श्रीशिवस्य च भगवता सह अभेददृष्टिं तत्प्रियतमत्त्वेनैव मन्यन्ते।" तदनुग श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने श्रीगुरुदेव-स्तोत्र में कहा है—"साक्षाद्धरित्वेन समस्त-शास्त्रैरुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः। किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥" अर्थात् सभी शास्त्रों में, शिष्य की दृष्टि से गुरुदेव 'हरि' के रूप में ही कीर्त्तित हुए हैं। साधु गुरु को इसी रूप में ही जानते हैं। किन्तु जो सदा प्रकाश-स्वरूप होकर श्रीकृष्णचैतन्यदेव के प्रिय सेवाधिकारी हैं, उन गुरुदेव के चरणकमलों की, गुरुदेव का नित्य दास मैं वन्दना करता हूँ। गौड़ीय वैष्णवमात्र ही आश्रयविग्रह श्रीगुरुदेव को 'तदीय' जानकर गुरु का ध्यान करते हैं तथा सभी प्राचीन उपासना पद्धतियों में और शुद्धभजन-गीतियों में श्रीगुरुदेव को श्रीराधा-प्रिया- सखी अथवा श्रीनित्यानन्द- स्वरूपप्रकाश के रूप में निर्देश किया गया है।

(२) शिक्षागुरु तत्त्व एवं उनके
दो प्रकार के रूप—
(क) चैत्यगुरु, (ख) महान्तगुरु

शिक्षागुरुके त' जानि कृष्णेर स्वरूप।
अन्तर्यामी, भक्तश्रेष्ठ—एइ दुइ रूप॥४७॥

४७। प० अनु०—अन्तर्यामी और भक्तश्रेष्ठ—इन दो रूपों में विराजमान शिक्षागुरु को कृष्णस्वरूप ही मानता हूँ।

अनुभाष्य

४७। जो भजन-शिक्षा देते हैं, वे शिक्षा-गुरु हैं। जो भजनहीन दुराचारी (भ्रष्टचारी) हैं, वे गुरु अथवा आचार्य नहीं है। भजनानन्दी महान्तगुरु एवं भजनानुकूल विवेकदाता चैत्यगुरु भेद से शिक्षक दो प्रकार के होते हैं। साध्य- साधन-भेद से भजनशिक्षा-भेद है। कृष्ण-प्रदाता श्रीगुरुदेव, शिष्यों को सम्बन्धज्ञान से समृद्ध करके उनमें अपनी सेवा की अनुभूति संचारित करते हैं। दीक्षागुरु के निकट अनुग्रह प्राप्त करके उन शिष्यों के द्वारा सुष्ठुभाव से प्राप्त श्रीविष्णु के सेवा की शिक्षा 'अभिधेय' नाम से प्रसिद्ध है। आश्रय-विग्रह शिक्षा-गुरु—अभिधेयविग्रह हैं, अतएव वे आश्रय-विग्रह सम्बन्धज्ञानदाता दीक्षागुरु से पृथक् वस्तु नहीं है। दोनों ही श्रीगुरुदेव हैं। उनके प्रति ऊँचे-नीचे के भाव अथवा प्रदर्शन से अपराध होता है। श्रीकृष्ण के 'रूप एवं स्वरूप' में भाषागत उपलब्धि भेद-भाव नहीं है। दीक्षागुरु श्रीसनातन गोस्वामी श्रीमदन- मोहन के श्रीचरण कमलों को प्रदान करनेवाले हैं। व्रज में विचरण करने में असमर्थ भगवद्-विस्मृत जीवों को वे भगवत् पादसर्वस्वानुभूति प्रदान करते हैं। शिक्षागुरु श्रीरूप गोस्वामी श्रीगोविन्ददेव और तत्प्रेष्ठ (उनके प्रिय जन) के श्रीचरणकमलों की सेवा प्रदान करनेवाले हैं।

(श्रीमद्भागवत ११.२९.६)

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्वहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्य-चैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति॥४८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४८। हे ईश, ब्रह्मा की भाँति परम आयु प्राप्त कर कविगण भी आपके स्मरण से उत्पन्न आनन्द के द्वारा आपके प्रति कृतज्ञता स्वीकार करने में समर्थ नहीं होते हैं। क्योंकि, आप अपार कृपावशतः देहधारी जीवों के समस्त अशुभ को नाश एवं स्वगति प्रकाश करने हेतु बाहर से आचार्य के

रूप में और अन्तर में अन्तर्यामीरूप में अवस्थित हैं।

अनुभाष्य

४८। विस्तार से योगशास्त्र को श्रवण करके उद्धव योगपन्था को वह्वायासयुक्त (अनेकों प्रयास-युक्त) जानकर भगवान् के निकट संक्षेप में भक्तियोग की कथा सुनने के उद्देश्य से उनसे कह रहे हैं—

हे ईश, तव कृतं (त्वत्कृतमुपकार) स्मरन्तः (चिन्त- यन्तः) ऋद्धमुदः (वर्द्धित परमानन्दाः) कवयः (विवे- किनः) ब्रह्मायुषापि (ब्रह्मतुल्यमायुः प्राप्य भजन्तोऽपि) अपचितिं (प्रत्युपकारं आनृण्य) नैव उपयन्ति (प्राप्नुवन्ति) (यतः) यः (भवान्) वहिः आचार्यवपुषा (मन्त्रगुरुरूपेण शिक्षागुरुरूपेण वा) अन्तश्चैत्त्यवपुषा (अन्तर्यामिरूपेण) तनुभृतां (शरीर-धारिणां जीवानां) अशुभं (कृष्णेतर-विषयामिनिवेशं) विधुन्वन् (निरस्यन्) स्वगतिं (आत्म- स्वरूपं पार्षदत्वलक्षणां गतिं) व्यनक्ति (प्रकाशयति)।

श्रीभगवान् शरणागत साधक के प्रेमसिद्धि-दाता—
(श्रीमद्भगवतगीता १०.१०)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥४९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४९।

अनुभाष्य

४९। निश्चल भक्तियोग में अवस्थित होकर भगवान् से सभी उत्पत्ति और प्रवृत्तियों का प्रकाशन होता है, यह समझकर जो सभी भजनशील पण्डित कृष्णचित्त और कृष्णप्राण होकर परस्पर भाव-विनिमय और हरि विषयक कथोपकथन के द्वारा श्रीकृष्ण का तोषण और उनमें रमण करते हैं, उन सबके लिये श्रीकृष्ण, अर्जुन से कह रहे है,—

तेषां सततयुक्तानां (नित्यमेव मत्सेवायोगा-कांक्षिणा) प्रीतिपूर्वकं (आदरेण) भजतां (त्यक्तान्याभिलाष-कर्म- ज्ञानानां हरिसेवारताना) तं बुद्धियोगं ददामि (तेषां हृद्वृत्तिषु अहमेव उद्भवयामि) येन ते मां उपयान्ति (लभन्ते)। (स बुद्धियोग स्वतोऽन्य-स्माच्च कुतश्चिदप्यधिगन्तुं अशक्यः, किन्तु मदेकदेयस्तदेक-ग्राह्य इति भावः)।

यथा भगवान् ब्रह्मणेस्वयमुपदिश्यानु भावि तवान्॥५०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५०। भगवान् ने स्वयं इस प्रकार के उपदेशों के द्वारा ब्रह्मा को अपना अनुभव कराया था।

(श्रीमद्भागवत २.९.३०-३५)

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदंगञ्च गृहाण गदितं मया॥५१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५१। विज्ञानसमन्वित रहस्य तथा तदंगयुक्त मेरा जो परम गोपनीय ज्ञान है। वह तुम्हें कृपापूर्वक कह रहा हूँ, उसे तुम स्वीकार करो।

अनुभाष्य

५१। सृष्टि करने की इच्छा से ब्रह्मा बहुत चिन्तित थे। 'तप' इस आकाशवाणी को सुनकर उन्होंने निष्कपट तपस्या में प्रवृत्त होकर विष्णु को प्रसन्न कर वैकुण्ठ के दर्शन प्राप्त किये। वहाँ अहङ्कार शून्य और तत्त्वजिज्ञासु होने पर भगवान ने छह श्लोक कहे। श्रीमद्भागवत के गौड़ीय भाष्य के ५७७-६२९ पृष्ठ द्रष्टव्य हैं।

मे (मम भगवतः) ज्ञानं परमगुह्यं (निर्विशेष-ब्रह्म-ज्ञानादेरपि श्रेष्ठतम) विज्ञानसमन्वितं (न केवलं

मद्रूप- स्य ज्ञानं एवं तुभ्यं ददामि, अपि तु कार्ष्णकृष्ण-विज्ञाने- नानुभावेन युक्त) सरहस्यं (तत्रापि रहस्यं यत् किमप्य- स्ति, तेनापि सहितं प्रेमभक्तिरूप) तदंगञ्च (तस्य रहस्यस्य अंगं श्रवणादिभक्तिरूपं साधनभक्तियोगं सम्बन्ध-ज्ञानस्य सहाय) मया गदितं (त्वया अपृष्टमपि एतत्रयं कृपयैव मया, न त्वन्येन कथित) सत् गृहाण।

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्म्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥५२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५२। मेरा स्वरूप, मेरा लक्षण, मेरा रूप, गुण और लीला—जिस प्रकार की है, उसका तत्त्व-विज्ञान, तुम्हें मेरे अनुग्रह से प्राप्त हो।

अनुभाष्य

५२। यावान् (यत् प्रमाणाकारः, यादृशस्थौल्य-कार्श्यदैर्ध्यतुंगतावृत्तताद्यौचित्यसंनिवेश विशिष्टा-वयवः स्वरूपतोयत्परिमाणकः), अहं यथाभावः (यादृक् सत्ता यस्येति यल्लक्षणः), अहं यद्रूपगुणाकर्मकः (यानि रूपाणि श्यामत्वचतुर्भुजत्वद्विभुजत्वगौरत्वकृष्णत्वरामत्व-नृसिंहत्वादीनि, ये गुणाः भक्तवात्सल्याद्याः, यानि कर्माणि लक्ष्मी-परिग्रह-गोवर्धनोद्धोरणादीनि यस्य सः) तथैव (तेन सर्वेण प्रकारेणैव) तत्त्वविज्ञानं (याथार्थ्यानुभवः) मदनुग्रहात् ते (तव) अस्तु। (साधान-भक्तिप्रेम-भक्तयौ-र्वृद्धि-तारतम्येनैवमद्रूपगुणा लीला-माधुर्य्यानुभव-तार- तम्ये-मत्स्वरूपादधिक तममाधुर्यं परमदुर्ल्लभं कृष्ण- स्वरूपं मां व्रजभूमौ त्वं साक्षादनुभाविष्यसि)। (एतेन चतुः श्लोकार्थस्य निर्विशेषपरत्वं स्वयमेव परास्तम्)।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् यत् सदसत्परम।
पश्चादहं यदेतश्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥५३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५३। इस जगत् की सृष्टि होने से पहले केवल मैं ही था। सत्, असत् और अनिर्वचनीय निर्विशेष ब्रह्म तक अन्य कुछ भी मुझ से पृथक्रूप से विद्यमान नहीं था। सृष्टि होने के उपरान्त इन सभी स्वरूपों में मैं ही विराजित हूँ तथा सृष्टि का लय होने के पश्चात् केवल मैं ही अवशिष्ट रहूँगा।

अनुभाष्य

५३। अहं (अहं-शब्देन तद्वक्ता मूर्त्त एवोच्यते, न तु निर्विशेषं ब्रह्म, तदविषयत्वात्। आत्मज्ञान-तात्पर्यकत्वे तु तत्त्वमसीतिवत् त्वमेवासीरित्येववक्तु-मुपयुक्तत्वात्। सम्प्रति भवन्तं प्रति प्रादुर्भवन्नसौ परम-मनोहर श्रीविग्रहो- ऽहम्) एव अग्रे (सृष्टेः पूर्वं महाप्रलय-कालेऽपि)आसम्; अन्यत् न (न किंचित् आसीत्, "वासुदेवो वा इदमग्र आसीत् न ब्रह्मा न च शंकरः", "एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" इत्यादि श्रुतिभ्यः। वैकुण्ठतत्- पार्षदादी- नामपि तदुपांगत्वादहंपदे-नैव ग्रहणं—राजाऽसौ प्रजातीति- वत्); सदसत्परं (सत् कार्यं असत् कारणं तयोः पर) यत् (यद्ब्रह्म) तत् अन्यत् न (तन्न मत्तोऽन्यं; यद्वा तदानीं प्रपञ्चे विशेषाभावात् निर्विशेष चिन्मात्राकारेण, वैकुण्ठे तु सविशेष-भगवद्रूपेण); पश्चात् (सृष्टेरनन्तरमपि) अहम् (एवास्मि, वैकुण्ठे तु भगवदाद्याकारेण, प्रपञ्चेषु अन्तर्याम्याकारेण); यदेतत् (विश्वं) तदप्यहमेवास्मि (मदनन्यत्वाद् मदात्मकमेव) (तथा प्रलये) योऽवशि- ष्येत सोऽह-मेवास्मि (कालाव्यवच्छिन्न-नित्य-लीला- विग्रहस्य सर्वकाले प्रकट-तास्तीत्यर्थः)।

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥५४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५४। पूर्व श्लोक में परमतत्त्व का स्वरूपज्ञान निर्णीत हुआ है। किन्तु स्वरूप से पृथक् तत्त्व के ज्ञान के द्वारा स्वरूपतत्त्व का ज्ञान जब तक दृढ़ नहीं बन जाता, तब तक विज्ञान नहीं होता। स्वरूपतत्त्व से पृथक तत्त्व का नाम 'माया' है। उस मायातत्त्व का ज्ञान इस श्लोक में विस्तार से दिया जा रहा है। स्वरूपतत्त्व ही अर्थ अर्थात् यथार्थतत्त्व है। उस तत्त्व के बाहर जो कुछ भी दिखाई देता है एवं उस स्वरूपतत्त्व में जिसकी प्रतीति नहीं है, उसे ही आत्मतत्त्व का मायावैभव जानना चाहिए। यह सहज में समझ नहीं आता है, इसलिए इसको समझने के लिए दो प्रादेशिक उदाहरण दिये जा रहे हैं। स्वरूपतत्त्व को सूर्य के समान मानना चाहिए। सूर्य से पृथक् जो तत्त्व विद्यमान हैं, वे दो रूपों में प्रतीत होते हैं—एक आभास रूप में और दूसरा तम रूप में। सूर्य का प्रतिबिम्ब, जल से दूसरे स्थान पर है, उसे आभास कहते हैं। सूर्य का प्रभाव जिस ओर दिखाई नहीं देता, उसे 'तमः' अर्थात् 'अन्धकार' कहते हैं। चिज्जगत् भगवत्स्वरूप की किरण है। उससे मिलता-जुलता आभासरूप माया- वैभव—यही आभास का उदाहरण है। चित्तत्त्व से बहुत दूर स्थित वह अन्धकार-रूप तमस मायावैभव है; यही द्वितीय उदाहरण है। तात्पर्य यही है कि, आत्मतत्त्व एवं मायातत्त्व में परस्पर दो प्रकार का सम्बन्ध है; प्रथम सम्बन्ध यह है कि, आत्मस्वरूप के अतिरिक्त जो अन्य- स्वरूप प्रकाशित होता है, वही 'माया' है और आत्मस्वरूप से दूर स्थित अनात्म अज्ञान भी माया है।

अनुभाष्य

५४। अर्थं (परमार्थभूतं) मां ऋते (विना) यत् प्रतीयेत (मत्प्रतीतौ तत् प्रतीत्यभावात् मत्तो वहिरेव यस्य प्रतीतिरित्यर्थः), यत्त्चात्मनि न प्रतीयेत, (यस्य) च मदा- श्रयत्वं विना (स्वतः प्रतीतिर्नास्तीत्यर्थः) तत् (तथा लक्षणं वस्तु) आत्मनो (मम परमेश्वरस्य) यथाभासः (आभा- सोज्योतिर्विम्बस्य स्वीयप्रकाशाद्व्य-वहित-प्रदेशे कथ- ञ्चिदुच्छलित प्रतिच्छविविशेष; स यथा तस्माद्वहिरेव प्रतीयते, न च तं विना तस्य प्रतीतिस्तथा सा) यथा 'तम': ('तम':—शब्देन तमः प्रायं वर्णशावल्यमुच्यते' तद् यथा तन्मूलज्योतिष्यसदपि तदाश्रयत्वं विना न सम्भवति तद्वदिमां) माया जीव-माया-गुणमायेतिद्वयात्मिकां माया- ख्यशक्ति) विद्यात् (जानीयात्)।

यथा महान्ति भूतानि भूतषूच्चावचेष्वन।
प्रेविष्टान्यप्रविष्टोनि तथा तेषु न तेव्वहम्॥५५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५५। जिस प्रकार महाभूत समूह बृहद् और क्षुद्र जीवों में प्रविष्ट होते हुए भी अप्रविष्टरूप से स्वतन्त्र वर्त्तमान हैं, उसी प्रकार मैं इस जगत् के सर्वजीवों में सत्त्व-आश्रय रूप परमात्मभाव से प्रविष्ट रहते हुए भी पृथक् भगवद्रूप में नित्य विराजमान रहता हूँ तथा भक्तजनों का एकमात्र प्रेमास्पद हूँ। तात्पर्य यह है कि भूमि-जल-अग्नि-वायु-आकाशरूप महाभूत समूह जिस प्रकार पाँचों एकसाथ मिलकर स्थूल-जगत् को प्रकाशित करते हैं उसके उपकरण के रूप में उन सबके बीच स्थित होकर भी महाभूतस्वरूप में स्वतन्त्र विद्यमान हैं, उसी प्रकार चिन्मय परमेश्वर निज जड़शक्ति और जीवशक्ति के द्वारा जगत् सृष्टि करके एक अंश में जगत् में सर्वव्यापी रहकर भी एकसाथ अपने चिद्धाम में पूर्णचिद्विग्रहरूप में नित्य विराजमान रहते हैं। पुनः चिद्विग्रह के किरण- परमाणु-स्वरूप जीव समूह शुद्ध प्रेममार्ग में उनके विमलप्रेम का आस्वादन करते हैं—यही रहस्य है।

अनुभाष्य

५५। यथा महान्ति भूतानि (आकाशादीनि) उच्चाव- चेषु भूतेषु (देवमनुष्यतिर्यगादिषु) अप्रविष्टानि (वहिः स्थितान्यपि) अनुप्रविष्टानि (अन्तः स्थितानि भान्ति), तथा (लोकातीतवैकुण्ठ-स्थितत्वेन अप्रविष्टोऽपि) अहं तेषु (तत्तद्गुण-विख्यातेषु) न तेषु (प्रणतजनेषु) प्रविष्टो (हृदि स्थितः) (अन्तःकरणेषु दर्शनं दातुम; तथा अप्रवि- ष्ट; वहिः स्थितश्च तेषां नयनेषु स्वसौन्दर्यमर्पयितुं, नासासु स्वसौरभ्यं प्रवेशयितुं, तैः सहोक्तिप्रत्युक्ती कुर्वन् कर्णेषु स्वसौस्वर्य्यामृतं पूरयितुं स्पर्शनालिंगनादिदानैस्ते षामंगे- षुस्वीयसौ-कुमार्य्य-माधुर्यादिकं चानुभावयितुमिति तेषु गुणातीत-भक्तेषु अन्तर्वहिर्मया त्यक्तुमशक्येषु आसंग- सहितैव मम क्रीडा। तदेवं तेषां तादृगात्मवशकारिणी प्रेमभक्तिर्नाम रहस्यमिति सूचितम्)।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वय-व्यतिरकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥५६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५६। जो आत्मतत्त्व के जिज्ञासु हैं, उन्हें अन्वय-व्यतिरेक भाव के द्वारा उस वस्तु का अनुसन्धान करना चाहिए, जो सर्वत्र और सदा विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि—प्रेम-रहस्य जिस उपाय के द्वारा साधित होता है, उसका नाम साधनभक्ति है। तत्त्वजिज्ञासु व्यक्ति को सद्गुरु के चरणों का आश्रय ग्रहण करने से अन्वय-व्यतिरेक भाव से अर्थात् विधिनिषेध की शिक्षा के द्वारा तत्त्व के सम्बन्ध में अनुशीलन करते-करते तत्त्वज्ञान प्राप्त करेंगे।

५३-५६। श्रीमद्भागवत में महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव का मत सम्पूर्णरूप से वर्णन है। श्रीमद्भागवत ग्रन्थ में १८,००० श्लोक हैं। उन १८,००० श्लोकों में जो कुछ भी वर्णन है, उन सबका मूल ये चार श्लोक हैं। 'अहमेव' श्लोक में भगवत्तत्त्व, भगवत्स्वरूप, उनके गुण और उनकी लीला संक्षेप में वर्णित हैं। 'ऋतेऽर्थ' श्लोक में भगवत्स्वरूपतत्त्व से पृथक्रूप से प्रतिभात मायातत्त्व और उस माया तत्त्व से सम्बन्धजनित मायाशक्ति के वशयोग्य जीवतत्त्व तथा जीवों का भोगयतन जड़तत्त्व विचारित हुआ है। इन दो श्लोकों में सम्बन्धज्ञान सम्पूर्णरूप से ज्ञातव्य है। 'यथा महान्ति' श्लोक में जीव एवं जड़ का भगवत्तत्त्व से अचिन्त्यभेदाभेद रहने पर भी भगवान् के नित्यस्वरूप का पृथक् अवस्थान एवं जीवों के द्वारा उनके चरणाश्रय के फलस्वरूप महाप्रेमसम्पत्तिलाभरूप परम प्रयोजन कथित हुआ है। 'एतावदेव' श्लोक में उस परम प्रयोजन की प्राप्ति-हेतु एकमात्र उपायस्वरूप साधन भक्ति का उल्लेख हुआ है। साधनभक्ति के अन्तर्गत प्राप्ति-साधक विधिसमूह को अनुकूलभाव से अन्वय कहा गया है। उसे प्राप्त करने के मार्ग में बाधा स्वरूप प्राति- कूल्य-जनक क्रियासमूह को निषेधों में गिनती करते हुए व्यतिरेक-शब्द से अभिहित किया गया है। साधन-तत्त्व का नाम 'अभिधेय' है अर्थात् शास्त्रों के अभिधावृत्ति से जो उपदेश मिलता है, वही अभिधेय है।

अनुभाष्य

५६। आत्मनः (मम भगवतः) तत्त्वजिज्ञासुना (स्वस्य श्रेयः साधने याथार्थमनुभवितुमिच्छुना) एतावदेव जिज्ञास्यं (श्रीगुरुचरणेभ्यः शिक्षणीयम्) (किं तत्) यत् (एकमेव वस्तु) अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां (विधि-निषेधाभ्या) सर्वदा सर्वत्र स्यात् (इति) (स्वर्गापवर्गेषुप्रेमसु मध्ये आत्मनः श्रेयः किमिति प्रश्ने—प्रेमा तु स्वस्यैवान्वय-व्यतिरेकाभ्यां सिध्यति, स्वर्गापवर्गौ ताभ्यां तावत् न सिध्यतः)। (यथा—

जिज्ञास्येषु मध्ये एतावदेव जिज्ञास्यम्, किं तत्?) अन्वय- व्यतिरेकाभ्यां (योगायोगाभ्यां सम्भोग विप्रलम्भाभ्या) यत् स्यात् सर्वत्र (सर्वब्रह्माण्डवर्त्तिनि श्रीवृन्दावनादौ दास- सखि-गुरु-प्रेयसीषु) सर्वदा (नित्यमेव महाप्रलय-सम- येऽपीति दास्य-सख्य-वात्सल्य-शृंगा ररसानां आस्वादनं व्यंजितम्।)

श्रीकृष्णकर्णामृत का
प्रथम-श्लोक—

चिन्तामणिर्जयति सोमगिरिर्गुरुर्मे
शिक्षागुरुश्च भगवान् शिखिपिञ्छमौलिः।
यत् पादकल्पतरुपल्लवशेखरेषु
लीलास्वयम्बररसं लभते जयश्रीः॥५७॥

अमृतप्रवाहभाष्य

५७। चिन्तामणिस्वरूप सोमगिरि-नामक मेरे गुरु की जय हो। मयूरपुच्छधारी मेरे शिक्षागुरु, श्रीभगवान् की जय हो। उनके चरण-रूपी कल्पवृक्ष के पल्लव रूप नखचन्द्र के अग्रभाग की शोभा से आकृष्ट होकर जयश्री अर्थात् श्रीमती राधिका स्वयंबरजनित अर्थात् लीला के गाढ़ अनुराग रूपी रस को प्राप्त करके सुख अनुभव कर रही हैं।

अनुभाष्य

५७। 'श्रीवल्लभ-दिग्विजय ग्रन्थ' में द्राविड़ यतिराज त्रिदण्डि-श्रीविल्लमङ्गल ठाकुर का जन्म अष्टम शक- शताब्दी निर्णीत हुआ है। विल्लमङ्गल ठाकुर द्वारका- धीश विग्रह के प्रतिष्ठाता राजविष्णुस्वामी के प्रधान शिष्य के रूप में जाने जाते हैं। देवमङ्गलादि विल्वमङ्गल के शिष्य हैं। श्रीविल्लमङ्गल ने ७०० वर्ष तक वृन्दावन में ब्रह्मकुण्ड पर भजन किया। वल्लभभट्ट से भेंट होने के पश्चात् उनके श्रीविग्रह की सेवा का दायित्व हरि ब्रह्मचारी पर आ गया। शंकर सम्प्रदाय के द्वारका मठ-तालिका में भी चित्सुखाचार्य (कल्यब्द २७१५) विल्लमङ्गल का नाम मिलता है। लीलाशुक श्रीविल्लमङ्गल ठाकुर ने अप्राकृत वृन्दावन की लीला में प्रवेश करने की लालसा से श्रीकृष्णकर्णामृत-गीत के आदि में तीन प्रकार के गुरुवर्गों की जय का उल्लेख किया है।

मे (मम) गुरुः (वर्त्मप्रदर्शक श्रवणगुरु) चिन्तामणिः जयति। (मन्त्रगुरुः) सोमगिरिः (जयति)।(चैत्त्यः) शिक्षागुरुः शिखिपिञ्छमौलिः (शिखिपिञ्छैरेव मौलिः शिरोभूषणं यस्य सः) भगवान् (वृन्दावनचन्द्रो जयति)। यत्पादकल्पतरु-पल्लवशेखरेषु (यत् यस्य भगवतः पादौ एव कल्पतरुपल्लवौ तयोः शेखरेषु पदनखाग्रेषु:) जयश्रीः (जया चासौ श्रियश्चेति महालक्ष्मीः वृन्दावनेश्वरीत्यर्थः) लीलास्वयम्बररसं (लीलया गाढ़ानुरागेण यः स्वयम्ब- स्तद्रसं सुख) लभते।

शिक्षागुरु के रूप में दया—

जीवे साक्षात् नाहि ताते गुरु चैत्त्यरूपे।
शिक्षागुरु हय कृष्ण महान्तस्वरूपे॥५८॥

५८। प० अनु०—जीव, अन्तर्यामी रूपी गुरु का साक्षातकार नहीं कर सकता, क्योंकि वह हृदय में विराजमान हैं। इसलिए श्रीकृष्ण ही महान्त रूप (भक्त- श्रेष्ठ) शिक्षा गुरु का रूप धारण करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

५८। अन्तर्यामी गुरु, चैत्यरूप में अर्थात् चित्त में स्थित हैं। इसलिए उनका साक्षात्कार प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए श्रीकृष्ण महान्त अर्थात् भक्तश्रेष्ठ के रूप में, शिक्षागुरु हैं।

अनुभाष्य

५८। श्रीकृष्ण के साथ बद्धजीवों का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। इसलिये श्रीकृष्ण

जीवों के हृदय में कृष्णभक्ति का विवेक उदय कराकर चैत्य शिक्षागुरु एवं महान्तस्वरूप होकर शिक्षागुरु के रूप में विराजमान हो जाते हैं।

साधुसङ्ग का कर्त्तव्य; साधुगुरु का धर्म, लक्षण एवं स्वभाव—
(श्रीमद्भागवत ११.२६.२६)

ततो दुःसंगमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः॥५९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५९। अतएव बुद्धिमान व्यक्ति को दुःसङ्ग परित्याग कर सत्सङ्ग करना चाहिए। सत् पुरुष सद् उपदेशों के द्वारा उनके समस्त भक्ति-प्रतिकूल वासना-बन्धन का छेदन करेंगे।

अनुभाष्य

५९। उर्वशी द्वारा पुरुरवा के सङ्ग को छोड़कर चले जाने पर पुरुरवा ने शोक में अधीर होकर एक वर्ष तक अनुताप किया, तब कुछ विवेक जागृत होने पर उसे सङ्ग दोष का ज्ञान प्राप्त हुआ था। श्रीभगवान् ने यह आख्यायिका उद्धव से कही

ततः दुःसंगं (योषित्संगं योषित्संगिसंगं च) (दूरे) उत्सृज्य (विहाय) बुद्धिमान् (सदसद् विवेकी) सत्सु सज्जेत (विरक्तानां हरिजनानां संगं सर्वात्मना कुर्य्यात्)। (यतः) सन्तः (साधवः) अस्य (विषयाभिनिविष्टस्य) मनोव्यासंगं (विरुद्धामासक्तिम्) उक्तिभिः (सदुपदेशैः) छिन्दन्ति (नाशयन्ति)।

साधुसङ्ग में हरिकथा-श्रवण का फल, श्रद्धा, भाव एवं प्रेमोदय—
(श्रीमद्भागवत ३.२५.२५)

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥६०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६०। साधु-सङ्ग में मेरी वीर्य सूचक हृत्कर्णरसायन कथाएँ आलोचित होती हैं। उन-उन कथाओं का श्रवण करते-करते शीघ्र ही अपवर्ग पथ स्वरूप मुझमें पहले श्रद्धा फिर रति तथा अन्त में प्रेम भक्ति उदित होती है।

अनुभाष्य

६०। देवहूति के द्वारा अपने पुत्र कपिलदेव के समक्ष अपने कल्याण के विषय में पूछने पर कपिलदेव ने कहा—

सतां (हरिजाना) प्रसंगात् (प्रकृष्टात् संगात्) मम वीर्यसंविदः (वीर्यस्य सम्यग्वेदनं यासु ताः) हृत्कर्ण- रसायनाः (हृत्कर्णयोः रसायनाः श्रोत्रमनोऽभिरामाः सुखदा) कथा भवन्ति। तज्जोषणात् (तासां जोषणात् सेवनात्) अपवर्गवर्त्मनि (अपवर्गोऽविद्यानिवृत्तिः एव वर्त्म यस्मिन् तस्मिन् हरौ) (प्रथम) श्रद्धा (ततः) रतिः (भावः ततः) भक्तिः (प्रेम) आशु (शीघ्र) अनुक्रमिष्यति (अनुक्रमेण भविष्यति)। (प्रथमं श्रद्धा, ततः सत्संगः, संगात् तत्कथाश्रवणात् तत्सेवनप्रवृत्तिः भजनक्रिया ततः प्रकृष्टात् संगात् अनर्थनिवर्त्तिकाः कथाः; ततस्ता एव कथा निष्ठामुत्पादयन्तो मन्माहात्म्य-वेदनं यतस्तथाभूता भवन्ति, ततो रुचिमुत्पादयन्त्यो हृत्कर्ण-रसायना भवन्ति। तासां कथानां जोषणात् प्रीत्यास्वादनात् भगवति श्रद्धा आसक्तिर्भावः रतिः भक्तिः प्रेमा अनुक्रमिष्यति)।

ईशभक्तों का तत्त्व और प्रकार-भेद—

ईश्वरस्वरूप भक्त ताँर अधिष्ठान।
भक्तेर हृदये कृष्णेर सतत विश्राम॥६१॥

६१। प० अनु०—भक्त, ईश्वर स्वरूप हैं तथा

ईश्वर के अधिष्ठान अर्थात् भगवान् के रहने का स्थान है। श्रीकृष्ण सदैव भक्तों के हृदय में विश्राम करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

६१। ईश्वर के सच्चिदानन्द स्वरूप में जिनकी भक्ति है, उन भक्तों का हृदय ही श्रीकृष्ण के रहने का स्थान है।

अनुभाष्य

६१। एकमात्र अद्वितीय वस्तु ही ईश्वर है। वह ईश्वरवस्तु सर्वशक्तिमान् है। भक्त उनके शक्तिजातीय स्वरूप हैं; शक्तिमत्-जातीय वस्तु नहीं है। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में सेवावृत्ति, भजनशील भक्त में स्थित रहती है। अतः श्रीकृष्ण की भक्तरूप आधार में स्थिति है।

(श्रीमद्भागवत ९.४.६८)

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥६२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६२। साधुगण मेरे हृदय हैं और मैं ही साधुओं का हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और किसी को नहीं जानते तथा मैं भी उनके अतिरिक्त और किसी को अपना कहकर नहीं जानता हूँ।

अनुभाष्य

६२। परम भागवत अम्बरीश महाराज के चरणों में दुर्वासा ऋषि के अपराध करने पर विष्णुचक्र, दुर्वासा के प्राणसंहार में उद्यत हो गए। दुर्वासा सभी देवताओं के समक्ष सहायता के लिए प्रार्थी बने। अन्त में, भगवान् श्रीविष्णु ने दुर्वासा ऋषि को अम्बरीष के चरणकमल में क्षमा याचना करने के लिए उपदेश दिया। वास्तव में इस श्लोक में भागवत साधुगणों की परम महिमा सूचित हुई है।

साधवः मह्यं (मम) हृदयं (प्राणतुल्याः), साधूनां तु अहम् हृदयम्। ते (साधवः) मदन्यत् (मत्तः अन्यत्) न जानन्ति, अहम् (अपि) तेभ्यः (सकाशात्) मनाक् (ईषत्) अन्यत् न (जानामि), (भक्तानामहमेव सर्वात्मना सदा चिन्तनीयः ममापि मदनुशीलनैकपराः सर्वात्मना-श्रितपदा भक्ताः सदा ध्येयाः)।

(श्रीमद्भागवत १.१३.१०)

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं प्रभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥६३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६३। आपके जैसे भगवत-भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप हैं तथा वे अपने अन्तःकरण में स्थित भगवान् की पवित्रता के प्रभाव से पापियों के पाप द्वारा मलिन होने वाले तीर्थों को पवित्र कर देते हैं।

अनुभाष्य

६३। महात्मा विदुर ने तीर्थों में भ्रमण करते हुए जब हस्तिनापुर में प्रत्यागमन किया तब श्रीयुधिष्ठिर महाराज ने इस श्लोक के द्वारा उनका अभिनन्दन किया—

हे प्रभो, भवादृशाः तीर्थभूताः भागवताः (सन्तः) स्वान्तः स्थेन (स्वस्य अन्तः स्थितेन) गदाभृता (भगवता विष्णुना) तीर्थ नि (मलिनजन-सम्पर्केण अतीर्थानि सन्ति पुनः) तीर्थीकुर्वन्ति (महातीर्थीकुर्वन्ति) (भवताञ्च तीर्था- टनं तीर्थानामेव भाग्येन)।

सेइ भक्तगण हय द्विविध प्रकार।
पारिषद्गण एक साधकगण आर॥६४॥

६४। प० अनु०—वह भक्त दो प्रकार के होते हैं। एक पार्षदगण और दूसरे साधक गण।

अमृतप्रवाह भाष्य

६४। भक्त दो प्रकार के होते हैं, एक भगवत्-पार्षद और दूसरे साधकगण।

भगवत-पार्षदगण सिद्धसेवक- मण्डली हैं। इनमें से कोई तो ऐश्वर्यपर होकर परव्योम में अवस्थित है, तो कोई माधुर्यपर होकर श्रीवृन्दावन में कृष्णसेवा में अनुरक्त हैं। जो सेवासिद्धि प्राप्ति के लिए वैध अथवा रागानुगा साधनभक्ति का अवलम्बन करते हैं, वे साधक हैं।

ईशावतारों के प्रकार—

ईश्वरेर अवतार ए-तिन प्रकार।
अंश-अवतार, आर गुण-अवतार॥६५॥
शक्तयावेश-अवतार—तृतीय एमत।
अंश-अवतार—पुरुष-मत्स्यादिक यत॥६६॥
ब्रह्मा विष्णु शिव—तिन गुणावतारे गणि।
शक्तयावेश—सनकादि, पृथु, व्यासमुनि॥६७॥

६५-६७। प० अनु०—ईश्वर के अवतार तीन प्रकार के होते हैं। अंश-अवतार, गुण-अवतार और शक्तयावेश- अवतार। पुरुष (कारणसमुद्रशायी, गर्भोदशीयी एवं क्षीर- समुद्रशायी) और मत्स्य आदि अंश-अवतार हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीन गुणावतार में गिने गये हैं। सनकादि (चतुःसन), पृथु और व्यासमुनि शक्तयावेश- अवतार हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

६५। अशंावतार श्रीविष्णु के साक्षात् अवतार— मायाधीश हैं। सत्त्व, रज एवं तम—इन तीनों गुणों में प्रतिभात भगवद् अवतार ही गुणावतार हैं और जिन सभी विशेष जीवों में कृष्णशक्ति-विशेष का आवेश होता है, वे शक्तयावेश अवतार हैं।

अनुभाष्य

६५-६७। पयार संख्या ६५ में जो ईश्वरेर शब्द का व्यवहार किया गया है, उसका अर्थ स्वयंरूप श्रीकृष्ण हैं। लघुभागवतामृत के पूर्वखण्ड में वर्णित उपास्य एवं अवतार-प्रसङ्ग तथा श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्य लीला का बीसवाँ परिच्छेद द्रष्टव्य है।

ईश-प्रकाश के लीलाभेद—

दुइरूपे हय भगवानेर प्रकाश।
एके त' प्रकाश हय, आरे त' विलास॥६८॥

६८। प० अनु०—दो रूपों में भगवान प्रकाशित होते हैं—एक को 'प्रकाश' और दूसरे को 'विलास' कहते हैं।

अनुभाष्य

६८। भगवान् के स्वयंरूप के विषय में। चैःचः मध्य, २०श परिच्छेद द्रष्टव्य है।

ईशप्रकाश—

एकइ विग्रह यदि हय बहुरूप।
आकारे त' भेद नाहि, एकइ स्वरूप॥६९॥
महिषी विवाहे यैछे, यैछे कैल रास।
इहाके कहिये कृष्णेर मुख्य 'प्रकाश'॥७०॥

६९-७०। प० अनु०—एक ही विग्रह यदि बहुत रूप धारण करता है। यद्यपि उनके आकार में भेद तो होता है तथापि स्वरूप एक ही है। जैसे महिषीयों के विवाह में हुआ और जैसे रास में हुआ; इसको श्रीकृष्ण का मुख्य 'प्रकाश' कहते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

६८-७०। प्रकाश और विलास—इन दो रूपों में भगवान् प्रकटित होते हैं। द्वारका में महिषी-विवाह के समय तथा श्रीवृन्दावन में रासलीला के समय श्रीकृष्ण ने एक साथ जिन अनेक मूर्त्तियों को प्रकाशित किया था, उनमें किसी भी प्रकार का आकार-भेद नहीं था। एक ही विग्रह ने अनेकरूप धारण किये थे। यही श्रीकृष्ण का मुख्य प्रकाश

है। जहाँ स्वरूप दूसरा आकार ले लेता है, तथा आत्मसादृश्य प्रकाशित होता है, उसी प्रकाश का नाम 'विलास' होता है। वृन्दावन में बलदेव, परव्योम में नारायण-वासुदेव-प्रद्युम्न-संकर्षणादि ही भगवत्-स्वरूप की विलासमूर्त्ति हैं।

अनुभाष्य

६९। "प्रकाशस्तु न भेदेषु गण्यते स हि नो पृथक्" (लघुभागवतामृत के पूर्वखण्ड में)।

७०। "एक वपु बहुरूप यैछे हैल रासे।" "महिषी- विवाहे हैल बहुविध मूर्त्ति। 'प्राभव-विलास' एइ शास्त्र- परसिद्धि॥" (चैः चः मध्य, बीस परिच्छेद)।

(श्रीमद्भागवत १०.६९.२)

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥७१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७१। यह बहुत आश्चर्य का विषय है कि एक ही श्रीकृष्ण ने एक-एक स्वरूप से पृथक-पृथक महलों में एक ही साथ सोलह हजार स्त्रियों के साथ विवाह किया।

अनुभाष्य

७१। बत (अहो) एतत् चित्रम्। एकः (कृष्णः) एकेन वपुषा युगपत् पृथक्गृहेषु द्वय अष्टसाहस्रं (षोड़शसहस्त्र) स्त्रियः (महिषीः) उदावहत् (उपयेमे)।

(श्रीमद्भागवत १०.३३.३-५)

रासोत्सवः संप्रवृतो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः॥७२॥
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः।
यं मन्येरन्नभस्तावद्विमानशतसंकुलम्॥७३॥
दिवौकसां सदाराणामत्यौत्सुक्यभृतात्मनाम्।
ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः॥७४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७२-७४। योगेश्वर श्रीकृष्ण अपनी अचिन्त्यशक्ति के बल से दो-दो गोपियों के बीच में एक-एक मूर्त्ति को प्रकट करके गोपीयों के मण्डल में मण्डित होकर रासोत्सव में प्रवृत्त हुये। इस प्रकार प्रविष्ट होने पर गोपियों ने अनुभव किया कि, श्रीकृष्ण उनके कण्ठ को धारण करके उनका आलिङ्गन कर रहे हैं। उसी समय स्त्रियों-सहित देवगण भी उत्सुक होकर सौ-सौ रथों पर आरूढ़ हो आकाशमार्ग में दिखाई देने लगे। तत्पश्चात् दुन्दुभियाँ बज उठी एवं पुष्पवृष्टि होने लगी।

अनुभाष्य

७२-७४। तासां (मण्डलरूपेण अवस्थिताना) द्वयो- र्द्वयोर्मध्ये (एकैकरूपेण) प्रविष्टेन यं (श्रीकृष्णं) स्व- निकटं (स्वनिकटस्थं) (मामेव आश्लिष्टवान् इति) मन्येरन् (तेन) योगेश्वरेण (कृष्णेन) कण्ठे गृहीतानां (उभयतः आलिंगिताना) गोपीमण्डलमण्डितः (गोपी- मण्डलैः शोभमानः) रासोत्सवः संप्रवृत्तः। तावत् (तत्- क्षणमेव) अत्यौत्सुक्यभृतात्मनां (दर्शनौत्सुक्येन अति- व्याकुलमनसा) सदाराणां (सस्त्रीकाना) दिवौकसां (देवाना) विमानशतसंकुलं (विमानशतैः संकुलं व्याप्तं संकीर्णं) (नभः) अभवत् (बभूव)। ततो दुन्दुभयोः नेदुः, पुष्पवृष्टयः निपेतुः।

लघुभागवतामृत के
पूर्वखण्ड १.२१

अनेकत्र प्रकटता रूपस्यैकस्य यैकदा।
सर्वथा तत्स्वरूपैव स प्रकाश इतीर्यते॥७५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७५। एक ही रूप का अनेकरूपों में एक ही समान जो यगुपत् प्रकाशन है, उसे 'प्रकाश' कहते हैं।

अनुभाष्य

७५। एकदा (एकस्मिन्‌काले) एकस्य रूपस्य या अनेकत्र प्रकटता सर्वथा तत्स्वरूपा (आकृत्या गुणै- र्लीलाभिश्चैकस्वरूपा) एव स प्रकाश इतीर्यते।

ईशविलास—

एकइ विग्रह यदि आकारे हय आन।
अनेक प्रकाश हय, 'विलास' तार नाम॥७६॥

७६। प० अनु०—एक विग्रह का भिन्न आकार में एवं अनेक रूपों में यदि प्रकाशन होता है, उसे 'विलास' कहते हैं।

लघुभागतामृत के तदेकात्मरूपकथन १.१५

स्वरूपमन्याकारं यत्तस्य भाति विलासतः।
प्रायेणात्मसमं शक्त्या स विलासो निगद्यते॥७७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७७। अचिन्त्यशक्तिविलास के चलते जब उनका स्वरूप आत्मसदृश-प्राय अन्यरूपों में प्रकाशित होता है, तब उसे 'विलास' कहा जाता है।

अनुभाष्य

७७। तस्य (मूलरूपस्य) यत् स्वरूपं अन्याकारं (विलक्षणांगसन्निवेशं) विलासतः (लीलाविशेषात्) प्रायेण (कैश्चिद्‌गुणैरुनाधिकं) आत्मसमं (निजमूलरूपतुल्य) शकत्या भाति, स विलासः निगद्यते।

यैछे बलदेव, परव्योमे नारायण।
यैछे वासुदेव प्रद्युम्नादि संकर्षण॥७८॥

७८। प० अनु०—जैसे बलदेव, परव्योम में नारायण, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न आदि विराजित हैं।

अनुभाष्य

७८। बलदेव—स्वयंप्रकाश। नारायण—प्राभव- विलास।

ईशशक्ति—

ईश्वरेर शक्ति हय त्रिविध प्रकार।
एक लक्ष्मीगण, पुरे महिषीगण आर॥७९॥
ब्रजे गोपीगण आर सबाते प्रधान।
ब्रजेन्द्रनन्दन या'ते स्वयं भगवान्॥८०॥
स्वयंरूप कृष्णेर कायव्यूह—ताँर सम।
भक्त सहिते हय ताँहार आवरण॥८१॥
भक्त आदि क्रमे कैल सबार वन्दन।
ए-सबार वन्दन सर्व शुभेर कारण॥८२॥
प्रथम श्लोके सामान्य मंगलाचरण।
द्वितीय श्लोकेते करि विशेष वन्दन॥८३॥

७९-८३। प० अनु०—ईश्वर की शक्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं। एक लक्ष्मीगण, दूसरी द्वारका पुरी की महिषीगण और तीसरी सर्वश्रेष्ठ वृन्दावन की गोपीगण। जिस वृन्दावन में व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं भगवान् हैं। स्वयंरूप श्रीकृष्ण के कायव्यूह (गोपियाँ), उन्हीं के (श्रीकृष्ण के) समान हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण भक्तों से घिरे रहते हैं। मैंने क्रमानुसार भक्त आदि सबकी वन्दना की है। क्योंकि इनकी वन्दना करना ही सभी मङ्गलों का कारण है। प्रथम श्लोक में सामान्य मङ्गलाचरण करके अब द्वितीय श्लोक में विशेष वन्दना करता हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

७९-८०। वैकुण्ठ में लक्ष्मीगण, पुर अर्थात् द्वारका पुरी में महिषीगण और व्रज में गोपीगण—यह तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं। 'सबाते' का अर्थ सभी के बीच में, 'याते' का अर्थ जिस कारण से। व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं भगवान् हैं तथा व्रजगोपीगण उनकी स्वरूप शक्ति हैं।

४४-८०। 'यद्यपि आमार गुरु' (४४ संख्या) से 'साधकगण आर' (६४ संख्या) तक गुरु एवं

भक्त,—इन दोनों तत्त्वों का विचार किया गया है। 'ईश्वर के अवतार' (६५ संख्या) से 'पृथु व्यासमुनि' (६७ संख्या) तक ईश एवं तद् अवतारों का वर्णन है। 'दुइरूपे हय' (६८ संख्या) से 'प्रद्युम्नादि संकर्षण' (७८ संख्या) तक उनके 'प्रकाश' और 'विलास' का विचार हुआ है। तत्पश्चात् 'ईश्वरेर शक्ति हय' (७९ संख्या) से 'स्वयं भगवान्' (८० संख्या) तक उनकी शक्ति का उल्लेख हुआ है।

८१। 'स्वयंरूप' 'तदेकात्म' आदि भागवतामृत श्लोक के विचार से द्विभुज श्रीकृष्ण ही स्वयंरूप हैं। उनके कायव्यूह, उन्हीं के समान हैं। कायव्यूह अर्थात् अपनी ही काय का विस्तार। उसी स्वरूप के निकट स्थित भक्तवृन्द को लेकर ही उनका आवरण है। आवरण एवं वेष्टिततत्त्व के एकत्र विचार से पूर्वोक्त छह तत्त्वों का एकत्व निर्णय हुआ। इस प्रकार का निर्णय केवल अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व के विचार द्वारा ही सिद्ध होता है।

आदिलीला के चौदह श्लोकों
के अन्तर्गत द्वितीय श्लोक की व्याख्या—

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्य-नित्यानन्दौ सहोदितौ।
गौड़ोदये पुष्पवन्तौ चित्रौ शन्दौ तमोनुदौ॥८४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८४। उदयाचलरूप गौड़देश में एकसाथ दिवाकर- निशाकर (सूर्य-चन्द्र) स्वरूप आश्चर्य-रूप से उदित, मङ्गलदाता, जीवों के अन्धकार को विनाश करने वाले श्रीकृष्णचैतन्य एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु की मैं वन्दना करता हूँ।

अनुभाष्य

८४। गौड़ोदये (गौड़देशः एव उदयाचलः) (तस्मिन्) सहोदितौ (एककाले उदयं प्राप्तौ) पुष्पवन्तौ (युगपत् दिवाकर-निशाकरौ, अतः) चित्रौ (आश्चर्यौ) शन्दौ (कल्याण प्रदौ) तमोनुदौ (अन्धकार विनाशकौ) श्रीकृष्ण- चैतन्य-नित्यानन्दौ अहं वन्दे।

सूर्य-चन्द्र के साथ दोनों भाईओं
की उपमा की सार्थकता—

ब्रजे ये विहरे पूर्वे कृष्ण-बलराम।
कोटीसूर्यचन्द्र जिनि' दोंहार निजधाम॥८५॥

८५। प० अनु०—जिनकी अङ्ग कान्ति कोटि सूर्य चन्द्र से भी बढ़कर है वे श्रीकृष्ण और श्रीबलराम पहले व्रज में विहार किया करते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

८५। निजधाम का अर्थ, ज्योति है।

'गौड़ोदये पुष्पवन्तौ'—

सेइ दुइ जगतेरे हइये सदय।
गौड़देशे पूर्वशैले करिल उदय॥८६॥
श्रीकृष्णचैतन्य आर प्रभु नित्यानन्द।
याँहार प्रकाशे सर्व जगत् आनन्द॥८७॥

८६-८७। प० अनु०— वह दोनों जगत् के प्रति दयालु होकर श्रीकृष्णचैतन्य और श्रीनित्यानन्द प्रभु के रूप में गौड़देश-रूपी पूर्वशैल (उदयाचल) से उदित हुये। उनके प्रकाश से समस्त जगत को आनन्द की प्राप्ति हुई है।

अमृतप्रवाह भाष्य

८६। पूर्वशैले—गौड़रूप उदयाचल में गङ्गा के पूर्वी तट पर।

तमोनुदौ—

सूर्यचन्द्र हरे यैछे सब अन्धकार।
वस्तु प्रकाशिया करे धर्मेर प्रचार॥८८॥

८८। प० अनु०—जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र, सम्पूर्ण अन्धकार को दूर करके, वस्तुओं को दृश्यमान करते हुए धर्म का प्रचार करते हैं।

अहैतुकी दया का निदर्शन—

एइमत दुइ भाइ जीवेर अज्ञान।
तमोनाश करि' कैल तत्त्ववस्तु-दान॥८९॥

८९। प० अनु०—उसी प्रकार इन दोनों भाईयों ने जीवों के अज्ञानरूपी अन्धकार को विनाश करके तत्त्ववस्तु का दान दिया है।

कैतव की संज्ञा—

अज्ञान-तमेर नाम कहिये 'कैतव'।
धर्म-अर्थ-काम-वाञ्छा आदि एइ सब॥९०॥

९०। प० अनु०—धर्म, अर्थ, काम और वाञ्छादि सभी अज्ञान-तम हैं और इनको 'कैतव' कहा जाता है।

(श्रीमद्भागवत १.१.२)

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्म्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदंतापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवापरैरीश्वरः।
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥९१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९१। यह श्रीमद्भागवत-ग्रन्थ आदि काल में महामुनि श्रीनारायण द्वारा चतुःश्लोकी के रूप में निर्मित हुआ था। इसमें निर्मत्सर अर्थात् सभी जीवों के प्रति दयावान् व्यक्तियों के लिये धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष तक कैतव-रहित परम धर्म वर्णन हुआ है। यह धर्म जीवों के तीन प्रकार के तापों का नाश करने वाला, शिवद (मङ्गलप्रद) और वास्तववस्तु के तत्त्व-ज्ञान को प्रदान करने वाला है। श्रीमद्भागवत का श्रवण करने के इच्छुक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार ईश्वर को अपने हृदय में अवरुद्ध करने में समर्थ होते हैं। इसलिए श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त अन्यशास्त्रों का क्या प्रयोजन है?

अनुभाष्य

९१। महामुनिकृते (श्रीनारायणमहामुनिरचिते) अत्र श्रीमद्भागवते (श्रीमती शोभामयि भागवते) प्रोज्झित- कैतवः (प्रकर्षेण उज्झितं निरस्तं कैतवं धर्मार्थकाम- मोक्षात्मकंफलाभिसन्धिलक्षणं कपटं यस्मिन् सः केवल भगवतसेवालक्षणः) सतां (हरिजानानां) निर्मत्सराणां (कामक्रोधलोभमोहमद-मत्सरशून्याना) परमः (श्रेष्ठः, कर्मज्ञान-शास्त्रनिरास-परत्वात्) (धर्मः वर्णितः) अत्र (श्रीमद्भागवते) तापत्रयोन्मूलनं (आध्यात्मिकाधि-भौतिकाधिदैविक-पापविनाशक) शिवदं (मंगलप्रद) वास्तवं (शश्वत् पारमार्थिकं अद्वय) वस्तु वेद्यम्। अत्र (श्रीमद्भागवते) शुश्रूभिः (श्रोतुमिच्छद्भिः) कृतिभिः (सुकृतवद्भिः) हृदि तत्क्षणात् सद्यः (कालव्यवधान- रहितः) ईश्वर अवरुध्यते।

तार मध्ये मोक्षवाञ्छा कैतव प्रधान।
याहा हैते कृष्णभक्ति हय अन्तर्धान॥९२॥

९२। प० अनु०—इनमें (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की वासनाओं में) मोक्ष की वाञ्छा प्रधान कैतव है, जिससे कृष्णभक्ति अन्तर्धान हो जाती है।

उक्त श्लोक की श्रीधरस्वामीचरण की व्याख्या—

"प्र-शब्देन मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्तः" इति॥९३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९२-९३। इनमें से मुक्ति की वाञ्छा ही प्रधान कैतव है। (श्रीधर) स्वामिपाद ने इसलिए ही प्र-शब्द से मोक्ष के अभिसन्धिरूप कैतवराहित्य (कैतवशून्यता) का उल्लेख किया है।

कृष्णभक्तिर बाधक—यत शुभाशुभ कर्म।
सेइ एक जीवेरे अज्ञानतमो-धर्म॥९४॥

९४। प० अनु०—सभी प्रकार के शुभ और

अशुभ कर्मसमूह कृष्णभक्ति में बाधा देने वाले हैं। यह कर्मसमूह भी जीवों का अज्ञान-तम धर्म है।

अमृतप्रवाह भाष्य

९४। श्रीचैतन्य और श्रीनित्यानन्द प्रभु दोनों भाई सूर्यचन्द्र-स्वरूप हैं। वे उदित होकर जीवों के हृदय के अन्धकार को विनाश करते हैं। इन पद्यों का तात्पर्य यह है कि, जीव चित्स्वरूप तत्त्व है। जीव का स्वधर्म कृष्णभक्ति और कृष्णप्रेम है। शुभकर्म (पुण्य) एवं अशुभ-कर्म (पाप) एवं मोक्षाभिसन्धि—इन सभी ने स्वधर्म के रूप में जीवों में प्रवेश करके उसे तमोधर्ममय बना दिया है। कर्म और ज्ञान के प्रतिपादक सभी उपदेश ही कैतव अर्थात् छल हैं, अतः तमोधर्म के अनुगत हैं। श्रीचैतन्य एवं श्रीनित्यानन्द के उदित होने से पहले वही तमोधर्म जीव के हृदय को दूषित कर रहा था। दोनों भाईयों ने उदित होकर जीवों के अन्तःकरण से उसी तमोधर्म को दूर करके वस्तुतत्त्व का किया है।

निताई-गौर की कृपा का फल—

याँहार प्रसादे एइ तमो हय नाश।
तमो नाश करि' करे तत्त्वेर प्रकाश॥९५॥

९५। प० अनु०—जिनकी कृपा से यह तम अर्थात् अन्धकार दूर होता है तथा तत्त्व-वस्तु प्रकाशित होती है।

तत्त्ववस्तु का परिचय—

तत्त्ववस्तु—कृष्ण, कृष्णभक्ति, प्रेमरूप।
नामसंकीर्तन—सर्व आनन्दस्वरूप॥९६॥

९६। प० अनु०—श्रीकृष्ण, कृष्णभक्ति, प्रेम तथा नाम-सङ्कीर्तन ये सभी तत्त्व वस्तुएँ आनन्द स्वरूप हैं।

सूर्य-चन्द्र से भी बढ़कर उनकी उपादेयता (श्रेष्ठता)—

सूर्य चन्द्र बाहिरेर तमः से विनाशे।
बहिर्वस्तु घट पट आदि से प्रकाशे॥९७॥
दुइ भाइ हृदयेर क्षालि' अन्धकार।
दुइ भागवत-संगे करान साक्षात्कार॥९८॥
एक भागवत बड़—भागवतशास्त्र।
आर भागवत—भक्त भक्ति-रस-पात्र॥९९॥
दुइ भागवत द्वारा दिया भक्तिरस।
ताँहार हृदये ताँर प्रेमे हय वश॥१००॥

९७-१००। प० अनु०—सूर्य और चन्द्र केवल बाहर के अन्धकार का विनाश करते हैं और बाहरीवस्तु जैसे घट, पट आदि को ही प्रकाशित करते हैं। किन्तु यह दोनों भाई जीवों के हृदय का अन्धकार दूर करके दो प्रकार के भागवतों के साथ साक्षात्कार कराते हैं। एक बड़ा भागवत है—भागवतशास्त्र और दूसरे भागवत भक्ति रस के पात्र, भक्त हैं। इन दोनों भागवतों के द्वारा ये दोनों भाई जीवों को भक्ति रस प्रदान करते हैं। जिसके फल- स्वरूप भगवान् प्रेम में वशीभूत होकर जीवों के हृदय में अवरुद्ध हो जाते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

९९। दो भागवत का अर्थ भागवत शास्त्र और भक्तिरस के पात्र, भक्त भागवत हैं। इन दोनों भागवतों का साक्षात कराके ये दोनों भाई जीवों को भक्ति रस प्रदान करके उनके प्रेम में आबद्ध हो गये हैं।

'चित्रौ' (आश्चर्य-युग्म)—

एक अद्‌भुत—समकाले दोंहार प्रकाश।
आर अद्‌भुत—चित्तगुहार तमः करे नाश॥१०१॥
एइ चन्द्र सूर्य दुइ परम सदय।
जगतेर भाग्ये गौड़े करिल उदय॥१०२॥

१०१-१०२। प० अनु०—(सूर्य और चन्द्र पृथक- पृथक समय में उदित होते हैं। परन्तु) यह

एक आश्चर्य है कि श्रीकृष्णचैतन्य और श्रीनित्यानन्द प्रभु दोनों का एक ही समय में प्रकाश हुआ है और दूसरा आश्चर्य यह है कि (सूर्य और चन्द्र बाहरी अन्धकार को नाश करते हैं परन्तु) यह दोनों, जीव के अन्तःकरण के तम अर्थात् हृदय के अज्ञान को नाश करते हैं। इस प्रकार यह चन्द्र और सूर्य दोनों ही परम दयालु होकर, जगतवासियों के सौभाग्य हेतु गौड़देश में उदित हुए हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०२। जगत् के सौभाग्य-हेतु—इन दोनों भाईयों के द्वारा प्रचारित प्रेमधर्म क्रमशः जगत् में चारों ओर फैल जायेगा, यही जगत् का सौभाग्य है।

गौड़ में—मालदह जिले के अन्तर्गत प्राचीन गौड़- नगर से सेनवंश के भूपतिगण अपने साम्राज्यसिंहासन को श्रीनवद्वीप मण्डल में ले आये थे। इसलिये श्रीनवद्वीप- मण्डल को गौड़-भूमि कहा जाता है। उसी गौड़ भूमि में गङ्गा के पूर्वीतट पर श्रीमन् महाप्रभु ने जन्म ग्रहण किया और श्रीनित्यानन्द प्रभु भी वहाँ आकर उनसे मिलकर उदित हुए।

'शन्दौ' (मङ्गलदायक युग्म)—

सेइ दुइ प्रभुर करि चरण वन्दन।
याँहा हैते विघ्ननाश अभीष्टपूरण॥१०३॥
एइ दुइ श्लोके कैल मंगल वन्दन।
तृतीय श्लोकेर अर्थ शुन सर्वजन॥१०४॥
वक्तव्य-बाहुल्य ग्रन्थ-विस्तारेर डरे।
विस्तारि' ना वर्णि सारार्थ कहि अल्पाक्षरे॥१०५॥

१०३-१०५। प० अनु०—मैं इन दोनों प्रभुओं के चरणकमलों की वन्दना करता हूँ, जिससे सभी विघ्नों का नाश और अभीष्ट की पूर्त्ति हो जाती है। इन दो श्लोकों के द्वारा मैंने मङ्गलाचरण रूपी वन्दना की है। अब सभी तृतीय श्लोक का अर्थ श्रवण कीजिए। वर्णनीय विषय अधिक होने पर भी मैं ग्रन्थ-विस्तार के भय से अधिक वर्णन नहीं कर रहा हूँ, संक्षेप में ही सार कथा को कह रहा हूँ।

अनादि-व्यवहारसिद्ध प्राचीन व्यक्तियों की स्वशास्त्र में उक्ति

'मितञ्च सारञ्च वचो हि वाग्मिता' इति॥१०६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१०६। परिमित सारवाक्यमयी उक्ति को वाग्मिता कहते हैं।

शन्दौ'—

शुनिले खण्डिवे चित्तेर अज्ञानादि दोष।
कृष्णे गाढ़ प्रेम हबे, पाइबे सन्तोष॥१०७॥

१०७। प० अनु०—इस ग्रन्थ के श्रवण से चित्त के अज्ञान आदि दोष दूर हो जायेंगे और श्रीकृष्ण के प्रति गाढ़ प्रेम उदय होने से सन्तोष की प्राप्ति होगी।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०७। "कृष्णे गाढ़ प्रेम हबे" इसके स्थान पर पाठा- न्तर में "सर्वतत्त्व ज्ञान हइबे" भी देखा जाता है।

प्रथम परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

१०६। मितञ्च (प्रजल्परहितं प्रयोजनमात्र) सारञ्च (उद्देशक) वचः हि वाग्मिता (वाक्-पटुता)।

अनुभाष्य

१०७। महाभारत के उद्योगपर्व के ४३वें अध्याय के १६वें श्लोक में बारह प्रकार के दोषों का एवं विष्णुपुराण में अठारह प्रकार के दोषों का उल्लेख है। स्वरूप की दुर्ज्ञेयता

(१) अज्ञान—जड़देह में अहं बुद्धि
(२) विपर्यास—जड़भोक्ताभिमान
(३) भेद—द्वितीयाभिनिवेश
(४) भय एवं विरूप ग्रहण
(५) शोक—ये पाँच प्रकार के अज्ञान हैं।

प्रथम परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

ग्रन्थ का वर्णनीय विषय—
श्रीचैतन्य-नित्यानन्द-अद्वैत-महत्त्व।
ताँर भक्त-भक्ति-नाम-प्रेमरसतत्त्व॥१०८॥
भिन्न भिन्न लिखियाछि करिया विचार।
शुनिले जानिबे सब वस्तुतत्त्वसार॥१०९॥
श्रीरूप-रघुनाथ पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥११०॥
श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में गुर्वादि-वन्दन-मङ्गलाचरण नामक प्रथम परिच्छेद समाप्त।

१०८-११०। प॰ अनु॰—मैंने पृथक रूप से श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं श्रीअद्वैत प्रभु की महिमा और उनके भक्त-भक्ति-नाम-प्रेमरसतत्त्वादि के माहात्म्य के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है। इनके श्रवण से सब तत्त्व-वस्तु के सार का परिचय प्राप्त हो जाता है। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

✵ ✵ ✵

द्वितीय परिच्छेद

कथासार—इस द्वितीय परिच्छेद में श्रीचैतन्य महाप्रभु को श्रीकृष्ण के साथ एकतत्त्व के रूप में प्रकाशित करके ब्रह्म को उनकी अङ्ग-ज्योति एवं परमात्मा को उनके अंश के रूप में प्रमाणित किया गया है। तत्पश्चात् पुरुषावतार एवं जीव-समूह के परम आश्रय श्रीकृष्ण ही हैं, इसको प्रमाणित करके उनके मूल-नारायणत्व की संस्थापना पूर्वक, श्रीकृष्ण के स्वरूप एवं तीन प्रकार की शक्ति के ज्ञान की प्रयोजनीयता दिखाई गयी है। श्रीकृष्ण के स्वरूप के प्राभव-वैभव-भेद दो प्रकार के प्रकाश हैं, अंश-शक्त्या-वेशभेद से द्विविधावतार हैं और बाल्यपौगण्ड धर्मभेद से दो प्रकार की आद्य लीलाएँ दिखाकर किशोरस्वरूप श्रीकृष्ण का स्वयं अवतारि त्त्व स्थापन किया गया है। चित्शक्ति-वैभव वैकुण्ठ आदि, मायाशक्तिवैभव अनन्त ब्रह्माण्ड तथा जीवशक्ति-वैभव अनन्त जीवसमूह, यह भी दिखाया गया है। श्रीकृष्णचैतन्य समस्त कारणों के कारण, सभी के आदि, स्वयं अनादि नित्यसच्चिदानन्दविग्रह साक्षात् कृष्ण-चन्द्र हैं, यह स्थिर किया गया है। श्रीकृष्ण के स्वरूप-ज्ञान, तीन शक्तियों का ज्ञान, विलासज्ञानरूप सम्बन्धज्ञान, सभी भक्तों के ज्ञातव्यतत्त्व है, यह सिद्धान्त भी निरुपित किया गया है।

(अ: प्र: भा:)

भक्तिसिद्धान्त विचार से गौरवन्दना—

श्रीचैतन्यप्रभुं वन्दे बालोऽपि यदनुग्रहात्।
तरेन्नानामतग्राहव्याप्तं सिद्धान्तसागरम्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनके अनुग्रह से अज्ञ व्यक्ति भी नाना प्रकार के मतवादरूप कुम्भीर आदि (जल-जन्तुओं) से परिपूर्ण सिद्धान्त-समुद्र को अनायास पार कर जाता है, उन्हीं श्रीचैतन्य महाप्रभु की मैं वन्दना करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यदग्रहात् (यत् यस्य अनुग्रहात् कृपया) बालोऽपि (अनभिज्ञोऽर्भकोऽपि) नानामतग्राहव्याप्तं (औलुक्य-जिन-बुद्ध-जैमिनि-पतंजलि-गौतम-कपिल-शंकर-दत्तात्रेय-कथित-मिथोविवदमान नक्रमकर-प्रतिम-जड-स्वार्थ-संकुल-मतवाद-पूर्ण) सिद्धान्त सागरं (विचार-समुद्र) तरेत् (तेषां विषयिणां संकीर्णमत-वादानि तृणी-कृत्य अमलं कृष्णचरणं जानाति (त) श्रीचैतन्यप्रभुं अहं वन्दे।

कृष्णकीर्त्तन-हेतु श्रीचैतन्य की दया की भिक्षा—

कृष्णोत्कीर्त्तनगाननर्त्तनकलापाथोजनि-भ्राजिता
सदभक्तावलिहंसचक्रमधुपश्रेणीविहारास्पदम्।
कर्णानन्दिकलध्वनिवहतु मे जिह्वामरुप्रांगने
श्रीचैतन्यदयानिधे तव लसल्लीलासुधास्वर्धुनी॥२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२। हे दया के समुद्र श्रीचैतन्यदेव! कृष्ण-विषयक उच्चकीर्त्तन-गीत-नर्त्तन आदि कमलों से शोभित एवं हंस-चक्रवाक्-भ्रमररूप साधु भक्तों की विहार भूमि तथा सभी के कानों को आनन्द देने वाले स्त्रोतों की अस्फुट मधुर-ध्वनिरूप तुम्हारी दीप्तिमती लीला रूपी अमृत भागीरथी मेरे मरु प्राङ्गणस्वरूप जिह्वाक्षेत्र में निरन्तर बहती रहे।

अनुभाष्य

२। हे दयानिधे श्रीचैतन्य, कृष्णोत्कीर्त्तनगा-नन र्त्तन-कलापाथोजनि-भ्राजिता (कृष्णस्य नामरूप-गुणलीलादि-नां उत्कीर्त्तनम् उच्चैर्भाषणं गानं नर्त्तनञ्च तद्रूपाः कलाः ता एव पाथोजनीनि पद्मानि तैर्भ्राजिता शोभिता) सद्-भक्तावलिहंसचक्र-मधुपश्रेणीविहारास्पदं विलासक्षेत्रं, यस्यां लीलायां शुद्धभक्तवृन्दानां परमामोदो भवतीति

भाव:) कर्णानन्दिकलध्वनि: (कर्णानन्दी भक्तानां कर्ण-रसायन: कलध्वनि: हंसचक्रवाक्-भ्रमरोपम-हरिजनै: हरिलीलाप्रवाहानामस्फुटमधुरनिनाद:) एवम्भूता तव लसल्लीलासुधास्वर्धुनी (लसती दीव्यती गौरलीला-रूपामृतमयी स्वर्धुनी स्वर्गंगा मन्दाकिनी) मे (मम) जिह्वामरुप्रांगणे (गौरलीला-रसास्वादवञ्चिते रसवर्ज्जिते जिह्वारूपे) वहतु।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥३॥

३। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो तथा श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

आदिलीला के १४ श्लोकों में से तृतीय श्लोक की व्याख्या—वस्तुनिर्द्देश—

तृतीय श्लोकेर अर्थ करि विवरण।
वस्तु-निर्देशरूप मंगलाचरण॥४॥

४। प० अनु—वस्तुनिर्द्देशरूपी मङ्गलाचरण के क्रम में तृतीय श्लोक का अर्थ वर्णन कर रहा हूँ।

यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा
य आत्मान्तर्यामी पुरुष इति सोऽस्यांशविभव:।
षडैश्वर्यै: पूर्णो य इह भगवान स स्वयमयं
न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्त्वं परमिह॥५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५। उपनिषद्समूह जिन्हें अद्वैतब्रह्म कहते हैं, वे मेरे प्रभु की अङ्गज्योति है। जिन्हें योगशास्त्र में अन्तर्यामी पुरुष अथवा परमात्मा कहा गया है, वे मेरे प्रभु के अंश-स्वरूप हैं। जिन्हें ब्रह्म एवं परमात्मा के आश्रय और अंशी-स्वरूप षड़ैश्वर्य-पूर्ण भगवान् कहते हैं, मेरे प्रभु वही स्वयं भगवान् हैं। अत: इस जगत में श्रीकृष्णचैतन्य की अपेक्षा और कोई परमतत्त्व नहीं है।

अनुभाष्य

५। उपनिषदि (ब्रह्मविद्याभिधानसर्वोन्नत- वेदशाखा विशेषे, उपनि-पूर्वकस्य विशरण-गत्यावसादनार्थस्य यद् लृ धातो: क्विप्प्रत्य- यान्तस्येदं—तत्र, उप-उपगम्य गुरु-पदेशाल्लब्धेति यावत्। उपस्थितत्वाद्ब्रह्मविद्यां निश्चयेन तन्निष्ठतया ये दृष्टानुश्रविक-विषयवितृष्णा: सन्त: तेषां संसारवीजस्य सद् विशरणकर्त्री शिथिलयित्री अवसाद-यित्री विनाशयित्री ब्रह्मगमयित्रीति) यद् अद्वैतं (द्वितीय-रहितं ब्रह्म (अभिधीयते) तदपि अस्य (गौरकृष्णस्य) तनुभा (अप्राकृतदेहस्य कान्ति:) य: आत्मा (परमात्मा सर्वजीवादिनियन्ता) अन्तर्यामीपुरुष: सोऽस्य अंशविभव: (ऐश्वर्यस्यान्यतम विभुत्वविशेष:) इह (अस्मिन् तत्त्व-विचारे) य: षड़ैश्वर्य: (षड्भि: समग्रैश्वर्य-वीर्ययश: श्रीज्ञानवैराग्यै: ऐश्वर्यै: प्रभुत्वै:) पूर्ण: (अपेक्षाशूण्य: परिपूर्ण:) स: अयं श्रीकृष्णचैतन्य:) स्वयं भगवान् इह (जगति तत्त्वविचारे कलौ वा) चैतन्यात् कृष्णात् (कृष्ण-चैतन्यात्) परं (अन्यत्) परतत्त्वं (श्रेष्ठाश्रय) न (ना-स्तीत्यर्थ:)। (ज्ञानशास्त्रप्रयोजनं ब्रह्मवस्तु, तथा योग-शास्त्र-लक्ष्य: परमात्मा भगवता सह तत्त्वसाम्येऽपि अधिकारोचितदृष्टिभेदेन भगवद्विग्रहस्य चित-प्रभांरूप-पुटद्वयमात्रम् न तु सम्पूर्णसविशेष- शक्तिमत् स्वयं वस्तु यथा भगवान्)। इस श्लोक के साथ श्रीजीवप्रभु के द्वारा लिखित तत्त्वसन्दर्भ के ८म संख्या का निम्नलिखित श्लोक विचारणीय है। "यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्रसत्ताप्यंशो यस्यांशकै: स्वैर्विभवति वशयन्नेव मायां पुमांश्च। एकं यस्यैव रूपं विलसति परमव्योम्नि नारायणाख्यं, स श्रीकृष्णो विधत्तां स्वयमिह भगवान् प्रेम तद्पादभाजाम्।" सच्चिादानन्द भगवान् के सदानन्दरूप दर्शन से वञ्चित होकर केवल संविद्-वृत्ति का अवलम्बन करके चिन्मय-लीलायुक्त तत्त्ववस्तु का अनुसरण करने के फलस्वरूप ब्रह्म तथा सच्चिदानन्द भगवान् के आनन्दस्वरूप दर्शन से वञ्चित होकर केवल सच्चिद्वृत्ति के अवलम्बन द्वारा चिन्मयलीला-युक्त

तत्त्ववस्तु के अनुसरण के फलस्वरूप परमात्मा के दर्शन होते हैं। अतः सच्चिदानन्द-लीलाविग्रह भगवान की चिन्मय अंगप्रभा ही चिद्विलासहीन अतत् मायारहित ब्रह्म एवं ऐश्वर्यांश-सत्ता ही परमात्मा है।

तत्त्ववस्तुविचार—

ब्रह्म, आत्मा, भगवान—अनुवाद तिन।
अंगप्रभा, अंश, स्वरूप—तिन विधेय चिह्न॥६॥
अनुवाद आगे, पाछे विधेय स्थापन।
सेइ अर्थ कहि, शुन शास्त्रविवरण॥७॥

६-७। प० अनु०—ब्रह्म, आत्मा और भगवान्—ये तीनों अनुवाद हैं। अंगप्रभा, अंश और स्वरूप—ये तीनों विधेय चिह्न हैं। पहले अनुवाद को कहकर पीछे विधेय की स्थापना होती है। उसी शास्त्रसिद्धान्त-सम्मत अर्थ को कह रहा हूँ, श्रवण कीजिए।

श्रीकृष्ण एवं श्रीचैतन्यतत्त्व—

स्वयं भगवान् कृष्ण, विष्णु-परतत्त्व।
पूर्णज्ञान पूर्णानन्द परम महत्त्व॥८॥
'नन्दसुत' बलि' याँरे भागवते गाइ।
सेइ कृष्ण अवतीर्ण चैतन्यगोसाञि॥९॥

८-९। प० अनु०—विष्णुतत्त्व के परमतत्त्व-स्वरूप पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द और परम महिमा-युक्त श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं। श्रीमद्भागवत में जिन्हें 'नन्दसुत' कहकर सम्बोधित किया गया है। वे श्रीकृष्ण ही श्रीचैतन्य गोसाईं के रूप में अवतरित हुये हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

६-९। अलङ्कार-शास्त्रानुसार पहले अनुवाद कहकर बाद में विधेय चिह्नित करेंगे। वेद आदि शास्त्रों में स्थान-स्थान पर ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—इन तीनों के विषय में उल्लेख होने के कारण वे परिज्ञात तत्त्व हैं। अतः इन्हें अनुवाद के रूप में स्थिर करना होगा। ब्रह्म, श्रीकृष्णचैतन्य की अङ्गज्योति है, परमात्मा उनके अंश हैं एवं भगवान् उनके स्वरूप हैं—यह बात अब भी अपरिज्ञात (गुप्त) है। अतः ये तीनों अनुवाद पहले कहकर शास्त्र के अर्थ का विचार कर विधेय की स्थापना करेंगे। शास्त्रों का सिद्धान्त यही है कि विष्णुतत्त्व के परतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। श्रीमद्भागवत में नन्दसुत के रूप में जिनकी महिमा का गान सुना जाता है, वे ही श्रीकृष्णचैतन्य के रूप में अवतीर्ण हुये हैं। अतः मैं श्रीकृष्ण और श्रीचैतन्य को निश्चित रूप से अभिन्न मानकर (उनके तत्त्व पर) विचार करूँगा। इसलिये उसी परतत्त्व वस्तु के ब्रह्म, परमात्मा और स्वयं भगवान् के रूप में जो तीन प्रकार के प्रकाश कथित है, वे सभी श्रीकृष्णचैतन्य के प्रकाश विशेष हैं, ऐसा कह सकता हूँ।

ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान
के सम्बन्ध में विचार—

प्रकाशविशेषे तेहँ धरे तिन नाम।
ब्रह्म, परमात्मा आर स्वयं भगवान्॥१०॥

१०। प० अनु०—वही भगवान (श्रीकृष्णचैतन्य) प्रकाश विशेष से ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीन नामों को धारण करते हैं।

अनुभाष्य

१०। प्रभु श्रीजीवगोस्वामी भगवद्सन्दर्भ के (तृतीय संख्या) में—"तथा चैवं वैशिष्ट्ये प्राप्ते पूर्णा-विर्भावत्वे-नाखण्डतत्त्वरूपोऽसौ भगवान्। ब्रह्म तु अप्रकटित-वैशिष्ट्याकारत्वेन तस्यैवासम्य-गाविर्भावः। संभर्त्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थ-द्वयान्वितः। नेता गमयिता स्त्रष्टा गका-रार्थस्तथा मुने। वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्य-खिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः। ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्यवीर्य-तेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्द-वाच्यानि विना हेयैर्गुयणादिभिः। संभर्त्ता स्वभक्तानां पोषकः। भर्त्ता धारकः स्थापकः। नेता स्वभक्ति-फलस्य प्रेम्णः प्रापकः। गम-यिता स्वलोकप्रापकः। स्त्रष्टा स्व-भक्तिषु तत्तद्गुण-स्योद्गमयिता। (चतुर्थ संख्या) स्वयम-हेतुः स्वरूपश-क्तैकविलासमयत्वेन तत्रोदासीनमपि प्रकृतिजीवप्रवर्त्त-

कावस्थ परमात्मा परपर्यायस्वांशलक्षण-पुरुषद्वारा यदस्य सर्गस्थित्यादिहेतुर्भवति तद्भगवद्रूपं विद्धि। ** येन हेतुकर्त्रा आत्मांशभूतजीवप्रवेशनद्वारा संजीवितानि सन्ति देहादीनि तदुपलक्षणानि प्रधानादि-सर्वाण्येव तत्त्वानि येनैव प्रेरितयैव चरन्ति स्वस्वकार्ये प्रवर्त्तन्ते, तत्परमात्म-रूपं विद्धि। जीवस्य आत्मत्वं तदपेक्षया तस्य परमत्वं इत्यतः परमात्मशब्देन तत्सहयोगी स एव व्यज्यते। यदेव तत्तत्त्वं स्वप्नादौ अन्वयेनस्थितं, यच्च तद्वहिः शुद्धायां जीवाख्य-शक्तौ तथा स्थितं चकारात् ततः परत्रापि व्यतिरेकेण स्थितं स्वयं अवशिष्टं तद्ब्रह्मरूपं विद्धि।"

समस्तशक्तिविशिष्ट होकर पूर्ण आविर्भाव वशतः भगवान् अखण्डतत्त्वरूप हैं और ब्रह्म में ऐसे वैशिष्ट्य-कारत्व के अप्रकाश के कारण ब्रह्म, भगवान् के खण्ड असम्यक् आविर्भाव-मात्र हैं। हे मुने! भगवत्-शब्द के आदि अक्षर 'भ' कार के दो अर्थ होते हैं, संभर्त्ता एवं भर्त्ता, 'ग' कार का अर्थ नेता, गमयिता, एवं स्त्रष्टा है। प्राणिगण अखिलात्मा भूतात्मा में वास करते हैं और वे अव्ययपुरुष भी अशेष प्राणियों में वास करते हैं, यही 'व' कार का अर्थ है। अशेष ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज हेयगुणसमूह-वर्जित होकर भगवत्-शब्द-वाच्य है। संभर्त्ता शब्द का तात्पर्य अपने भक्तों के पोषक है। 'भर्त्ता' का अर्थ है—धारक एवं स्थापक, 'नेता' का अर्थ है—निजभक्तिफल अर्थात् प्रेम के प्रापक। गमयिता का अर्थ 'निजलोक-प्रापक है। 'स्त्रष्टा' शब्द से वे निजभक्तसमूहों में तत्तद् गुणों के उद्‌गमकारी हैं। जो स्वयं अहेतु (हेतु रहित) हैं, स्वरूप- शक्ति-द्वारा एकमात्र विलासविशिष्ट हैं, संसार के प्रति सम्पूर्णतः उदासीन होने पर भी वे प्रकृति एवं जीवों के प्रवर्त्तक-अवस्था-विशिष्ट स्वांशलक्षणान्वित पुरुष द्वारा संसार के जन्म, स्थिति आदि के हेतु स्वरूप हैं, उस तत्त्व को ही भगवत् तत्त्व के रूप में जानना चाहिए। जो हेतुकर्त्ता, जगत् में आत्मांशभूत जीवसमूहों को प्रविष्ट करवाकर जगत् को संजीवित करते हैं, देहादि-उपलक्षण प्रधान आदि तत्त्व-समूह जिनके द्वारा प्रेरित होकर अवस्थान पूर्वक निज-निज कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें परमात्मा के रूप में जानना चाहिए। जीव स्वरूपतः आत्मा है, जीवों की अपेक्षा जिनका परमत्व है, वे ही परमात्मा है। इस कारण परमात्मा-शब्द से वे जीवों के नित्य सहयोगी के रूप में व्यक्त हो रहे हैं। जो तत्त्व स्वप्न, जागरण एवं सुषुप्ति में अन्वयभाव से स्थित हैं, जो समाधि में शुद्धा जीव शक्ति होकर अवस्थित होने पर भी बाद में परत्र और व्यतिरेक-भाव में अवस्थित होकर स्वयं अवशिष्ट, उसी को ब्रह्म जानना।

(श्रीमद्भागवत १.२.११)

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥११॥

अमृतप्रवाह भाष्य

११। तत्त्वविदगण अद्वयज्ञान को तत्त्व कहते हैं। उसी अद्वयज्ञान की प्रथम प्रतीति—ब्रह्म, द्वितीय प्रतीति—परमात्मा और तृतीय प्रतीति—भगवान् हैं।

अनुभाष्य

११। शौनकादि ऋषियों ने श्रीशुकदेव गोस्वामी के शिष्य श्रीसूत से छह प्रश्न किये। 'शास्त्रों का सारतत्त्व क्या है?' इस द्वितीय प्रश्न के उत्तर में यह श्लोक कहा गया है—

तत्त्वविदः (तत्त्वज्ञाः) तत् (एव) तत्त्वं अद्वयं ज्ञानं (चिदेकरूप) वदन्ति, यत् (अद्वयज्ञानं क्वचित्) ब्रह्म (इति), (क्वचित्) परमात्मा (इति), (क्वचित्) भगवान् इति च शब्द्यते (अभिधीयते)। अयमर्थः—केवलज्ञान-वृत्त्या अद्वय-ज्ञान-रूपं ब्रह्म, सच्चिद्वृत्त्या अद्वयज्ञान-रूपः परमात्मा, सच्चिदानन्दवृत्त्या तदद्वयज्ञानरूपो भग-वान्)। भगवद्भक्तगण व्रजेन्द्रनन्दन को ही अद्वय-ज्ञानविग्रह जानते हैं। वे श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण एवं लीला में द्वितीयाभिनिवेश नहीं करते। अप्राकृत नाम, रूप, गुण एवं लीला के साथ श्रीकृष्ण में पृथक्-बुद्धि करने पर विष्णुविग्रह में जो प्राकृत बुद्धि होती है, वही अद्वयज्ञान का अभाव है। श्रीकृष्ण से भिन्न अविष्णु

वस्तु में अद्वयज्ञान के अभाव वशतः कृष्णेतर वस्तु श्रीकृष्ण से अर्थात् अद्वयज्ञान से माया अथवा अद्वय ज्ञान द्वारा स्वतन्त्र होकर मायिक वशयोग्यता को प्राप्त करने के कारण माया-वश या द्वैतज्ञान के अधीन है। कृष्णवस्तु के यावतीय प्रकाश एवं विलासमूर्त्ति समूहों में द्वितीयज्ञान नहीं है, अतः वे सब विष्णुतत्त्व के रूप में मायाधीश हैं। योगिवृन्द अद्वयज्ञान-विग्रह परमात्मा के साथ शुद्धात्मा के अविमिश्र केवल योग को ही द्वितीय-ज्ञान-रहित अवस्था के रूप में जानते हैं। ज्ञानिगण स्वगत-सजातीय-विजातीय-भेदहीन निर्विशेष ज्ञान को ही अद्वय-ज्ञान ब्रह्म के रूप में जानते हैं। भाष्यकार द्वारा कृत श्रीमद्भागवत के गौड़ीयभाष्य के ८८-८९ पृष्ठ द्रष्टव्य हैं।

(१) ब्रह्म विचार—

ताँहार अंगेर शुद्ध किरण-मण्डल।
उपनिषद कहे ताँरे ब्रह्म सुनिर्मल॥१२॥
चर्मचक्षे देखे यैछे सूर्य निर्विशेष।
ज्ञानमार्गे लैते नारे ताँहार विशेष॥१३॥

१२-१३। प० अनु०—उन अद्वयज्ञानतत्त्व के अङ्गों की जो अङ्ग ज्योति है, उसे उपनिषद सुनिर्मल ब्रह्म कहते हैं। जिस प्रकार चर्मचक्षु से हम सूर्य के निर्विशेष रूप को ही देख सकते हैं। उसी प्रकार ज्ञान मार्ग के साधक उन भगवान् के विशेष रूप का दर्शन नहीं कर सकते।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३। निर्विशेष—जिस लक्षण के द्वारा कोई वस्तु परिचित होती है, उसे विशेष कहते हैं, उस लक्षण विशेष से रहित होना ही निर्विशेष है।

अनुभाष्य

१२। मुण्डकोपनिषद, द्वितीयमुण्डक, द्वितीय-खण्ड ९-११ मन्त्र—"हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योति-स्तद्यदात्मविदो विदुः॥ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिण तश्चोत्तरेण अधश्चोर्द्धं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥"

(ब्रह्मसंहिता ५.४०)

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥१४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१४। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में अशेष वसुधादि ऐश्वर्य द्वारा जो भेद को प्राप्त हो रहे हैं वे निष्कल, अनन्त, अशेषभूत ब्रह्म जिनकी प्रभा से उत्पन्न हुये हैं, मैं उन आदिपुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ।

अनुभाष्य

१४। श्रीब्रह्मा द्वारा किये गए श्रीगोविन्द के तत्त्व के वर्णन तथा उनके माहात्म्य (सूचक गुणगान) स्तव के रूप में ब्रह्मसंहिता-ग्रन्थ के पञ्चम अध्याय में लिखित है,—जगदण्डकोटी-कोटीषु (असंख्यब्रह्माण्डेषु) अशेष-वसुधादिविभूतिभिन्नम् (अनन्तब्रह्माण्डादिभिराकारादि-भिर्विभूतिभिर्भिन्नं लब्ध-पार्थक्य) (यत्) निष्कलं (निरंशम् अखण्डं परिपूर्ण) अनन्तं (खण्ड-ज्ञानातीत) अशेषभूतं (सीमारहित) तद्ब्रह्म प्रभवतः (प्रभाव-विशिष्टस्य) यस्य (गोविन्दस्य) प्रभा (अंगकान्तिः) तम् आदिपुरुषं गोविन्दं अहं भजामि।

कोटि कोटि ब्रह्माण्डे ये ब्रह्मेर विभूति।
सेइ ब्रह्म गोविन्देर हय अंगकान्ति॥१५॥
सेइ गोविन्द भजि आमि, तेंहो मोर पति।
ताँहार प्रसादे मोर हय सृष्टिशक्ति॥१६॥

१५-१६। प० अनु०—कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में जिन ब्रह्मकी विभूतियाँ व्याप्त है, वे ब्रह्म श्रीगोविन्द की अङ्ग कान्ति है। मैं (ब्रह्मा) उन गोविन्द का भजन करता

हूँ, वे मेरे स्वामी हैं एवं उनकी कृपासे मुझे सृष्टि करने की शक्ति प्राप्त होती है।

अनुभाष्य

१६। आमि (मैं)—ब्रह्मा।

(श्रीमद्भागवत ११.६.४७)

मुनयो वातवसनाः श्रमणा ऊर्द्धमन्थिन।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः सन्नयासिनोऽमलाः॥१७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१७। दिग्वसन, श्रमशील (भजन में श्रम करने-वाले), ऊर्द्धरेता (स्त्री सङ्गसे रहित), मुनिगण शान्त तथा निर्मल संन्यासीगण ब्रह्मधाम को प्राप्त करते हैं।

अनुभाष्य

१७। श्रीकृष्ण शीघ्र ही अन्तर्धान होंगे यह जानकर उद्धव उनके श्रीचरणों में प्रार्थना करते समय कहते हैं कि भक्तों के लिये श्रीकृष्ण चरणकमल की प्राप्ति सुलभ है किन्तु क्लेशपरक संन्यासियों को परिश्रमलब्ध साधन के फलस्वरूप केवल मात्र ब्रह्मलोक की ही प्राप्ति होती है—

वातवसनाः (दिगम्बराः वसनहीनाः) श्रमणाः (शरीर-कर्षणकारिणः भिक्षवः) ऊर्द्धमन्थिनः (ऊर्द्धरेतसः) शान्ताः (ब्रह्मनिष्ठैकधियाः) अमलाः (विषयमल- वर्ज्जिताः सन्न्यासिनः) ते ब्रह्माख्यं (निर्विशेषरूप) धाम यान्ति (प्राप्नुवन्ति)।

(२) परमात्म विचार—

आत्मान्तर्यामी याँरे योगशास्त्रे कय।
सेह गोविन्देर अंश विभुति ये हय॥१८॥
अनन्त स्फटिके यैछे एक सूर्य भासे।
तैछे जीवे गोविन्देर अंश प्रकाशे॥१९॥

१८-१९। प० अनु०—योगशास्त्रों में जिन्हें आत्मा-न्तर्यामी (परमात्मा) कहा जाता है, वे श्रीगोविन्द के अंश विभूति हैं। अनन्त स्फटिक मणियों में जैसे एक ही सूर्य प्रतिभात होते हैं, वैसे ही जीवों में श्रीगोविन्द के अंश ही प्रकाशित होते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९। अनन्त स्फटिक-खण्डों में जैसे एक ही सूर्य प्रतिभात होकर पृथक्-पृथक् प्रतीति प्रकाश करते हैं, उसी प्रकार अनन्त संख्यक जीवों में श्रीगोविन्द के अंश जो परमात्मा हैं, वे प्रकाशित होते हैं।

अनुभाष्य

१८। भगवान् चिद्विलासमय-विग्रह हैं; वे तुरीय-विग्रह हैं, इसलिए देवीधाम के किसी भी विषय में स्वयं आसक्त न होकर पुरुषावतार द्वारा 'प्रधान' और जीवों के नियन्ता हैं। त्रिविध पुरुषावतार के सम्बन्ध में तत्त्वबोध होने मात्र से जीव चतुर्विंश मायिक-तत्त्वोपलब्धि से मुक्त हो जाते हैं। प्रत्येक जीव के अन्तर्यामी क्षीरोदकशायी महाविष्णु, ब्रह्माण्ड के समष्टि-जीव के अन्तर्यामी रूप में गर्भोदकशायी महाविष्णु तथा ब्रह्माण्ड के स्रष्टा कारणार्णवशायी अन्तर्यामी महाविष्णु—तीनों पुरुषावतार देवी धाम की सृष्टि के कर्त्तृस्वरूप आंशिक कार्यों के नियन्ता हैं। चतुर्विंश मायिकतत्त्वों के उस पार जाने के उद्देश्य से परमात्मा के साथ योगविधान की कथाएँ योग-शास्त्र में कही गयी है। अतः अन्तर्यामी पुरुष परमात्मा, गोविन्द की अंश-विभूतिमात्र हैं।

१९। एकमात्र सूर्यदेव जिस प्रकार से अपने स्थान पर विराजित होकर अनन्त स्फटिक-खण्डों में अनन्त-मूर्त्तियों में प्रतिभात होते हैं, उसी प्रकार एकमात्र श्रीगोविन्द गोलोक-वृन्दावन में नित्य प्रकट रहकर अनन्तजीवों के हृदय में जीवों के सेव्यपुरुष अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में प्रकाशित होते हैं। "द्वा सुपर्णा सयुजा" प्रभृति तीन मन्त्रों में जैसे एक वृक्ष पर सेव्य-सेवक के भाव से अवस्थित जीवात्मा और परमात्मारूप दो पक्षियों का उल्लेख प्राप्त होता है। परमात्मा, जीवात्मा को कर्मफल भोग करवाते हैं, किन्तु वे परमात्मा वैसे फल के भोक्ता नहीं होते। जिस समय जीव कर्मफल-भोक्तृत्व का परित्याग करके सेव्य-परमात्मा की महिमा को जानते हैं, तब निरंजन होकर परम समतास्वरूप वैकुण्ठ को प्राप्त करते हैं।

(श्रीमद्भगवद्गीता १०.४२)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्ज्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥२०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२०। हे अर्जुन! अधिक क्या कहूँ, मैं ही एक अंश के द्वारा परमात्मा रूप में अखिल जगत् में प्रविष्ट होकर विराजमान हूँ।

अनुभाष्य

२०। भगवान अर्जुन को अनेक प्रकार से अपने सम्बन्ध-तत्त्व को समझाकर संक्षेप अर्थ इस श्लोक में प्रकाशित कर रहे हैं,—

अथवा हे अर्जुन, बहुना (बाहुल्येन पृथक् पृथगुप-दिश्यमानेन) ज्ञातेन किं (तव प्रयोजनम्-अल-मित्यर्थः) इदं (चिदचिदात्मक) कृत्स्नं (समग्र) जगत् एकांशेन (प्रकृत्याद्यन्तर्यामिना पुरुषाख्येण अंशेन) विष्टभ्य (अधिष्ठानत्वात् विधृत्य अधिष्ठातृत्वादधिष्ठाय, नियन्तृत्वान्नियम्य, व्यापकत्वात् व्याप्य) अहं (भगवान्) स्थितः।

(श्रीमद्भागवत १.९.४२)

तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥२१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२१। भीष्म ने कहा—हे कृष्ण, एक ही सूर्य जैसे प्रत्येक चक्षु के विषयीभूत भिन्न-भिन्न वस्तु के रूप में प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार आपके एक अंशरूप परमात्मा प्रत्येक देहीधार के हृदय में विराजमान होकर पृथक् तत्त्व के रूप में अनुमित होते हैं। परन्तु जब वे सब आपके आत्मकल्पित होते हैं अर्थात् आपके दास के रूप में अपने आप को जानते हैं, तब किसी प्रकार के भेद का मोह नहीं रह जाता। परमात्मा को आपका अंश जानकर उसी प्रकार विगत-भेदमोह होकर मैंने भी आपके अज (अजन्मा) स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त किया है।

अनुभाष्य

२१। युधिष्ठिर के द्वारा भीष्म के समक्ष धर्मजिज्ञासा-वासना के उद्देश्य से यात्रा करने पर अर्जुन के रथ में श्रीकृष्ण ने उनका अनुगमन किया। अन्यान्य देवर्षि ब्रह्मर्षिगण भीष्म के दर्शन-हेतु वहाँ उपस्थित होने पर युधिष्ठिर के कुछेक प्रश्नों के उत्तर देने के पश्चात् भीष्म का निर्याण समय उपस्थित हुआ। तब भीष्म ने अनेक श्लोकों के द्वारा अपने सम्मुख उपस्थित श्रीकृष्ण का अनेक श्लोकों के द्वारा स्तव किया। इनमें से यह एक श्लोक है—

(नानादेशावस्थितानां प्राणिना) प्रति दृशं (अवलोकनं प्रति) नैकधा (अधिष्ठानभेदात् अनेकधा) एकं अर्कमिव (सूर्यवत्) आत्मकल्पितानां (आत्मना स्वयमेव कल्पि-ताना) शरीरभाजां हृदि हृदि (प्रतिहृदय) धिष्ठितं (अधि-ष्ठित) तम् इमं अजं (श्रीकृष्ण) विधूतभेदमोहः (विधूतो दूरीकृतो भेदरूपो मोहः भगवतः नामरूपगुण-लीलाभेदरूपः भगवद्विग्रहस्य प्रकाश-विलास-मूर्त्ति-भेदेन व्यापक-त्वसम्भावनाजनित-नानात्व-प्रतीतिलक्ष्णः मोहः यस्य तथा-भूतः) अहं समधिगतः (सम्यगधिगतः प्राप्तोऽस्मि)।

(३) भगवद्विचार—

सेइ' त गोविन्द साक्षाच्चैतन्य गोसाञि।
जीव निस्तारिते ऐछे दयालु आर नाइ॥२२॥

२२। प॰ अनु॰—वे गोविन्द ही साक्षात् श्रीचैतन्य गोसाईं हैं। जीवों के उद्धार करने में ऐसा दयालु और कोई नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२२। यहाँ 'साक्षात्' शब्द के प्रयोग के द्वारा ग्रन्थकार यही सिद्धान्त प्रस्तुत कर रहे हैं कि, श्रीकृष्णचैतन्य स्वयं गोविन्द हैं अर्थात् गोविन्द के प्रकाश अथवा विलास नहीं है।

अनुभाष्य

२२। चैतन्योपनिषद में—"गौरः सर्वात्मा महापुरुषो महात्मा महायोगी त्रिगुणातीतः सत्त्वरूपो भक्तिं लोके काश्यतीति।" श्वेताश्वतर में—"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्तात् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥" "महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैव प्रवर्त्तकः। सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥" "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्"। "ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्। भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम॥ त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितं अन्वधावत्" इति। "इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारैर्लोकान् विभावयसि हंसि जगत् प्रतीपान्। धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥" इति प्रह्लाद वचनम्। यहाँ चरितामृत में उद्धृत प्रमाणसमूह का उद्धरण निष्प्रयोजनीय है। कृष्णयामल में—"पुण्यक्षेत्रे नवद्वीपे भविष्यामि शचीसुतः।" ब्रह्मयामल में—"अथवाहं धराधामे भूत्वा मद्भक्तरूपधृक्। मायायां च भविष्यामि कलौ संकीर्त्तनागमे।" वायुपुराण में—"कलौ संकीर्त्तनारम्भे भविष्यामि शचीसुतः।" अनन्तसंहिता में—"स एव भगवान् कृष्णो राधिकाप्राणवल्लभः। सृष्ट्यादौ स जगन्नाथो गौर आसीन्महेश्वरि॥" आदि।

परव्योमपति नारायण ही सभी शास्त्रों में वर्णित—

परव्योमेते वैसे नारायण नाम।
षडैश्वर्यपूर्ण लक्ष्मीकान्त भगवान्॥२३॥
वेद, भागवत, उपनिषद, आगम।
'पूर्णतत्त्व' याँरे कहे, नाहि याँर सम॥२४॥

२३-२४। प० अनु०—जो षड़ैश्वर्यपूर्ण, लक्ष्मीकान्त नारायण भगवान परव्योम में विराजित हैं। वेद, भागवत, उपनिषद, आगम आदि उन्हें 'पूर्णतत्त्व' कहते हैं, उनके समान और कोई नहीं है।

अनुभाष्य

२४। ऋक्संहिता में (१।२२।२०)—"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।" आदि।

(भा० ११.३.३४-३५) "नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः। निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः॥ स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य, यत् स्वप्न-जागर-सुसुप्तिषु सद्बहिश्च। देहेन्द्रि-यासु-हृदयानि चरन्ति येन, संजीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र॥" नारायणाथर्वशिर-उपनिषद् में—"नारायणादेव समुत्पद्यन्ते नारायणात् प्रवर्त्तन्ते नारायणे प्रलीयन्ते। अथ नित्यो नारायणः। नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्।" नारायणोपनिषद में—"यतः प्रसूता जगतः प्रसूता।" हयशीर्ष-पञ्चरात्र में—"परमात्मा हरि देवः।"

दृग्भेद से दर्शनभेद एवं
उपायभेद से उपेयप्रतीतिभेद—

भक्तियोगे भक्त पाय याँहार दर्शन।
सूर्य येन सविग्रह देखे देवगण॥२५॥
ज्ञानयोगमार्गे ताँरे भजे येइ सब।
ब्रह्म-आत्मरूपे ताँरे करे अनुभव॥२६॥
उपासना-भेदे जानि ईश्वर महिमा।
अतएव सूर्य ताँर दिये त' उपमा॥२७॥

२५-२७। प० अनु०—जैसे देवगण सूर्य को सविग्रह (अङ्गों सहित) देखते हैं, उसी प्रकार भक्तियोग से भक्तों को नारायण को सविशेष रूप का दर्शन प्राप्त होता है। ज्ञान और योगमार्ग से भजन करने वाले उन्हें ब्रह्म और परमात्मा के रूप में अनुभव करते हैं। उपासना-भेद के अनुसार ईश्वर की महिमा का ज्ञान होता है। इसलिए सूर्य के साथ भगवान की उपमा की गई है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२५-२६। भगवान् के नित्यविग्रह को जडेन्द्रिय अथवा ज्ञानचेष्टाओं के द्वारा नहीं देखा जा सकता। भक्तियोग से अर्थात् भक्तिवृत्ति द्वारा भक्त ही केवल उनका

दर्शन करने योग्य होते हैं। दृष्टान्तस्वरूप यही कहा जा सकता है कि, सूर्य विग्रहविशिष्ट वस्तु है। साधारण चर्मचक्षुओं अथवा आसुरिक नेत्रों से उस विग्रह के दर्शन नहीं हो सकते। देवताओं के दिव्यचक्षु सूर्यदेव के रश्मि-जाल का अतिक्रमण करके उनके दर्शन करने में समर्थ होते हैं। जो मानवसमूह ज्ञानमार्ग तथा योगमार्ग से उनका अनुसन्धान करते हैं, वे नित्यविग्रह के रश्मिजालरूप ब्रह्म और अंशरूप परमात्मा का ही अनुसरण कर सकते हैं। चिन्मय नित्यविग्रह के दर्शन करने के योग्य नहीं होते।

(१) कृष्ण एवं नारायण की अभेदता
सिद्ध होने पर भी लीलागतभेद—

सेइ नारायण कृष्णेर स्वरूप अभेद।
एकइ विग्रह, किन्तु आकार-विभेद॥२८॥
इहोंत द्विभुज, तिहों धरे चारि हात।
इहों वेणु धरे, तिहों चक्रादिक साथ॥२९॥

२८-२९। प० अनु—उन श्रीनारायण और श्रीकृष्ण के स्वरूप में कोई भी भेद नहीं है। एक ही विग्रह होने पर भी उनमें केवल आकार का भेद है। एक द्विभुजधारी हैं तो दूसरे चतुर्भुजधारी। एक वेणु धारण करते हैं तो दूसरे चक्र आदि के साथ विराजमान हैं।

(श्रीमद्भागवत १०.१४.१४)

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी।
नारायणोऽङ्गं नरभू-जलायना-
त्तत्त्चापि सत्यं न तवैव माया॥३०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३०। हे अधीश! आप अखिललोक साक्षी हैं। आप जब प्रत्येक देहधारी के आत्मा अर्थात् अत्यन्त प्रियवस्तु हैं, तब क्या आप मेरे जनक नारायण नहीं हैं? नरजात जल-शब्द से नार, इसमें जिनका अयन (आश्रय) है, वे ही नारायण हैं। वे आपके अङ्ग अर्थात् अंश हैं। आपके अंशरूप कारणाब्धिशायी, क्षीरोदशायी एवं गर्भोदिकशायी में से कोई भी माया के अधीन नहीं है। वे सब मायाधीश, मायातीत परमसत्य हैं।

अनुभाष्य

३०। गोवत्स हरण के पश्चात् श्रीकृष्ण तत्त्व के सम्बन्ध से अवगत होकर ब्रह्मा ने जो स्तुति की थी, यह श्लोक उनमें से एक है—

हे अधीश, (पुरुषावतारत्रयादधिकैश्वर्यसम्पन्न) त्वं नारायणः (नारस्य अयनं प्रवृत्तिर्यस्मात् सः) सर्वदेहिनां (सर्वप्राणिनाम्) आत्मा अपि त्वं नारायणः (नारं जीव-समूहः अयनं आश्रयो यस्य सः तृतीयपुरुषावतारः क्षीरोद-कस्यः) त्वं असि (भवसि) न हि किम्? अखिललोक-साक्षी (समष्ट्यन्तर्यामी) त्वं नारायणः नारं अयसे जानासि द्वितीयपुरुषावतारः गर्भोदकस्थः नरभूजलायनात् (नरात् परमात्मनः उद्भूताः ये अर्थाः चतुर्विंशतितत्त्वानि तथा नरात् जातं यत् जलं तदयनात्) (यः प्रसिद्ध आदि पुरुषा-वतारः कारणोदकस्थः) नारायणः सः अपि तव अंगं (अंश) तत्त्च अपि सत्यम् एव, न तु माया (न मायिकवद नित्यम्)। (अवतारेऽपि त्वयि तव चिन्मयकलेवरस्य स्पर्शने माया असमर्था) हे कृष्ण, त्वं मूल नारायणः पुरुषाद्यवतारास्ते अंशाः (त्वमेव अंशीति) तेऽवतारा अंगाः त्वमेवांगीति मे मतिः)।

श्लोकव्याख्या—

शिशु वत्स हरि' ब्रह्मा करि' अपराध।
अपराध क्षमाइते मागेन प्रसाद॥३१॥

३१। प० अनु—गोपबालकों एवं बछड़ों का अपहरण करके ब्रह्मा ने जो अपराध किया था। उस अपराध से छुटकारा पाने के लिये ब्रह्मा ने, श्रीकृष्ण से कृपा प्रार्थना की।

मूल नारायणत्वहेतु कृष्ण में
सर्वपुरुषावतारत्व की अन्तर्भुक्तता—

तोमार नाभिपद्म हैते आमार जन्मोदय।
तुमि पिता-माता, आमि तोमार तनय॥३२॥

पिता माता बालकेर ना लय अपराध।
अपराध क्षम, मोरे करह प्रसाद॥३३॥
कृष्ण कहेन—ब्रह्मा, तोमार पिता नारायण।
आमि गोप, तुमि कैछे आमार नन्दन॥३४॥

३२-३४। प० अनु०—आपके नाभिकमल से मेरा जन्म हुआ है। अतः आप मेरे पिता-माता हैं और मैं आपका पुत्र हूँ। पिता-माता बालक के अपराधों को ग्रहण नहीं करते। इसलिए आप मेरे अपराध को क्षमा कीजिए तथा मुझ पर कृपा कीजिए। श्रीकृष्ण कहने लगे—ब्रह्मा, तुम्हारे पिता तो नारायण हैं। मैं एक गोप हूँ, तुम मेरे पुत्र कैसे हो सकते हो?

प्रथम प्रमाण—

ब्रह्मा बलेन, तुमि कि ना हओ नारायण।
तुमि नारायण—शुन ताहार कारण॥३५॥
प्राकृताप्राकृत-सृष्ट्ये यत जीवरूप।
ताहार ये आत्मा तुमि मूल-स्वरूप॥३६॥
पृथ्वी यैछे घटकुलेर कारण आश्रय।
जीवेर निदान तुमि, तुमि सर्वाश्रय॥३७॥
'नार'-शब्दे कहे सर्वजीवेर निचय।
'अयन'-शब्देते कहे ताहार आश्रय॥३८॥
अतएव तुमि हओ मूल नारायण।
एइ एक हेतु, शुन द्वितीय कारण॥३९॥

३५-३९। प० अनु०—ब्रह्मा ने कहा, क्या आप नारायण नहीं हैं? आप ही नारायण हैं—इसका कारण सुनिये। प्राकृत और अप्राकृत सृष्टि में जितने भी जीव-समूह हैं, आप उन सभी के आत्मा अर्थात् मूल-स्वरूप हैं। जैस पृथ्वी, घड़े आदि मिट्टी के बरतनों का कारण और आश्रयस्वरूप होती है, उसी प्रकार आप भी जीवों के आदि कारण, सर्वाश्रयस्वरूप हैं। 'नार' शब्द से जीवसमूह को समझा जाता है और 'अयन' शब्द से उन सबका आश्रय निरुपित होता है अर्थात् जो जीवसमूह का आश्रय हैं—वही नारायण हैं। अतएव हे कृष्ण! आप ही मूल नारायण हैं। यह एक कारण है, अब दूसरा कारण सुनिए।

अमृतप्रवाह भाष्य

३६-३७। प्राकृत सृष्टि माया प्रकृति के अन्तर्गत है। "भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। अपरेयं" **—इस गीता-वचन (७।४-५) के अनुसार मन-बुद्धि-अहंकार-रूप लिंगजगत्, भूमि आदि पञ्चमहाभूतरूप सबकुछ ही मायिक अथवा प्राकृत है। शुद्ध जीव एवं चित्जगत् अप्राकृत है। उस प्राकृत एवं अप्राकृत दोनों जगत् में बद्ध एवं शुद्ध, दोनों प्रकार के जीवों के आप आत्मा हैं, अतएव मूलस्वरूप हैं। जैसे घड़े आदि मिट्टी के बर्तनों का कारण और आश्रय पृथ्वी है, वैसे ही आप जीवों के एकमात्र निदान अर्थात् कारण एवं आश्रय हैं।

अनुभाष्य

३६। प्रकृति के गुणों के द्वारा उत्पन्न जितनी भी विभिन्न वस्तुएँ हैं, वे सभी प्राकृत हैं। गुणद्वारा क्षोभ के अयोग्य जो सब नित्य चिद्विलास-विचित्रता वर्तमान है, वही अप्राकृत सृष्टि है। अप्राकृत-प्रकाश के अन्तर्गत मुक्त जीवसमूह कृष्णसेवापर हैं। काल के अधीन त्रिगुण के अन्तर्गत बद्धजीव प्राकृत-सृष्टि के अन्तर्भुक्त हैं। अप्राकृत-प्रकाश मुक्तजीव निरन्तर कृष्णसेवा में लगा हुआ है, प्राकृत जीव सदैव सुखदुःख रूपी भोगों के अधीन हैं। संकर्षण ही मुक्त एवं बद्धजीवों के मूलस्वरूप हैं अर्थात् उनकी तटस्थशक्ति से विविध जीव सेवोन्मुख तथा सेवाविमुख अवस्थाओं में अनेक रूपों में स्थित है। मुक्त होकर जीव अप्राकृत राज्य में पाँच प्रकार के विभिन्न रसों के आश्रयाधीन होकर भगवत्सेवा में रत रहते हैं। दूसरी ओर, भोगमय राज्य में अविद्या से ग्रस्त होकर जीव अपने आपको विषयी मानकर अभिमानी होकर अन्य वस्तुओं में योषित्बुद्धि (भोगबुद्धि) करते हैं। ये दोनों प्रकार के तटस्थ शक्ति-परिणाम-प्रकाश जीवसमूह शक्ति-मत् तत्त्व के अधीन हैं।

३७। जिस प्रकार से व्यापक मृत्तिका (मिट्टी) व्याप्त होने योग्य विविध घड़ों का उपादानकारण हैं, उसी प्रकार अद्वयज्ञानरूप भगवद्वस्तु से निखिल जीवसमूह घड़ों

की भाँति नित्य प्रकटित है। जीवों के कारण-स्वरूप वही सर्वकारण-कारण भगवान् सदैव अधिष्ठित हैं। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां" यह श्रुति सभी वस्तुओं के आश्रय के रूप में परम तत्त्व का ही निदेश करती है।

विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्त के प्रतिपाद्य का निरुपण करते हुए कहते हैं कि, जिस प्रकार सूक्ष्मदेह और स्थूलदेह के देही जीव त्रिविध अवस्थानों में परिदृष्ट होते हैं, उसी प्रकार चित् तथा अचित् जगत् भगवत्स्वरूप से स्वतन्त्र भाव में द्विविध अवस्थानों में प्रकाशित होकर उनके ही अद्वयवैशिष्ट्य की स्थापना कर रहे हैं। चित् जगत् भगवत् परिकरों से पूर्ण है, और अचित्जगत् भगवद् विमुख बद्धजीवों की भोग्यभूमि है। भगवान् की अन्तरङ्गा-शक्ति परिकरवैशिष्ट्य का कारण है; भगवान् की बहिरङ्गा-शक्ति ने प्राकृत-गुणजात जगत् की सृष्टि की है। प्राकृत जगत् भगवान् के स्थूल बाह्य अंग हैं, और जीवजगत् भगवान् के सूक्ष्म अङ्ग हैं। भगवान् इन दोनों अङ्गों के अङ्गी हैं। गौड़ीय-दर्शन ने स्वरूपशक्तिमत्तत्त्व, चिच्छक्ति और अचित्शक्ति-परिणत दोनों जगत् के युगपत् कारण-कार्य में अचिन्त्यभेदाभेद की स्थापना की है।

द्वितीय प्रमाण—

जीवेर-ईश्वर—पुरुषादि अवतार।
ताँहा सबा हैते तोमार ऐश्वर्य अपार॥४०॥
अतएव अधीश्वर तुमि सर्वपिता।
तोमार शक्तिते ताँरा जगत-रक्षिता॥४१॥
नारेर अयन याते करह पालन।
अतएव हओ तुमि मूल नारायण॥४२॥

४०-४२। प० अनु०—पुरुषादि अवतार जीवों के ईश्वर हैं। उन सभी से आपका ऐश्वर्य अपार है। अतएव आप अधीश्वर-स्वरूप सभी के पिता हैं। आपकी शक्ति से वे सब जगत् की रक्षा करते हैं। नार (जीवों) के अयनस्वरूप (आश्रयस्वरूप) होने के कारण आप सभी का पालन करते हैं, अतएव आप ही मूल-नारायण हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

४०। पुरुषादि अवतार—कारणाब्धिशायी, गर्भोदकशायी एवं क्षीरोदकशायी—ये तीन पुरुषावतार हैं।

तृतीय प्रमाण—

तृतीय कारण शुन श्रीभगवान्।
अनन्त ब्रह्माण्ड बहु वैकुण्ठादि धाम॥४३॥
इथे यत जीव, तार त्रिकालिक कर्म।
ताहा देख, साक्षी तुमि, जान सब मर्म्म॥४४॥
तोमार दर्शने सर्व जगतेर स्थिति।
तुमि ना देखिले कार नाहि स्थिति गति॥४५॥
नारेर अयन याते कर दरशन।
ताहातेओ हओ तुमि मूल नारायण॥४६॥
कृष्ण कहेन,—ब्रह्मा, तोमार ना बुझि वचन।
जीव-हृदि, जले वैसे सेइ नारायण॥४७॥
ब्रह्मा कहे—जले जीवे येइ नारायण।
से सब तोमार अंश,—ए सत्य वचन॥४८॥

४३-४८। प० अनु०—(श्रीब्रह्मा ने कहा—भगवन्! आप ही नारायण है) इसका तीसरा कारण सुनिये। अनन्त ब्रह्माण्डों में और अनेक वैकुण्ठादि धामों में जितने भी जीव हैं, उन सबके त्रिकालिक (भूत, वर्तमान, भविष्य) कर्मों को आप देखते हैं। इसलिए आप उन सबके साक्षी हैं और आप ही उनके समस्त कर्मों के मर्म को जानते हैं। आपकी दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् की स्थिति है। यदि आप न देखें तो किसी की भी स्थिति गति नहीं है क्योंकि आप नार (जीव) के आश्रयस्वरूप होने के कारण उनके द्रष्टा हैं, इस कारण से भी आप मूल नारायण हैं। श्रीकृष्ण कहने लगे—हे ब्रह्मा! मुझे तुम्हारी बात नहीं समझ आ रही। जीवों के हृदय में तथा जल में जो वास करते हैं, वही तो नारायण हैं (तो फिर मैं कैसे नारायण हुआ?)। ब्रह्मा ने कहा—जल में एवं जीवों में जो नारायण वास करते हैं, वे सब आपके ही अंश हैं,—यह सत्य वचन है।

अमृतप्रवाह भाष्य

४४। इथे—प्राकृत ब्रह्माण्डसमूह में एवं अप्राकृत वैकुण्ठादि धामों में। बद्ध एवं शुद्ध जीवों के भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल के सभी कर्मों के आप एकमात्र साक्षी अर्थात् द्रष्टा हैं।

४६। याते अर्थात् क्योंकि आप जीवों के द्रष्टा हैं, अतएव नार के अयन-रूप नारायण हैं। ब्रह्मा तीन युक्तियों के द्वारा श्रीकृष्ण को मूल नारायण के रूप में स्थिर कर रहे हैं। प्रथम—सभी जीवों के आदि कारण एवं आश्रय होने के कारण श्रीकृष्ण ही मूल-नारायण हैं। द्वितीय—सभी जीवों के ईश्वर कारणाब्धिशायी पुरुष, समष्टि-जीवों के अर्थात् हिरण्यगर्भ के आत्मा गर्भोदकशायी पुरुष तथा व्यष्टि जीवों के अन्तर्यामी आत्मा क्षीरोदकशायी पुरुष। ये तीनों पुरुष और उनके अवतार-समूह के मूल शक्ति-दातारूप नार के अयन (आश्रय) होने से श्रीकृष्ण ही मूल-नारायण हैं। तृतीय—अनन्त ब्रह्माण्ड एवं वैकुण्ठ आदि में बद्ध एवं शुद्धजीव-समूह के त्रिकालिक कर्मों के साक्षीरूप नार के अयन के रूप में श्रीकृष्ण ही मूल-नारायण हैं।

४७। जीव-हृदि—व्यष्टि एवं समष्टि जीवों के हृदय में। जल में—कारणाब्धि में, गर्भोदक में एवं क्षीरोदक में।

तीन पुरुषावतारों के लक्षण—

कारणाब्धि-गर्भोदक-क्षीरोदकशायी।
मायाद्वारा सृष्टि करे, ताते सब मायी॥४९॥
सेइ तिन जलशायी सर्व-अन्तर्यामी।
ब्रह्माण्डवृन्देर आत्मा ये पुरुष-नामी॥५०॥
हिरण्यगर्भेर आत्मा गर्भोदकशायी।
व्यष्टिजीव-अन्तर्यामी क्षीरोदकशायी॥५१॥
ए सबार दर्शन त' आछे मायागन्ध।
तुरीय कृष्णेर नाहि मायार सम्बन्ध॥५२॥

४९-५२। प० अनु०—कारणोदकशायी, गर्भोदकशायी और क्षीरोदकशायी माया के द्वारा सृष्टि करते हैं इसलिए इनका माया के साथ सम्बन्ध है। ये तीनों जलशायी सर्व-अन्तर्यामी हैं। कारणाब्धिशायी पुरुष समस्त ब्रह्माण्डों के आत्मा हैं, गर्भोदकशायी पुरुष हिरण्य-गर्भ के आत्मा हैं और क्षीरोदकशायी पुरुष व्याष्टिजीव के अन्तर्यामी हैं। इन तीनों पुरुषों का माया के साथ सम्बन्ध है परन्तु तुरीय (सर्वश्रेष्ठ) श्रीकृष्ण के साथ माया का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

४९। ताते सब मायी—माया के द्वारा सृष्टि करते हैं, इसलिये तीनों पुरुष मायी हैं अर्थात् माया-सम्बन्धित अधीश्वर हैं।

५०। ये पुरुष नामी—जिन सबके नाम पुरुष हैं।

५१-५२। हिरण्यगर्भ—समष्टि-जीव। इन सबके अन्तर्यामी—गर्भोदकशायी। व्यष्टि अर्थात् पृथक-पृथक जीवों के अन्तर्यामी पुरुष—क्षीरोदकशायी। इन तीनों पुरुषों के अतीत तुरीय पुरुष अर्थात् चर्तुथ पुरुष। वह कृष्णचन्द्र की विलासमूर्त्ति परव्योमनाथ नारायण—नितान्त मायासम्बन्ध-रहित है।

(श्रीमद्भागवत ११.१५.१६)

विराट् हिरण्यगर्भश्च कारणं चेत्युपाधयः।
ईशस्य यत् त्रिभिर्हीनं तुरीयं तं प्रचक्षते॥५३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५३। विराट्, हिरण्यगर्भ एवं कारण—ये सब माया-सम्बन्धीय उपाधियाँ हैं। इन उपाधियों से रहित तत्त्व ही तुरीय (चतुर्थ) है।

अनुभाष्य

५३। श्रीधरस्वामि ने अपनी टीका में 'तुरीय' शब्द की व्याख्या करते समय उक्त श्लोक की अवतारणा की है—

विराट् (स्थूल) हिरण्यगर्भः (सूक्ष्म) कारणं (अविद्या, प्रकृतिर्वा) इति (एते) ईशस्य (महत-स्त्रष्टुः) पुरुषाव-तारस्य उपाधयः (प्रकाश-विशेषाः)। यत् त्रिभिः (एतैः उपाधिभिः) हीनं (तत्सम्बन्धवर्ज्जित) तत् (पद) तुरीयं (चतुर्थं पुरुषत्रयातीतं वैकुण्ठ) प्रचक्षते।

यद्यपि तिनेर माया लइया व्यवहार।
तथापि तत्स्पर्श नाइ, सबे माया-पार॥५४॥

५४। प० अनु०—यद्यपि तीनों पुरुषावतार माया की सहायता से सृष्टि करते हैं, तथापि माया इनको स्पर्श नहीं करती, ये तीनों ही माया से अतीत हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

५४। हिरण्यगर्भ आदि समष्टि एवं व्यष्टि-जीव माया के वश में हैं। उक्त तीनों पुरुष माया को लेकर व्यवहार करने पर भी माया से परे हैं। ये सब मायाधीश तत्त्व हैं। यद्यपि ये माया के प्रति ईक्षण करते हैं, तथापि माया का संस्पर्श नहीं करते।

प्रपंच में अवतीर्ण होकर प्रपंचातीत रहना ही भगवत्ता है—
(श्रीमद्भागवत १.११.३८)

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥५५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५५। प्रकृतिस्थ होकर प्रकृति के गुणों के वशीभूत न होना ही ईश्वर की ईश्वरता है। मायाबद्ध जीवों की बुद्धि जब ईश्वर के आश्रय में रहती है, तब वे माया के सान्निध्य में रहते हुए भी माया के गुणों के द्वारा प्रभावित नहीं होती।

अनुभाष्य

५५। श्रीकृष्ण के द्वारा द्वारकानगरी में अपने भवन में प्रत्यावर्तन करने के उपरान्त महिषीयों के साथ कालयापन के प्रङ्ग में उनके मायागन्ध शून्य व्यवहार के विषय में श्रीसूत के द्वारा की गई उक्ति—

तदाश्रया (परमभागवतानां श्रीभगवदाश्रया) बुद्धिः यथा (प्रकृतिस्था कथञ्चित्तत्र पतितापि) न युज्यते। तथा, (यद्वा, व्यतिरेकेण) तदाश्रया, (प्रकृत्याश्रया) बुद्धिः (जीवज्ञान) यथा युज्यते तथा न। प्रकृतिस्थोऽपि (त्रिगुण-मये प्रपञ्चे तिष्ठन्नपि) सदा आत्मस्थैः गुणैः न युज्यते (प्राकृतगुणेष्वासक्तो न भवति)—एतत् (एव) ईशस्य (समर्थस्य मायातीतस्य भगवतः) ईशनं (ऐश्वर्यम्)।

सेइ तिन जनेर तुमि परम आश्रय।
तुमि मूलनारायण—इथे कि संशय॥५६॥
सेइ तिनेर अंशी परव्योम-नारायण।
तेंह तोमार प्रकाश, तुमि मूल-नारायण॥५७॥
अतएव ब्रह्मवाक्ये परव्योम-नारायण।
तेंह कृष्णेर प्रकाश—एइ तत्त्व-विवरण॥५८॥
एइ श्लोक तत्त्व-लक्षण भागवत-सार।
परिभाषा-रूपे इहार सर्वत्राधिकार॥५९॥
ब्रह्म, आत्मा, भगवान्—कृष्णेर विहार।
ए अर्थ ना जानि' मूर्ख अर्थ करे आर॥६०॥

५६-६०। प० अनु०—(ब्रह्मा ने पुनः कहा—) आप उन तीनों पुरुषावतारों के परम आश्रयस्वरूप हैं, इसलिए आप ही मूलनारायण हैं—इसमें क्या सन्देह है? परव्योमपति नारायण उन तीनों के अंशी हैं तथा वे नारायण आपके प्रकाशस्वरूप हैं इसलिए आप ही मूल-नारायण हैं। अतएव ब्रह्मा के वचनानुसार तत्त्व-विवरण यही है कि परव्योमपति नारायण, श्रीकृष्ण के प्रकाश हैं। यह तत्त्व-लक्षण श्लोक भागवत का सार है। परिभाषा रूप में इसका सर्वत्र अधिकार है। ब्रह्म, आत्मा और भगवान् के रूप में श्रीकृष्ण ही विहार करते हैं। यह अर्थ न जानकर मूर्ख कुछ और ही अर्थ करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

५७। अंशी—जिनके अंश हैं, वे अंशी है। परव्योम नारायण—पुरुषावतारों के अंशी हैं। वे आपके विलासरूप गौणप्रकाश हैं।

५९। परिभाषा—सूत्र। सर्वत्राधिकार—श्रीमद्भागवत में सर्वत्र यह लक्षण दिखाई देगा।

अनुभाष्य

५६। उन तीनों के अर्थात् क्षीरोदकशायी, गर्भोदक-शायी एवं कारणार्णवशायी महाविष्णु के आप परमाश्रय हैं। आपकी विलास-मूर्त्ति चतुर्व्यूह—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—मूल है। संकर्षण से कारणजल में आदि पुरुषावतार महत्स्रष्टा कारणार्णवशायी, प्रद्युम्न से द्वितीय पुरुषावतार गर्भोदकशायी तथा अनिरुद्ध से

तृतीय पुरुषावतार क्षीरोदकशायी प्रकाशित होकर नारायण के ही आश्रित हैं।

५९। यह श्लोक—पूर्वोक्त क्रम संख्या ३० में उद्धृत "नारायणस्त्वं" श्लोक है।

अंशी नारायण के अंश के रूप में श्रीकृष्ण को स्थापित करने वालों का खण्डन—

अवतारी नारायण, कृष्ण अवतार।
तेहँ चतुर्भुज, इँह मनुष्य-आकार॥६१॥
एइमते नानारूप करे पूर्वपक्ष।
ताहारे निर्जिते भागवत-पद्य दक्ष॥६२॥

६१-६२। प० अनु०—(वे कहते हैं)—नारायण अवतारी हैं, श्रीकृष्ण उनके अवतार हैं क्योंकि नारायण चतुर्भुजधारी हैं और श्रीकृष्ण मनुष्याकार वाले हैं। इस प्रकार वे अनेकों रूपों से विरुद्ध मत उठाते हैं। परन्तु उनको निरस्त करने में श्रीमद्भागवत का यह पद्य (श्लोक) समर्थ है।

अमृतप्रवाह भाष्य

६०-६२। विहार—प्रकाशरूप विहार। मूर्ख-व्यक्ति इस अर्थ को बिना समझे दूसरे प्रकार का अर्थ निकालते रहते हैं, जैसे—नारायण अवतारी हैं और कृष्ण अवतार हैं। इस प्रकार के सिद्धान्तों के पूर्वपक्ष उत्पन्न होने पर उसके निराकरण-हेतु श्रीमद्भागवत का पद्य विशेषरूप से निपुण है।

(२) कृष्ण एवं नारायण में भेदविचार का खण्डन—
(श्रीमद्भागवत १.२.११)

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥६३॥
शुन भाइ, ए श्लोकार्थ करह विचार।
एक मुख्यतत्त्व, तिन ताहार प्रचार॥६४॥
अद्वयज्ञान तत्त्ववस्तु कृष्णेर स्वरूप।
ब्रह्म, आत्मा, भगवान्—तिन तार रूप॥६५॥
एइ श्लोकेर अर्थे तुमि हैला निर्वचन।
आर एक शुन भागवतेर वचन॥६६॥

६४-६६। प० अनु०—सुनो भाई! इस श्लोक के अर्थ का विचार करने से जाना जाता है कि एक ही मुख्य तत्त्व का तीन प्रकार से प्रचार है। अद्वयज्ञान तत्त्ववस्तु श्रीकृष्ण का स्वरूप है। ब्रह्म, आत्मा और भगवान्—ये तीनों इनके रूप हैं। इस श्लोक के अर्थ ने तुम्हें (जो व्यक्ति श्रीकृष्ण के विरुद्ध मत स्थापित करते हैं उन्हें) मौन कर दिया। श्रीमद्भागवत का एक और वचन भी इसका प्रमाण है, उसे सुनो।

अमृतप्रवाह भाष्य

६५। इस पद्य में 'अद्वयज्ञान' शब्द से कृष्णस्वरूप-स्थानीय मूलतत्त्व-वस्तु है।

अनुभाष्य

६३। आदि, २य प:११ संख्या द्रष्टव्य है।

कृष्ण के अवतार होने का अथवा (श्रीनारायण के) अंश होने का खण्डन—
(श्रीमद्भागवत १.३.२८)

एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥६७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६७। राम-नृसिंहादि, पुरुषावतार के अंश अथवा कला हैं। किन्तु कृष्ण स्वयं भगवान् हैं; दैत्यों से पीड़ित लोगों की वे युग-युग में रक्षा करते हैं।

अनुभाष्य

६७। श्रीकृष्ण के अवतारों की गिनती करके अन्त में श्रीसूत इस श्लोक की अवतारणा कर रहे हैं।

एते (पूर्वकथिताः अवताराद्वयः) पुंसः (पुरुषावतारस्य) अंशः कलाश्च (अंशस्य अंशाः)। कृष्णस्तु स्वयं भगवान्। (ते अंशावताराः) इन्द्रारिव्याकुलं (असूरोपद्रुत) लोकं (विश्व) युगे युगे (प्रतियुगं यथाकाले) मृड़यन्ति (सुखिनं कुर्वन्ति)।

सब अवतारेर करि सामान्य लक्षण।
तार मध्ये कृष्णचन्द्रेर करिल गणन॥६८॥

तबे सूत गोसाञि मने पाञा बड़ भय।
याँर ये लक्षण ताहा करिल निश्चय॥६९॥
अवतार सब—पुरुषेर कला-अंश।
स्वयं भगवान् कृष्ण सर्व-अवतंस॥७०॥
पूर्वपक्ष कहे—तोमार भाल त' व्याख्यान।
परव्योमे नारायण स्वयं भगवान्॥७१॥
तेंह आसि कृष्णरूपे करेन अवतार।
एइ अर्थ श्लोके देखि—कि आर विचार॥७२॥

६८-७२। प० अनु०—सभी अवतारों का सामान्य लक्षण दिखाकर उन्हीं में श्रीकृष्णचन्द्र की भी गिनती कर दी। तब श्रीसूत गोस्वामी के मन में बहुत भय हुआ और जिनका जैसा लक्षण है, उसका वैसे निश्चय कर दिया। अन्यान्य अवतार पुरुष के कला या अंश हैं। किन्तु सर्व अवतारी श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। पूर्वपक्षी आक्षेप करते हुए कहते हैं—'आपकी व्याख्या तो बहुत अच्छी है'। परव्योम में नारायण ही स्वयं भगवान् हैं। वे ही आकर श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित हुए हैं। यही अर्थ तो इस श्लोक में दिख रहा है, किसी और विचार की क्या आवश्यकता है।

(३) आलङ्कारिक-विचार से कृष्ण के
नारायणांशत्व का खण्डन—

तारे कहे—केने कर कुतर्कानुमान।
शास्त्रविरुद्धार्थ कभु ना हय प्रमाण॥७३॥

७३। प० अनु०—उनके लिए कहते हैं—क्यों अनुमान पर आधारित कुतर्क करते हो। शास्त्रविरुद्ध अर्थ कभी भी प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है।

(आलङ्कारिक-न्याय एकादशी तत्त्व में १३अंक)

अनुवादमनुकत्वा तु न विधेयमुदीरयेत्।
न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति॥७४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७४। आलङ्कारिक-विचारानुसार अपरिज्ञात विषय को 'विधेय' एवं परिज्ञात वस्तु को 'अनुवाद' कहते हैं। 'यह विप्र पण्डित है' इस उक्ति में 'यह व्यक्ति विप्र' है यह सभी जानते हैं, अतः यह अनुवाद है। 'विप्र पण्डित है', यह सभी नहीं जानते, इसलिए यह विधेय है; जो व्यक्ति अनुवाद न कहकर पहले विधेय कहते हैं, उनके वचनों का आश्रय न रहने से उनकी प्रतिष्ठा अर्थात् स्थापना नहीं होती।

अनुभाष्य

७४। अनुवादं (उद्देश्यं ज्ञातं वस्तु) अनुक्त्वा (न कथयित्वा) विधेयं (अज्ञातं वस्तु) न उदीरयेत् (न कथयेत्) हि अलब्धास्पदं (न लब्धं प्राप्तं आस्पदं स्थानं येन तथाभूतं) किञ्चित् कुत्रचित् (अपि) न प्रतितिष्ठति (प्रतिष्ठां न लभते)।

अनुवाद एवं विधेय-प्रयोग-विधि—

अनुवाद ना कहिया ना कहि विधेय।
आगे अनुवाद कहि, पश्चाद्विधेय॥७५॥

७५। प० अनु०—अनुवाद को पहले न कहकर विधेय को नहीं कहना चाहिए। पहले अनुवाद को कहकर बाद में विधेय कहना ही विधि है।

अनुवाद एवं विधेय की संज्ञा—

'विधेय' कहिये तारे, ये वस्तु अज्ञात।
'अनुवाद' कहि तारे, येइ हय ज्ञात॥७६॥

७६। प० अनु०—जो वस्तु अज्ञात है, उसे 'विधेय' कहते हैं तथा जो वस्तु ज्ञात है, उसे 'अनुवाद' कहते हैं।

दृष्टान्त—

यैछे कहि,—एइ विप्र परम पण्डित।
विप—अनुवाद, इहार विधेय—पाण्डित्य॥७७॥
विप्र बलि' जानि, तार पाण्डित्य अज्ञात।
अतएव विप्र आगे, पाण्डित्य पश्चात्॥७८॥

७७-७८। प० अनु०—जैसे कहते हैं—यह विप्र परम पण्डित है। इसमें विप्र अनुवाद है, पाण्डित्य इसका विधेय है। विप्र के रूप में तो उसकी पहचान है, परन्तु

पाण्डित्य के सम्बन्ध में जानकारी नहीं है। अतएव पहले विप्र और बाद में पाण्डित्य का उल्लेख किया गया है।

अनुवाद और विधेय-विचार से "एते चांशकला:" श्लोक अथवा कृष्ण के अवतारित्व की व्याख्या—

तैछे ईँह अवतार, सब ताँर ज्ञात।
कार अवतार—एइ वस्तु अविज्ञात॥७९॥
'एते'-शब्दे अवतारेर आगे अनुवाद।
'पुरुषेर अंश' पाछे विधेय संवाद॥८०॥
तैछे कृष्ण अवतार-भितरे हैल ज्ञात।
ताँहार विशेष-ज्ञान सेइ अविज्ञात॥८१॥
अतएव 'कृष्ण'-शब्द आगे अनुवाद।
'स्वयं भगवत्ता' पिछे विधेय संवाद॥८२॥
कृष्णेर स्वयं-भगवत्ता—इहा हैल साध्य।
स्वयं-भगवानेर कृष्णत्व हैल बाध्य॥८३॥

७९-८३। प० अनु०—यह ऐसे अवतार हैं, इस वाक्य के द्वारा अवतारसमूह परिज्ञात विषय है। परन्तु यह अवतारसमूह किसके अवतार हैं, यह वस्तु अविज्ञात है। इस श्लोक में 'एते'—शब्द जो अनुवाद वाचक है, उसे आगे रखा है और 'पुरुषेर अंश' (अंशकला: पुंसा:) शब्द विधेय वाचक है, इसलिए उसे पीछे रखा गया है। वैसे ही अवतारों में श्रीकृष्ण परिज्ञात वस्तु हैं। परन्तु उनका जो विशेष-ज्ञान या स्वरूप है, वह अविज्ञात है। अतएव 'कृष्ण'-शब्द से पहले अनुवाद की स्थापना हुई एवं 'स्वयं भगवान' से विधेय की। इस श्लोक में श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता साधित हुई है। 'स्वयं-भगवान् का कृष्णत्व' इस सिद्धान्त का खण्डन हुआ है।

अमृतप्रवाह भाष्य

७९। ईँह—यह। "उनका अवतारसमूह" परिज्ञात विषय है। वे अवतारसमूह जिनके अवतार हैं, वही वस्तु अभी अविज्ञात है।

सूतवाक्य की विरोध-सम्भावना—

कृष्ण यदि अंश हैत, अंशी नारायण।
तबे विपरीत हैत सूतेर वचन॥८४॥
नारायण अंशी येइ स्वयं-भगवान्।
तेंह श्रीकृष्ण—ओइछे करित व्याख्यान॥८५॥

८४-८५। प० अनु०—यदि नारायण अंशी होते और श्रीकृष्ण अंश, तो श्रीसूत गोस्वामी के वचन विपरीत होते। तब वे व्याख्या करते कि—जो नारायण स्वयं भगवान् अंशी हैं, वे ही अंश रूप से श्रीकृष्ण हुए हैं।

चार प्रकार के दोषों से रहित मुक्त व्यक्ति के वचनों का लक्षण एवं उसकी विशेषता—

भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव।
आर्ष-विज्ञवाक्ये नाहि दोष एइ सब॥८६॥
विरुद्धार्थ कह तुमि, कहिते कर रोष।
तोमार अर्थे अविमृष्टविधेयांश-दोष॥८७॥

८६-८७। प० अनु०—आर्ष-विज्ञ (विज्ञ ऋषियों) के वाक्यों में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषसमूह नहीं है। (श्रील कविराज गोस्वामी विरोधी सिद्धान्त करने वालों के प्रति कहते हैं—) "पहले तो आप शास्त्रों के विरुद्ध अर्थ की व्याख्या करते हैं तथा जब आपको कहा जाता है कि आपका अर्थ विरुद्ध है, तब आप रोष प्रकट करते हैं। आपके अर्थों में 'अविमृष्ट-विधेयांश दोष' विद्यमान है।

अमृतप्रवाह भाष्य

८०-८६। "एते चांशकला:" श्लोक में 'एते'-शब्द से अवतारगण का अनुवाद हुआ है। वे सब जिन पुरुषावतार के अंश हैं, वही पूर्व अपरिज्ञात विधेय-संवाद के रूप में पीछे कहा गया है। इस पद्य में श्रीकृष्ण अवतारों में एक हैं, इस का परिचय प्राप्त हुआ। किन्तु श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान अविज्ञात रहने के कारण विधेय-संवाद उपस्थित हुआ है। इसलिए कृष्ण-शब्द के द्वारा अनुवाद को पहले कह करके, श्रीकृष्ण जो कि 'स्वयं भगवान्' हैं, यही पीछे, इसके विधेय के रूप में स्थापित हुआ। श्रीकृष्ण जो स्वयं भगवान् हैं—यही इस जगह साध्य संवाद है अर्थात् विचार द्वारा यह साधित होगा। अतएव 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' इस वचन के

द्वारा 'कृष्ण ही स्वयं भगवान् है' यही अर्थ बाध्य हुआ, अर्थात् इस अर्थ के अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ हो नहीं सकता। यदि नारायण अंशी एवं श्रीकृष्ण अंश होते, तो सूतजी के वचन विपरीत होते। अर्थात् 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' के स्थान पर स्वयं भगवान् कृष्ण कहा गया होता। किन्तु आर्ष अर्थात् ऋषि-उच्चारित विज्ञवाक्य में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा एवं कारणापाटव—ये चार दोष नहीं रहते, इस कारण 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' यही लिखा गया है। भ्रम—मिथ्याज्ञान; प्रमादअनवधानता (असावधानी); विप्रलिप्सा—कहीं ओर चित्त का विक्षेपित हो जाना; करणापाटव—इन्द्रियसमूह की अपटुता।

अनुभाष्य

८६। भ्रम—जो वस्तु जैसी नहीं है, उसके सम्बन्ध में मिथ्याज्ञान; जैसे—रज्जु (रस्सी) में सर्पभ्रम, शुक्ति में रजत-भ्रम। प्रमाद—अनवधानता, किसी बात की अन्य प्रकार से उपलब्धि करना या श्रवण करना अथवा कहना। विप्रलिप्सा—वञ्चना करने की इच्छा। करणापाटव—इन्द्रियों की अपटुता; जैसे—आँखों की दूरदर्शन में अक्षमता, क्षुद्र वस्तुदर्शन में असमर्थता, पीलिया आदि रोगों में वर्ण (रूप) ज्ञान की विपर्ययता, सुदूर-स्थित शब्द-श्रवण में असफलता।

८७। अविमृष्ट-विधेयांश—विधेयांश अर्थात् अज्ञात वस्तु जहाँ प्राधान्यभाव से निर्दिष्ट नहीं होती, वहाँ अविमृष्ट-विधेयांश दोष होता है। इसी का अन्य नाम 'विधेयाविमर्श' है।

'स्वयं भगवान्' शब्द
का अर्थ एवं
संज्ञा—

याँर भगवत्ता हैते अन्येर भगवत्ता।
'स्वयं भगवान्'-शब्देर ताहातेइ सत्ता॥८८॥

८८। प० अनु०—जिनकी भगवत्ता से दूसरे भगवद् अवतारों की भगवत्ता सिद्ध होती है। 'स्वयं भगवान्' शब्द की इसी में सत्ता है।

अवतारी तथा अवतारों का दृष्टान्त—

दीप हैते यैछे बहु दीपेर ज्वलन।
मूल एक दीप ताहा करिये गणन॥८९॥
तैछे सब अवतारेर कृष्ण से कारण।
आर एक श्लोक शुन, कुव्याख्या-खंडन॥९०॥

८९-९०। प० अनु०—एक दीप से अनेक दीपों को जलाने पर जैसे प्रथम दीप ही मूल स्वरूप है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ही समस्त अवतारों के मूल कारण हैं। कुव्याख्या रूपी विपरीत सिद्धान्त को खण्डन करने वाला एक और श्लोक श्रवण करो।

अनुभाष्य

८९। ब्रह्मसंहिता में पञ्चम अध्याय के ४६ श्लोक—"दीपार्च्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य दीपायते विवृतहेतुसमान धर्मा। यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति गोविन्दमादि-पुरुषं तमहं भजामि॥" विष्णुतत्त्व सर्वत्र ही दीप के समान प्रकाशमय एवं मूल-नारायण के साथ समान-धर्मविशिष्ट है। वैसा होना पर भी वे सब, मूल दीप से ही प्रकाशमान हैं। विष्णुतत्त्व, जैसे गोविन्द के साथ ज्योतिरूपता अंश में समान है, उस प्रकार ब्रह्मा अथवा शंभुतत्त्व, गुणावतार होने पर भी समान नहीं है। श्रीजीव गोस्वामीपाद कहते हैं,—"शम्भोस्तु तमोधिष्ठानत्वात् कज्जलमयसुक्ष्मदीप-शिखा-स्थानीयस्य न तथा साम्यम्।"

(४) पुराण-लक्षण विचार से भी नारायण के स्थान पर श्रीकृष्ण का मूलाश्रयत्व—
(श्रीमद्भागवत २.१०.१-२)

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥९१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९१। श्रीमद्भागवत-शास्त्र में सर्ग, विसर्ग, स्थान, ऊति, पोषण, मन्वन्तर, ईशकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—ये दस विषय विवृत हुए हैं। दशम तत्त्व, जो आश्रय है—उसकी विशुद्ध आलोचना-हेतु पूर्वोक्त नौ लक्षणों के सन्दर्भ में महात्माओं ने कहीं स्तुति और कहीं

साक्षात् आख्यान के छल से और कहीं-कहीं साक्षात् विचार द्वारा वर्णन किया है।

अनुभाष्य

९१। वैराज पुरुष से किस प्रकार राजस सृष्टि उदित हुई है, परीक्षित महाराज के इस प्रशन के उत्तर में श्रीशुक-देव गोस्वामी ने चतुःश्लोकी की व्याख्या के आरम्भ में यह श्लोक कहा है—

अत्र (श्रीमद्भागवते) सर्गः (भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म), विसर्गः (ब्रह्मणो गुणवैषम्य), स्थानं (भगवतः विजयः सृष्टानां तत्तन्मर्यादापालनेन उत्कर्षः स्थितिः), पोषणं (स्वभक्तेषु तस्य अनुग्रहः), ऊतयः (कर्मवासनाः), मन्वन्तरेशानुकथाः (मन्वन्तराणि सात्त्विक धर्माणि, ईशानु-कथाः हरेः अवतारकथाः), निरोधः (अस्यानुशयनमात्मनः सहशक्तिभिः) मुक्तिः (शुद्धावस्थितिः), आश्रयः (जन्म-स्थितिलयकारणं परब्रह्म परमात्मा) (इति दश अर्थाः)।

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥९२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९२। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में आश्रितों के आश्रय-विग्रहस्वरूप श्रीकृष्ण ही लक्षित हुए हैं। उन्हीं श्रीकृष्णाख्य परमधाम एवं जगत् धाम को मैं नमस्कार करता हूँ। तात्पर्य यह है कि, जगत् में दो तत्त्व हैं—आश्रय एवं आश्रित। जिनके आश्रय में सभी आश्रिततत्त्व विद्यमान हैं, वह मूलतत्त्व ही आश्रय है। उस तत्त्व के आश्रय में जो सब तत्त्वसमूह विराजमान हैं, वे सभी आश्रिततत्त्व हैं। सर्ग से मोक्ष तक सब आश्रित तत्त्व हैं, अतएव पुरुषावतार एवं उनके अनुगत सभी अवतारसमूह, समस्त शक्तियाँ, तदनुगत जैव एवं जड़जगत् सभी उसी कृष्णरूप आश्रय के आश्रित हैं। इस सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में स्तव और आख्यान के छल से कुछ गौणरूप में और कुछ साक्षात् उपदेश के प्रसङ्ग में साक्षात् आश्रयतत्त्व के रूप में विचारित हुए हैं। अतएव श्रीकृष्ण के स्वरूप एवं तीनों शक्तियों के ज्ञान की प्रयोजनीयता है।

अनुभाष्य

९२। महात्मानः (विदुरादयः) इह (श्रीमद्भागवते पुराणे) दशमस्य (आश्रयस्य) विशुद्ध्यर्थं (तत्त्वज्ञानार्थं) नवानां लक्षणं (स्वरूप) श्रुतेन (तद्वाचकशब्देन) अञ्ज-सा (साक्षात्) अर्थेन (तात्पर्येण) वर्णयन्ति।

(१) सर्ग—पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्र, दस इन्द्रिय, मन, महत्तत्त्व एवं अहङ्कार, इन सभी की विराट् रूप में एवं स्वरूप में उत्पत्ति।
(२) विसर्ग—ब्रह्मा से चराचर की सृष्टि।
(३) स्थिति—भगवान् की विजय—सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा एवं संहारकारी शिव से उत्कर्ष।
(४) पोषण—अपने भक्तों के प्रति भगवान् का अनुग्रह।
(५) ऊति—कर्मवासना।
(६) मन्वन्तर—सात्त्विक जीवसमूह का आचरणीय धर्म।
(७) ईशकथा—हरि की अवतारकथा एवं भागवतों की कथाएँ।
(८) निरोध—योगनिद्रा के समय निज-उपाधिशक्ति के साथ हरि का शयन।
(९) मुक्ति—स्थूल-सूक्ष्मरूप का परित्याग करके शुद्ध जीव स्वरूप मेंअथवा पार्षदरूप मेंअवस्थिति।
(१०) आश्रय—जिनसे सृष्टि एवं लय होता है, जिनमें विश्व प्रकाशित होता है, वही प्रसिद्ध परब्रह्म तथा परमात्मा।

आश्रय जानिते कहि ए नव पदार्थ।
ए नवेर उत्पत्ति-हेतु सेइ आश्रयार्थ॥९३॥
कृष्ण एक सर्वाश्रय, कृष्ण सर्वधाम।
कृष्णेर शरीरे सर्व-विश्वेर विश्राम॥९४॥

९३-९४। प० अनु०—आश्रय तत्त्व को जानने के लिए उन नौ पदार्थों के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। इन नौ पदार्थों की उत्पत्ति का कारण वही आश्रय तत्त्व है। एक मात्र श्रीकृष्ण ही सबके आश्रय एवं सर्वधाम हैं। श्रीकृष्ण के शरीर में सम्पूर्ण विश्व का विश्राम है।

(श्रीमद्भागवत १०.१.१ श्लोक के भावार्थदीपिका में)

दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहम्।
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगत्धाम नमामि तत्॥९५॥

अनुभाष्य

९५) दशमे (श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धे) आश्रिताश्रय विग्रहम् (आश्रितानां प्रपन्नानाम् आश्रयविग्रहे) दशमम् (आश्रयतत्त्वे) लक्ष्म्। तत् परं धाम (श्रेष्ठाश्रय) जगत्धाम (सर्वाश्रय) श्रीकृष्णाख्यं नमामि।

कृष्णज्ञान की मूलकथा—

कृष्णेर स्वरूप, आर शक्तित्रय-ज्ञान।
याँर हय, ताँर नाहि कृष्णेते अज्ञान॥९६॥

९६। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण के स्वरूप और उनकी तीन शक्तियों के सम्बन्ध में जिनको ज्ञान प्राप्त होता है, उन्हें फिर श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अज्ञान नहीं रहता।

अमृतप्रवाह भाष्य

९६। शक्तित्रय—चित्शक्ति, जीवशक्ति एवं माया-शक्ति।

अनुभाष्य

९६। श्रीजीवप्रभु भक्तिसन्दर्भ में—(१६ संख्या) "एकमेव तत् परमतत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या सर्वदैव स्वरूप-तद्रूप-वैभव-जीव-प्रधान-रूपेण-चतुर्द्धावतिष्ठते। सूर्य्यान्तरमण्डल-स्थतेज इव मण्डल-तद्वहिर्गति रश्मि-तत्प्रतिच्छ-विरूपेण। दुर्घटघटकत्वंह्यचिन्त्यत्वम्। शक्ति-श्च सा त्रिधा—अन्तरंगा, बहिरंगा, तटस्था च। तत्रान्तरंगया स्वरूपशकत्याख्यया पूर्णेनैव स्व-रूपेण वैकुण्ठादिस्वरूप-वैभवरूपेण च तद्अवतिष्ठते। तटस्थया रश्मिस्थानीय चिदेकात्मशुद्ध-जीवरूपेण बहिरंगया मायाख्यया प्रतिच्छ-विगतवर्ण-शावल्य-स्थानीय तदीय-बहिरंगवैभवजडात्म-प्रधान-रूपेण चेति चतुर्द्धात्वम्। अतएव तदात्मकत्वेन जीवस्यैव तटस्थशक्तित्वं प्रधानस्य च मायान्तर्भूतत्वमभि-प्रेत्य शक्तित्रयं विष्णुपुराणे गणितम्। अविद्या कर्म (कार्य) यस्याः सा तत्संज्ञा मायेत्यर्थः। यद्यपीयं बहिरंगा, तथाप्य-स्यास्तट-स्थशक्तिमयमपि जीवमावरितुं सामर्थ्यम स्तीति। तारतम्येन तत्कृतावरणस्य ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु देहेषु लघुगुरुभावेन वर्त्तते। ययैव अचिन्त्यमायया चिद्रूपता निर्विकारतादि-गुण-रहितस्य प्रधानस्य जडत्वं विकारि-त्वञ्चेतिज्ञेयम्। अत्रान्तरंगत्व- तटस्थत्व-बहिरंगत्वादीनां तेषामेकात्मकानां तत्त्वत्-साम्यं, न तु सर्वात्मनेति तत्तत् स्थानीयत्वमेवोक्तं, न तु तत्तद्रूपत्वं। ततस्तत्तद्दोषा अपि नावकाशं लभन्ते।"

केवल वही परमतत्त्व, स्वाभाविक, मनुष्य ज्ञान के अतीत, शक्ति के बल पर सदैव स्वरूप, तद्रूपवैभव, जीव और प्रधान—इन चार रूपों में विराजमान है। जैसे—सूर्य, अन्तर्मण्डल-स्थित तेज के समान मण्डल, मण्डल-बहिर्गत किरण एवं उसकी प्रतिच्छवि—ये चाररूप हैं। दुर्घटघटकत्व (असम्भव को सम्भव करना) ही अचिन्त्य-नीय है। शक्तियाँ भी तीन प्रकार की हैं—अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा एवं तटस्था। अन्तरङ्गा-स्वरूप-शक्ति के प्रभाव से पूर्णस्वरूपविग्रह एवं वैकुण्ठ गोलोक आदि स्वरूप-वैभव; तटस्थाशक्ति के प्रभाव से किरण-स्थानीय चिन्मय शुद्ध-जीवविग्रह एवं बहिरङ्गा मायाशक्ति के प्रभाव से प्रतिच्छविगत वर्णशावल्यस्थानीय तत्सम्बन्धीय बहिरङ्ग-वैभव जड़-प्रधानरूप—ये चार प्रकार के हैं। अतएव तदात्मक के रूप में जीवों का तटस्थशक्तित्व तथा प्रधान का माया के अन्तर्भुक्त ज्ञान करके विष्णुपुराण में तीन प्रकार की शक्तियों का गणना देखी जाती है। जिसे अविद्या कर्म करना पड़ता है, उसका नाम ही माया है। यद्यपि यह शक्ति बहिरङ्गा है, तथापि तटस्थ-शक्तिमय जीव का आवरण करने की क्षमता इस शक्ति में ही अर्पित है। माया के द्वारा आवृत होकर जीव, लघु एवं गुरु—तारतम्यभेद से स्थावर से ब्रह्मा तक की देह में वर्त्तमान रहता है। गुणरहित प्रधान की चिद्रूपता एवं विकार-शून्य धर्म, जड़ता और विकार को प्राप्त करते हैं, यह सब अचिन्त्य माया के द्वारा ही होता है, ऐसा जानना होगा। एकात्मक अन्तरङ्ग, तटस्थ एवं बहिरङ्ग, शक्तितत्त्व में समानता होने पर भी सब प्रकार से ये शक्तियाँ परस्पर एक जैसी नहीं हैं, ये सब तत्तत् स्थानीयत्व

के उद्देश्य से कथित हैं; तत्तत् रूपता में नहीं, अतएव तटस्थता में और बहिरङ्गता में जो दोषसमूह अवस्थित है, उसे अन्तरङ्गता में रहने का अवकाश नहीं है। फिर बहिरङ्गता का दोष तटस्थता में, तटस्थता का दोष बहिरङ्गता में रहने का अवकाश नहीं है।

कृष्ण के छह प्रकार के विलास; (१) द्विविध प्रकाश—

कृष्णेर स्वरूपेर हय षड्विध विलास।
प्राभव-वैभव-रूपे द्विविध प्रकाश॥९७॥

९७। प० अनु—श्रीकृष्ण के स्वरूप के छह प्रकार के विलास हैं एवं प्राभव-वैभव के रूप में दो प्रकार का प्रकाश है।

अमृतप्रवाह भाष्य

९७। प्राभव और वैभव—जिन सबकी हरितुल्य सच्चिदानन्दमय मूर्त्तियाँ हैं एवं जो सब परावस्था से किञ्चित् न्यून हैं। शक्ति की तारतम्यता से प्रभुता की प्रबलता पर प्राभव और विभुता के प्राबल्य से वैभव-संज्ञा होती है। प्राभव दो प्रकार के हैं—प्रथम प्रकार का प्राभव सदैव स्थायी नहीं है। इसके उदाहरण हैं—मोहिनी, हंस, शुक्ल आदि अचिर-स्थायी अवतार; ये सब युगों के अनुगत हैं। द्वितीय प्रकार के प्राभव की कीर्त्तियों का अतिशय विस्तार नहीं होता। इसके उदाहरण हैं—धन्वन्तरी, ऋषभ, व्यास, दत्तात्रेय, कपिल, आदि। कूर्म, मत्स्य, नर-नारायण, वराह, हयग्रीव, पृश्निगर्भ, बलदेव, यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुण्ठ, अजित, वामन, सार्वभौम, ऋषभ, विष्वक्सेन, धर्मसेतु, सुधामा, योगेश्वर एवं वृहद्भानु—ये चतुर्दश मन्वन्तरादि वैभवावतार हैं।

(२) द्विविधावतार, (३) द्विविध वयोधर्म—

अंशशक्त्यावेशरूपे द्विविधावतार।
बाल्य-पौगण्ड-धर्म दुइ त' प्रकार॥९८॥
किशोरस्वरूप कृष्ण स्वयं अवतारी।
क्रीड़ा करे एइ छय-रूपे विश्व भरि'॥९९॥

९८-९९। प० अनु०—अंश और शक्त्यावेश के रूप में दो प्रकार के अवतार हैं तथा बाल्य और पौगण्ड दो प्रकार के धर्म हैं। किशोरस्वरूप श्रीकृष्ण स्वयं अवतारी हैं। इस प्रकार वे इन छह रूपों से समस्त विश्व में लीला करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

९८। अंशावेश एवं शक्त्यावेश-अवतार की कथाएँ अन्य स्थान पर वर्णित हुई हैं। ये भी प्राभव-वैभवों में गिने जाते हैं तथा साथ-ही-साथ गुणावतारों की भी यही अवस्था है।

९९। नित्यकिशोरस्वरूप श्रीकृष्ण की बाल्य और पौगण्ड वयस की दो प्रकार की लीला हैं। अतएव किशोरस्वरूप श्रीकृष्ण ही स्वयं अवतारी हैं।

विलास में लीलाभेद होने पर भी तत्त्वतः अभेद—

एइ छय-रूपे हय अनन्त विभेद।
अनन्तरूपे एकरूप, नाहि किछु भेद॥१००॥

१००। प० अनु०—इन छह रूपों में अनन्त विभेद (पार्थक्य) है। फिर भी अनन्तरूपों में एक ही रूप है, किसी प्रकार का भेद नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

९७-१००। श्रीकृष्ण स्वरूप के छह प्रकार के विलास हैं—प्राभव एवं वैभव के रूप में दो प्रकार के प्रकाश हैं; अंश और शक्त्यावेशरूप में दो प्रकार के अवतार हैं; बाल्य एवं पौगण्ड के रूप में दो प्रकार के धर्म हैं—इस तरह छह प्रकार के विलास हैं। किशोर-स्वरूप श्रीकृष्ण ने इन्हीं छह प्रकार के स्वरूप-विलास के साथ विश्वव्यापी लीलाएँ की हैं। इन छह रूपों में भी अनन्त विभेद हैं। अनन्त होकर भी श्रीकृष्ण एक अखण्डतत्त्व हैं।

चित्शक्ति और तद्वैभव—

चिच्छक्ति, स्वरूपशक्ति, अन्तरंगा नाम।
ताहार वैभव अनन्त वैकुण्ठादि धाम॥१०१॥

१०१। प० अनु—श्रीकृष्ण की शक्तियों में एक चिच्छक्ति है, जो स्वरूप शक्ति या अन्तरङ्ग शक्ति के

नाम से भी जानी जाती है। अनन्त वैकुण्ठादि धाम इस शक्ति के वैभव हैं।

मायाशक्ति एवं तद्वैभव—

मायाशक्ति, बहिरंगा, जगत्कारण।
ताहार वैभव अनन्त ब्रह्माण्डेर गण॥१०२॥

१०२। प० अनु०—श्रीकृष्ण की दूसरी शक्ति का नाम माया शक्ति है। यह बहिरङ्गा शक्ति के नाम से भी जानी जाती है। जगत् का कारण एवं अनन्त ब्रह्माण्ड, इसी माया के वैभव हैं।

जीवशक्ति—

जीवशक्ति तटस्थाख्य, नाहि यार अन्त।
मुख्य तिन शक्ति, तार विभेद अनन्त॥१०३॥

१०३। प० अनु०—श्रीकृष्ण की तीसरी शक्ति को जीव शक्ति या तटस्थ शक्ति कहते हैं, जिसका कोई अन्त नहीं है। इस प्रकार श्रीकृष्ण की तीन प्रमुख शक्तियाँ हैं जिनके अनन्त विभेद हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०१-१०३। चिच्छक्ति—स्वरूपशक्ति का नामान्तर अन्तरङ्गा-शक्ति; जिसके अनन्त वैभव के कारण वैकुण्ठादि धाम प्रकाशित होते हैं। तटस्थ नामक जीवशक्ति से बद्ध और मुक्त भेदवाले अनन्त कोटि जीवसमूह प्रकटित होते हैं। बहिरङ्गा मायाशक्ति से प्राकृत ब्रह्माण्डों का अनन्त वैभव उत्पन्न होता है।

अनुभाष्य

१०३। श्वेताश्वतर उपनिषद के (६.८) मन्त्र में—"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते, न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्ति-र्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।"

स्वरूप एवं शक्तिवर्ग का अवस्थान—

एइ त' स्वरूपगण, आर तिन शक्ति।
सबार आश्रय कृष्ण, कृष्णे सबार स्थिति॥१०४॥

यद्यपि ब्रह्माण्डगणेर पुरुष आश्रय।
सेइ पुरुषादि सबार कृष्ण मूलाश्रय॥१०५॥

१०४-१०५। प० अनु०—इस प्रकार सभी भगवत स्वरूप और तीन शक्तियाँ के आश्रय श्रीकृष्ण हैं एवं श्रीकृष्ण में ही सब अवस्थान करते हैं। यद्यपि ब्रह्माण्ड-समूह के आश्रय पुरुषावतार हैं, तथापि इन पुरुषावतारों के मूल आश्रय श्रीकृष्ण ही हैं।

श्रीकृष्ण का
परिचय—

स्वयं भगवान् कृष्ण, कृष्ण सर्वाश्रय।
परम ईश्वर कृष्ण सर्वशास्त्रे कय॥१०६॥

१०६। प० अनु०—श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं एवं सबके आश्रय हैं। श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर हैं, यही सब शास्त्र कहते हैं।

(ब्रह्मसंहिता ५.१)

ईश्वर परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥१०७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१०७। सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं; वे स्वयं अनादि एवं सभी के आदि और सर्वकारणों के कारण हैं।

अनुभाष्य

१०७। कृष्णः (व्रजेन्द्रनन्दनः) परमः ईश्वरः (बलदेव-नारायण-वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्ना-निरुद्ध-कारणगर्भ-क्षीरार्णव त्रयशायी-परमात्म-पुरुषावतार-मत्स्य-कूर्म-वराहराम नृसिंहादि-नैमित्ति-कावतार-ब्रह्मशिवादि गुणा-वतार-निर्विशेष-ब्रह्म-महेन्द्रादि-विभूत्यवताराणां सर्वेषां पतिः) सच्चिदानन्दविग्रहः (सन्धिनी-संविद्-ह्लादिनी-शक्ति त्रयसमन्वितः) अनादिः (आदि-रहितः 'अहमेवा-समे-वाग्रे' इति पदवाच्यः) आदिः (सर्वेषां मूलरूपः) सर्वकारणकारणं (सर्वकारणानां कारणं मूल) गोविन्दः।

ए सब सिद्धान्त तुमि जान भालमते।
तबु पूर्वपक्ष कर आमा चालाइते॥१०८॥

१०८। प० अनु०—यह सब सिद्धान्त आप अच्छी तरह जानते हैं। फिर भी मुझे व्यर्थ उद्वेग देने के लिए पूर्वपक्ष उठा रहे हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०८। चालाइते—वृथा उद्वेग देने के लिए।

श्रीचैतन्य स्वयं अवतारी श्रीकृष्ण हैं—

सेइ कृष्ण अवतारी व्रजेन्द्रकुमार।
आपने चैतन्यरूपे कैल अवतार॥१०९॥

१०९। प० अनु०—वे ही अवतारी व्रजेन्द्र-कुमार श्रीकृष्ण स्वयं श्रीचैतन्य के रूप में अवतीर्ण हुए हैं।

अवतारी श्रीचैतन्य में
सर्वअवतार अन्तर्भुक्त—

अतएव चैतन्य गोसाञि परतत्त्व-सीमा।
ताँरे क्षीरोदशायी कहि, कि ताँर महिमा॥११०॥

११०। प० अनु०—इसलिए श्रीचैतन्य गोसाईं परतत्त्व की सीमा हैं। उनका क्षीरोदशायी विष्णु के रूप में वर्णन करना उनकी महिमा का सम्पूर्ण वर्णन नहीं है।

उन्हें किसी भी विष्णुनाम से
अभिहित करना दोषयुक्त नहीं—

सेइ त' भक्तेर वाक्य नहे व्यभिचारी।
सकल सम्भबे ताँते, याते अवतारी॥१११॥
अवतारीर देहे सब अवतारेर स्थिति।
केहो कोनमते कहे, येमन यार मति॥११२॥
कृष्णके कहये केह—नरनारायण।
केहो कहे, कृष्ण हय साक्षात् वामन॥११३॥
केहो कहे, कृष्ण क्षीरोदशायी अवतार।
असम्भव नहे, सत्य वचन सबार॥११४॥
केहो कहे, परव्योमे नारायण-हरि।
सकल सम्भबे कृष्णे, याते अवतारी॥११५॥

१११-११५। प० अनु०—इन भक्तों (जो श्रीकृष्ण को क्षीरोदशायी विष्णु मानते हैं) के वचन मिथ्या नहीं है। क्योंकि वे अवतारी हैं, इसलिए उनमें सबकुछ सम्भव है। अवतारी के देह में सभी अवतारों की स्थिति होती है। इसमें जो भक्त जिस अवतार का अनुभव करता है उसे अपने भाव के अनुसार वर्णन करता है। कोई कहतें हैं,—कृष्ण, नरनारायण हैं। कोई कहते हैं,—कृष्ण साक्षात् वामन हैं। किसी का कहना है,—कृष्ण क्षीरोदशायी अवतार हैं। सभी के वचन सत्य हैं, कुछ भी असम्भव नहीं है। कोई कहते हैं,—श्रीकृष्ण परव्योम पति नारायण, हरि हैं। श्रीकृष्ण के लिए सब सम्भव है क्योंकि वह सर्व-अवतारी हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

११०-११२। किसी-किसी ग्रन्थ में श्रीचैतन्य महाप्रभु, क्षीरोदशायी वैकुण्ठनाथ के रूप में वर्णित हुये हैं। इससे उनकी महिमा का सम्पूर्ण रूप से वर्णन नहीं होता, परन्तु इन सब भक्तों के वचन भी मिथ्या नहीं हैं; क्योंकि श्रीकृष्ण से अभिन्न स्वयं अवतारी श्रीकृष्णचैतन्य हैं, इसलिए सभी अवतारसमूह उनमें विद्यमान हैं।

अनुभाष्य

१११। श्रीचैतन्यभागवत, मध्य ६.९५ संख्या—"शुतिया आछिनु मुइ क्षीरोदसागरे। निद्राभंग हैल मोर नाड़ार हुँकारे।" द्रष्टव्य है।

११४) लघुभागवतामृत में श्रीकृष्ण के अवतारित्व के वर्णन के प्रसङ्ग में—"अतएव पुराणादौ केचिन्नरसखात्मताम्। महेन्द्रानुजतां केचित् केचित् क्षीराब्धिशायिताम्। सहस्रशीर्षतां केचित् केचित् वैकुण्ठनाथताम्। ब्रूयुः कृष्णस्य मुनयस्तत्तद्वृत्तानुगामिनः॥"

वैध एवं रागानुग, सभी भक्तों के लिए
भक्तिसिद्धान्त को जानना नितान्त आवश्यक है—

सब श्रोतागणेर करि चरण वन्दन।
ए सब सिद्धान्त शुन, करि' एकमन॥११६॥
सिद्धान्त बलिया चित्ते ना कर अलस।
इहा हैते कृष्णे लागे सुदृढ़ मानस॥११७॥

११६-११७। प॰ अनु॰—मैं सभी श्रोताओं के चरणों की वन्दना करते हुए कहता हूँ कि एकाग्रचित्त होकर इन सभी सिद्धान्तों को श्रवण कीजिए। सिद्धान्त जानने के लिए चित्त में आलस्य नहीं करना चाहिए क्योंकि सिद्धान्त जान लेने से श्रीकृष्ण में दृढ़ता-पूर्वक मन लगता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

११७। कोई-कोई भक्तिपिपासु व्यक्ति इन सब सिद्धान्तों को भक्ति के अङ्ग नहीं मानकर इनमें प्रविष्ट होने में आलस्य प्रदर्शन करते हैं, परन्तु यह मङ्गल प्रदान करने वाला विचार नहीं है; क्योंकि श्रीकृष्ण के सम्बन्ध-ज्ञान को जानने से, उनके पादपद्म में चित्त दृढ़रूप से संयुक्त होता है। अतएव इस प्रकार के सत्‌सिद्धान्त-समूह शुद्धभक्ति के मूल हैं।

द्वितीय परिच्छेद का अमृतप्रवाह-भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

११७) अनेक व्यक्ति जातरुचि भक्तों का आदर्श देखकर विचार करते हैं कि, सिद्धान्त-विषयों में प्रवेश करने की उस प्रकार की आवश्यकता नहीं है। ऐसे आलस्य के कारण अनेक व्यक्ति भजन विषयों में अभाव ग्रस्त होकर कृष्णविमुखता को आह्वान करते हैं एवं भक्ति के विरोधी जड़भावसमूह को भक्ति समझकर अनर्थग्रस्त होते हैं। यद्यपि विचार प्रधान मार्ग अजातरुचि व्यक्तियों के लिए उपयोगी है, तथापि जातरुचि-हेतु स्वल्परुचि-विशिष्टजनों के लिए श्रवणाङ्ग की विशेष आवश्यकता है। कृष्णविषयक-सिद्धान्त को श्रवण न करने से रुचि नहीं बढ़ती। नवधा-भक्ति के प्रारम्भ में ही कीर्त्तित वाक्यों में पहले श्रवण की व्यवस्था है। श्रवण-कीर्तनरूपी जल से सिंचित होने पर भक्तिलता सम्वर्द्धित होती है। ब्रह्मा ने जिस समय ज्ञान के प्रयास को त्याग करने वाले भक्तों की स्थिति का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण का स्तव किया, उस समय भी उन्होंने "सम्मुखरितां भवदीयवार्त्तां श्रुतिगतां" कहा है। पारमहंस्य अमल-ज्ञानप्रद भागवत विचार पर होकर पठन-श्रवणादि करने से ही जीवों में महाभागवत का अधिकार प्राप्त होता है। श्रीमन् महाप्रभु की सनातन-शिक्षा में भी हम श्रवण करते हैं—"शास्त्रयुक्त्ये सुनिपुण दृढ़ श्रद्धा याँर। उत्तम अधिकारी तिहं तारये संसार॥" श्रीरूप-गोस्वामीपाद ने भी कहा है—आलस्य-परित्याग पूर्वक "उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्ततकर्मप्रवर्त्तनात्। संगत्यागात् सतो वृत्तेः षडभिर्भक्तिः प्रसिध्यति॥" सिद्धान्त-हीन भक्त्याभिमानी मूर्खतावश अनेक बार कृत्रिमभाव से सात्त्विक विकार समूह का अभ्यास करके लोगों की दृष्टि में वैष्णवपदवी को नीचा दिखाते हैं। उन सबके इस प्रकार के असत् अभ्यास की निन्दा करके श्रीमद्‌भागवत ने "तदश्मसारं" श्लोक लिखा है। इसकी टीका में श्रीपाद चक्रवर्ती ठाकुर कहते है,—"बहिरश्रु-पुलकयोः सतोरपि यद्हृदयं न विक्रियेत तदस्मसारमिति कनिष्ठाधिकारिणां एव अश्रुपुलकादिमत्त्वेऽपि अस्मसार-हृदयतया निन्दैषा।" सिद्धान्तों का अनादर करके जो कृत्रिम भक्ति दिखाई देती है, उसको प्रदर्शित करते हुए श्रीरूप प्रभु ने इस प्रकार लिखा है—"निसर्गपिच्छिल स्वान्ते तदभ्यासपरेऽपि च। सत्त्वाभासं विनापि स्युः क्वाप्य-श्रुपुलकादयः॥" बगुलाभगत इस प्रकार के सिद्धान्त-हीन मायिक विकारसमूह को किस प्रकार से अप्राकृत विकार समझते हैं, यह भी इसी का ज्वलन्त उदाहरण है। अनेक व्यक्ति श्रीरामानुज-मध्वाचार्य-निम्बार्क-विष्णुस्वामी आदि वैष्णव आचार्यों के द्वारा लिखित सिद्धान्तग्रन्थसमूहों के पाठ की भी भक्तिविरोधी अद्वैतवादियों के ग्रन्थालोचन की भाँति निन्दा करते है। श्रीजीवपाद ने इन सभी सुसिद्धान्तसमूह को षट्‌सन्दर्भ में वैष्णवों के मंगल-हेतु उद्धृत किया है। निर्विशेषवादिगण जिस प्रकार से भक्ति के अङ्गसमूह को भ्रमवश कर्माङ्ग समझते हैं, उसी प्रकार सिद्धान्तहीन वैष्णव नाम से अभिहित जीव, भक्ति के अनुकूल सिद्धान्त समूह को भी प्रतिकूल शृंखला में स्थित मान करके कृष्णभक्ति से च्युत हो जाते हैं।

भक्तिसिद्धान्त से ही भजनानुराग—

चैतन्य-महिमा जानि ए सब सिद्धान्ते।
चित्त दृढ़ हञा लागे महिमा-ज्ञान हैते॥११८॥

११८। प॰ अनु॰—इन सभी सिद्धान्तों के द्वारा श्रीचैतन्य महाप्रभु की महिमा का ज्ञान होता है और महिमा-ज्ञान होनेसे चित्त दृढ़ता-पूर्वक उनमें लग जाता है।

अनुभाष्य

११८। पञ्चरात्र में—"माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढं सर्वतोऽधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्त-स्तया सार्ष्ट्यादि नान्यथा।" "महिमज्ञानयुक्तः स्याद्विधिमार्गानुसारिणाम्। रागानुगाश्रितानान्तु प्रा-यश: केवलो भवेत्।"

द्वितीय परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

श्रीचैतन्य में निष्ठा का उदय कराने के लिये ही कृष्णतत्त्व-वर्णन—

चैतन्यप्रभुर महिमा कहिवार तरे।
कृष्णेर महिमा कहि करिया विस्तारे॥११९॥

११९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की महिमा को प्रकाशित करने के लिए श्रीकृष्ण की महिमा का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है।

श्रीकृष्ण ही
श्रीचैतन्य—

चैतन्य-गोसाञिर एइ तत्त्व-निरुपण।
स्वयं भगवान् कृष्ण ब्रजेन्द्रनन्दन॥१२०॥
श्रीरूपरघुनाथ-पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥१२१॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में वस्तुनिर्देश-मङ्गलाचरण के अन्तर्गत चैतन्यतत्त्वनिरुपण नामक द्वितीय परिच्छेद समाप्त।

१२०-१२१। प॰ अनु॰—यही तत्त्व निरुपित हुआ है कि श्रीचैतन्य गोसाईं ही स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋ ❋ ❋

तृतीय परिच्छेद

कथासार—इस तृतीय परिच्छेद में श्रीचैतन्य महाप्रभु के अवतार के कारणों पर विचार हुआ है। कृष्णलीला के अन्त में उस लीला के दास्य, सख्य, वात्सल्य, शृंगार-रूप चार रसों का जो प्राकट्य है, वह जगत् में किस प्रकार आस्वादन का विषय हो, यह सोचकर श्रीकृष्ण उन्हीं प्रेमभक्तिविषयक रससमूहों की आस्वादन-प्रक्रिया को जगत को दिखाने के लिए स्वयं भक्त (श्रीचैतन्य महाप्रभु) के रूप में अवतीर्ण हुए। नामसंकीर्त्तन कलियुग का प्रधान धर्म है, उसे युगावतार भी प्रकाशित कर सकते हैं, किन्तु पूर्वोक्त चार रसों की प्रेमभक्ति का दान करने में साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र के अतिरिक्त अन्य कोई अंशादि अवतार सक्षम नहीं है। इसी कारण से साक्षात् श्रीकृष्ण-चन्द्र ने नवद्वीप में जन्मग्रहण किया। साक्षात् श्रीकृष्ण ही जन्मग्रहण करेंगे, इसके प्रमाणस्वरूप श्रीमद्भागवत आदि के वचनों को उद्धृत किया गया है। महापुरुषों के लक्षणों के द्वारा श्रीचैतन्य महाप्रभु की साक्षात् भगवत्ता की स्थापना की गई है और यह भी दिखाया गया है कि श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने अङ्गोपाङ्ग अर्थात् श्रीअद्वैत, श्रीनित्यानन्द एवं श्रीवासादि भक्तवृन्द के साथ अवतीर्ण होकर जगत् में हरिभक्ति का प्रचार किया। चैतन्यावतार जगत् में सभी अवतारों की अपेक्षा उपादेय है, इसलिए गूढ़ है। वे एकमात्र भक्तिव्यंग्य है अर्थात् भक्त उन्हें भक्ति के द्वारा ही देखने में सक्षम होते हैं। अपने उसी उपादेय-तत्त्व को गुप्त रखने के लिए वे अनेक यत्न करते हैं, किन्तु परम भक्तों के समक्ष वे प्रकाशित हो जाते हैं। वेद-पुराणादि-शास्त्रों में उन्हें गुप्त रखने के लिए केवल इङ्गितवाक्यों के द्वारा उनके भावी उदय का उल्लेख किया है। इससे उनके छन्नावतार की गूढ़ता एवं विशेष उपादेयता का ही स्पष्टीकरण होता है। श्रीअद्वैताचार्य ने गुरुवर्ग के साथ प्रकट होकर देखा कि—जगत् अत्यन्त कृष्णभक्तिहीन हो गया है, ऐसी अवस्था में कोई अंशावतार अवतीर्ण होकर जगत का मङ्गल विधान नहीं कर पायेगा, साक्षात् श्रीकृष्ण को अवतरित करा पाने पर ही जगत् का कल्याण होगा। इस विचार से वे श्रीकृष्ण के चरण-कमलों में जल-तुलसी निवेदन कर निरुपाधिक कृष्णतत्त्व को अवतीर्ण करवाने के लिए हुँकार करने लगे। शुद्ध सरलभक्तों की प्रार्थना से श्रीकृष्ण उनके ध्येय परमस्वरूप को प्रकट करते हैं, अतः शुद्धभक्त श्रीअद्वैताचार्य की प्रेमरूपी हुँकार से जगत् को प्रेमदान करने के लिए श्रीगौरांग महाप्रभु अवतीर्ण हुए हैं।

(अ: प्र: भा:)

भक्तिसिद्धान्त—संकलन के
निमित्त महाप्रभु की वन्दना—

श्रीचैतन्यप्रभुं वन्दे यत्पादाश्रयवीर्यतः।
संगृह्णात्याकरव्रातादज्ञः सिद्धान्तसन्मणीन्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनके श्रीचरणों के आश्रय की शक्ति के बल पर अज्ञव्यक्ति भी शास्त्ररूपी आकर समूह से सिद्धान्तरूप उत्कृष्ट मणि का संग्रह करने में समर्थ होता है, उन श्रीचैतन्य महाप्रभु की मैं वन्दना करता हूँ।

अनुभाष्य

(ग्रन्थकार का स्वकृत श्लोक)

१। अज्ञः (मूर्खोऽपि) यत्पादाश्रयवीर्यतः (यस्य श्रीचैतन्यस्य पादाश्रयप्रभावात्) आकरव्रातात् (धातूत्-पत्तिस्थानसमूहात्) सिद्धान्तसन्मणीन् (मीमांसारूप-सद्रत्नान्) संगृह्णति (सम्यग् ग्रहणे समर्थो भवति) (तं) श्रीचैतन्यप्रभुं (अहं) वन्दे।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥
तृतीय श्लोकेर अर्थ कैल विवरण।
चतुर्थ श्लोकेर अर्थ शुन भक्तगण॥३॥

२-३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो तथा गौरभक्तवृन्द की जय हो। इससे पहले (मङ्गलाचरण) तृतीय श्लोक की व्याख्या की गई है। हे भक्तवृन्द! अब चतुर्थ श्लोक का अर्थ सुनिए।

मूल १४ श्लोकों में से चतुर्थ श्लोक की व्याख्या—
(विदग्धमाधव १.२ श्लोक)

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः॥४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४। सुवर्णकान्तिसमूह के द्वारा देदीप्यमान श्रीशची-नन्दन हरि आपके हृदय में स्फूर्त्ति प्राप्त करें। उन्होंने जिस सर्वोत्कृष्ट उज्ज्वलरस को जगत को कभी दान नहीं किया था, उसी स्वभक्ति-रूप सम्पत्ति का दान करने के लिए कलिकाल में अवतीर्ण हुए हैं।

अनुभाष्य

४। क्योंकि श्रीरूपगोस्वामी विदग्धमाधव नाटक के प्रारम्भ में इस श्लोक के द्वारा (जगत् के प्रति आशी-र्वादपूर्वक) मङ्गलाचरण किया है, इसलिए उनके अनुगत ग्रन्थकार भी निजाभीष्ट-गुरुपादपद्म का अनुसरण कर रहे हैं—

चिरात् (चिरकालं व्याप्य) अनर्पितचरीं (अदत्तपूर्वां) उन्नतोज्ज्वलरसां (उन्नतः सम्बर्द्धितः उज्ज्वलरसः शृंगार-रसो यस्यां ता) स्वभक्तिश्रियं (निजप्रेमशोभा) समर्पयितुं (सम्यक् दातुं) कलौ करुणयावतीर्णः (कृपया प्रपञ्चा-गतः) पुरटसुन्दद्युतिकदम्बसन्दीपितः (सुवर्णोत्थसौन्दर्य-कान्तिपुंजेन सम्यक् प्रकाशितः यः सः) शचीनन्दनः हरिः वः (युष्माकं) हृदयकन्दरे (चित्तगुहायां) सदा (सर्वस्मिन् काले अहर्निशं) स्फुरतु (प्रकाशयतु)।

अवतारकाल-वर्णन—

पूर्ण भगवान् कृष्ण ब्रजेन्द्रकुमार।
गोलोके ब्रजेर सह नित्य विहार॥५॥
ब्रह्मार एकदिने तिहों एकबार।
अवतीर्ण हञा करेन प्रकट विहार॥६॥
सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि, चारियुग जानि।
सेइ चारियुगे दिव्य एकयुग मानि॥७॥
एकात्तर चतुर्युगे एक मन्वन्तर।
चौद्द मन्वन्तर ब्रह्मार दिवस भितर॥८॥
वैवस्वत'-नाम एइ सप्तम मन्वन्तर।
साताइश चतुर्युग गेले ताहार अन्तर॥९॥
अष्टाविंश चतुर्युगे द्वापरेर शेषे।
ब्रजेर सहिते हय कृष्णेर प्रकाशे॥१०॥

५-१०। प० अनु०—पूर्ण भगवान् व्रजेन्द्रकुमार श्रीकृष्ण, गोलोक में व्रज परिकरों के साथ नित्य विहार करते हैं। ब्रह्मा के एकदिन में वे एकबार अवतीर्ण होकर प्रकट लीला करते हैं। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चारयुग हैं। इन्हीं चार युगों का एक दिव्य युग होता है। इकहत्तर (७१) चतुर्युगों का एक मन्वन्तर होता है एवं चौदह मन्वतरों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। वर्तमान में 'वैवस्वत'-नामक यह सप्तम मन्वन्तर चल रहा है इस प्रकार सत्ताईस बार चतुर्युग, के बीत जाने अठाइसवें (२८) चतुर्युग के द्वापर के अन्त में, व्रज धाम के साथ श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

५-८। जिन व्रजेन्द्रकुमार श्रीकृष्ण को पूर्व परिच्छेद में पूर्ण भगवान के रूप में संस्थापित किया गया है, वे गोकुल के वैभवरूप गोलोक में व्रजरस के सभी उपकरणों के साथ नित्य विहार करते हैं। इसी का नाम अप्रकट-विहार है। जगत् में अवतीर्ण होकर प्रत्येक कल्प में

अर्थात् ब्रह्मा के एक-एक दिन में वे एकबार प्रकट विहार करते हैं।

१०। वैवस्वत-मन्वन्तर के अठाईसवें चतुर्युग के द्वापर के शेषभाग में श्रीकृष्ण अपने व्रजतत्त्व के समस्त उपकरणों के साथ प्रकाशित होते हैं।

अनुभाष्य

७-८। कलियुग ४३२००० सौरवर्ष का है। कलियुग के परिमाण की दोगुणा वर्ष-संख्या—द्वापर की, तीन गुणा—त्रेता की एवं चार गुणा—सत्ययुग की होती है। अतएव सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग में कुल मिलाकर ४३२०००० सौर वर्ष होते हैं। इस महायुग को दिव्ययुग की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार ७१ महायुगों का एक मन्वन्तर होता है; चतुर्दश मन्वन्तरों एवं इनके अन्तर्गत पंचदश सत्ययुग-काल-परिमित सन्धि-सहित सहस्त्रयुगों का ब्रह्मा का एक दिन अथवा कल्प होता है।

***"चतुर्युगमुदाहृतम्। सूर्याब्दसंख्यया द्वित्रिसागरै-रयुताहतैः। युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते॥ सस-न्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश। कृत प्रमाण कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः॥ इत्थं युगसहस्त्रेण भूत-संहार-कारकः। कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती॥"—सूर्यसिद्धान्त में मध्यमाधिकारः।

९) वैवस्तत-नामक सप्तम मनु के मन्वन्तर में महा-प्रभु का उद्‌यकाल है। "स्वायम्भुवाख्यो मनुराद्य आसीत्, स्वारोचिषश्चोत्तम-तामसाख्यौ। जातौ ततो रैवत चाक्षुसौ च वैवस्वतः सम्प्रति सप्तमोऽयम्। सावर्णिर्दक्षसावर्णि-र्ब्रह्मसावर्णिकस्ततः। धर्मसावर्णिको रुद्रपुत्रोरौत्त्यश्च भौत्यकः॥"

१) स्वायम्भुव, २) स्वारोचिष, ३) उत्तम, ४) तामस, ५) रैवत, ६) चाक्षुष, ७) वैवस्वत, ८) सावर्णि, ९) दक्षसावर्णि, १०) ब्रह्मसावर्णि, ११) धर्मसावर्णि, १२) रुद्रपुत्र (सावर्णि), १३) रोच्य (देवसावर्णि), १४) भौत्यक (इन्द्रसावर्णि)—ये चतुर्दश मनु हैं। प्रत्येक मनु का भोगकाल ७१ महायुग होता है।

१०) वैवस्वत मन्वन्तर के ७१ महायुगों में २७ महायुग व्यतीत होने पर अष्टाविंश (अठाईसवें) चतुर्युग में सत्य और त्रेता युग के बीत जाने पर द्वापर के शेषभाग में श्रीकृष्ण का प्राकट्य काल है। द्वापर के अन्त तक ब्रह्मदिन के प्रारम्भ से सन्धि-सहित छह मनु हैं। वैवस्वत मनु के २७ युग सत्य, त्रेता एवं द्वापर-युगकाल एक साथ योग करके (सृष्टिकाल छोड़कर) सौरवर्ष-संख्या में ९७५३२०००० वर्ष अतीत होते हैं।

शान्त के अतिरिक्त चार प्रकार के मुख्यरस—

दास्य, सख्य, वात्सल्य, शृंगार—चारि रस।
चारि भावेर भक्त यत कृष्ण तार वश॥११॥
दास-सखा-पितामाता-प्रेयसीगण लञा।
ब्रजे क्रीड़ा करे कृष्ण प्रेमाविष्ट हञा॥१२॥

११-१२। प० अनु०—दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार ये चार प्रकार के रस हैं। इन चारों भावों के जितने भी भक्त हैं, श्रीकृष्ण इन सबके वश में रहते हैं। दास-सखा-पितामाता और प्रेयसीवृन्द को साथ लेकर, श्रीकृष्ण व्रज में प्रेमाविष्ट होकर क्रीड़ा करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

११। रस ही कृष्णलीला का प्रकरण है। रस पाँच प्रकार के हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं शृंगार। इनमें से दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं शृंगार—इन चार प्रकार के रसों के भक्तों के समक्ष श्रीकृष्ण नितान्त वशीभूत हैं।

अनुभाष्य

११। यहाँ 'शान्त' रस के उल्लेख नहीं किये जाने का कारण यही है कि, यद्यपि जड़जगत में शान्त रस सबसे ऊपर स्थित है, तथापि चित्‌जगत् में वही शान्तरस नितान्त निम्नभाव में स्थित है एवं शान्तरस अप्राकृत होने पर भी रस के आलम्बन का विषय एवं आश्रयसमूह के परस्पर के मध्य ज्ञेय एवं ज्ञातृ-भावों का विनिमय नहीं है। इसलिए दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर रसों में यथाक्रमानुसार कृष्णप्रीति का उत्कर्ष-तारतम्य विद्यमान है।

औदार्यप्रधान गौरावतार
की सूचना—

यथेष्ट विहरि कृष्ण करे अन्तर्द्धान।
अन्तर्द्धान करि' मने करे अनुमान॥१३॥
चिरकाल नाहि करि प्रेमभक्ति दान।
भक्ति बिना जगतेर नाहि अवस्थान॥१४॥

१३-१४। प० अनु०—अनेकानेक प्रकार से विहार करके श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये। अन्तर्धान होने पर वे मन में विचार करने लगे—मैंने चिरकाल से प्रेम भक्ति का दान नहीं किया और भक्ति के बिना जगत् की स्थिति नहीं रह सकती।

जगत् वैधीभक्ति चालित है,
अतः कृष्णप्रेम से अनभिज्ञ है—

सकल जगते मोरे करे विधि-भक्ति।
विधिभक्त्ये ब्रजभाव पाइते नाहि शक्ति॥१५॥

१५। प० अनु०—समस्त जगत् मेरी विधि भक्ति करता है। परन्तु विधि-भक्ति में व्रजभाव को प्राप्त करने की शक्ति नहीं है।

गौरवभाव से शुद्धराग-
लभ्य कृष्णप्रेम सुदुर्लभ—

ऐश्वर्यज्ञानेते सब जगत् मिश्रित।
ऐश्वर्य-शिथिल-प्रेमे नाहि मोर प्रीत॥१६॥

१६। प० अनु०—सम्पूर्ण जगत के लोग ऐश्वर्यज्ञान के द्वारा मेरी आराधना करते हैं। ऐश्वर्यभाव से प्रेम शिथिल हो जाता है और शिथिल प्रेम से मुझे सुख प्राप्त नहीं होता।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४-१६। अभी तक मैंने जगत् को प्रेमभक्ति का दान नहीं किया। शास्त्रादि का पाठ करके जगत् के लोग विधिभक्ति का आश्रय कर मेरा भजन करते हैं। किन्तु मेरा परमभाव जो व्रजभाव है, उसे वे विधि-भक्ति के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते। विधिभक्ति में ऐश्वर्यज्ञान ही प्रबल है और ऐश्वर्यभाव में प्रेम शिथिल हो जाता है, अर्थात् प्रेम में प्रगाढ़ता नहीं रहती। अतः इस प्रकार के प्रेम से मैं प्रसन्न नहीं होता।

गौरवभावमयी वैधीभक्ति के
फलस्वरूप चार प्रकार की मुक्ति
एवं वैकुण्ठ में नारायण की प्राप्ति—

ऐश्वर्यज्ञाने विधि भजन करिया।
वैकुण्ठके याय चतुर्विध मुक्ति पाञा॥१७॥
सार्ष्टि, सारूप्य, आर सामीप्य, सालोक्य।
सायुज्य ना लय भक्त याते ब्रह्म-ऐक्य॥१८॥

१७-१८। प० अनु०—ऐश्वर्यज्ञान से विधि-भक्ति का भजन करके साधक सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य नामक चार प्रकार की मुक्ति को पाकर वैकुण्ठ में जाता है। किन्तु भक्त सायुज्य-मुक्ति ग्रहण नहीं करते, क्योंकि सायुज्यरूप मुक्ति में ब्रह्म-ऐक्य विद्यमान है।

अपने भजन की शिक्षा देने के
लिए श्रीकृष्ण की इच्छा—

युगधर्म प्रवर्त्तामु नामसंकीर्तन।
चारि भाव-भक्ति दिया नाचामु भुवन॥१९॥

१९। प० अनु०—मैं नामसंकीर्तन रूपी युगधर्म का प्रवर्तन करूँगा और चारों (दास्य-सख्य-वात्सल्य-शृंगार) भाव वाली प्रेमभक्ति देकर भुवन को नचाऊँगा।

इसी कारण से भक्त एवं गुरु के
रूप में अवतार, प्रचार एवं आचार—

आपनि करिमु भक्तभाव अंगीकारे।
आपनि आचरि' भक्ति शिखामु सबारे॥२०॥

२०। प० अनु०—मैं स्वयं भक्तभाव अङ्गीकार करके अपनी ही भक्ति का स्वयं आचरण कर, सबको भक्ति की शिक्षा दूँगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७-२०। ऐश्वर्यज्ञान से जो लोग विधिमार्ग का भजन करते हैं, वे सब सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य एवं सालोक्यरूप चार प्रकार की मुक्ति प्राप्त करके वैकुण्ठ

में जाते हैं। विधि मार्ग के भक्त भी ब्रह्म के साथ ऐक्यरूप सायुज्यमुक्ति की प्रार्थना नहीं करते। किन्तु प्रेमभक्ति मिलने पर उक्त चार प्रकार की मुक्ति का भी परित्याग करके भक्त मेरे सेवा सुख को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की विधिभक्ति के अतीत प्रेमभक्ति का जगत् में प्रचार करना ही मेरा अभीष्ट है। मैं कलियुग के धर्म नाम सङ्कीर्त्तन को दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं शृङ्गार रस सहित देकर समस्त जगत वासियों को नचाँऊगा और स्वयं भी भक्तभाव को अङ्गीकार करके अपने आचरण द्वारा जगत् के जीवों को शिक्षा प्रदान करूँगा।

१८। सार्ष्टि—विष्णु के साथ समान ऐश्वर्य की प्राप्ति; सारूप्य—विष्णु की भाँति चतुर्भुज आदि अंगवर्ण की प्राप्ति; सामीप्य—विष्णु के समीप अवस्थिति; सालोक्य—विष्णुलोक में वास।

अनुभाष्य

१८। "सालौक्य-सार्ष्टि-सारूप्य-सामीप्यैकत्व-मप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना:।।" (भा० ३.२९.१३), (भा० ९.७.६७) द्रष्टव्य है।

आचार बिना प्रचार निरर्थक—

आपने ना कैले धर्म शिखान ना याय।
एइ त' सिद्धान्त गीता-भागवते गाय॥२१॥

२१। प० अनु—स्वयं धर्म का आचरण किये बिना धर्म सिखाया नहीं जा सकता। यही सिद्धान्त गीता-भागवत में कहा गया है।

अवतारकाल—
(श्रीमद्भगवतगीता ४.७-८)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥२२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२२। हे अर्जुन, जब-जब धर्म की ग्लानि उपस्थित होती है एवं अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ।

अनुभाष्य

२२। पूर्वकाल की कथा का उल्लेख करके श्रीकृष्ण ने उनके द्वारा पूर्व में सूर्यदेव से कथित योगपन्था के काल-प्रभाव से नष्ट हो जाने के कारण उसी योगपन्था के सम्बन्ध में फिर एकबार अर्जुन से कहा। अर्जुन को विश्वास कराने के लिए भगवान् अपनी आविर्भावकथा के प्रसङ्ग में कह रहे हैं—

हे भारत, यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः (हानिः) अधर्मस्य अभ्युत्थानं (वृद्धिः) भवति, तदा अहं द्वे सोढुम-शक्नुवन् तयोवैपरीत्यं कर्त्तुं आत्मानं सृजामि।

अवतार का कार्य—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥२३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२३। साधुओं के परित्राण, दुष्कृतियों के विनाश एवं धर्म-संस्थापन के लिए मैं प्रत्येक युग में प्रकाशित होता हूँ।

अनुभाष्य

२३। साधूनां (मदनुशीलपराणां) परित्राणाय (सेवन-विघ्ननिवृत्त्यै) दुष्कृतां (भक्तद्रोहिणां मदनैरवध्यानां रावण-कंसकेश्यादीनां) विनाशाय, धर्मसंस्थापनार्थाय च (परि-चर्यासंकीर्त्तनलक्षण-भगवतसेवनपर-निर्मत्सरधर्मस्य सम्य-गाचरणार्थाय प्रचारार्थाय च) युगे युगे (तत्तत्काले) सम्भवामि।

आचार बिना प्रचार की
व्यर्थता एवं विषमय फल—
(श्रीमद्भगवतगीता ३.२४)

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२४। यदि मैं कर्माचरण के द्वारा कर्म-व्यवस्था की रक्षा न करूँ, तो यह लोक उत्सन्न (नष्ट) हो जाता है

एवं सांकर्य (मिश्रणता) का कारण बनकर मैं ही प्रजा का विनाशक बन जाऊँगा।

अनुभाष्य

२४। अर्जुन के द्वारा कर्मविषयक सन्देह-युक्त प्रश्न पूछे जाने पर जड़भोगवासना-रहित भगवान् के कर्म (आचार) करने के उद्देश्य के बारे में बता रहे हैं—चेत् (यदि) अहं कर्म न कुर्याम्, इमे लोकाः उत्सीदेयुः (मां दृष्टान्ती-कृत्य भ्रंश्येयुः), संकरस्य च कर्त्ता स्याम्, इमाः प्रजाः उपहन्यां (मलिनाः कुर्याम्)।

आचार्य का आचरण अन्य
लोगों के लिए आदर्श—
(श्रीमद्भगवतगीता ३.२१)

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥२५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२५। श्रेष्ठव्यक्ति जैसा आचरण करते हैं, अन्य व्यक्ति भी उसी का अनुकरण करते हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति जिसको 'प्रमाण' कहते हैं, सभी उसी में अनुवर्त्तमान अर्थात् अनुरक्त होते हैं।

युगधर्म-प्रचार—विष्णु का कार्य है;
किन्तु श्रीकृष्ण के बिना अन्यान्य अंश (विष्णुतत्त्व)
के लिए कृष्णप्रेमदान करना असम्भव—

युगधर्म-प्रवर्त्तन हय अंश हैते।
आमा बिना अन्ये नारे ब्रजप्रेम दिते॥२६॥

२६। प० अनु०—युगधर्म का प्रवर्त्तन मेरे अंशावतार द्वारा भी हो सकता है किन्तु व्रजप्रेम को मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं दे सकता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६। नामसंकीर्तनरूप युगधर्म एवं व्रजप्रेम—इन दोनों का प्रचार करने के उद्देश्य से मैं प्रकट होने की इच्छा कर रहा हूँ। यद्यपि अंशावतार के द्वारा युगधर्म प्रचार-कार्य सम्पन्न हो सकता है, तथापि मुझ पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त व्रजप्रेम का प्रचार और कोई भी नहीं कर सकता।

अनुभाष्य

२५। श्रेष्ठः (महाजनः) यत् यत् यथा आचरति, तत् तत् कर्म एव इतरः (अश्रेष्ठः) जनः (आचरति); सः (श्रेष्ठः) यत् प्रमाणं कुरुते, लोकः इतरः तत् अनुवर्त्तते (अनुसरति)।

लघुभागवतामृत पूर्वखण्ड ५.३७
में विल्वमङ्गल-वाक्य—

सन्त्ववतारा बहवः पंकजनाभस्य सर्वतो-भद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति॥२७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२७। भगवान् पंकजनाभ (कमलनाभ) के अनेक मङ्गलमय अवतार क्यों न हो, किन्तु श्रीकृष्ण के अतिरिक्त लता अर्थात् आश्रितजनों को प्रेम देने वाला और कौन है?

अनुभाष्य

२७। पंकजनाभस्य (पद्मनाभस्य भगवतः) सर्वतो-भद्राः (मंगलप्रदाः) बहवः अवताराः सन्तु। अपि कृष्णात् अन्यः को वा लतासु (तदाश्रितासु) प्रेमदो (प्रेमभक्ति-दाता) भवति।

ताहाते आपन भक्तगण करि' संगे।
पृथिवीते अवतरि करिमु नाना रंगे॥२८॥
एत भावि' कलिकाले प्रथम सन्ध्याय।
अवतीर्ण हैला कृष्ण आपनि नदीयाय॥२९॥
चैतन्यसिंहेर नवद्वीपे अवतार।
सिंहग्रीव, सिंहवीर्य, सिंहेर हुँकार॥३०॥
सेह सिंह बसुक् जीवेर हृदय-कन्दरे।
कल्मष-द्विरद नाशे याँहार हुँकारे॥३१॥

२८-३१। प० अनु०—इसलिए मैं अपने भक्तों को साथ लेकर, पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर अनेक प्रकार की

लीलाएँ करूँगा। ऐसा विचार कर कलिकाल की प्रथम सन्ध्या में स्वयं श्रीकृष्ण, नदीया (नवद्वीप) में अवतीर्ण हुए। सिंह के समान जिनकी ग्रीवा है, सिंह के समान जिनका बल है एवं सिंह की भाँति हुँकार करनेवाले श्रीचैतन्यसिंह नवद्वीप में अवतरित हुए। वही सिंह जीवों के हृदय की कन्दरा में विराजित हों, जिनकी हुँकार से पाप-रूपी हाथी का विनाश हो जाता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

३१। कल्मष-पाप; द्विरद-हस्ती।

अनुभाष्य

२९। प्रथम सन्ध्या में—युगारम्भकाल के आदि में एवं युगान्तकाल के अन्त में युग की छह भागपरिमित की काल सन्ध्या है। युग की प्रथम सन्ध्या द्वादश भाग की और शेष सन्ध्या भी द्वादश भाग की है। अतः कलि-काल की प्रथम सन्ध्या ३६,००० सौर वर्ष की है। कलि-काल के ४,५८६ वर्ष बीत जाने पर प्रकटित होने के कारण श्रीगौरसुन्दर ने प्रथम सन्ध्या में श्रीमायापुर नवद्वीप में जन्मग्रहण किया। "क्रमात् कृतयुगादीनां षष्ठांशः सन्ध्ययोः स्वकः"—श्रीसूर्यसिद्धान्त के मध्यमाधिकार में १७ श्लोकः।

अभिधेय-अधिदेवता
का नाम 'विश्वम्भर'—

प्रथम लीलाय ताँर 'विश्वम्भर' नाम।
भक्तिरसे भरिल, धरिल भुतग्राम॥३२॥
डुभृञ धातुर अर्थ—पोषण, धारण।
पुषिल, धरिल प्रेम दिया त्रिभुवन॥३३॥

३२-३३। प० अनु०—प्रथम लीला में उनका नाम 'विश्वम्भर' रहा क्योंकि उस लीला के द्वारा उन्होंने जगत् को भक्तिरस से भर दिया और जीवसमूह को अपनी ओर आकर्षित किया। डुभृञ् धातु का अर्थ पोषण एवं धारण है। इन्होंने त्रिभुवन को प्रेम देकर पोषण एवं धारण किया है।

अमृतप्रवाह भाष्य

३२। भुतग्राम—जीवसमूह।

३३। 'विश्वम्भर' शब्द डुभृञ् धातु से सिद्ध हुआ है। उस धातु का अर्थ है—पोषण एवं धारण। प्रेम देकर त्रिभुवन को पोषण एवं धारण किया।

सम्बन्ध-अधिदेवता का नाम 'श्रीकृष्णचैतन्य'—

शेषलीलाय नाम धरे 'श्रीकृष्णचैतन्य'।
श्रीकृष्ण जानाये सब विश्व कैल धन्य॥३४॥

३४। प० अनु०—शेषलीला (अर्थात् संन्यास ग्रहण के पश्चात् की लीलाओं) में उन्होंने 'श्रीकृष्ण चैतन्य' नाम स्वीकार किया और श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में बताकर सम्पूर्ण विश्व को धन्य कर दिया।

अनुभाष्य

३४। शेषलीला में अर्थात् संन्यासग्रहण के पश्चात् २४ वर्ष का समय। यद्यपि श्रीविष्णु-स्वामी सम्प्रदाय में दशनामी एवं अष्टोत्तरशतनामी त्रिदण्डि-वैदिक संन्या-सीवृन्द श्रीशंकराचार्य के बहुत पहले से ही वर्तमान थे, तथापि निर्विशिष्ट-विचारप्रिय वैदान्तिक-ब्रुवगण शंकर के प्रादुर्भाव के पश्चात् समन्वय-प्रथा से भारत में पंचो-पासक-समाज पुनर्गठित होने के कारण श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीशंकराचार्य सम्प्रदाय के दशनामी दण्डिन्यासिवृन्द की प्रथानुसार वैदिक संन्यास ग्रहण किया। आर्यावर्त्त में वैदिकाभास अर्थात् वेदानुग-ब्रुव आर्य-समाज में अनेक व्यक्ति शंकराचार्य के अनुगामी एवं शांकर-सम्प्रदाय के शासनानुसार पंचोपासक हैं।

दशनामी संन्यासी, जैसै—"तीर्थाश्रमवनारण्यगिरि-पर्वतसागराः। सरस्वती भारती च पुरी नामानि वैदश॥" प्रत्येक के संन्यास की, स्थान की एवं ब्रह्मचारी की उपाधि क्रमानुसार उल्लिखित है। (मंजुषा द्वितीय अध्याय संख्या १०४-१०७ पृः द्रष्टव्य है) तीर्थ एवं आश्रम—संन्यास की उपाधि, स्थान—द्वारिका, ब्रह्मचारी नाम—स्वरूप। वन एवं अरण्य—संन्यास की उपाधि, स्थान—पुरुषोत्तम, ब्रह्मचारीनाम—प्रकाश। गिरि, पर्वत एवं

सागर—संन्यास की उपाधि, स्थान—बदरिकाश्रम, ब्रह्मचारीनाम—आनन्द। सरस्वती, भारती एवं पुरी—संन्यास की उपाधि, स्थान—शृंगेरी, ब्रह्मचारी-नाम—चैतन्य।

श्रीशंकराचार्य ने समग्र भारत के पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण प्रदेश में चार मठों की स्थापना करके अपने चार शिष्यों को मठाध्यक्ष बनाया। इन चार मूलमठों के अधीन असंख्य शाखामठ समूह क्रमशः उद्भूत हुए हैं। मठों की समानता निर्दिष्ट होने पर भी देश-भेद से अनेक जगह विपर्यय दिखाई देता है। इन चार मठों में आनन्दवार, भोगवार, कीटवार एवं भूमिवार भेद से चार सम्प्रदाय हैं। समय के फेर से इन सम्प्रदायों की धारणाएँ भी विपर्यस्त हुई हैं। चार महावाक्यों के भी मठ-भेद से विभाग हैं। संन्यास ग्रहण करने के लिए पहले मठाधीश संन्यासीगुरु के निकट जाकर ब्रह्मचारी बनना पड़ता है। वे जिस प्रकार के संन्यासी हैं, तदनुसार 'ब्रह्मचारी' नाम देते हैं। यह प्रथा आज भी इन सम्प्रदायों में विशेष रूप से चलती आ रही है।

श्रीमन् महाप्रभु जब केशवभारती के निकट संन्यास ग्रहण करने गये, तब उनका नाम 'श्रीकृष्णचैतन्य' हुआ था। संन्यास ग्रहण के पश्चात् भी भगवान् ने अपने ब्रह्मचारीनाम का ही प्रचार किया। उनकी लीलाओं के लेखकों में से किसी ने भी उनके द्वारा 'भारती' नाम का परिचय देने की बात नहीं कही है। शङ्कर सम्प्रदाय में संन्यासनाम के साथ ईश्वराभिमान मिलित होने के कारण, संभवतः श्रीमन् महाप्रभु ने इस प्रकार के व्यवहार का आदर नहीं किया है। 'ब्रह्मचारी' नाम में गुरुदास्य-अभिमान अनुस्यूत है, यह भक्ति के प्रतिकूल नहीं है। वर्णन है कि, श्रीमन् महाप्रभु ने दण्ड एवं कमण्डलु आदि संन्यास के चिह्न समूहों को धारण किया था।

ताँर युगावतार जानि' गर्ग महाशय।
कृष्णेर नामकरणे करियाछे निर्णय॥३५॥

३५। प० अनु०—उनके युगावतार को जानते हुए, गर्ग महाशय ने श्रीकृष्ण के नामकरण के समय यही निर्णीत किया था।

अमृतप्रवाह भाष्य

३५। गर्ग महाशय ने श्रीकृष्णचैतन्य को कलियुगावतार जानकर निम्नलिखित श्लोक में उनका वर्ण निरूपण किया है।

चार युगों में चार वर्णों में अवतार—
(श्रीमद्भागवत १०.८.१३)

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥३६॥

अमृप्रवाह भाष्य

३६। आपका यह पुत्र अन्य तीन युगों में शुक्ल, रक्त एवं पीतवर्ण धारण करता है परन्तु वर्तमान द्वापर युग में इसने कृष्णवर्ण धारण किया है।

अनुभाष्य

३६। गर्गमहाशय नन्दमहाराज को श्रीकृष्ण के नामकरण के हेतु का वर्णन करते समय उनके अन्यान्य अवतारों एवं अवतारित्व के विषय में कह रहे हैं—

अनुयुगं (युगोचित) तनूर्गृह्णतः अस्य (तव पुत्रस्य) शुक्लः रक्तः तथा (इति भविष्यन्निर्द्देशवाक्येनवैवस्वत-मन्वन्तरस्याष्टाविंशमहायुगयीकलि-युगस्य आदिस्न्ध्या-या) पीतः (पीतवर्ण भविष्यति) त्रयो वर्णाः आसन्। इदानीं हि कृष्णतां गतः (प्राप्तः)।

शुक्ल, रक्त, पीतवर्ण—एइ तिन द्युति।
सत्य-त्रेता-कलिकाले धरेन श्रीपति॥३७॥
इदानीं द्वापरे तिहों हैला कृष्णवर्ण।
एइ सब शास्त्रागमपुराणेर मर्म्म॥३८॥

३७-३८। प० अनु०—श्रीपति (श्रीकृष्ण) सत्य, त्रेता और कलियुग में क्रमानुसार शुक्ल, रक्त और पीतवर्ण—इन तीन प्रकार की अङ्ग कान्ति को धारण करते हैं किन्तु वर्तमान द्वापर में, उन्होंने कृष्णवर्ण धारण किया। सब शास्त्रों, आगमों और पुराणों का यही मर्म है।

(श्रीमद्भागवत ११.५.२७)

द्वापरे भगवान् श्यामः पीतवासा निजायुधः।
श्रीवत्सादिभिरंकैश्च लक्षणैरुपलक्षितः॥३९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३९। द्वापरयुग में भगवान् श्यामवर्ण, पीतवास, वंशी आदि अपने आयुध एवं श्रीवत्सादि चिह्नों से युक्त—इस रूप में उपलक्षित होते हैं।

अनुभाष्य

३९। किस काल में किस प्रकार से भगवान् का अवतार होता है, विदेहराज निमि के इस प्रश्न के उत्तर में नवयोगेन्द्र में अन्यतम श्रीकरभाजन सत्य एवं त्रेता के अवतारों का वर्णन करके द्वापर के अवतार के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

द्वापरे भगवान् श्यामः पीतवासाः (पीतं वासो यस्य सः) निजायुधः (निजानि आयुधानि गदाचक्रादीनि यस्य सः) श्रीवत्सादिभिः अंकैः (आंगिकैश्चिह्नैः) लक्षणैः (बाह्यैः कौस्तुभादिभिश्च) उपलक्षितः।

कलियुगावतार
का लक्षण—

कलियुगे युगधर्म—नामेर प्रचार।
तथि लागि' पीतवर्ण चैतन्यावतार॥४०॥
तप्तहेम-समकान्ति, प्रकाण्ड शरीर।
नवमेघ जिनि कण्ठध्वनि ये गम्भीर॥४१॥
दैर्घ-विस्तारे येइ आपनार हात।
चारि हस्त हय 'महापुरुष' विख्यात॥४२॥
'न्याग्रोधपरिमण्डल' हय ताँर नाम।
न्यग्रोधपरिमण्डल-तनु चैतन्य गुणधाम॥४३॥
आजानुलम्बित-भुज कमललोचन।
तिलफुल-जिनि-नासा, सुधांशु-वदन॥४४॥
शान्त, दान्त, कृष्णभक्ति-निष्ठापरायण।
भक्तवत्सल, सुशील, सर्वभूते सम॥४५॥
चन्दनेर अंगद-बाला, चन्दन-भूषण।
नृत्यकाले परि' करेन कृष्णसंकीर्तन॥४६॥
एइ सब गुण लञा मुनि वैशम्पायन।
सहस्रनामे कैल ताँर नाम गणन॥४७॥
दुइलीला चैतन्येर—आदि आर शेष।
दुइ लीलाय चारि चारि नाम विशेष॥४८॥

४०-४८। प॰ अनु॰—कलियुग का युगधर्म नाम-प्रचार है। उसी का प्रचार करने के लिए पीतवर्ण श्रीचैतन्यावतार का प्राकट्य हुआ है। तप्तकाञ्चन के समान कान्ति तथा विशाल शरीरवाले प्रभु की कण्ठध्वनि नवीन मेघ की गर्जना से भी गम्भीर है। जिनका देह का विस्तार (अर्थात् जिनके शरीर की लम्बाई तथा चौड़ाई) अपने हाथ से चार हाथ परिमाण की दीर्घ हो वे 'महापुरुष' के रूप में जाने जाते हैं। उन्हें 'न्यग्रोधपरिमण्डल' नाम से पुकारा जाता है। श्रीचैतन्य गुणधाम भी न्यग्रोधपरि-मण्डल-तनु विशिष्ट हैं। आजानुलम्बित भुजाओं से युक्त सुन्दर ज्योतिमय मुख-मण्डल वाले कमललोचन प्रभु की सुन्दर नासा तिलफूल से भी अधिक सुन्दर है। प्रभु शान्त, दान्त, कृष्णभक्ति-निष्ठापरायण, भक्तवत्सल, सुशील एवं सर्वभूतों के प्रति समान भाववाले हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु नृत्य के समय चन्दन के अङ्गद तथा चन्दन के भूषणों से सज्जित होकर कृष्णसंकीर्तन करते हैं। इन समस्त गुणों को लक्ष्य करते हुए वैशम्पायन मुनि ने सहस्रनाम में इनके नाम की गणना की है। श्रीचैतन्य महाप्रभु की दो प्रकार की लीलाएँ हैं—आदिलीला और शेषलीला। इन दोनों लीलाओं में से चार-चार विशेष नामों का उल्लेख किया है।

अमृतप्रवाह भाष्य

४३। जो अपने हाथ के दैर्घविस्तार (अर्थात् दोनों हाथ फैलाने पर एक हाथ की मध्यमा अंगुली के शेष भाग तक तथा चरण तल से लेकर मस्तक की शेष सीमा तक) जो अपने हाथों की माप से चार हाथ वाले होते हैं, वे महापुरुष के रूप में विख्यात हैं एवं उनका नाम है 'न्यग्रोधपरिमण्डल'।

अनुभाष्य

४०। श्रीमध्वाचार्य ने मुण्डकोपनिषत् के भाष्य में

श्रीनारायण-संहिता से प्रमाण लिखा है,—"द्वापरीयै-र्जनैर्विष्णुः पञ्चरात्रैस्तु केवलैः। कलौ तु नाममात्रेण पूज्यते भगवान् हरिः॥" कलिसन्तरणोपनिषद् ने भी लिखा है—"हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥ इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मष-नाशनम्। नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते॥"

४२-४३। न्यग्रोधपरिमण्डल—जो अपने भुज-परिमाण से चार हाथ दीर्घ और चार हाथ विस्तृत अर्थात् परिधिविशिष्ट है, वे महापुरुष हैं; जिन्होंने सभी प्राणियों का न्यक्कार (अवमानन) करके अपनी माया के द्वारा रोध (घेराबंदी) किया है, ऐसे पूर्ण चतुर्व्यूह-विशिष्ट विष्णु।

४७। सहस्त्रनाम—विष्णु के सहस्त्रनाम अर्थात् महा-भारत के दानधर्म में १४९ अध्याय। शङ्कराचार्य एवं श्रीबलदेव विद्याभूषण आदि अन्यान्य वैष्णवाचार्यवृन्द ने इस ग्रन्थ का भाष्य लिखा है।

४८। आदि—गार्हस्थलीला (प्रथम २४ वर्ष), शेष—संन्यासलीला (शेष २४ वर्ष)। ३२-३४ संख्या द्रष्टव्य है। चारि चारिनाम अर्थात् दोनों लीलाओं के चार-चार नाम परवर्त्ती ४९ संख्या में उल्लिखित हैं।

(महाभारत के दानधर्म में १४९अ,
सहस्त्रनाम संख्या ९२ एवं ९५)

सुवर्णवर्णो हेमांगो वरांगश्चन्दनांगदी।
सन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठाशान्तिपरायणः॥४९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४९। सुवर्णवर्ण, गलित-हेम जैसा अङ्ग, सर्वांगसुन्दर गठन, चन्दनमाला शोभित—ये चार गृहस्थलीला में लक्षित हैं। संन्यासाश्रमी, हरि-रहस्यालोचनरूप शमगुण विशिष्ट, हरिकीर्तन-रूप महायज्ञ में दृढ़निष्ठ, केवलाद्वैतवादी अभक्त-निवृत्ति कारिणी शान्तिलब्ध महाभावपरायण—(ये चार संन्यासलीला में लक्षित हैं।)

अनुभाष्य

४९। सुवर्णवर्णः (स्वर्णवर्णवत् पीतवर्णः यस्य सः) हेमांगः (हेमवत् अंगं यस्य सः) वरांगः (महापुरुषवोधकं अंगं यस्य सः) चन्दनांगदी (चन्दनांकिते विद्येते यस्य सः) (आदि-लीलायां भगवतो गौरचन्द्रस्य एतानि चत्त्वारि नामानि। संन्यासकृत् (यतिधर्मपरः) शमः (निर्विषयः) शान्तः (कृष्णैकनिष्ठचित्तः) निष्ठाशान्तिपरायणः (निष्ठा चित्तैकाग्रं च शान्तिश्च निष्ठाशान्तिः परम् अयनं आश्रयो यस्य सः) (शेषलीलायां भगवतो गौरहरेर्नामानि चतुः-संख्यकानि सहस्त्रनाम्नि उदाहृतानि)।

विष्णुसहस्त्रनाम की श्रीबलदेव विद्याभूषण के द्वारा किये गए नामार्थ-सुधाभिध भाष्य में—"सुवर्णस्येव वर्णो रूपमस्येति सुवर्णवर्णः—'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'। इति श्रुतेः। हेमवत् स्पृहणीयानि वर्णाधिष्ठानान्यंगानि यस्य सः हेमांगः। वराणि सौन्दर्यवन्त्यंगानि अस्येति वरांगः। चन्दने भक्तचित्ताह्लादके अंगदे अस्येति चन्दनांगदी। सुवर्ण-वर्णादि चतुष्टयं केचित् कृष्णचैतन्यतायां योजयन्ति। अथ कृष्णचैतन्यतां द्योतयन्नाह षड्भिः—सन्न्यासं पारिब्राज्यं करोतीति सन्न्या-सकृत्। शमयत्यालोचयति रहस्यं हरेरिति शमः। शम आलोचने चुरादिमत्। शाम्ययत्युपरमति कृष्णान्य-विषया-दिति शान्तः। नितिष्ठन्त्ययस्यां हरिकीर्त्तनप्रधाना भक्ति-यज्ञा इति निष्ठा—'कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं' इति स्मरणां। शाम्यन्त्यनया भक्तिविरोधिनः केवलाद्वैत प्रमुखान् इति शान्तिः। महाभावान्तां भावभेदानां परममयनमिति पराय-णम्।"

व्यक्त करि' भागवते कहे बारबार।
कलियुगे—कृष्णनामसंकीर्त्तन सार॥५०॥

५०। प॰ अनु॰—श्रीमद्भागवत में बारम्बार स्पष्ट-रूप से कहा गया है कि कलियुग में कृष्णनाम-संकीर्तन ही सार (सर्वोत्तम) है।

कृष्णनाम संकीर्त्तन ही युगधर्म—
(श्रीमद्भागवत ११.५.३२)

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥५१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५१। जिनके मुख में सदैव कृष्ण-वर्ण (कृष्ण-कथा, कृष्णमहिमा-वर्णन) है, जिनकी कान्ति अकृष्ण अर्थात् गौर है, उन्हीं अङ्ग, उपाङ्ग, अस्त्र एवं पार्षद से परिवेष्टित महापुरुष का सुबुद्धिमान् जन संकीर्त्तन-प्राय यज्ञ के द्वारा यजन करते हैं।

श्रीजीव (क्रमसन्दर्भ में)—"त्विषा कान्त्या योऽ-कृष्णो गौरस्तं सुमेधसो यजन्ति।" गौरत्वञ्चास्य "आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः। शुकलो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः" इत्यत्र पारिशेष्य प्रमाणलब्धम्। 'इदानीम्' एतदवतारास्पदत्वेनाभिख्याते द्वापरे "कृष्णतां गतः" इत्युक्तेः, शुकलरक्तयोः सत्यत्रेतागतत्वेन दर्शितं पीतस्यातीतत्वं प्राचीन अवतारापेक्षया। अत्र श्रीकृष्णस्य परिपूर्ण-रूपत्वेन वक्ष्यमाणत्वाद् युगावतारत्वम्,—तस्मिन् सर्वेऽप्यवतारा अन्तर्भूता इति तत्तत् प्रयोजनं तस्मिन्नेक-स्मिन्नेव सिद्ध्यतीत्यपेक्षया। तदेवं यद्द्वापरे कृष्णोऽ-वतरति तदैव कलौ श्रीगौरोऽप्यवतरतीति स्वारस्यलब्धेः श्रीकृष्णाविर्भावविशेष एवायं गौर इत्यायाति, तदव्य भिचारात्। तदेतदाविर्भावत्वं तस्य स्वयमेव विशेषण-द्वारा व्यनक्ति। 'कृष्णवर्णं'—कृष्णेत्येतौ वर्णो च यत्र यस्मिन् श्रीकृष्णचैतन्यदेवनाम्नि कृष्णत्वाभिव्यंजकं कृष्णेति-वर्णयुगलं प्रयुक्तमस्तीत्यर्थः; तृतीये श्रीमदुद्धपववाक्ये 'समाहूता' इत्यादि पद्ये 'श्रियः सवर्णेन' इत्यत्र टीकायां—"श्रियो रुक्मिण्याः समानवर्णद्वयं वाचकं यस्य सः, श्रियः सवर्णो रुक्मीत्यपि दृश्यते; यद्वा, कृष्णं वर्णयति तादृश-स्वपरमानन्द विलास-स्मरणोल्लासवशतया स्वयं गायति, परमकारुणिकतया च सर्वेभ्योऽपि लोकेभ्यस्तमेवोप-दिशति यस्तम्; अथवा, स्वयमकृष्णं गौरं त्विषा स्व-शोभाविशेषेणैव कृष्णोपदेष्टारञ्च, यद्दर्शनेनैव सर्वेषां श्रीकृष्णः स्फुरतीत्यर्थः; किंवा, सर्वलोकद्रष्टारं कृष्णं गौरमपि भक्तविशेष दृष्टौ 'त्विषा' प्रकाशविशेषेण कृष्ण-वर्णं, तादृश-श्यामसुन्दरमेव सन्तमित्यर्थः। तस्मात्तस्मिन् श्रीकृष्णरूपस्यैव प्रकाशात् तस्यैवाविर्भावविशेषः स इति भावः। तस्य भगवत्त्वमेव स्पष्टयति—'सांगोपांगास्त्र-पार्षदम्' अंगान्येव परममनोहरत्वादुपांगानि भूषणादीनि, महाप्रभावत्वात्तान्येवास्त्राणि, सर्वदैवैकान्तवासित्वात्ता-न्येव पार्षदाः। बहुभिर्महानुभावैरसकृदेव तथा दृष्टोऽसाविति गौड़वरेन्द्रवंगोत्कलादिदेशीयानां महाप्रसिद्धेः; यद्वा, अत्यन्त प्रेमास्पदत्वात्तत्तुल्या एव पार्षदाः श्रीमदद्वैताचार्यमहा-नुभावचरण-प्रभृतयस्तैः सह वर्तमान मिति चार्थन्तरेण व्यक्तम्। तदेवंभूतं कैर्यजन्ति? यज्ञैः पूजासम्भारैः,—'न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः' इत्युक्तेः। तत्र विशेषेण तमेवाभिधेयं व्यनक्ति, 'संकीर्तनं' बहुभिर्मिलित्वा तद्गान-सुखं श्रीकृष्णगान तत्प्राधानैः, तथा संकीर्त्तन-प्राधान्यस्य तदाश्रितेष्वेव दर्शनात्, स एवात्रभिधेय इति स्पष्टम्। अतएव सहस्त्रनाम्नि तदवतारसूचकानि नामानि कथि-तानि—'सुवर्णवर्णो हेमांगो वरांगश्चन्दनांगदी। संन्यास-कृच्छमः शान्तः इत्येतानि। दर्शितञ्चैतत् परम विद्व-च्छिरोमणिना श्रीसार्वभौमभाचार्येण—'कालान्नष्टं भक्ति-योगं निजं यः प्रादुष्कर्त्तुं कृष्णचैतन्यनामा। आविर्भूत-स्तस्य पादारविन्दे गाढ़ं गाढ़ं लीयतां चित्तभृंगः।'" इति 'सर्वसंवादिन्याम्'।

अनुभाष्य

५१। 'किस युग में, किस प्रकार से भगवान् अवतीर्ण होते हैं?'—निमिराज के इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकरभाजन कलिकाल के अवतारी एवं उनकी भजन-प्रणाली की कथा का वर्णन कर रहे हैं—

सुमेधसः (बुद्धिमन्तः) त्विषा (कान्त्या) अकृष्णं (विद्युद् गौरं शुकलरक्तवर्णद्वयावशेषं तृतीयं पीतवर्णं) कृष्णवर्णं (कृष्णं वर्णयति गायति यः तम्; यद्वा कृष्णेति एतौ वर्णौ च यस्मिन् तं) सांगोपांगास्त्रपार्षदम् (अंगे नित्या-नन्दाद्वैतौ), उपांगानि श्रीवासादिभक्ताः, अस्त्राणि हरि-नामादीनि, पार्षदाः गदाधरदामोदर स्वरूपादयः, तैः सहितं) संकीर्त्तनप्रायैः (बहुभिर्मिलित्वा हरिकथा-नामगानैः) यज्ञैः यजन्ति।

शुन, भाइ, एइ सब चैतन्य-महिमा।
एइ श्लोके कहे ताँर महिमार सीमा॥५२॥

५२। प० अनु०—हे भाईयों! श्रीचैतन्य महाप्रभु की महिमा को श्रवण करो। इस श्लोक के द्वारा उनकी महिमा चरम सीमा तक वर्णन की गयी है।

'कृष्णवर्णं' श्लोक की व्याख्या—

'कृष्ण' एइ दुइ वर्ण सदा याँर मुखे।
अथवा कृष्णके तिहों वर्णे निज सुखे॥५३॥
कृष्णवर्ण-शब्देर अर्थ दुइ त' प्रमाण।
कृष्णविनु ताँर मुखे नाहि आइसे आन॥५४॥
केह ताँर बले यदि कृष्ण-वरण।
आर विशेषणे तारे करे निवाराण॥५५॥
देहकान्त्ये हय तेहों अकृष्ण-वरण।
अकृष्णवरणे ताँर कहे पीतवरण॥५६॥

५३-५६। प० अनु०—'कृष्ण'—ये दो वर्ण सदैव जिनके मुख में विराजमान है अथवा जो आनन्द-पूर्वक श्रीकृष्ण का वर्णन करते हैं। यह दो अर्थ ही कृष्णवर्ण शब्द के प्रमाण हैं। उनके मुख पर श्रीकृष्णनाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं आता है और यदि कोई यह कहे कि जिसका वर्ण कृष्ण हो वही कृष्णवर्ण होता है, तो इसके अर्थ में विशेषण निवारित (बाधा) करता है। देहकान्ति से वे अकृष्ण-वर्ण के हैं। अकृष्णवर्ण से उनका पीतवर्ण समझा जाता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

५५। मूल श्लोक में प्रयुक्त 'कृष्णवर्ण' शब्द से यदि कोई कलियुग के उपास्य पुरुष को 'कृष्ण' कहकर वर्णन करना चाहता है, तो श्लोकस्थ "त्विषाऽकृष्णं", इस अन्य विशेषण के द्वारा उपर्युक्त अर्थ सङ्गत नहीं होता।

(स्तवमाला में श्रीचैतन्यदेव के द्वितीयस्तव का प्रथम श्लोक)

कलौ यं विद्वांसः स्फुटमभियजन्ते द्युतिभरा-
दकृष्णांगं कृष्णं मरवविधिभिरुत्कीर्त्तनमयैः।
उपास्यञ्च प्राहुर्यमखिलचतुर्थाश्रमजुषां
स देवश्चैतन्याकृतिरतितरां नः कृपयतु॥५७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५७। श्रीराधिका की भावरूपी द्युति की अतिशयता से अकृष्ण अर्थात् गौररूप-प्राप्त श्रीकृष्ण का कीर्तनमय यज्ञ के द्वारा विद्वान व्यक्ति कलिकाल में स्पष्टरूप से अभियजन (भजन) किया करते हैं। वे संन्यास के अन्तर्गत पारमंहस्यरूप चतुर्थ आश्रमसेवियों के लिये एकमात्र उपास्यतत्त्व हैं। वही चैतन्याकृति परमपुरुष हमारे प्रति यथेष्ट कृपा करें।

अनुभाष्य

५७। विद्वांसः (पण्डिताः) स्फुटं (स्पष्ट) द्युतिभरात् (कान्त्याधिक्यात्) अकृष्णांगं (गौरं पीतवर्णं) कृष्णं उत्कीर्तनमयैः (उच्चैः कीर्त्तनाख्यभक्त्यवलम्बनैः) मख-विधिभिः (नामयज्ञविधानैः) कलौ अभियजन्ते, यं च अखिलचतुर्थाश्रमजुषां (सकलभिक्षूणाम्) उपास्यं (पूज्य) प्राहुः, स चैतन्याकृतिः देवः नः (अस्मान्) अतितरां (अतिशयेन) कृपयतु।

ब्रह्मज्योति से तमोनाश—

प्रत्यक्ष ताँहार तप्तकांचनेर द्युति।
याँहार छटाय नाशे अज्ञान-तमस्तुति॥५८॥
जीवेर कल्मष-तमो नाश करिबारे।
अंग-उपांग-नाम नाना अस्त्र धरे॥५९॥

५८-५९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की अङ्ग कान्ति तप्तकाञ्चन अर्थात् तप्त-सुवर्ण की भाँति पीतवर्ण की प्रत्यक्ष देखी जाती है। जिसकी छटा से अज्ञानरूप अन्धकार की विस्तृति का नाश होता है। वे जीवों के पापरूप अन्धकार को विनाश करने के लिए अङ्ग, उपाङ्ग और नामरूप अनेक प्रकार के अस्त्रसमूह धारण करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

५८। तमस्तुति—अज्ञानरूप अन्धकार की विस्तृति।

तमः अथवा कल्पष की संज्ञा—

भक्तिर विरोधी कर्म, धर्म वा अधर्म।
ताहार 'कल्मष' नाम, सेइ महातमः॥६०॥

बाहु तुलि' हरि बलि' प्रेमदृष्टये चाय।
करिया कल्मष नाश प्रेमेते भासाय॥६१॥

६०-६१। प० अनु०—सभी कर्म, धर्म अथवा अधर्म, भक्ति के विरोधी होने से 'कल्मष' कहलाते हैं। यह कल्मष अज्ञानरूपी महा अन्धकार है। श्रीचैतन्य महाप्रभु भुजाओं को ऊपर उठाकर हरि उच्चारण करते हुए प्रेम भरी दृष्टि से देखकर समस्त कल्मषों को नाश कर प्रेम-सागर में डुबा देते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

६०। धर्म हो या अधर्म हो, जब कोई कर्म भक्ति का विरोधी बन जाता है, तब उसे 'कल्मष' कहते हैं—वही महान्धकार है।

(स्तवमाला में श्रीचैतन्यदेव के
द्वितीयस्तव का आठवाँ श्लोक)

स्मितालोकः शोकं हरति जगतां यस्य परितो।
गिरान्तु प्रारम्भः कुशलपटलीं पल्लवयति॥
पदालम्भः कं वा प्रणयति न हि प्रेमनिवहं।
स देवश्चैतन्याकृतिरतितरां नः कृपयतु॥६२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६२। जिनकी हास्ययुक्त दृष्टि जगत् के शोक को सम्पूर्णरूप से दूर करती है, जिनका वचन आरम्भ होते ही कुशलसमूह की वल्लीरूप भक्तिलता को पल्लवित करता है एवं जिनके चरणों का आश्रय समस्त प्रेमरहस्यों का प्रणयन करते हैं, वही चैतन्याकृति परमपुरुष हमारे प्रति प्रचुर कृपा करें।

अनुभाष्य

६२। यस्य (चैतन्यदेवस्य) स्मितालोकः (मन्दहास-कटाक्षः) जगतां (सर्वप्राणिनां) परितः (सर्वतोभावेन) शोकं (अभाव) हरति (विनाशयति), गिरां प्रारम्भः (वाक्-योपक्रमः) तु कुशलपटलीं (कल्याणमाला) पल्लवयति (विस्तारयति), पदालम्भः (चरणाश्रयः) कं वा प्रेमनिवहं (प्रेमसकल) न हि प्रणयति (प्रापयति) सः चैतन्याकृतिः देवः नः (अस्मान्) अतितरां कृपयतु।

गौरदर्शन से पापक्षय एवं प्रेम की प्राप्ति—

श्रीअंग, श्रीमुख येइ करे दरशन।
तार पापक्षय हय, पाय प्रेमधन॥६३॥

६३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीअङ्ग एवं श्रीमुख का जो दर्शन करते हैं, उनके पाप क्षय हो जाते हैं तथा उन्हें प्रेमधन की प्राप्ति होती है।

अन्यान्य अवतारों में अस्त्र एवं सैन्यसामन्त
(सेना के साथ अधीनस्थ भूपतिसमूह);
किन्तु गौरावतार में भक्त एवं संकीर्त्तन—

अन्य अवतारे सब सैन्य-शस्त्र संगे।
चैतन्य-कृष्णेर सैन्य अंग-उपांगे॥६४॥

६४। प० अनु०—अन्यान्य सभी अवतार सैन्य और शास्त्र के साथ अवतीर्ण होते हैं परन्तु श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के अङ्ग और उपाङ्ग ही उनके सैन्य हैं।

(स्तवमाला के प्रथम चैतन्याष्टक का प्रथम श्लोक)

सदोपास्यः श्रीमान् धृतमनुजकायैः प्रणयितां
वहद्भिर्गीर्वाणैर्गिरिशपरमेष्ठि प्रभृतिभिः।
स्वभक्तेभ्यः शुद्धां निजभजनमुद्रामुपदिशन्
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्॥६५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६५। मानवशरीरधारी शिव-ब्रह्मादि देवताओं के प्रणय-गृहीत श्रीचैतन्यदेव सभी जीवों के सदा उपास्य हैं। अपने भक्तवृन्द को विशुद्ध स्वभजनमुद्रा का उपदेश करते हुए वही चैतन्यदेव क्या फिर मेरे नयन के गोचरीभूत होंगे?

अनुभाष्य

६५। प्रणयितां वहद्भिः (स्वानुरागपोषणपरैः) धृत-मनुजकायैः (गृहीतनरशरीरैः) गिरिशपरमेष्ठि प्रभृतिभिः (शिव-चतुर्मुखादिभिः) गीर्वाणैः (देवैः) सदा (नित्य) उपास्यः (पूज्यः) स्वभक्तेभ्यः (स्वरूप-रामानन्दादि-निज-जनेभ्यः) शुद्धां (निर्मलाम् अन्याभिलाषिताहीनां कर्मज्ञानाद्यनावृता) निजभजनमुद्रां (स्वभजनपरिपाटि) उपदिशन् स चैतन्यः किं पुनः अपि मे (मम) दृशोः पदं यास्यति (प्राप्स्यति)?

अंगोपांग अस्त्र करे स्वकार्यसाधन।
'अंग'-शब्देर अर्थ आर शुन दिया मन॥६६॥
'अंग'-शब्दे अंश कहे शास्त्र-परमाण।
अंगेर अवयव 'उपांग'-व्याख्यान॥६७॥

६६-६७। प० अनु०—अङ्ग और उपाङ्ग अपना-अपना कार्य करते हैं। 'अङ्ग'-शब्द का एक और अर्थ है, एकाग्रचित्त होकर सुनिये! शास्त्र प्रमाणानु- सार 'अङ्ग'-शब्द का अर्थ अंश होता है। अङ्ग के अंश को 'उपाङ्ग' कहते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

६७। अङ्ग-शब्द के पहले किए गये अर्थ के अतिरिक्त एक और अर्थ है; यथा— अङ्ग-शब्द से अंश। परमाण—प्रमाण। अङ्ग का अवयव उपाङ्ग है।

(श्रीमद्भागवत १०.१४.१४)
नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनाम्
आत्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी।
नारायणोऽगं नरभूजलायना-
त्तच्चापि सत्यं न तवैव माया॥६८॥

अनुभाष्य

६८। आदि, २य परिच्छेद ३० संख्या द्रष्टव्य है।

अस्यार्थः—
जलशायी अन्तर्यामी येइ नारायण।
सेहो तोमार अंश, तुमि मूल नारायण॥६९॥
'अंग'-शब्दे अंश कहे, सेहो सत्य हय।
मायाकार्य नहे—सब चिदानन्दमय॥७०॥

६९-७०। प० अनु०—जल में वास करने वाले एवं सभी जीवों के हृदय में वास करने वाले अन्तर्यामी, जो नारायण हैं, वह भी आप ही के अंश हैं। आप ही मूल नारायण हैं। अङ्ग-शब्द का अर्थ अंश होता है, यह सत्य है इसलिए नारायण, श्रीकृष्ण के अंश होने से मायिक नहीं है परन्तु चिदानन्दमय है।

अमृतप्रवाह भाष्य

७०। अङ्ग-शब्द से अंशरूप कारणाब्धिशायी आदि तीन पुरुष। वे सब चिदानन्दमय, सत्यस्वरूप ईश्वर हैं—मायानिर्मित तत्त्व नहीं हैं। अतएव श्रीअद्वैत एवं श्रीनित्यानन्द—ये दोनों श्रीमन् महाप्रभु के दो अङ्ग हैं।

अनुभाष्य

७०। जिस प्रकार माया के राज्य में माया के द्वारा वस्तु खण्डित होकर अंश बन जाती है, उसी प्रकार विष्णुतत्त्व में मायावशयोग्यता न रहने के कारण वे अंश होने पर भी विष्णुत्व में अथवा वस्तुत्व में खण्डित नहीं होते। दीप के उदाहरण में जैसे दिखाई देता है कि, मूल-दीप से अन्य दीप उदित (प्रज्ज्वलित) होने पर भी जैसे वस्तुत्व में पार्थक्य नहीं है, उसी प्रकार स्वयंरूप कृष्ण के स्वयंप्रकाश अथवा विलासरूप बलदेव से यावतीय विष्णुतत्त्वों का अविर्भाव—परस्पर के बीच लीलाभेद रहने पर भी वे सब वस्तुतः अभिन्न हैं। परन्तु मायावश-योग्यता से विभिन्नांश ब्रह्मा एवं शिव ने विकार-योग्यता को प्राप्त किया है। वही चिदानन्दमय सभी विष्णुतत्त्व मायाधीश हैं—उन सबके ऊपर माया की कार्यकारिता नहीं है। उनसे अलग तत्त्व के ऊपर माया की क्रियाएँ हैं। दही जैसे दूध की परिणति है, शम्भु-तत्त्वादि भी उसी प्रकार है।

दो सेनापति—
अद्वैत, नित्यानन्द—चैतन्येर दुइ अंग।
अंगेर अवयवगण कहिये उपांग॥७१॥
अंगोपांग तीक्ष्ण अस्त्र प्रभुर सहिते।
सेइ सब अस्त्र हय पाषण्ड दलिते॥७२॥

७१-७२। प० अनु०—श्रीअद्वैत और श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीचैतन्य महाप्रभु के दो अङ्ग हैं तथा अङ्ग के अवयवसमूह को उपाङ्ग कहते हैं। अङ्ग और उपाङ्ग रूप तीक्ष्ण अस्त्र प्रभु के साथ मिलकर पाषण्ड-दलन का कार्य करते है।

अनुभाष्य

७२। पाषण्ड—जो लोग मायाधीश विष्णुतत्त्व के साथ मायावश शिवाादितत्त्व को समान मानते है। वह भगवल्लीला की नित्यता की उपलब्धि न करके नित्य भक्तितत्त्व को भी काल के द्वारा खण्डित एवं अनित्य कर्ममात्र समझते हैं; इस प्रकार के पाषण्डियों की दुर्बुद्धि के अपनोदन-हेतु विष्णु एवं उनके निज जन प्रयासरत हैं।

दोनों विष्णु ही
दो सेनाध्यक्ष—

नित्यानन्द गोसाञि साक्षात् हलधर।
अद्वैत आचार्य गोसाञि साक्षात ईश्वर॥७३॥

७३। प॰ अनु॰—श्रीनित्यानन्द गोसाईं साक्षात् हल-धर, (श्रीबलदेव प्रभु) तथा श्रीअद्वैताचार्य गोसाईं साक्षात् ईश्वर हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

७३। अर्थात् वे (अद्वैताचार्य) साक्षात् महाविष्णु के अवतार हैं।

भक्तवृन्द ही सैन्य, और कृष्णकीर्त्तन ही अस्त्र—

श्रीवासादि पारिषद सैन्य संगे लञा।
दुइ सेनापति बुलेन कीर्त्तन करिया॥७४॥
पाषण्डदलनवाना नित्यानन्द राय।
आचार्य-हुँकारे पाप-पाषण्डी पलाय॥७५॥

७४-७५। प॰ अनु॰—श्रीवासादि पार्षद सेनाओं को साथ लेकर दोनों सेनापति कीर्तन करते हुए परिभ्रमण करते हैं। श्रीनित्यानन्दराय पाषण्डियों का दलन करनेवाले हैं। श्रीअद्वैत आचार्य की हुँकार से पाप और पाखण्डी भाग जाते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

७५। वाना—चिह्न, तुरीभेरी की भाँति एक प्रकार का यन्त्र, जिसके द्वारा पाषण्ड-दलन-चिह्न प्रकाशित होता है।

कृष्णकीर्त्तन के
पिता श्रीगौरसुन्दर—

संकीर्त्तन-प्रवर्त्तक श्रीकृष्णचैतन्य।
संकीर्त्तन-यज्ञे ताँरे भजे, सेइ धन्य॥७६॥

७६। प॰ अनु॰—श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ही संकीर्तन के प्रवर्त्तक हैं। जो व्यक्ति संकीर्त्तन-यज्ञ के द्वारा उनका भजन करते हैं, वे धन्य हैं।

पुत्र के आदर में पितृतोषण
की भाँति कृष्णकीर्त्तन में गौरप्रीति—

सेइ त' सुमेधा, आर कुबुद्धि संसार।
सर्व-यज्ञ हैते कृष्णनामयज्ञ सार॥७७॥

७७। प॰ अनु॰—जो संकीर्त्तन द्वारा श्रीचैतन्य महाप्रभु का भजन करते हैं, वह बुद्धिमान हैं और उनके अतिरिक्त सब कुबुद्धि सम्पन्न हैं, क्योंकि सभी यज्ञों में कृष्णनाम यज्ञ ही सर्वोत्तम है।

जड़कर्म के साथ
श्रीनामप्रभु की
समताज्ञान पाषण्डता—

कोटि अश्वमेध एक कृष्ण नाम सम।
येइ कहे, से पाषण्डी, दण्डे तारे यम॥७८॥
'भागवतसन्दर्भ'—ग्रन्थेर मंगलाचरणे।
ए-श्लोक जीवगोसाञि करियाछेन व्याख्याने॥७९॥

७८-७९। प॰ अनु॰—जो कहते हैं कि, कोटि अश्वमेध-यज्ञ एक कृष्णनाम के समान है, वे पाषण्डी हैं; उन्हें यम दण्डित करते हैं। श्रीजीव गोस्वामी ने 'भागवत सन्दर्भ'—ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में इस श्लोक (कृष्णवर्ण) की व्याख्या की है।

अमृतप्रवाह भाष्य

७७-७८। जो संकीर्त्तनयज्ञ के द्वारा श्रीकृष्णचैतन्य का भजन करते हैं, वही सुमेधा अर्थात् सुबुद्धि हैं, और इस संसार में जो लोग उनका वैसे भजन नहीं करते, वे सब नितान्त मन्दबुद्धि हैं। कृष्णनाम यज्ञ सभी यज्ञों का सार है। कोटि अश्वमेध-यज्ञ के साथ एक कृष्णनाम

की तुलना नहीं हो सकती। जो व्यक्ति इनको समान समझते हैं, वे पाषण्डी हैं एवं यम उन्हें दण्ड देते हैं।

अनुभाष्य

७८। "धर्मव्रतत्यागहुतादि-सर्वशुभक्रिया-साम्यमपि प्रमादः।" यह अष्टम नामापराध सर्वतोभावेन वर्जनयोग्य है। "गोकोटिदानं ग्रहणे खगस्य, प्रयाग-गंगोदक-कल्प-वासः। यज्ञायुतं मेरुसुवर्णदानं, गोविन्दकीर्त्तेर्न समं शतांशैः।"

तत्त्वसन्दर्भ का द्वितीय श्लोक

अन्तः कृष्णं बहिर्गौरं दर्शितांगादिवैभवम्।
कलौ संकीर्त्तनाद्यैः स्म कृष्णचैतन्यमाश्रिताः॥८०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८०। अङ्ग-उपाङ्गादि वैभव-लक्षित, भीतर से साक्षात् कृष्ण, बाहर से गौरस्वरूप श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु का कलियुग में हम संकीर्त्तनादि अङ्गों के द्वारा आश्रय करते हैं।

अनुभाष्य

८०। श्रीजीव गोस्वामी ने "कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं" श्लोक 'भागवत-सन्दर्भ' या 'षट्सन्दर्भ' के मङ्गलाचरण में लिखा है। उन्होंने इसी श्लोक के अनुरूप अपना श्लोक लिखा है—'अन्तः कृष्णं बहिर्गौरं'—यह श्लोक मङ्गलाचरण का द्वितीय-श्लोक है एवं श्रीमद्भागवत में उल्लिखित श्रीकरभाजन के श्लोक की व्याख्या-मात्र है। षट्सन्दर्भ की अनुव्याख्या 'सर्वसंवादिनी'-ग्रन्थ के आदि में इसका तात्पर्य वर्णित हुआ है।

अन्तः कृष्णं (अन्तर्मध्ये चित्ताभ्यन्तरे कृष्णो यस्य तं, राधाहृदयभावेन आवृतकृष्णहृद्गत-नागरभावं) बहिर्गौरं (देह-कान्तिकिरणैः पीतवर्णविग्रहं) दर्शितांगादिवैभवं (दर्शितं प्रकटितं अंगोपांगास्त्रपार्षदवैभवं येन तं) कृष्ण-चैतन्यं कलौ संकीर्त्तनाद्यैः (नामकीर्त्तनयज्ञाद्यैः) वयम् आश्रिताः स्म।

उपपुराणेह शुनि श्रीकृष्णवचन।
कृपा करि व्यास प्रति करियाछेन कथन॥८१॥

८१। प० अनु०—उपपुराण में श्रीकृष्ण के वचन सुनने में आते हैं, जो उन्होंने कृपाकर श्रीव्यास के प्रति कहे थे।

उपपुराण में

अहमेव क्वचिद्ब्रह्मन् सन्यासाश्रममाश्रितः।
हरिभक्तिं ग्राहयामि कलौ पापहतान्नरान्॥८२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८२। हे ब्रह्मन्! किसी विशेष कलियुग में मैं संन्यास आश्रम ग्रहण कर पापहत मानव-समूह को हरिभक्ति प्रदान करूँगा।

अनुभाष्य

८२। किसी उपपुराण में यह श्लोक दिखाई देता है,—हे ब्रह्मन्, अहं (भगवान्) एव क्वचित् कलौ (वैवस्त मन्वन्तरे अष्टाविंशचतुर्युगीयकलियुगे प्रथमसन्ध्यायां) सन्यासाश्रमं (तुर्याश्रमं) आश्रितः सन् (अवलम्ब्य) पापहतान् नरान् हरिभक्तिं ग्राहयामि (दास्यामि)।

गौरसुन्दर के स्वयं भगवत्ता के विषय में शब्द-प्रमाण—

भागवत, भारतशास्त्र, आगम, पुराण।
चैतन्य-कृष्ण-अवतार-प्रकट प्रमाण॥८३॥

८३। प० अनु—श्रीमद्भागवत, भारतशास्त्र (महा-भारत), आगम और पुराणों में प्रमाणित हुआ है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ही साक्षात् श्रीकृष्ण के अवतार हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

८३। श्रीमद्भागवतम् में "कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं," "आसन् वर्णास्त्रयः," "छन्नः कलौ" आदि वाक्यों के अनुसार, महाभारत के "सम्भवामि युगे युगे," "संन्यास-कृत् शमः शान्तः" आदि वचनों से, "महान् प्रभुर्वैपुरुषः," यदा पश्यः पश्यति रुक्मवर्णं" आदि वेदवाक्य में, "माया-पुरे भविष्यामि शचीसुतः" आदि आगमानुगत अनेक तन्त्रवचनानुसार एवं "अहमेव" इत्यादि उपपुराण वाक्य में प्रमाणित हुआ है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ही साक्षात् श्रीकृष्ण के अवतार हैं।

अनुभाष्य

८३। आदि, द्वितीय परिच्छेद २२ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण—

प्रत्यक्षे देखह नाना प्रकट प्रभाव।
अलौकिक कर्म, अलौकिक अनुभाव॥८४॥

८४। प० अनु०—अनेक व्यक्तियों ने नाना प्रकार के प्रत्यक्ष प्रभाव, अलौकिक कर्म एवं अलौकिक अनुभावों को स्वयं देखा है।

अनुभाष्य

८४। श्रीमन् महाप्रभु का लीलासामर्थ्य, उनके लोकातीत आचरण एवं लोकातीत महिमप्रभाव-वैचित्र्य को स्वयं निज-इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षरूप से देखने पर भी शास्त्रों के लक्ष्य गौर महाप्रभु का कृष्णत्व समझ में आता है।

अधोक्षज-तत्त्व भोगचक्षु के दृश्य नहीं—

देखिया ना देखे यत अभक्तेर गण।
उलुके ना देखे येन सूर्येर किरण॥८५॥

८५। प० अनु०—जो अभक्त हैं, वे उनके प्रभाव को देखकर भी नहीं देख पाते, जैसे उल्लू सूर्यकिरण को नहीं देख पाता।

अमृतप्रवाह भाष्य

८५। उल्लू—दिवान्धपेचक विशेष अर्थात् दिन में नहीं देख पाने वाला प्राणी। उल्लू सूर्यकिरणों को देखने में असमर्थ होने से सूर्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता।

आलवन्दारु यमुनाचार्य-कृत
स्तोत्ररत्न में १५ वाँ श्लोक

त्वां शीलरूपचरितैः परमप्रकृष्टैः
सत्त्वेन सात्त्विकतया प्रबलैश्च शास्त्रैः।
प्रख्यातदैवपरमार्थविदां मतैश्च
नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुम्॥८६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८६। हे भगवन्! आपके अवतार के तत्त्वज्ञ परमार्थ-विद् व्यासादि भक्तवृन्द प्रबल सात्त्विक शास्त्रों के द्वारा आपके शील, रूप, चरित्र एवं परम सात्त्विकभाव को लक्ष्य करके आपको जान पाते हैं, किन्तु राजस एवं तामस-गुणिविशिष्ट असुर-प्रकृतिवाले जीव आपको जानने में असमर्थ हैं।

अनुभाष्य

८६। श्रीरामानुजाचार्य के गुरु एवं परमगुरु श्रीयामुनाचार्य, जिनका दूसरा नाम आलवन्दारु है, वे अपने द्वारा रचित स्तोत्र-रत्न के १५श एवं १८वें श्लोकों में भगवान् की महिमा एवं ऐश्वर्य का वर्णन कर रहे हैं,—

हे भगवन्, परमप्रकृष्टैः (सर्वोत्कृष्टतमैः) शीलरूप-चरितैः (शीलं रूपाणि च चरितानि च तैः) सत्त्वेन (अलौकिक प्रभावेण) सात्त्विकतया (सत्त्वप्रधानतया) प्रबलैः शास्त्रैः प्रख्यातदैवपरमार्थविदां (प्रसिद्धं दैवं परमार्थञ्च विदन्ति ये तेषा) मतेश्च आसुर प्रकृतयः (दुर्वृत्ताः भक्तद्रोहिणः) त्वां बोद्धुं (ज्ञातु) न समर्थाः भविन्त।

किन्तु भक्तों के प्रेम से अजित
जित, वैकुण्ठ परिमेय—

आपना लुकाइते कृष्ण नाना यत्न करे।
तथापि ताँहार भक्त जानये ताँहारे॥८७॥

८७। प० अनु०—अपने को छिपाने के लिये श्रीकृष्ण अनेक यत्न करते हैं। फिर भी उनके भक्त उन्हें पहचान लेते हैं।

आलवन्दारु यामुनाचार्य-कृत
स्तोत्ररत्न में १८वाँ श्लोक

उल्लंघितत्रिविधसीमसमातिशायी-
सम्भावनं तव परिव्रढिमस्वभावम्।
मायाबलेन भवतापि निगुह्यमानं
पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः॥८८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८८। हे भगवन्! देश, काल एवं चिन्ता—इन्हीं तीन सीमाओं के द्वारा सभी वस्तु समूह आबद्ध हैं, किन्तु आपका गूढ़स्वभाव सम एवं अतिशय शून्य होने के कारण उक्त तीनों सीमाओं का अतिक्रमण करके विद्यमान है। मायाबल के द्वारा आप इस स्वभाव को आच्छादित करते हैं, परन्तु आपके अनन्य-भक्त सदैव आपके दर्शन करने योग्य होते हैं।

अनुभाष्य

८८। उल्लंघित-त्रिविध-सीम-समातिशायी-सम्भा-वनं (उल्लंघिता अतिक्रान्ता त्रिविधानां देशकाल- द्रव्याणां सीमा समा अतिशायिनी च सम्भावना च येन त) भवता (मायाबलेन) (स्वयोगमायासामर्थ्येन) निगुह्यमानं अति तव परिव्रढिमस्वभावम् (परिव्रढिम्नः प्रभुत्वस्य स्वभावं स्वरूप) केचित् त्वदनन्यभावाः (त्वयि अनन्यभावाः एकान्तभक्ताः) अनिशं (निरन्तर) पश्यन्ति।

अधोक्षज-तत्त्व—भक्ति के द्वारा प्राप्त, अक्षजज्ञानगम्य नहीं—

असुरस्वभाव कृष्णे कभु नाहि जाने।
लुकाइते नारे कृष्ण भक्तजन-स्थाने॥८९॥

८९। प० अनु—असुरस्वभाव व्यक्ति श्रीकृष्ण को कभी नहीं जान सकते तथा भक्तजनों के निकट श्रीकृष्ण अपने आपको छिपा नहीं सकते।

पद्मपुराण में—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
विष्णुभक्त स्मृतो देव आसुरस्तद्विपर्ययः॥९०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९०। इस लोक में 'दैव' एवं 'आसुर' भेद से दो प्रकार की भूतसृष्टि (प्राणियों की सृष्टि) होती है। विष्णु-भक्त 'दैव' हैं एवं जो विष्णुभक्त नहीं है, वे सब उसके विपरीत अर्थात् आसुर स्वभाव वाले हैं।

अनुभाष्य

९०। अस्मिन् लोके दैवः आसुरश्च एव द्वौ भूतसर्गौ (प्राणिसृष्टी)—विष्णुभक्तः (हरिजनः) दैवः स्मृतः, तद्वि-पर्ययः (मायाभोगनिरतः) आसुरः (प्रकृतिजनः) एव।

भक्तावतार होने के कारण ही (अद्वैत) आचार्य का गौरावतारण-सामर्थ्य—

आचार्य गोसाञि प्रभुर भक्त-अवतार।
कृष्ण-अवतार हेतु याँहार हुँकार॥९१॥

९१। प० अनु—आचार्य गोसाञि (श्रीअद्वैताचार्य) प्रभु के भक्तावतार हैं, जिन्होंने श्रीकृष्ण को अवतरित कराने के लिए हुँकार की।

स्वयंरूप अवतार से पहले गुरुवर्गरूप सेवकगण का प्राकट्य—

कृष्ण यदि पृथिवीते करेन अवतार।
प्रथमे करेन गुरुवर्गेर संचार॥९२॥
पिता माता गुरु आदि यत मान्यगण।
प्रथमे करेन सबार पृथिवीते जनम॥९३॥
माधव-ईश्वर-पुरी, शची, जगन्नाथ।
अद्वैत आचार्य प्रकट हैला सेइ साथ॥९४॥

९२-९४। प० अनु—श्रीकृष्ण जब पृथ्वी पर अव-तीर्ण होते हैं, तब पहले गुरुवर्गों को प्रकटित कराते हैं। पिता, माता, गुरु आदि जितने भी माननीय जन हैं, सबका जन्म पहले ही पृथ्वी पर करा देते हैं। इसी कारण श्रीमाधवपुरी, श्रीईश्वरपुरी, श्रीशचीदेवी, श्रीजगन्नाथ मिश्र, श्रीअद्वैताचार्यादि श्रीचैतन्य महाप्रभु से पहले प्रक-टित हुए।

अवतरित होने से पहले उस समय के सामाज की अवस्था—

प्रकटिया देखे आचार्य सकल संसार।
कृष्णभक्तिगन्धहीन विषय-व्यवहार॥९५॥

९५। प० अनु—प्रकटित होकर श्रीअद्वैताचार्य ने देखा कि जगत् के लोगों में कृष्णभक्ति की गन्धमात्र भी नहीं है एवं सारा संसार विषय-व्यवहार में ही मत्त हो रहा है।

पुण्यवान एवं पापात्मा,
दोनों ही विषयभोगी
अथवा भवरोगी—

केह पापे, केह पुण्ये करे विषय-भोग।
भक्तिगन्ध नाहि, याते याय भवरोग॥९६॥

९६। प॰ अनु॰—कोई पाप के द्वारा, तो कोई पुण्य के द्वारा विषयभोग कर रहे हैं। परन्तु किसी में भी भक्ति की गन्धमात्र नहीं है, जिससे भवरोग दूर हो जाता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

९२-९६। साक्षात् भगवान् अवतीर्ण होने से पहले ही गुरुवर्ग का संचार अर्थात् पृथ्वी पर जन्मग्रहण करवाते हैं। अन्यान्य गुरुवर्ग के साथ श्रीमाधवेन्द्रपुरी, श्रीईश्वरपुरी, श्रीशची, श्रीजगन्नाथ, श्रीअद्वैताचार्य प्रकटित हुए। श्रीआचार्य ने प्रकटित होकर देखा कि सारा संसार पाप-पुण्य से जड़ा हुआ है एवं कृष्णभक्तिहीन है। जीवसमूह विषय भोग कर रहे हैं, किन्तु जिससे भवरोग दूर होता है, उस कृष्णभक्ति को उसके साथ-ही-साथ पालन नहीं करते।

आचार्य की जीवों के
प्रति दया-विषयक चिन्ता—

लोकगति देखि' आचार्य करुण-हृदय।
विचार करेन, लोकेर कैछे हित हय॥९७॥
आपनि श्रीकृष्ण यदि करेन अवतार।
आपने आचरि' भक्ति करेन प्रचार॥९८॥
नाम बिनु कलिकाले धर्म नाहि आर।
कलिकाले कैछे हबे कृष्ण अवतार॥९९॥

९७-९९। प॰ अनु॰—लोगों की ऐसी गति देखकर करुण-हृदय श्रीअद्वैताचार्य उनके कल्याण के विषय में विचार करने लगे। यदि श्रीकृष्ण स्वयं अवतीर्ण होकर भक्ति का आचरण-पूर्वक प्रचार करें, तो जीवों का कल्याण हो सकता है। कलियुग में नाम के बिना और कोई धर्म नहीं है। कलिकाल में श्रीकृष्ण कैसे अवतीर्ण हों?

शुद्ध सेवा के प्रभाव से
ही श्रीकृष्ण का अवतरण—

शुद्धभावे करिब कृष्णेर आराधन।
निरन्तर सदैन्ये करिब निवेदन॥१००॥

१००। प॰ अनु॰—(श्रीअद्वैताचार्य विचार कर रहे हैं) मैं शुद्धभाव से श्रीकृष्ण की आराधना करूँगा और निरन्तर दीनता-पूर्वक उनसे प्रार्थना करूँगा।

विष्णु के द्वारा ही विष्णु का
अवतारण होने से उनका नाम अद्वैत—

आनिया कृष्णेरे करों कीर्तन संचार।
तबे से 'अद्वैत' नाम सफल आमार॥१०१॥
कृष्ण वश करिबेन कोन् आराधने।
विचारिते एक श्लोक आइल ताँर मने॥१०२॥

१०१-१०२। प॰ अनु॰—यदि श्रीकृष्ण को लाकर उन्हीं के द्वारा कीर्त्तन का संचार करूँ तभी मेरा 'अद्वैत' नाम सफल होगा। परन्तु किस प्रकार की आराधना से श्रीकृष्ण को वशीभूत कर सकता हूँ, ऐसा विचार करते समय उनके मन में एक श्लोक आया।

भक्त के आत्मनिवेदन में ही अजित की पराजय—
विष्णुधर्म-वचन एवं गौतमीय-तन्त्र-वाक्य—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्त वत्सलः॥१०३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१०३-१०४। तुलसीदल एवं चुल्लूभर जल भक्ति-पूर्वक अर्पण करने पर श्रीकृष्ण भक्तवात्सल्य-वशतः भक्त के निकट बिक जाते हैं।

किसी-किसी पाठ में निम्नलिखित दो श्लोक दिखाई देते हैं—

"साग्रजं तुलसीपत्रं द्विदलं क्षुद्रमेव च।
मञ्जरी सा तु विख्याता प्रशस्ता कृष्णपूजने॥
यथा राधा प्रिया विष्णोस्तथा च मंजरी हरेः।
तस्माद् दद्यात् प्रयत्नेन चन्दनेन तु मिश्रिताम्॥"

श्रीकृष्ण को जो जल-तुलसी समर्पित करते हैं, उनका ऋण चुकाने में असमर्थ होकर श्रीकृष्ण उसके स्थान पर अपने स्वरूप अर्थात् देकर ऋण चुकाते हैं। अतएव श्रीअद्वैताचार्य अपने आपको श्रीकृष्ण के साक्षात् स्वरूप को अवतीर्ण कराने के लिये तुलसी मञ्जरी और गङ्गा-जल को श्रीकृष्ण के पादपद्म में अर्पित करने लगे।

अनुभाष्य

१०३। भक्तवत्सलः (निजजनरतः भगवान्) तुलसी-दलमात्रेण (चन्दनमन्त्रादिकं विना केवल तुलसीपत्रेण) जलस्य चुलुकेन (गंडूषेण) वा भक्तेभ्यः आत्मानं विक्री-णीते (तदायत्तं करोति)।

एइ श्लोकार्थ आचार्य करने विचारण।
कृष्णे तुलसीजल देय येइ जन॥१०४॥
तार ऋण शोधिते कृष्ण करेन चिन्तन।
'जल-तुलसीर सम किछु घरे नाहि धन'॥१०५॥
तबे आत्मा वेचि' करे ऋणेर शोधन।
एत भावि' आचार्य करेन आराधन॥१०६॥
गंगाजले तुलसीमंजरी अनुक्षण।
कृष्णपादपद्म भावि' करे समर्पण॥१०७॥
कृष्णेर आह्वान करे करिया हुँकार।
एमते कृष्णेर कराइल अवतार॥१०८॥

१०४-१०८। प॰ अनु॰—(श्रीअद्वैताचार्य इस श्लोक के अर्थ पर विचार करने लगे—)"जो व्यक्ति श्रीकृष्ण को तुलसी-जल अर्पण करता है, उसका ऋण चुकाने के लिये श्रीकृष्ण चिन्ता करते हैं कि 'जल-तुलसी के समान घर में कुछ भी धन नहीं है' इसलिए श्रीकृष्ण अपने को ही बेचकर ऋण चुकाते हैं। यह सोचकर आचार्य आराधना करने लगे। श्रीकृष्ण के पादपद्म का चिन्तन करते हुए अनुक्षण गङ्गाजल और तुलसी मञ्जरी समर्पित करने लगे और हुँकार-पूर्वक श्रीकृष्ण को आह्वान करने लगे। इस प्रकार श्रीआचार्य ने श्रीकृष्ण को अवतीर्ण कराया।

कृष्णप्रेम वितरणरूप भक्त की इच्छा
के पूरणार्थ ही स्वयं कृष्ण की गौरलीला—

चैतन्येर अवतारे एइ मुख्य हेतु।
भक्तेर इच्छाय अवतरे धर्मसेतु॥१०९॥

१०९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य के अवतार का यही मुख्य कारण है कि भक्तों की इच्छा से धर्म के सेतु स्वरूप भगवान् अवतरित होते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०९। धर्म के सेतुस्वरूप श्रीकृष्ण भक्तों की इच्छा से अवतीर्ण होते हैं। परमभक्त श्रीअद्वैताचार्य की प्रार्थना से श्रीचैतन्य महाप्रभु का अवतार हुआ है।

(श्रीमद्भागवत ३.९.११)

त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज
आससे श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥११०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

११०। ब्रह्मा ने कहा,—हे नाथ, आप भक्तों के श्रवण-पथ एवं नयनपथ पर सदैव विहार करते हैं। भक्तियोगपूत उनके हृदयकमल में आप सदैव वास करते हैं। हे उरु-गाय, भक्तवृन्द अपने हृदय में आपके जिस नित्य स्वरूप की भावना करते हैं, उन सबके प्रति अनुग्रह-प्रकाश कर आप उसी अनुरूप स्वरूप को प्रकटित करते हैं।

तृतीय परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

११०। ब्रह्मा तपस्या के द्वारा भगवान् के दर्शन एवं कृपा को प्राप्त करके सृष्टि के मानस से स्तव कर रहे हैं,—

ननु (हे) नाथ (हे प्रभो) श्रुतेक्षितपथः (श्रुतं शास्त्रसिद्धान्तश्रवणं तेन ईक्षितः दृष्टः पन्थाः यस्य सः) त्वं पुंसां भक्तियोगपरिभावितहृत्-सरोजे (भक्तियोगेन प्रेम्णा

परिभावितं योग्यतां आपादितं यत् हृत्सरोजं तस्मिन्) आस्से (तिष्ठसि)। धिया यद् यद् विभावयन्ति (चिन्तयन्ति) हे (उरुगाय), (उरुधा एव गीयस इति उरुक्रम), सदनुग्रहाय (सतां भक्तानां अनुग्रहाय) तत् तत् वपुः (शरीरं) प्रणयसे (प्रकर्षेण तत्समीपे नयसि प्रकटयसि।

तृतीय परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

श्लोकार्थः—

एइ श्लोकेर अर्थ कहि संक्षेपेर सार।
भक्तेर इच्छाय कृष्णेर सर्व अवतार॥१११॥
चतुर्थ श्लोकेर अर्थ कैल सुनिश्चिते।
अवतीर्ण हैला गौर प्रेम प्रकाशिते॥११२॥

श्रीरूप-रघुनाथ पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥११३॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में आशीर्वाद मङ्गलाचरण चैतन्यावतार-सामानयकारण नामक तृतीय परिच्छेद समाप्त।

१११-११३। प० अनु०—इस श्लोक का सार संक्षेप में यही है कि भक्तों की इच्छा से श्रीकृष्ण अवतार ग्रहण करते हैं। इस प्रकार सुनिश्चित रूप से (मङ्गलाचरण के) चतुर्थ श्लोक का अर्थ निरुपित किया गया है जिसमें श्रीगौराङ्ग महाप्रभु, प्रेम को प्रकाश करने के लिए अवतीर्ण हुए हैं। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

चतुर्थ परिच्छेद

कथासार—इस चतुर्थ परिच्छेद में दृढ़-पूर्वक यही कहा जा रहा है कि तीन गूढ़ प्रयोजन पूर्ण करने हेतु श्रीचैतन्य महाप्रभु अवतीर्ण हुए हैं। इन तीन प्रयोजनों में प्रथम प्रयोजन—मेरे प्रेम की आश्रय राधिका हैं; मैं उस प्रेम का विषय होकर आश्रयजातीय सुख का अनुभव नहीं कर सकता, अतः आश्रयस्वरूप श्रीराधिका के भाव का अवलम्बन करके उसका आस्वादन करूँगा। द्वितीय प्रयोजन—मेरी माधुरी का आस्वादन श्रीमती राधिका करती हैं, पर जगदाकर्षक होने पर भी मैं उसका आस्वादन नहीं कर सकता; अतः श्रीराधिका की भाव-कान्ति स्वीकार किये बिना मेरा वह प्रयोजन पूर्ण नहीं हो सकता। तृतीय प्रयोजन—श्रीराधिका-सङ्ग से मुझे जो सुख मिलता है, उससे अधिक सुख राधिका को मेरे सङ्ग से प्राप्त होता है। अतः मुझमें एक ऐसा अपूर्व रस है, जिसे आस्वादन करके श्रीराधिका को अधिक सुख हुआ प्राप्त हुआ। मेरे लिये विजातीय-भाव से उस प्रकार के सुख का अनुभव करना सम्भव नहीं है। श्रीराधिका की भावकान्ति को अङ्गीकार करके श्रीराधिका के सजातीयभाव से ही मैं उसका आस्वादन कर सकता हूँ। इन्हीं तीन गूढ़ वाञ्छाओं को पूर्ण करने की इच्छा से श्रीचैतन्य महाप्रभु का अवतार हुआ। युगधर्म-प्रवर्त्तनादि एवं अद्वैतादि-भक्तों की आराधना—इस अवतार के बाह्य कारण मात्र हैं। श्रीस्वरूप गोस्वामी श्रीमन् महाप्रभु के अन्तरङ्ग भक्तों में प्रधान हैं; उनके कड़चा-श्लोक (संक्षिप्त जीवन-चरित्र, श्लोक के आकार में) से ही यह गूढ़-तत्त्व प्राप्त होता है। श्रीरूप गोस्वामी के द्वारा रचित श्लोकों के द्वारा भी यही सिद्धान्त पुष्ट हुआ है। इस परिच्छेद में काम एवं प्रेम का तात्त्विक-भेद प्रदर्शित करते हुए श्रीकृष्णप्रीति रूप कामना को कामतत्त्व से पृथक् करके दिखाया गया है।

(अः प्रः भाः)

श्रीगौर की कृपा से श्रीकृष्णस्वरूप निर्णय—

श्रीचैतन्यप्रसादेन तद्स्वरूप विनिर्णयम्।
बालोऽपि कुरुते शास्त्रं दृष्टा व्रजविलासिनः॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से अज्ञव्यक्ति भी शास्त्र दर्शन पूर्वक व्रजविलासी श्रीकृष्ण के तत्त्वस्वरूप का निर्णय करने में समर्थ होता है।

अनुभाष्य

१। बालः (अर्भकः) अपि श्रीचैतन्य प्रसादेन (गौर-कृपया) शास्त्रं दृष्टवा व्रजविलासिनः (व्रजेन्द्रनन्दनस्य) तद्रूपस्य (राधा-कृष्णाभिन्न-गौररूपस्य) विनिर्णयं (तत्त्वनिर्देश) कुरुते।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥
चतुर्थ श्लोकेर अर्थ कैल विवरण।
पञ्चम श्लोकेर अर्थ शुन दिया मन॥३॥
मूल-श्लोकेर अर्थ करिते प्रकाश।
अर्थ लागाइते आगे कहिये आभास॥४॥

२-४। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो एवं गौरभक्तवृन्द की जय हो। अब तक मङ्गलाचरण के चतुर्थ श्लोक का अर्थ वर्णन किया गया है। अब मन लगाकर पञ्चम श्लोक का अर्थ श्रवण कीजिए। मूल-श्लोक के अर्थ प्रकाशित करने के लिए पहले आभास व्यक्त कर रहा हूँ।

आदि १४ श्लोकों में से चतुर्थ-श्लोक का तात्पर्य—
नाम एवं प्रेमप्रचार गौरावतार का बाह्य कारण—

चतुर्थ श्लोकेर अर्थ एइ कैल सार।
प्रेम-नाम प्रचारिते एइ अवतार॥५॥
सत्य एइ हेतु, किन्तु एहो बहिरंग।
आर एक हेतु, शुन, आछे अन्तरंग॥६॥

५-६। प॰ अनु॰—चतुर्थ श्लोक का सारार्थ यही है कि प्रेम-नाम-प्रचार हेतु श्रीमन् महाप्रभु का अवतार हुआ। यह सत्य है, किन्तु यह बहिरङ्ग कारण है इनके अवतार का एक अन्तरङ्ग कारण भी है, अब उसे श्रवण कीजिए।

अमृतप्रवाह भाष्य

४-६। तृतीय परिच्छेद के चतुर्थ श्लोक का सारार्थ यह निरुपित हुआ है—प्रेम अर्थात् प्रेमभक्ति एवं कृष्णनाम प्रचार-हेतु श्रीगौराङ्ग महाप्रभु का अवतार हुआ है; इस सिद्धान्त में जिस हेतु का उल्लेख हुआ, वह निःसन्देह सत्य है, परन्तु वह बहिरङ्ग अर्थात् बाह्य कारण है, गूढ़ नहीं। इसके अतिरिक्त एक अन्तरङ्ग अर्थात् गूढ़ कारण है, उसे कहा जा रहा है।

गौरावतार के गुह्यकारण के वर्णन से पहले
श्रीकृष्ण एवं विष्णुलीला का वैचित्र्य वर्णन—

पूर्वे हेन पृथिवीर भार हरिवारे।
कृष्ण अवतीर्ण हैला शास्त्रेते प्रचारे॥७॥

७। प॰ अनु॰—शास्त्र के अनुसार जैसे पहले पृथ्वी का भार हरण के लिए श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुए थे।

विष्णु का कार्य—साधुओं का परित्राण एवं
दुष्कृतों का विनाश; स्वयं कृष्ण का नहीं—

स्वयं भगवानेर कर्म नहे भारहरण।
स्थितिकर्ता विष्णु करेन जगत्-पालन॥८॥

८। प॰ अनु॰—भारहरण करना स्वयं भगवान् का कार्य नहीं है। जगत् का पालन तो स्थितिकर्त्ता श्रीविष्णु के द्वारा ही हो जाता है।

अवतारी-कृष्ण के अवतरण-काल में
उनके साथ विष्णु अवतार का मिलन—

किन्तु कृष्णेर येइ हय अवतार-काल।
भारहरण-काल ताते हइल मिशाल॥९॥
पूर्ण भगवान् अवतरे येइ काले।
आर सब अवतार ताँते आसि' मिले॥१०॥
नारायण, चतुर्व्यूह, मत्साद्यवतार।
युग-मन्वन्तरावतार, यत आछे आर॥११॥
सबे आसि' कृष्ण-अंगे हय अवतीर्ण।
ऐछे अवतरे कृष्ण भगवान् पूर्ण॥१२॥

९-१२। प॰ अनु॰—किन्तु जब श्रीकृष्णके अवतार का समय आया, उसी समय पृथ्वी के भार हरण का समय भी उपस्थित होकर उसी में मिल गया। पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण जब अवतीर्ण होते हैं, उसी समय अन्यान्य अवतार आकर उनमें मिल जाते हैं। नारायण, चतुर्व्यूह, मत्स्यादि अवतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार और जितने भी अवतार समूह हैं; सब आकर श्रीकृष्ण के अङ्ग में अवतीर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते हैं।

देहस्थित अंश विष्णु के द्वारा जगत् का भारहरण एवं पालन-लीला—

अतएव विष्णु तखन कृष्णेर शरीरे।
विष्णुद्वारे कृष्ण करे असुर संहारे॥१३॥
आनुषंग-कर्म एइ असुर-मारण।
ये लागि' अवतार, कहि से मूल कारण॥१४॥

१३-१४। प॰ अनु॰—अतएव विष्णु तब श्रीकृष्ण के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और विष्णु के द्वारा ही श्रीकृष्ण असुरों का संहार करते हैं। यह असुर-संहार आनुषंगिक कर्म है। अब अवतार के मूल कारण को कह रहा हूँ।

विधिभक्ति-प्रचारार्थ विष्णु का अवतार,
रागभक्ति-प्रचारार्थ कृष्ण का गौरावतार—

प्रेमरस-निर्यास करिते आस्वादन।
रागमार्ग-भक्ति लोके करिते प्रचारण॥१५॥

रसिक-शेखर कृष्ण परमकरुण।
एइ दुइ हेतु हैते इच्छार उद्गम॥१६॥
ऐश्वर्य-ज्ञानेते सब जगत् मिश्रित।
ऐश्वर्य-शिथिल-प्रेमे नाहि मोर प्रीत॥१७॥
आमारे ईश्वर माने, आपनाके हीन।
तार प्रेमे वश आमि ना हइ अधीन॥१८॥
आमाके त' ये ये भक्त भजे येइ भावे।
तारे से से भावे भजि,—ए मोर स्वभावे॥१९॥

१५-१९। प० अनु०—प्रेमरस-निर्यास (प्रेमरस के सार) का आस्वादन और रागमार्ग-भक्ति का लोगों में प्रचार—इन दो कारणों के लिए रसिक शेखर परम-करुणामय श्रीकृष्ण की अवतरित होने की इच्छा हुई। सम्पूर्ण जगत् में ऐश्वर्यज्ञान प्रबल है परन्तु ऐश्वर्यभाव में मेरा प्रेम शिथिल हो जाता है तथा ऐसे ऐश्वर्य-शिथिल-प्रेम में मेरी प्रीति नहीं होती। जो मुझे ईश्वर मानता है और अपने को मुझसे छोटा मानता है। मैं उसके ऐसे प्रेमके वशीभूत नहीं होता हूँ। मेरा ऐसा स्वभाव है कि जो भक्त जिस-जिस भाव से मेरा भजन करता है, मैं भी उसी भाव से उसका भजन करता हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

७-१९। जिस समय स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुये थे, उसी समय जगत् के भारहरण का काल भी उपस्थित हो गया था। स्थितिकर्त्ता विष्णु जगत् के भारहरण का कार्य करने हेतु नियुक्त हैं; क्योंकि भारहरण स्वयं भगवान् का कार्य नहीं है। इसलिए श्रीकृष्ण के अवतीर्ण होने के समय ही भारहरण का काल उपस्थित होने पर, पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण में नारायण, चतुर्व्यूह अर्थात् वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध, मत्स्यादि अंशावतार समूह, युगावतार एवं मन्वन्तरावतार—सभी श्रीकृष्ण के अङ्ग में अवतीर्ण हो गये। अङ्ग एवं अंशादि खण्डरूप सभी भगवदावतार निश्चय ही पूर्ण भगवान् के आश्रय में रहते हैं, इसी कारण पालनकर्त्ता विष्णु श्रीकृष्ण के स्वरूप में रहते हैं और श्रीकृष्ण उन्हीं विष्णु के द्वारा असुरों का संहार करते हैं। असुर-निधन केवल कृष्णावतार का आनुषंगिक कर्ममात्र है; परन्तु कृष्णावतार का मूल कारण प्रेमरस-निर्यास का आस्वादन करना एवं राग और भक्ति का प्रचार—इन दो कारणों के लिये परम रसिक एवं परम करुणामय श्रीकृष्ण ने अवतीर्ण होने की इच्छा प्रकट की थी। श्रीकृष्ण के मन की भावना यही है कि, ऐश्वर्यज्ञान से जगत् परिपूर्ण है; और उस ऐश्वर्यज्ञान के द्वारा जो शिथिल प्रेम उदित होता उस शिथिल प्रेममें मेरी प्रीति नहीं होती; जो भक्त स्वयं को हीन जानकर मुझे ईश्वर मानता है, उसका प्रेम ऐश्वर्यपरक है, मैं कभी भी उस प्रेम के अधीन नहीं होता हूँ; जो जिस भाव से मेरा भजन करते हैं, मैं भी उसी भाव से उनका भजन करता हूँ—यही मेरा स्वभाव है।

अनुभाष्य

१७। आदि, तृतीय परिच्छेद १६ संख्या में यह पयार द्रष्टव्य है।

(श्रीमद्भगवतगीता ४.११)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मुनष्याः पार्थ सर्वशः॥२०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२०। हे पार्थ, जो जिस भाव से मेरी उपासना करता है, मैं उसको उसी भाव से प्राप्त होता हूँ; सभी मानव मेरे वर्त्म अर्थात् मेरे प्रदर्शित पथ के अनुगामी हैं।

अनुभाष्य

२०। पूर्वकाल में भगवान् ने सूर्य को जो योगविषयक उपदेश दिया था, परम्पराक्रम से चलते-चलते उसके विपर्यस्त हो जाने पर फिर अर्जुन को वही उपदेश दिया है। यह श्लोक भगवान् अपने प्रकट-लीला-कारण के प्रसङ्ग में कह रहे हैं—

हे पार्थ (अर्जुन), ये (भक्ताः) यथा (येन भावेन) मां (कृष्ण) प्रपद्यन्ते, अहं तथैव तान् भजामि (अनुगृह्णामि)। मनुष्याः सर्वशः (सर्वप्रकारेण एव) मम वर्त्म (सिद्धमार्ग) अनुवर्त्तन्ते (अनुसरन्ति)।

मोर पुत्र, मोर सखा, मोर प्राणपति।
एइभावे येइ मोरे करे शुद्धभक्ति॥२१॥
आपनाके बड़ माने, आमारे सम-हीन।
सेइ भावे हइ आमि ताहार अधीन॥२२॥

२१-२२ प० अनु०। जो मुझे अपना पुत्र, अपना सखा, अपना प्राणपति मानकर मेरी शुद्धभक्ति करते हैं। वे अपने को बड़ा मानते हैं और मुझे अपने समान या अपने से छोटा समझते हैं, उनके ऐसे भाव के कारण मैं उनके अधीन हो जाता हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

२१-२२। जो 'कृष्ण मेरा पुत्र है'—इस प्रकार का वात्सल्य, 'कृष्ण मेरा सखा है' इस प्रकार का सख्य, 'कृष्ण मेरे प्राणपति' हैं—इस प्रकार के मधुरभाव से शुद्धभक्ति करते हैं, रसभेद से मुझे हीन जानकर स्वयं को बड़ा मानते हैं, मैं इसी भाव से उनके अधीन हो जाता हूँ। शुद्धभक्ति—ज्ञान और कर्म के आवरण से रहित, अन्याभिलाषिताशून्य, आनुकूल्य-संकल्पयुक्त कृष्णानुशीलन-रूप होती है।

अनुभाष्य

२१। श्रीचैतन्यचरितामृत में 'भक्ति' एवं 'शुद्धभक्ति' के साथ-साथ 'विद्धभक्ति' का भी उल्लेख होने के कारण हम भक्तिके तीन प्रकार के विभाग लक्ष्य करते हैं। अन्याभिलाषितायुक्त, ज्ञानकर्मयोगादि के द्वारा आवृत, कृष्ण से पृथक् भोगानुशीलन के साथ हरिसेवा की सज्जाओं को 'विद्धभक्ति' कहते हैं। कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा, योगमिश्रा एवं भोगमय-व्रतमिश्रा आदि से आवृत सेवा-चेष्टा समूह विद्धभक्ति के अन्तर्गत हैं। उसमें शुद्धभक्ति के अतिरिक्त अन्य प्रकार की चेष्टाएँ वर्तमान हैं। अविद्धा-सेवामयी विधि के अनुगमन में 'भक्ति' होती है। यह भक्ति विद्धभक्ति से स्वतन्त्र है एवं विष्णु की सेवा में अनुकूल-चेष्टायुक्त है। रागात्मिक-जन की अहैतुकी, नित्य हरिसेवा के अनुगमन से जो लोभ से उदित प्रेमसेवा है, वही शुद्धभक्ति है। वह केवलमात्र विधि से चालित नहीं है। 'वैधीभक्ति' अथवा 'भक्ति' अथवा 'अविद्धाभक्ति' शुद्धभक्ति की सहायक हैं, फिर भी 'शुद्धभक्ति'-शब्द से रागानुगा सेवा को ही समझा जाता है। शुद्धभक्ति को भक्ति के पर्याय में 'पराकाष्ठा' कहा जा सकता है। यह गोलोकस्थित रागमयी भक्ति है, और वैधीभक्ति परव्योम अथवा वैकुण्ठ-स्थित गौरवमयी भक्ति है।

(श्रीमद्भागवत १०.८२.४४)
मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कलपते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां
मदापनः॥२३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२३। मेरे प्रति भक्ति ही जीवों के लिये अमृत है। हे गोपियों! मेरे प्रति तुम्हारा जो स्नेह है, उसी के कारण तुम सबने मुझे प्राप्त किया है।

अनुभाष्य

२३। स्यमंतपञ्चक में सूर्य-ग्रहण के उपलक्ष में द्वारका से यादवगण एवं व्रज से सगोष्ठी नन्दमहाराज उपस्थित हुये थे। गोकुलवासिनी व्रज की गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का सन्मिलन होने पर श्रीकृष्ण गोपियों से कह रहे हैं—

मयि भूतानां (प्राणिनां) भक्तिः (श्रवण- कीर्त्तनाख्या) अमृतत्वाय (नित्यपार्षदत्वाय) कल्पते (योग्या भवति) भवतीनां (गोपीनां) मदापनः (मत् साक्षात्कारः) मत्स्नेहः यत् आसीत्, तत् दिष्ट्या (तत् तु मद् भाग्येनैव)।

माता मोरे पुत्रभावे करेन बन्धन।
अतिहीन-ज्ञाने करे लालन पालन॥२४॥
सखा शुद्धसख्ये करे स्कन्धे आरेहण।
तुमि कोन् बड़ लोक,—तुमि आमि सम॥२५॥

२४-२५। प० अनु०—माता मुझे पुत्र समझकर बाँध देती है तथा अत्यन्त अबोध जानकर मेरा लालन-

पालन करती है, सखा शुद्ध सख्यभाव से मेरे कन्धों पर चढ़ जाते हैं और कहते हैं,—तुम कौन से बड़े हो, हम तुम समान हैं।

प्रिया यदि मान करि' करये भर्तसन्।
वेदस्तुति हैते हरे सेइ मोर मन॥२६॥

२६। प॰ अनु॰—प्रिया यदि मान-पूर्वक मेरी भर्त्सना करती है, तो वह भर्त्सना भी वेदस्तुति से अधिक मेरे मन को हरण करने वाली होती है।

अनुभाष्य

२६। शुद्ध अनुराग के वशवर्त्ती होकर परम आत्मीय-ज्ञान से आश्रय का विषय के प्रति शासन-प्रतिम दुर्वचन-प्रयोग आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक प्रीति का ही परिचायक है। जहाँ विषय का पूजायोग्य एवं गुरुबुद्धि से दर्शन होता है, वहाँ स्वाभाविक प्रीति की शिथिलता न्यूनाधिक वर्तमान है। प्रीतिरहित अज्ञ जनसमूदाय के लिये जो विधि एवं निषेध-समूह वेदशास्त्रों में निर्द्धारित हुआ है, उस प्रकार के विधिबाध्य जनों के लिये उचित गौरववाक्यसमूह के साथ प्रीतिमूलक वचन के तारतम्य-विचार से उसमें गौरव-पूजा का अभाव रहने पर भी उसकी उत्कृष्टता वैधस्तुति की अपेक्षा श्रेष्ठ है। कृष्णेतर-विषयमुक्त शुद्ध-भक्त का भगवत्ता के साथ घनिष्ठतर सम्बन्ध है। इस प्रकार के सम्बन्ध-ज्ञान के कारण जिस नित्यवृत्ति का उदय दिखाई देता है, वह ऐश्वर्यप्रधान वैध गौरव की अपेक्षा सर्वतोभावेन उपादेय है।

एइ शुद्धाभक्ति लञा करिमु अवतार।
करिब विविधविध अद्भुत विहार॥२७॥
वैकुण्ठाद्ये नाहि ये ये लीलार प्रचार।
से से लीला करिब, याते मोर चमत्कार॥२८॥

२७-२८। प॰ अनु॰—इस प्रकार की शुद्धा-भक्ति के साथ मैं अवतीर्ण होऊँगा और नाना प्रकार से अद्भुत विहार प्रदर्शित करूँगा। वैकुण्ठादि में भी जिन लीलाओं का प्रचार नहीं है, उन सब लीलाएँ को करूँगा, जो मुझे भी चमत्कृत करने वाली होगी।

मो-विषये गोपीगणेर उपपति-भावे।
योगमाया करिबेक आपन प्रभावे॥२९॥
आमिह ना जानि ताहा, ना जाने गोपीगण।
दुँहार रूपगुणे दुँहार नित्य हरे मन॥३०॥
धर्म छाड़ि' रागे दुहें करये मिलन।
कभु मिले, कभु ना मिले,—दैवेर घटन॥३१॥
एइ सब रसनिर्यास करिब आस्वाद।
एइ द्वारे करिब सब भक्तेरे प्रसाद॥३२॥
ब्रजेर निर्मल राग शुनि' भक्तगण।
रागमार्गे भजे येन छाड़ि' धर्म-कर्म॥३३॥

२९-३३। प॰ अनु॰—योगमाया अपने प्रभाव से गोपियों के हृदय में मेरे लिये उपपति-भाव का उदय करा देगी। जिसे मैं भी नहीं जान पाऊँगा तथा नहीं गोपियाँ जान पायेंगी। इस प्रकार एक दूसरे के रूप और गुणों में दोनों का मन नित्य आकर्षित रहेगा। लोक धर्म आदि धर्मों को छोड़कर हम दोनों राग वशतः ही मिलेंगे, दैववशतः कभी मिल पायेंगे और कभी नहीं मिल पायेंगे। इन सभी रसनिर्यास का मैं आस्वादन करके इन लीलाओं के द्वारा समस्त भक्तों पर अनुग्रह करूँगा। जिससे व्रज के निर्मल राग को सुनकर भक्तवृन्द धर्म-कर्म को छोड़कर रागमार्ग से मेरा भजन करेंगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

२८-३३। वैकुण्ठादि में अर्थात् वैकुण्ठ-गोलोक आदि में जिन-जिन लीलाओं का प्रचार नहीं है, मैं उन-उन लीलासमूहों का इस कृष्णावतार में प्रचार करूँगा। उन लीलाओं में मैं भी चमत्कृत हो जाऊँगा मेरी स्वरूपशक्ति योगमाया अपने अविचिन्त्य प्रभाव द्वारा मेरी इच्छा से मेरी नित्यप्रिया गोपियों के हृदय में उपपति के भाव का संचार करेगीं। मैं भी तब रसपुष्टि-हेतु उसे जान नहीं पाऊँगा, अर्थात् मेरी अविचिन्त्यशक्ति मेरी सर्वज्ञता को

छिपाकर उसमें एक प्रकार का अद्भुत रस उत्पन्न करेगीं एवं गोपियाँ स्वरूप-शक्ति स्वरूपा होने पर भी इसे जान नहीं पायेंगी। मेरे और मेरी गोपियों के अद्भुत रूप-गुण द्वारा परस्पर मन-हरण होने पर सामान्य धर्मपथ का परित्याग करते हुए शुद्धरागमार्ग में हमारा परस्पर मिलन सुख उदित होगा। कभी मिलन, तो कभी विरह दैविक घटनाओं की भाँति उदित होंगे। इन सभी रसों के निर्यास का मैं आस्वादन करूँगा एवं प्रसन्न होकर भक्तवृन्द को दान करूँगा। सभी भक्तों को उस रस का दान करने की प्रक्रिया यही है कि, मैं व्रज में जिस निर्मल राग को प्रकट करूँगा, उसे सुनकर भक्तवृन्द धर्मकर्म का परित्याग करके रागमार्ग में मेरा भजन करेंगे।

अनुभाष्य

२९। वैकुण्ठ आदि मायातीत राज्यों में भगवान् का जो सब लीलावैचित्र्य प्रकटित् है, उसमें स्वयंरूप कृष्ण की चमत्कारिता का नव-नवायमान रूप नहीं होता। उससे ऊपर स्थित अर्थात् गोलोक, जहाँ स्वयंरूप कृष्ण की निजसुखतात्पर्यपर लीला प्रकटित हैं, वहाँ उस प्रकार की लीला की उत्कृष्टता को ऐश्वर्यप्रधान भक्तवृन्द के समक्ष प्रदर्शित करने के लिये भगवान् की प्रपंच में प्रकटित होने की इच्छा है। आश्रय के निज-विचार से विषय के प्रति वैध गौरव की अपेक्षा आश्रय का जिनके प्रति वैध गौरव वर्तमान है, उनके प्रति उस गौरव के वंचन एवं परिहार-पूर्वक कृष्णानुरागवश ऐश्वर्य-व्यतिरिक्त माधुर्य के आकर्षण में आकृष्ट होकर जो चेष्टासमूह दिखाई देता है, वही परकीया सेवाप्रवृत्ति के रूप में योगमाया द्वारा सम्पन्न होती है। इस प्रकार की चिन्मयी माया का प्रभाव विषय के लिये भी अज्ञेय विषय है, ऐसा उनकी कृपास्वरूपा योगमाया के द्वारा ही सम्भव है।

३०। ईश्वर का वश्य के प्रति जो भाव वर्तमान है, उस भाव की अनुभूति में आश्रय के द्वारा विषय की चमत्कारिता-उत्पादन की चेष्टा की उपलब्धि नहीं होती है। इस कारण ही योगमाया के विशेषत्व वर्णन में योगमाया का आश्रयजातीय के सहायक के रूप में उल्लेख हुआ है। विषय एवं आश्रय, दोनों अपने-अपने भाव की अनुभूति में एक-दूसरे के भाव की प्रतीति में स्थित होते हुए आकृष्ट होते हैं। बाहरी जगत् में भ्रमणशील जन-समुदाय इस लीलावैचित्री में प्रवेश नहीं कर पाते। उसी अवस्था में स्थित न होने पर, अथवा उसमें रुचिविशिष्ट होने से पहले तक जीवों में इस अभिज्ञता-प्राप्ति का सौभाग्य उदित नहीं होता है।

३१। मर्यादामय वैध-धर्म को छोड़कर श्रीकृष्ण एवं गोपियाँ परस्पर के आकर्षण से बाधाएँ अतिक्रमण करते हुए मिलित होते हैं। उनका परस्पर का वैध क र्त्तव्य उस समय स्तब्ध हो जाता है एवं परस्पर की उद्दीपना से (वे) मिलित होने को बाध्य हो जाते हैं। मिलन के उत्कर्ष की समृद्धि-हेतु किसी समय विप्रलंभ-रस द्वारा वही पुष्ट होता है। प्राकृत जड़जगत् में अनुपादेयता आदि धर्मों के अवस्थानहेतु विप्रलंभ का अभाव परिलक्षित होता है, किन्तु अप्राकृत राज्य में विरह के समय समावेश-जनित चमत्कारिता की समृद्धि होती है। मिलन के समय प्रार्थनीय वस्तु की अस्मितावगति (अहंबोध) की किंचित् शिथिलता, परन्तु विरह के समय उन-उन भावों के संयोग की स्पृहा (इच्छा) के प्राबल्यहेतु वह (विरह) भी अधिक-तर चमत्कारिता का उदय कराता है।

३३। श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी प्रभु अपने द्वारा रचित 'मनः शिक्षा' में—"न धर्मं नाधर्मं श्रुतिगण-निरुकतं किल कुरु"—एवं श्रीकुलशेखर सम्राट् के द्वारा रचित 'मुकुन्द-माला-स्तोत्र' में "नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे यद्यद् भव्यं भवतु भगवान् पूर्वकर्मानुरूपम्। एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि, त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥" आदि श्लोकों में स्वधर्मातीत राग-भक्ति की कथाएँ लिखी हैं; भा० ११.११.३२— "आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्। धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः॥"

रागानुग साधनसिद्ध मुक्तपुरष
का ही अप्राकृत् रासलीला-
श्रवण में अधिकार—
(श्रीमद्भागवत १०.३३.३६)

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥३४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३४। भक्तों पर अनुग्रह करने हेतु भगवान् ने नरदेह-प्रकटपूर्वक जिस रासलीला का प्रकाशन किया है, उसे सुनकर उसके अधिकारी भक्तजन उसी लीला में मग्न होकर उस क्रीड़ा का भजन करेंगे।

अनुभाष्य

३४। राजा परीक्षित् द्वारा श्रीशुकदेव के समक्ष श्री कृष्ण की पारकीय-विहार लीला की यथार्थता एवं प्रयोजनीयता के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर में शुकदेव की उक्ति,—

भक्तानां (रसभेदावस्थितानां हरिजनानां) अनुग्रहाय (कृपा-वितरणाय) मानुषं देहं (नरोचितं परम-प्राकृत-शरीरम्) आश्रितः (दधत्) तादृशीः क्रीड़ाः भजते (करोति), याः (क्रीड़ाः लीलाः) श्रुत्वा (अन्योऽपि जनः भगवति श्रद्धान्वितो भूत्वा तत्परः (कृष्णसेवा-परायणः) भवेत्।

'भवेत' क्रिया विधिलिंग, सेइ इहा कय।
कर्त्तव्य अवश्य एइ, अन्यथा प्रत्यवाय॥३५॥

३५। प० अनु०—'भवेत्' क्रिया विधिलिङ् है। उसका यही आशय है कि यह अवश्य कर्त्तव्य है, नहीं तो प्रत्यवाय (दोष) होता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

३५। उक्त श्लोक में 'भवेत्' पदरूप क्रिया में विधिलिङ् का प्रयोग हुआ है। अतएव यह अवश्य कर्त्तव्य के रूप में निश्चित है; अन्यथा अर्थात् न करने पर प्रत्यवाय अर्थात् दोष है।

अनुभाष्य

३४-३५। अनन्तलीलामय भगवान् की विविध प्रकाश-मूर्त्तियाँ नित्य विराजमान हैं। उस गोलोक-वैकुण्ठ का विकृत प्रतिफलनरूप है देवीधाम। प्रपंच के अन्तर्गत की विचित्रता गोलोक-वैकुण्ठ के अनुरूप होने पर भी उसमें परिच्छेद, अवरता, हेयता या अनुपादेयता एवं कालक्षोभ्य धर्म अवस्थित है। विषय-विग्रह के विविध प्रकाशसमूह आश्रित जीवकुल-हेतु यथोपयोगी सेव्य-सेवन-धर्म में नित्य अवस्थित हैं। वैकुण्ठ में विशुद्ध सत्त्व एवं प्रपंच में मिश्र और गुणमय सत्त्व परिदृष्ट होता है। विषय एवं आश्रय की नित्य अनुभूति में विविध लीलावैचित्र्य नित्य वर्त्तमान रहने से आश्रय की उपयोगिता के विचार से "नरतनु भजन का मूल हैं" इस वचन की सार्थकता है। प्रपंच में मानव-जाति सृष्टि-पर्याय में उन्नत-स्तर में अवस्थित है। आश्रय-जातीय जीव-कुल प्रपंच में अवस्थान करते समय निज उपयोगी विषयविग्रह का सेवाधिकार प्राप्त करते हैं। भगवान् के मानुषरूप व्यतीत अमानुषिक बहुविध रूप हैं। जीवों की स्वरूपवृत्ति के उन्मेषण में भजनीय वस्तु के प्रकाश-भेद में लीलाओं की वैचित्री है। उस लीलावैचित्री की उपयोगिता के विचार में तारतम्यानुसार मनुष्यदेह में ही नित्यलीला के आश्रित भक्तवृन्द के प्रति अधिक कृपा वितरित होती है। उस प्रकार की लीला-प्रपंच में अवतीर्ण होने पर सर्वोत्तम मानवगण सेव्य-वस्तु की वैसी सेवा करने में उत्साहित होते हैं। भजन की पराकाष्ठा में भजनीय वस्तु का अनुभूति-वर्णन सुनने से स्वरूप के उन्मेषण में प्रचुर सहायता होती है। पाँच प्रकार के स्थायीभाव वाली रतियों में परम उत्कृष्ट मधुर रति की सामग्री के सहयोग से जो सर्वश्रेष्ठ रस का प्रकाशन किया जाता है, उसमें लब्धरुचि भक्त का ही एकमात्र अधिकार है। रुचिलाभ की सुविधा-हेतु भगवान् मत्स्यकूर्म-वराह आदि लीलाओं के विनिमय में रामादि-लीलासमूह को प्रपंच में प्रकटित करते हैं। फिर, रामादि मानुषी लीलाओं में भी जिस रस की चमत्कारिता प्रबल नहीं है, वह पारकीया मधुररति

जीवबुद्धि के लिये नितान्त दुर्ज्ञेय होने पर भी अथवा नितान्त दुर्लभ होने पर भी ऐश्वर्य एवं माधुर्यविचार के तारतम्य से अतुलनीय नवनवायमान चमत्कारिता का प्रकाशन करती है।

प्राकृत-बुद्धिविशिष्ट साहजिकगण अप्राकृत सहज-धर्म की कथा समझने में असमर्थ होकर जिस व्यभिचार का आवाहन करते हैं, उसके द्वारा विशुद्ध सत्त्वमय गोलोक की विचित्रता उद्दिष्ट नहीं होती, वे मलिनचित्त को इन्द्रिय-परायणता में डुबोकर केवल अधः पतित कराते हैं। अप्राकृत लीला में अधोक्षज की सेवा वर्त्तमान है। प्राकृत साहजिकगण इसे समझने में असमर्थ होकर कृष्णसेवा को भोगमय इन्द्रियतर्पण समझकर भ्रान्त होते हैं। प्रपंच में आगत भगवल्लीला कभी भी प्राकृत-साहजिकगणों की विचरण-भूमिका नहीं है। योगमाया-निर्मित कृष्ण रासादि लीलाएँ प्राकृत विचार में सुष्ठुभाव से परिलक्षित नहीं होती हैं। सहजिया-सम्प्रदाय कि, कृष्णलीला को नश्वर भोग के अन्तर्गत मानते हैं। वे सब केवल 'तत्परत्वेन निर्म्मलम्' एवं 'तत्परो भवेत्' पदों का विकृत अर्थ करके अप्राकृतत्व में प्राकृत्व का कचरा निक्षेप करते हैं। "तादृशी" शब्द के अर्थभ्रम के कारण इन्द्रिय तर्पण में निमग्न होते हैं, किन्तु वास्तव में अप्राकृत रति ही "तादृशी क्रीडा:" शब्द का मुख्यार्थ है। अविद्या-ग्रस्त हरिविमुख जीव अप्राकृत क्रीडा-परिहार-पूर्वक अक्षज-ज्ञान से जड़भोगों में उन्मत्त होकर इस श्लोक का कदर्थ करते हैं। साधन एवं सिद्धि की भूमिका में विवर्त्त उपस्थित होने से ही जीव प्राकृत-सहजिया बन जाता है।

विधिलिंङ का "भवेत्" पद देखकर कोई इस रुचि द्वारा प्राप्त रागानुग पथ के अधिकार निर्विशेष में अनर्थयुक्त भोगी का भी वैध पथ ना मान ले। प्रपंच में कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का विचार है। गोलोक-वृन्दावन में इस प्रकार की विधियाँ अवस्थान नहीं कर सकतीं। वहाँ अनुराग के पथ में ही लोभ के वशवर्त्ती होकर सभी आश्रित-तत्त्व कृष्णप्रीतिरूप उपादेयता का अनुसन्धान करते हैं।

यदि कोई जीवात्मा के नित्य एवं अवश्य सेव्य प्रपंच में आगत परमश्रेष्ठ मधुरभाव में उदासीन होता है, तो वह निश्चितरूप से भगवत् सेवा को छोड़कर नश्वर जैव-लाम्पट्य में अधःपतित हो जायेगा। मधुररति में तत्पर न होने से जीवों में मधुर रति के विपरीत हेय जड़भोगवाद प्रबल हो जायेगा। इस प्रकार वत्सलरति में कृष्ण-सेवाविमुख होने पर भोग-प्रवृत्ति उसे नश्वर पुत्र-वात्सल्य में अधःपतित करा देगी। इस प्रकार से कृष्ण को एकमात्र बन्धुज्ञान न करने पर इन्द्रिय- परायण नश्वर बन्धुजन आकर जीव को अधः पतित करा देंगे। इस प्रकार की भगवद्-विमुखता उपस्थित होने पर जीव कृष्णसेवा में उदासीन होकर भोगपरक इन्द्रियसेवी नश्वर देह की भृत्यवृत्ति (नौकरी) करते-करते स्वरूप को भूल जायेगा। इस प्रकार से कृष्ण में निरपेक्ष-बुद्धि न रहने पर जीव कृष्णविमुख होकर जड़वस्तु में निरपेक्ष अर्थात् प्रस्तरता-नामक मोक्ष अथवा निर्वाण का दास बनकर निर्विशेषवादी हो जायेगा। कृष्णलीला-प्रवेश में जो उदासीन रह जायेंगे, उनका ही इन्द्रिय-परायण भोगबुद्धि एवं इस कारण सत्कर्म और कुकर्म में औपाधिक अस्मिता (अहं-भाव) समृद्ध होकर उन्हें चरम कल्याण से वंचित कर देगी।

रागमयी-भक्ति के प्रचार की इच्छा ही श्रीगौरावतार का मुख्य कारण; असुर-संहार आनुषंगिक प्रयोजन—

एइ वाञ्छा यैछे कृष्णप्राकट्य-कारण।
असुरसंहार—आनुषंग प्रयोजन॥३६॥

३६। प॰ अनु॰—यही इच्छा (प्रेमरस का आस्वादन और राग भक्ति का प्रचार) ही जैसे श्रीकृष्ण के प्रकट होने का कारण है। असुरसंहार केवल आनुषंगिक प्रयोजन है।

अमृतप्रवाह भाष्य

३६। कृष्णावतार में जिस प्रकार उक्त इच्छाओं के कारण श्रीकृष्ण प्रकट हुये, उसमें असुर-संहार मूल प्रयोजन नहीं था, केवल आनुषंगिक प्रयोजन था, उसी प्रकार गौरावतार में श्रीकृष्णचैतन्य पूर्णतम भगवान् हैं। जिसमें नाम-कीर्त्तनरूप युगधर्म-प्रवर्त्तन उनका निज कार्य

नहीं था, परन्तु किसी गूढ़ कारण के लिये जब पूर्ण भगवान् ने अवतरित होने का विचार किया, तब घटनानुसार उसी समय युगधर्म-काल आकर उपस्थित हो गया। अतएव श्रीगौरांग महाप्रभु का गूढ़ अन्तरङ्ग प्रयोजन एवं युगधर्म-प्रचार-रूप बाह्य प्रयोजन—इन्हीं दो कारणों से अवतीर्ण होकर, श्रीमन् महाप्रभु ने भक्तवृन्द के साथ प्रेम एवं नामसंकीर्त्तन का आस्वादन किया।

धर्मसंस्थापनादि स्वयंरूप श्रीकृष्ण
अथवा श्रीगौर का मुख्य कार्य नहीं—

एइ मत चैतन्य-कृष्ण पूर्ण भगवान्।
युगधर्मप्रवर्त्तन नहे ताँर काम॥३७॥

३७। प० अनु०—उसी प्रकार श्रीकृष्णचैतन्य पूर्ण भगवान् हैं। युगधर्म प्रवर्त्तन अर्थात् कलियुगमें नाम प्रचार करना इनका मुख्य कार्य नहीं है।

स्वांश युगावतार के साथ
अवतारी का मिलन—

कोन कारणे यबे हैल अवतारे मन।
युगधर्म-काल हैल से काले मिलन॥३८॥

३८। प० अनु०—किसी कारणवश जब भगवान् ने अवतार लेने की इच्छा की, उसी समय युगधर्म प्रचार का समय भी उसी काल में मिल गया।

गुह्य एवं बाह्य कारणवशतः अवतीर्ण
होकर स्वयं आचार एवं प्रचार—

दुइ हेतु अवतरि' लञा भक्तगण।
आपने आस्वादे प्रेम-नाम-संकीर्त्तन॥३९॥
सेइ द्वारे आचण्डाले कीर्त्तनसंचारे।
नाम-प्रेममाला गाँथि' पराइल संसारे॥४०॥
एइमत भक्तभाव करि' अंगीकार।
आपनि आचरि' भक्ति करिल प्रचार॥४१॥

३९-४१। प० अनु०—स्वयं प्रेम का आस्वादन करने के लिए एवं नाम संकीर्त्तन प्रचार—इन दो कारणों से भक्तवृन्द के साथ अवतीर्ण होकर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य रूप से अवतरित हुए। स्वयं आस्वादन करते समय उन्होंने चण्डाल तक को भी कीर्त्तन वितरित किया और नाम को प्रेम माला में गूँथकर समस्त जगत् को पहना दिया। इस प्रकार भक्तभाव को अङ्गीकार करके स्वयं आचरण करके भक्ति का प्रचार किया।

अनुभाष्य

४१। श्रीकृष्ण ने औदार्यलीला को प्रकट करने की इच्छा से अपनी नित्य गौरलीला को प्रपंच में प्रकाशित किया। नित्य गौर-लीला में श्रीकृष्ण का भक्तभाव उनकी नित्यलीला की चमत्कारिता है। स्वयंरूप श्रीकृष्ण ने नित्यगौर-लीला को प्रपंच में अवतीर्ण कराके जीवों के लिये सेव्य श्रीकृष्ण की सेवा को सुलभ किया है। अप्राकृत विप्रलम्भ के स्वरूपज्ञान के अभाव के कारण प्राकृत-साहजिक-लम्पट-सम्प्रदाय जो श्रीगौरसुन्दर के द्वारा भक्तभाव-अङ्गीकार को विपर्यस्त करके उन्हें सम्भोग-विग्रह के रूप में अवैधभाव से सजाना चाहते हैं एवं अपने आप को 'नदीया-नागरी' अथवा 'गौर-नागरी' आदि काल्पनिक अभिधानों से भूषित करके नित्य विप्रलम्भ-रस के भक्त अथवा आश्रय-जातीय भावों का विलोप साधन करते हुए जिस दौरात्म्य का प्रकाशन करते हैं, इससे स्वयं-रूप श्रीकृष्ण सन्तुष्ट नहीं होते। स्वयंरूप श्रीगौरविग्रह उन सब प्राकृत भोगपरायण साहजिकसमूहों पर कृपा करने के स्थान पर उन्हें बहुत दूर त्याग देते हैं। कृष्णलीला का सम्भोग-विचार विप्रलम्भरस-लीलामय कृष्णभक्ति के विनाश की चेष्टा है; वह श्रीगौरविद्वेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

शान्त के अतिरिक्त चार रसों के
आश्रयवर्ग को कृष्णप्रीति ही चाहिये—

दास्य, सख्य, वात्सल्य आर ये शृंगार।
चारि प्रेम, चतुर्विध भक्तइ आधार॥४२॥

४२। प० अनु०—दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार—यह चार प्रकार के प्रेम हैं। चार प्रकार के भक्त ही इसके आधारस्वरूप हैं।

कृष्ण के सुखविधान में भक्तों का
निज-निज रस की श्रेष्ठता को मानना—

निज निज भाव सबे श्रेष्ठ करि' माने।
निजभावे करे कृष्णसुख-आस्वादने॥४३॥

४३। प० अनु—अपने-अपने भावों को सभी भक्त दूसरों से श्रेष्ठ मानते हैं और अपने भाव के अनुसार श्रीकृष्ण को सुखी कर स्वयं उस सुख का आस्वादन करते हैं।

निरपेक्ष विचार से अप्राकृत् मधुर-रस में अन्यान्य रसों के अन्तर्भुक्त रहने के कारण कृष्णप्रीतिचेष्टा सबसे अधिक—

तटस्थ हइया हृदि विचार यदि करि।
सब रस हइते शृंगारे अधिक माधुरी॥४४॥

४४। प० अनु—यदि निरपेक्ष होकर मन में विचार किया जाए, तो सभी रसों की अपेक्षा शृंगार-रस में सर्वाधिक माधुर्य है।

अमृतप्रवाह भाष्य

४२-४४। दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन चार प्रकार के रसों में प्रत्येक रस ही अपने-अपने भक्तों के निकट कृष्णसुखास्वादन-हेतु श्रेष्ठ प्रतीत होता है, किन्तु तटस्थ होकर अर्थात् निरपेक्षभाव से देखने पर ऐसा निश्चय होगा कि मधुर अर्थात् शृंगार-रस की माधुरी अन्य तीन रसों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर रस में
उत्तरोत्तर—कृष्णसुखास्वादन का आधिक्य—
(भ:र:सि:,द:वि:, स्थायिभावलहरी ३८ श्लोक)

यथोत्तरमसौ स्वादुविशेषोल्लासमय्यपि।
रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते कापि कस्यचित्॥४५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४५। यह उल्लासमयी रति उत्तरोत्तर विशेष आस्वादन-मयी प्रतीत होती है। उस रति का स्थलविशेष में वासनानुसार परमास्वादन-विशेष होकर मधुर-रस के रूप में प्रकाशन होता है।

अनुभाष्य

४५। असौ (रतिः) यथोत्तरम् (उत्तरो त्तर-क्रमेण) स्वादुविशेषोल्लासमयी (मधुरविशेषस्य आधिक्यवती) अपि वासनया (वास्नाभेदेन) का अपि कस्यचित् (भक्त-स्य) स्वाद्वी भासते।

मधुर-रस में दो प्रकार की स्थिति, स्वकीया एवं परकीया—

अतएव मधुर रस कहि तार नाम।
स्वकीया-परकीया-रूपे द्विविध संस्थान॥४६॥

४६। प० अनु०—अतएव इसका नाम मधुर-रस है। यह मधुर-रस स्वकीया एवं परकीया रूप से दो प्रकार का है।

अनुभाष्य

४६। उज्ज्वलनीलमणि में—स्वकीया कृष्ण-वल्लभा,—"करग्राहविधिं प्राप्ताः पत्युरादेश- तत्पराः। पातिव्रत्यादविचलाः स्वकीयाः कथिता इह।" यथाविधि शास्त्रानुसार जिन सबका पाणिग्रहण (विवाह) हुआ है, पति के आदेश-पालन में जो तत्पर हैं एवं पतिव्रता-धर्म से जो विच्युत नहीं होती हैं, वे सब 'स्वकीया' रमणियाँ हैं। परकीया, (कृष्णवल्लभा)—"रागेणैवार्पितात्मानो-लोकयुग्मानपेक्षिणा। धर्मेणास्वीकृतायास्तु परकीया भवन्ति ताः।" परपुरुष के प्रति अनुरागवश आकृष्ट होकर जो आत्मसमर्पण करती हैं एवं इस प्रकार का यौन सम्बन्ध धर्मशास्त्रविधि में स्वीकार्य नहीं है, यह जानकर भी जो इसलोक एवं परलोक की किसी प्रकार की असुविधा की अपेक्षा नहीं करतीं, वे सब 'परकीया' रमणी हैं।

इनमें से परकीया-भाव में कृष्णप्रीति की
सबसे अधिकता एवं केवल व्रज में ही अधिष्ठान—

परकीया-भावे अति रसेर उल्लास।
व्रजविना इहार अन्यत्र नाहि वास॥४७॥

४७। प० अनु—परकीया-भाव में रस का अतिशय उल्लास है। यह भाव व्रज के अतिरिक्त और कहीं नहीं है।

व्रजललनाओं में पारकीया-भाव का नित्यावस्थान
एवं श्रीराधा में उसकी पराकाष्ठा—

ब्रजवधुगणेर एइ भाव निरवधि।
तार मध्ये श्रीराधार भावेर अवधि॥४८॥
प्रौढ़-निर्मलभाव प्रेम सर्वोत्तम।
कृष्णेर माधुर्यरस-आस्वाद-कारण॥४९॥

४८-४९। प० अनु०—व्रजवधुओं में यह भाव निरन्तर विद्यमान रहता है और इनमें से श्रीराधिका में यह भाव पराकाष्ठा को प्राप्त है। प्रौढ़ एवं निर्मल भाव से युक्त प्रेम ही सर्वोत्तम है। ऐसा प्रेम ही श्रीकृष्ण के माधुर्य-रस को आस्वादन कराने का कारण है।

श्रीराधा के भाव को अङ्गीकार करके गौररूप
में अपनी तीन वाञ्छाओं को पूर्ण करना—

अतएव सेइ भाव अंगीकार करि'।
साधिलेन निज वांछा गौरांग-श्रीहरि॥५०॥

५०। प० अनु—अतएव उसी भाव को अङ्गीकार करके गौराङ्ग-श्रीहरि ने अपनी इच्छाओं को पूर्ण किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

४६-५०। अन्य तीन रसों की अपेक्षा शृंगार-रस में अधिक माधुर्य होने के कारण इसे 'मधुर रस' कहा जा सकता है। इस मधुर रस की दो प्रकार की स्थितियाँ हैं—स्वकीया और पारकीय। श्रीकृष्ण की विवाहित पति मानने के कारण जो मधुर-रस उदित होता है, उसे स्वकीय मधुर-रस कहते हैं एवं श्रीकृष्ण को उपपति जानकर जो मधुर-रस उदय होता है, उसे पारकीय मधुर-रस कहते हैं। मधुररस के विचारकगणों ने इसे सर्वसम्मति से स्वीकार किया है कि, पारकीयभाव में मधुररस का उल्लास अधिक है, व्रज के बिना इस रस की स्थिति अन्यत्र नहीं है। अनेक व्यक्ति सोचते हैं कि, श्रीकृष्ण नित्य गोलोक विहारी हैं—वे कुछ ही समय के लिये व्रज में उदित होकर इस पारकीयभाव से लीला करते हैं। श्रीगोस्वामी पादगण का विचार ऐसा नहीं है। श्रीगोस्वामी-पादगणों के मतानुसार व्रजविहार भी नित्य है। नित्य चिन्मयधाम गोलोक के नितान्त अन्तरङ्ग-प्रकोष्ठ का नाम ही 'व्रज' है। जिस प्रकार प्रपंचावतार में श्रीकृष्ण की लीलाएँ हुई हैं, उसी प्रकार नित्यधाम व्रज में भी वैसी लीलाएँ नित्य विराजमान हैं। व्रज में पारकीय-रस नित्य विराजित रहता है। श्रीकविराजगोस्वामी ने तृतीय परिच्छेद में कहा है,—"अष्टाविंश चतुर्युगे द्वापरेर शेषे। ब्रजेर सहित हय कृष्णेर प्रकाशे।" 'ब्रजेर सहिते'—इस वाक्य से स्पष्ट समझ में आता है कि, चिन्मयधाम में 'व्रज' नामक एक अचिन्त्य पीठ है। श्रीकृष्ण अपनी चित्त्छक्ति के प्रभाव से उसी पीठ के साथ प्रपंच में अवतीर्ण हुये थे। गोलोक के अन्तः पुरस्वरूप उस नित्य व्रज के अतिरिक्त उस पारकीय-रस की स्थिति अन्यत्र नहीं है। क्योंकि, वहाँ गोलोक की अपेक्षा अनन्त गुणशाली उत्कृष्ट रस अवस्थान करता है। प्रकटव्रज में अप्रकट व्रज की विचित्रता जीवों के नेत्रों के समक्ष प्रकट हुई हैं, केवलमात्र यही। इन व्रज-वधुओं के भावों की अवधि अर्थात् चरम सीमा श्रीराधा में है। परिपक्व-विमलभावरूप श्रीराधा का व्रजगत-प्रेम ही सर्वोत्तम है। श्रीकृष्ण के माधुर्यरस का जितनी दूर तक आस्वादन सम्भव है, उतनी दूर तक इसकी प्राप्ति ही इसका कारण है। अतएव उसी भाव को अङ्गीकार करके गौराङ्ग-श्रीहरि ने अपनी इच्छाओं को परिपूर्ण किया है।

(स्तवमाला में प्रथम चैतन्याष्टक का द्वितीय श्लोक)

सुरेशानां दुर्गं गतिरतिशयेनोपनिषदां
मुनीनां सर्वस्वं प्रणतपटलीनां मधुरिमा।
विनिर्यासः प्रेम्णो निखिलपशुपालाम्बुजदृशां
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्॥५१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५१। जो देवताओं के लिये दुर्गम, उपनिषदों के लिए कष्टगम्य, मुनियों के सर्वस्व, प्रणतपटली भक्तवृन्द (शरणागत भक्तों) के माधुर्य स्वरूप, व्रज युवतियों के नयनगत प्रेम के निर्यास-वस्तुस्वरूप वही चैतन्यचन्द्र क्या फिर से मेरे नयनपथ के पथिक होंगे?

अनुभाष्य

५१। सुरेशानां (महेन्द्रादीनां) दुर्गं (दुरधिगम्य: आ-श्रय:) उपनिषदां (वेदशिरोभागानाम्) अतिशयेन गति: (लक्ष्य) मुनीनां सर्वस्वं (जडनिर्विण्णानां एकमात्रधन) प्रणतपटलीनां (भक्तसमूहानां) मधुरिमा (सौन्दर्याश्रय:) निखिलप-पशुपालाम्बुजदृशां (समस्तव्रजवनितानां) प्रेम-ण: विनिर्यास: (सार:) स चैतन्य: पुन: अपि किं मे दृशो: पदं यास्यति (प्राप्स्यति) ?

(स्तवमाला के द्वितीय चैतन्याष्टक का तृतीय श्लोक)

अपारं कस्यापि प्रणयिजनवृन्दस्य कुतुकी
रसस्तोमं हृत्वा मधुरमुपभोक्तुं कमपि य:।
रुचं स्वामावव्रे द्युतिमिह तदीयां प्रकटयन्
स देवश्चैतन्याकृतिरतितरां न: कृपयतु॥५२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५२। जो कौतुकी कृष्ण प्रणयिजनों के रससमूह का आस्वादन करके अपार (असीम) किसी एक प्रकार के मधुर-रसविशेष का आस्वादन करने की इच्छा से निजवर्ण को छिपाकर श्रीराधा की अङ्ग कान्ति को स्वीकार करके चैतन्याकृति में प्रकट हुये हैं, वे हम पर विशेष कृपा करें।

अनुभाष्य

५२। कुतुकी (भावस्वादनानन्द:) य: कस्य अपि प्रणयिजनवृन्दस्य (निजप्रीति-विग्रहस्य) कमपि (अनि-र्वचनीयम्) अपारं मधुरं रसस्तोमं हृत्वा उपभोक्तुं (स्वयं तद्भाव-ग्रहणेन) आस्वादयितुं तदीयां (तत् प्रणयिजन-सम्बन्धिनीं) द्युतिं (शोभा) प्रकटयन् (प्रकाशयन) स्वां (स्वकीयां घन श्यामरूपा) द्युतिं आवव्रे (आवृतवान्) स: चैतन्याकृतिर्देव: (गोपीजनवल्लभ:) न: (अस्मान्) अतितरां कृपयतु।

भावग्रहणेर हेतु करिल धर्म स्थापन।
तार मुख्य हेतु कहि, शुन सर्वजन॥५३॥
मूल हेतु आगे श्लोकेर कैल आभास।
एवे कहि सेइ श्लोकेर अर्थ प्रकाश॥५४॥

५३-५४। प० अनु०—भाव ग्रहण करने की इच्छा से धर्म की स्थापना की (यहाँ तक कह आया हूँ।) अब मुख्य कारणों को कह रहा हूँ। उसे श्रवण कीजिए। मुख्य कारण के वर्णन के लिए पहले श्लोक का आभास व्यक्त किया गया था अब उसी श्लोक का अर्थ प्रकाशित कर रहा हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

५३-५४। श्रीराधा के भावग्रहण की इच्छा से श्रीकृष्ण धर्मस्थापनकार्य में प्रवृत्त हुये। उस कार्य का जो मुख्य कारण है, वह कह रहा हूँ। मूल कारण कहने के लिये अब तक श्लोक के आभास को व्यक्त किया है।

अनुभाष्य

५३-५४। इस चार पंक्तियों के स्थान पर किसी-किसी पाठ में छह पंक्तियाँ दिखाई देती हैं। जैसे— "भाव-ग्रहणेर हेतु करिल धर्म स्थापन। मूलहेतु आगे श्लोकेर करिव विवरण। भाव-ग्रहणेर एइ शुनह प्रकार। ताहा लागि पञ्चम श्लोकेर करिये विचार। एइ त पञ्चम श्लोकेर कहिल आभास। एवे कहि सेइ श्लोकेर अर्थ प्रकाश।।"

आदिलीला के मङ्गलाचरण के
१४ श्लोकों में से पञ्चम श्लोक की व्याख्या—
(श्रीरूपगोस्वामी-कड़चा का श्लोक)

राधाकृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-
देकात्मानावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्द्वयंचैक्यमाप्तं
राधाभावद्युतिसुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्॥५५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५५। श्रीराधाकृष्ण की प्रणय-विकृति रूप ह्लादिनी-शक्ति से श्रीराधाकृष्ण स्वरूपत: एकात्मक होकर भी विलासतत्त्व की नित्यता-हेतु श्रीराधा और श्रीकृष्ण इन नित्यरूपों से दो स्वरूपों में विराजमान हैं। वे दोनों तत्त्व अब एकस्वरूप, श्रीचैतन्य-तत्त्व के रूप में प्रकटित हैं। इसलिए श्रीराधा के भाव एवं अङ्गकान्ति द्वारा सुवलित

उन्हीं कृष्णस्वरूप श्रीगौरसुन्दर को मैं प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

५५। राधा कृष्णप्रणयविकृतिः (कृष्णस्य प्रणय-विकृतिः प्रेमविलासरूपा ह्लादिनीशक्तिः); एकात्मानौ (अभिन्नात्मानौ) पुरा (अनादिकालतः) तौ (राधाकृष्णौ) भुवि देहभेदं (विषयाश्रयगत- विग्रहद्वयभेद) गतौ (प्राप्तौ) अधुना (इदानीं) तद्द्वयं (तयोर्द्वयं) ऐक्यम् आप्तम्। राधाभावद्युतिसुवलितं (भावश्चद्युतिश्च भावद्युति, राधायाः भावद्युती, ताभ्यां सुवलितं युक्तम्, अन्तः कृष्णं बहिर्गौरं) कृष्णस्वरूपं चैतन्याख्यं प्रकटं (प्रकटित-विग्रहे) नौमि (प्रणमामि)।

पञ्चमश्लोक की व्याख्या आरम्भ;
गौरावतार के गूढ़ कारण,
पहले राधाकृष्ण-तत्त्व—

राधाकृष्ण एक आत्मा, दुइ देह धरि'।
अन्योन्ये विलासे रस आस्वादन करि'॥५६॥

५६। प० अनु०—श्रीराधा और श्रीकृष्ण एक ही आत्मा हैं। लीला रस आस्वादन के लिए वे पृथक-पृथक शरीर धारण करके विलास करते हैं।

राधागोविन्दमिलित-तनु गौर—

सेइ दुइ एक एबे चैतन्य गोसाञि।
भाव आस्वादिते दोँहे हइला एकठाँइ॥५७॥

५७। प० अनु०—भाव-आस्वादन-हेतु वे दोनों अब श्रीचैतन्य गोसाईं के रूप में एक हो गये हैं।

गौरतत्त्वमहिमा-वर्णन के निमित्त
राधागोविन्द के प्रणय की व्याख्या—

इथि' लागि' आगे कहि ताहार विवरण।
याहा हइते हय गौरेर महिमा-कथन॥५८॥

५८। प० अनु०—इसी कारण पहले श्रीराधा और श्रीकृष्ण का वर्णन कर रहे हैं, जिससे श्रीगौर की महिमा का वर्णन हो सके।

श्रीराधा-तत्त्व एवं श्रीकृष्ण के
साथ उसका सम्बन्ध—

राधिका हयेन कृष्णेर प्रणय-विकार।
स्वरूपशक्ति—'ह्लादिनी' नाम याँहार॥५९॥

५९। प० अनु०—श्रीराधिका, श्रीकृष्ण के प्रणय की विकार हैं। उन्हें श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति या ह्लादिनी भी कहते हैं।

ह्लादिनी-शक्ति के लक्षण—

ह्लादिनी कराय कृष्णे आनन्दास्वादन।
ह्लादिनी द्वारा करे भक्तेर पोषण॥६०॥

६०। प० अनु०—ह्लादिनी श्रीकृष्ण को आनन्द का आस्वादन कराती है और इसी ह्लादिनी के द्वारा श्रीकृष्ण भक्तों का पोषण करते हैं।

एक ही शक्तिमान की एक ही शक्ति के तीन रूप,
(१) आनन्द अथवा रसास्वाद-दान,
(२)कर्त्तृत्व-परिचालन या भोक्तृत्व-सम्पादन एवं
(३) सत्ता का प्रकाशन या अस्तित्व-विधान

सच्चिदानन्द, पूर्ण, कृष्णेर स्वरूप।
एकइ चिच्छक्ति ताँर धरे तिन रूप॥६१॥
आनन्दांशे ह्लादिनी, सदंशे सन्धिनी।
चिदंशे सम्वित्—यारे ज्ञान करि' मानि॥६२॥

६१-६२। प० अनु०—श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द पूर्ण स्वरूप हैं। उनकी एक ही चित्शक्ति तीन रूप धारण करती है। ये तीन रूप इस प्रकार हैं,—आनन्द के अंश में ह्लादिनी, सत् के अंश में सन्धिनी और चित् के अंश में संविद्; जिसे ज्ञान भी कहा जाता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

५६-६२। अन्योन्ये—परस्पर में। इस पद्यसमूह का वाक्यार्थ स्पष्ट है, किन्तु भावार्थ गूढ़ है। राधा—शक्ति, कृष्ण—शक्तिमान तत्त्व हैं। "शक्ति-शक्तिमतोरभेदः" इस वेदान्त-वचन का अर्थ यही है कि, किसी भी विचार से शक्ति के आधार से शक्ति को पृथक् करना सम्भव नहीं

है। किन्तु अविचिन्त्य-शक्ति के कारण राधाकृष्ण परस्पर विलास आस्वादन-हेतु नित्य पृथक् होते हुए भी युगपत् एक ही हैं। राधा वास्तव में श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति ह्लादिनी-तत्त्व हैं; ये श्रीकृष्ण को परमानन्द में निमग्न रखती हैं, इसलिये उनका यह नाम (ह्लादिनी) है। फिर, वे श्रीकृष्ण के चित् विभिन्नांशरूप जीवों की स्वरूपगत प्रेमपुष्टि-क्रिया के द्वारा लक्षित है। पूर्णतत्त्व शक्तिमान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। वह एक ही चिच्छक्ति पहले सदंश में सन्धिनी अर्थात् सत्ताविस्तारिणी, चिदंश में पूर्णज्ञानरूप संविद्तत्त्व अर्थात् श्रीकृष्ण का स्वरूपतत्त्व, और आनन्दांश में ह्लादिनी अर्थात् उसी स्वरूपतत्त्व की आह्लाददायिनी हैं।

अनुभाष्य

६०। श्रीजीवप्रभु प्रीतिसन्दर्भ में (६५ संख्या)—"अथ श्रुतौच—'भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो, भक्तिरेव भूयसी' इति श्रूयते। तस्मादेवं विविच्यते। या चैवं भगवन्तं स्वानन्देन मदयति, सा किंलक्षणा स्यात्? इति। न तावत् सांख्यानामिव प्राकृत-सत्त्वमय-मायिकानन्दरूपा, भगवतो मायानभिभाव्यत्वश्रुतेः स्वतस्तृप्तत्वाच्च। न च निर्विशेष- वादिनामिव भगवत् स्वरूपानन्दरूपा अतिशयानुपपत्तेः। अतो नितरां जीवस्य स्वरूपानन्दरूपा अत्यन्त क्षुद्रत्वात् तस्य। ततो 'ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंश्रये। ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते।' इति श्रीविष्णुपुराणानुसारेण ह्लादिनाख्य-तदीयस्वरूपशक्त्यानन्दरूपवेत्यवशिष्यत—यया खलु भगवान् स्वरूपानन्द-विशेषी भवति, ययैव तं तमानन्दमन्यानप्यनुभावयतीति। अथ तस्या अपि भगवति सदैव वर्त्तमान यातिशयानुपपत्तेस्त्वेवं विवेचनीयं, श्रुतार्थन्यथानुपपत्त्यर्थापत्तिप्रमाणसिद्धत्वात्। तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनीवृत्तिर्नित्यं भक्तवृन्देष्वेव निक्षिप्यमाना भगवत् प्रीताख्यया वर्त्तते। अतस्तदनुभवेन श्रीभगवानपि श्रीमद्भक्तेषु प्रीत्यतिशयं भजत इति।

वेदों में भी कथित है कि, भक्ति ही भक्त को भगवान् के निकट ले जाती है, भक्ति ही भक्त को भगवद्दर्शन कराती है, भगवान् भक्ति के वशीभूत हैं एवं वहाँ भक्ति का ही बाहुल्य कथित है। अतएव इस प्रकार से विवेचित हो रहा है—जो वस्तुशक्ति भगवान् को निज आनन्द के द्वारा उन्मत्त कराती है, उसका लक्षण क्या है? इसके उत्तर में श्रुति कहती है,—माया भगवान् का अतिक्रमण नहीं कर सकती एवं भगवान् भी स्वतः तृप्त होने के कारण सांख्यमतवादियों के सिद्धान्तानुसार उस वस्तु-शक्ति को प्राकृत सत्ताविशिष्ट मायिक आनन्दरूपा नहीं कह सकते। उस वस्तुशक्ति को निर्विशेषवादियों की भाँति भगवत् स्वरूपानन्द-रूपा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह सिद्धान्त पूर्वापर विचार में विशेषरूप से असिद्ध है। अतएव वह जीवों की स्वरूपानन्द-रूपा भी नहीं है, क्योंकि नित्य होने पर भी जीव अत्यन्त क्षुद्र है। इसलिये सर्वशक्तिमान् भगवान् में ही केवल एकमात्र 'ह्लादिनी' 'सन्धिनी' एवं 'संवित्'—रूप तीनों शक्तियाँ अवस्थित हैं। हे भगवन्! गुणवर्जित आप में आह्लाद एवं कलेशमिश्र भाव नहीं हैं"—इस विष्णुपुराण के वचनानुसार उनकी ह्लादिनी नामक स्वरूपशक्ति ही आनन्दरूपा है, क्योंकि इस शक्ति के द्वारा ही भगवत् स्वरूप में आनन्द-विशेष लक्षित होते हैं एवं भगवान् इसी शक्ति के द्वारा उस प्रकार का आनन्द अन्यान्य भक्तवृन्द को प्रदान करते हैं, यही अन्तिम सिद्धान्त है। भगवान् में ह्लादिनी शक्ति नित्य वर्तमान रहने के कारण निर्विशेषवादियों का उक्त सिद्धान्त विशेषरूप से परित्याज्य है—यही जानना होगा, क्योंकि श्रुति के अर्थसमूह की अन्यरूप से असंगति होने पर फलान्तर की आशंका होती है अर्थात् विष्णुपुराण का उक्त प्रमाण वेदार्थ-सहित एकरूप में सिद्ध है इस कारण से निर्विशेषवादियों की उस प्रकार की उक्ति वेदार्थ के विपर्यय की जननी है एवं वेदार्थ के तात्पर्य के विषयीभूत नहीं है। इसलिये उस ह्लादिनी की ही सर्वानन्दातिशायिनी नित्यवृत्ति भक्तवृन्द में प्रदत्त होने पर 'भगवत्-प्रीति' आख्या प्राप्त करती है। श्रीभगवान् भी उसी प्रीति को भक्त में अनुभव करके भक्त से प्रीति ग्रहण करते हैं।

श्रीभगवान् में तीन प्रकार की शक्ति की कथाएँ

विष्णुपुराण में कथित होने के कारण, जो शक्ति भगवान् का आनन्द विधान करती है, वह सांख्य के जड़ानन्द अथवा निर्विशेषवादी के शक्ति-शक्तिमत् तत्त्व में पार्थक्य-विचार करने की अनभिज्ञता के कारण केवल चिदेकानन्द स्वरूप है, ऐसा नहीं है। ह्लादिनीशक्ति ही भगवान् को आनन्द प्रदान करती है एवं भगवान् ह्लादिनीशक्ति के द्वारा जीव को अपने प्रति प्रीतिधर्म प्रदान करते हैं, फिर वे भक्त की भगवत्-प्रीति से बाध्य होकर उस प्रीति को पुष्ट करते हैं।

६२। श्रीजीवप्रभु भगवत्सन्दर्भ में (१०२ संख्या)—"यया सत्तां दधाति धारयति च सा सर्वदेशकालद्रव्यादि-प्राप्तिकरी सन्धिनी; तथा संविद् रूपोऽपि यया संवेति संवेदयति च, सा संवित्; तथा ह्लादरूपोऽपि यया संविदुत्-कर्षरूपया तं ह्लादं संवेत्ति संवेदयति च, सा ह्लादिनीति विवेचनीयम्। तदेवं तस्या मूलशक्तेस्त्र्यात्मकत्त्वे सिद्धे येन स्वप्रकाशतालक्षणेन तद्वृत्ति विशेषेण स्वरूपं स्वयं स्वरूपशक्तिर्वा विशिष्टं वा विर्भवति तद्विशुद्धसत्त्वम्। तच्चान्यनिरपेक्षस्ततप्रकाश इति ज्ञापनज्ञानवृत्तिकत्वात् संविदेव। अस्य मायया स्पर्शाभावात् विशुद्धात्वम्। *** यतश्च सत्त्वात् लोको वैकुण्ठाख्यः प्रकाशते। सत्त्व-शब्देन स्वप्रकाशता-लक्षण-स्वरूप-शक्तिवृत्तिविशेष उच्यते। प्रकृतिगुणः सत्त्वमित्यशुद्धसत्त्व लक्षण प्रसिद्-ध्यानुसारेण तथाभूतश्चिच्छक्तिविशेषः सत्त्व मिति संगति लाभात्। ततश्च तस्य स्वरूपशक्तिवृत्तित्वेन स्वरूपात्म-तैवेत्युक्तम्। प्राकृताः सत्त्वादयो गुणा जीवस्यैव न त्वीश-स्येति श्रूयते। यथैकादशे—"स त्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे' इति। श्रीविष्णुपुराणे च—"सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु।" अत्र प्राकृता इति विशिष्या प्राकृता-स्त्वन्ये गुणास्तस्मिन् सन्तयेवेति व्यंजितम्। तथा च दशमे देवेन्द्रेणौक्तम्—"विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम्। मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते तेऽनुग्रहणानुबन्धः॥" प्रकृतिगुणः सत्त्वं, गोचरस्य बहुरूप-त्वे रजः, बहुरूपस्य तिरोहितत्वे तमः। तथा परस्पर-स्योदासीनत्वे सत्वम्; उपकारित्वे रजः; अपकारित्वे तमः।

तत्रचेदमेव विशुद्धसत्त्वं सन्धिन्यंशप्रधानं चेदाधार-शक्तिः। संविदंशप्रधानमात्मविद्या, ह्लादिनी-सारांश प्रधानं गुह्यविद्या। युगपत् शक्तित्रय प्रधानं मूर्त्तिः। अत्रा धार-शक्त्याः भगवद्धाम प्रकाशते।"

भगवान् जिस शक्ति के द्वारा सत्ता को धारण करते हैं एवं कराते हैं, वह सभी देशकालद्रव्यादि-प्रकाशिका 'सन्धिनीशक्ति' है; जिस शक्ति के द्वारा स्वयं जानने एवं जानकारी देने में समर्थ होते हैं, वह 'संवित्शक्ति' है; चित् प्रधान जिस शक्ति के द्वारा स्वयं आनन्द को जानते हैं एवं दूसरों को भी आनन्द की जानकारी देने में समर्थ हैं, उसे 'ह्लादिनी शक्ति' के रूप में विवेचित करना होगा।

उसी मूल पराशक्ति की तीनरूपता सिद्ध हुई; उस स्वतः प्रकाश-लक्षणमय जिस वृत्ति-विशेष के द्वारा स्वयं भगवान् अपनी ही स्वरूप-शक्ति अथवा चिद्वैशिष्ट्य आदि का आविर्भाव करते हैं, वही 'विशुद्धस त्त्व' है। वह अन्य-निरपेक्ष एवं भगवत् प्रकाशरूप है। स्वयं अनुभव करने एवं अन्य को अनुभव करा देने की, दोनों वृत्तियों की वर्तमानता के कारण उसे संवित् भी कहा जा सकता है। मायास्पर्श न रहने के कारण उसकी विशुद्धता है एवं जिस विशुद्धसत्त्व से 'वैकुण्ठ' नामक धाम का प्रकाशन होता है। इस 'विशुद्धसत्त्व' शब्द से स्वतः प्रकाश-लक्षणमय भगवत् स्वरूप-शक्ति की वृत्तिविशेष को समझा जाता है। प्राकृत अशुद्धता-लक्षण की प्रसिद्धि-संगत होने के कारण शुद्धसत्त्व अथवा सन्धिनी चिच्छक्ति विशेष है। शुद्धसत्त्व स्वरूपशक्ति की वृत्ति होने के कारण यह भी स्वरूप-शक्त्यात्मक है। प्राकृत सत्त्वादि गुणसमूह जीवों में ही है, ईश्वर में नहीं, यह बात श्रुति एवं स्मृति में कथित है; जैसे एकादश स्कन्द में भगवान् ने कहा है—"सत्त्वरजस्तमरूप गुणत्रय मुझसे विमुख जीवों के साथ सम्बन्धयुक्त हैं, कभी भी मेरे साथ इन सबका सम्बन्ध नहीं है।" विष्णुपुराण में भी कथित है कि, जिनमें अप्राकृत गुणसमूह विराजमान हैं, उन ईश्वर में सत्त्वादि प्राकृत

गुण नहीं रहते हैं, नहीं रह सकते है; उस निखिल शुद्ध-वस्तु-समूह में से अविमिश्र शुद्धवस्तु आदिपुरुष भगवान् श्रीमन्नारायण प्रसन्न हो जायें।' यहाँ 'प्राकृत' इस विशेषण के द्वारा विशेष करके उनमें (श्रीभगवान् मे) जो उससे अलग अप्राकृत गुणसमूह वर्त्तमान हैं, उसे व्यक्त किया जा रहा है। दशम स्कन्ध में देवराज इन्द्र की उक्ति—'हे भगवन्, आपका धाम विशुद्ध सत्त्वमय है, वह शान्त और तपस्यारूप सेवामय है एवं रजस्तम-रहित है; आपमें यह मायामय गुणप्रवाह एवं प्राकृत गुणों का संस्पर्श अथवा ग्रहणादि नहीं है। अव्यक्त अवस्था में सत्त्वगुण, बाहरी अभिव्यक्ति एवं उत्पत्तिशील अनेकों प्रकाश में रजोगुण, अनेक प्रकाशन के अभाव से तमोगुण अर्थात् जहाँ तीनों गुण परस्पर शिथिल अथवा उदासीन हैं, वहाँ स त्त्वगुण है, जहाँ कार्यकारिता अथवा क्रियाशीलता है वहाँ रजोगुण एवं जहाँ ध्वंस अथवा विनाशभाव है, वहाँ तमोगुण वर्त्तमान है।

यहाँ यह विशुद्धसत्त्व ही सन्धिनी-अंश-प्रधान आधार शक्ति है; संविद्-अंशप्रधान आत्म-विद्या और ह्लादिनी सारांशप्रधान गुह्यविद्या (प्रेमभक्ति) है। यह युगपत् त्रिशक्ति प्रधान मूर्त्ति अथवा विग्रह है। इसी आधार-शक्ति के द्वारा भगवद्-धाम का प्रकाशन होता है।

परतत्त्व वास्तव-वस्तुस्वरूप है एवं तीनों शक्तियों में नित्य प्रकटित है। तीनों शक्तिमयी एक परा अचिन्त्य-शक्ति से वैकुण्ठ आदि स्वरूपवैभव, तटस्थाख्य चिदेकात्म शुद्धजीव-रूप में, बहिरंग-वैभव जड़ात्मप्रधानरूप में एवं पूर्णस्वरूप के साथ चार प्रकार से नित्य अवस्थित है। स्वरूप एवं तद्रूपवैभव-शक्ति अन्तरङ्गा शक्ति के स्वयंरूप एवं वैभव-प्रकाशभेद से दो रूपों में अवस्थित है। अङ्गी के अन्तः अङ्ग में जो शक्ति विराजमान है, वही 'अन्तरङ्गा' है। अन्तरङ्गा शक्ति के शक्तिमत् तत्त्व स्वयंरूप भगवान् निज वैकुण्ठ आदि स्वरूपवैभव का प्रकाशन करते हैं। 'प्रधान' एवं प्राकृत द्रव्यसमूह भगवान् के बाहरी अंग हैं। यह बहिरङ्गा-शक्ति प्राकृत जगत् में ब्रह्मा से लेकर स्थावर प्रस्तरादि देह तक में तटस्थ शक्तिपरिणत जीवों को आवृत करके लघु-गुरुभाव में वर्त्तमान रहती है।

स्वरूप-शक्ति तीन विभागों में परिलक्षित होती है। उन सबको अंशिनी (स्वरूप) शक्ति का अंश कहा गया है। शक्ति की नित्य वर्त्तमानता है अथवा सदंश अर्थात् कालादि के द्वारा क्षुभित होने की अयोग्यता-हेतु वह 'सन्धिनी' नाम से परिचित है। ज्ञातृत्व अथवा चिदंश नित्यानन्द से विशेषतायुक्त होकर अद्वयज्ञान 'संविद्' नाम से परिचित है अर्थात् जिसमें कृष्ण का स्वतः कर्त्तृत्व पूर्ण चिद्धर्म के रूप में परिचित है, वही 'संविद्शक्ति' नाम से प्रसिद्ध है। अंशिनी का जो अंश सत् और चित् से विशेषत्व की रक्षा करता है, वही आनन्दमयी शक्ति है। विशेषत्व के वर्णन में त्रिविधशक्तियों का विभिन्न परिचय रहने पर भी ये तीनों शक्तियाँ स्वरूपशक्ति में ही स्थित हैं। फिर तटस्था एवं बहिरङ्गा शक्ति में इस शक्तित्रय के विभिन्न अधिष्ठान समूह परिलक्षित होते हैं। बहिरङ्गा-शक्ति में त्रिगुण एवं तट-स्थाख्य शक्ति के बद्ध-जीवांश में उस त्रिगुण की क्रिया एवं मुक्त जीवांश में सच्चिदानन्द की आश्रय-जातीयता की सेवन-वृत्ति में सेव्य के लिये उपयोगी शक्ति का अंश विराजमान है।

(श्रीविष्णुपुराण १.१२.६९ श्लोक में ध्रुव की उक्ति)

ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥६३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६३। हे भगवन्, आप जो सर्वाश्रय, निर्गुणस्वरूप हैं, आपमें 'ह्लादिनी', 'सन्धिनी' एवं 'संवित्' तीनों विषय ही चिन्मय हैं। मायावश-योग्य चित्कण जीव मायाविष्ट होकर, माया के त्रिगुणों का आश्रय करके जिस अवस्था को प्राप्त हुआ है, उससे शक्ति 'ह्लादकरी', 'तापकरी' एवं 'मिश्रा'—इन तीन प्रकार के भावों को प्राप्त हुयी है। किन्तु आप जो सर्वगुणातीत हैं, आप में वही शक्ति निर्मल एवं निर्गुण स्वरूप में एकाकार है।

अनुभाष्य

६३। हे भगवन्, एक (मुख्या अव्यभिचारिणी स्वरूप भूताशक्तिः) ह्लादिनी (आह्लादकारी) सन्धिनी (सन्तता) संवित् (विद्याशक्तिः) सर्व-संस्थितौ (सर्वस्य सम्यक् स्थितिर्यस्मात् तस्मिन् सर्वाधिष्ठानभूते) त्वयि एव (न तु जीवेषु)। (तत्र च या गुणमयी त्रिविधा सा त्वयि नास्ति); ह्लादतापकरी मिश्रा (ह्लादकरी मनः प्रसादोत्था सात्त्विकी, विषयवियोगादिषु तापकरी तामसी, तदुभयमिश्रा विषय-जन्या राजसी) गुण-वर्जिते (सत्त्वादिगुणैर्वर्जिते) त्वयि (भगवति, परन्तु न जीवेषु) एव (अत्र क्रमादुत्कर्षेण सन्धिनी संवित् ह्लादिन्यो ज्ञेयाः)

इस श्लोक की एवं श्रीमद्भा १.७.६ श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामि ने श्रीविष्णुस्वामी के द्वारा कथित इस श्लोक को 'सर्वज्ञसूक्त'—वचन के रूप में उद्धृत किया है—'ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। स्वाविद्या-संवृतो जीवः संकलेश-निकराकरः॥'

सन्धिनी की भगवत् प्राकट्य-विधानरूप सेवा—

सन्धिनीर सार अंश—'शुद्धसत्त्व' नाम।
भगवानेर सत्ता हय याहाते विश्राम॥६४॥

६४। प० अनु०—सन्धिनी शक्ति के सार अंश का नाम 'शुद्धसत्त्व' है, जिसमें भगवान् की सत्ता विश्राम करती है।

कृष्ण के सन्धिनी के अधीश्वर होने पर भी उनकी यावतीय भोग्य वस्तु ही सन्धिनी की परिणति है—

माता, पिता, स्थान, गृह, शय्यासन आर।
ए सबष्ठकृष्णेर शुद्धसत्त्वेर विकार॥६५॥

६५। प० अनु—माता, पिता, स्थान, गृह और शय्या-सन—ये सब श्रीकृष्ण के शुद्धसत्त्व के विकार हैं।

अमृतप्रवाहभाष्य

६४-६५। सत्ताविस्तारिणी सन्धिनीशक्ति के सारांश का नाम 'शुद्धसत्त्व' है। सत्त्व दो प्रकार का होता है—मिश्रसत्त्व एवं शुद्धसत्त्व। वस्तुसत्ता का ही नाम 'सत्त्व' है। सन्धिनी-क्रिया के अतिरिक्त कोई सत्त्व हो ही नहीं सकता। भगवान् की सत्ता का प्रकाशन भी उसी सन्धिनी का कार्य है। शुद्धचित्त-तत्त्व में सन्धिनी की जो क्रियाएँ हैं, उन्हीं का नाम 'शुद्धसत्त्व' है। भगवान् के माता, पिता, स्थान, गृह, शय्या एवं आसन आदि—सब श्रीकृष्ण के शुद्धसत्त्व का विकार अर्थात् विशेषरूप कार्य है। यहाँ इस तत्त्व को स्पष्टरूप से समझने के लिये यह भी जानना उचित होगा कि, स्वरूप अर्थात् चित्शक्तिगत-सन्धिनी ने चित्जगत् की समस्त सत्ता अर्थात् भगवान् के चिन्मय स्वरूप, भगवान् के दास, दासी, संगिनी, पितामाता आदि सभी चिन्मय स्वरूपों की सत्ता का प्रकाशन किया है; मायाशक्तिगत सन्धिनी ने जड़जगत् की समस्त भौतिक सत्ता का विस्तार किया है एवं जीव-शक्तिगत सन्धिनी ने जीवों की चित्कण-रूप सत्ता का विस्तार किया है।

अनुभाष्य

६४। श्रीकृष्ण के मातापिता, स्थान, गृह आदि शुद्ध-सत्त्व की ही परिणति है। परिणत शुद्धसत्त्व में भगवान् का स्वरूप शुद्धसत्त्वात्मक रूप में परिदृष्ट होता है। श्रीकृष्ण का आकरस्थल जो शुद्धसत्त्व है, इसमें कृष्णो-त्पत्ति का स्वरूप दिखाई देने पर भी श्रीकृष्ण वसुदेवा-त्मक शुद्धसत्त्व-मात्र नहीं हैं, वे अद्वयज्ञान संवित्-सार भगवद्ज्ञान के नित्याधिष्ठातृ-देव हैं। आश्रय-जातीय कृष्ण-सम्बन्ध-विशिष्ट वस्तुसमूह शुद्ध-सत्त्वात्मक होने के कारण भक्तवृन्द उसमें सेवोन्मुख चित्त से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध को देख पाते हैं; वस्तुतः भगवान् चित्स्वरूप हैं।

(श्रीमद्भागवत ४.३.२३)

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयते॥६६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६६। श्रीमहादेव ने कहा है,—भगवान् की स्वरूप-

शक्तिगत सन्धिनी के प्रभाव से शुद्धसत्त्वरूप जो नित्यतत्त्व है, उसी का नाम 'वसुदेव' है। उसी शुद्धसत्त्व में चैतन्य-स्वरूप भगवान् का नित्य प्रकाशन हुआ है; उन्हीं का ही नाम 'वासुदेव' है। वे जड़ीय एवं मायिक—सभी इन्द्रियों के अतीत है। मैं भक्तिपूतचित्त से उनके लिए प्रणाम विधान करता हूँ। तात्पर्य यही है कि, कृष्णस्वरूप आदि उनकी स्वरूपशक्तिगत सन्धिनी के नित्य-कार्य हैं।

अनुभाष्य

६६। पिता दक्ष के गृह में यज्ञदर्शनार्थ गमनोन्मुखी सती के प्रति कर्मजड़ दक्ष को विष्णुविमुख जानकर महादेव की उक्ति,—

विशुद्धं (स्वरूपशक्तिवृत्तित्वात् जाड्यांशेन रहितं) सत्त्वं (चिच्छक्तिवृत्तिमयम् अप्राकृत) वसुदेवशब्दितं (वसत्यस्मिन्निति वसुः, तथा दीव्यति द्योतते इति देवः, स चासौ च चेति; यत् (यस्मात्) तत्र (सत्त्वे) पुमान् (पुरुषः) अपावृत (आवरणशून्यः सन्) ईयते (प्रकाश-यते)। तस्मिन् सत्त्वे अधोक्षजः (अधः कृतम् अति-क्रान्तम् अक्षजम् इन्द्रियजज्ञानं येन सः) भगवान् वासुदेवः (वसुदेव भवति प्रतीयते वासुदेवः परमेश्वरः प्रसिद्धः वासयति देवमिति व्युत्पत्या) मे (मया) मनसा विधीयते (विशेषेण चिन्त्यते)।

श्रीजीवप्रभु (भगवत्सन्दर्भ की १०२श संख्या में)—"अथ मूर्त्या परतत्त्वात्मकः श्रीविग्रहः प्रकाशते; इयमेव वसुदेवाख्या।" परवर्त्ती शेष अंश में एवं श्रीमद्-भागवत में इस श्लोक का गौड़ीय भाष्य ११७२-७४ पृष्ठ द्रष्टव्य हैं।

संवित् शक्ति के द्वारा भगवान् को अनुभव-कर्त्तृत्व अथवा आनन्द के भोक्तृत्व की उपलब्धि एवं अद्वयज्ञान में भगवज् ज्ञान—

कृष्णे भगवत्ता-ज्ञान सम्वितेर सार।
ब्रह्मज्ञानादिक सब तार परिवार॥६७॥

६७। प० अनु०—श्रीकृष्ण की भगवत्ता का ज्ञान संवित्-शक्ति का सार है और सब ब्रह्मज्ञानादि उन श्रीकृष्ण की भगवत्ता के ज्ञान का परिवार है।

अमृतप्रवाह भाष्य

६७। संवित् क्रिया का नाम 'ज्ञान' है। देखनेवाले दो हैं—कृष्ण एवं जीव। कृष्ण का दर्शन पूर्णज्ञान-मूलक होने के कारण उनके संवेदन-कार्य में अन्तर नहीं है, अतः उनके ज्ञान को 'ईक्षण-मात्र' कहा जा सकता है। जीवों के दर्शन में अनेक अन्तर हैं, अतएव जीवदर्शन को मैं 'संवेदनस्वरूपज्ञान' कहता हूँ। वह ज्ञान तीन प्रकार का है—साक्षात् ज्ञान, व्यतिरेकज्ञान एवं विकृत-ज्ञान। जड-विषयों में जीवों के जड़ इन्द्रिय समूह के द्वारा जो ज्ञान है, वह कभी भी निर्मल नहीं है, अतएव विकृत है; वह माया-शक्तिगत संवित् की विकृतिमय-क्रिया है। जड़ से अलग निर्विशेषज्ञान जड़ज्ञान से सम्बन्धाश्रित होने के कारण क्षुद्र है, वह केवल जीवगत-संवित् शक्ति का कार्य है, अतएव असम्पूर्ण है। ये सभी ज्ञान 'ब्रह्मज्ञान', 'आत्मज्ञान', 'निर्विशेषज्ञान' एवं 'अभेद-ज्ञान' आदि नामों से परिचित हैं। चित्शक्तिगत—संवित् शक्ति जब ह्लादिनी के साथ युक्त होकर जीवों के प्रति कृपा करती है, तब कृष्ण में भगवत्ता-ज्ञान का जन्म होता है; अतएव वही संवित् का सार है। ब्रह्मज्ञान एवं विषयज्ञान उसके परिवार अर्थात् अवस्थाभेद से आवरणमात्र है।

ह्लादिनी के विभाग—

ह्लादिनीर सार 'प्रेम', प्रेमसार 'भाव'।
भावेर परमकाष्ठा, नाम 'महाभाव'॥६८॥

६८। प० अनु०—ह्लादिनी का सार 'प्रेम' और प्रेम का सार 'भाव' है। भाव की पराकाष्ठा का नाम 'महाभाव' है।

मूर्त्तिमती कृष्णप्रीति-पराकाष्ठा ही श्रीराधिका—

महाभावस्वरूपा श्रीराधा-ठाकुराणी।
सर्वगुणखनि कृष्णकान्ताशिरोमणि॥६९॥

६९। प० अनु०—महाभाव स्वरूपा श्रीराधा ठाकुराणी, जो सब गुणों की खान है एवं समस्त कृष्ण-कान्ताओं की शिरोमणि है।

अमृतप्रवाह भाष्य

६८-६९। ह्लादिनी की क्रिया का नाम 'प्रेम' है। वह प्रेम दो प्रकार का है अर्थात् शुद्धप्रेम एवं मिश्रप्रेम। कृष्णगत ह्लादिनीशक्ति श्रीकृष्ण को आनन्द प्रदान करके जब शुद्ध संवित् के साथ मिलित होकर जीवों पर कृपा करती है, तभी जीवों में 'कृष्णप्रेम' का उदय हो जाता है। जीवगत ह्लादिनी का विकार जब मायाशक्ति के द्वारा जीवों को आकर्षित करता है, तभी जीव विषयप्रेम में मत्त होकर कृष्णप्रेम से वंचित् हो जाते हैं, और इसी कारण सुख-दुख के वशीभूत हो जाते हैं। जीव के लिये प्रेम का आदर्श व्रज की गोपीमण्डलीयाँ हैं। इनमें श्रीराधा सबसे प्रधान हैं। चित्स्वरूपगत ह्लादिनी का सार 'प्रेम' है एवं प्रेम का सार 'भाव' है, उसी भाव की पराकाष्ठा जो 'महाभाव' है, वह महाभाव स्वरूपिणी श्रीमती राधिका ठाकुरानी हैं। वही सर्वगुणों की आकर एवं कृष्णकान्ताओं की शिरोमणि है।

(उज्ज्वलनीलमणि के श्रीराधा-प्रकरण के द्वितीय अंक में)

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी॥७०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७०। व्रजविलासिनी गोपियों में चन्द्रावली एवं राधिका श्रेष्ठ हैं; फिर उन दोनों में भी श्रीमती राधिका सर्वप्रकार से श्रेष्ठ हैं। वे महाभावस्वरूपा हैं, उनके समान गुण किसी और गोपी में नहीं हैं।

अनुभाष्य

७०। तयो: (श्रीराधाचन्द्रावल्यो:) उभयो: अपि मध्ये राधिका सर्वथाधिका (सर्वप्रकारेण अधिका श्रेष्ठा)। इयं (श्रीराधिका) महाभावस्वरूपा (मादनाख्यमहाभावविशिष्टा अष्टभाव-समन्वित विग्रहा) गुणै: (पंचविंशति-संख्यकै:) अति वरीयसी (सर्वश्रेष्ठा)।

उनके भीतर और बाहर के प्रत्येक अङ्ग में कृष्णप्रेम का रूप प्रकटित—

कृष्णप्रेमभावित याँर चित्तेन्द्रिय-काय।
कृष्ण-निजशक्ति राधा क्रीड़ार सहाय॥७१॥

७१। प० अनु०—जिनका हृदय, इन्द्रियसमूह और देह कृष्ण-प्रेम से भावित है, वही श्रीराधा, श्रीकृष्ण की निज शक्तिस्वरूपा हैं एवं श्रीकृष्ण की लीला में सहायक हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

७१। श्रीमती राधिका चिन्मयी हैं—जड़-गत् जीवों की भाँति उनमें जड़इन्द्रिय, जड़देह एवं लिंगदेहरूप चित्त नहीं है। उनके चिन्मय-स्वरूप में शुद्ध-चिन्मयचित्त, चिन्मय-इन्द्रिय एवं चिन्मय-शरीर है। उनका हृदय, इन्द्रिय-समूह और श्रीअङ्ग कृष्णप्रेम के द्वारा परिभावित हैं। वे श्रीकृष्ण की निज-शक्ति हैं, अतएव उनकी क्रीड़ा की एकमात्र सहायक हैं। शक्तिमत-तत्त्व श्रीकृष्ण, शक्ति से पृथक हो जाने पर कोई क्रीड़ा नहीं कर सकते। स्वरूपशक्ति की सन्धिनी शक्ति ने श्रीकृष्ण के चिन्मय कलेवर को प्रकट किया है। उस कलेवर में जब श्रीकृष्ण क्रीड़ा करते हैं, तब श्रीमती की सहायता के अतिरिक्त और क्या करेंगे? अतएव श्रीराधिका ही कृष्ण की क्रीड़ा की एकमात्र सहायक हैं।

गोलोक में गोपियों के साथ नित्य रसविलासी गोविन्द—
(ब्रह्मसंहिता ५.३७)

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभि:।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥७२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७२। आनन्दचिन्मयरस के द्वारा प्रतिभावित जिन सब गोपियों के साथ अपने स्वरूप में अखिलात्मभूत आदिपुरुष गोविन्द गोलोक में नित्य निवास करते हैं, मैं उनका भजन करता हूँ।

अनुभाष्य

७२। अखिलात्मभूतः (गोकुलवासिनां प्रियवर्गाणाम् आत्मभूतः) सः एव आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिः (आनन्दचिन्मयात्मकेन रसेन प्रतिक्षणं भाविताभिः) निज-रूपतया (स्व-स्वरूपतया प्रसिद्धाभिः) कलाभिः (ह्लादिनीशक्तिरूपाभिः) ताभिः (व्रजसुन्दरीभिः सह) गोलोक एव निवसति, तमादिपुरुषं गोविन्दमहं भजामि।

कृष्णेरे कराय यैछे रस आस्वादन।
क्रीड़ार सहाय यैछे, शुन विवरण॥७३॥

७३। प० अनु०—श्रीमती राधिका श्रीकृष्ण को जिस प्रकार रस आस्वादन कराती हैं एवं जिस प्रकार श्रीकृष्ण की क्रीड़ा में सहायता करती हैं अब उसका श्रवण करो।

ऐश्वर्य एवं माधुर्य भावगत मधुर रति
में तीन प्रकार की कृष्णकान्ताएँ—

कृष्णकान्तागण देखि त्रिविध प्रकार।
एक लक्ष्मीगण, पुरे महिषीगण आर॥७४॥
ब्रजांगना-रूप, आर कान्तागण-सार।
श्रीराधिका हइते कान्तागणेर विस्तार॥७५॥

७४-७५। प० अनु०—कृष्णकान्तागण तीन प्रकार की हैं—लक्ष्मीगण, द्वारका की महिषीगण और व्रजाङ्गना-गण। ये व्रजाङ्गनागण सब कान्ताओं की सार रूप (श्रेष्ठ) हैं एवं श्रीराधिका के द्वारा ही इन कान्ताओं का विस्तार होता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

७५। आर (और)—अन्य प्रकार। तृतीय प्रकार अर्थात् व्रजाङ्गनागण, ये सभी प्रकार की कान्ताओं में साररूप अर्थात् श्रेष्ठ हैं।

सभी कृष्णकान्ताएँ ही अंशिनी राधा की अंश—

अवतारी कृष्ण यैछे करे अवतार।
अंशिनी राधा हइते तिन गणेर विस्तार॥७६॥
वैभवगण येन ताँर अंग-विभूति।
विम्ब-प्रतिविम्ब-रूप महिषीर तति॥७७॥

७६-७७। प० अनु०—अवतारी श्रीकृष्ण से जैसे समस्त अवतार आविर्भूत होते हैं, वैसे ही अंशिनी श्रीराधा से तीन प्रकार की कान्ताओं का विस्तार होता है। वैभव समूह (लक्ष्मीगण) श्रीमती राधिका की अङ्ग विभूति हैं और महिषीगण बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में उनकी विस्तृती हैं।

अनुभाष्य

७७। 'वैभवगण येन ताँर अङ्ग-विभूति' के स्थान पर 'लक्ष्मीगण हन ताँर अंशविभूति' यह पाठ भी दिखाई देता है।

द्वारिका में महिषीगण एवं
नारायण-वासुदेवादि की लक्ष्मीयाँ—

लक्ष्मीगण ताँर वैभव-विलासांशरूप।
महिषीगण प्राभव-प्रकाशस्वरूप॥७८॥

७८। प० अनु०—लक्ष्मीगण श्रीराधा की वैभव-विलास अंशरूपा हैं और महिषीगण उनकी प्राभव-प्रकाश स्वरूप हैं।

ललितादि व्रजाङ्गनागण कायव्यूह—

आकार-स्वरूप-भेदे ब्रजदेवीगण।
कायव्यूहरूप ताँर रसेर कारण॥७९॥

७९। प० अनु०—व्रजदेवीगण रस की पुष्टि के लिए आकार और स्वरूप भेद से श्रीमती राधिका की कायव्यूहरूपा हैं।

अनुभाष्य

७९। 'स्वरूप' शब्द के स्थान पर पाठभेद में 'स्वभाव' शब्द है।

रसों को वर्धित करने के लिये एवं चमत्कारिता-हेतु
एक ही ह्लादिनी के अनेक प्रकाश—

बहु कान्ता बिना नहे रसेर उल्लास।
लीलार सहाय लागि' बहु त' प्रकाश॥८०॥

८०। प० अनु०—अनेक कान्ताओं के बिना रस में उल्लास नहीं होता इसलिए श्रीमती राधिका लीला की सहायता के लिए अनेक कान्ताओं को प्रकटित करती हैं।

इनमें व्रजविलास ही कृष्णप्रीति
की श्रेष्ठ चमत्कारिता—

तार मध्ये व्रजे नाना भाव-रस-भेदे।
कृष्णके कराय रासादिक-लीलास्वादे॥८१॥

८१। प० अनु०—इस प्रकार श्रीमती राधिका व्रज में अनेक प्रकार के भावरस को प्रकाशित करके श्रीकृष्ण को रास-आदि लीलाओं का आस्वादन कराती हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

७६-८१। अवतारिस्वरूप श्रीकृष्ण जिस प्रकार से पुरुषादि-अवतार समूह का विस्तार करते हैं, उसी प्रकार श्रीमती राधिका सभी कान्ताओं की अंशिनी हैं, अर्थात् उनके अंश से लक्ष्मीगण, महिषीगण एवं व्रजाङ्गनागण विस्तृत हुई हैं। यह सब कान्तागण श्रीराधा की अङ्गविभूति के रूप में वैभवसमूह में परिगणित हैं। बिम्ब और प्रतिबिम्ब के रूप में महिषीगणों की विस्तृतियाँ हैं। इसमें विचार यह है कि, लक्ष्मीगण श्रीराधिका की वैभव-विलासांशरूप एवं महिषीगण उनकी प्राभव प्रकाशस्वरूप हैं। व्रजदेवीगण अपने स्वयं के कायव्यूह-रूप आकार एवं स्वरूप-प्रभेद से रसों का कारण है। अनेक कान्ताओं के बिना रस का उल्लास नहीं होता, इसी कारण से लीला के सहायस्वरूप ऐसे अनेक 'प्रकाश' उनके देखे जाते हैं। इनमें से व्रजरस सबसे ऊपर है। श्रीकृष्ण को वहाँ अनेक प्रकार के भावरसों के द्वारा श्रीमती राधिका रासादि-लीलाओं का आस्वादन कराती हैं।

श्रीराधिका के पाँच नाम—

गोविन्दानन्दिनी, राधा, गोविन्दमोहिनी।
गोविन्दसर्वस्व, सर्वकान्ताशिरोमणि॥८२॥

८२। प० अनु०—श्रीमती राधिका के पाँच नाम—गोविन्दानन्दिनी, राधा, गोविन्दमोहिनी, गोविन्दसर्वस्व एवं सर्वकान्ताशिरोमणि।

अनुभाष्य

८२। यही श्रीराधा के पाँच नाम हैं।

(वृहद्गोतमीय-तंत्रवचन में)

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सन्मोहिनी परा॥८३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८३। परदेवता राधिकादेवी 'साक्षात्कृष्णमयी', 'सर्व-लक्ष्मीमयी', 'सर्वकान्ति', 'कृष्णसन्मोहिनी' एवं 'परा-शक्ति' के रूप में कथित है।

अनुभाष्य

८३। राधिका (आराधयति या सा), देवी (द्योतते इति) कृष्णमयी (कृष्णाभिन्ना कृष्ण-स्फूर्त्तिमति), पर-देवता (परमपूज्या), सर्वलक्ष्मीमयी (लक्ष्मीगणानां मूला-धिष्ठात्री), सर्वकान्तिः (सर्वाः कान्तयः शोभाः यस्यां सा) सन्मोहिनी (श्रीकृष्णं सन्मोहयितुं शीलं यस्याः सा) परा प्रोक्ता (कथिता)।

श्लोकार्थ—(१) सौन्दर्य अथवा विलास का आधार—

'देवी' कहि द्योतमाना, परमा सुन्दरी।
किम्बा, कृष्णपूजा-क्रीड़ार वसति नगरी॥८४॥

८४। प० अनु०—'देवी' शब्द का अर्थ द्योतमाना परमसुन्दरी है या फिर कृष्णपूजा एवं क्रीड़ा की वसति नगरी (वास स्थान) है।

(२) कृष्ण में एकान्त तन्मयता—

कृष्णमयी—कृष्ण याँर भितरे बाहिरे।
याँहा याँहा नेत्र पड़े, ताँहा कृष्ण स्फूरे॥८५॥

८५। प० अनु०—कृष्णमयी अर्थात् जिनके भीतर-बाहर श्रीकृष्ण ही विराजमान हैं, जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टि पड़ती है वहाँ श्रीकृष्ण ही स्फुरित होते हैं।

कृष्ण के साथ अभेदात्मता—

किम्बा, प्रेमरसमय कृष्णेर स्वरूप।
ताँर शक्ति ताँर सह हय एकरूप॥८६॥

८६। प॰ अनु॰—अथवा श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रेम-रसमय है, श्रीराधा उनकी शक्ति होने के कारण उनसे अभिन्न अर्थात् एकरूप है।

(३) कृष्ण-वाञ्छा-पूर्ण-रूप कृष्ण की आराधना-हेतु 'राधा'-संज्ञा—

कृष्णवाञ्छा-पूर्त्तिरूप करे आराधने।
अतएव 'राधिका' नाम पुराणे वाखाने॥८७॥

८७। प॰ अनु॰—वे श्रीकृष्ण की समस्त वाञ्छाओं को पूर्ण करते हुए उनकी आराधना करती है इसलिए पुराणों में उनको 'राधिका' कहा गया है।

अमृतप्रवाह भाष्य

८४-८७। द्युतिविशिष्टा परमसुन्दरी होने के कारण, अथवा कृष्णपूजारूप जो क्रीड़ा है, उसकी वसति-स्थान (वास-स्थान) होने के कारण वे 'देवी' हैं।

'कृष्णमयी' शब्द के दो अर्थ हैं—एक अर्थ, जिनके भीतर-बाहर श्रीकृष्ण हैं, और जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टिपात पड़ती है, वहाँ श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति होती है; अथवा—श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रेमरसमय है, उन्हीं की शक्ति होने से वे एक तत्त्व (एकरूप) हैं, यही कृष्णमयी शब्द का द्वितीय अर्थ है। श्रीकृष्ण की वाञ्छाओं को पूर्ण करना ही जिनकी आराधना है उन्हींको 'राधिका' कहा गया है।

भागवत में राधानाम का संकेत—
(श्रीमद्भागवत १०.३०.२८)

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥८८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८८। हे सहचरि, हम सबको छोड़कर श्रीकृष्ण जिन्हें निभृत में ले गये हैं, उन्होंने ईश्वर हरि की अवश्य ही अधिक आराधना की है। इसका गूढ़ अर्थ यही है कि, कृष्णकान्ताओं की शिरोमणि होने के कारण उनका नाम 'राधिका' है।

अनुभाष्य

८८। रासलीलास्थली से श्रीराधा एवं श्रीगोविन्द दोनों के चले जाने पर गोपियों की उक्ति,—

अनया (राधया) नूनं (निश्चित) ईश्वरः (भक्ताभीष्ट-प्रदाता) भगवान् हरिः आराधितः (आराध्य वशीकृतः, न तु अस्माभिः व्रजवधूभिः); यत् (यस्मात्) गोविन्दः प्रीतः (प्रीतियुक्तः सन्) नः (अस्मान्) विहाय (विशेषेण त्यक्त्वा) यां (राधा) रहः (निर्जने प्रदेशे) अनयत्।

(४) कृष्णाकर्षिणी होने के कारण श्रीराधा सर्वश्रेष्ठ, समग्र भक्तों एवं भक्ति की पोषिका एवं मूल आकर—

अतएव सर्वपूज्या, परम-देवता।
सर्वपालिका, सर्व जगतेर माता॥८९॥

८९। प॰ अनु॰—अतएव श्रीमती राधिका सबकी पूज्नीय, परम देवता, सबका पालन करनेवाली एवं समस्त जगत् की माता हैं।

(५) समस्त कृष्णकान्ताओं की अंशिनी—

'सर्वलक्ष्मी'-शब्द पूर्वे करियाछि व्याखान।
सर्वलक्ष्मीगणेर तिहों हन अधिष्ठान॥९०॥

९०। प॰ अनु॰—'सर्वलक्ष्मी'-शब्द की व्याख्या पहले की गई है। श्रीमती राधिका समस्त लक्ष्मीगण की अधिष्ठान अर्थात् आश्रय स्वरूप हैं।

कृष्ण की समस्त ईश्वरीय शक्ति की मूल-आश्रयस्वरूपा—

किम्बा, 'सर्वलक्ष्मी'—कृष्णेर षड्विध ऐश्वर्य।
ताँर अधिष्ठात्री शक्ति—सर्वशक्तिवर्य॥९१॥

९१। प॰ अनु॰—अथवा 'सर्वलक्ष्मी'-शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण का षड्विध ऐश्वर्य। श्रीमती राधिका उनकी अधिष्ठात्री शक्ति हैं अर्थात् सभी शक्तियों में श्रेष्ठ है।

अमृतप्रवाह भाष्य

९१। राधिका सर्वलक्ष्मीसमूह की आश्रय-स्वरूपा हैं; अथवा 'सर्वलक्ष्मी'—शब्द से श्रीकृष्ण के षड्विध ऐश्वर्य को समझा जाता है; वही श्रीराधा ही श्रीकृष्ण की अधिष्ठातृ शक्ति है।

(६) सभी शोभाओं की मूल आकरस्वरूपा—

सर्व-सौन्दर्य-कान्ति वैसये याँहाते।
सर्वलक्ष्मीगणेर शोभा हय याँहा हैते॥९२॥

९२। प० अनु०—जिनमें सभी सौन्दर्य-कान्ति विराजमान हैं और जिनसे सभी लक्ष्मीसमूह की शोभा होती है।

श्रीकृष्ण की इच्छा
पूर्ण करनेवाली—

किम्बा 'कान्ति'-शब्दे कृष्णेर सब इच्छा कहे।
कृष्णेर सकल वांछा राधातेइ रहे॥९३॥
राधिका करेन कृष्णेर वांछित पूरण।
'सर्वकान्ति'-शब्देर एइ अर्थ विवरण॥९४॥

९३-९४। प० अनु०—अथवा, 'कान्ति'—शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण की सभी इच्छाएँ है। श्रीकृष्ण की सभी इच्छाएँ श्रीराधा में ही विराजमान हैं। श्रीराधिका श्रीकृष्ण की समस्त इच्छाओं को पूर्ण करती हैं। 'सर्वकान्ति'—शब्द का यही अर्थ वर्णित हुआ है।

(७) भुवनमोहन-मनोमोहिनी—

जगत्मोहन कृष्ण, ताँहार मोहिनी।
अतएव समस्तेर परा ठाकुराणी॥९५॥

९५। प० अनु०—श्रीकृष्ण समस्त जगत् को मोहित करनेवाले हैं और श्रीमती राधिका ऐसे कृष्ण को भी मोहित करनेवाली हैं। इसलिए वे सबसे श्रेष्ठ ठाकुरानी है।

अमृतप्रवाह भाष्य

९५। 'अतएव समस्तेर परा ठाकुराणी' तक 'देवी कृष्णमयी' श्लोक के प्रत्येक पद के अर्थ का विचार हुआ है।

पूर्णचन्द्र श्रीकृष्ण की पूर्णिमास्वरूपिणी—

राधा-पूर्णशक्ति, कृष्ण—पूर्णशक्तिमान्।
दुइ वस्तु भेद नाहि, शास्त्र-परमाण॥९६॥

९६। प० अनु०—श्रीराधा पूर्णशक्ति और श्रीकृष्ण पूर्ण-शक्तिमान् हैं। दोनों में कोई भी भेद नहीं, यही शास्त्र प्रमाण है।

कस्तूरी के साथ मृग का अथवा शिखा के साथ अग्नि के सम्बन्ध की भाँति राधाकृष्ण में परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध—

मृगमद, तार गन्ध—यैछे अविच्छेद।
अग्नि, ज्वालाते—यैछे कभु नाहि भेद॥९७॥

९७। प० अनु०—जैसे कस्तूरी और उसकी गन्ध अभिन्न है, अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति में किसी प्रकार का भेद नहीं है।

अमृतप्रवाह

९७। मृगमद और उसकी गन्ध दो पृथक वस्तुएँ होने पर भी जैसे अविच्छेद्य है, अग्नि एवं अग्नि की ज्वाला पृथक् वस्तु होकर भी जैसे अविछिन्न है, उसी प्रकार श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण लीलारस के आस्वादन के लिए नित्य पृथक् होते हुए भी एक स्वरूप हैं।

एकस्वरूप होकर भी आस्वादक एवं
आस्वादित-रूप में दो देह—

राधाकृष्ण ऐछे सदा एकइ स्वरूप।
लीलारस आस्वादिते धरे दुइरूप॥९८॥

९८। प० अनु०—उसी प्रकार श्रीराधा और श्रीकृष्ण सदैव एक ही स्वरूप हैं, किन्तु लीलारस के आस्वादन के लिए दो रूप धारण करते हैं।

श्रीराधा के कृष्णप्रेम को वितरित करने के लिये श्रीराधा के भाव एवं रूप को अङ्गीकार करके श्रीकृष्ण का गौरावतार—

प्रेमभक्ति शिखाइते आपने अवतरि।
राधा-भाव-कान्ति दुइ अंगीकार करि'॥९९॥
श्रीकृष्णचैतन्यरूपे कैल अवतार।
एइ त' पञ्चम श्लोकेर अर्थ परचार॥१००॥

९९-१००। प० अनु—श्रीराधा के भाव और कान्ति को अङ्गीकार करके जीवों को प्रेम भक्ति की शिक्षा देने के लिए श्रीकृष्ण श्रीकृष्णचैतन्य के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। पञ्चम श्लोक का यही अर्थ है।

अमृतप्रवाह भाष्य

९९। श्रीराधिका के भाव एवं उनकी कान्ति अर्थात् वर्ण-सौन्दर्य को स्वयं स्वीकार करके।

आदिलीला के मङ्गलाचरण के १४ श्लोकों में से षष्ठ श्लोक की व्याख्या आरम्भ—

षष्ठ श्लोकेर अर्थ करिते प्रकाश।
प्रथमे कहिये सेइ श्लोकेर आभास॥१०१॥

१०१। प० अनु०—षष्ठ श्लोक का अर्थ-वर्णन करने से पहले उस श्लोक का आभास व्यक्त कर रहा हूँ।

पूर्वाभास; नामसंकीर्त्तन-प्रवर्त्तन गौरावतार का बाह्य-हेतु—

अवतरि' प्रभु प्रचारिल संकीर्त्तन।
एहो बाह्य हेतु, पूर्वे करियाछि सूचन॥१०२॥

१०२। प० अनु०—अवतीर्ण होकर श्रीमन् महाप्रभु ने संकीर्त्तन का प्रचार किया। यह महाप्रभु के अवतार का गौण कारण है, इसकी सूचना पहले दे दी गई है।

मुख्य एवं गूढ़ कारण—वह स्वयं श्रीकृष्ण का निजकार्य है जिसे एकमात्र श्रीगौर के द्वितीय स्वरूप श्रीदामोदर स्वरूप जानते हैं—

अवतारेर आर एक आछे मुख्यबीज।
रसिकशेखर कृष्णेर सेइ कार्य निज॥१०३॥
अति गूढ़ हेतु सेइ त्रिविध प्रकार।
दामोदर-स्वरूप हैते याहार प्रचार॥१०४॥
स्वरूप-गोसाञि—प्रभुर अति अन्तरंग।
ताहाते जानेन प्रभुर एसब प्रसंग॥१०५॥

१०३-१०४। प० अनु०—श्रीचैतन्य अवतार का एक और मुख्य कारण है और वह रसिकशेखर श्रीकृष्ण का निज कार्य है। वह गूढ़ कारण तीन प्रकार का है। जिसे श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी ने प्रकाशित किया है। श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी श्रीमन् महाप्रभु के अत्यन्त अन्तरङ्ग हैं इसलिए वे श्रीमन् प्रभु के सभी प्रसङ्गों को जानते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०४। गौरावतार का मुख्य-कारण अतिशय गूढ़ है; वह कारण तीन प्रकार का है; बाद में मूल में 'श्रीराधायाः प्रणय-महिमा' श्लोक में यह कथित हुआ है।

अनुभाष्य

१०५। श्रीपुरुषोत्तम भट्टाचार्य नवद्वीप के रहनेवाले थे। श्रीमन् महाप्रभु के संन्यास-ग्रहण के पहले ही वे स्वयं संन्यासग्रहण की अभिलाषा से वाराणसी में जाकर दशनामी दण्डधारी संघ में ब्रह्मचारी बन गये। इससे उनका नाम 'श्रीदामोदरस्वरूप' हुआ, बाद में संन्यास की पूर्णागंता-हेतु अर्थात् संन्यास प्राप्त करने की प्रतीक्षा किये बिना उन्होंने श्रीमहाप्रभु के चरणकमलों में जीवनभर नीलाचल (पुरी) में वास किया। सदैव श्रीगौरसुन्दर के साथ रहकर उनके उपदिष्ट भजन आदि गाकर वे उन्हें प्रतिक्षण परमप्रीति प्रदान करते थे। श्रीप्रभु के हृदय के गूढ़भाव-समूह इन्हीं की कृपा से भक्तवृन्द को उपलब्ध हुए हैं। व्रजलीला में ये महात्मा ललितादेवी हैं, अतः वे राधिका की द्वितीय स्वरूपिणी हैं। कविकर्णपूर के द्वारा रचित 'गौरगणोद्देश-दीपिका' के मतानुसार—वे विशाखा देवी हैं। "कलाम-शिक्षयद् राधां या विशाखा व्रजे पुरा। साद्य स्वरूपगोस्वामी तत्तद्भाव-विलासवान्॥" श्रीदामोदरस्वरूप श्रीगौरलीला में राधाभावमूर्त्ति श्रीगौरहरि के द्वितीय स्वरूप हैं।

श्रीराधा के महाभाव में मग्न श्रीगौरसुन्दर—

राधिकार भावमूर्त्ति प्रभुर अन्तर।
सेइभावे सुखः-दुःख उठे निरन्तर॥१०६॥
शेषलीलाय प्रभुर कृष्णविरह-उन्माद।
भ्रममय चेष्टा, सदा प्रलापमय-वाद॥१०७॥

राधिकार भाव यैछे उद्धवदर्शने।
सेइ भावे मत्त प्रभु रहे रात्रिदिने॥१०८॥

१०६-१०८। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु का अन्तःकरण श्रीमती राधिका के भावों का मूर्त्ति-स्वरूप है। उसीके अनुरूप उसमें निरन्तर सुख और दुःख उत्पन्न होता था। शेष लीला में, श्रीमन् महाप्रभु कृष्ण विरह में उन्माद भाव तथा उसके अन्तर्गत भ्रममय चेष्टाएँ एवं प्रलापमय वचन प्रकाशित करते थे। यह भाव उद्धव को देखकर श्रीराधा में व्यक्त होते थे। श्रीमन् महाप्रभु उन्हीं भावों में रात-दिन उन्मत्त रहते।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०८। श्रीकृष्ण ने मथुरा से अपना कुशल-संवाद देने के लिये उद्धव को गोपियों के निकट प्रेरित किया था। उद्धव को देखकर श्रीमती राधिका ने किसी विचित्र भाव का प्रकाशन किया था।

अनुभाष्य

१०६। श्रीगौरसुन्दर का हृदय श्रीमती राधिका का भावमय आकार-विशिष्ट है। 'भावमूर्त्ति'—शब्द से स्थूल बुद्धि जड़तर्पणरत जनसमुदाय भावमयी-मूर्त्ति का स्वरूप समझने में असमर्थ हैं। अनर्थमुक्त जातरति भक्तवृन्द आश्रित-तत्त्व के विचार में पाँच प्रकार के देखे जाते हैं। राधिका का भाव—माधुर्य की परम उन्नत एवं सम्पूर्ण अवस्था है। वही भाव रूढ़ एवं अधिरूढ़-भेद से दो प्रकार का होता है—महिषीगीत में एवं गोपीगीत में रूढ़ एवं अधिरूढ़ दो प्रकार के भाव की अभिव्यक्ति हुई है। श्रीगौरसुन्दर में अधिरूढ़ महाभाव की कथा ही उद्दिष्ट हुई है। विधि के हट जाने पर, लौल्य (प्रलोभन) विचार से द्वारका का अधिरूढ़ भाव गोकुलभाव में पर्यवसित हुआ है। श्रीगौरसुन्दर के अन्दर (हृदय) में कृष्ण-विरह रूप विप्रलम्भ-दुःखाभास एवं कृष्णप्राप्ति-रूप सम्भोग-सुख सदैव उदित होकर भावना-पथ का अतिक्रमण-पूर्वक मधुर रस आस्वादित होता है। जो लोग भाव एवं अभाव की विशेषता को समझने में असमर्थ होकर अधिरूढ़ महाभाव को जड़ेन्द्रिय-तर्पण मूलक कहकर स्थापित करते हैं, उन्हें ही निजस्वरूप में आश्रित- तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। स्वरूप का उन्मेष न होने पर दुर्गत जीव गौरसुन्दर को व्रजनागरी के भावों से उन्मत्त न जानकर निज-जड़ेन्द्रिय-तर्पण के विषयज्ञान में 'नागर' समझकर रसाभास-दोष से दुष्ट हो जाते हैं।

१०७। भगवान् श्रीगौरहरि ने सिद्ध महापुरुष की भाँति विप्रलंभ-रस का चरम उत्कर्ष प्रदर्शित किया है। इससे अक्षजज्ञानवादी उनकी साक्षात् अनुभूति को प्रलाप-पूर्ण वाक्य एवं भ्रममय उद्यम समझते हैं। इन्द्रिय-परायण मूढ़जनगण सदैव बाहरी जगत् के संक्लेश-पाश में बद्ध रहने के कारण, सेव्यवस्तु चिन्मयी मूर्त्ति के प्रति उनके निकट आकृष्ट नहीं होते। वे समझते हैं कि, प्रत्यक्ष जगत् जैसे उनके भोग का केन्द्र है, श्रीगौरसुन्दर का अप्राकृत् चेष्टासमूह भी इसके अन्तर्भुक्त है। आनुगत्य के छल से विकृत 'नदीया-नागरी'-वाद नामक असत् मतों की इन्द्रियतर्पण-चेष्टा श्रीगौरसुन्दर एवं उनके अनुगतजन का प्रदर्शित मार्ग नहीं है—उस प्रकार के पथावलम्बीगण जड़भोगवादी हैं, अतः विष्णुविद्वेषी हैं।

१०८। श्रीकृष्ण ने गोपीगणों की एवं पितामाता की उत्कण्ठा को कुछ परिमाण तक लाघव (कम) करने की इच्छा से निज सुहृत् उद्धव को गोकुल में प्रेषित किया था। कृष्णसुहृत् उद्धव को देखकर श्रीमती राधिका ने अपना सुतीव्र अन्तिम उत्कण्ठाव्यंजक प्रचुर भावमय गूढ़रोष विविध भाषाओं में व्यक्त किया, उसी माथुरभाव में स्थित श्रीगौरसुन्दर श्रीराधातन्मयता प्राप्त करके अहर्निश (दिनरात) उन्मत्त रहे—यही चित्रजल्पभाव है। उज्ज्वल-नीलमणि में—'प्रेष्ठस्य सुहृदालोके गूढ़ रोषाभिजृम्भितः। भूरिभावमयो जल्पो यस्तीव्रोत्कण्ठितान्तिमः॥' श्रीगौर-पदाश्रित जन में यह सुदीर्घ विप्रलम्भ ही कृष्णभजन है। विप्रलम्भातिशय्य (विप्रलम्भ की अतिशयता) ही सम्भोग का कारण है—यह बात समझने में असमर्थ होकर अनेक व्यक्ति सम्भोग-स्वरूपज्ञान में साधक एवं सिद्ध दोनों के जीवन में विप्रलम्भ रसों की उद्दीप्ति की एकमात्र आव-श्यकता की उपलब्धि नहीं कर पाते।

प्रभु के हृदय के भावों का प्रकाश
एवं श्रीस्वरूप दामोदर का आनन्द-दान—

रात्रे प्रलाप करे स्वरूपेर कण्ठ धरि'।
आवेशे आपन भाव कहये उघाड़ि'॥१०९॥
यवे येइ भाव उठे प्रभुर अन्तर।
सेइ गीत-श्लोके सुख देन दामोदर॥११०॥
एवे कार्य नाहि किछु एसब विचारे।
आगे इहा विवरिव करिया विस्तारे॥१११॥

१०९-१११। प० अनु०—रात को श्रीमन् महाप्रभु श्रीस्वरूप दामोदर के कण्ठ में अपनी दोनों भुजाएँ डालकर विलाप करते और आवेश में आकर अपने हृदय के भावों को प्रकाशित करते थे। जब जो भाव श्रीमन् महाप्रभु के हृदय में उदित होता, तब उसी भावानुसार श्रीस्वरूप दामोदर गीत गाकर प्रभु को सुख देते। अभी इन विषयों को विचार करने का प्रयोजन नहीं है इसलिए इन सबको आगे के प्रसङ्गों में विस्तार-पूर्वक वर्णित करूँगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

१११। आगे इहा,—अन्त्यलीला में।

व्रज में तीन प्रकार
के वयोधर्म—

पूर्वे व्रजे कृष्णेर त्रिविध वयोधर्म।
कौमार, पौगण्ड, आर कैशोर अतिमर्म॥११२॥

११२। प० अनु०—पूर्वकाल में व्रज में अतिश्रेष्ठ और वयस-सार स्वरूप श्रीकृष्ण के कौमार, पौगण्ड और कैशोर—तीन प्रकार के वयस धर्म प्रकाशित हुए थे।

वयोभेद से श्रीकृष्ण की
लीलाओं में भेद—

वात्सल्य-आवेशे कैल कौमार सफल।
पौगण्ड सफल कैल लञा सखाबल॥११३॥

११३। प० अनु०—श्रीकृष्ण ने वात्सल्य के आवेश में कौमार-धर्म को और सखाओं के साथ मिलकर पौगण्ड-धर्म को सार्थक किया।

किशोर-लीला में सभी की सार्थकता का सम्पादन—

राधिकादि लञा कैल रासादि-विलास।
वाञ्छा भरि' आस्वादिल रसेर निर्यास॥११४॥
कैशोर-वयसे काम, जगत् सकल।
रासादि-लीलाय तिन करिल सफल॥११५॥

११४-११५। प० अनु०—श्रीकृष्ण ने श्रीराधिकादि व्रजगोपियों को लेकर रासादि विलास किया और अपने इच्छा के अनुसार रस के निर्यास (सार) का आस्वादन किया। साक्षात् मन्मथ मन्मथ स्वरूप श्रीकृष्ण ने रासादि लीला करके समस्त जगत और तीनों वयस धर्मों को सार्थक किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

११५। पाँच वर्ष तक 'कौमार'; दस वर्ष तक 'पौगण्ड'; ग्यारह से सोलह वर्ष तक 'कैशोर' और इसके बाद 'यौवन'। कौमार में वात्सल्य, पौगण्ड में सख्य एवं कैशोर में शृंगार-रस है।

काम अर्थात् साक्षात्मन्मथस्वरूप स्वेच्छामय श्रीकृष्ण ने कैशोर वयस में रासादि लीला करके सम्पूर्ण जगत् को एवं बाल्य, पौगण्ड और कैशोर—इन तीनों वयोधर्मों को सार्थक किया था।

(विष्णुपुराण ५.१३.५९)

सोऽपि कैशोरक-वयो मानयन्मधुसूदनः।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थः क्षपासु क्षपिताहितः॥११६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

११६। अमङ्गल-रहित श्रीकृष्ण ने कैशोर-वयस में रात्रि के समय स्त्रियों के मध्य स्थित होकर विहार-पूर्वक कैशोर-वयस का विशेष सम्मान किया। महाभावमयी श्रीराधा एवं भावमयी गोपीसमूह के बीच स्थित परमचैतन्य श्रीकृष्ण ही कूटस्थ तत्त्व हैं।

अनुभाष्य

११६। क्षपिताहितः (क्षपितं विनाशितं अहितं अकल्याणं येन सः) सोऽपि मधुसूदनः (श्रीकृष्णः अपि) कैशोरकवयः मानयन् (सफलीकुर्वन्) स्त्रीरत्नकूटस्थः

(स्त्रीरत्नानां गोपीनां कूटेषु समूहेषु स्थितः सन्) क्षपासु (शारदीयनिशासु) रेमे।

(भः रः सिः दः बिः—१ल—२३१ श्लोक)

वाचा सूचितशर्वरीरतिकलाप्रागल्भ्या राधिकां
व्रीडाकुंचितलोचनां विरचयन्नग्रे सखीनामसौ।
तद्वक्षोरुहचित्रकेलिमकरीपांडित्यपारं गतः
कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुंजे विहारं हरिः॥११७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

११७। इन श्रीकृष्ण ने प्रगल्भता (अत्यधिका प्रतिभा) के साथ पूर्व-रजनी की रतिकला से सम्बन्धित वचनसमूहों के द्वारा श्रीराधिका के दोनों नयनों को लज्जा के द्वारा आवृतप्राय करके, उनके स्तनयुगल में चित्रकेलिभ्रमरादि चित्रित करके सखियों के बीच विशेष पाण्डित्य का प्रकाशन किया था। इस प्रकार रसक्रीड़ा के द्वारा कुञ्ज में विहार-पूर्वक हरि, कैशोर-वयस को सार्थक करते हैं।

अनुभाष्य

११७। धीरललित नायक का लक्षण वर्णन करके श्रीकृष्णचन्द्र का धीरललित-नायकत्व दिखा रहे हैं—

सूचितशर्वरीरतिकलाप्रागल्भया (सूचितं प्रकाशीकृतं शर्वय्याः यामिन्याः रतौ कलायाः कौशलस्य प्रागल्भ्यं औद्धत्यं यया सा तया) वाचा सखीनां अग्रे राधिकां व्रीडाकुंचित लोचनां (व्रीडया लज्जया कुंचिते लोचने यस्याः सा तथाविधा) विरचयन् (कुर्वन्) तद्वक्षोरुहचित्र-केलि-मकरीपाण्डित्यपारंगतः (तस्याः श्रीराधायाः वक्षोरुहयोः कुचयोः चित्रकेलिमकरीनिर्माणेयत् पाण्डित्यं तस्य पारं गतः इति सोपहासोक्तिः, तन्निर्माण-काले करकम्पनेन चित्रस्य वक्रत्वात्ः अत्र पुनः पुनः वक्रांकनं सुष्ठु कर्त्तुं ऋजुरेखा-निर्माणव्याजेन पुनः पुनः वक्षस्पर्शात् रहसि द्विविधसम्भोग-भेदस्यान्यतम सम्प्रयोगावसरः) असौ हरिः (व्रजविलासी कुंजे) विहारं कलयन् (कुर्वन्) कैशोरं (वयः) सफली करोति।

(विदग्धमाधव के सप्तम अंक का तृतीय श्लोक)

हरिरेष न चेदवातरिस्यन्
मथुरायां मधुराक्षि राधिका च।
अभविष्यदियं वृथा विसृष्टि
र्मकरांकस्ये विशेषतस्तदात्र॥११८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

११८। हे सखि, यदि मथुरा में श्रीहरि एवं मधुरनयनी श्रीराधिका प्रकट न होते, तो सम्पूर्ण सृष्टि; विशेषतया कन्दर्पसर्ग विफल हो जाता।

अनुभाष्य

११८। श्रीवृन्दादेवी पौर्णमासी से कह रही हैं—हे मधुराक्षि, चेत् मथुरायाम् एषः हरिः राधिका च चेत (यदि) न अवातरिष्यत् तदा अत्र विसृष्टिः (जगत्सृष्टिः) वृथा अभविष्यत्; विशेषतः मकरांकस्य (कन्दर्पसर्गस्य) तु (विसृष्टिः वृथा अभविष्यत्)।

कृष्णलीला में तीन वाञ्छाओं की अपूर्त्ति—

एइ मत पूर्वे कृष्ण रसेर सदन।
यद्यपि करिल रस-निर्यास-चर्वण॥११९॥
तथापि नहिल तिन वांछित-पूरण।
ताहा आस्वादिते यदि करिल यतन॥१२०॥

११९-१२०। प० अनु०—इस प्रकार रसों के आधार श्रीकृष्ण ने यद्यपि व्रजलीला में रस-निर्यास का आस्वादन किया था, तथापि वे तीन वाञ्छाओं को पूर्ण नहीं कर पाये। जबकि इन वाञ्छाओं के आस्वादन के लिए उन्होंने यत्न भी किया था।

उनकी (१) प्रथम वाञ्छा—

ताँहार प्रथम वाञ्छा करिये व्याखान।
कृष्ण कहे,—'आमि हइ रसेर निदान'॥१२१॥

१२१। प० अनु०—अब उनकी पहली वाञ्छा की व्याख्या करता हूँ। श्रीकृष्ण कहते हैं,—मैं 'रसों का निदान (मूल कारण) हूँ'।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२१। रसों का निदान—रसों का मूल कारण। पाठभेद में, 'रसेर निधान' (रसों का निधान)—रसों का भण्डार।

राधा-प्रेम का सामर्थ्य एवं गाढ़त्व का विचार—

पूर्णानन्दमय आमि चिन्मय पूर्णतत्त्व।
राधिकार प्रेमे आमा कराय उन्मत्त॥१२२॥
ना जानि राधार प्रेमे आछे कत बल।
ये बले आमारे करे सर्वदा विह्वल॥१२३॥
राधिका प्रेमगुरु, आमि शिष्य नट।
सदा आमा नाना नृत्ये नाचाय उद्भट॥१२४॥

१२२-१२४। प॰ अनु॰—मैं पूर्णानन्दमयस्वरूप चिन्मय पूर्णतत्त्व हूँ। किन्तु श्रीराधिका का प्रेम मुझे उन्मत्त कर देता है। श्रीराधिका के प्रेम में ना जाने कितनी शक्ति है, जिसके बल पर वह मुझे सदैव विह्वल किये रहता है। श्रीराधिका प्रेम की गुरु है, मैं उनका शिष्य नट हूँ; वे मुझे सदा अनेक उद्भट (असाधारण) नृत्य करवाती है।

(गोविन्दलीलामृत में ८म सः, ७७ श्लोक)

कस्माद्वृन्दे प्रियसखि हरेः पादमूलतात् कुतोऽसौ
कुंडारण्ये किमिह कुरुते नित्यशिक्षां गुरुः कः।
त्वं त्वन्मूर्त्ति प्रतितरुलतां दिग्विदिक्षु स्फुरन्ती
शैलूषीव भ्रमति परितो नर्त्तयन्ती स्वपश्चात्॥१२५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१२५। (श्रीराधिका वृन्दा सखी से कहती है) 'हे प्रियसखी वृन्दे, तुम कहाँ से आ रही हो?' (उत्तर में वृन्दा कहती है) 'राधे, कृष्णपादमूल से आ रही हूँ।' 'कृष्ण कहाँ हैं?' 'कुण्डारण्य में (राधाकुण्ड-कानन में)'। 'वे क्या कर रहे हैं?' 'नृत्यशिक्षा में शिक्षित हो रहे हैं।' 'नृत्यशिक्षा के गुरु कौन हैं?' 'दसों दिशाओं में प्रत्येक तरु-लता में उभरती हुई तुम्हारी मूर्त्ति, जो उत्कृष्ट नटी (नृत्य करनेवाली) की तरह कृष्ण को अपने पीछे चारों ओर नचाती हुई घूम रही है।'

अनुभाष्य

१२५। श्रीराधाकृष्ण की माध्याह्निक लीला के अभ्यन्तर श्रीराधा एवं वृन्दा की परस्पर उक्ति एवं प्रत्युक्ति,—

हे प्रियसखि वृन्दे, त्वं कस्मात्? (आगता इति श्रीराधिकायाः प्रश्नस्योत्तरे वृन्दा वदति,) हरेः (भगवतो यशोदानन्दनस्य) पादमूलात्; असौ श्रीकृष्णः कुतः? (कुत्र इति श्रीराधायाः पुनः प्रश्ने, वृन्दायाः उत्तर)—कुंडारण्ये (राधाकुंड-समीपस्थकानने)। (श्रीराधा पुनः पृच्छति), इह (सः) किं कुरुते? (वृन्दाह,) नृत्यशिक्षाम्; (राधाह,) गुरुः कः? (वृन्दोवाच,) प्रतितरुलतां (तरुलताः प्रति) दिग्विदिक्षु (दशदिशि) शैलूषी (उत्कृष्ट नटी) इव स्फुरन्ती त्वन्मूर्त्तिः तं (कृष्णं) स्वपश्चात् परितो नर्तयन्ती भ्रमति।

श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा की परस्पर प्रीति की तुलना एवं वैशिष्ट्य—

निज-प्रेमास्वादे मोर हय ये आह्लाद।
ताहा हइते कोटिगुण राधा-प्रेमास्वाद॥१२६॥

१२६। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण विचार करते हैं—'अपने प्रेम के आस्वादन से मुझे जो आनन्द होता है, उससे कोटि-गुणा अधिक आनन्द श्रीराधिका को मेरे प्रेम में प्राप्त होता है।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण के परस्पर प्रेम की व्याख्या—

आमि यैछे परस्पर विरुद्धधर्माश्रय।
राधाप्रेम तैछे सदा विरुद्धधर्ममय॥१२७॥

१२७। प॰ अनु॰—मैं जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्माश्रयस्वरूप हूँ, उसी प्रकार श्रीराधा का प्रेम भी सदा विरुद्धधर्ममय है।

राधाप्रेम की विरुद्धधर्ममयता का दृष्टान्त—

राधा-प्रेमा विभु—यार बाड़िते नाहि ठाञि।
तथापि से क्षणे क्षणे बाड़ये सदाइ॥१२८॥

याहा वइ गुरुवस्तु नाहि सुनिश्चित।
तथापि गुरुर धर्म गौरव-वर्जित॥१२९॥
याहा वइ सुनिर्मल द्वितीय नाहि आर।
तथापि सर्वदा वाम्य, वक्र व्यवहार॥१३०॥

१२८-१३०। प० अनु—श्रीराधिका का प्रेम विभू है जिसके बढ़ने का कोई स्थान नहीं है तथापि वह प्रेम सदा प्रति क्षण बढ़ता ही रहता है। यह बात सुनिश्चित है कि श्रीराधिका के प्रेम से बढ़कर कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है तथापि श्रेष्ठ वस्तु के साधारण-धर्म अभिमान से भी वह रहित है। जिस प्रेम से बढ़कर सुनिर्मल और कुछ नहीं है, फिर भी वह सर्वदा वामता एवं कुटिलता व्यवहार से युक्त है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२७-१३०। मैं कृष्ण जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मसमूह का आश्रय-स्वरूप हूँ, जैसे,—निर्विकार एवं स्वेच्छामय, सर्वव्यापी एवं सुन्दरमूर्त्तिमान, निरपेक्ष एवं भक्तों का पक्ष लेनेवाला, आत्माराम एवं भक्तप्रेमाकांक्षी आदि; राधाप्रेम भी उसी प्रकार विरुद्धधर्म से परिपूर्ण है; जैसे—चरम महाभावमय; फिर भी सदैव वृद्धिशील, प्रेमगौरव से पूर्ण; फिर भी गौरव-विहीन, निर्मल होकर भी वाम्यादि-पूर्ण।

(दानकेलिकौमुदी का द्वितीय श्लोक)

विभुरपि कलयन् सदाभिवृद्धिं
गुरुरपि गौरवचर्यायाा विहीनः।
मुहुरुपिपचितवक्रिमापि शुद्धो।
जयति मुरद्विषि राधिकानुरागः॥१३१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१३१। श्रीमती राधिका का अनुराग विभु अर्थात् अन्तिम-सीमा-विशिष्ट होकर भी सदैव वर्धनशील है, अत्यन्त श्रेष्ठ होकर भी अहङ्कारादि से रहित है, शुद्ध एवं निर्मल होकर भी पुनः पुनः वक्रगतिविशिष्ट (कुटिलता पूर्ण) है; कृष्ण के प्रति राधिका का जो इस प्रकार का अनुराग है, उसकी जय हो।

अनुभाष्य

१३१। विभुः (व्यापकः) अपि सदा अभिवृद्धिम् (अभितोवृद्धिं) कलयन् (धारयन्) गुरुः अपि (श्रेष्ठोऽपि) गौरवचर्यया विहीनः (दाक्षिण्यसेवया हीनः) (मदीय तामयमधुस्नेहोत्थत्त्वात्) मुहूः (पुनः पुनः) उपचित-वक्रिमा (उपचितः वर्धितः वक्रिमाकौटिल्यः पर्यायः वाम्यलक्षणो यस्मिन् तथाभूतः) अपि शुद्धः (निरुपाधिकः) राधिकानुरागः (श्रीराधिकायाः अनुरागः) मुरद्विषि (मुरारौ श्रीकृष्णे) जयति (सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते)।

उस प्रेम का 'विषय' श्रीकृष्ण एवं 'आश्रय' श्रीराधिका—

सेइ प्रेमार राधिका परम 'आश्रय'।
सेइ प्रेमार आमि हइ केवल 'विषय'॥१३२॥

१३२। प० अनु—श्रीराधिका ही उस प्रेम की परम 'आश्रय' हैं और मैं उस प्रेम का एकमात्र 'विषय' हूँ।

विषय एवं आश्रय के परस्पर के सुख का तारतम्य—

विषयजातीय सुख आमार आस्वाद।
आमा हइते कोटिगुण आश्रयेर आह्लाद॥१३३॥

१३३। प० अनु—मैं विषयजातीय सुख का आस्वादन करता हूँ। किन्तु मेरे सुख से आश्रय जातीय सुख का आस्वादन कोटि-गुणा अधिक है।

आश्रय के अधिक सुख का दर्शन करने
से विषय को, आश्रय होने की इच्छा—

आश्रयजातीय सुख पाइते मन धाय।
यत्ने आस्वादिते नारि, कि करि उपाय॥१३४॥
कभु यदि एइ प्रेमार हइये आश्रय।
तबे एइ प्रेमानन्देर अनुभव हय॥१३५॥
एत चिन्ति' रहे कृष्ण परमकौतुकी।
हृदये बाड़ये प्रेम-लोभ धक्धकि॥१३६॥

१३४-१३६। प० अनु—मेरा मन आश्रय जातीय सुख को प्राप्त करने के लिए धावित होता है। मैं यत्नपूर्वक उसका आस्वादन नहीं कर सकता, क्या उपाय करूँ? यदि मैं किसी तरह इस प्रेम का आश्रय बन सकूँ, तभी

इस प्रेमानन्द का अनुभव सम्भव हो सकता है। परम-कौतुकी श्रीकृष्ण द्वारा ऐसी चिन्ता करने पर और उस प्रेम के प्रति लोभ के कारण उनका हृदय सदा धक् धक् करता रहता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३२-१३५। जो प्रेम करता है, वह प्रेम का 'आश्रय' है; जिसे प्रेम किया जाता है, वह प्रेम का 'विषय' है। रस तत्त्व में 'विभाव', 'अनुभाव', 'सात्त्विक' एवं 'व्यभि-चारी'—ये चार प्रकार की सामग्रियाँ हैं। विभावरूप सामग्री दो प्रकार की हैं—'आलम्बन' एवं 'उद्दीपन'। आलम्बन फिर दो प्रकार का होता है—विषय एवं आश्रय। श्रीराधा के प्रेम का 'आश्रय'—श्रीराधिका एवं प्रेम के एकमात्र 'विषय'—श्रीकृष्ण हैं। मैं कृष्ण, अपने में जिस सुख का आस्वादन करता हूँ, वह विषयजातीय सुख है; किन्तु आश्रय में जो आह्लाद अथवा सुख है, वह मेरे विषयजातीय सुख से करोड़ो गुण (अधिक) है। आश्रय-जातीय सुख का आस्वादन श्रीराधिका ही करती हैं, मैं कृष्णरूप में उसका आस्वादन नहीं कर सकता हूँ। यदि कभी मैं भी उस प्रेम का 'आश्रय' बन सकूँ, तो फिर मैं भी उस आश्रयजातीय सुखरूपी परमानन्द का अनुभव करूँगा। यह आश्रयगत प्रेमास्वादन का लोभ ही मेरी इच्छा है।

(२) द्वितीय वाञ्छा—

एइ एक, शुन आर लोभेर प्रकार।
स्वमाधुर्य देखि' कृष्ण करेन विचार॥१३७॥

१३७। प० अनु०—यह एक इच्छा है अब एक और वाञ्छा को श्रवण कीजिए। अपने माधुर्य को देखकर श्रीकृष्ण विचार करने लगे।

अपने माधुर्य को देखकर स्वयं ही चमत्कृत एवं आकर्षित—

अद्भुत, अनन्त, पूर्ण मोर मधुरिमा।
त्रिजगते इहार केह नाहि पाय सीमा॥१३८॥
एइ प्रेमद्वारे नित्य राधिका एकलि।
आमार माधुर्यामृत आस्वादे सकलि॥१३९॥

१३८-१३९। प० अनु०—मेरी मधुरिमा अनन्त, अद्भुत और पूर्ण है। त्रिभुवन में कोई भी इसकी सीमा को निर्धारित नहीं कर सकता। इस प्रेमद्वार में श्रीराधिका अकेली हैं और मेरे समस्त माधुर्यामृत का नित्य आस्वादन करती हैं।

श्रीराधा का प्रेम पूर्ण होकर भी प्रतिक्षण वर्धनशील है—

यद्यपि निर्मल राधार सत् प्रेमदर्पण।
तथापि स्वच्छता तार बड़े क्षणे क्षण॥१४०॥
आमार माधुर्य नाहि बाड़िते अवकाशे।
ए-दर्पणेर आगे नव नव रूप भासे॥१४१॥
मन्माधुर्य राधार प्रेम—दोंहे होड़ करि'।
क्षणे क्षणे बाड़े दोंहे, केह नाहि हारि॥१४२॥
आमार माधुर्य नित्य नव नव हय।
स्व-स्व-प्रेम-अनुरूप भक्ते आस्वादय॥१४३॥
दर्पनाद्ये देखि' यदि आपन माधुरी।
आस्वादिते हय लोभ, आस्वादिते नारि॥१४४॥

१४०-१४४। प० अनु०—यद्यपि श्रीराधा का सत्-प्रेमदर्पण निर्मल है, तथापि इसकी स्वच्छता प्रतिक्षण बढ़ती रहती है और मेरे माधुर्य के बढ़ने का कोई भी अवकाश नहीं है फिर भी इस दर्पण के आगे वह नये-नये रूप में प्रकाशित होता रहता है। मेरे माधुर्य और राधा के प्रेम में प्रतियोगिता होती है परन्तु दोनों ही प्रतिक्षण बढ़ते रहते हैं कोई भी पराजित नहीं होता। मेरा माधुर्य नित्य नव-नवायमान होता रहता है, अपने-अपने प्रेमानुसार भक्त उसका आस्वादन करते हैं। दर्पणादि में यदि मैं अपने माधुर्य को देखता हूँ तो मुझे भी उसे आस्वादन करने के लिए लोभ हो जाता है। परन्तु मैं स्वयं उसे आस्वादन नहीं कर सकता।

निज-माधुर्य-आस्वादन के निमित्त तदास्वादकारिणी के रूप को ग्रहण करने-हेतु लोभ—

विचार करिये यदि आस्वाद-उपाय।
राधिकास्वरूप हइते तबे मन धाय॥१४५॥

१४५। प० अनु०—अपने माधुर्य आस्वादन के उपाय का यदि विचार करता हूँ, तो श्रीराधिका स्वरूप होने के लिए मेरा मन धावित होता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३७-१४५। दूसरी वाञ्छा यही है कि—(श्रीकृष्ण विचार करते हैं), मेरा माधुर्य अद्भुत, अनन्त एवं असीम है। इस माधुर्य को एकमात्र श्रीराधिका अपने आश्रयगत प्रेम के द्वारा आस्वादन करती हैं। श्रीराधिका का शुद्ध-प्रेमदर्पण नितान्त निर्मल है, फिर भी इसकी स्वच्छता प्रतिक्षण बढ़ती रहती है। मेरा माधुर्य भी असीम होने के कारण वृद्धि के अयोग्य होने पर भी वर्धनशील है एवं स्वच्छतापूर्ण श्रीराधिका के प्रेमदर्पण के सामने वह नये-नये रूप में देदीप्यमान होता है; अतः मेरी मधुरिमा एवं राधा का प्रेम,—दोनों ही परस्पर समस्पर्द्धी होकर परस्पर से बढ़ना चाहते हैं, कोई पराजित नहीं होना चाहता। उसी निज माधुरी को श्रीराधिका के प्रेम-दर्पणादि में देखकर उसका आस्वादन करने का मुझमें लोभ उदय होता है। उसी लोभ से श्रीराधिका के स्वरूप को अङ्गीकार करने के लिये मेरा मन धावित होता है।

अनुभाष्य

१४२। होड़ करि'—स्पर्द्धा करके।

(ललितमाधव के ८म अध्याय का ३४ श्लोक)

अपरिकल्पितपूर्वः कश्चमत्कारकारी
स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूर।
अयमऽहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः
सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव॥१४६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१४६। श्रीकृष्ण कहते हैं,—आहा! यह प्रगाढ़-माधुर्य-चमत्कारकारी अविचारित-पूर्व चित्रित श्रेष्ठ पुरुष कौन है? जिसे श्रीराधिका की भाँति लुब्ध चित्त होकर मैं इनका बलपूर्वक आलिङ्गन करने का इच्छुक हो रहा हूँ।

अनुभाष्य

१४६। द्वारिका के नववृन्दावन की मणिभित्ति में श्रीकृष्ण अपने प्रतिकृति में निजसौन्दर्य का अवलोकन करके कह रहे हैं—

अपरिकल्पितपूर्वः (अननुभूतपूर्वः) चमत्कारकारी (विस्मयोत्पादकः) एषः गरीयान् (गुरुतरः) मम कः (अनिर्वचनीयः) माधुर्यपूरः (सौन्दर्य-पुंजः) स्फुरति (प्रकाशयति)। अयम् अहं (कृष्णः) अपि यं (प्रति-विम्बरूप) प्रेक्ष्य (दृष्टवा) राधिका इव लुब्धचेताः सन् सरभसं (सौत्सुकः) उपभोक्तुं कामये (अभिलाषामि)।

कृष्णमाधुर्य का बल एवं तदास्वादन—
निमित्त श्रीकृष्ण की चेष्टा—

कृष्णमाधुर्येर एक स्वाभाविक बल।
कृष्ण-आदि नरनारी करये चंचल॥१४७॥
श्रवणे, दर्शने आकर्षये सर्वमन।
आपना आस्वादिते कृष्णे करेन यतन॥१४८॥

१४७-१४८। प० अनु०—कृष्णमाधुर्य में एक स्वाभाविक बल है, जो न केवल सभी नर-नारी के मन को चञ्चल करता है परन्तु श्रीकृष्ण के मन को भी चञ्चल कर देता है। कृष्ण माधुर्य के श्रवण से, दर्शन से सभी का मन आकर्षित हो जाता है। स्वयं श्रीकृष्ण भी उसे आस्वादन करने के लिए यत्न करने लगाते हैं।

अनुभाष्य

१४७। स्वयं श्रीकृष्ण से लेकर गोपी, बलदेव, नारायण, लक्ष्मी और अन्यान्य प्राणिसमूह—सभी को ही कृष्ण-माधुर्य चंचल करने में स्वाभाविक रूप से सामर्थ्यविशिष्ट है।

कृष्णमाधुर्य में जड़ीय तृप्ति का अभाव, केवल लोभवृद्धि—

ए माधुर्यामृत सदा येइ पान करे।
तृष्णाशान्ति नहे, तृष्णा बाड़े निरन्तरे॥१४९॥
अतृप्त हइया करे विधिरे निन्दन।
अविदग्ध विधि भाल ना जाने सृजन॥१५०॥

कोटि नेत्र नाहि दिल, सबे दिल दुइ।
ताहाते निमेष,—कृष्ण कि देखिब मुञि॥१५१॥

१४९-१५१। प० अनु०—इस माधुर्यामृत को जो सदैव पान करता है, उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती बल्कि निरन्तर बढ़ती रहती है। अतृप्त होकर वह विधि की निन्दा करता हुआ कहता है—'विधि ठीक से सृष्टि करना नहीं जानता। श्रीकृष्ण दर्शन के लिए कोटि नेत्र न देकर केवल दो ही नेत्र दिये हैं और उस पर भी पलक लगा दी है, बताओ! मैं श्रीकृष्ण को कैसे देखूँ।

(श्रीमद्भागवत १०.८२.३९)
गोप्यश्चष्ठकृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम्॥१५२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५२। गोपियों ने अनेक दिनों से वाञ्छित श्रीकृष्ण को प्राप्त करके उनके दर्शन के समय, चक्षु के निमेष-सृष्टिकारी विधाता की भर्त्सना की थी एवं सभी ने दर्शनेन्द्रिय के द्वारा उनको हृदय में स्थित करके उनका यथेष्ट आलिंगन करते हुए जिस परमभाव को प्राप्त किया था, वह भाव ब्रह्मका ध्यान करने वाले योगियों के लिये भी अप्राप्य है।

अनुभाष्य

१५२। कुरुक्षेत्र में वृष्णियों के साथ गोपों के मिलन के पश्चात् शुकदेव गोस्वामी के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की मनोभावना का वर्णन—यत्प्रेक्षणे (यस्य श्रीकृष्णस्य दर्शने) दृशिषु (नेत्रेषु) पक्ष्मकृतं (व्यवधान-कारक-नेत्रलोमकृतं विधातार) शपन्ति (भर्त्सयन्ति)। (सर्वाः) गोप्यः (तं) अभीष्ट (कृष्ण) चिरात् (कुरुक्षेत्रे) उपलभ्य दृग्भिः (नेत्रद्वारैः) हृदीकृतं (हृदये प्रवेशित) परिभ्य (आलिंग्य) नित्ययुजां (आरुढयोगिनाम्) अपि दुरापं (दुर्लभ) तद्भावं (परमानन्दघनताम्) आपुः (प्रापुः)।

(श्रीमद्भागवत १०.३१.१५)
अटति यद्भवानह्नि काननं,
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते,
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम्॥१५३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५३। गोपियों ने कहा,—हे कृष्ण, तुम दिन में जब वन में चले जाते हो, तब तुम्हारें कुटिल-कुन्तल-युक्त श्रीमुख को न देखकर हमारा एक-एक त्रुटि-काल भी युग के समान हो जाता है। तुम्हारे श्रीमुख के दर्शक जो हमारे चक्षु हैं, उसमें जिस विधाता ने पलकों का सृजन किया, उसे हम निर्बोध मानती हैं।

अनुभाष्य

१५३। रास के समय श्रीकृष्ण के अन्तर्हित होने पर उनके उद्देश्य से गोपियों का विलाप गीत—

यत् (यदा) अह्नि (दिवाभागे) भवान् काननं (वृन्दा-वन) अटति (गच्छति) तदा त्वाम् अपश्यतां (प्राणिना) त्रुटिः (क्षणार्द्धमपि कालः) युगायते (युगमित काल-प्रतीतिर्भवति)। ते (तव) कुटिलकुन्तलं (कुटिलाः वक्राः कुन्तलाः केशाः यस्मिन् तत्) श्रीमुखम् उदीक्षताम् (उच्चैः ईक्षमाणानां) च दृशां पक्ष्मकृत् (निमिषस्त्रष्टा विधाता) जडः (मूर्खः) एव।

सौभाग्यवान् जीवों के चक्षुओं की
कृष्णरूप-दर्शन से ही सार्थकता—
कृष्णावलोकन विना नेत्रे फल नाहि आन।
येइ जन कृष्ण देखे, सेइ भाग्यवान्॥१५४॥

१५४। प० अनु०—श्रीकृष्ण दर्शन के बिना नेत्रों का और कोई भी फल नहीं है। जिसने श्रीकृष्ण को देखा वही भाग्यवान् है।

(श्रीमद्भागवत १०.२१.७)
अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।

वकत्रं व्रजेशसुतयोरणुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥१५५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५५। गोपियों ने कहा,—हे सखिगण, गो-समूह के साथ सखाओं के द्वारा वेष्टित होकर दोनों नन्दनन्दन (कृष्ण और बलराम) जब वन में प्रवेश करते हैं, तब उनके वेणुगीत-युक्त एवं अनुरक्तजनों के प्रति कटाक्षकारी वदन का, जो जन चक्षुओं के द्वारा सेवन करते हैं, वे ही धन्य हैं। चक्षुष्मान् व्यक्तियों के लिये इससे बढ़कर और कोई उत्कृष्ट प्राप्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

अनुभाष्य

१५५। शरत्‌ऋतु के समागम पर श्रीकृष्ण के उद्देश्य से श्रीगोपिकागणों का गीतिवाक्य—

हे सख्यः, वयस्यैः (सखिभिः) पशून् अनुविवेशयतोः (वनात् वनान्तरं प्रवेशयतोः) व्रजेशसुतयोः (रामकृष्णयोः) अनुवेणुजुष्टं (वेणुं वादयत्) अनुरक्त-कटाक्षमोक्षं (स्निग्ध-कटाक्ष-विसर्गं वक्त्रं यै र्निपीतं जुष्टं सेवितं तत्) इदं वा अक्षण्वतां (चक्षुष्मता) फलं परम् अन्यत् न विदामः (विद्मः)।

गोपियों के सौभाग्य से मथुरावासिनीगणों को विस्मय—
(श्रीमद्भागवत १०.४४.१४)

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्द्धमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥१५६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५६। मथुरावासिनियों ने कहा,—आहा! गोपियों ने कौन-सी तपस्या की है कि श्री, ऐश्वर्य, एवं यशसमूह के एकान्त आश्रय, दुर्लभ, स्वतःसिद्ध, समानाधिक-रहित (जिसके समान और जिससे अधिक रूप कहीं नहीं है), लावण्य के सारस्वरूप इस श्रीकृष्णवदनामृत को वे नेत्रों के द्वारा निरन्तर पान करती हैं।

अनुभाष्य

१५६। मथुरा में कंस की रंगभूमि में उनके दोनों मल्लवीर मुष्टिक एवं चाणूर के साथ मल्लयुद्ध में व्यापृत रामकृष्ण को देखकर उपस्थित स्त्रियों की उक्ति,—

गोप्यः किं तपः अचरन्, यत् (यस्मात्) अमुष्य (श्रीकृष्णस्य) लावण्यसारं (लावण्येन सारं श्रेष्ठम्) असमोर्द्धं (न विद्यते समं ऊर्द्धम्) अधिकञ्च यस्य तत्) अनन्यसिद्धं (न अन्येन अलंकारादिना सिद्धं किन्तु स्वतः एव) अनुसवाभि नवं (प्रतिक्षणमभिनव) दुरापं (दुर्लभ) यशसः श्रियः ऐश्वरस्य एकान्तधामरूपं दृग्भिः पिबन्ति।

अपूर्व माधुरी कृष्णेर, अपूर्व तार बल।
याहार श्रवणे मन हय टलमल॥१५७॥
कृष्णेर माधुर्ये कृष्णे उपजय लोभ।
सम्यक् आस्वादिते नारे, मने रहे क्षोभ॥१५८॥

१५७-१५८। प० अनु०—श्रीकृष्ण की माधुरी अपूर्व है, उनका बल भी अपूर्व है; जिसके श्रवण से मन टलमल करने लगता है। अपने माधुर्य को देखकर श्रीकृष्ण में भी लोभ का उदय हो आता है, परन्तु वे इसका सम्पूर्ण रूप से आस्वादन नहीं कर पाते, उनके मन में क्षोभ रह जाता है।

(३) तृतीय वाञ्छा—

एइ त' द्वितीय हेतुर कहिल विवरण।
तृतीय हेतुर एबे शुनह लक्षण॥१५९॥

१५९। प० अन०—अभी तक श्रीमन् महाप्रभु के अवतार के द्वितीय कारण का वर्णन किया गया है। अब तृतीय कारण का लक्षण श्रवण कीजिए।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५९। आश्रयजातीय प्रेम के द्वारा कृष्ण-माधुरी के सम्यक् आस्वादन करने का लोभ उदित होने पर भी श्रीकृष्ण इसका आस्वादन करने में असमर्थ होकर क्षुभित (व्याकुल) हो गये। श्रीराधिका के भाव को स्वीकार करने का यही द्वितीय गूढ़ कारण है।

एकमात्र दामोदर स्वरूप ही
भक्तिरसामृत के मूल महाजन—

अत्यन्तनिगूढ़ एइ रसेर सिद्धान्त।
स्वरूप गोसाञि मात्र जानेन एकान्त॥१६०॥
येवा केह अन्य जाने, सेहो ताँहा हैते।
चैतन्यगोसाञिर तेहँ अत्यन्त मर्म याते॥१६१॥

१६०-१६१। प॰ अनु॰—इन रसों का सिद्धान्त अत्यन्त निगूढ़ है। इसे एकमात्र स्वरूप दामोदर गोसाईं ही जानते हैं। यदि अन्य कोई जानता भी है, तो वह भी इन्हीं की कृपा से जानता है। क्योंकि ये (स्वरूप गोसाईं) श्रीचैतन्यगोसाईं के अत्यन्त अन्तरङ्ग हैं।

गोपीप्रेम की संज्ञा—

गोपीगणेर प्रेमेर 'रूढ़भाव' नाम।
विशुद्ध निर्मल प्रेम, कभु नहे काम॥१६२॥

१६२। प॰ अनु॰—गोपियों के प्रेम का नाम 'रूढ़-भाव' है। वह प्रेम विशुद्ध निर्मल है, वह कभी भी काम नहीं हो सकता।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६२। प्रेमेर 'रूढ़भाव' नाम—प्रेम का नाम 'रूढ़-भाव' है; वस्तुतः निर्मलप्रेम काम-शब्द के द्वारा व्याख्यात नहीं होता।

अनुभाष्य

१६२। गोपियों के महाभाव में सात्त्विक-भावसमूह उद्दीप्त है, इस कारण इन सबका प्रेम 'रूढ़भाव'-संज्ञा से कथित होता है। "उद्दीप्ता सात्त्विका यत्र स रूढ इति भण्यते।" केवल कृष्ण-सुखतात्पर्यमय होने के कारण उन सबका प्रेम निर्मल है,—कृष्ण से अलग भोगमय घृणित 'काम'-शब्दवाच्य नहीं है।

गोपियों का काम एवं प्रेम एक ही वस्तु—
(भः रः सिः पूः विः २.२८५,२८६)

'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।'
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥१६३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१६३। गोपरामाओं के शुद्ध प्रेम को ही 'काम' के रूप में आख्यायित करने की प्रथा है। भगवद्भक्त उद्धव आदि भी उसी प्रेम के पिपासु हैं।

अनुभाष्य

१६३। गोपरामाणां (व्रजललनानां) प्रेमा एव काम इति प्रथां (ख्यातिम्) अगमत्ः इति हेतोः उद्धवादयः अपि भगवत्प्रियाः अपर-रस- रसिकभक्ताः एतं (प्रेमाणं वाञ्छन्ति)।

काम एवं प्रेम का स्वरूप-लक्षण एवं भेद—

काम, प्रेम,—दोंहाकार विभिन्न लक्षण।
लौह आर हेम यैछे स्वरूपे विलक्षण॥१६४॥

१६४। प॰ अनु॰—काम और प्रेम,—दोनों के लक्षण विभिन्न हैं, जैसे लोहा और सोना स्वरूप में भिन्न-भिन्न है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६४। लोहे और सोने का स्वरूप जिस प्रकार से परस्पर विलक्षण है, काम एवं प्रेम प्रायः एकजातीय है; फिर भी उन दोनों के लक्षण पृथक्-पृथक् हैं।

काम एवं प्रेम की संज्ञा—

आत्मेन्द्रियप्रीति-वाञ्छा-तारे बलि 'काम'।
कृष्णेन्द्रियप्रीति-इच्छा धरे 'प्रेम' नाम॥१६५॥

१६५। प॰ अनु॰—अपनी इन्द्रियों की प्रीति की इच्छा को 'काम' कहते हैं और श्रीकृष्ण के इन्द्रियों की प्रीति का नाम 'प्रेम' है।

अनुभाष्य

१६५। "सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंस- कारणे। यद्भाव-बन्धनं युनोः स प्रेमा परिकीर्त्तितः॥" ध्वंस का कारण उदित होने पर भी दोनों दम्पतियों का जो सुदृढ़ भावबन्धन किसी भी प्रकार से ध्वंसप्राप्त नहीं होता है, वही 'प्रेम' के रूप में कथित है। एकान्त-भाव से सर्वात्म

के द्वारा आश्रयजातीय गोपीवृन्द श्रीकृष्ण के विषय में भावबन्धन के द्वारा सुदृढ़रूप से आबद्ध हैं। वे सब कामरूपी अपनी आत्मसुख के त्याग का आदर्श बनकर श्रीकृष्ण को आनन्द प्रदान करने के सेवाकार्य में ही तत्पर हैं, अतः श्रीकृष्ण के उद्देश्य से आत्मसुख के ध्वंस में भी उन सब में प्रचुर आनन्द एवं भावबन्धन की सुदृढ़ता लक्षित होती है।

काम एवं प्रेम का उद्देश्य—

कामेर तात्पर्य—निज सम्भोग केवल।
कृष्णसुखतात्पर्य मात्र प्रेम त' प्रबल॥१६६॥

१६६। प० अनु—काम का तात्पर्य—केवल अपनी इन्द्रियों के भोग में है और प्रबल प्रेम का तात्पर्य केवल श्रीकृष्ण के सुख में है।

कृष्णप्रेम का लक्षण एवं परिचय—

लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म, कर्म।
लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख-मर्म॥१६७॥
दुस्तज्य आर्यपथ, निजपरिजन।
स्वजने करये यत ताड़न-भर्तसन॥१६८॥
सर्वत्याग करि' करे कृष्णेर भजन।
कृष्णसुखहेतु करे प्रेम-सेवन॥१६९॥
इहाके कहिये कृष्णे दृढ़ अनुराग।
स्वच्छ धौतवस्त्रे यैछे नाहि कोन दाग॥१७०॥

१६७-१७०। प० अनु—लोकधर्म, वेदधर्म, देह-धर्म, कर्म, लज्जा, धैर्य और देहसुख, इन सबका मर्म अपना आत्मसुख अर्थात् अपनी इन्द्रिय तृप्ति में है। दुस्त्यज्य आर्यपथ, निजपरिजन, स्वजन का ताडन और भर्त्सन—यह सब भी आत्म सुख को ही लक्षित करते हैं अर्थात् इनका तात्पर्य भी निज इन्द्रिय भोग ही है। इन सबका परित्याग करके श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिए। श्रीकृष्ण को सुख देने के लिए उनकी प्रेममयी सेवा करने का नाम ही श्रीकृष्ण के प्रति गाढ़ अनुराग कहलाना है। स्वच्छ धुले हुए वस्त्र में जैसे कोई दाग नहीं रहता वैसे ही उस उज्ज्वल प्रेम में प्रेम के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं रहता।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६५-१६८। निजसुख सम्भोग-तात्पर्ययुक्त वाञ्छा का नाम 'काम' है। वेदों में लोकैषणा (लोक की इच्छा), पुत्रैषणा, वित्तैषणा आदि शब्दों के द्वारा जिन कामनाओं की बात कही गई है, वे सब ही जैसे;—लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म, कर्म, लज्जा, धैर्य, देहसुख, मोक्षादिरूप आत्म-सुख, आर्यपथ, निज-परिजनप्रीति, अपनों का ताड़न, भर्त्सन एवं भय—ये सब कामरूप आत्मेन्द्रिय-प्रीति-वाञ्छाएँ हैं; इन सभी कार्यों में निज इन्द्रियप्रीति-वाञ्छा ही प्रवर्त्तक है। 'मैं कृष्णदास हूँ' इस बुद्धि के अनुगत जो सब वाञ्छाएँ हैं, वे ही कृष्णेन्द्रियप्रीति-वाञ्छा हो सकती हैं; 'मैं फलभोक्ता हूँ' इस बुद्धि से जिन सब इच्छाओं का उदय होता है, वे सब कामवाञ्छाएँ हैं।

१६९। इस 'सबकुछ का त्याग' के द्वारा देहकार्य-मन कार्य आदि के परित्याग करने का परामर्श नहीं है। देह-कार्य-मन कार्य आदि में भी यदि 'मैं कृष्णदास' हूँ' यह बुद्धि जनित प्रवर्त्तकप्रवृत्ति रहती है, तो वह भी काम नहीं है।

काम एवं प्रेम में पार्थक्य—

अतएव काम-प्रेमे बहुत अन्तर।
काम—अन्धतमः, प्रेम—निर्मल भास्कर॥१७१॥

१७१। प० अनु—अतएव काम और प्रेम में बहुत अन्तर है। काम अन्धकार है तो प्रेम, सूर्य की भाँति उज्ज्वल है।

काम एवं गोपियों का कृष्णप्रेम—

अतएव गोपीगणेर नाहि कामगन्ध।
कृष्णसुख लागि मात्र, कृष्ण से सम्बन्ध॥१७२॥

१७२। प० अनु—अतएव गोपियों में काम की गन्ध भी नहीं है। श्रीकृष्ण से इनका सम्बन्ध केवल कृष्णसुख के लिये ही है।

गोपियों के गाढ़ कृष्णप्रेम का परिचय—
(श्रीमद्भागवत १०.३१.१९)

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किं स्वित्।
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥१७३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१७३। गोपियों कहती हैं—हे प्रिय, हम तुम्हारे सुकोमल चरणकमल को अपने कठोर स्तनों पर धीरे से धारण करती हैं, इन्हीं चरणों के द्वारा तुम जब वन में भ्रमण कर रहे हो, वे तो सूक्ष्म पाषाणादि के द्वारा घायल होने के कारण अवश्य व्यथित हो रहे होंगे। अतः हमारे जीवन-स्वरूप! तुम्हारे लिये हम चित्त अस्थिर हो रहा है।

अनुभाष्य

१७३। रास के समय श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर उनके उद्देश्य से गोपियों का विलाप गीत,—

हे प्रिय, ते (तव) यत् सुजातचरणाम्बुरुहं (सुजातं सुकुमारं चरणाम्बुरुहं पदकमल) कर्कशेषु (कठिनेषु) स्तनेषु भीताः (स्पर्शनदुःखा-शंकिताः) सत्यः (वय) शनैः (सावधानाः) दधीमहि (धारयामः) तेन (चरणेन) अटवीं (वनस्थलीम्) अटसि (विचरसि), तदा (त्वत्-चरणकमल) कूर्पादिभिः (सूक्ष्मपाषाणखण्डैः) किं स्वित् न व्यथते इति भवदायुषां (भवान् एव आयुः जीवनं यासां तासा) नः (अस्माक) धीः भ्रमिति (चंचलतां गच्छति)।

गोपियों का शुद्धकृष्णप्रेम—

आत्म-सुख-दुःखे गोपीर नाहिक विचार।
कृष्णसुखहेतु करे सब व्यवहार॥१७४॥
कृष्णलागि' आर सब करि' परित्याग।
कृष्णसुखहेतु करे शुद्ध अनुराग॥१७५॥

१७४-१७५। प॰ अनु॰—गोपियों को अपने सुख-दुख का कुछ भी विचार नहीं रहता। उनकी सभी चेष्टाएँ श्रीकृष्ण को सुख प्रदान करने के लिए हैं। श्रीकृष्ण के लिए और सबकुछ परित्याग करके वे श्रीकृष्ण के सुख के लिए शुद्ध अनुराग रखती हैं।

गोपीप्रेमवश कृष्ण-द्वारा अन्तर्धान के लिये क्षमा-प्रार्थना—
(श्रीमद्भागवत १०.३२.२१)

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥१७६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१७६। हे गोपियों, मेरे लिये तुम सबने लोकधर्म, वेदधर्म एवं बान्धवसमूह का परित्याग किया है। फिर भी तुम सभी की मुझमें अधिकतर अनुवृत्ति होगी, यह जानकर ही मैं अन्तर्हित हुआ था। हे प्रियागण, मैं तुम सबके प्रियसाधन में तत्पर हूँ, मेरे प्रति दोषारोप मत करना।

अनुभाष्य

१७६। रासस्थली में लौट आने के पश्चात् गोपियों का वचन सुनकर श्रीकृष्ण की उक्ति—

हे प्रियाः अबलाः, एवं (अनेन प्रकारेण) मदर्थोज्-झितलोकवेदस्वानां (मदर्थं मत् प्राप्ति-निमित्तं उज्झिताः त्यक्ताः लोकाः संसारधर्मादयः वेदाः पारलौकिकधर्माः स्वाः च निजस्वसम्बन्धिपरिजनाश्च याभिः कृष्णैकप्राणा-भिः तासा) वः (युष्माक) मयि अनुवृत्तये (उक्तलक्षा-नामन्येषां भकतानामिवानुवृत्ति-बुद्धयै) परोक्षं (अदर्शनं यथा भवति तथा) भजता (उपकुर्वता) मया तिरोहितं (अन्तर्धानेन स्थित) हि तत् (तस्मात्) प्रियं मा (माम्) असूयितुं (दोष-दृष्ट्या द्रष्टुं न अर्हथ।

शुद्धभक्ति के प्रकार-भेद से कृष्णप्राप्ति का तारतम्य—

कृष्णेर प्रतिज्ञा एक आछे पूर्व हैते।
ये यैछे भजे, कृष्ण तारे भजे तैछे॥१७७॥

१७७। प॰ अनु॰—पहले से ही श्रीकृष्ण की यह प्रतिज्ञा है कि जो जिस प्रकार से श्रीकृष्ण का भजन करता है, श्रीकृष्ण भी उसका उसी प्रकार से भजन करते हैं।

(श्रीमद्भागवतगीता ४.११)

ये यथां मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥१७८॥

अनुभाष्य

१७८। आदि, चतुर्थ परिच्छेद २० संख्या द्रष्टव्य है।

गोपीप्रेम के निकट श्रीकृष्ण का अपरिशोध्य ऋण—

से प्रतिज्ञा भंग हैल गोपीर भजने।
ताहाते प्रमाण कृष्ण-श्रीमुखवचने॥१७९॥

१७९। प० अनु०—गोपियों के भजन से वह प्रतिज्ञा भंग हो गई। इसका प्रमाण श्रीकृष्ण के श्रीमुखवचन हैं।

(श्रीमद्भागवत् १०.३२.२२)

न पारयेऽहं निरवद्यसंजुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या भाऽभजन् दुर्जयगेहश्रृंखलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥१८०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८०। हे गोपीगण, मेरे साथ तुम सबका संयोग निर्मल है, अनेक जन्मों में भी मैं निज-सत्कार के द्वारा तुम सबके प्रति कर्त्तव्य का अनुष्ठान नहीं कर पाऊँगा; क्योंकि, तुम सबने अति कठिन संसार श्रृंखला का सम्पूर्ण रूप से छेदन करके मेरा अन्वेषण किया है। मैं तुम सबका ऋण चुकाने में असमर्थ हूँ। अतएव तुम सब निज कार्यों के द्वारा ही परितुष्ट हो।

अनुभाष्य

१८०। श्रीकृष्ण के अन्तर्धान के फलस्वरूप अदर्शन हेतु गोपियों की विलाप-गीति को सुन श्रीकृष्ण आविर्भूत होकर उन सबको यह कहकर सान्त्वना प्रदान कर रहे हैं,—

निरवद्यसंयुजां (निरवद्या निष्कपटा संयुक् सम्यक्-मिलनं यासां ताषां) वः (युष्माक) स्वसाधुकृत्यं (स्वीयम् असाधारणं यत् साधुकृत्यं साधुकर्म तत्) अहं विवुधायुषापि (विवुधानां आयुस्तत्कालमितेनापि) न पारये (शक्नोमि)। याः (भवत्यः) दुर्जयगेहश्रृंखलाः (दुर्जयाः अनभिभव्याः याः गेहरूपाः श्रृंखलास्ताः) संवृश्च्य (निःशेषं छित्वा) मा (माम्) अभजन्, तांसा वः (युष्माक) एव साधुना (साधुकृत्येन) तत् (युष्मत्साधुकृत) प्रतियातु (प्रतिकृतं भवतु)।

गोपियों के आत्मसुख-सम्पादन के मूल में भी कृष्णसुख तात्पर्य—

तबे ये देखिये गोपीर निजदेहे प्रीत।
सेहो त' कृष्णेर लागि', जानिह निश्चित॥१८१॥
'एइ देह कैलुँ आमि कृष्णे समर्पण।
ताँर धन ताँर एइ सम्भोग-कारण॥१८२॥
एदेह-दर्शन-स्पर्शे कृष्ण-सन्तोषण'।
एइ लागि' करे अंगेर मार्जन-भूषण॥१८३॥

१८१-१८३। प० अनु०—यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए। गोपियों को अपनी देह में जो प्रीति देखी जाती है वह भी श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही है गोपियाँ कहती हैं—'यह देह मैंने श्रीकृष्ण को समर्पित कर दी है। यह उन्हीं की सम्पत्ति है एवं उनके भोग करने की वस्तु है।' इस देह को दर्शन, स्पर्श करके श्रीकृष्ण सन्तुष्ट होंगे—इसी भावना से गोपियाँ अपने शरीर को मार्जित करती हैं एवं भूषणों से सजाती हैं।

निजदेह-सज्जा भी कृष्णप्रीति-तात्पर्यमयी—
लघुभागवतामृत के उत्तरखण्ड में (४०)
आदिपुराण वचन—

निजांगमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढ प्रेमभाजनम्॥१८४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८४। श्रीकृष्ण कहते हैं—हे पार्थ! जो गोपियाँ अपने शरीर को मेरे भोग्यविषय के रूप में यत्नपूर्वक रक्षणा-वेक्षण करती हैं, उन गोपियों से बढ़कर मेरा प्रेमभाजन और कोई नहीं है।

अनुभाष्य

१८४। हे पार्थ, या गोप्यः निजांगं अपि मम इति

(कान्तार्पितमिदं शरीरं भगवतः इति) समुपासते (भूषणा-दिभिरलंकुर्वन्ति) ताभ्यः (गोपीभ्यः) परम् अन्यत् मे (मम) निगूढ़ प्रेमभाजनम् (निगूढ़प्रेमपात्रं) नास्ति।

गोपी का सेवासुख कृष्णसुख की अपेक्षा करोड़ों गुणा अधिक—

आर एक अद्भुत गोपीभावेर स्वभाव।
बुद्धिर गोचर नहे याहार प्रभाव॥१८५॥
गोपीगण करेन यबे कृष्ण दरशन।
सुखवाञ्छा नाहि, सुख हय कोटिगुण॥१८६॥
गोपिका-दर्शने कृष्णेर ये आनन्द हय।
ताहा हैते कोटिगुण गोपी आस्वादय॥१८७॥
ताँ सबार नाहि निजसुख-अनुरोध।
तथापि बाड़ये सुख, पड़िल विरोध॥१८८॥
ए विरोधेर एकमात्र देखि समाधान।
गोपिकार सुखे कृष्णसुख-पर्यावसान॥१८९॥
गोपिका-दर्शने कृष्णेर बाड़े प्रफुल्लता।
से माधुर्य बाड़े यार नाहिक समता॥१९०॥
आमार दर्शने कृष्ण पाइल एत सुख।
एइ सुखे गोपीर प्रफुल्ल अंगमुख॥१९१॥
गोपी-शोभा देखि कृष्णेर शोभा बाड़े यत।
कृष्ण-शोभा देखि' गोपीर शोभा बाड़े तत॥१९२॥
एइमत परस्पर पड़े हुड़ाहुड़ि।
परस्पर बाड़े, केह मुख नाहि मुड़ि॥१९३॥

१८५-१९३। प० अनु०—गोपीभाव का और एक अद्भुत स्वभाव है। जिसका प्रभाव बुद्धि से परे है। गोपियाँ जब श्रीकृष्ण का दर्शन करती हैं तो उन्हें अपने सुख की वाञ्छा न होने पर भी कोटि-गुण अधिक सुख की प्राप्ति होती है। गोपियों का दर्शन करने से श्रीकृष्ण को जो आनन्द प्राप्त होता है उससे कोटि-गुण अधिक आनन्द गोपियों आस्वादन करती है। गोपियों को अपने सुख की इच्छा नहीं है, फिर भी उनका सुख बढ़ता ही रहता है; इसमें विरोध दिखाई देता है। इस विरोध का एकमात्र समाधान यही है कि, गोपियों का सुख श्रीकृष्ण के सुख में पर्यवसित है। गोपिकाओं का दर्शन करने से श्रीकृष्ण की प्रफुल्लता बढ़ जाती है, तब उनका माधुर्य इतना बढ़ जाता है जिसकी कोई समता नहीं है। मुझे देखकर श्रीकृष्ण को इतना सुख मिला है, इस सुखचिन्तन से गोपियों के अङ्ग और मुख प्रफुल्लित हो उठते हैं। गोपियों की शोभा को देखकर श्रीकृष्ण की जितनी शोभा बढ़ती है, कृष्ण-शोभा को देखकर गोपियों की शोभा भी उतनी बढ़ जाती है। इस प्रकार एक दूसरे की शोभा को देखकर शोभा होड़ लगाती हुई परस्पर बढ़ती रहती है, कोई भी मुख नहीं मोड़ता।

अमृतप्रवाह भाष्य

१८६-१८७। गोपियों में सुख की इच्छा नहीं है; फिर भी गोपी-दर्शन से श्रीकृष्ण को जो सुख मिलता है, (उसीसे ही अर्थात्) श्रीकृष्ण के दर्शन से गोपियों को उसकी अपेक्षा करोड़ों गुणा सुखास्वादन की प्राप्ति होती है।

कृष्ण के सुख से गोपियों का सुख—

किन्तु कृष्णेर सुख हय गोपी-रूप-गुणे।
ताँर सुखे सुखबुद्धि हये गोपीगणे॥१९४॥

१९४। प० अनु०—किन्तु गोपियों के रूप-गुण से श्रीकृष्ण को जो सुख होता है। श्रीकृष्ण के उस सुख को देखकर गोपियों के सुख की वृद्धि होती है।

कृष्ण-सुखवृद्धिहेतु गोपीप्रेम 'काम' नहीं—

अतएव सेइ सुख कृष्ण-सुख पोषे।
एइ हेतु गोपी-प्रेमे नाहि काम-दोषे॥१९५॥

१९५। प० अनु०—अतएव वह सुख श्रीकृष्ण के सुख का पोषण करता है। इस कारण गोपीप्रेम में कामदोष नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९४-१९५। यद्यपि कृष्ण दर्शन से गोपियों को जो सुख प्राप्त होता है, उसको कोई-कोई काम कहकर दोष दे सकते हैं। तथापि जब गोपियोंके मन की भावना यह है कि—"हम कृष्ण दर्शन से सुखी होती हैं यह भाव

ग्रहण करके कृष्ण का सुख और अधिक पुष्ट होगा तब कृष्णन्द्रियप्रीतिवाञ्छा ही गोपियाँ की सुख प्राप्ति का चरम कारण है। अतः उनमें आत्मेन्द्रिय सुख वाञ्छा रूप काम दोष नहीं है।

(स्तवमाला के केशवाष्टक में अष्टम श्लोक)

उपेत्य पथि सुन्दरीततिभिराभिरभ्यर्च्चितं
स्मितांकुरकरम्बितैर्नटदपांगभंगीशतैः!
स्तनस्तवकसंचरन्नयनचंचरीकांचलं
व्रजे विजयिनं भजे विपिनदेशतः केशवम्॥१९६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९६। जो केशव वन से व्रज में आ रहे हैं, मैं उनका भजन करता हूँ। वे मृदुहास्य- युक्त नटनशील सैकडों भङ्गिमाओं के साथ व्रजसुन्दरीगण के द्वारा मार्ग में अर्चित हुये हैं। उन गोपियों के स्तन रूपी स्तवक पर भ्रमरतुल्य उन (श्रीकृष्ण) के नयनोंका प्रान्त-भाग विचरण कर रहा है।

अनुभाष्य

१९६। आभिः सुन्दरीततिभिः (व्रजविलासिनी-श्रेणिभिः) उपेत्य (अट्टालिकामारुह्य) पथि (मार्गे) स्मितांकुरकरम्बितैः (मन्दहास्यांकुरं तेन करम्बिताः युक्तास्तै) नटदपांगभंगीशतैः (नटत् अपांगं नयनकटाक्षं यस्य तस्य भंगीशतानि तैः) अभ्यर्चितं (सर्वतोभावेन पूजित) स्तनस्तव-कसंचरन्नयनचंचरीकांचलं (स्तन-स्तवकाः गुच्छाः इव तेषु संचरन् नयनयों चंचरीकयोः भृंगयोः इव अंचलं प्रान्तभागं यस्य सः त) विपिनदेशतः (अपराह्ने गोचारणात्) व्रजे (नन्दीश्वरे) विजयिनं केशवं (कृष्ण) भजे।

गोपीप्रेम का स्वाभाविक लक्षण—

आर एक गोपीप्रेमेर स्वाभाविक चिह्न।
ये प्रकारे हय प्रेम कामगन्धहीन॥१९७॥

१९७। प० अनु०—गोपीप्रेम का और एक स्वाभाविक चिह्न है, जिससे उसे काम गन्ध हीन कहा गया है।

गोपीप्रेम से कृष्णमाधुर्य की वृद्धि—

गोपीप्रेमे करे कृष्णमाधुर्येर पुष्टि।
माधुर्य बाड़ाय प्रेम हआ महातुष्टि॥१९८॥

१९८। प० अनु०—गोपीप्रेम कृष्णमाधुर्य की पुष्टि करता है एवं वह प्रेम महातुष्ट होकर कृष्ण-माधुर्य को बढ़ाता है।

सेव्य 'विषय' की प्रीति से ही
सेवक 'आश्रय' की शुद्ध प्रीति—

प्रीतिविषयानन्दे तदाश्रयानन्द।
ताँहा नाहि निजसुखवाञ्छार सम्बन्ध॥१९९॥

१९९। प० अनु०—प्रेम का जो विषय है उसके आनन्द में ही प्रेम के आश्रय का आनन्द है। आश्रय के आनन्द में स्वतन्त्र निज सुख की वाञ्छा नहीं होती।

भगवत्प्रीति में ही भक्तप्रीति, वह शुद्ध एवं निर्मल—

निरुपाधिक प्रेम याँहा, ताँहा एइ रीति।
प्रीतिविषयसुखे आश्रयेर प्रीति॥२००॥

२००। प० अनु०—जहाँ निरुपाधिक प्रेम है, वहाँ यही रीति है कि विषय के सुख में प्रीति ही आश्रय की प्रीति है।

कृष्णसेवा के समय निजेन्द्रियप्रीति के
प्रति घृणा एवं दूर से परित्याग-योग्य—

निज-प्रेमानन्दे कृष्ण-सेवानन्द बाधे।
से आनन्देर प्रति भक्तेर हय महाक्रोधे॥२०१॥

२०१। प० अनु०—अपने प्रेमानन्द के कारण यदि कृष्ण-सेवानन्द में बाधा आती है, तो उस आनन्द के प्रति भक्त महाक्रोधित होते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९९-२०१। श्रीकृष्ण जो कि प्रीति के विषय हैं, उनका आनन्द ही प्रीति की आश्रय गोपिकाओं का आनन्द है। इस प्रकार के आनन्द की समृद्धि में गोपियों का निजसुखवाञ्छा से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जहाँ निरुपाधिक प्रेम विद्यमान है, वहाँ यही रीति दिखाई देती है,

अर्थात् प्रीति के विषय के सुख में ही प्रीति के आश्रय का सुख देखा जाता है। फिर भी एक बात कही जा सकती है कि, जहाँ निज प्रेमानन्द विद्यमान है, वहाँ कृष्णसेवानन्द में बाधा अवश्य आती है। इसलिये जहाँ सेवानन्द में बाधकरूप आनन्द का उदय होता है, वहाँ भक्त महाक्रोधित हो जाता है।

(भः रः सिः, पः विः—द्वितीय लहरी; ६२ श्लोक)

अंगस्तंभारंम्भमुत्तंगयन्तं प्रेमा-
नन्दं दारुको नाभ्यनन्दत्।
कंसारातेर्वीजने येन साक्षाद-
क्षोदीयानन्तरायो व्यधायि॥२०२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२०२। श्रीकृष्ण को चामर व्यञ्जन करते समय प्रेमानन्दजनित देह की जड़ता को सेवा में विघ्नकारी जानकर दारुक ने उसका अभिनन्दन नहीं किया।

अनुभाष्य

२०२। येन (प्रेमानन्देन) कंसारातेः (कृष्णस्य) वीजने (चामरसेवने) साक्षात् अक्षोदीयान् अन्तरायः (बाधकः) व्यधायि, दारुकः (श्रीकृष्णस्य सारथिः) अंगस्तम्भारम्भम् (अंगानां स्तम्भारम्भं जडीभावम्) उत्तुंग-यन्तं (प्रापयन्त) तं प्रेमानन्दं (निजानुभवार्हानन्द) नाभ्य-नन्दत् (आनुकूल्यकरत्वे नैव अभिलषितवान्)।

(भः रः सिः, दः विः—तृतीय लहरी, ५४ श्लोक)

गोविन्दप्रेक्षणाक्षेपिबाष्पपूराभिवर्षिणम्।
उच्चैरनिन्ददानन्दमरविन्दविलोचना॥२०३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२०३। पद्मलोचनी श्रीकृष्णभामिनी प्रेयसियों ने कृष्ण दर्शन में बाधा डालनेवाले अश्रुवर्षणकारी आनन्द की अतिशय निन्दा की।

अनुभाष्य

२०३। अरविन्दविलोचना (कमलनेत्र) राधिका गोविन्द प्रेक्षणाक्षेपिबाष्पपूराभिवर्षिणं (गोविन्दस्य प्रेक्षणं तस्य आक्षेपी बाधको यो बाष्पूराश्रुवृन्दं तम् अभिवर्षितुं स्वभावो यस्य तम्) आनन्दम् उच्चैः (अतिशयेन) अनि-न्दत् (निनिन्द)।

शुद्धभक्त की कृष्णभक्ति के बिना मुक्ति से भी घृणा—

आर शुद्धभक्त कृष्णप्रेम-सेवा बिने।
स्वसुखार्थ सालोक्यादि ना करे ग्रहणे॥२०४॥

२०४। प॰ अनु॰—इस प्रकार शुद्धभक्त कृष्णप्रेम-सेवा को छोड़कर अपने सुख के लिये सालोक्य आदि मुक्तियों को भी स्वीकार नहीं करते।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०४। और भी देखिये, शुद्ध भक्त कृष्णप्रेम के अतिरिक्त अपने सुख से मिश्रित सालोक्य आदि मुक्ति को भी कभी ग्रहण नहीं करते।

श्रीकृष्ण के प्रति अहैतुकी एवं बाधा-रहित भक्ति ही निर्गुण—
(श्रीमद्भागवत ३.२९.११-१३)

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ॥२०५॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥२०६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२०५-२०६। मेरे गुणश्रवणमात्र से सभी के हृदयों में स्थित जो मैं हूँ, समुद्र में प्रविष्ट होने वाले गङ्गाजल की भाँति मन की अविच्छिन्न गति उदय होती है, वही निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है। पुरुषोत्तमस्वरूप मुझमें वह भक्ति अहैतुकी एवं अव्यवहिता होती है। अहैतुकी—हेतुरहित, स्वतःसिद्ध; अव्यवहिता—व्यवधान अथवा अवाञ्छित—फलानुसन्धान-रहित।

अनुभाष्य

२०५-२०६। श्रीकपिलदेव माता देवहूति से कह रहे हैं—मद्गुणश्रुतिमात्रेण (मम गुणश्रवणमात्रेण) सर्व-गुहाशये (सर्वान्तःकरणवर्त्तित्वे) मयि, अम्बुधौ (समुद्रे)

गंगाम्भसः यथा (तथा) अविच्छिन्ना (अप्रतिरुद्धा, विषयान्तरेणच्क्षेत्तुमृशक्या या) मनोगतिः, पुरुषोत्तमे या अहैतुकी (फलानुसंधान-रहिता) अव्यवहिता (देहद्रविणजनता-लोभपाषंडत्वादि-व्यवधान-विवर्जिता) भक्तिः, सा निगुर्णस्य (त्रिगुणातीतस्य भगवतः) भक्ति-योगस्य लक्षणम् उदाहृतं (कथित) हि।

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारुप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥२०७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२०७। सालोक्य (वैकुण्ठवास), सार्ष्टि (ऐश्वर्य-सम्पदा), सामीप्य (निकट वास), सारुप्य (चतुर्भुजाकार), एकत्व (सायुज्य अथवा अभेद गति) देने पर भी भक्तवृन्द उन्हें ग्रहण नहीं करते, क्योंकि मेरी अप्राकृतसेवा को छोड़कर उनके लिये और कुछ भी प्रार्थनीय नहीं है।

अनुभाष्य

२०७। जनाः (हरिजनाः) मत्सेवनं विना (मद्भजनंत्यक्ता) दीयमानं सालोक्यं (मया सह एकस्मिन् लोके वास) सार्ष्टिः (समानमैश्वर्यं) सामीप्यं (निकटवर्त्तित्व) सारुप्यं (समानरुपताम्) एकत्वम् उत (सायुज्यमपि) न गृह्णन्ति (नाभि-नन्दन्ति)।

नश्वरभोग तो दूर की बात, मोक्षादि
भी भक्त के लिए काम्य नहीं—
(श्रीमद्भागवत ९.४.६७)

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्काल विप्लुतम्॥२०८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२०८। मेरी सेवा के द्वारा सालोक्य आदि चार प्रकार की मुक्तियाँ स्वयं आगमन करने पर भी, मेरी सेवा में सम्पूर्ण-रूप से मग्न शुद्धभक्त जब उन सबको ही स्वीकार नहीं करते, तब मायिक भोग एवं सायुज्य मुक्ति,—जो काल के द्वारा अति शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, उन सबकी इच्छा क्यों करेंगे? सायुज्यमुक्ति के द्वारा जीवों की सत्ता काल की चपेट में पतित हो जाती है; अतएव भुक्ति एवं सायुज्यमुक्ति—इन सबका स्थायित्व नहीं है।

अनुभाष्य

२०८। अम्बरीष जैसे भक्तों के गुणवर्णन के समय दुर्वासा के प्रति श्रीभगवान् की उक्ति—

सेवया पूर्णास्ते भक्ताः मत्सेवया प्रतीतं (प्राप्तम्) अपि सालोक्यादि चतुष्टयं न इच्छन्ति। (नाभिलषन्ति), अन्यत् (स्वर्गादिक) कालविप्लुतं (काले नष्टयोग्य) कुतः।

गोपीप्रेम का वर्णन—

कामगन्धहीन स्वाभाविक गोपी-प्रेम।
निर्मल, उज्ज्वल, शुद्ध येन दग्ध हेम॥२०९॥

२०९। प० अनु०—तपे हुए स्वर्ण की भाँति निर्मल, उज्ज्वल, शुद्ध गोपियों का प्रेम स्वाभाविक रूप से कामगन्धहीन है।

श्रीकृष्ण के साथ गोपियों का सम्पर्क—

कृष्णेर सहाय, गुरु, बान्धव, प्रेयसी।
गोपिका हयेन प्रिया शिष्या, सखी, दासी॥२१०॥

२१०। प० अनु०—श्रीकृष्ण की सहायक स्वरूपा गोपिकाएँ श्रीकृष्ण की गुरु, बान्धव, प्रेयसी, प्रिया शिष्या, सखी एवं दासी हैं।

स्वयं श्रीकृष्ण का अपने साथ
गोपियों का सम्बन्ध-वर्णन—
(आदिपुराणवचन)

सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः।
सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं मे भवन्ति न॥२११॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२११। गोपियाँ मेरे लिए सबकुछ हैं—वे सब मेरी सहाय अर्थात् प्रिया हैं, गुरुस्वरूप मेरे प्रति स्नेह दर्शाती हैं, शिष्य की भाँति सेवा करती हैं, उपभोगयोग्या हैं, बन्धु

की भाँति प्रेमाचरण करती हैं एवं विवाहितस्वरूप से व्यवहार करती हैं।

अनुभाष्य

२११। हे पार्थ ते (तुभ्यम्) अहं सत्यं (स-शपथं निश्चित) वदामि, मे (मम) सहायाः (रासक्रीडादौ सहायाः) गुरवः (प्रेमशिक्षादौ उपदेष्टारः) शिष्याः (मदाज्ञा-पालनपराः) भुजिष्याः (दासीवत् मत्सेवापरा) बान्धवाः (बन्धुवत्-प्रीत्याचरणशीलाः) स्त्रियः (स्व-पत्नीवत् भोग्याः)—(अतः) गोप्यो मे किं न भवन्ति? (अपि तु मत्सर्वस्वं एवेत्यर्थः)।

गोपिका जानेन कृष्णेर मनेर वाञ्छित।
प्रेमसेवा-परिपाटि, इष्ट समीहित॥२१२॥

२१२। प॰ अनु॰—गोपिका श्रीकृष्ण के मन की इच्छाओं को अच्छी प्रकार जानती हैं और इसी कारण प्रेमसवा-परिपाटि के द्वारा श्रीकृष्ण के अभिलषित चेष्टाओं को पूर्ण करती रहती हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

२१२। इष्ट-समीहित—अभिलषित चेष्टा।

लघुभागवतामृत उत्तरखण्ड का ३९ श्लोक
(आदिपुराण)

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥२१३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२१३। मेरी महिमा, मेरी सेवा, मेरे प्रति श्रद्धा, मेरे मन का भाव केवल गोपियाँ ही जानती हैं। हे पार्थ, वास्तव में इन सब को और कोई नहीं जानता।

अनुभाष्य

२१३। हे पार्थ, गोपिकाः मन्माहात्म्यं (मम महिमान) मत्सपर्य्यां (मम सेवा) मत्श्रद्धां (मम स्पृहणीय) मन्मनो-गतं (मम मनोभिप्राय) तत्त्वतः (स्वरूपतः) जानन्ति, (अन्ये भक्ताः न जानन्ति)।

श्रीराधिका ही गोपियों में सर्वश्रेष्ठ—

सेइ गोपीगण-मध्ये उत्तमा राधिका।
रूपे, गुणे, सौभाग्ये, प्रेमे सर्वाधिका॥२१४॥

२१४। प॰ अनु॰—इन गोपियों में श्रीराधिका उत्तम हैं। उनका रूप, गुण, सौभाग्य और प्रेम सबसे ऊपर है।

लघुभागवतामृत उत्तराखण्ड का ४५ श्लोक (पद्मपुराणवचन)

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥२१५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२१५। श्रीराधा जिस प्रकार श्रीकृष्ण की प्रिया हैं, राधाकुण्ड भी उसी प्रकार उनका प्रिय स्थान है; सभी गोपियों में श्रीराधा ही श्रीकृष्ण की अत्यन्त वल्लभा हैं।

अनुभाष्य

२१५। विष्णोः (कृष्णस्य) राधा तथा प्रिया, तस्याः (राधायाः) कुण्डं तथा प्रियम्। सर्वगोपीषु सा (श्रीराधिका) एका एव विष्णोः अत्यन्तवल्लभा (परा प्रियतमा)।

स्थानों में वृन्दावन एवं भक्तों में श्रीराधा की सर्वश्रेष्ठता—
लघुभागवतामृत का उत्तरखण्ड का ४६ श्लोक
(आदिपुराण-वचन)

त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या यत्र वृन्दावनं पुरी।
तत्रापि गोपिकाः पार्थ यत्र राधाभिधा मम॥२१६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२१६। वृन्दावन धाम के पृथ्वी पर अवत्तीर्ण होने के कारण तीनों लोक धन्य हो गए हैं और इस वृन्दावन में गोपियाँ धन्य है क्योंकि इन गोपियों में मेरी अत्यन्त प्रिय श्रीराधा नाम की गोपी वर्तमान है।

अनुभाष्य

२१६। हे पार्थ, त्रैलोक्ये (भूर्भुवः स्वर्लोकत्रयमध्ये) पृथिवी धन्या, यत्र (पृथिव्यां) वृन्दावनं नाम पुरी अस्ति। तत्र (वृन्दावने) अपि गोपिकाः धन्याः यत्र मम राधाभिधा (गोपीवर्त्तते)।

मधुर-रस में श्रीराधा के साथ ही मूल
विलास, अन्य सब वस्तु तदुपकरण—

राधासह क्रीड़ा रस-वृद्धिर कारण।
आर सब गोपीगण रसोपकरण॥२१७॥

२१७। प० अनु०—श्रीराधा के साथ क्रीड़ा करने में रस की वृद्धि होती है और सब गोपीगण उस रस की उपकरण (सहायक) हैं।

अनुभाष्य

२१७। श्रीराधिका ही श्रीकृष्ण की सर्वस्व हैं, अन्या-न्य गोपियाँ श्रीकृष्ण के श्रीराधिका के साथ क्रीड़ा- रस वृद्धि के उद्देश्य से रस की उपरकण मात्र हैं।

"समन्तान्माधवाकर्षिविभ्रमाः सन्ति सुभ्रुवः। तास्तु वृन्दावनेश्वर्य्याः सख्यः पंचविधा मताः। सख्यश्च नित्य-सख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन। प्रियसख्यश्च परम-प्रेष्ठसख्यश्च विश्रुताः। ** आसां सुष्ठु द्वयोरेव प्रेम्णः परमकाष्ठया। क्वचिज्जातु क्वचिज्जातु तदाधिक्य-मिवेक्षते। ** प्रेमलीलाविहाराणां सम्यग् विस्तारिका सखी।"

काम-औत्सुक्यकृत चेष्टाओं के द्वारा श्रीकृष्ण का सर्वतोभावेन आकर्षण करने में समर्थ सुभ्रु गोपिकाएँ श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीराधिका की ही पाँच प्रकार की सखियाँ हैं। जैसे—सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रिय-सखी एवं परमप्रेष्ठसखी। परमप्रेष्ठ अष्टसखियाँ प्रेम की पराकाष्ठवशतया कभी-कभी मान के समय श्रीकृष्ण का, तथा कभी-कभी खंडित अवस्था में श्रीराधा का पक्ष लेकर किसी एक के प्रति अनुराग एवं दूसरे के प्रति विपक्षभाव का प्रदर्शन करते हुए रसवृद्धि करती हैं।

कृष्णप्रियतम राधा—

कृष्णेर वल्लभा राधा कृष्ण-प्राणधन।
ताँहा बिनु सुखहेतु नहे गोपीगण॥२१८॥

२१८। प० अनु०—श्रीराधिका, श्रीकृष्ण की वल्लभा एवं प्राणधन हैं। उनके बिना अन्यान्य गोपियाँ भी श्रीकृष्ण के सुख का कारण नहीं बन सकती।

अमृतप्रवाह भाष्य

२१८। श्रीराधिका के बिना अन्यान्य गोपियाँ कृष्ण के सुख का कारण नहीं बन सकतीं।

(श्रीगीतगोविन्द के तृतीय संख्या का प्रथम श्लोक)

कंसारिरपि संसारवासनाबद्धशृंखलाम्।
राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः॥२१९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२१९। कंसारि श्रीकृष्ण सम्पूर्णसाररूप रास-लीला की वासना को दृढ़ रूप से बाँधने वाली श्रीराधा को हृदय में धारण कर अन्यान्य व्रजसुन्दरियों को छोड़कर चले गये।

अनुभाष्य

२१९। श्रीरासस्थली का परित्याग करके वहाँ से श्रीकृष्ण का रास की मूल आश्रय श्रीराधा के उद्देश्य से गमन के उपलक्ष में श्रीजयदेव की उक्ति—

कंसारिः (श्रीकृष्णः) अपि संसारवासनाबद्धशृंख्लां (सम्यक् सारभूता रासलीला-वासना तया आबद्धा बन्धनं दृढीकरणाय संयुक्ता शृंखला निगडरूपा तां रासक्रीड़ा-परमाश्रया) राधां हृदये आधाय (आ-सम्यक् प्रकारेण धृत्वा) व्रजसुन्दरीः (सर्वाः गोपवधूः) तत्याज।

मुख्यरूप से राधाभाव में तीनों
इच्छाओं का पूरण, गौणरूप में
नामप्रेम-प्रचार—

सेइ राधाभाव लञा चैतन्यावतार।
युगधर्म नाम-प्रेम कैल परचार॥२२०॥
सेइभावे निजवाञ्छा करिल पूरण।
अवतारेर एइ वाञ्छा मूल-कारण॥२२१॥

२२०-२२१। प० अनु०—उन्हीं श्रीराधा के भाव को लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु अवतीर्ण हुए और उन्होंने ही युगधर्म नाम-प्रेम का प्रचार किया। इसी भाव के द्वारा उन्होंने अपनी वाञ्छाएँ पूर्ण की, इन वाञ्छाएँ को पूर्ण करना ही इस अवतार का मुख्य कारण है।

अनुभाष्य

२२०। उन्हीं श्रीराधा का भाव अर्थात् सर्वोत्तम कृष्ण के लिये सबकुछ, प्रीति की आश्रय-स्वरूपा श्रीमती गान्धर्विका, उनका भाव अर्थात् ऐकान्तिकी कृष्णैकसेवापरा चित्तवृत्ति।

सम्भोगरस-विग्रह नन्दनन्दन ही
विप्रलम्भरस-विग्रह श्रीगौर—

श्रीकृष्णचैतन्य गोसाञि ब्रजेन्द्रकुमार।
रसमय-मूर्त्ति कृष्ण साक्षात् शृंगार॥२२२॥

२२२। प॰ अनु॰—साक्षात् शृंगार रसमयमूर्त्ति स्वरूप व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्णचैतन्य गोसाईं हैं।

आस्वादित की भावकान्ति को
लेकर आस्वादक का अवतार—

सेइ रस आस्वादिते कैल अवतार।
आनुषंगे कैल सब रसेर प्रचार॥२२३॥

२२३। प॰ अनु॰—उसी रस का आस्वादन करने के लिए उन्होंने अवतार लिया तथा आनुषंगिक रूप से सभी रसों का प्रचार किया।

व्रजललना के साथ श्रीकृष्ण का नित्यविलास—
(श्रीगीतगोविन्द के प्रथम संख्या का ११श्लोक)

विश्वेषामनुरंजनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नंगैरनंगोत्सवम्।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यंगमालिंगितः
शृंगारः सखि मूर्त्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीड़ति॥२२४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२२४। हे सखि, अङ्गसौन्दर्य के द्वारा जगत् को आनन्द देते हुए एवं नीलकमल के समान सुन्दर, कोमल करचरणादि के द्वारा व्रजांगनाओं के हृदय में कन्दर्पोत्सव का उदय कराकर व्रजसुन्दरीसमूह के लेकर स्वच्छन्द रूप से आलिङ्गनमूर्त्तिविशिष्ट शृंगारस्वरूप श्रीकृष्ण वसन्त ऋतु में क्रीड़ा कर रहे हैं।

अनुभाष्य

२२४। हे सखि, अनुरंजनेन (प्रीणनेन) विश्वेषां (सर्वासांगोपरामाणा) आनन्दं जनयन् इन्दीवरश्रेणीश्यामल कोमलैः (हरिद्वर्णविविध-सुकुमार-नीलपद्मप्रतिमैः) अंगैः अनंगोत्सवं उपनयन् (प्रापयन्) स्वच्छन्दं (असंकोचं यथा स्यात् तथा) व्रजसुन्दरीभि; अभितः प्रत्यंगं आलिंगितः मुग्धः हरिः मधौ (वसन्तसमये) मूर्त्तिमान् शृंगारः इव क्रीड़ति।

गौरावतार में रसनिधान श्रीकृष्ण का
अनेक प्रकार से गोपीप्रेम-रसास्वादन—

श्रीकृष्णचैतन्य गोसाञि रसेर सदन।
अशेष-विशेषे कैल रस आस्वादन॥२२५॥

२२५। प॰ अनु॰—रसों के आधारस्वरूप श्रीकृष्ण-चैतन्य गोसाईं ने अन्तहीन विशेष प्रकार के उपायों से रसों का आस्वादन किया।

चैतन्यदास ही चिच्छक्ति के आश्रय
में गौरावतार-रहस्य को जानने वाले—

सेइ द्वारे प्रवर्त्ताइल कलियुग-धर्म।
चैतन्येर दासे जाने एइ सब मर्म्म॥२२६॥

२२६। प॰ अनु॰—इसी माध्यम से प्रभु ने कलियुग के धर्म का प्रवर्त्तन किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु के दास यह सब मर्म जानते हैं।

गौरभक्तों की वन्दना—

अद्वैत आचार्य, नित्यानन्द, श्रीनिवास।
गदाधर, दामोदर, मुरारि, हरिदास॥२२७॥
आर यत चैतन्य-कृष्णेर भक्तगण।
भक्तिभावे शिरे धरि सबार चरण॥२२८॥

२२७-२२८। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैत आचार्य, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीनिवास, श्रीगदाधर, श्रीदामोदर, श्रीमुरारि, श्रीहरिदास और जितने भी श्रीकृष्णचैतन्य के भक्तवृन्द हैं, उन सबके श्रीचरणों को मैं भक्तिभाव से सिर पर धारण करता हूँ।

अभी तक षष्ठ श्लोक के आभास का वर्णन, अब विस्तृत व्याख्या—

षष्ठ श्लोकेर एइ कहिल आभास।
मूल श्लोकेर अर्थ शुन, करिये प्रकाश॥२२९॥

२२९। प० अनु०—यहाँ तक षष्ठ श्लोक के आभास का वर्णन हुआ है। अब मूल श्लोक के अर्थ को प्रकाशित करता हूँ, श्रवण कीजिए।

(श्रीस्वरूपगोस्वामी के कड़चा से श्लोक)

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यंचास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभा-
त्तद्भावाढ्य समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥२३०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२३०। श्रीराधा की प्रणयमहिमा कैसी है, मेरी अद्भुत मधुरिमा, जिसका श्रीराधा आस्वादन करती हैं, वह कैसी है, मेरी मधुरिमा की अनुभूति से श्रीराधा को कौन-सा सुख मिलता है,—इन्हीं तीन विषयों के प्रति लोभ का उदय होने पर श्रीकृष्ण रूपी चन्द्र ने शचीगर्भरूप सिन्धु में जन्म ग्रहण किया।

अनुभाष्य

२३०। श्रीराधायाः (वार्षभानव्याः) प्रणय-महिमा (प्रणयमाहात्म्य) वा कीदृशो, अनया (राधया) मदीयं अद्भुत-मधुरिमा (अपूर्व-माधुर्य्यातिशयः) येन (प्रणयेन) कीदृशः वा आस्वाद्यः, मदनुभवतः (मदनुभवात्) अस्याः (श्रीराधायाः) सौख्यं कीदृशं वा इति लोभात् तद्भावाढ्यः (तस्याः भावेन आढ्यः समन्वितः सन्) शचीगर्भसिन्धौ (शच्याः मातुः गर्भसमुद्रे) हरीन्दुः (कृष्णचन्द्रः) समजनि (प्रादुरासीत्)।

गूढ़ होने पर भी रसिक भक्तों के लिये वर्णन—

एइ सब सिद्धान्त गूढ़—कहिते ना युयाय।
ना कहिले, केह इहार अन्त नाहि पाय॥२३१॥
अतएव कहि किछु करिना निगूढ़।
बुझिबे रसिक भक्त, ना बुझिबे मूढ़॥२३२॥

२३१-२३२। प० अनु०—यह सिद्धान्तसमूह गूढ़ है—इन्हें कहना उचित नहीं लगता; और यदि न कहे जाये, तो कोई भी इसका अन्त नहीं पा सकेगा। अतः निगूढ़भाव से कुछ कह रहा हूँ; रसिक भक्त समझ जायेंगे, मूढ़ नहीं समझेंगे।

अनुभाष्य

२३१। श्रीगौरावतार का यही गूढ़ सिद्धान्त—यद्यपि श्रीकृष्ण की हृद्गत वासना को जगत् में प्रकाशित करना उचित नहीं है, अथवा जगत् में श्रोतृवर्ग के अधिकारानुसार नहीं है, तथापि यह बात प्रकाशित न होने से जीव निजचेष्टा के द्वारा इसकी सीमा की उपलब्धि नहीं कर पायेंगे।

श्रीगुरु-गौराङ्ग के दास का ही रससिद्धान्त में अधिकार—

हृदये धरये ये चैतन्य-नित्यानन्द।
एसब सिद्धान्ते सेइ पाइवे आनन्द॥२३३॥
ए सब सिद्धान्त हय आम्रेर पल्लव।
भक्तगण-कोकिलेर सर्वदा वल्लभ॥२३४॥
अभक्त-उष्ट्रेर इथे ना हय प्रवेश।
तबे चित्ते हय मोर आनन्द-विशेष॥२३५॥

२३३-२३५। प० अनु०—जिन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु को हृदय में धारण किया है, वे इन सिद्धान्त को सुनकर आनन्दित होंगे। ये सब सिद्धान्त आम्रपल्लव जैसे हैं। कोयलरूपी भक्तवृन्द सदैव इसका आदर करते हैं और ऊँट जैसे अभक्तों का इसमें प्रवेश नहीं होता। यह जानकर मेरे चित्त में विशेष आनन्द हो रहा है।

अनुभाष्य

२३४-२३५। ये सब कथाएँ श्रीगौरनित्यानन्द के भक्तों की ही आनन्द विधायिनी प्राप्ति होती है। गौरभक्तवृन्द कोयल के समान हैं। सिद्धान्त—आम्रपल्लव-जैसे हैं; कोयल जिस प्रकार से आम्रपल्लव का समादर करती है, उसी प्रकार भक्तवृन्द इसमें परम प्रीति प्राप्त करते हैं।

पक्षान्तर में, ऊँट जिसप्रकार से कण्टकादि के द्वारा जिह्वा को बिना क्षतविक्षत किये आम्रपल्लव आदि को खाने की इच्छा नहीं करते, उसी प्रकार अभक्त ज्ञानी, कर्मी एवं अन्याभिलाषी बगुलाभगतरूप ऊँटसमूह इन सब सिद्धान्त समूहों में कुतर्क का आह्वान करते हैं।

अभक्तों की दुर्बुद्धि का भय, किन्तु उनकी अज्ञता का सुख—

ये लागि कहिते भय, से यदि ना जाने।
इहा वइ किवा सुख आछे त्रिभुवने॥२३६॥
अतएव भक्तगणे करि नमस्कार।
निःशंके कहिये, तार हउक चमत्कार॥२३७॥

२३६-२३७। प० अनु०—जिनसे इन सिद्धान्तों को कहने में भयभीत होता हूँ, यदि वे न जान पायें तो इससे बढ़कर तीनों भुवन में और क्या सुख हो सकता है? अतएव भक्तवृन्द के प्रति नमस्कार निवदेन कर निर्भय होकर सब सिद्धान्त को कहता हूँ, जिसे सुनकर भक्तों को चमत्कार होगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

२३५-२३६। फिर भी मेरे मन में यह आनन्द हो रहा है कि, जिन सब अभक्तों से भयभीत हूँ, उन सबके लिये इस ग्रन्थ में प्रवेश की सम्भावना नहीं है; अतः वे सब नहीं पढ़ेंगे (नहीं समझेंगे), इससे अधिक और क्या सुख है?

ह्लादिनी-माधुर्य के सामने कृष्णमाधुर्य
की हीनता एवं पराभव—

कृष्णेर विचार एक आछये अन्तरे।
पूर्णानन्द-रसस्वरूप सबे कहे मोरे॥२३८॥
आमा हैते आनन्दित हय त्रिभुवन।
आमाके आनन्द दिबे—ऐछे कोन् जन॥२३९॥
आमा हैते यार हय शत शत गुण।
सेइ जन आह्लादिते पारे मोर मन॥२४०॥
आमा हैते गुणी बड़ जगते असम्भव।
एकलि राधाते ताहा करि अनुभव॥२४१॥

२३८-२४१। प० अनु०—श्रीकृष्ण के हृदय में एक विचार यह है कि, 'सब मुझे पूर्णानन्द-रसस्वरूप कहते हैं'। मुझसे त्रिभुवन आनन्दित होता है, परन्तु ऐसा कौन है जो मुझे भी आनन्दित करे? गुणों में जो मुझसे भी सौ गुणा अधिक गुणी है, वही मेरे मन को आह्लादित कर सकता है। किन्तु मुझसे बड़ा गुणी जगत् में होना असम्भव है। एकमात्र श्रीराधा में मुझसे अधिक गुण हैं यही अनुभव करता हूँ।

कोटिकाम-जिनि' रूप यद्यपि आमार।
असमोर्द्धमाधुर्य—साम्य नाहि यार॥२४२॥

२४२। प० अनु०—यद्यपि कोटि-काम से भी बड़कर मेरा रूप है और मेरे समान या उससे अधिक माधुर्य और किसी का नहीं है।

अनुभाष्य

२४२। श्रीकृष्ण—मदनमोहन हैं; श्रीकृष्ण का माधुर्य कोटि-कोटि कामदेवों के असामान्य सौन्दर्य को क्षुण्ण करने में समर्थ है। कृष्णरूप के समान एवं उससे अधिक माधुर्य और किसी भी वस्तु में नहीं है। कृष्णरूप के साथ अन्य किसी रूपवान् की तुलना नहीं है।

मोर रूपे आप्यायित करे त्रिभुवन।
राधार दर्शने मोर जुड़ाय नयन॥२४३॥
मोर वंशी-गीत आकर्षये त्रिभुवन।
राधार वचने हरे आमार श्रवण॥२४४॥
यद्यपि आमार गन्धे जगत् सुगन्ध।
मोर चित्त-प्राण हरे राधा-अंग-गन्ध॥२४५॥
यद्यपि आमार रसे जगत् सुरस।
राधार अधर-रसे आमा करे वश॥२४६॥
यद्यपि आमार स्पर्श कोटीन्दू-शीतल।
राधिकार स्पर्शे आमा करे सुशीतल॥२४७॥

२४३-२४७। प० अनु०—मेरा रूप त्रिभुवन को आप्यायित (तृप्त) करता है, तथापि श्रीराधा के दर्शन से मेरे नयन तृप्त होते हैं। मेरे वंशी का गीत त्रिभुवन को

आकर्षित करता है, परन्तु श्रीराधा के वचन मेरे कानों का हरण कर लेते हैं। यद्यपि मेरी गन्ध से जगत् सुगन्धित हैं, तथापि श्रीराधा की अङ्ग-गन्ध मेरे मन-प्राणों को भी हरण कर लेती है। यद्यपि मेरे रस से जगत् रसमय है, तथापि श्रीराधिका के अधरों का रस मुझे वश में कर लेता है। यद्यपि मेरा स्पर्श करोड़ों चन्द्रमाओं-जैसा शीतल है, किन्तु श्रीराधिका का स्पर्श मुझे सुशीतल करता है।

श्रीराधिका के रूपगुण ही श्रीकृष्ण के लिये जीवन-सर्वस्व—

एइ मत जगतेर सुखे आमि हेतु।
राधिकार रूपगुण आमार जीवातु॥२४८॥

२४८। प० अनु०—इस प्रकार जगत् के समस्त सुखों का कारण मैं ही हूँ परन्तु श्रीराधिका के रूपगुण मेरे जीवनस्वरूप हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४८। जीवातु—जीवन।

श्रीकृष्ण की राधाप्रीति की अपेक्षा श्रीराधिका की कृष्णप्रीति का आधिक्य-विचार—

एइ मत, अनुभव आमार प्रतीत।
विचारि' देखिये यदि, सब विपरीत॥२४९॥

२४९। प० अनु०—मुझे अनुभव से ऐसा ही प्रतीत होता है। परन्तु जब विचार करता हूँ तो सब विपरीत ही लगता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४९। मैं मन-ही-मन सोचता हूँ कि, श्रीराधिका के प्रति मेरी प्रीति अत्यन्त प्रबल है, किन्तु विचार करने से विपरीत ज्ञान होता है, अर्थात् श्रीराधिका की मेरे प्रति प्रीति मेरी-अपेक्षा अधिक प्रतीत होती है।

राधार दर्शने मोर जुड़ाय नयन।
आमार दर्शने राधा सुखे आगेयान॥२५०॥
परस्पर वेणुगीते हरये चेतन।
मोर भ्रमे तमालेरे करे आलिंगन॥२५१॥

२५०-२५१। प० अनु०—श्रीराधा के दर्शन से मेरे नेत्र तृप्त हो जाते हैं किन्तु मेरे दर्शन से श्रीराधा को ऐसे सुख की प्राप्ति होती है कि वह ज्ञान शून्य हो जाती है। मेरी वेणु की ध्वनि श्रीराधिका की चेतना तथा श्रीराधाका की वेणु जैसी कोमल ध्वनि मेरी चेतना अथवा दो बाँसो के परस्पर घर्षण से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे मेरे वेणु की ध्वनि समझने के कारण श्रीमती राधिका की चेतना का हरण हो जाता है, इसलिए वे मेरे भ्रम में तमालवृक्ष का आलिङ्गन करती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२५१। मेरी वेणुध्वनि श्रीराधिका की चेतना का हरण करती है एवं श्रीराधिका का कोमल गीत मेरी चेतना को हरण करता है। जब श्रीराधिका की चेतना का हरण होता है, तब वे तमाल का कृष्णभ्रम से आलिङ्गन कर महान् सुख को प्राप्त करती हैं। अथवा और एक अर्थ हो सकता है—परस्पर बाँस के घर्षण से जिस वेणुगीत रूपी शब्द का सृजन होता है, उसे सुनकर श्रीराधिका हृत-चेतन होकर मेरे भ्रम से तमाल का आलिङ्गन करती है।

श्रीराधिका की सम्पूर्ण कृष्णमयता, सर्वत्र कृष्णदर्शन से आनन्द-विह्वलता—

कृष्ण-आलिंगन पाइनु, जनम सफले।
एइ सुखे मग्न रहे वृक्ष करि कोले॥२५२॥
अनुकूलवाते यदि पाय मोर गन्ध।
उड़िया पड़िते चाहे, प्रेमे हय अन्ध॥२५३॥

२५२-२५३। प० अनु०—(तमाल वृक्ष का आलिङ्गन करके श्रीराधा विचार करती है)—"मैंने श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कर अपना जीवन सफल कर लिया है।" वृक्ष को आलिङ्गन कर वह परम सुख में मग्न रहती है। मेरे निकटस्थ वायु के द्वारा यदि उसे मेरा गन्ध प्राप्त हो जाये तो वह प्रेमोन्ध होने के कारण मेरे पास उड़कर पहुँचना चाहती है।

श्रीराधा का कृष्णसेवा-सुख श्रीकृष्ण के लिये भी दुर्ज्ञेय—

ताम्बुलचर्बित यबे करे आस्वादने
आनन्दसमूद्रे डुबे, किछुइ ना जाने॥२५४॥
आमार संगमे राधा पाय ये आनन्द।
शतमुखे बलि, तबु ना पाइ तार अन्त॥२५५॥
लीला-अन्ते सुखे इँहार अंगेर माधुरी।
ताहा देखि' सुखे आमि आपना पाशरि॥२५६॥

२५४-२५६। प० अनु०—जब वे मेरे चर्बित ताम्बूल का आस्वादन करती है, तो आनन्द समुद्र में ऐसी डूब जाती हैं कि उन्हें अन्य विषय का ज्ञान नहीं रह जाता। मेरे सङ्गम से श्रीराधा को जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे एक-सौ मुखों से वर्णन करने पर भी मैं इसका अन्त नहीं पाता। लीला के अन्त में सुख के कारण श्रीराधा की जो अङ्ग माधुरी है, उसे देखकर मुझे भी ऐसा सुख प्राप्त होता है कि मैं अपने आपको भूल जाता हूँ।

प्रपंच में कान्त-कान्ता का तुल्य रस होने पर भी चित् राज्य में कान्तरस की अपेक्षा कान्ता-रस की अधिकता—

दोंहार ये सम-रस, भरत-मुनि माने।
आमार ब्रजेर रस सेह नाहि जाने॥२५७॥

२५७। प० अनु०—भरतमुनि कान्त-कान्ता के रस सुख को समान मानते हैं। परन्तु वह मेरे व्रज के रस को नहीं जानते।

अमृतप्रवाह भाष्य

२५७। भरतमुनिर मते (भरतमुनि के मतानुसार)—स्त्री-पुरुष दोनों का रस समान है, किन्तु वे मुनि होकर भी मेरे व्रजरस के तत्त्व को नहीं जानते हैं; क्योंकि, श्रीराधिका का रस स्वरूपतया अधिक है।

राधासङ्ग में श्रीकृष्ण का सबसे अधिक आनन्द—

अन्येर संगमे आमि यत सुख पाइ।
ताहा हैते राधा-संगे शत अधिकाइ॥२५८॥

२५८। प० अनु०—अन्य किसी के सङ्ग से मुझे जितना सुख प्राप्त होता है, उससे सौ गुणा अधिक सुख मुझे श्रीराधा के सङ्ग में प्राप्त होता है।

(ललितमाधव ९.९ श्लोक)

निर्धूतामृतमाधुरी परिमलः कल्याणि विम्बाधरो
वक्त्रं पंकजसौरभं कुहरितश्लाघाभिदस्ते गिरः।
अंगं चन्दनशीतलं तनुरियं सौन्दर्यसर्वस्वभाक्
त्वामास्वाद्य ममेदमिन्द्रियकुलं राधे मुहुर्मोदते॥२५९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२५९। हे कल्याणि, अमृत की माधुरी के परिमल को भी पराजित करने वाले तुम्हारे बिम्बाधर, कमल की गन्ध से युक्त तुम्हारा मुख, कोकिल की ध्वनि को तिरस्कार करने वाली तुम्हारी वाणी, चन्दन की भाँति सुशीतल अङ्ग और समस्त सौन्दर्य का आधार स्वरूप तुम्हारा शरीर,—ऐसी रूपगुणलीलामयी तुम्हें प्राप्त करके मेरी इन्द्रियाँ बारम्बार अत्यधिक हर्ष प्राप्त कर रही हैं।

अनुभाष्य

२५९। हे कल्याणि, (आनन्द विग्रहे) ते (तव) बिम्बाधरः (रक्तवर्णाधरः) निर्धूतामृत-माधुरीपरिमलः (निर्धूतौ पराजितौ अमृतस्य माधुरीपरिमलौ येन तादृशः) वक्त्रं पंकज-सौरभं (पंकजस्य कमलस्य सौरभं एव सौरभं यस्य तत्) गिरः (वाचः) कुहरितश्लाघाभिदः (कुहरितानां कोकिलध्वनीनां श्लाघाभिदः तिरस्कारिणाः) अंगं (अवयवः) चन्दनशीतलं (चन्दनवत् शीतलं) इयं तनुः (मूर्त्तिः) सौन्दर्य-सर्वस्वभाक् (सौन्दर्याणां सर्वस्वं भजते या सा) हे राधे, ताम् आस्वाद्य मम इदं इन्द्रियकुलं (इन्द्रियगणः) मुहुः (पुनः पुनः) मोदते (ह्लादयुक्तो भवति)।

(श्रीरूपगोस्वामी की उक्ति)

रूपं कंसहरस्य लुब्धनयनां स्पर्शेऽतिहृष्यत्त्वचं
वाण्यामुत्कलितश्रुतिं परिमले संहृष्टनासापुटाम्।
आरज्यद्रसनां किलाधरपुटे न्यंचन्मुखाम्भोरुहां
दम्भोद्गीर्णमहाधृतिं बहिरपि प्रोद्याद्विकाराकुलाम्॥२६०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२६०। कंसारि-श्रीकृष्ण के रूप दर्शन करने में लोभयुक्त श्रीराधा के नयनयुगल श्रीकृष्ण के स्पर्श करने

से अति हर्षान्वित उनकी स्पर्शेन्द्रिय, वचन सुनने को उत्कण्ठित उनके कान श्रीकृष्ण के अङ्ग गन्ध से प्रफुल्लित नासिका श्रीकृष्ण के अधरामृत को पान करने में अनुरागवती रसना, सदैव प्रफुल्ल मुखाब्ज, नम्रीभूत धैर्यनाशक उत्कट रोमांच आदि विकारसमूह के साथ व्यस्त अङ्गसमूह लक्षित हुए।

अनुभाष्य

२६०। कंसहरस्य (कंसान्तकस्य श्रीकृष्णस्य) रूपे (रूपदर्शने) लुब्धनयनां (लुब्धे लोभयुक्ते नयने यस्याः तां कृष्णरूपाकृष्टनेत्रा) स्पर्शे (अंगसंगे) अतिहृष्यत्वचं (अतिहृष्यन्ती पुलकिता त्वक् यस्याः तां कृष्णस्पर्शा-त्यानन्दितगात्रा) वाण्यां (वाचि) उत्कलितश्रुतिं (उत्क-लिते उत्सुके श्रुती कर्णौ यस्याः तां, कृष्णशब्दश्रवणो-त्कर्णा) परिमले (अंगसौरभे) संहृष्टनासापुटां (संहृष्टे नासापुटे यस्याः तां कृष्णसुन्धघ्राणाद्भुतमोदाम्) अधरपुटे (अधरामृतपाने) आरज्यद्रसनां (आरज्यन्ती अनुरागभरा रसना जिह्वा यस्याः तां कृष्णाधरानुरक्तरसना) न्यंचन्मुखा-म्भोरुहां (न्यंचत् पूजितं मुखं एव अम्भोरुहं यस्याः ताम्, अवनतवदनकमला) वहिः अपि किल दंभोद्गीर्णं महा-धृतिं (दम्भेन कपटेन उद्गीर्णा प्रकाशिता महती धृतिः धैर्यां यस्याः तां वहिर्वाम्य चेष्टावर्ती) प्रोद्यत् विकाराकुलां (प्रोद्यता प्रकर्षेण उद्भूतेन विकारेण आकुलाम् अन्तः क्रीडौत्सुक्यपरा) राधामहं स्मरामि।

श्रीकृष्ण द्वारा अपने माधुर्य के बल का विचार—

ताते जानि, मोते आछे कोन एक रस।
आमार मोहिनी राधा, तारे करे वश॥२६१॥

२६१। प० अनु०—इससे जाना जाता है कि मुझमें कोई ऐसा एक रस है जो मुझे भी मोहित करनेवाली श्रीराधा को वशीभूत कर देता है।

राधासुख-आस्वादन-हेतु श्रीकृष्ण की व्याकुलता—

आमा हैते राधा पाय ये जातीय सुख।
ताहा आस्वादिते आमि सदाइ उन्मुख॥२६२॥
नाना यत्न करि आमि, नारि आस्वादिते।
सेइ सुखमाधुर्य-घ्राणे लोभ बाड़े चित्ते॥२६३॥

२६२-२६३। प० अनु०—मुझसे श्रीराधा को जिस प्रकार का सुख प्राप्त होता है, उसके आस्वादन के लिए मैं सदैव उन्मुख रहता हूँ। उस सुख को अनुभव करने के लिए अनेक यत्न करने पर भी मैं उसे आस्वादन नहीं कर पाता। उस सुख के माधुर्य की सुगन्ध पाकर, उसके आस्वादन करने का लोभ मेरे चित्त में बढ़ता ही जाता है।

विभिन्नभावों में राधाप्रेम-रस के
आस्वादन-हेतु गौरावतार—

रस आस्वादिते आमि कैल अवतार।
प्रेमरस आस्वादिव विविध प्रकार॥२६४॥

२६४। प० अनु०—रस के आस्वादन के लिए ही अवतरित होकर मैं अनेक प्रकार के प्रेमरस का आस्वादन करूँगा।

रागभजनविधि का
प्रचार एवं आचार—

रागमार्गे भक्त भक्ति करे ये प्रकारे।
ताहा शिखाइब लीला-आचरणद्वारे॥२६५॥

२६५। प० अनु०—रागमार्ग में मेरे भक्त जैसे भक्ति करते हैं, मैं उसे लीला आचरण के द्वारा जगत् को शिक्षा दूँगा।

आश्रयजातीय-भाव के बिना
विषयजातीय-भाव में सेवा-सुख
का आस्वादन सम्भव नहीं—

एइ तिन तृष्णा मोर नहिल पूरण।
विजातीय-भावे नहे ताहा आस्वादन॥२६६॥
राधिकार भावकान्ति अंगीकार विने।
सेइ तिन सुख कभु नहे आस्वादने॥२६७॥
राधाभाव अंगीकरि' धरि' तार वर्ण।
तिनसुख आस्वादिते हब अवतीर्ण॥२६८॥

२६६-२६८। प० अनु०—मेरी तीन वाञ्छाएँ पूर्ण

न हो सकीं क्योंकि विजातीय भाव (विषय विग्रह के भाव) के द्वारा इनका आस्वादन नहीं हो सकता। श्रीराधिका के भाव और कान्ति को अङ्गीकार किये बिना इन तीन सुखों का आस्वादन कभी नहीं हो सकता। इसलिए श्रीराधिका के भाव को हृदय में धारण कर एवं अङ्ग में उनकी कान्ति को धारण कर इन तीन सुख को आस्वादन करने के लिए मैं अवतीर्ण होऊँगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६६। विजातीय—विषयजातीय।

गौररूप में अवतरण के समय
युगावतार-काल एवं श्रीअद्वैत
के आकर्षण का सम्मिलन—

सर्वभावे करिल कृष्ण एइ त' निश्चय।
हेनकाले आइल युगावतार-समय॥२६९॥
सेइकाले श्रीअद्वैत करे आराधन।
ताँहार हुँकारे कैल कृष्णे आकर्षण॥२७०॥

२६९-२७०। प॰ अनु॰—सर्वभाव से श्रीकृष्ण ने जब यह निश्चय किया, उसी समय युगावतार के अवतीर्ण होने का समय भी उपस्थित हो गया। उसी समय श्रीअद्वैताचार्य आराधना कर रहे थे, उन्होंने भी अपने हुँकार से श्रीकृष्ण को आकर्षित कर लिया।

पहले गुरुवर्ग का अवतार, पश्चात्
स्वयंरूप श्रीगौर का अवतार—

पितामाता, गुरुगण, आगे अवतरि'।
राधिकार भाव-वर्ण अंगीकार करि'॥२७१॥
नवद्वीपे शचीगर्भ-शुद्ध-दुग्धसिन्धु।
ताहाते प्रकट हैला कृष्ण पूर्ण इन्दु॥२७२॥

२७१-२७२। प॰ अनु॰—पहले पितामाता और गुरुवर्ग को अवतीर्ण कराके फिर स्वयं श्रीराधिका के भाव और वर्ण को अङ्गीकार कर नवद्वीप में श्रीशचीमाता के गर्भ से शुद्ध क्षीर समुद्र के समान पूर्ण चन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र प्रकटित हुए।

श्रीरूपगोस्वामीपादपद्म-ध्यान व श्लोकार्थ
का पोषक उनका प्रमाण श्लोक का उद्धरण—

एइ त' षष्ठ श्लोकेर करिलुँ व्याख्यान।
श्रीरूप-गोसाञिर पादपद्म करि' ध्यान॥२७३॥
एइ दुइ श्लोकेर आमि ये करिल अर्थ।
श्रीरूप-गोसाञिर श्लोक प्रमाण समर्थ॥२७४॥

२७३-२७४। प॰ अनु॰—श्रीरूप-गोस्वामी के श्रीचरणकमलों का ध्यान करते हुए मैंने षष्ठश्लोक की व्याख्या की है। इन दोनों श्लोकों की मैंने जो व्याख्या की है। वह श्रीरूप गोस्वामी के द्वारा रचित श्लोक के द्वारा प्रमाणित हुई है।

अनुभाष्य

२७१। अवतरि—अवतरण करवाकर।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६९-२७४। पूर्वोक्त तीन प्रकार की वाञ्छाओं का पूर्ण होना, भक्तवृन्द को रागमार्गीय भक्ति के सम्बन्ध में स्वयं आचरण के द्वारा शिक्षा प्रदान करना, इन सब भावों के साथ जिस समय श्रीकृष्ण ने अवतीर्ण होने का निश्चय किया; उसी समय युगावतारकाल आकर विद्यमान हो गया एवं उसी समय श्रीअद्वैत आचार्य ने भी श्रीकृष्ण की आराधना की। इन सबके साथ-साथ श्रीराधिका के भाव और वर्ण को अङ्गीकार करके नवद्वीप में श्रीशची के गर्भ से कृष्णचन्द्र श्रीगौराङ्ग-स्वरूप में उदित हुये। श्रीस्वरूप गोस्वामी के दो श्लोकों में जिस तत्त्व की व्याख्या की है, उसे श्रीरूपगोस्वामी के द्वारा रचित श्लोक के द्वारा प्रमाणित कर रहा हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

२७६। तीन विषयों का मङ्गलाचरण, श्रीकृष्णचैतन्य के तत्त्व लक्षण और श्रीचैतन्य महाप्रभु के अवतार के प्रयोजन—ये तीन विषय छइ श्लोकों के द्वारा निरुपित हुए हैं।

चतुर्थ परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

(स्तवमाला के द्वितीय चैतन्याष्टक में तृतीय श्लोक)

अपारं कस्यापि प्रणयिजनवृन्दस्य कुतुकी
रसस्तोमं हृत्वा मधुरमुपभोक्तुं कमपि यः।
रुचं स्वामावव्रे द्युतिमिह तदीयां प्रकटयन्
स देवश्चैतन्याकृतिरतितरां नः कृपयतु॥२७५॥

अनुभाष्य

२७५। आदि, चतुर्थ परिच्छेद ५२ संख्या द्रष्टव्य है।

मंगलाचरणं श्रीकृष्णचैतन्यतत्त्वलक्षणम्।
प्रयोजनंचावतारे श्लोकषट्कैर्निरुपितम्॥२७६॥

अनुभाष्य

२७६। कृष्णचैतन्यतत्त्वलक्षणं (गौरतत्त्वनिरूपणा-त्मक) मंगलाचरणम्, अवतारे (गौरावतारविषये) प्रयोजनं च श्लोकषट्कैः (वन्दे गुरुनित्यारभ्य गर्भसिन्धौ हरिन्दु-रित्यन्तैः श्लोकैः षट्संख्यकैः) निरूपितम्।

चतुर्थ परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥२७७॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में चैतन्यावतार-मूल-प्रयोजनकथनं नामक चतुर्थ परिच्छेद समाप्त।

२७७। प॰ अनु॰—श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

पञ्चम परिच्छेद

कथासार—इस पञ्चम परिच्छेद में पाँच श्लोकों के द्वारा श्रीनित्यानन्द प्रभु की महिमा का इस प्रकार वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं; उनकी विलास-मूर्त्ति अर्थात् द्वितीय देहस्वरूप श्रीबलराम हैं। प्रकृति से परे 'परव्योम' नामक एक चिन्मयधाम है, उस चिन्मयधाम के सबसे ऊपर 'कृष्णलोक' है, उस कृष्ण-लोक में द्वारका, मथुरा एवं गोकुल विद्यमान है; वहाँ आदिचतुर्व्यूह श्रीकृष्ण, श्रीबलदेव श्रीप्रद्युम्न अर्थात् कामदेव एवं श्रीअनिरुद्ध विराजमान हैं। उस कृष्णलोक में 'श्वेतद्वीप' नामक वृन्दावन धाम प्रकटित है। कृष्णलोक के नीचे 'परव्योम' नामक वैकुण्ठ वर्तमान है; वहाँ श्रीकृष्ण के विलास-विग्रह चतुर्भुज नारायण विराजमान हैं। कृष्ण-लोक में जो श्रीबलदेव हैं, वे ही मूल-संकर्षण हैं। उनकी विलासमूर्त्ति परव्योम वैकुण्ठ में स्थित महा-संकर्षण हैं। महासंकर्षण की चिच्छक्ति के कारण परव्योम में स्थित सम्पूर्ण शुद्धसत्त्व प्रकाशित है; जीवशक्ति के कारण शुद्धजीव समूह वहाँ वर्त्तमान है, वहाँ मायाशक्ति का स्थान नहीं है। नारायणधाम में द्वितीय कायव्यूह विराजमान है। उस परव्योम के बाहर ज्योतिर्मयधामरूप 'ब्रह्मलोक' है। उसके बाहर चिन्मयजलविशिष्ट कारण-समुद्र है। कारण-समुद्र की दूसरी ओर असंस्पृष्ट रूप से माया की अवस्थिति है। कारण-समुद्र में मूल-संकर्षण के अंशरूप आदिपुरुषावतार महाविष्णु अधिष्ठित हैं। वे दूर से माया के प्रति ईक्षण करते हैं; एक अङ्गाभास से (अर्थात् वह अङ्ग-जैसा लगता है, परन्तु अङ्ग नहीं है) वे माया के उपादान-कारण के साथ मिलित होते हैं। माया ही उपादान-कारण के रूप में 'प्रधान' एवं निमित्त-कारण के रूप में 'प्रकृति' है। महाविष्णु की दृष्टि ही जड़रूपा प्रकृति की मूल निमित्त-कारण है, अतः प्रकृति गौण निमित्त-कारण मात्र है। वही कारणाब्धिशायी महा-विष्णु ही समष्टि जगत् में प्रविष्ट होकर गर्भोदशायी एवं प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रत्येक जीव में प्रविष्ट होकर क्षीरोद-शायी के रूप में विराजमान हैं। वही क्षीरोदशायिपुरुष प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक-एक वैकुण्ठ को प्रकट करके उसमें विष्णु-परमात्मा-ईश्वरादि के रूप में विराजमान हैं एवं ब्रह्माण्ड के जलांश में शेषशय्या पर शयन करते हैं; वे ही ब्रह्मा के पिता हैं; उनके ही एक अंश की विराट् के रूप में कल्पना की जाती है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के क्षीरसमुद्र में एक एक 'श्वेतद्वीप' प्रादुर्भूत है, इसमें विष्णु अवस्थान करते हैं। अतः दो श्वेतद्वीप प्रकटित हैं—एक कृष्णलोक में, और एक प्रत्येक ब्रह्माण्ड के क्षीरसमुद्र में। कृष्णलोक में स्थित 'श्वेतद्वीप' वहाँ के वृन्दावन के साथ अभिन्न-रूप में कृष्ण की किसी परिशिष्टलीला की भूमि है। ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत 'शेष' विष्णु के छत्र, पादुका, शय्या, उपाधान, वसन, आवास, यज्ञसूत्र, सिंहासन आदि के रूप में सेवा करते हैं। कृष्णलोक में स्थित श्रीबलदेव ही श्रीनित्यानन्द प्रभु हैं, अतः वे मूल संकर्षण हैं; इसलिए परव्योम के महासंकर्षण एवं उनके पुरुषावतारगण श्रीनित्यानन्द प्रभु के अंश-कलास्वरूप हैं।

इस परिच्छेद में ग्रन्थकार ने अपनी वृन्दावनयात्रा एवं वहाँ उनके द्वारा प्राप्त की गई सर्वसिद्धि के सम्बन्ध में एक आख्यायिका भी लिखी है। इससे जाना जाता है कि, उनका पूर्वनिवास काटोया प्रदेश के नैहाटी के निकट 'झामटपुर' गाँव में था। वे दो भाई थे। एक समय श्रीनित्यानन्द प्रभु के पार्षद श्रीमीनकेतन रामदास उनके घर पर निमन्त्रित हुए। वहाँ पूजारी गुणार्णवमिश्र के प्रति किसी कारण-वश असन्तुष्ट हुये। श्रील कविराज गोस्वामी के भाई ने उनका पक्ष लेकर श्रीनित्यानन्द प्रभु की महिमा को स्वीकार नहीं किया। इसलिये श्रील-कविराज गोस्वामी ने अपने भाई का तिरस्कार किया। रामदास अपनी वंशी को तोड़कर वहाँ से चले गये और

उसी क्षण श्रील कविराज गोस्वामी के भाई सर्वनाश को प्राप्त हुये। उसी रात श्रील कविराज गोस्वामी ने स्वप्न में श्रीनित्यानन्द प्रभु की प्रसन्ता एवं उनका आदेश प्राप्त कर अगले दिन ही वृन्दावन के लिये प्रस्थान किया।
(अ: प्र: भा:)

नित्यानन्द के कृपाबल से नित्यानन्द का स्वरूप-ज्ञान—

वन्देऽनन्ताद्‌भुतैश्वर्यं श्रीनित्यानन्दमीश्वरम्।
यस्येच्छया तत्स्वरूपमज्ञेनापि निरुप्यते॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। उन अनन्त-अद्‌भुत-ऐश्वर्यविशिष्ट ईश्वर श्री नित्यानन्द प्रभु की मैं वन्दना करता हूँ। जिनकी इच्छा से मूर्ख-व्यक्ति भी उनका स्वरूप निरूपण करने में समर्थ हो सकता है।

अनुभाष्य

१। यस्य (नित्यानन्दस्य) इच्छया (अनुकम्पया) अज्ञेन (शास्त्रज्ञानानभिज्ञेन) अपि (मया) तत्स्वरूपं (नित्यानन्दतत्त्व) निरूप्यते (वर्ण्यते), तम् अनन्ताद्‌भुतैश्वर्यम् (अनन्तम् अदभुतम ऐश्‍र्यं यस्य तं देशकाल-पात्रातीतैश्वर्यसम्पन्नम्) ईश्वरं (देवदेव) श्रीनित्यानन्दम् अहं वन्दे।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो एवं गौरभक्तवृन्द की जय हो।

छह श्लोकों में गौरतत्त्व, पाँच श्लोकों में नित्यानन्द-तत्त्व—

एइ षट्‌श्लोके कहिल कृष्णचैतन्य-महिमा।
पंचश्लोके कहि नित्यानन्दतत्त्व-सीमा॥३॥

३। प० अनु०—छह श्लोकों के द्वारा श्रीकृष्णचैतन्य की महिमा का वर्णन किया गया है। अब पाँच श्लोकों के द्वारा श्रीनित्यानन्द प्रभु के तत्त्व की सीमा का वर्णन कर रहा हूँ।

बलदेव-तत्त्व—

सर्व-अवतारी कृष्ण स्वयं भगवान्।
ताँहार द्वितीय देह श्रीबलराम॥४॥
एकइ स्वरूप दोंहे, भिन्नमात्र काय।
आद्य कायव्यूह, कृष्णलीलार सहाय॥५॥

४-५। प० अनु०—सर्व-अवतारी श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। उन्हीं के दूसरे विग्रह श्रीबलराम हैं। दोनों एक ही स्वरूप हैं, केवल देह भिन्न हैं। वे श्रीकृष्ण के प्रथम कायव्यूह हैं तथा श्रीकृष्ण लीला के सहायक हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

४। ताँहार द्वितीय देह (उनका द्वितीय देह)—श्रीकृष्ण का विलास देह।

कृष्ण—गौर, बलराम—निताइ—

सेइ कृष्ण—नवद्वीपे श्रीचैतन्यचन्द्र।
सेइ बलराम—संगे श्रीनित्यानन्द॥६॥

६। प० अनु०—वे ही श्रीकृष्ण नवद्वीप में श्रीचैतन्यचन्द्र के रूप में आविर्भूत हुये और वही बलराम उनके साथ श्रीनित्यानन्द प्रभु के रूप में अवतीर्ण हुए।

अमृतप्रवाह भाष्य

५-६। श्रीबलदेव ही श्रीकृष्ण के आद्यकायव्यूह अर्थात् श्रीकृष्ण के देह की विस्तृति हैं एवं वे ही कृष्ण लीला के सहायक हैं। वही श्रीकृष्ण नवद्वीप में श्री-चैतन्यचन्द्र के रूप में अवतीर्ण हुये हैं, एवं वे ही आद्यकायव्यूह श्रीबलराम उनके साथ श्रीनित्यानन्द प्रभु के रूप में विराजमान हैं।

आदिलीला के मङ्गलाचरण के १४ श्लोकों में से सप्तम श्लोक की व्याख्या—संकर्षण तथा कारण-गर्भ-क्षीर-जलशायिगण एवं शेष के अंशी नित्यानन्द अथवा बलदेव—(श्रीस्वरूपगोस्वामी के कड़चा का श्लोक)

संकर्षणः कारणतोयशायी
गर्भोदशायी च पयोब्धिशायी।
शेषश्च यस्यांशकलाः स
नित्यानन्दाख्यरामः शरणं ममास्तु॥७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७। संकर्षण, कारणाब्धिशायी, गर्भोदशायी, पयोब्धिशायी एवं शेष जिनके अंश एवं कला हैं, वही श्रीनित्यानन्दराम मेरे शरणस्वरूप हों।

अनुभाष्य

७। संकर्षणः (परव्योमस्थो महासंकर्षणः), कारणतोयशायी (आदिपुरुषावतारः), गर्भोदशायी (द्वितीय पुरुषावतारः हिरण्यगर्भः समष्टिविष्णुः), पयोब्धिशायी (तृतीय पुरुषावतारः क्षीरशायी व्यष्टिविष्णुः), शेषः (अनन्तदेवः)—यस्यांशकलाः, सः नित्यानन्दाख्यः रामः (बलदेवः) मम शरणम् अस्तु।

मूल-संकर्षण श्रीबलदेव की पाँच रूपों से श्रीकृष्ण की सेवा—

श्रीबलराम गोसाञि मूल-संकर्षण।
पंचरूप धरि' करेन कृष्णेर सेवन॥८॥
आपने करेन कृष्णलीलार सहाय।
सृष्टिलीला-कार्य करे धरि' चारि काय॥९॥

८-९। प० अनु०—श्रीबलराम गोसाईं मूल-संकर्षण हैं अर्थात् संकर्षण के भी मूल (अंशी) हैं एवं पाँच रूप धारणकर श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं। वे स्वयं श्रीकृष्ण की लीला के सहायक हैं और अन्य चार रूप धारणकर सृष्टि लीलादि करते हैं।

चिदचित्सर्ग, स्थिति एवं अनुप्रवेशादि-कार्य में चाररूप, और शेषरूप में दसदेह के द्वारा सेवा—

सृष्टादिक सेवा, ताँर आज्ञार पालन।
'शेष'-रूपे करे कृष्णेर विविध सेवन॥१०॥
सर्वरूपे आस्वादये कृष्ण-सेवानन्द।
सेइ बलराम—गौरसंगे नित्यानन्द॥११॥

१०-११। प० अनु०—वे सृष्टि आदि सेवाकर श्रीकृष्ण की आज्ञा पालन करते हैं और 'शेष'—रूप से श्रीकृष्ण की अनेक प्रकार की सेवा करते हैं। सभी रूपों में वे श्रीकृष्ण के सेवाानन्द का आस्वादन करते हैं। वही श्रीबलराम श्रीगौराङ्ग महाप्रभु के साथ श्रीनित्यानन्द प्रभु के रूप में अवतीर्ण हुए हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

८-११। आद्यकायव्यूह श्रीबलराम को मूल-संकर्षण कहा जा सकता है; क्योंकि, वे श्रीकृष्ण के द्वितीय स्वरूपगत अंश के रूप में 'महासंकर्षण' एवं कलास्वरूप में 'कारणाब्धिशायी', 'गर्भोदशायी', 'पयोब्धिशायी' एवं 'शेष'—यह पाँचरूप धारणकर श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं। वे स्वयं कृष्णलीला के सहायक रूप में रहकर महासंकर्षण, कारणाब्धिशायी, गर्भोदशायी व पयोब्धिशायी—इन चार रूपों के द्वारा सृष्टिलीला आदि कार्य करते हैं और 'शेष'—नामक 'अनन्त' के रूप में श्रीकृष्ण की अनेक प्रकार की सेवा करते हैं। इन सभी रूपों में श्रीबलराम कृष्णसेवानन्द का आस्वादन करते हैं।

अनुभाष्य

८-१०। श्रीबलराम के पाँचरूप—१) महासंकर्षण, २) कारणोदशायी, ३) गर्भोदशायी, ४) क्षीरोदशायी एवं ५) शेष।

नित्यानन्दतत्त्व का वर्णन करते हुये चार श्लोकों में सप्तम श्लोक की व्याख्या—

सप्तम श्लोकेर अर्थ करि चारिश्लोक।
याते नित्यानन्दतत्त्व जाने सर्वलोक॥१२॥

१२। प० अनु०—अब सप्तम श्लोक की व्याख्या चार श्लोकों के द्वारा करता हूँ, जिससे सभी लोग श्रीनित्यानन्दतत्त्व को जान सकें।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२। सप्तम श्लोक का अर्थ—प्रथम श्लोक में जो कथित हुआ है। अष्टम, नवम, दशम एवं एकादश श्लोक समूह में इसका अर्थ वर्णन कर रहा हूँ।

(श्रीस्वरूप गोस्वामी-कड़चा का श्लोक)

मायातीते व्यापिवैकुण्ठलोके
पूर्णैश्वर्ये श्रीचतुर्व्यूहमध्ये।
रूपं यस्योद्भाति संकर्षणाख्यं
तं श्रीनित्यानन्दरामं प्रपद्ये॥१३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१३। मायातीत, सर्वव्यापक वैकुण्ठलोक में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त चतुर्व्यूहतत्त्व में जो संकर्षण नामक रूप विराजमान है, उन्हीं श्रीनित्यानन्द स्वरूप राम के प्रति मैं शरणागत होता हूँ।

अनुभाष्य

१३। मायातीते (गुणमयदेशवहिर्भागे) व्यापिवैकुण्ठ-लोके (मायारहितासंकुचिताखंडाधारे) पूर्णैश्वर्ये (परि-पूर्णशक्तिसमन्विते) श्रीचतुर्व्यूह-मध्ये (वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नानिरूद्धविष्णु-चतुष्टयानां मध्ये) यस्य (नित्यानन्द-रामस्य) संकर्षणाख्यं रूपम् उद्भाति (विरा-जते) तं नित्यानन्दरामं अहं प्रपद्ये।

अप्राकृत-षड़ैश्वर्ययुक्त 'परव्योम'—

प्रकृतिर पार 'परव्योम'-नामे धाम।
कृष्णविग्रह यैछे विभूत्यादि-गुणवान्॥१४॥

१४। प० अनु०—प्रकृति के परे 'परव्योम'—नामक धाम है। उसमें श्रीकृष्ण विग्रह की भाँति विभूतादि समस्त गुण व्याप्त हैं।

ब्रह्म एवं तदूर्ध्व (ब्रह्मलोकके उपरिभाग में स्थित लोक और श्रीकृष्ण एवं उनके अवतार-समूह का धाम—

सर्वग, अनन्त ब्रह्म-वैकुण्ठादि धाम।
कृष्ण, कृष्ण-अवतारेर ताहाञि विश्राम॥१५॥

१५। प० अनु—सर्वव्यापक, अनन्त ब्रह्मलोक तथा वैकुण्ठ आदि धाम श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्ण के अवतारों का विश्राम स्थल है।

परव्योम के ऊपरी लोक में तीन प्रकार के कृष्णलोक—

ताहार उपरिभागे 'कृष्णलोक' ख्याति।
द्वारका-मथुरा-गोकुल—त्रिविधत्वे स्थिति॥१६॥

१६। प० अनु०—परव्योम के ऊपर एक लोक है जो कृष्णलोक के नाम से जाना जाता है। इस कृष्णलोक के द्वारका, मथुरा और गोकुल नामक तीन भेद हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४-१६। चतुर्विंशति-तत्त्वात्मक प्रकृति के ऊपर 'परव्योम' नामक एक चिन्मय धाम है। यह धाम श्रीकृष्णस्वरूप की भाँति सम्पूर्णरूप से विभूति आदि-गुणों से युक्त है। इस धाम में सर्वगत, अनन्त ब्रह्म-धाम एवं वैकुण्ठादि-धाम विराजमान हैं। इन समस्त धामों में साक्षात् श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण के समस्त अवतारसमूह विश्राम करते हैं। उस धाम के ऊपर तृतीय-भाग में जो सर्वोत्तम चिन्मयलोक विराजमान है, उसका नाम 'कृष्ण-लोक' है—वह विचित्र कृष्णलोक द्वारका, मथुरा एवं गोकुल-भेद से तीन रूपों में अवस्थित है।

सबसे ऊपर व्रज, गोलोक एवं श्वेतद्वीप—

सर्वोपरि श्रीगोकुल—व्रजलोकधाम।
श्रीगोलोक, श्वेतद्वीप, वृन्दावन-नाम॥१७॥

१७। प० अनु०—सबसे ऊपर व्रजलोकधाम श्री-गोकुल विद्यमान है। जो श्रीगोलोक, श्वेतद्वीप और वृन्दावन नाम से परिचित है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७। उस परव्योम नामक धाम में सबसे ऊपर श्रीगोकुल अर्थात् व्रजलोक-धाम, श्रीगोलोक अर्थात् स्वकीयभावयुक्त कृष्णधाम, श्वेतद्वीप एवं वृन्दावन है।

गोलोक-वृन्दावन सम्पूर्णरूप से कृष्णाभिन्न धाम—

सर्वग, अनन्त, विभु, कृष्णतनुसम।
उपर्य्यधो व्यापियाछे, नायिक नियम॥१८॥

१८। प० अनु०—सर्वग अनन्त विभु-स्वरूप, कृष्ण के श्रीअंग के समान गोलोक-वृन्दावन धाम, ऊपर-नीचे चारों ओर व्याप्त है।

अनुभाष्य

१४-१८। श्रीजीवः श्रीकृष्णसन्दर्भ में (१०६ संख्या)—"अथ कतमत्तं पदं यत्रासौ विहरति? तत्रो-च्यते—या यथा भुवि वर्त्तन्ते पुर्य्यो भगवतः प्रियाः। तास्तथा सन्ति वैकुण्ठे तत्तल्लीलार्थ-मादृताः॥" इति स्कान्द-

वचनानुसारेण वैकुण्ठे यत्स्थानं वर्त्तते, तत्तदेवेति मन्तव्यम्। तच्चाखिलवैकुण्ठोपरिभाग एव। *** स्वायम्भुवागमे च स्वतन्त्रतयैव सर्वोपरि तत्स्थानमुक्तम्; यथा ईश्वरदेवीसंवादे चतुर्द्दशाक्षरध्यानप्रसंगे पंचाशीति- तमे पटले—'नानाकल्पलताकीर्णं वैकुण्ठं व्यापकं स्मरेत्। अधः साम्यं गुणानांच प्रकृतिः सर्व कारणम॥' *** तस्मात् या यथा भुवि वर्त्तन्त इति न्यायाच्च स्वतन्त्र एव द्वारका-मथुरागोकुलात्मकः श्रीकृष्णलोकः स्वयं भगवतो विहारास्पदत्वेन भवति सर्वोपरीति सिद्धम्। अतएव वृन्दावनं गोकुलमेव सर्वोपरि विराजमानं गोलोकत्वेन प्रसिद्धम्। ब्रह्मसंहितायां—'सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत् पदम्। *** चतुरस्रं तत्-परितः श्वेतद्वीपाख्यमद्भुतम्॥" ***

तस्य श्रीकृष्णस्य धाम नन्दयशोदादिभिः सह वासयोग्यम् महान्तःपुरम्, तस्य स्वरूपमाह—अनन्तस्य श्रीबलदेवस्यांशात् सम्भवो नित्याविर्भावः यस्य तत्। तथा तन्त्रेण तदापि बोध्यते—अनन्तोऽंशो यस्य तस्य श्रीबलदेवस्यापि सम्भवो निवासो यत्र तदिति। *** अथ गोकुलाव-रणान्याह—तद्वहिश्चतुरस्र इति। तस्य गोकुलस्य वहिः सर्वतश्चतुरस्रं चतुष्कोणात्मकं स्थलं श्वेतद्वीपाख्यं, तदंशे गोकुलमिति नामविशेषाभावात्। किन्तु चतुरस्राभ्यन्तरमंडलं वृन्दावनाख्यं, बहिर्मण्डलं केवलं श्वेतद्वीपाख्यं ज्ञेयं; गोलोक इति यत्पर्यायः। ** ब्रह्मलोकः वैकुण्ठाख्यः। ** नारद-पंचरात्रे विजयआख्याने—'तत् सर्वो- परि गोलोक श्रीगोविन्दः सदा स्वयम्। विहरेत् परमानन्दी गोपीगोकुलनायकः॥' इति। तदेवं सर्वोपरि श्रीकृष्णलोकोऽस्तीति सिद्धम्। स च लोक स्तत्तल्लीलापरिकरभेदेनांशभेदात् द्वारका-मथुरागोकुलाख्यस्थानत्रयात्मक इति निर्णीतम्। अन्यत्र तु भुवि प्रसिद्धान्येव तत्तदाख्यानि स्थानानि तद्रूपत्वेन श्रूयन्ते, तेषामपि वैकुण्ठान्तरवत् प्रपंचातीतत्वनित्यत्वालौकिकरूपत्व-भगवन्नित्यास्पदत्व-कथनात्।"

किस प्रकार धाम में ये भगवान् विचरण करते हैं? इस विषय में कह रहे हैं—'इस प्रपंच में जिस प्रकार से भगवान् के प्रिय पुरीसमूह विद्यमान हैं, उसी प्रकार पुरीत्रय उनकी लीला-हेतु वैकुण्ठ में भी विराजित हैं'—इस स्कन्दपुराण के वाक्यानुसार वैकुण्ठ में जो सब स्थानसमूह वर्त्तमान हैं, वही स्थानसमूह प्रपंच में भी विराजमान हैं, ऐसा जानना होगा। प्राकृत सृष्टि के उपरिभाग में अखिल वैकुण्ठों का स्थान है। स्वायंभुवतन्त्र में भी—स्वतन्त्रभाव में ही सबसे ऊपर वैकुण्ठ का अधिष्ठान है, ऐसा कथित है। उस ग्रन्थ में चतुर्द्दशाक्षर-ध्यान के प्रसंग में ८५वीं पटल में देवी-महेश्वर-संवाद में उल्लेख हुआ है कि, 'अनेक कल्पलताकीर्ण, व्यापक, अखंड वैकुण्ठ का स्मरण करना। इसके नीचे गुणसाम्यावस्थारूप सभी जड़कारणों की कारण प्रकृति अधिष्ठित है।' इसलिये 'जिस प्रकार से पृथ्वी पर हरिधाम-समूह विराजमान हैं, वही धाम समूह वहाँ भी है', इस न्यायानुसार द्वारका, मथुरा एवं गोकुलात्मक कृष्णलोक के स्वतन्त्रभाव की उपलब्धि होती है। स्वयं भगवान् का विहार क्षेत्र होने के कारण वह धामसमूह सबसे ऊपर स्थित है—यही सिद्ध होता है। अतएव वृन्दावन-गोकुल ही सर्वोपरि विराजमान 'गोलोक' नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मसंहिता में—'सहस्रपत्रविशिष्ट, पद्मात्मक, महत्पद 'गोकुल' नाम से विख्यात है, उसका चतुरस्र अर्थात् चार सीधी रेखाओं के द्वारा वेष्टित अद्भुत क्षेत्र 'श्वेतद्वीप' नाम से विख्यात है।' उस कृष्ण के धाम में नन्द-यशोदादि के साथ निवासयोग्य कृष्ण का महान् अन्तःपुर है। उसका स्वरूप इस प्रकार कथित है—बलदेव प्रभु के अनन्तांश से वह धाम नित्य उद्भूत है। तन्त्रशास्त्र में भी इस प्रकार से समझा जाता है—बलदेव के अंश अनन्तदेव का जहाँ संभव एवं निवास है, वही भगवद्धाम है। गोकुल के आवरण-समूह के बारे में उस प्रकार कहा गया है। उस गोकुल के बाहर चारों ओर स्थित चतुरस्र स्थल (चतुष्कोणात्मक क्षेत्र) 'श्वेतद्वीप' नाम से प्रसिद्ध है। श्वतेद्वीपांश में 'गोकुल' जैसा नाम नहीं है, किन्तु चतुष्कोण का अभ्यन्तर-मण्डल 'वृन्दावन' नाम से विख्यात है। केवल बाहर का वृत्त 'श्वेतद्वीप' के रूप में जाना जाता है; गोलोक इसका

दूसरा नाम है। 'ब्रह्मलोक' शब्द से 'वैकुण्ठ' को समझा जाता है। नारद-पंचरात्र के विजयाख्यान के प्रसंग में कहा गया है कि, उस धामसमूह के ऊपर स्थित गोलोक में सदैव स्वयं गोपीनाथ गोकुलाधिपति गोविन्ददेव परमानन्द में विहार करते हैं। इससे सब लोकों के ऊपर कृष्ण- लोक की स्थिति ही सिद्ध होती है। वह कृष्णलोक ही, जो उन्हीं लीलाओं के साथ परिकरभेद एवं अंशभेद से विभिन्न प्रकोष्ठात्मक 'द्वारका', 'मथुरा' एवं गोकुल नामक तीन स्थान हैं—यही निर्णीत हुआ। अन्यत्र प्रपंच में आगत वही नामविशिष्ट स्थानसमूह भी उसी प्रकार ही पृथ्वी पर सुनाई देता है; क्योंकि वे सब भी अन्य वैकुण्ठों की भाँति प्रपंच के अतीत, नित्य, अलौकिक-रूपविशिष्ट भगवान् के नित्यप्रिय धामों के रूप में कथित होने के कारण, उन्हें भी उपर्युक्त नित्य धामों से अभिन्न जानना होगा।

वे स्वतः प्रकाशित है—श्रीकृष्ण की इच्छा से प्रपंच में अवतीर्ण—

ब्रह्माण्डे प्रकाश ताँर कृष्णेर इच्छाय।
एकइ स्वरूप ताँर, नाहि दुइ काय॥१९॥

१९। प० अनु०—श्रीकृष्ण की इच्छा से ही उनका लोक व्रजधाम इस ब्रह्माण्ड में प्रकाशित होता है। चिन्मय-धाम एवं इस ब्रह्माण्ड में प्रकाशित व्रजधाम स्वरूपतः एक ही है, दो रूप नहीं।

भोगनेत्रों से प्रपंच के समान दिखाई देने पर भी भक्ति नेत्रों से कृष्णविलास-क्षेत्र चिन्मयी चिन्तामणि-भूमि—

चिन्तामणि-भूमि, कल्पवृक्षमय वन।
चर्मचक्षे देखे ताँरे प्रपंचेर सम॥२०॥
प्रेमनेत्रे देखे ताँर स्वरूप-प्रकाश।
गोप-गोपीसंगे याँहा कृष्णेर विलास॥२१॥

२०-२१। प० अनु०—श्रीवृन्दावन की चिन्तामणि-भूमि एवं कल्पवृक्षमय वनों को जो चर्मचक्षुओं से देखता है, उसे ये सब प्राकृत वस्तुओं के समान दिखते हैं। प्रेम नेत्रों से ही धाम का स्वरूप प्रकाश दिखाई देता है, जहाँ श्रीकृष्ण गोप एवं गोपियों के साथ विलास कर रहे हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९-२१। वही चिन्मय ब्रज धाम वृन्दावन श्रीकृष्ण की इच्छा से इस जड़ ब्रह्माण्ड में प्रकाशित होकर भी एक ही स्वरूप में विराजमान है। कोई-कोई सोचते हैं कि, परव्योम में स्थित गोलोकादि-धाम प्रपंच में प्रकाशित व्रजधाम से पृथक् हैं, परन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् उनका एक ही स्वरूप है, वह एक ही समय परव्योम में एवं प्रपंच में प्रकाशित रहते हैं। प्रपंच में प्रकाशित व्रज में भी भूमि चिन्तामणिस्वरूप है, वन कल्पवृक्षमय हैं, इसका स्वरूप-प्रकाश प्रेमनेत्रों से दिखाई देता है, चर्मचक्षुओं से वे धाम प्रपंच की भाँति दिखाई देता है।

गोलोक में गोविन्द—
(ब्रह्मसंहिता ५.२९)

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशत सम्भ्रमसेव्यमानं
गोविन्दमादि पुरषं तमहं भजामि॥२२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२२। लाखों-लाखों कल्पवृक्षों के द्वारा आवृत, चिन्तामणियों के द्वारा निर्मित स्थान पर जो कामदुधा-गोसमूह का पालन करते हैं तथा शतसहस्र लक्ष्मीयों के द्वारा सम्भ्रम द्वारा सेवित हैं, उन आदि पुरुष श्रीगोविन्दचन्द्र का मैं भजन करता हूँ।

अनुभाष्य

२२। कल्पवृक्षलक्षावृतेषु (कल्पवृक्षाणां प्रार्थनोचिता-भीष्ट फलप्रदवृक्षाणां लक्षैः असंख्यैः आवृतेषु मण्डितेषु) चिन्तामणिप्रकरसद्मसु (चिन्तामणिनाम् अभीष्टफलदान समर्थरत्नानां प्रकरेण समूहेन रचितानि सद्मानि हर्म्याणि तेषु) सुरभीः (कामधेनूः) अभिपालयन्तम् (अभि सर्वतो-भावेन गोपोचित-गोपरिचर्या-प्रकारेण पालयन्त) लक्ष्मी-सहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं (लक्ष्यः गोपरामाः तासां सहस्राणां शतैः सम्भ्रमेण सेव्यमान) तम् आदि-पुरुषं गोविन्दम् अहं भजामि।

'आदि चतुर्व्यूह'

मथुरा-द्वारकाय निजरूप प्रकाशिया।
नाना-रूपे विलसये चतुर्व्यूह हैञा॥२३॥

२३। प० अनु०—मथुरा और द्वारका में श्रीकृष्ण चतुर्व्यूहस्वरूप में अपने रूप का प्रकाशन करते हुए अनेक रूपों में विलास करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

२३। उस कृष्णधाम के मथुरा-द्वारकाखण्ड में श्रीकृष्ण, वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्ध—इन आदि चतुर्व्यूह को प्रकाशित करके नानारूपों में विलास करते हैं। द्वारका में स्थित चतुर्व्यूह अन्य सभी चुतर्व्यूहों का अंशी एवं विशुद्ध चिन्मयस्वरूप हैं।

सभी चतुर्व्यूह के अंशी—

वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्ध।
सर्वचतुर्व्यूह-अंशी, तुरीय, विशुद्ध॥२४॥

२४। प० अनु०—सभी चतुर्व्यूह के अंशीस्वरूप वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध तुरीय एवं विशुद्ध हैं।

गोकुल, मथुरा एवं द्वारका में द्विभुजरूप में लीला—

एइ तिन लोके कृष्ण केवल-लीलामय।
निजगण लञा खेले अनन्त समय॥२५॥

२५। प० अनु०—गोकुल, मथुरा एवं द्वारका—इन तीनों लोकों में श्रीकृष्ण केवल लीलामय हैं तथा अनादिकाल से अपने परिकरगण के साथ लीला ही करते रहते हैं।

अनुभाष्य

२५। तिन लोके (तीनों लोक में)—गोकुल, मथुरा और द्वारका में।

परव्योम-वैकुण्ठ में चतुर्भुज नारायणरूप में विलास—

परव्योम-मध्ये करि' स्वरूपप्रकाश।
नारायणरूपे करेन विविध विलास॥२६॥

२६। प० अनु०—परव्योम में श्रीकृष्ण अपने स्वरूप-प्रकाश नारायणरूप में नाना प्रकार से विलास करते हैं।

स्वयंरूप श्रीकृष्ण—द्विभुज, ऐश्वर्यविलास नारायण—चतुर्भुज—

स्वरूपविग्रह कृष्णेर केवल द्विभुज।
नारायणरूपे सेइ तनु चतुर्भुज॥२७॥
शंख-चक्र-गदा-पद्म, महैश्वर्यमय।
श्री-भू-नीला-शक्ति याँर चरण सेवय॥२८॥

२७-२८। प० अनु०—श्रीकृष्ण का स्वरूप विग्रह केवल द्विभुज है। वही श्रीकृष्ण परव्योम में श्रीनारायण रूप में चतुर्भुजधारी हैं। यह महाऐश्वर्य विग्रह शंख, चक्र, गदा, पद्म युक्त है। जिनके चरणों की सेवा श्री, भू और नीला शक्ति करती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२७-२८। श्रीकृष्ण का स्वरूपविग्रह सदैव द्विभुज है। परव्योम में इन्हीं का स्वरूप प्रकाश नारायणरूप में चतुर्भुजधारी एवं श्री, भू और नीलाशक्ति के द्वारा सेवित हैं। श्रीसम्प्रदाय-वैष्णवों के ग्रन्थों में इन तीन शक्तियों के सम्बन्ध में विशेष वर्णन है।

अनुभाष्य

२८। श्री-भू-नीला—इन तीनों में 'नीला' के बङ्गलापाठ में कोई-कोई 'लीलाशक्ति' कहते हैं। ये तीनों शक्तियाँ वैकुण्ठ में नारायण के निकट विराजमान हैं। जिस समय भूतयोगी, सरयोगी एवं भ्रान्तयोगी (आल्वार समूह) ने रात को गेहली गाँव में ब्राह्मण के घर में आश्रयग्रहण किया था, उसी समय नारायण ने उनके घर में प्रवेशकर उन्हें अपने रूप का दर्शन करवाया था।

'प्रपन्नामृत—७७ अध्याय ६१-६२ श्लोक—

"तार्क्ष्याधिरूढ़ं तडिदम्बुदाभं
लक्ष्मीधरं वक्षसि पंकाजाक्षम्।
हस्तद्वये शोभितशंखचक्रं
विष्णुं ददृशुर्भगवन्तमाद्यम्॥
आजानुबाहुं कमनीयगात्रं

पार्श्वद्वये शोभितभूमिनीलम्।
पीताम्बरं भूषणभूषितांगं
चतुर्भुजं चन्दनरूषितांगम्॥"

सीतोपनिषद् में—महालक्ष्मीर्देवेशस्य भिन्ना-भिन्न-रूपा चेतनाऽचेतनात्मिका। सा देवी त्रिविधा भवति—शक्त्यात्मना इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिः साक्षाच्छक्तिरिति। इच्छाशक्ति-स्त्रिविधा भवति—श्री-भू-नीलात्मिका।"

श्रीमध्वाचार्य ने स्वकृत गीता-टीका के चतुर्थ अध्याय, छष्ठ श्लोक में शास्त्रों से उद्धृत किया है—"महदादेस्तु माता या श्री-भू- नीलेति कल्पिता। विमोहिका च दुर्गाख्या ताभिर्विष्णु रजोऽपि हि। जातवत् प्रथते ह्यात्मचित्वलान्मूढ-चेतसाम्॥" ** "श्रीभूदुर्गेति या भिन्ना महामाया तु वैष्णवी। तच्छकत्यनन्तांश हीनाथापि तस्याश्रयात् प्रभोः॥ अनन्तब्रह्म-रुद्रादेर्नास्याः शक्तिकलापि हि। तेषां दुरत्ययाप्येषा विना विष्णुप्रसादतः॥"—व्यासयोग में, सप्तम अध्याय, १४ संख्या। गीता के १४ अध्याय, ३य श्लोक की माध्वभाष्य—"महद्‌ब्रह्म प्रकृतिः। सा च श्री-भू-दुर्गेति भिन्ना। उमा-सरस्वत्या- द्यास्तु तदंशयुता अन्यजीवाः॥" तथा च कार्षायणश्रुतिः—"श्रीर्भूर्दुर्गा महती तु माया, सा लोकसूतिर्जगतो बन्धिका च। उमा वागाद्या अन्यजीवास्तदंशास्तदात्मना सर्ववेदेषु गीताः॥" इति।

श्रीजीवप्रभु, भगवत्सन्दर्भ की (८० संख्या में)—"यथा पाद्मे—'नित्यं तद्‌रूपमीशस्य परं धाम्नि स्थितं शुभम्। नित्यं सम्भोग्यमीश्वर्याश्रिया भूम्या च संवृतम्॥" नामस्वरूपयोर्निरूपणेन महासंहितायामपि विविक्तम्; तत् त्रिशक्तिः—श्रीर्भू-र्दुर्गेति या भिन्ना जीवमाया महात्मनः। आत्ममाया तदिच्छा स्यात् गुण-माया जड़ात्मिका॥' (उसी की २२ संख्या में)—'श्रीरत्र जगत्पालन-शक्तिः, भूस्तत्-सृष्टि-शक्तिः दुर्गा तत् प्रलयशक्तिः। तत्तद्‌रूपेण या भेदं प्राप्ता, सा जीवविषया तच्छक्ति र्जीवमायेत्युच्यते। पाद्मे श्रीकृष्णसत्यभामासंवादे—"अहमेव त्रिधा भिन्ना तिष्ठामि त्रिविधैर्गुणैः' इत्येतद् वाक्यानन्तरं ततः सर्वेऽपि देवाः श्रुत्वा तद्‌वाक्यचोदिताः। गौरीं लक्ष्मीं धरांचैव प्रणेमु-र्भक्तितत्पराः॥' इति।"

श्रीकृष्ण केवल-लीलामय होने पर भी
जीवों के प्रति अहैतुकी-कृपामय—

यद्यपि केवल ताँर क्रीड़ामात्र धर्म।
तथापि जीवेरे कृपाय करे एत कर्म॥२९॥

२९। प० अनु०—यद्यपि उनका धर्म केवलमात्र क्रीड़ा करना ही है, तथापि जीवों के प्रति कृपा हेतु इतना सबकुछ करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

२९। केवल क्रीड़ा-मात्र उनका धर्म होने पर भी वे जीवों के प्रति कृपावश जीवनिस्ताररूप एक लीला करते हैं।

चतुर्विध मुक्ति के द्वारा जीवों का उद्धार-साधन
अथवा वैकुण्ठ में ले आना—

सालोक्य-सामीप्य-सार्ष्टि-सारुप्य-प्रकार।
चारि मुक्ति दिया करे जीवेरे निस्तार॥३०॥

३०। प० अनु०—सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सारुप्य—चार प्रकार की मुक्ति देकर वे जीवों का उद्धार करते हैं।

निर्विशेष ब्रह्मज्ञानी की वैकुण्ठ
के बाहर स्थिति—

ब्रह्मसायुज्य-मुक्तेर ताँहा नाहि गति।
वैकुण्ठ-बाहिरे हय ता' सबार स्थिति॥३१॥

३१। प० अनु०—ब्रह्म-सायुज्य रूपी मुक्ति को प्राप्त करने वालों की वहाँ गति नहीं है, वे तो वैकुण्ठ के बाहर ही रहते हैं।

परव्योम के बाहर चिन्मय ब्रह्मलोक—

वैकुण्ठ-बाहिरे एक ज्योतिर्मय मण्डल।
कृष्णेर अंगेर प्रभा, परम उज्ज्वल॥३२॥

३२। प० अनु०—वैकुण्ठ के बाहर एक ज्योतिर्मय मण्डल है, जो श्रीकृष्ण की परम उज्ज्वल अङ्ग ज्योति है।

मायातीत होने पर भी वह चिद्विलासहीन है,
केवल चिन्मात्र है—

'सिद्धलोक' नाम तार प्रकृतिर पार।
चित्स्वरूप, ताँहा नाहि चिच्छक्ति-विकार॥३३॥

३३। प० अनु—उस ज्योतिर्मय मण्डल का नाम सिद्धलोक है, वह प्रकृति से परे है। वह चित् स्वरूप तो है परन्तु वहाँ चित् शक्ति का कोई भी विकार नहीं है।

ब्रह्मधाम का दृष्टान्त—

सूर्यमण्डल येन बाहिरे निर्विशेष।
भितरे सूर्येर रथ-आदि सविशेष॥३४॥

३४। प० अनु—सूर्यमण्डल जैसे बाहर से निर्विशेष है परन्तु मण्डल के भीतर सूर्य के रथ आदि सब सविशेष पदार्थ विद्यमान है।

अमृतप्रवाह भाष्य

३२-३४। 'वैकुण्ठ'-शब्द से 'कृष्णधाम' एवं परव्योम को समझना चाहिये। उस परव्योम के बाहर श्रीकृष्ण की अङ्गप्रभा ने विस्तीर्ण होकर एक ज्योतिर्मय मण्डल की रचना की। जिसे 'सिद्धलोक', 'ब्रह्मलोक' आदि नामों से पुकारा जाता है। ब्रह्मसायुज्य-मुक्ति का वह एकमात्र स्थान है। वह धाम चित्स्वरूप तो है, परन्तु उसमें चिच्छक्तिगत-विकार अर्थात् विचित्रता नहीं है। जैसे कि सूर्यमण्डल बाहर से निर्विशेष अर्थात् विचित्रता-रहित ज्योतिर्मय-मात्र है, परन्तु मण्डल के भीतर सूर्य के रथादि-सविशेष अर्थात् अनेक विचित्रताएँ लक्षित होती हैं उसी प्रकार, सूर्यमण्डल का बाहरी अंश ब्रह्मधाम के समान है।

(श्रीमद्भागवत १.१.२९)

कामाद्द्वेषात् भयात् स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥३५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३५। अनेक व्यक्ति भक्ति की भाँति काम, द्वेष, भय एवं स्नेह से ईश्वर में मन को आविष्ट करके पापों को परित्याग-करके उन ईश्वर की गति को प्राप्त करते हैं। पाठभेद में यह श्लोक अधिक है—

कामाद्गोप्यो भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो।

अनुभाष्य

३५। कृष्णविद्वेष के फलस्वरूप शिशुपाल क्यों सायुज्य-मुक्ति के योगय है,—धर्मराज युधिष्ठिर के इस प्रश्न के उत्तर में श्रीनारद ने कहा—

यथा (विहितया) भक्त्या (सेवनेन) ईश्वरे मनः आवेश्य (तद्गतिं गच्छन्ति) तदा तदघं (कामादिनिमित्तं पाप) हित्वा कामाद् यथा गोप्यः, द्वेषात् यथा दन्तवक्र-शिशुपालादयः, भयात् यथा कंसाद्या, स्नेहात् यथा पाण्डवाः (एतादृशः) बहवः तद्गतिं (मोक्षप्रकार-भेद) गताः (प्राप्ताः)।

श्रीमद्भागवत-सप्तम स्कन्द के प्रथम अध्याय में युधिष्ठिर का प्रश्न एवं इसके उत्तर में श्रीनारद की उक्ति २२-४६ श्लोक और ३.३०,३२,३४ श्लोकों के गौड़ीय-भाष्य के तथ्य में विभिन्न टीकाएँ द्रष्टव्य हैं।

(भः रः सिः पूः विः साधनभक्तिलहरी में २७८ श्लोक)

यदरीणां प्रियाणांच प्राप्यमेकमिवोदितम्।
तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात् किरणार्कोपमा-जुषोः॥३६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३६। शास्त्रों में जहाँ-जहाँ भगवान् के शत्रु एवं प्रियव्यक्तियों की एक समान-प्राप्ति की कथाएँ वर्णित हैं, वे सब केवल किरण-स्थानीय ब्रह्म एवं सूर्यस्थानीय श्रीकृष्ण के साथ एकता-विचार के प्रसङ्ग में कही गयी हैं। सारांश यही है कि, भगवत्प्रिय व्यक्तिगण वैकुण्ठ-वैचित्र्य को प्राप्त होते हैं तथा भगवत्शत्रुगण विलासरहित 'सिद्धलोक' को प्राप्त होते है।

अनुभाष्य

३६। यत् (यस्मिन्शास्त्रे) अरीणां (भगवद्वि-द्वेषिणा) प्रियाणां च (भगवद्भक्ताना) एकं प्राप्यम् उदितं (कथित) तत् (तु) किरणार्कोपमाजुषोः ब्रह्मकृष्णयोः

ऐक्यं (अर्थात् किरण-स्थानीय-निर्विशेषब्रह्मणः, अर्कस्थानीय-कृष्णस्य च तत्त्वतोऽभेदः बोद्धव्यः।

श्रीमद्भागवत १०.२.३२ श्लोक—

येऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानि-
नस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं
ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंध्रयः॥

श्रीरूपप्रभु लघुभागवतामृत में श्रीकृष्णमहिमा के वर्णन के प्रसंग में—

(२५-३७) "तत्र मैत्रेयप्रश्नः चतुर्थेऽंशे (विःपुः ४.१५.१-१०)"—हिरण्यकशिपुत्वे च रावणत्वे च विष्णुना। अवाप निहतो भोगान् अप्राप्यानमरैरपि॥ नालभत् तत्र चैद्यो हि सायुज्यं स कथं पुनः। सम्प्राप्तः शिशुपालत्वे सायुज्यं शाश्वते हरौ॥" श्रीपराशरोत्तरं—"दैत्येश्वरस्य-वधा-याखिललोकोत्पत्तिस्थिति-विनाशकारिणा अपूर्व-तनुग्रहणं कुर्वता नृसिंहरूपमाविष्कृतम्। तत्र हिरण्यकशिपोर्विष्णुरयमित्येतत् न मनस्यभूत्। निरतिशयपुण्य-जात-समुद्भूतमेतत् सत्त्वमिति रजोद्रेकप्रेरितैकाग्रमति-स्तद्भावनाायोगात् ततोऽवाप्तवधहैतुकीं निरतिशयामेवा-खिल-त्रैलोक्याधिक्यधारिणीं दशाननत्वे भोगसम्पद-मवाप। नातस्तस्मिन्ननादिनिधने परब्रह्मभूते भगवत्यनाल-म्बनीकृते मनसस्तल्लयम्। दशाननत्वेऽप्यनंगपराधीनतया जानकीसमासक्तचेतसो दाशरथिरूपधारिणस्तद्रूपदर्शन-मेवासीत्। नायमुच्यते इत्यासक्तिर्विपद्यतोऽन्तःकरणे मानुष-बुद्धिरेव केवलम् अस्याभूत्। पुनरप्यच्युतविनि-पातनमात्रफलम् अखिलभूमण्डल श्लाघ्यं चेदिराजकुले जन्म अव्याहतंचैश्वर्यं शिशुपालत्वे चावाप। तत्र त्व-खिलानामेव भगवन् नाम्नां कारणान्यभवन्। ततश्च तत्कारणकृतानां तेषामशेषाणामेवाच्युत-नाम्नामन-वरतानेक-जन्मसम्बन्धितद्विद्वेषानुबन्धि-चित्तो विनिन्दन् सन्तर्ज्जादिषुच्चारणमकरोत्। तच्चरूपमतिप्ररूढ़-वैरानुभा-वादटनभोजन-स्नानासन-शयनादिष्वशेषा वस्थान्तरेषु नैवापययावस्यात्मचेतसः। ततस्तमेवाकोषेषूच्चारयन् तमेव हृदये-नावधारयन्नात्मविनाशाय भगवद्स्तचक्रांशुमालो-ज्ज्वलम् अक्षयतेजः स्वरूपम् परमब्रह्मभूतम् अपगत-द्वेषादिदोषो भगवन्तमद्राक्षीत्। तावच्च भगवच्चक्रेनाशुव्या-पादितस्तत्-स्मरणदग्धाखिलाद्यसंचयो भगवता तेनान्तमु-पनीतस्तस्मिन्नेव लयमुपयसौ। एतच्च तवाखिलं-मयाभिहितं। अयं हि भगवान् कीर्तितः संस्मृतश्च द्वेषानुबन्धेनाप्यखिलसुरासुरादि-दुर्ल्लभं फलं प्रयच्छति, किमुत सम्यग्भक्तिमताम्॥" इति। नोक्तं पराशरेणात्र स्थितौ तौ पार्षदाविति किन्तूभयोस्तयोरा-सीज्जन्मत्र-यमितीरितम्। अतः सर्वेषु कल्पेषु न तौ पार्षदजौ मतौ। अन्यथा न तयोः पातः प्रतिकल्पं समंजसः॥ नृसिंहरूपं हरिणा यदा-विष्कृतमद्भुतम। हिरण्यकशिपोरस्मिन् विष्णु-बुद्धिर्न निश्चिता॥ किन्तु एष पुण्यसम्पन्नः कोऽपीति कृतनिश्चयः। रज-उद्रिक्ततानुन्नमतिस्तद्भाव-ययोगतः॥ ततोऽवाप्तविनाशैकहेतुकाम्। अखिलोत्तमाम्। अवाप भोगसम्पत्तिः रावणत्वे सुदुर्ल्लभाम्॥ विष्णुत्वा-निश्चयान्नातिद्वेषान्नावेशसन्ततिः। तां विना च भवेद्द्वेषो नरकायैव वेणवत्॥ किन्त्वस्य सम्पत्संप्राप्तस्तत्करेण मृतेः परम्। एवमाहैवशब्देन तत्स्याद्गुण्यमनुस्मरण॥ आवेशाभावतो दोषा नाशाच्छुद्धपश्यतः। प्रकटेऽपि पर-ब्रह्मरूपे तत्रास्य नोलयः॥ रावणत्वे महाकाम-परा-धीनीकृतात्मनः। तद्वन्मनुष्यधीरस्य श्रीरामेऽभून्मृतावपि॥ अतोऽसौ चेदिराजत्वे पुनरापोत्तमां श्रियम्। तत्र कृष्णे समस्तानामेव नाम्नां रमापतेः। कारणानि प्रवृत्तेस्तु निमित्तान्यभवंस्तदा॥ तेन निश्चित्य तं विष्णुं स्वस्य द्विर्मरणं यतः। अतिद्वेषान्महावेशात् तानि नामानि सर्वशः। जजल्प सततं शश्वन्निन्दासन्तर्जनादिषु॥ रूपंच तादृशं दृष्टा विष्णुरेवेति निश्चयात् नामवत् तच्च सर्वत्र सर्वदा चैव संस्मरन्॥ दग्ध तद्द्वेषजाघौघः क्षिप्ते चक्रे च तद्रुचा। अपेतदैत्यभावोऽन्ते तथा संस्कृतदृष्टिकः। तदा तुज्ज्वल-मद्राक्षीत् परं ब्रह्म नराकृति॥ तदैव चक्रघातेन दैत्यदेहे विनाशिते। तदेव ब्रह्म परममनुशीलनत्वमाययौ। इत्युक-त्वाप्यत्र वक्ष्यादेर्मोक्षमप्यर्भलीलया। अमोक्षं कालनेम्या-देरन्यत्रापीशचेष्टया। मुनिः स्मृता पुनः प्राख्यत् 'अयं हि

भगवान्' इति॥ 'हि' प्रसिद्धम् अयं कृष्णो भगवान् स्वयमेव यत्। प्रीणतां द्विषतां चातश्चेतांस्याकर्षति द्रुतम्। तस्मात् कीर्त्तित इत्यादि माहात्म्यं चित्रमत्र न॥"

मर्मानुवाद—"विष्णुपुराण के चतुर्थ अंश में पराशर के प्रति मैत्रेय का प्रश्न—'हिरण्यकशिपु एवं रावण के रूप में जिन दैत्यों ने अमर व्यक्तियों के लिए भी दुष्प्राप्य भोग-समूहों को प्राप्त किया था, परन्तु मुक्ति की प्राप्ति नहीं की थी, उन्हीं दैत्यों ने फिर शिशुपाल के रूप में किस प्रकार से श्रीकृष्ण में सायुज्य की प्राप्ति की है? पराशर का उत्तर—श्रीनृसिंहदेव के आविर्भूत होने पर हिरण्यकशिपु ने नृसिंहदेव को 'ये विष्णु हैं' ऐसी बुद्धि न करके उन्हें कोई पुण्यराशि-समूद्भुत प्राणिविशेष के रूप में माना था। रजोगुण के उद्भव के कारण मृत्यु के समय उनका रूप-चिन्तन करने में हिरण्यकशिपु असमर्थ रह गया, किन्तु उनके हाथों से निधन होने के फलस्वरूप रावण-देह में उसने त्रिलोक-अधिकारिणी निरतिशय भोगसम्पत्ति को प्राप्त किया था। इस कारण भगवान् को आलम्बन अर्थात् सेव्य विषयविग्रह-बुद्धि न करने से उसका मन भगवान् में विलीन नहीं हुआ। उसने रावण-देह में कामपरवशतया जानकी में आसक्तचित्त होकर भगवान् श्रीरामचन्द्र का रूप दर्शनमात्र किया था, किन्तु मृत्यु के समय श्रीराम में विष्णु-बुद्धि न होकर, उसके अन्तःकरण में उनके प्रति केवल मनुष्यबुद्धि ही हुई थी। फिर श्रीराम के हाथों मारे जाने के कारण शिशुपाल-देह में उसने श्लाघनीय चेदिराज के वंश में जन्म एवं प्रचुर ऐश्वर्य प्राप्त किया था। श्रीकृष्ण के वासुदेव होने के कारण उन्हें विष्णु-ज्ञान से अनेकों जन्मों के विद्वेष के फलस्वरूप उसके हृदय में वही विद्वेष भाव दृढ़रूप से संलग्न रहा; इस कारण निन्दन-तर्जन आदि में भी वह कृष्ण के नाम का उच्चारण करता था। बद्धमूल-विद्वेषप्रभाव से भ्रमण, भोजन, स्नान, उपवेशन एवं शयनादि किसी भी अवस्था में किसी भी प्रकार से वह सुन्दर भगवद्रूप शिशुपाल के कृष्णाविष्ट चित्त से कभी दूर नहीं हुआ। आक्रोश आदि में उनके नामों का उच्चारण एवं हृदय में उसी रूप का अवधारण करते-करते अन्तिम समय में उसने द्वेषादि-अपराध के दूर होने के कारण निजविनाश-निमित्त आगत सुदर्शन-चक्र की किरणच्छटा से उनके परब्रह्म भगवत्स्वरूप का दर्शन किया था। (प्रतिकूल होने पर भी) भगवत्स्मरण के प्रभाव से अभद्रराशि के दग्धीभूत हो जाने के कारण शिशुपाल भगवत्चक्र से निहत होकर तथा भगवान् के समीप उपनीत होकर उनमें लय को प्राप्त हुआ था। हे मैत्रेय, यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। प्रतिकूल-अनुशीलन के फलस्वरूप कृष्णद्वेषिगण जब वैरानुबन्धन द्वारा भी सद्गति को प्राप्त कर सकते हैं, तब अनुकूल अनुशीलन के फलस्वरूप शुद्धभक्तवृन्द सर्वापेक्षा उत्तमगति कृष्णपादपद्म या कृष्णप्रेम को प्राप्त करेंगे, इसमें और सन्देह क्या है? वे दोनों दैत्य पहले भगवत्पार्षद जय एवं विजय थे, पराशर ने यह बात न कहकर इन दोनों ने तीनबार जन्मग्रहण किया था, इतना ही कहा है, अतः ये दोनों भगवत्पार्षद हैं, प्रतिकल्प में ही असुर-रूप में जन्मग्रहण करते हैं, वह पराशर का अभिप्राय नहीं है। ऐसा न होने पर प्रत्येक-कल्प में ही भगवद् पार्षदों का पतन होता है, यह बात बिलकुल असंगत है (अर्थात् भगवान् विष्णु में सृष्टि करने की इच्छा-शक्ति की भाँति युद्ध करने की इच्छाशक्ति भी नित्य वर्तमान है। क्रीड़ामोदी महाराज जैसे प्रतिकूल-वृत्ति विशिष्ट खिलाड़ियों के साथ सदैव क्रीड़ा करते रहते हैं, फिर खिलाड़ियों की अनुपस्थिति में अपने पार्षद अथवा अनुचरवृन्द को प्रतिद्वन्दी बनाकर उन सबके साथ क्रीड़ामोद करते हैं एवं वे अनुचरवृन्द भी प्रतिकूलभावों के साथ क्रीड़ा करके प्रभु का सन्तोष विधान करते हैं। उसी प्रकार भगवान् विष्णु भी प्रतिकूलभावापन्न अनादि बहिर्मुख जीव, अथवा अपने किसी पार्षद को प्रतिकूल भावयुक्त करके एवं वे भी प्रतिकूलभावविशिष्ट होकर परस्पर की युद्ध-क्रीड़ावृत्ति चरितार्थ करते हैं, इस कारण प्रत्येककल्प में भगवत्पार्षदों का पतन असंगत है।)

भगवान् जो अलौकिक नृसिंहरूप में आविर्भूत हुये थे, उसमें हिरण्यकशिपु की विष्णुबुद्धि नहीं हुई, अपितु

किसी पुण्यराशि-जात प्राणिमात्र की बुद्धि हुई थी। रजोगुण का उद्‌भव होने से बुद्धि विच्छिन्न होने के कारण नृसिंह के प्रति 'यह एक तेजस्वी प्राणी है' इस प्रकार की भावना करने से, वह अन्तिमसमय में उनके रूप की भावना नहीं कर पाया। अतः केवल नृसिंह के हाथों विनाशहेतु उसने रावण-देह में सुदुर्लभ भोगसम्पदा को प्राप्त किया था। विष्णु के रूप में निश्चित धारणा एवं अतिद्वेष के अभाव के कारण भगवान् में उसके आवेश की वृद्धि नहीं हुई; वेण-राजा की भाँति, भगवान् में जो इस प्रकार का आवेश-वृद्धि व्यतीत द्वेष है, वह केवल नरक का कारण है। अत्यन्त आवेश न होने से निन्दादि-जनित अपराधों का विनाश नहीं हो सकता। आवेश के अभाव में अपराधनाश न होने के कारण भगवान् के शुद्धस्वरूप के दर्शन नहीं हो पाते, अतः परब्रह्म नृसिंह के प्रकट रहने पर भी हिरण्यकशिपु उनमें लीन नहीं हो सका। रावणदेह में भी उसका चित्त अत्यन्त कामपरतन्त्र रहा, इस कारण श्रीराम में उसकी हिरण्यकशिपु की भाँति मनुष्यबुद्धि रही। इस काराण उसी दैत्य ने शिशुपाल के रूप में पुनः पहले की भाँति उत्तम भोग-सम्पदा को प्राप्त किया। श्रीकृष्ण में वासुदेवत्व रहने के कारण उसी नामयोग-हेतु वह उस समय उन्हें पहले दोनों जन्मों में मृत्यु का कारण जानकर अत्यन्त द्वेष एवं परम आवेश के कारण सदैव निन्दा-तर्जनादि में भी उन्हीं सब नामों का कीर्त्तन करता था एवं उनमें चतुर्भुजादिरूप का दर्शन करके और निश्चितरूप में उन्हें विष्णु जानकर नाम संकीर्तन की भाँति उस रूप का भी अनुक्षण चिन्तन करता था। इसलिये द्वेष-जनित पापराशि दग्धीभूत हो जाने के कारण श्रीकृष्ण के द्वारा निक्षिप्त चक्र की दीप्ति के द्वारा उसका दैत्यभाव दूर हो गया एवं उसने शुद्ध-संस्कृत दिव्यचक्षु प्राप्त करके उनके परमब्रह्म नराकृति-रूप का दर्शन किया। उस समय सुदर्शनचक्र के आघात से उस दैत्यदेह के विनष्ट होने पर वह परब्रह्म में लीन हो गया। श्रीकृष्ण के प्रति द्वेषजनित अतिशय आवेशहेतु शिशुपाल उनमें सायुज्य-लय को प्राप्त हुआ था। ये सारी बातें बताकर एवं निज बाल्यलीला में निहत पूतनादि का मोक्ष, किन्तु अन्य अवतारों में और ईश्वरचेष्टा के चलते निहत कालनेमि प्रभृति के मोक्षाभाव की आलोचना पूर्वक यह गद्य कीर्त्तन किया। 'हि'—प्रसिद्धि के अर्थ में। अन्यान्य अवतार की अपेक्षा अवतारी के प्रति विद्वेष अर्थात् प्रतिकूल-भाव में भी उनका कीर्त्तन एवं स्मरण करने से इस प्रकार के असुर भी सद्‌गति को प्राप्त करते हैं।" श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण के द्वारा रचित भाष्य भी द्रष्टव्य है।

श्रीसनातन प्रभु 'वृहद्‌भागवतामृत में (गोलोक-माहात्म्य नामक द्वितीय खण्ड ३०- ३१ संख्या)—'अहो श्लाघ्यः कथं मोक्षो दैत्यनामपि दृश्यते। तैरेव शास्त्रैनिन्द-यन्ते ये गोविप्रादिघातिनः॥ सर्वथा प्रतियोगित्वं यत् साधु-त्वासुरत्वयोः। तत्साधनेषु साध्ये च वैपरीत्यं किलोचि-तम्।'

श्रीसज्जनतोषणी—१०म खण्ड में, श्रीमद्भक्ति-विनोद ठाकुर के द्वारा अनुवाद—जिन दैत्यों की शास्त्रों में गोविप्रादिघाती के रूप में निन्दा की गई है, उन्हीं कंसादि दैत्यों ने जिस सायुज्य-मोक्ष की प्राप्ति की है, उस मोक्ष को किस प्रकार से श्लाघ्य (प्रशंसा के योग्य) कहा जा सकता है? भगवद् भक्तवृन्द ही साधु हैं एवं भगवद्विद्वेषिगण ही असुर हैं। साधुता में और असुरता में जिस प्रकार से सदैव वैपरीत्य-धर्म विद्यमान है, उनके साधन एवं साध्य-विषयों में भी उस प्रकार के वैपरीत्य-भाव का रहना आवश्यक है। असुरों का साधुविद्वेष एवं गो-विप्र-हनन ही साधन और मोक्ष ही साध्य है; भक्तों के लिये भक्ति ही साधन एवं प्रेम ही साध्य है। अतः जो सब उसी मोक्षहेतु प्रयासरत हैं, वे सब असाधुओं की भाँति केवल-ज्ञानचेष्टा-रूप असाधु साधन का आश्रय स्वीकार करते हैं।

ब्रह्मलोक के ऊपर चिद्विलासमय परव्योम—

तैछे परव्योमे नाना चिच्छक्तिविलास।
निर्विशेष ज्योतिर्बिम्ब बाहिरे प्रकाश॥३७॥

३७। प० अनु०—इस प्रकार परव्योम में अनेक प्रकार के चित् शक्ति के विलास विद्यमान है और वैकुण्ठ के बाहर जो ज्योतिर्बिम्ब है—वह निर्विशेष है।

उक्त ज्योतिर्बिम्ब ही निर्विशेष-ब्रह्म एवं
सायुज्य मुक्तों के लिये प्राप्य—

निर्विशेष-ब्रह्म सेइ केवल ज्योतिर्मय।
सायुज्येर अधिकारी ताँहा पाय लय॥३८॥

३८। प० अनु०—निर्विशेष-ब्रह्मस्वरूप केवल ज्योतिर्मय है। सायुज्य मुक्ति के अधिकारी वहीं लय प्राप्त करते हैं।

ज्ञानी, योगी एवं हरिद्वेषी की गति—भ:र:सि:पू:वि: २८०
श्लोक (ब्रह्माण्ड पुराण-वाक्य)

सिद्धलोकस्तु तमसः पारे यत्र वसन्ति हि।
सिद्धा ब्रह्मसुखे मग्ना दैत्याश्च हरिणा
हताः॥३९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३९। तमः अर्थात् मायिकजगत् के उस पार ब्रह्म-धामरूप 'सिद्धलोक' है। वहाँ ब्रह्मसुख-मग्न मायावादी-गण एवं भगवान् के द्वारा विनष्ट कंसादि असूरसमूह निवास करते हैं। पातंजल-योगीगण कैवल्य प्राप्त करके भी उसी लोक को प्राप्त होते हैं।

अनुभाष्य

३९। तमसः पारे (त्रिगुणातीते प्रदेशे) तु सिद्धलोकः वर्त्तते, यत्र सिद्धाः (निर्भेदब्रह्मज्ञान-सिद्धाः, कैवल्ययोग-सिद्धाश्च) हरिणा (कृष्णेन) हताः दैत्याः च, ब्रह्मसुखे (निर्विशेषब्रह्मसायुज्ये) मग्नाः (सन्तः) वसन्ति हि। पूर्व में उल्लिखित ३५-३६ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

परव्योम में स्थित द्वितीय-चतुर्व्यूह द्वारका के आदि
चतुर्व्यूह का ही प्रकाश—

सेइ परव्योमे नारायणेर चारि पाशे।
द्वारकाय चतुर्व्यूह द्वितीय प्रकाशे॥४०॥

४०। प० अनु०—उस परव्योम में नारायण के चारों ओर द्वारका में स्थित चतुर्व्यूह का दूसरा प्रकाश है।

ये सब तुरीय—विराट्, गर्भ
एवं कारणातीत—

वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्ध।
'द्वितीय चतुर्व्यूह एइ—तुरीय, विशुद्ध॥४१॥

४१। प० अनु०—द्वारका के चतुर्व्यूह का नाम वासुदेव-सकर्षण-प्रद्युम्न और अनिरुद्ध है एवं परव्योम के चतुर्व्यूह को 'द्वितीय चतुर्व्यूह' कहते हैं। वे भी तुरीय एवं विशुद्ध है।

द्वितीय-चतुर्व्यूहगत महासंकर्षण ही
चिच्छक्ति के मूल-आश्रय—

ताँहा ये रामेर रूप—महासंकर्षण।
चिच्छक्ति-आश्रय तिहों, कारणेर कारण॥४२॥

४२। प० अनु०—परव्योम के दूसरे चतुर्व्यूह श्रीबलराम के अंश हैं, जिन्हें महासंकर्षण भी कहते हैं। वे चित्शक्ति के आश्रय और कारणों के कारण हैं।

चिच्छक्ति-सन्धिनी-परिणत
तद्रूपवैभव—

चिच्छक्तिविलास एक—'शुद्धसत्त्व'-नाम।
शुद्धसत्त्वमय यत वैकुण्ठादि-धाम॥४३॥

४३। प० अनु०—चित् शक्ति के एक विलास का नाम शुद्धसत्व है। जिससे शुद्धसत्त्वमय वैकुण्ठादि धाम प्रकाशित होते हैं।

षड्विधैश्वर्य आदि सबकुछ ही
महासंकर्षण का चिद्वैभव—

षड्विधैश्वर्य ताँहा सकल चिन्मय।
संकर्षणेर विभूति सब, जानिह निश्चय॥४४॥

४४। प० अनु०—वैकुण्ठादि धामों का षड्विध ऐश्वर्य चिन्मय है। धाम और उसका ऐश्वर्य सब श्रीसंकर्षण की ही विभूति है ऐसा निश्चित जानना चाहिए।

महासंकर्षण ही जीवशक्ति के आश्रय—

'जीव'-नाम तटस्थाख्य एक शक्ति हय।
महासंकर्षण—सब जीवेर आश्रय॥४५॥

४५। प० अनु—जीव नामक एक शक्ति को तटस्था शक्ति भी कहते हैं। उस शक्ति के अंश समस्त जीवों का आश्रय भी महासङ्कर्षण है।

संकर्षण का ही अंश—कारणार्णवशायी विष्णु—

याँहा हैते विश्वोत्पत्ति, याहाते प्रलय।
सेइ पुरुषेर संकर्षण समाश्रय॥४६॥
सर्वाश्रय सर्वाद्भुत, ऐश्वर्य अपार।
'अनन्त' कहिते नारे महिमा याँहार॥४७॥
तुरीय विशुद्धसत्त्व, 'संकर्षण' नाम।
तिहों याँर अंश, सेइ नित्यानन्द-राम॥४८॥
अष्टम श्लोकेर कैल संक्षेप विवरण।
नवम श्लोकेर अर्थ शुन दिया मन॥४९॥

४६-४९। पु० अनु०—जिनसे विश्व की उत्पत्ति होती है और जिससे विश्व का प्रलय होता है, उन कारणार्णवशायी पुरुष का आश्रय अर्थात् मूल श्रीसंङ्कर्षण हैं। वे सर्वाश्रय, सर्वाद्भुत और अपार ऐश्वर्य से युक्त हैं। 'अनन्तदेव' उनकी महिमा का वर्णन करने में असमर्थ हैं। 'संकर्षण' नाम तुरीय, विशुद्धसत्त्वात्मक है। वे जिनके अंश हैं, वही श्रीनित्यानन्द-बलराम हैं। यहाँ तक संक्षेप में अष्टम श्लोक की व्याख्या की गई है। अब एकाग्रचित्त से नवम श्लोक का अर्थ सुनिये।

अमृतप्रवाह भाष्य

४०-४५। द्वारका में जो श्रीकृष्ण-बलदेवादि चतुर्व्यूह विराजित हैं, उनका ही द्वितीय प्रकाश परव्योम में प्रकाशित है। इस चतुर्व्यूह का नाम 'द्वितीय चतुर्व्यूह' है; यह भी चिन्मय एवं विशुद्ध है। वहाँ श्रीबलराम का स्वरूप महासंकर्षण है। उस परव्योम में 'शुद्धसत्त्व' नामक चिच्छक्ति का सन्धिनी-विलास विराजमान है, जिससे वैकुण्ठादि शुद्धसत्त्वमय धाम एवं षड्विध ऐश्वर्य प्रकाशित होते हैं। यह सब कुछ महासंकर्षण की विभूति है। महासंकर्षण ही सभी जीवों के आश्रय हैं, अतः तटस्थाख्य जीव-शक्ति के भी आश्रय हैं। चित्कण-जीवसत्ता जीवशक्तिसम्भूत होकर भी माया-शक्ति के वशयोग्य होने के कारण, 'माया' एवं 'चित्' इन दोनों तटस्थ-धर्म जनित होने के कारण, 'तटस्थ' कहलाती है।

अनुभाष्य

४०। श्रीरूपप्रभु ने लघुभागवतामृत में (चतुर्व्यूह के वर्णन के प्रसंग में ८३-८४ संख्या में)—"पाद्मे तु परमव्योम्नः पूर्वाद्ये दिक्चतुष्टये। वासुदेवादयो व्यूहाश्चत्वारः कथिताः क्रमात्॥ तथा पादविभूतौ च निवसन्ति क्रमादिमे। जलावृत्तिस्थ वैकुण्ठस्थित-वेदवतीपुरे॥ सत्योर्ध्वे वैष्णवेलोके नित्याख्ये द्वारकापुरे। शुद्धोदादुत्तरे श्वेतद्वीपे चैरावतीपुरे क्षीराम्बुधि-स्थितानन्त-क्रोडपर्यंक-धामनि।

परव्योम की पूर्वादि चारों दिशाओं में वासुदेवादि चतुर्व्यूह क्रमानुसार अवस्थान करते हैं, यही पद्मपुराण में कथित है। और एकपाद विभूति में अर्थात् प्रपंच में क्रमशः चार स्थानों पर ये वासुदेवादि चारों मूर्त्तियाँ वास कर रहीं हैं। जल के आवरण में स्थित वैकुण्ठ के वेदवतीपुर में वासुदेव, सत्यलोक के ऊपरिभाग के विष्णुलोक में संकर्षण, नित्याख्य द्वारिकापुर में प्रद्युम्न एवं शुद्ध जलनिधि के उत्तरीतट पर स्थित क्षीरसमुद्र के बीच श्वेतद्वीप के ऐरावतीपुर में अनन्त- शय्या पर अनिरुद्ध वास कर रहे हैं।

४१-४८। संकर्षण—दूसरा नाम 'महासंकर्षण' (पर-वर्त्ती ४२-४८ संख्या में वर्णित है)

ब्रह्मसुत्र के द्वितीय पाद के द्वितीय अध्याय के 'उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण' में श्रीशंकराचार्य ने अपने भाष्य में चतुर्व्यूह के विषय में जिस भ्रमपूर्ण विचार का उत्थापन किया है, उसकी मीमांसा-हेतु ग्रन्थकार ने ४१-४७ संख्या में उक्त मतवाद का खंडन किया है। अद्वय-ज्ञान विष्णु-वस्तु को दृश्यजगत् के अन्यतम वस्तुज्ञान से श्रीपाद ने जिस भ्रान्ति का प्रकाशन किया है, उसके बारे में पंचरात्र

में श्रीनारायण ने स्वयं उन्हें समझाया है। किन्तु बद्ध एवं आसुर-प्रकृति-सम्पन्न जीवों को मोहित करने के लिये उन्हें जिस विप्रलिप्सा (छल) को अपनाना पड़ा, उसके फलस्वरूप ही अद्वैतपन्थी अप्पयदीक्षित आदि भ्रान्ति की चरम-सीमा में उपनीत हुये हैं। बद्धजीवों की योग्यता में चतुर्व्यूह-ज्ञान सम्भव पर नहीं है। उन सबकी निर्बुद्धिता को बढ़ाने के लिये आचार्य ने इस प्रकार की दुरुक्ति की है। चतुर्व्यूह शुद्धसत्त्वमय, चिच्छक्तिविलासी एवं षड्विध ऐश्वर्यसम्पन्न है। उन सबको दरिद्र एवं निःशक्तिक कहना एवं समझना— मूढ़जीवों का धर्म है। वैसे जीव माया-मोहित होने के ही योग्य हैं। वैकुण्ठ एवं मायिक-देश को समझने में असमर्थ होने से इस प्रकार की भ्रान्ति की ही सम्भावना है। श्रीपाद शंकर ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के ४२-४५ संख्यक सूत्रों के भाष्य में इस 'चतुर्व्यूह- वाद' को निरस्त करने-हेतु वृथा प्रयास किया है। श्रीपाद शंकराचार्य के भाष्य से 'चतुर्व्यूह' के सम्बन्ध में उनके द्वारा कथित विकृत धारणामूलक वचनसमूह उद्धृत है।

"उत्पत्त्यसम्भवात्"(४२)—(शं:भा:)—** "तत्र भागवता मन्यन्ते, भगवानेवैको वासुदेवो निरंजनो ज्ञानस्वरूपः परमार्थ-तत्त्वम्। स चतुर्द्धात्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितो वासुदेव-व्यूहरूपेण संकर्षण-व्यूहरूपेण प्रद्युम्न व्यूहरूपेणानिरुद्ध-व्यूहरूपेण च। वासुदेवो नाम परमात्मोच्यते, संकर्षणो नाम जीवः, प्रद्युम्नो नाम मनः, अनिरुद्धो नामाहंकारः। तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिः, इतरे संकर्षणादयः कार्यम्। तत्र यत्तावदुच्यते, योऽसौ नारायणः परः परमात्मा सर्वात्मा, स आत्मनात्मानमनेकधा व्यूहावास्थित इति, तन्न निराक्रियते। यत् पुनरिदमुच्यते—वासुदेवात् संकर्षण उत्पद्यते, संकर्षणात्त्व प्रद्युम्नः, प्रद्युम्नाच्चानिरुद्ध इति, अत्र क्रमः—न वासुदेव-संज्ञकात् परमात्मनः संकर्षणसंज्ञस्य जीवस्योत्पत्तिः सम्भवति, अनित्यत्वादि-दोषप्रसंगात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्, ततश्च नैवास्य भगवत्प्राप्तिर्म्मोक्षः स्यात्, कारणाप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलयप्रसंगात्। प्रतिषेधिष्यते चाचार्यो जीव-स्योत्पत्तिं 'नात्माश्रुतेर्नित्यात्वाच्च ताभ्यः' इति। तस्माद्संगतैषा कल्पना।"

भाष्यार्थ—भागवतवृन्द के मतानुसार भगवान् वासुदेव एक हैं, वे निरंजन, ज्ञानस्वरूप एवं वही परमार्थतत्त्व हैं। वे स्वयं अपने आपको चतुर्द्धा विभाग-पूर्वक विराज रहे हैं। ये चार प्रकार के व्यूह इस प्रकार हैं, प्रथम वासुदेव-व्यूह, द्वितीय संकर्षण-व्यूह, तृतीय प्रद्युम्न-व्यूह, चर्तुर्थ अनिरुद्ध-व्यूह,—ये चारों प्रकार के व्यूह ही उनका शरीर है। वासुदेव का दूसरा नाम 'परमात्मा' है, संकर्षण का अन्य नाम 'जीव' है, प्रद्युम्न का नामान्तर 'मन' एवं अनिरुद्ध का और एक नाम 'अहंकार' है। इस चार प्रकार के व्यूह में वासुदेव-व्यूह ही परा प्रकृति अर्थात् मूल-कारण है। संकर्षण आदि वासुदेव-व्यूह से समुत्पन्न हुये हैं, अतः संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध, उस परा प्रकृति के कार्य हैं। जीव दीर्घकाल तक भगवान् के घर में गमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय एवं योगसाधन में रत रहकर निष्पाप होते हैं, एवं पुण्यशरीरी होकर परा प्रकृतिस्वरूप भगवान् को प्राप्त करते हैं। महात्मा भागवतवृन्द जो कहते हैं कि, नारायण प्रकृति के परे एवं परमात्मा नाम से प्रसिद्ध एवं सर्वात्मा हैं, वह श्रुति-विरुद्ध नहीं है और वे जो स्वयं अनेक प्रकार के व्यूहभाव में अवस्थित अथवा विराजमान हैं, वह भी हम स्वीकार करते हैं। अतएव भागवत-मत के उस अंश का निराकरण इस सूत्र का अभिप्राय नहीं है। भागवतवृन्द जो कहते हैं कि, वासुदेव से संकर्षण का, संकर्षण से प्रद्युम्न का एवं प्रद्युम्न से अनिरुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ है, इस अंश के निषेधार्थ ही आचार्य ने यह सूत्र ग्रथित किया है।

वासुदेव संज्ञक परमात्मा से अनित्यता-आदि दोषों से ग्रस्त होने के कारण संकर्षण- संज्ञक जीव की उत्पत्ति नितान्त असम्भव है। जीव यदि उत्पत्तिमान् होता है, तो उसमें अनित्यता आदि दोष अपरिहार्य होंगे। नश्वर-स्वभाव का होने पर जीव का भगवत्-प्राप्तिरूप मोक्ष हो ही नहीं सकता। कारण के विनाश से कार्यविनाश अवश्यम्भावी है। आचार्य वेदव्यास ने जीव की उत्पत्ति

के सम्बन्ध में द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद के 'नात्मा-श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इस सूत्र के द्वारा निषेध किया है एवं उत्पत्ति निषेध के द्वारा इसकी नित्यता को प्रमाणित करेंगे। अतः यह कल्पना असंगत है।"

'न च कर्त्तुः करणम्' (४३)—(श:भा:) "इतश्चा-संगतैषां कल्पना, यस्मान्न हि लोके कर्त्तुर्देवदत्तादेः करणं परश्वाद्युत्पद्यमानं दृश्यते। वर्णयन्ति च भागवताः—कर्त्तुजीवात् संकर्षण-संज्ञकात् करणं मनः प्रद्युम्नसंज्ञक-मुत्पद्यते, कर्त्तृजाच्च तस्माद्‌निरुद्ध-संज्ञकोऽहंकार उत्पद्यत इति। न चैतद्‌दृष्टान्तमन्तरेणाध्यवसितुं शक्नुमः। न चैवम्भूतां श्रुतिमुपलभामहे।"

भाष्यार्थ—'इस प्रकार की कल्पना जो असंगत है, इसका कारण है। लोक में देवदत्तादि कर्त्ता से दात्रादि करण की उत्पत्ति दिखाई नहीं देती। फिर भी भागवत-वृन्द वर्णन करते हैं कि, संकर्षण-नामक कर्त्ता-जीव से प्रद्युम्न-नामक करण-मन का जन्म हुआ है, फिर उसी कर्त्तृजात प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध नामक अहंकार की उत्पत्ति होती है। यदि भागवतवृन्द यह बात दृष्टान्त के द्वारा न समझा पायें, तो फिर किस प्रकार से इसे स्वीकार किया जा सकता है? इस तत्त्व का अवबोधक (सूचक) श्रुति-वचन भी सुना नहीं जाता।

"विज्ञानादिभावे वा तद्‌प्रतिषेधः"(४४)—(श:भा:)—तथापिस्यान्न चैते संकर्षणादयो जीवादि-भावेनाभिप्रायन्ते, किं तर्हि, ईश्वरा एवैते सर्वेज्ञानैश्वर्य-शक्तिबलवीर्यतेजोभिरैश्वर्यधर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते, वासुदेवा एवैते सर्वे निर्दोषा निरधिष्ठाना निरवद्याश्चेति, तस्मान्नायं यथावर्णित उत्पत्त्यसम्भवो दोषः प्राप्नोतीति? अत्रोच्यते—एवमपि तद्‌प्रतिषेध उत्पत्त्यसम्भव-स्याप्रति-षेधः प्राप्नोत्येव। अयमुत्पत्त्यसम्भवो दोषः प्रकारान्तरेणेत्य-भिप्रायः। कथम्? यदितावदयमभिप्रायः परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्त्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामे-कात्मकत्वस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनानार्थक्यं, एके-नैवेश्रेणेश्वर-कार्यसिद्धेः। सिद्धान्तहानिश्च—भगवानेको वासुदेवः परमार्थत त्त्वमित्यभ्युपगमात्। अथायमभि-प्रायः—एकस्यैवभगवत एते च त्त्वारो व्यूहास्तुल्यधर्माण इति, तथापि तदवस्थ एवोत्पत्ति असम्भवः। न हि वासुदेवात् संकर्षणोत्पत्तिः सम्भवति, संकर्षणात्त्च प्रद्युम्न-श्च, प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धस्य; अतिशयाभावात्। भवितव्यं हि कार्यकारण-योरतिशयेन यथा मृद्‌घटयोः। न ह्यसत्यतिशये कार्यं कारणमित्यवकल्पते। न च पंचरात्रसिद्धान्तादिष्वे-कैकस्मिन् सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्या- दितारतम्यकृतः कश्चिद्-भेदोऽभ्युपगम्यते। वासुदेवा एव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषा इष्यन्ते। न चैते भगवद्‌व्यूहाश्चतुः-संख्यायामेवाव-तिष्ठेरन्, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तश्च समस्तस्यैव जगतो भगवद्‌व्यूहत्वावगमात्।'

भाष्यार्थ—'भागवतों का ऐसा अभिप्राय भी हो सकता है कि, उक्त संकर्षणादि जीव-भावान्वित नहीं है; वे सभी ईश्वर हैं, सभी ज्ञान-शक्ति एवं ऐश्वर्यशक्तियुक्त हैं, बल, वीर्य, एवं तेजः सम्पन्न हैं, सभी वासुदेव हैं, सभी निर्दोष, निरधिष्ठित, निरवद्य हैं। अतः, उन सबके सम्बन्ध में उत्पत्त्यसम्भव-दोष नहीं है। इस अभिप्राय के उत्तर में कहा जा रहा है कि, इस प्रकार का अभिप्राय रहने पर उत्पत्त्यसम्भवदोष बिलकूल दूर नहीं होता, अन्य प्रकार से यह दोष रह जाता है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—ये सब परस्पर भिन्न हैं, एकात्मक नहीं हैं; फिर भी सभी समधर्मी एवं ईश्वर हैं। ऐसा अर्थ अभिप्रेत होने पर, अनेक ईश्वरों को स्वीकार करना होता है। अनेक ईश्वरों को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है; क्योंकि, एक ईश्वर को स्वीकार करने से ही अभिलाषा पूर्ण होती है। और तो और, भगवान् वासुदेव एक अर्थात् अद्वितीय एवं परमार्थ-तत्त्व हैं, इसरूप प्रतिज्ञा रहने के कारण सिद्धान्तहानि-दोष भी जुड़ जाता है। यह चतुर्व्यूह भगवान् का ही है एवं वे सब समधर्मी हैं, इस प्रकार होने पर भी उत्पत्त्यसम्भव-दोष का परिहार करना सम्भव नहीं है; क्योंकि, किसी प्रकार की अतिशयता (न्यूनताधिक्य) के न रहने पर वासुदेव से संकर्षण का, संकर्षण से प्रद्युम्न का एवं प्रद्युम्न से अनिरुद्ध का जन्म नहीं हो सकता। कार्यकारण के बीच कोई विशिष्ट्य है, यह

स्वीकार करना होगा; जैसे मिट्टी से घट (घड़ा) बनता है। अतिशयता के न रहने से कार्य क्या है, कारण क्या है इसे निर्देशित करना सम्भव नहीं है। और भी देखिये कि, पंचरात्र-सिद्धान्तविद्गण वासुदेव आदि के ज्ञानादि तारतम्यकृत भेद को स्वीकार नहीं करते हैं, बल्कि चतुर्व्यूह को भेद-रहित वासुदेव के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। क्या भगवान् का व्यूह चतुःसंख्या में पर्याप्त है? अवश्य ही ऐसा नहीं है। ब्रह्मादिस्तम्ब तक समुदाय जगत् भगवत्-व्यूह है—यह श्रुति, स्मृति, दोनों में प्रमाणित है।'

"विप्रतिषेधाच्च"(४५)—(श:भा:)—'विप्रतिषेधश्चास्मिन् शास्त्रे बहुविध उपलभ्यते गुण-गुणित्व-कल्पनादिलक्षणः। ज्ञानैश्वर्यशक्ति बल-वीर्यतेजांसि गुणाः, आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेव इत्यादिदर्शनात्।'

भाष्यार्थ—'भागवतवृन्द के पंचरात्रादि-शास्त्रों में गुण-गुणिभाव आदि अनेकों प्रकार की विरुद्ध कल्पनाएँ दिखाई देती हैं। स्वयं ही गुण है, स्वयं ही गुणी है; यह किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। भागवतवृन्द कहते हैं कि; ज्ञानशक्ति, ऐश्वर्यशक्ति, बल, वीर्य एवं तेजः—ये सब गुण हैं एवं प्रद्युम्न आदि से भिन्न होने पर भी ये सब आत्मा एवं भगवान् वासुदेव हैं।'

श्रीपाद शंकराचार्य के इस मतवाद के उत्तर में श्रीरूपप्रभु लघुभागवतामृत में (चतुर्व्यूह के वर्णनप्रसंग में ८०-८३ श्लोक) में—"महावस्थाख्यया ख्यातं यद्-व्यूहानां चतुष्टयम्। तस्याद्योऽयं तथोपास्यश्चित्ते तदधिदैवतम्। तथा विशुद्धसत्त्वस्य यश्चाधिष्ठानमुच्यते॥ निजांशो यस्य भगवान् श्रीसंकर्षण इष्यते। यस्तु संकर्षणो द्वितीय इति सम्मतः। जीवश्च स्यात् सर्व-जीवप्रादुर्भावा-स्पदत्वतः॥ पुर्णशारदशुभ्रांशु-परा-र्धमधुरद्युतिः। उपास्योऽयमहंकारे शेषन्यस्त-निजांशकः॥ स्मररातेरधर्मस्य सर्पान्तकसुरद्विषाम्। अन्तर्यामित्वमास्थाय-जगत्संहार-कारकः॥ व्यूहस्तृतीयः प्रद्युम्नो विलासो यस्य विश्रुतः। यः प्रद्युम्नो बुद्धितत्त्वे बुद्धिमद्‌भिरूपास्यते॥ स्तुवत्या च श्रिया देव्या निषेव्यत इलावृते। शुद्ध-जाम्बूनदप्रख्यः क्वचिन्नीलघनच्छविः॥ निदानं विश्वसर्गस्य कामन्यस्त-निजांशकः। विधेः प्रजाप-तीनां च रागिणां स्मरस्य च। अन्तर्यामित्वमापन्नः सर्गं सम्यक् करोत्यसौ॥ व्यूहस्तुर्योऽ-निरुद्धाख्यो विलासो यस्य शस्यते। योऽनिरुद्धो मनस्त-त्त्वेमनीषिभिरूपास्यते॥ नीलजीमूतसंकाशो विश्व-रक्षण-तत्परः। धर्मस्यायं मनूनांच देवानां भूभुजां तथा। अन्तर्यामित्वमास्थाय कुरुते जगतः स्थितिम्। मोक्षधर्मे तु मनसः स्यात् प्रद्युम्नोऽधिदैवतम्। अनिरुद्धस्तुऽहंकारस्येति तत्रैव कीर्तितम्। सर्वेषां पंचरात्राणामप्येषा प्रक्रिया मता। पाद्मे तु परम-व्योम्नः पूर्वाद्ये दिक्चतुष्टये। वासुदेवादयो व्यूहश्चत्वारः कथिताः क्रमात्॥"

परव्योम महावैकुण्ठनाथ नारायण के 'महा- वस्थ'—नामक विख्यात चतुर्व्यूह में वासुदेव 'आदिव्यूह' एवं हृदय में उपास्य हैं; क्योंकि ये चित्त के अधिष्ठातृदेवता एवं विशुद्ध-सत्त्व में अधिष्ठित हैं (भा: ४।३।२३)। श्रीसंकर्षण इनके स्वांश अर्थात् विलास हैं; संकर्षण को 'द्वितीयव्यूह' एवं सभी जीवों के प्रादुर्भाव के आस्पद (अधिष्ठान) होने के कारण 'जीव' भी कहा जाता है। असंख्य शारदीय पूर्ण शशधरों (चन्द्रमाओं) की शुभ्र किरणों की अपेक्षा उनकी अङ्गकान्ति और भी अधिक सुमधुर है। वे अहंकार-तत्त्व में उपास्य हैं; उन्होंने अनन्त-देव में अपनी आधारशक्ति का निधान किया है एवं वे स्मरारराति रुद्र एवं अधर्म, अहि, अन्तक एवं असुरों के अन्तर्यामी के रूप में जगत्-संहारकार्य सम्पादन करते हैं। उन संकर्षण की विलासमूर्त्ति प्रद्युम्न तृतीय-व्यूह हैं। बुद्धिमानगण बुद्धितत्त्व में इन प्रद्युम्न की उपासना करते हैं। लक्ष्मीदेवी इलावृतवर्ष में उनका जयगान करते हुए उनकी परिचर्या कर रही हैं। किसी स्थान पर उनकी अंग-कान्ति तप्त जाम्बूनद (स्वर्ण) की भाँति, किसी स्थान पर नवीन-नील-जलधर की भाँति है। वे विश्व-सृष्टि के निदान हैं एवं उन्होंने निज स्त्रष्टृत्व-शक्ति को कन्दर्प में निहित किया है। वे विधाता, समस्त प्रजापतियों विषयानुरक्त देवमानवादि प्राणिसमूहों एवं कन्दर्प के अन्तर्यामी के रूप में सृष्टि-कार्य सम्पादन करते हैं।

चतुर्थ-व्यूह अनिरुद्ध इनकी विलासमूर्त्ति हैं। मनीषिगण मनस्तत्त्व में इन्हीं अनिरुद्ध की उपासना करते हैं। उनकी अंगकान्ति नील-नीरद जैसी है। वे विश्वरक्षण में तत्पर हैं। वे धर्म, मनु, देवता एवं नर-पतियों के अन्तर्यामी के रूप में जगत-पालन करते हैं। मोक्षधर्म में प्रद्युम्न को मन के अधिदेवता एवं अनिरुद्ध को अहंकार के अधिदेवता के रूप में निर्देशित किया गया है। पूर्वोक्त प्रक्रिया के सिद्धान्तानुसार (अर्थात् प्रद्युम्न बुद्धि के एवं अनिरुद्ध मन के अधिदेवता हैं, इस बात पर) सभी पंचरात्र सहमत हैं। (किन्तु पद्मपुराण में परव्योम की पूर्व आदि चारों दिशाओं में क्रमानुसार वासुदेवादि चतुर्व्यूह वर्णित हैं।)

भगवान् के विलास एवं अचिन्त्य शक्ति के सम्बन्ध में लघुभागवतामृत में (४४-४६ संख्या)—"नन्विदं श्रूयते शास्त्रे महावाराहवाक्यतः। 'सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः। हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजा क्वचित्॥ परमानन्दसन्दोहाज्ञानमात्राश्च सर्वतः। सर्वे सर्व-गुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः॥' इति। किंच श्रीनारद पंचरात्रे—'मणिर्यथा विभागेन नील-पीतादि-भिर्युतः। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात् तथाच्युतः'॥ इति। तस्मात् कथं तारतम्यं तेषां व्याख्यायते त्वया॥ अत्रोच्यते—'एकत्वंच पृथक्त्वंच तथांशत्वमुतांशिता। तस्मिन्नेकत्र नायुक्तम् अचिन्त्यानन्तशक्तितः॥' तत्रैकत्वेऽपि पृथक्-प्रकाशिता, यथा (भाः १०।६९।२)— 'चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्। गृहेषु द्व्यष्टसास्त्रं त्रिय एक उदावहत्॥' इति। पृथक्त्वेऽप्येकरूपतापत्तिः, यथा पाद्मे—"स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः। एकीभूय पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृत्॥" इति। एकस्यैव अंशांशित्वं विरुद्धशक्तित्वंच, यथा (भाः १०।४०।७)—"यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्त्येकमूर्त्तिकम्॥" इति। कौर्म्मे च—"अस्थूलश्चाननुश्चैव स्थूलोऽनुश्चैव सर्वतः। अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः। ऐश्वर्य-योगाद् भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते॥ तथापि दोषाः परमे नैवाहार्याः कथंचन। गुणा विरुद्धा अप्येते समाहार्य्याः समन्ततः॥" इति। श्रीषष्ठ-स्कन्दे मिथोविरुद्धाचिन्त्य-शक्तितत्वं यथा गद्येषु (भाः ६।९।३४-३७)—"दुरवबोध इवायं तव विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्-समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि हरसि पासि। अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवदिह गुणविसर्ग-पतितः पारतन्त्र्येण स्वकृत-कुशलाकुशलं फलमुपाद-दाति? आहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समंजसदर्शन उदास्ते? इति ह वाव न विदामः। न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगणे ईश्वरे अनवगाह्य-माहात्म्यऽर्वा-चीनविकल्प-वितर्क-विचार प्रमाणाभास-कुतर्कशास्त्र कलितान्तः करणाश्रयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसरे उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्द्धाय कोन्वर्थो दुर्घट इव भवति, स्वरूपद्वयाभावात्। समविषम-मतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखंडः सर्पादिधियाम्॥" इति। अत्र कारिकाः—"विना शरीर चेष्टत्वं विना भूम्यादिसंश्रयम्। विना सहायांस्ते कर्माविक्रियस्य सुदुर्ग-मम्॥ उक्तो गुणविसर्गेण देवासुरणादिकः॥ तस्मिन् पतित आसक्तः पारतन्त्र्यस्तु तद्भवेत्। यदाश्रितेषु देवेषु पारवश्यं कृपाकृतम्॥ तेन स्वकृतमात्मीयकृतं शुभशुभे- तरत्। सुख-दुःखादिरूपं किं फलं स्वीकुरुते भवान्। आत्मा-रामतया किंवा तत्रोदास्तेतरामिति। न विद्मः किन्तु नैवेदं विरुद्धमुभयं त्वयि॥ तत्र हेतु-र्भगवतीत्यादि प्रोक्तं पदद्वयम्। तथैवेश्वर-इत्यादिपदानां पंचकं मतम्॥ भगव-त्त्वेन सार्वज्ञयं सद्गुणत्वं तथान्यतः। ब्रह्मत्वं केवल-त्वेन लभ्यते तत्र च स्फुटम्॥ यद्यपि ब्रह्मताहेतोः सर्वत्र स्यात् तटस्थता। तथाप्यादिगुणद्वय्या भवेद्भक्तानुकूलता॥ नन्वेकस्य स्वरूपस्य द्वैरुप्यं कथमेकदा। तत्राह अर्वाचीने-ति तादृशानां हि वादिनाम्। विवादस्यानवसरे तस्य तावद-गोचरे॥ अतोऽचिन्त्यात्मशक्तिं तां मध्ये कृत्यात्र दुर्घटः। को न्वर्थः स्याद् विरुद्धोऽपि तथैवास्या ह्यचिन्तता। सा च नानाविरुद्धानां कार्य्याणामाश्रयन्मता॥ 'श्रुतेस्तु शब्दमूल-त्वात्' इति च ब्रह्मसूत्रकृत् "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।" इति स्कान्दवचस्तत्त्व मण्यादिष्वपि दृश्यते॥ तादृशींच विना शक्तिं न सिध्येत् परमेशता।

यतश्चानवगाह्यत्वेनास्य माहात्म्यमुच्यते॥ अज्ञानमिन्द्रजालं वा वीक्षते यत्र-कुत्रचित्। अतो न पारमैश्वर्यं तेन तस्य प्रसिध्यति॥ तच्च न हीत्याह स्फुटंचोपरतेत्यद:॥ तथा भगवतीत्यादिपदानां षट्तयस्य च। भवेत् प्रयोगतात्पर्यमत्र निष्फलमेव हि॥ तस्मान्न शास्त्र-युक्तिभ्यामुभयं तद् विरुध्यते। तथाप्युच्चवचधियामनेवंतत्त्वेदिनाम्। मतानु-सारतो भासि रज्जुवत् त्वं तथा तथा॥ मनु भो: केवलं ज्ञानं ब्रह्मस्याद् भगवान् पुन:। नानाधर्मेति तत्रापि स्वरूप-द्वयमीक्ष्यते॥ इति प्राह स्वरूपेति तत्स्वरूपस्य नैव हि। कदापि द्वैतमेकस्य धर्मद्वयमिदं ध्रुवम्॥ ततो विरोध-स्तच्छक्ति-विलासानां यदीक्ष्यते। तदेवाचिन्त्यमैश्वर्यं भूषणं न तु दूषणम्॥ इयमेव विरोधोक्तिस्तृतीयेऽपि च दृश्यते॥ (भा: ३।४।१६)—"कर्माण्य हीनस्य भवोऽभ-वस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम्। कालात्मनो यत् प्रमदायुताश्रम: स्वात्मनरते: खिद्यति धीर्विदामिह॥" इति। तत्तन्न वास्तवं चेत् स्यात् विदां बुद्धिभ्रमस्तदा। न स्यादेवे-त्यचिन्त्यैव शक्ति-लीलासु कारणम्॥ यथा यथा च तस्येच्छा सा व्यनक्ति तथा तथा॥"

इस स्थान पर इस प्रकार की आपत्तियाँ उठा सकती है कि, महावराहपुराण में यही सुनने में आता है कि,—"उस परमात्मा हरि के सर्वविध देह ही नित्य हैं एवं सर्वविध देह ही जगत् में बारम्बार आविर्भूत होते रहते हैं; वे सब देह हानोपादान-रहित हैं, अत: कभी भी प्रकृति के कार्य नहीं है। सभी देह ही घनीभूत परमानन्दमय, चिदेकर-सस्वरूप, सर्वविध चिन्मयगुणयुक्त एवं सर्वदोष- विवर्जित हैं।" फिर नारद-पंचरात्र में भी कहा है कि,—"वैदूर्यमणि जैसे स्थानभेद से नील-पीतादि छवि धारण करती है, उसी प्रकार भगवान् अच्युत उपासना भेद से अपने स्वरूप को विविधाकारों में प्रकाशित करते हैं।" अत: किस कारण उन्हीं सब अवतारों के तारतम्य की व्याख्या कर रहे हैं? उक्त आशंका के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि, अचिन्त्य अनन्तशक्ति के प्रभाव से, एकाधार में (उसी एक ही पुरुषोत्तम में) एकता एवं पृथकता, अंशत्व एवं अंशित्व, ये सबकुछ असम्भव व अयुक्त नहीं है। इसमें एकता होने पर भी पृथक्-प्रकाश विद्यमान है, जैसे श्रीदशम स्कन्द में (नारद की उक्ति)—"बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि, एक ही श्रीकृष्ण ने एक ही समय पर अलग-अलग गृह में सोलह हजार महिषियों का पाणि ग्रहण किया है।" पृथक् होने पर भी एकरूपतापत्ति, जैसे पद्मपुराण में—"वही निर्गुण, निर्दोष, आदिकर्त्ता, पुरुषोत्तम देव हरि बहुरूप होकर फिर एकरूप में शयन करते हैं।" एक की ही अंशांशित्व एवं विरुद्धशक्तित्व, जैसे श्रीदशम में—"आप बहू-मूर्त्ति होकर भी एकमूर्त्ति हैं, आपमें आविष्ट-चित्त भक्तवृन्द आपकी पूजा करते हैं।" फिर कूर्मपुराण ने भी कहा है कि,—"भगवान् सर्वतोभावेन अस्थूल होकर भी स्थूल हैं, अनणु होकर भी अणु हैं, अवर्ण होकर भी श्यामवर्ण एवं रक्तान्तलोचन हैं। ऐश्वर्य-प्रभावहेतु उन्हें विरुद्धरूपी कहा जाता है, फिर भी परमेश्वर में किसी भी प्रकार से दोष-समूह को समाविष्ट करना उचित नहीं है। बल्कि परस्पर-विरुद्ध उन सब गुणों का भी उनमें सर्वतोभावेन समंजस विधान करना ही उचित है।" इति। श्रीषष्ठस्कन्द के गद्य में भी परस्परविरुद्ध अचिन्त्यशक्तिमत्ता की बातें कथित हैं, जैसे—"हे भगवन्, आपका अप्राकृत् लीला-विहार अथवा क्रीड़ा दुर्बोध्य की भाँति प्रकाशित होते हैं अर्थात् साधारण कार्य-कारण-भाव आप में दिखाई नहीं देता है; क्योंकि आप आश्रयरहित, शरीर-चेष्टा-रहित एवं स्वयं निर्गुण होकर एवं हम सब की सहायता की अपेक्षा किये बिना, निज स्वरूप के द्वारा ही इस सगुण विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं, फिर भी इस कारण आपमें किसी प्रकार का विकार नहीं है। हे प्रभो, क्या आप देवदत्त नामधारी प्राकृत व्यक्ति की भाँति इस संसार में गुणविसर्ग के बीच में पतित होकर पराधीनतावशत: स्वकृत सुख-दु:खादि—फल को अपना मान कर स्वीकार करते हैं? अथवा अप्रच्युत (अप्रतिहत) चिच्छक्तिमान् रहकर ही आत्माराम एवं उपशमशील के रूप में इन सब विषयों में उदासीन अर्थात् साक्षी के रूप में ही अवस्थान करते हैं? हम इसे नहीं जानते। जो षडैश्वर्य-परिपूर्ण हैं, जिनकी

गुणराशि की गिनती का कोई अन्त नहीं है, जो ईश्वर हैं, सभी के शासनकर्त्ता हैं, जिनकी महिमा किसी की भी बुद्धि से परे है, एवं वस्तु- स्वरूप के अव-बोधक विकल्प, विर्तक, विचार, प्रमाणाभास एवं कुतर्कपूर्ण शास्त्रों के द्वारा जिनकी बुद्धि आच्छादित—विक्षिप्त है, उन वादियों का विवाद जिन्हें स्पर्श करने में असमर्थ है, वही अचिन्त्यशक्तिशाली आप में पूर्वोक्त उभय गुण ही अविरोधी हैं। समस्त प्राकृत- ज्ञानातीत केवल शुद्धज्ञानमय आपमें आपकी इच्छा-शक्ति के द्वारा कौन-सा विषय दुर्घट हो सकता है? निर्विशेष एवं सविशेष अथवा चिद्गुणमय व निर्गुण, ये दोनों आपके भिन्न स्वरूप हैं, ऐसी बात नहीं; भावना-भेद से आपके एक ही स्वरूप की दो प्रकार प्रतीति मात्र हैं। परन्तु जिन सबकी बुद्धि का विषय सर्पादि है, उन सबके समक्ष जैसे एक रज्जुखंड ही सर्पादि भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकाशित होता है, उसी प्रकार जिन सबकी बुद्धि सम एवं विषम अर्थात् अनिश्चित है, आप उन सबके अभिप्राय का अनुसरण अथवा उन सबमें भिन्न-भिन्न मतवादों का प्रकाशन करते हैं।" इति। इस स्थान पर कारिका—शारीरिक चेष्टाएँ, जैसे भूमि आदि का आश्रय एवं दण्ड चक्रादि की सहायता के व्यतीत, विकार- रहित आपका कर्म अतिशय दुर्गम है। गुणविसर्ग-शब्द के द्वारा देवासुरों के युद्धादि के बारे में कहा गया है। इसमें, पतित—आसक्त, इसे ही पारतन्त्र्य अर्थात् पराधीनता कहते हैं। क्योंकि आश्रित देवताओं के समक्ष आपकी पराधीनता—कृपा-जनित है (अर्थात् इससे आपकी स्वतन्त्रता की हानि नहीं होती है)। इसलिये आप स्वकृत—आत्मीयकृत अर्थात् निज देवताओं के द्वारा अर्जित सुख-दुःखादिरूप शुभाशुभ फलों को क्या अपना बोल के मानते हैं? अथवा आत्माराम होने के कारण इसमें बिलकुल उदासीनता का अवलम्बन करते हैं?—इसे हम नहीं जानते। किन्तु (विरुद्ध-गुणशाली) आपमें ये दोनों ही असम्भव नहीं हैं। 'भगवति' आदि दोनों विशेषण, एवं 'ईश्वरे' आदि पंच विशेषण इसमें हेतुस्वरूप विद्यमान हैं। इसमें 'भगवत्'—शब्द के द्वारा सर्वज्ञता, 'अपरिगणित' आदि विशेषणों के द्वारा सद्गुणशालिता एवं 'केवल' पदद्वारा ब्रह्मत्व की सुस्पष्ट उपलब्धि हो रही है। ब्रह्मत्वहेतु सर्वत्र उदासीनता की सम्भावना रहने पर भी 'भगवति' इत्यादि दोनों गुणों के द्वारा भक्तपक्ष-पातिता की सम्भावना है। यदि कहो कि, एक ही स्वरूप की यगुपत् द्विरूपता किस प्रकार से सम्भव है? इस आंशका के उत्तर में कहते हैं,—'अर्वाचीन' आदि अर्थात् जो लोग वस्तुस्वरूप को नहीं जान पाते हैं, आप उन वादियों के विवादों के अनवसर अर्थात् अगोचर हैं। अतएव अचिन्त्य आत्म-शक्ति को बीच में रखकर विरुद्ध होने पर भी, आप में कौन-सा विषय दुर्घट हो सकता है? आपका स्वरूप अभक्त विवादियों के लिये अचिन्त्य है, शक्ति भी उस प्रकार ही अचिन्त्यनीय है। आप अनेक प्रकार के विरुद्ध-कार्यसमूहों के आश्रय हैं, इससे ही पता चलता है कि, आपकी शक्ति अचिन्त्यनीय है। ब्रह्मसूत्रकार ने कहा है कि,—"अचिन्त्य सेव्य विषय एकमात्र श्रुति अर्थात् शब्द-प्रमाण के द्वारा गोचरीभूत है।" और स्कन्द-पुराण में भी कहा है कि,—"अचिन्त्य विषय के बारे में तर्क ही उद्भावना संगत नहीं है।" प्राकृत मणि-महौषधादि में भी इस प्रकार अचिन्त्य प्रभाव परिलक्षित होता है। तादृश अचिन्त्यशक्ति के बिना परमेश्वर की परमेश्वरता सिद्ध नहीं हो सकती। इस अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से ही ईश्वर की महिमा दुरवगाह्य के रूप में कीर्त्तित हुई है। अज्ञान एवं इन्द्रजाल- विद्या जहाँ तहाँ दिखाई देते हैं, अतः अज्ञान और इन्द्रजालादि के द्वारा परमेश्वर का पारमैश्वर्य प्रतिपन्न (प्रतिष्ठित) नहीं हो सकता; क्योंकि 'उपरत' आदि विशेषण के द्वारा ईश्वर में उन दोनों का अभाव ही प्रतिपादित हुआ है। ईश्वर में अज्ञान एवं इन्द्रजाल स्वीकार करने पर, 'भगवति' इत्यादि षड्विध विशेषण-प्रयोग का तात्पर्य निष्फल हो जाता है। अतएव अचिन्त्य-शक्ति-निरूपक शास्त्र एवं युक्ति के द्वारा, विश्वपालकत्व एवं इसमें उदासीनता, ये दोनों गुण विरुद्ध हो नहीं सकते। जिन सबका मन अज्ञानवशतया सर्पादि-

भाव से भावित है, उन सबकी बुद्धि में रज्जुखंड जिस प्रकार से सर्पादिरूप में प्रतिभात होता है, उसी प्रकार जिन सबकी मति नाना-भाव से भावित है, अतः जो सब वास्तव में तत्त्वज्ञानरहित हैं, आप भी उन सबके मतानुसार उन-उन भावों में प्रकाशित होते हैं। यदि कहो कि, केवल ज्ञान को ब्रह्म एवं नाना- धर्माश्रय वस्तु को 'भगवान्' कहने से, उनमें दो भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखाई देते हैं? इस आशंका को दूर करने के लिए कहते हैं कि, 'स्वरूपद्वयाभावात्'। इसके द्वारा कभी भी उनके स्वरूप की द्वैतता स्वीकार्य नहीं हुई है, केवल एक ही स्वरूप का धर्मद्वय निर्णीत हुआ है। अतः उनके शक्ति-विलास का जो विरोध प्रतीत होता है, उसे ही अचिन्त्य ऐश्वर्य कहते हैं; यह उनका भूषण-व्यतीत दूषण नहीं है। तृतीय स्कन्द में भी इस प्रकार विरोध कथित है—"प्राकृतचेष्टा-हीनता, कर्म, अज (जन्म-रहित) का जन्म, कालस्वरूप होकर भी शत्रु के भय से दुर्ग में आश्रय लेना एवं मथुरा से भाग जाना व आत्माराम का सोलह-हजार रमणियों के साथ विलास—इस सब विषयों में तत्त्वज्ञानी की बुद्धि भी भ्रान्त हो जाती है।" यदि वे सब कर्मादि वास्तव न होते, तो तत्त्वज्ञानी की बुद्धि कभी भी भ्रान्त नहीं होती। अतः भगवान् की अचिन्त्यशक्ति ही लीला की हेतु-स्वरूप है। जैसी-जैसी उनकी इच्छाओं का प्रकाशन होता है, अचिन्त्यशक्ति भी उसी-उसी रूप में ही लीलाओं का आविष्कार करती रहती है।

पंचरात्र-शास्त्र सम्पूर्णतया वेदानुमोदित उपासना काण्डमय वेद-विस्तार रूप ग्रन्थ है। यह राजस अथवा तामस तन्त्र नहीं है, परन्तु 'सात्वत-संहिता' नाम से सूरिगणों के निकट परिचित है। इसके वक्ता स्वयं श्रीमन्-नारायण हैं, यह बात महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्म-पर्व के ३४९ अः६८ श्लोक में विशेषरूप से उल्लिखित है। श्रीनारदादि भ्रमादि चारों दोष-रहित दिव्य-सूरिवृन्द इसके प्रवर्त्तक हैं। श्रीभागवत ग्रन्थ भी 'सात्वत-संहिता' नाम से परिचित है। इस पांचरात्रिक मत के पूर्णतः विपरीत एवं विरुद्धभावापन्न कथाओं को पंच-रात्रिक-मत के रूप में पूर्वपक्ष मानकर तर्क उत्थापन-पूर्वक इसका खण्डन-प्रयास—न्याय एवं सत्य का निरतिशय अपलापमात्र (बे-मतलब बकवास) है, उसका संक्षेप में खंडन किया जा रहा है—

१) ४२ संख्यक सूत्र के भाष्य में श्रीपाद शंकर ने संकर्षण को 'जीव' कहा है, वास्तव में भागवतवृन्द ने संकर्षण को कभी भी 'जीव' नहीं कहा, वे स्वयं अधोक्षज, अच्युत, विष्णु-वस्तु, जीवों के अधिष्ठातृ-देवता, पूर्ण, अंशी, विभुचैतन्य, यावतीय प्राकृताप्राकृत् सर्ग (सृष्टि) के कारण हैं,—अणुचैतन्य अंश जीव नहीं है। जीवात्मा का जन्म एवं मृत्यु नहीं है—यह बात भागवतवृन्द एवं कोई भी श्रौतपन्थी शास्त्रद्रष्टा व शास्त्रश्रोता स्वीकार करेंगे।

२) ४३ संख्यक सूत्र के भाष्य के उत्तर में मूल-संकर्षण से अन्यान्य यावतीय-विष्णुतत्त्व के प्राकट्य के विषय में 'ब्रह्म-संहिता' में उक्त हुआ है—"दीपार्च्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य दीपायते विवृतहेतु-समानधर्मा। यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि"॥ अर्थात् 'दीपरश्मियाँ जिस प्रकार भिन्न आधार में पृथक् दीप की भाँति कार्य करती हैं, अर्थात् पूर्वदीप की भाँति समान धर्मस्वरूप हैं, उसी प्रकार जो आदिपुरुष गोविन्द विष्णु के रूप में प्रकाश पा रहे हैं, उनका मैं भजन करता हूँ।'

३) ४४ संख्यक सूत्र के भाष्य में 'ये सब परस्पर भिन्न हैं, एकात्मक नहीं है'—श्रीपाद के इस पूर्वपक्ष को पांचरात्रिकगण कभी भी निजमत के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। श्रीपाद शंकर के अपने ही ४२ सूत्र के भाष्य में पूर्वोल्लिखित स्वीकृत मतानुसार ("स आत्मा-त्मानमनेकधा व्यूहावस्थित इति, तन्न निराक्रियते" अर्थात् "वे जो स्वयं ही अनेकों प्रकार व्यूह भाव में अवस्थित अथवा विराजमान हैं, उन्हें भी हम श्रुति-संगत स्वीकार करते हैं।") उनका यह सूत्र पूर्वपक्ष की आपत्ति का विरोधी है, अर्थात् उनके ४४ सूत्र के भाष्य एवं ४२ सूत्र के भाष्य का वक्तव्य परस्पर विरोधी है—जो वे पहले

स्वीकार कर चुके हैं, उसका ही अब पूर्वपक्ष के रूप में रखकर खण्डन करने की चेष्टा कर रहे है। ऐसा नहीं कि, भागवत- वृन्द ने नारायण को चतुर्व्यूह स्वीकार करने से 'वह्वीश्वरवाद' को स्वीकार किया है—वे सब तत्त्ववस्तु को अद्वयज्ञान भगवान् के रूप में ही जानते हैं—भागवतगण कभी भी वेदविरोधी 'वह्वीश्वरवादी नहीं हैं। वे सब श्रीनारायण की अचिन्त्य-महाशक्ति-मत्ता में दृढ़विश्वासी हैं। लघुभागवतामृत का मर्मानुवाद द्रष्टव्य है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध,—इन चारों तत्त्वों में कार्य-कारण भाव विद्यमान नहीं है—"नान्यत् यत् सदसदपरः:" "देहदेहीविभेदोऽयं नेश्वरे विद्यते क्वचित्" (कूर्मपुराण), वे सभी मायाधीशतत्त्व, शुद्ध-सत्त्व के अधिष्ठाता व तुरीय हैं, उन सबके प्रकाश में माया का कोई विक्रम अथवा विकार या परिणाम अथवा खण्डता नहीं रह सकती। वे सब एक ही अद्वयज्ञान, अधोक्षज एवं पूर्णवस्तु हैं; श्रुतिप्रमाण—"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा-वशिष्यते॥" (वृःआः५।९)। आब्रह्मस्तम्ब अथवा भगवान् विष्णु के स्थूल बहिरंग को शक्ति-त्रयाधीश श्रीचतुर्व्यूह के साथ एक या समानज्ञान करना चिदचित्स-मन्वयवादी का वृथा प्रयास एवं नितान्त भगवद्‌विरोध-मूलक नास्तिक्यवाद-मात्र है। आब्रह्मस्तम्ब अथवा विश्वरूप विष्णु का बहिरंगवैभव—एकपाद-विभूति, माया या प्रकृति के साथ सम्बन्धयुक्त है, अतः प्राकृत है, उसके साथ चिदचित् के ईश्वर चतुर्व्यूह का साम्य-ज्ञान अथवा इसका प्रयास—मायावादियों का धर्म है।

४) ४५ संख्यक भाष्य के उत्तर में लघुभागवतामृत में उल्लिखित भगवद्‌गुणों के अप्राकृतत्त्व-वर्णन के प्रसंग में (९७-९९ संख्या) उद्धृत वचन के मर्म्मानुवाद, जैसे—'यदि कहो कि, गुणमात्र ही प्रकृति का कार्य है, अतएव मृगमरीचिकासदृश है, इसकी गिनती नहीं की जा सकती, इसमें और आश्चर्य होने की बात क्या है? आप ऐसा नहीं कह सकते। भगवान् का गुण कभी भी प्राकृत नहीं हो सकता; उनके समस्त गुण ही उनके स्वरूपभूत हैं, अतएव वे सब गुण निश्चय ही सुखस्वरूप हैं।' जैसे ब्रह्मतर्क में—"भगवान् हरि स्व-स्वरूपभूत गुणों से गुणवान् हैं, अतः विष्णु एवं मुक्त-जीवों का गुण कभी भी स्व-स्वरूप से पृथक नहीं है।" श्रीविष्णुपुराण में—"जिन परमेश्वर में सत्त्वादि प्राकृतगुणों का संसर्ग नहीं है, वही परमशुद्ध आदिपुरुष हरि प्रसन्न हो जायें।" जैसे उसी विष्णुपुराण में ही—"हेय अर्थात् प्राकृत गुण व्यतीत समग्र ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेजः,—ये सब भगवत्-शब्द के अभिधेय हैं।" पद्म-पुराण में भी—"परमेश्वर जिन शास्त्रों में 'निर्गुण' के रूप में कीर्त्तित हैं, इसके द्वारा उनमें हेय अथवा प्राकृत गुणों का अभाव ही परिलक्षित हुआ है।" प्रथम स्कन्द के प्रथम अध्याय में भी—"हे धर्म, हमने जिन सभी गुणों का कीर्तन किया है, वही गुणपरम्परा एवं अन्यान्य महागुणराशि जिन श्रीकृष्ण में नित्य विराजमान हैं, महानता के अभिलाषी व्यक्ति-गण जिन सब गुणों के लिये प्रार्थना करते हैं, वे सब गुणावलियाँ कभी भी श्रीकृष्ण से वियुक्त (अलग) नहीं होती।" इति। अतएव श्रीकृष्ण असंख्य-अप्राकृत-गुणशाली, अपरिमित-शक्तिविशिष्ट एवं पूर्णानन्दघन-विग्रहस्वरूप हैं। भाः ३।२६।२१,२५,२७,२८ द्रष्टव्य है।

श्रीरामानुजपाद ने अपने द्वारा रचित श्रीभाष्य में जो शांकर युक्ति का खण्डन किया है, उसका मर्मानुवाद—

'भगवान् के द्वारा उक्त परममंगलसाधन पंचरात्र-शास्त्र के भी किसी-किसी अंश को कपिलादि-शास्त्र की भाँति श्रुतिविरुद्ध जानकर अप्रामाणिकता की आशंका करके श्रीशंकर ने इसका निरास किया है। पंचरात्र शास्त्र में कथित है कि,—परमकारण ब्रह्मस्वरूप वासुदेव से 'संकर्षण' नामक जीव की उत्पत्ति हुई है, संकर्षण से 'प्रद्युम्न' नामक मन की उत्पत्ति एवं मन से 'अनिरुद्ध' नामक अहंकार की उत्पत्ति हुई है।' परन्तु यहाँ 'जीवों की उत्पत्ति' ऐसा कहना संगत नहीं है; क्योंकि, वह श्रुतिविरुद्ध है। "चिन्मय जीवात्मा का कभी भी जन्म या मृत्यु नहीं होता" (कठ २।१८) इस वचन से सारी श्रुतियाँ ने जीवों के अनादित्व अथवा उत्पत्ति-राहित्य के

बारे में कहा है; अतएव जीव, मन एवं अहंकार के अधिष्ठातृ-देवों का आविर्भाव ही उद्दिष्ट हुआ है (४२ सू:)।

संकर्षण से प्रद्युम्न-नामक मन की उत्पत्ति कथित है। यहाँ भी कर्त्ता-जीव से करण-मन की उत्पत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि, "परमात्मा से ही प्राण, मन एवं इन्द्रिय सभी की उत्पत्ति होती है" श्रुति ने ऐसा ही कहा है। अतएव यदि जीव से मन की उत्पत्ति कथित होती है, तो "परमात्मा से ही इन सबकी उत्पत्ति होती हैं" इस प्रकार श्रुति- वचन के साथ उसका विरोध होता है। अतएव यह वचन श्रुतिविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है, इस कारण इसकी प्रामाणिकता का प्रतिषेध (निषेध) हो रहा है (४३ सू:)।

संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध,—इन सबमें परब्रह्म-भाव विद्यमान रहने के कारण तत्-प्रतिपादक शास्त्रों की प्रामाणिकता कभी भी प्रतिषिद्ध (निषिद्ध) नहीं हो सकती, अर्थात् यह संकर्षणादि-व्यूह साधारण जीवों की भाँति मायावशयोग्य के रूप में अभिप्रेत नहीं है—ये सभी ईश्वर हैं—सभी ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य एवं तेजः आदि षडैश्वर्यसम्पन्न हैं, अतएव पंचरात्र का मत अप्रामाणिक नहीं है। जो लोग पंचरात्र अथवा भागवत- प्रक्रिया से अनभिज्ञ हैं, उन सबके लिये ही 'जीवोत्पत्तिरूप विरुद्ध-वचन अभिहित हुए हैं—इस प्रकार अशास्त्रीय वचन कहना सम्भव है। भागवत प्रक्रिया इस प्रकार है—जो निजाश्रित भक्तवत्सल हैं, वासुदेव नामक परब्रह्म के रूप में कथित हैं, वे अपनी इच्छानुसार स्वाश्रित व समश्रेणीयता के लिये चार प्रकार से अवस्थान करते है; जैसे पौष्कर-संहिता में इस प्रकार कथित है कि—'जहाँ (शास्त्रों में) ब्राह्मणों के द्वारा क्रमानुसार संज्ञासमूह से अवश्यकर्त्तव्य के रूप में चातुरात्म्य (चतुर्व्यूह) उपासित होते है, वे सब शास्त्र ही 'आगम' हैं। उन चातुरात्म्य की उपासना जो वासुदेवाख्य परब्रह्म की ही उपासना है, वह सात्वत-संहिता में भी कथित है। वासुदेव नामक परमब्रह्म, सम्पूर्ण षड्गुणशाली श्रीअंग, सूक्ष्म, व्यूह एवं विभव, ये सब भेद-भिन्न हैं एवं अधिकारानुसार भक्तवृन्द के द्वारा ज्ञानपूर्वक कर्ममार्ग में अर्च्चित होकर सम्यक्‌रूप से लब्ध होते हैं। विभव अर्थात् नृसिंह, रघुनाथ अथवा मत्स्य-कूर्मादि अवतारों के अर्च्चन से संकर्षणादि व्यूह की प्राप्ति एवं व्यूह के अर्च्चन से वासुदेव नामक परमब्रह्म की प्राप्ति होती है। क्योंकि पौष्कर-संहिता में कथित है कि—'इन शास्त्रों से ज्ञानपूर्वक कर्म के द्वारा वासुदेव नामक अव्यय परमब्रह्म की प्राप्ति होती है। अतएव संकर्षणादि का भी परब्रह्मत्व सिद्ध हो चुका है, क्योंकि, वे सब भी अपनी इच्छानुसार विग्रहविशिष्ट हैं। वे प्राकृत की भाँति जन्मग्रहण किये बिना बहुरूपों में अवतीर्ण अथवा प्रकटित होते हैं।' यही श्रुतिसिद्ध है। आश्रित-वात्सल्य-निमित्त स्वेच्छानुसार मूर्त्ति धारण करने के कारण इसके अभिधायक (प्रतिपादक) इस पंचरात्र-शास्त्र की प्रामाणिकता प्रतिषिद्ध नहीं है। इस शास्त्र में संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—क्रमानुसार जीव, मन एवं अहंकार, इन सत्त्वसमूहों के अधिष्ठातृदेव हैं—इसलिए इन सबको जो 'जीवादि'—शब्द से अभिहित किया गया है, इसमें विरोध नहीं है। जैसे, 'आकाश' एवं 'प्राणादि' शब्द से ब्रह्म का अभिधान होता है, उसी प्रकार (४४ सू:)।

इस शास्त्र में जीवोत्पत्ति प्रतिषिद्ध हुई है। क्योंकि परमसंहिता में कथित है कि,—'अचेतन, परार्थसाधक, सदैव विकारयोग्य त्रिगुण ही कर्मियों का क्षेत्र है—यही प्रकृति का रूप है। इसके साथ पुरुष का सम्बन्ध व्याप्ति-रूप में सर्वव्यापी है, और ये जो अनादि हैं, यह भी सत्य है।' इस प्रकार से सभी संहिता-समूहों में ही 'जीव' नित्य है, इस कारण पंचरात्र के मतानुसार इसकी उत्पत्ति प्रतिषिद्ध हुई है। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है,—जीवों की उत्पत्ति को स्वीकार करने पर विनाश को भी स्वीकार करना होगा, परन्तु जीव जब नित्य है, तब नित्यता-हेतु इसकी उत्पत्ति अपने आप प्रतिषिद्ध होगी। पूर्व में परमसंहिता में उक्त है—'प्रकृति का रूप सदैव विकारयुक्त है,' अतएव उत्पत्ति एवं विनाश आदि को 'सदैव विकार' के अन्तर्भुक्त जानना होगा। अतः संकर्षण आदि जीवरूप में उत्पन्न होते हैं, कहकर

शंकराचार्य ने जो दोष दिया है, उसे निराकृत कर दिया गया (४५ सू:)। (भा: ३।१।३४) श्रीधर टीका द्रष्टव्य है।

श्रीपाद शंकर के इस चतुर्व्यूह-वाद-खण्डन का विस्तृत निरास जानने की इच्छा होने पर श्रीभाष्य के श्रीमत् सुदर्शनाचार्यकृत "श्रुतप्रकाशिका" टीका अवलोकनीय है।

४८। मूल में 'अंश'—पाठ है, अमृत-प्रवाहभाष्य में 'अंग'-पाठ है—दोनों ही एकार्थ प्रतिपादक हैं।

आदिलीला के मङ्गलाचरण के १४ श्लोकों में से नवम श्लोक का अर्थ—
(श्रीस्वरूपगोस्वामी कड़चा का श्लोक)

मायाभर्त्ताजांडसंघाश्रयांगः
शेते साक्षात् कारणाम्भोधिमध्ये।
यस्यैकांशः श्रीपुमानादिदेव-
स्तं श्रीनित्यानन्दरामं प्रपद्ये॥५०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५०। माया के अधीश्वर, ब्रह्माण्डों के आश्रय स्वरूप कारणब्धिशायी, आदिदेव पुरुषावतार भी जिनके एक अंश स्वरूप हैं—उन श्रीनित्यानन्द राम को मैं प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

५०। साक्षात् मायाभर्त्ता (मायायाः भर्त्ता अधीश्वरः) अजाण्डसंघाश्रयांगः (अजाण्डानां ब्रह्माण्डानां संघः समूहः तस्य आश्रयः अंगं यस्य सः) कारणाम्भोधिमध्ये (कारण-समुद्र जलोपरि) शेते (असौ) श्रीपुमान् आदिदेवः (आदि पुरुषावतारः) यस्य (श्रीनित्यानन्दस्य) एकांशः तं श्रीनित्यानन्दरामं (अहं) प्रपद्ये।

कारणवारि-वर्णन—

वैकुण्ठ-बाहिरे येइ ज्योतिर्मय धाम।
ताहार बाहिरे 'कारणार्णव' नाम॥५१॥

५१। प० अनु०—वैकुण्ठ के बाहर जो ज्योतिर्मय धाम है, उसके बाहर 'कारणार्णव' अर्थात् कारणसमुद्र स्थित है।

परव्योम-सीमा पर कारण-सागर—

वैकुण्ठ बेड़िया एक आछे जलनिधि।
अनन्त, अपार—तार नाहिक अवधि॥५२॥

५२। प० अनु—वैकुण्ठ को घेरे हुए एक अनन्त, अपार जलनिधि विद्यमान है जिसकी सीमा की गिनती नहीं है।

अनुभाष्य

५२। जलनिधि—'विरजा' या 'कारणवारि' (मध्य, १५ प: १७५-१७६ संख्या; मध्य २० प: २६८-२६९ संख्या एवं मध्य २१ प: ५२ संख्या द्रष्टव्य है)।

वैकुण्ठ में स्थित महाभूतादि मायातीत—

वैकुण्ठेर पृथिव्यादि सकल चिन्मय।
मायिक भूतेर तथि जन्म नाहि हय॥५३॥

५३। प० अनु०—वैकुण्ठ के पृथ्वीादि सबकुछ चिन्मय है। मायिक पञ्चभूतों की वहाँ सृष्टि ही नहीं होती।

अनुभाष्य

५३। मायिक भूत—भूमि आदि पञ्चमहाभूत।

कारण-वारि की चिन्मयता—

चिन्मय-जल सेइ परम-कारण।
यार एक कणा गंगा पतितपावन॥५४॥

५४। प० अनु०—वह चिन्मय जल परम कारण स्वरूप है जिसका एक कण पतित पावनी गङ्गा है।

अनुभाष्य

५४। कारण—माया-सम्बन्धयुक्त उपाधि होने पर भी जो वस्तुतः रजोगुण, तमोगुण के मिश्रण से रहित है अथवा सत्त्वमय है। आदि, २य प: ५३ संख्या द्रष्टव्य है।

परव्योम में स्थित सङ्कर्षण ही एक अंश में कारणार्णवशायी—

सेइ त' कारणार्णवे सेइ संकर्षण।
आपनार एक अंशे करेन शयन॥५५॥

५५। प० अनु—उसी कारणार्णव में वे ही सङ्कर्षण अपने एक अंश से शयन करते हैं।

वे ही आदि पुरुषावतार एवं माया के ईक्षण-कर्त्ता—

महत्स्रष्टा पुरुष, तिंहो जगत्-कारण।
आद्य-अवतार करे मायार दरशन॥५६॥

५६। प० अनु॰—वे महतत्त्व की सृष्टि करनेवाले एवं जगत् के कारण हैं। वे ही आद्य अवतार अर्थात् भगवान् के प्रथम अवतार, माया के प्रति दृष्टि करनेवाले हैं।

कारण-समुद्र में मायास्पर्श का अभाव—

मायाशक्ति रहे कारणाब्धिर बाहिरे।
कारण-समुद्र माया परशिते नारे॥५७॥

५७। प० अनु—मायाशक्ति कारणसमुद्र के बाहर स्थित है। वे कारणसमुद्र को स्पर्श करने में असमर्थ है।

माया के दो रूप, 'प्रधान' एवं 'प्रकृति'—

सेइ त' मायार दुइ-विध, अवस्थिति।
जगतेर उपादान 'प्रधान', 'प्रकृति'॥५८॥

५८। प० अनु॰—उस माया की दो प्रकार की अवस्थिति है जगत् के उपादान कारण के रूप में 'प्रधान' एवं जगत् के निमित्त कारण के रूप में 'प्रकृति'।

अनुभाष्य

५८। 'प्रधान' एवं 'प्रकृति'—मध्य, २० प:२७१ द्रष्टव्य है।

श्रीजीवप्रभु ने परमात्मसन्दर्भ (४९ संख्या) में लिखा है—'तस्याः मायायाश्चांशद्वयम्। तत्र-गुणरूपस्य माया-ख्यस्य निमित्तांशस्य, द्रव्यरूपस्य प्रधानाख्यस्योपादा-नांशस्य च, परस्परं भेदमाह चतुर्भिः—(भाः ११।२४।१-४)'। ** (५३ संख्या) अन्यत्र (भाः दशम स्कन्द; ५३अध्याय २६)—तयोरुपादाननिमित्तयोरंशेन वृत्तिभेदेन भेदान-प्याह—'कालो दैवं कर्म्म जीवः स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राणमात्मा विकारः। तत् संघातो बीजरोह-प्रवाहस्तन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये॥' अत्र कालदैव-कर्म-स्वभावा निमित्तांशाः अन्ये उपादानांशाः तद्वान् जीवस्तूभया-त्मकस्तथोपादानवर्गे निमित्त-शक्त्ययंशोऽप्यनुवर्त्तते।' *** (५५संख्या में) 'निमित्तांशरूपया मायाख्ययैव प्रसिद्धा शक्ति-स्त्रिधा दृश्यतेज्ञानेच्छाक्रिया-रूपत्वेन।' *** अथोपादानांशस्य प्रधानस्य लक्षणं—(भाः ३।२६।१०) 'यत्तं त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्। प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्॥' यत् खलु त्रिगुणं सत्त्वादि-गुणत्रयसमाहारस्तदेवाव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिञ्च प्राहुः। तत्रा-व्यक्तसंज्ञत्वे हेतुः—'अविशेषं गुणत्रय- साम्य-रूपत्वाद-नभिव्यक्तविशेषम्, अतएवाव्याकृतसंज्ञञ्चेति गमितम्। प्रधानसंज्ञत्वे हेतुः—विशेषवत् स्वांश-कार्यरूपाणां महदा-दिविशेषाणामाश्रयरूपतया तेभ्यः श्रेष्ठम्। *** निमित्तांशो माया, उपादानांश प्रधानमिति।" 'भगवान् की बहिरङ्गा-शक्ति माया के दो अंश हैं'—इनमें निमित्तांश 'गुणरूपा माया' एवं उपादानांश 'द्रव्यरूप प्रधान'—इन दोनों संज्ञाओं का परस्पर भेद भागवत के एकादश स्कन्द के २४अध्याय के चार श्लोकों में वर्णित है। अन्यत्र दशमस्कन्द के ६३अध्याय के २६श्लोक में उपादान एवं निमित्त,—दोनों अंशों के वृत्ति-भेदानुसार विभाग कथित हैं—"हे भगवन्, क्षोभक 'काल', निमित्त 'कर्म', फलाभिमुखप्रकाश 'दैव', तत्संस्कार 'स्वभाव'— ये चारों माया के निमित्तांशविशिष्ट बद्धजीव, सूक्ष्मभूत समूह 'द्रव्य', प्रकृति 'क्षेत्र', सूत्र 'प्राण', अहंकार 'आत्मा', एवं एकादशेन्द्रिय व क्षिति, जल, तेज, मरुत् एवं व्योम, ये सोलह विकार—इन सबका एकत्रसमाष्टि (मिलन) है 'देह'। देह से बीजरूप कर्म, कर्म से अंकुररूप देह—इस प्रकार पुनः पुनः प्रवाह,—यही 'माया' है। हे प्रभो, आप निषेध के अवधिभूत तत्त्व हैं, आपका भजन करता हूँ। 'जीव निमित्तशक्तिका अंश होने पर भी, उभयात्मक अंशविशिष्ट जीव उपादानवर्ग का भी अनुसरण करता है। निमित्तांशरूपा 'माया'—शब्द से प्रसिद्धा शक्ति के तीन विभाग दिखाई देते हैं—'ज्ञान', 'इच्छा' एवं 'क्रिया'। उपादानांश 'प्रधान' का लक्षण है। "जिसमें सत्त्वरजस्तमो तीनों गुणों का समाहार है, वही

'अव्यक्त' 'प्रधान' एवं 'प्रकृति' के रूप में कथित है। 'अव्यक्त' संज्ञानिर्देश का कारण यही है कि, विशेषरहित अर्थात् त्रिगुणसाम्य होने के कारण विशेषधर्म अप्रकाशित है, अतएव प्रधान को 'अव्याकृत' संज्ञा की प्राप्ति हुई है। 'प्रधान' संज्ञा का कारण—विशेष की भाँति माया के अपने कार्यरूप महत्तत्त्वादि विशेषसमूह के आश्रयरूप होने के कारण उन सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ है," ** निमित्तांश में 'माया' एवं उपादानांश में 'प्रधान'।

गुणमयी माया कभी भी
मुख्य-जगत्कारण नहीं—

जगत्कारण नहे प्रकृति जड़रूपा।
शक्ति संचारिया तारे कृष्ण करे कृपा॥५९॥

५९। प० अनु०—जड़रूपा प्रकृति जगत् का कारण नहीं है। श्रीकृष्ण कृपा करके उसमें अपनी शक्ति सञ्चार करते हैं।

भगवदीक्षण के प्रभाव से प्रकृति
जगत् का गौण-कारण—

कृष्णशक्त्ये प्रकृति हय गौण कारण।
अग्निशक्त्ये लौह यैछे करये जारण॥६०॥

६०। प० अनु०—श्रीकृष्ण की शक्ति से प्रकृति जगत् की गौण कारणस्वरूप है, जैसे अग्नि की शक्ति से लोहा में जलाने की शक्ति आ जाती है।

भगवान् ही जगत् के मूल-कारण—

अतएव कृष्ण मूल-जगतकारण।
प्रकृति—कारण, यैछे अजागलस्तन॥६१॥

६१। प० अनु०—अतएव श्रीकृष्ण ही जगत् के मूल-कारणस्वरूप हैं और प्रकृति अजागलस्तन अर्थात् (बकरी के गले में लटकने वाले स्तन की भाँति) गौण कारण स्वरूप है।

अनुभाष्य

५९-६१। मध्य २०श प:२५९-२६१ संख्या द्रष्टव्य है। बहिरङ्गा मायाशक्ति जगत् के उपादानांश में 'प्रधान' एवं 'प्रकृति' नाम से प्रसिद्ध है एवं जगत् के निमित्तांश में 'माया' नाम से ख्यात है। जड़रूपा प्रकृति जगत् का कारण नहीं है, क्योंकि कारणार्णवशायी महाविष्णु के रूप में कृष्ण प्रकृति में उपादान अथवा द्रव्यशक्ति-प्रदानपूर्वक शक्ति-संचार करते हैं। द्रष्टान्त-स्वरूप—तप्तलोहे की उपमा; जिस प्रकार से लोहे में दहन अथवा ताप-प्रदान-आदि 'शक्ति' नहीं है, किन्तु अग्नि के स्पर्श से तप्तलोहा अन्यवस्तु का दहन करने एवं ताप देने में समर्थ है, उसी प्रकार लौहरूपा जड़ा-प्रकृति में द्रव्य अथवा उपादान बनने की स्वतन्त्रता नहीं है। अग्नि-सदृश कारणोदकशायी की ईक्षणशक्ति के संचारित होने पर ही लौहसदृश प्रकृति उपादानप्रतिमास्वरूप दाहिका अथवा तापप्रदायिनी शक्तिविशिष्टा होती है। उपादान परिचय से ख्यात प्रकृति को उपादान-कारण समझना भ्रान्तिमात्र है। श्रीकपिलदेव ने भी कहा है (भाः ३।२८।४०),—'यथोल्मुकाद्विस्फुलिगांत् धूमाद्वापिस्वसम्भवात्। अप्यात्म-त्वेनाभिमताद् यथाग्निः पृथगुल्मुकात्॥" यद्यपि धूम, ज्वलन्त काष्ठ व विस्फुलिंग में अग्नि का उपादान वर्तमान रहने से अग्नि के साथ एकवस्तु के रूप में उक्त होते हैं, तथापि उल्मुक (ज्वलन्त काष्ठ) से अग्नि पृथक् वस्तु है; धूमस्थानीय 'भूत समूह', विस्फुलिंगस्थानीय 'जीव' एवं उल्मुकस्थानीय 'प्रधान',—सभी, अग्नि-स्थानीय सर्वोपादान भगवान् से शक्तिसमूह प्राप्त करके ही निज-निज पृथक् परिचय देते हैं, ऐसा होने पर भी सभी के उपादान वही भगवान् हैं। जगत् के उपादान के रूप में जिस 'प्रधान' को स्थिर किया जाता है, उस प्रधान में भगवान् के द्वारा निहित उपादान से ही इस प्रकार का परिचय विद्यमान है। 'प्रधान' भगवान् से स्वतन्त्र उपादान के रूप में पृथक् विषय नहीं हो सकता। उपादान-मूलाश्रय कृष्ण को विस्मृत कर के सांख्य की उपादानता प्रकृति में आरोपित करना, अजा के गलदेश-स्थित स्तनाकार मांसपिण्ड की दुग्धप्रदान में असमर्थता की भाँति निष्फलमात्र है।

श्रीनारायण ही निमित्तकारण—

माया-अंशे कहि तारे निमित्त-कारण।
सेइ नेह, याते कर्त्ता-हेतु—नारायण॥६२॥

६२। प० अनु—कुछ लोग गुणमाया अंश को जगत् का निमित्त कारण मानते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। जगत् के निमित्त कारण नारायण ही हैं।

मूल-परिचालक विभुचैतन्य भगवान्—

घटेर निमित्त-हेतु यैछे कुम्भकार।
तैछे जगतेर कर्त्ता—पुरुषावतार॥६३॥

६३। प० अनु—कुम्भकार (कुम्हार) जैसे घट (घड़ा) का निमित्त-कारण स्वरूप है, वैसे पुरुषावतार ही जगत् के कर्त्ता हैं।

माया द्वारा कृष्ण की जगत्सृष्टि—

कृष्ण-कर्त्ता, माया ताँर करेन सहाय।
घटेर कारण—चक्र-दण्डादि उपाय॥६४॥

६४। प० अनु—जैसे घड़ा बनाने में चक्र, दण्डादि सहायक मात्र हैं। उसी प्रकार जगत् की रचना करने में माया भी श्रीकृष्ण की केवल सहायता मात्र करती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

५१-६४। परव्योमधाम के बाहर ज्योतिर्मय 'ब्रह्मधाम' और उसके बाहर 'कारण-समुद्र' विराजमान है। चिन्मय जगत् कारण-शून्य है; माया कारणमयी है। इन दोनों के बीच में स्थित स्थल को चिन्मयजलनिधि के भाव में 'कारण-समुद्र' कहा गया है। क्योंकि, वह जलशायी भगवदीक्षण ही उसके बाहर स्थित माया को लक्ष्य करके सृष्टि आदि क्रियाएँ करता है। सृष्ट्यादि-क्रियारहित श्रीकृष्ण एवं परव्योमनाथ के स्वरूप में कोई माया-सम्बधिनी क्रिया नहीं होती। महासंकर्षण अपने सुदूर ईक्षणांश में उस अर्णव में शायित अवस्था में महत्तत्त्व का सृजन करते हैं, वह आदि अवतार है। कारणसागर के बाहर मायाशक्ति अवस्थान करती है; भगवान् उसके प्रति दृष्टिपात करते हैं। माया कारण-समुद्र को स्पर्श नहीं कर सकती। भगवदीक्षण माया में प्रविष्ट होकर माया को क्रियाशील करता है। माया दो प्रकार से अवस्थान करती है—जगत् का उपादानरूप 'प्रधान' एवं जगत् का निमित्त-रूप 'माया'। प्रकृति वस्तुतः जड़रूपा है। भगवदीक्षणशक्ति संचारित होने पर प्रकृति उसी शक्ति के बल पर जगत्-सृष्टि-हेतु 'गौण-कारण' होती है—अग्नि जिस प्रकार से लोहे में प्रवेशपूर्वक लोहे को जलाने की शक्ति प्रदान करती है, वैसे ही। अतः कृष्ण ही मूल जगत्-कारण हैं; अजागलस्तन की भाँति प्रकृति द्रव्यरूप कारण है। माया-अंश में अर्थात् गुणरूप अंश में जो निमित्तकारण कहा जाता है, उसमें भी नारायण ही निमित्त- कारण हैं। घट के निर्माण में चक्रदण्डादि एवं कुम्हार,—ये सब निमित्त-कारण है। नारायण—कुम्हारस्थानीय (मुख्य) निमित्त-कारण हैं एवं माया—चक्रदण्डादिस्थानीय (गौण) निमित्त-कारण है। अतएव जैसे कुम्हार के बिना घट का निर्माण सम्भव नहीं है, वैसे ही नारायण के बिना जगत् का होना भी सम्भव नहीं है। चक्रदण्डस्थानीय गुणरूप निमित्तकारण, मूल-निमित्त कारण नारायण के सहायक के रूप में कार्य करते हैं।

कारणाब्धिशायी के द्वारा माया के प्रति ईक्षण एवं जीवों का प्राक्टय-विधान—

दूर हैते पुरुष करे मायाते अवधान।
जीवरूप वीर्य ताते करेन आधान॥६५॥

६५। प० अनु—कारणाब्धिशायी पुरुष दूर से ही माया के प्रति दृष्टि पात करके उसमें जीवरूप वीर्य का आधान करते हैं।

अङ्ग के आभास से मायास्पर्शहेतु भगवान् ही उपादान- कारण—

एक अंगाभासे करे मायाते मिलन।
माया हैते जन्मे तबे ब्रह्माण्डेर गण॥६६॥

६६। प० अनु—एक अङ्गाभास से भगवान् माया के साथ मिलित होते हैं, फिर माया से ब्रह्माण्डसमूह का जन्म होता है।

अनुभाष्य

५९-६६। वैदिक-विचार में—वस्तु से ही शक्ति के योग में बद्धजीवों के निकट सृष्ट जगत् प्रकाशित है। अवैदिक-विचार में—दृश्यजगत् प्रकृति से उत्पन्न है। वस्तुशक्ति की त्रिविधा वृत्ति है—चित, अचित् एवं उभयमयी (चिद्चित्)। अश्रौत-पथावलम्बी कोई-कोई समझते हैं कि, जड़ा प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति हुई है। वैदिक-विचार में यह सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं है। भगवद्-वस्तु चिन्मयी शक्ति के साथ अभिन्न है। अचिन्मयी शक्ति में चिच्छक्ति संचारित होकर तात्कालिक नश्वर चिद्भावा-भास प्रकाशित होता है। भगवान् की चिद्-चित्मिश्र तटस्थाख्य जीव-शक्ति नित्यकाल चिन्मयी-शक्ति के अनुगत होने पर भी अनादिकाल से अचित्शक्ति-परिणत दृश्यजगत् में भ्रमण के उपयोगी है। वस्तु से विच्छिन्न होकर चिन्मात्र के अपव्यवहार के कारण जीवों में बद्धानुभूति विद्यमान है। वास्तव में जीव अपने स्वरूप से अवगत होने पर जान पाते हैं कि, सेवोन्मुखता ही उसकी अपनी चरममंगल की भूमिका है। जिस समय वे सेवाविमुख होते हैं, उस समय वही तटस्थाख्य-शक्ति अपने आपको शक्तिमत्तत्त्व समझकर भोग में प्रवृत्त हो जाती है। उसके इन्द्रियसमूह अचित् के प्रभु होने के लिये चिन्मात्र-शक्ति के विपरीत अनुष्ठान कर बैठतें हैं। कृष्ण की निजशक्ति के द्वारा ही उनकी विजातीय अचिच्छक्ति में शक्ति अर्पित होती है। उदाहरण-स्वरूप—अग्नि एवं अग्नि की दाहिका-शक्ति निरग्निक लोहे में संचारित होकर लोहे को अग्नि-परिचय में प्रकाशित करती है। वास्तव में अचिच्छक्ति कृष्ण की चिच्छक्ति से ही क्रिया प्राप्त करती है। तटस्थाख्य जीव अचिच्छक्ति के प्रभाव से चालित होकर समझते हैं कि, दृश्य जड-जगत् प्रकृति से उत्पन्न हुआ है। किन्तु चिन्मात्र में अवस्थित मुक्तजीव समझ पाते हैं कि, शक्तिमान की चिच्छक्ति ही अचिच्छक्ति में आंशिक बल विधान-पूर्वक उसे क्रिया-शील बनाती है। अचिच्छक्ति की मूल-कारण प्रकृति अनेक प्रकार से अनुपादेयता (हेयता), परिछिन्नता एवं अवरता का आह्वान करती है। बद्धभिमान में तर्कपथावलम्बी जीव अजा (बकरी) के दुग्ध-प्रसवी स्तन को देखकर भी उसके गलदेश में स्थित स्तनाकर स्थान से जिस प्रकार दुग्ध-प्रार्थना में विफल मनोरथ होते हैं, उसी प्रकार अचित्मूला प्रकृति को अचिद् जगत् के कारण के रूप में निर्देशित करना भी वैसी ही निर्बुद्धिता है। भगवान् की अचित्शक्ति 'माया'—'निमित्त' एवं 'उपादान' के रूप में हरिविमुख जीवों के समक्ष प्रतिभात होकर सत्यवस्तु-ग्रहण से पराङ्मुख बना देती है। जीव स्वरूपज्ञान के उदय के समय अचिच्छक्ति की 'आवरणी' एवं 'विक्षेपात्मिका'—इन दो चेष्टाओं को लक्ष्य करते हैं। जिस प्रकार से घटरूप द्रव्य के दो कारण हैं, इनमें निमित्त-कारण के रूप में कुम्हार एवं उपादान-कारण व उपाय के रूप में मृत्तिका और चक्र-दण्डादि स्थिरीकृत होते हैं, उसी प्रकार दृश्यजगत् एवं भूतसमूह के नियामक वस्तुविचार में शक्तिमत्तत्त्व ही निर्दिष्ट है। शक्ति-भेद-विचार से त्रिगुणमयी माया, गुणों के द्वारा उपादानांश भूत-समूह की परिचालना करती है। तटस्थाख्य शक्ति जीव इस दृश्यजगत् में हरिविमुख होकर भोक्तृत्व ग्रहण करते हैं। दृश्यजगत् में वस्तु की अचित-प्रतीति कृष्ण-विमुखता का फलमात्र है। अचित् प्रतीति में भोग का अर्थात् इन्द्रियपरायणता का दृष्टान्त है, किन्तु सेवोन्मुख जीव की भगवत् प्रतीति में निज सम्बन्ध-दर्शन विद्यमान है। कृष्ण ही नित्य चिज्जगत् के कारण हैं, एवं वही आवृत्त सत्य अचित् जगत् के कारण तथा तटस्थाख्य जीव के मूल कारण एवं विधाता हैं। अचित् प्रतीति—भगवान् की बहिरंगा-शक्ति की क्रिया है, और चित्-प्रतीति—अन्तरंगा-शक्ति की क्रिया है। चिन्मय प्रतीति की वाणी से हम जान सकते हैं कि, सभी स्वतः कर्त्तृत्व-धर्म एवं सर्वाकरत्व भगवत्ता में प्रतिष्ठित हैं। भगवान् वृहद् वस्तु हैं, उनके खंडांश ही 'जीव'—शब्दवाच्य हैं। वही भगवद्वस्तु विभक्त होकर खण्डत्व-धर्म का प्रकाशन नहीं करती, परन्तु, खण्ड-प्रतीति कभी भी अखण्ड-प्रतीति के साथ अभिन्न नहीं है। व्याप्य-व्यापक-विचार

से ब्रह्म एवं जीव समजातीय होने पर भी ईश-तत्त्व—माया का प्रभु है, और वश्यवस्तु—माया के अधीन है। मायाधीन मायाधीश के अधीन होने से उसका मायाधीनत्व-धर्म नहीं रह सकता।

कारणार्णवशायी का ईक्षण-फल—

अगण्य, अनन्त यत अण्ड-सन्निवेश।
ततरूपे पुरुष करे सबाते प्रवेश॥६७॥

६७। प० अनु०—उन असंख्य, अनन्त कोटि समस्त ब्रह्माण्डों में कारणार्णवशायी पुरुष अपने एक रूप से सबमें प्रवेश करते हैं।

अनुभाष्य

६५-६६। मध्य २०श प: २७१-२७३ संख्या एवं भा: ३।५।२६ एवं ३।२६।१८ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

उनके नि:श्वास एवं प्रश्वास से ब्रह्माण्डों का सृजन एवं लय—

पुरुष-नासाते यवे बाहिराय श्वास।
नि:श्वास सहिते हय ब्रह्माण्ड-प्रकाश॥६८॥
पुनरपि श्वास यवे प्रवेशे अन्तरे।
श्वास-सह ब्रह्माण्ड पैशे पुरुष-शरीरे॥६९॥

६८-६९। प० अनु०—कारणाब्धिशायी पुरुष की नासिका से जब श्वास बाहर आता है तो नि:श्वास के साथ अनेक ब्रह्माण्डों का सृजन हो जाता है। फिर जब श्वास अन्दर प्रवेश करता है तो श्वास के साथ ब्रह्माण्ड समूह भी पुरुष के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

६५-६७। कारणाब्धिशायी पुरुष दूर से ही माया के प्रति जो दृष्टि निक्षेप करते हैं, वह दृष्टि चित्फलस्वरूप होकर दो प्रकार का कार्य करती है अर्थात् अपनी किरणकला के रूप में वह अनन्त जीवों को माया में निविष्ट करती है, एवं स्वयं अङ्गाभास से माया के साथ मिलित होकर अनगिनत अनन्त ब्रह्माण्डों का सृजन करती है। वह प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक एक पुरुषाकार से प्रविष्ट होती है। 'अङ्गाभास' के अर्थ में अङ्ग-मिलन का आभास-मात्र है, वास्तव में अङ्गमिलन नहीं।

उनके रोमकूप में अनन्तब्रह्माण्ड समूह—

गवाक्षेर रन्ध्रे येन त्रसरेणु चले।
पुरुषेर लोमकूपे ब्रह्माण्डेर जाले॥७०॥

७०। प० अनु०—गवाक्ष (झरोखे) के क्षुद्र छिद्रों के मार्ग से जैसे त्रसरेणु अर्थात् छोटे धूलि के कण आते जाते हैं, उसी प्रकार कारणाब्धिशायी पुरुष के लोमकूप से भी अनन्त ब्रह्माण्ड बाहर और भीतर आते जाते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

७०। त्रसरेणु—छह परमाणुओं से एक त्रसरेणु होता है।

अनुभाष्य

६७-७०। मध्य, २०श प: २७७-२८० संख्या द्रष्टव्य है।

(ब्रह्मसंहिता ५.४८)

यस्यैक निश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथा:।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥७१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७१। ब्रह्माण्ड नाथ समूह जिनके रोमकूप से जन्म लेकर उनके एक नि:श्वास-काल तक विराजमान रहते हैं, वही महाविष्णु जिनके कलाविशेष हैं, मैं उन आदिपुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ।

अनुभाष्य

७१। अथ यस्य लोमविलजा: (लोमकूपात् जाता:) जगदण्डनाथा: (ब्रह्माण्डपतय: समष्टि विष्ण्वादय:) एकनिश्वसितकालं (निश्वासैकपरिमितकालम्) अवलम्ब्य (आश्रित्य) इह जीवन्ति (आविर्भूता: भवन्ति) स: महान् विष्णु: यस्य (गोविन्दस्य) कलाविशेष: तमादि पुरुषं गोविन्दम् अहं भजामि।

(श्रीमद्भागवत १०.१४.११)

क्वाहं तमो-महदहं-रव-चराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघट-सप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्ड पुराणुचर्य्या-
वाताध्ववरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥७२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७२। प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार एवं पंचभूत-निर्मित सात हाथ के परिमाण के शरीर वाला कहाँ मैं? और कहाँ आपकी महिमा जिनके रोमविवर में समस्त ब्रह्माण्ड समूह परमाणु के रूप में आते जाते हैं अर्थात् मेरा ब्रह्माण्ड-विग्रह आपकी महिमा की तुलना में कुछ भी नहीं है।

अनुभाष्य

७२। गो-वत्स हरण करने के पश्चात् ब्रह्मा ने अपने अपराध को दूर करने के लिए जो स्तव किया, उन्हीं में से यह एक श्लोक है—

तमो-महदहं-ख-चराग्विार्भू-संवेष्टिताण्डघट-सप्तवितस्तिकायः (तमः अव्यक्तं, महत्तत्त्वम्, अहंकारः, खमाकाशं, चरः वायुः, अग्नि- स्तेजः वार्जलं, भूः पृथिवी, एतैःप्रधाना दिक्षित्यन्तैः संवेष्टितः यः अण्डघटः ब्रह्माण्ड-रूपः घटः देहः स एव तस्मिन् निजमानेन सप्त-वितस्तिकायः यस्य सः) अहं क्व, ईदृग्विधाविगणिताण्ड-परमाणुचर्य्यावाताध्वरोमविवरस्य (ईदृग्-विधानि यानि अविगणितानि अण्डानि तानि एव परमाणवः तेषां चर्य्या परिभ्रमणं तदर्थं वाताध्वनः गवाक्षाः इव रोमविवराणि यस्य तस्य) ते (तव) महित्वं च क्व?

मूलसंकर्षण, महासंकषर्ण एवं
पुरुषत्रय का सम्बन्ध—

अंशेर अंश येइ, 'कला' तार नाम।
गोविन्देर प्रतिमूर्त्ति श्रीबलराम॥७३॥
ताँर एक स्वरूप—श्रीमहासंकर्षण।
ताँर अंश 'पुरुष' हय कलाते गणन॥७४॥
याँहाके त' कला कहि, तिंहो महाविष्णु।
महापुरुषावतारी, सेहो सर्वजिष्णु॥७५॥
गर्भोद-क्षीरोद-शायी दोंहे 'पुरुष' नाम।
सेइ दुइ, याँर अंश,—विष्णु, विश्वधाम॥७६॥

७३-७६। प० अनु०—अंश के अंश को 'कला' कहते हैं। श्रीबलराम श्रीगोविन्द की प्रतिमूर्त्ति अर्थात् द्वितीय स्वरूप हैं। श्रीबलराम के एक स्वरूप का नाम महासङ्कर्षण है तथा उन्हीं महासङ्कर्षण के अंश महाविष्णु हैं इस प्रकार श्रीबलराम के अंश के अंश होने से महाविष्णु की गणना 'कला' में होती है। जिन्हें कला के रूप में वर्णन किया गया वह महाविष्णु समस्त अवतारों के मूल तथा सर्वकर्त्ता हैं। गर्भोदकशायी और क्षीरोकदशायी दोनों ही पुरुष हैं एवं दोनों ही विश्वधाम महाविष्णु के अंश हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

७३-७६। श्रीकृष्ण की विलासमूर्त्ति श्रीबलराम मूलसंकर्षण हैं। परव्योम में स्थित श्रीसङ्कर्षण उनके स्वरूपांश हैं। उनके अंश कारणाब्धिशायी महाविष्णु हैं; इसलिए अंश के अंश होने से उन्हें 'कला' कहा जाता है। गर्भोदशायी एवं क्षीरोदशायी दोनों पुरुष ही महाविष्णु के अंश हैं।

अनुभाष्य

७३। प्रतिमूर्त्ति—द्वितीय देह (आदि, ५म पः४-५; मध्य,२० पः१७४)

७५। 'महाविष्णु', 'महापुरुषावतारी' शब्द से कारणार्णवशायी।

७६। पुरुषलक्षण—यथा लघुभागवतामृत में अवतार-वर्णन के प्रसंग में चतुर्थ संख्या में उद्धृत विष्णुपुराण (६।८।५९) श्लोक का अनुवाद—'षड्विकारविहीन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के जो अंश गुणभुक् अर्थात् प्रकृति एवं महदादि प्राकृत के ईक्षणकर्त्ता हैं, जो तत्त्वतः एक स्वरूप का परित्याग किये बिना ही बहुविध स्वांश विभाग-पूर्वक निखिलप्राणियों के विस्तारकर्त्ता हैं, जो शुद्ध अर्थात् मायासंग-रहित होकर भी अशुद्ध की भाँति अर्थात् मायासंगी की भाँति प्रतिभात होते हैं एवं जो नित्य-चिन्मय हैं, उन्हीं अव्यय पुरुष के प्रति मैं सदैव प्रणत होता हूँ।' इस श्लोक का श्रीरूपकृत कारिका—

"परमेशांशरूपो यः प्रधान-गुणभागिव। तदीक्षादि कृतिर्ना-नावतारः पुरुषः स्मृतः॥" अर्थात् परमेश्वर का जो अंश प्रधान-गुणसंस्पृष्ट व्यक्ति की भाँति प्रकृति एवं महत्-तत्त्वादि का ईक्षणकर्त्ता है, जो नानाविध अवतारों का आविष्कर्ता है, शास्त्रों ने उसे ही 'पुरुष' नाम से अभिहित किया है।

(लघुभा:पू:ख:२य प:९श्लोक, सात्वततन्त्र-वचन)

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकन्तुमहतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते॥७७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७७। नित्यधाम में श्रीविष्णु के तीन रूप हैं—प्रथम महत्तत्त्व की सृष्टि करनेवाले कारणाब्धिशायी महाविष्णु; द्वितीय गर्भोदशायी समष्टिब्रह्माण्डगत पुरुष (समस्त ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी); तृतीय क्षीरोदशायी व्यष्टि ब्रह्माण्डगत पुरुष (ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी), वे प्रत्येक जीव के अन्तर्यामी ईश्वर एवं परमात्मा हैं। इन तीनों के तत्त्व को जानने से जीव जड़बुद्धि से मुक्त हो जाता है।

अनुभाष्य

७७। विष्णोस्तु पुरुषाख्याणि त्रीणि रूपाणि विदुः। अथ तेषु एकम् (आद्य) तु महतः (महत्तत्त्वस्य) स्रष्ट (प्रकृत्यन्तर्यामी), द्वितीयन्तु अण्डसंस्थितम् (ब्रह्माण्डा-न्तर्यामी), तृतीयं सर्वभूतस्थं (जीवान्तर्यामी)। तानि रूपा-णि ज्ञात्वा विमुच्यते (मायाबन्धनात् विज्ञो मुक्तो भवति।

मत्स्यादि समस्त अवतारों के
अंशी कारणार्णवशायी—

यद्यपि कहिये ताँरे कृष्णेर 'कला' करि।
मत्स्यकूर्माद्यवतारेर तिंहो अवतारी॥७८॥

७८। प० अनु०—यद्यपि कारणार्णवशायी महाविष्णु को श्रीकृष्ण की 'कला' कहा जाता है, तथापि वे मत्स्य, कूर्म-आदि अवतारों के अवतारी हैं।

(श्रीमद्भागवतम् १.३.२८)

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥७९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७९। आदि, २य प:६७ द्रष्टव्य है।

पुरुषावतारत्रय का कार्य—

सेइ पुरुष सृष्टि-स्थिति-प्रलयेर कर्त्ता।
नाना अवतार करे, जगतेर भर्त्ता॥८०॥

८०। प० अनु०—वही महाविष्णु सृष्टि-स्थिति और प्रलय करने वाले हैं। अनेक अवतार ग्रहण कर वे जगत् की रक्षा करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

८०। (जगत्पालक के रूप में) वह पुरुषावतार क्षीरोदशायी है।

अनुभाष्य

८०। (भा: १।३।५)—"एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्यम्। यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्य्यङ्नरादयः॥" कारणाब्धिशायी के रूप में सृष्टि-स्थिति-प्रलय के कारणस्वरूप, गर्भोदशायी के रूप में नाना अवतारों के सूतिका-धाम एवं क्षीरोदशायी के रूप में क्षौणीभर्त्ता (जगत्-पालक)।

अवतारगण अंशमात्र—

सृष्टयादि-निमित्ते येइ अंशेर अवधान।
सेइ त' अंशेरे कहि 'अवतार' नाम॥८१॥

८१। प० अनु०—सृष्टि आदि के निमित्त जिस अंश का अधिष्ठान होता है, उसी अंश को 'अवतार' कहते हैं।

अनुभाष्य

८१। लघुभागवतामृत में अवतार-लक्षण के वर्णन के प्रसंग में प्रथम संख्या में—"पूर्वोक्ता विश्वकार्य्यार्थम् अपूर्वा इव चेत् स्वयम्। द्वारान्तरेण वाविः स्युरवतारास्तदा स्मृताः॥ तच्च द्वारं तदेकात्मरूपस्तद्भक्त एव च। शेष-

शाय्यादिको यद्वद् वसुदेवादिकोऽपि च"॥ अर्थात् पूर्वोक्त स्वयंरूप श्रीकृष्ण विश्वकार्य के लिये स्वयं अथवा द्वारान्त द्वारा जब आविर्भूत होते हैं, तो उन्हें 'अवतार' कहते हैं। वे 'द्वार' द्विविध हैं—तदेकात्मरूप एवं भक्त; शेषशायी—तदेकात्म-रूप एवं वसुदेवादि भक्त हैं। श्रीबलदेवकृत- टीका—"स्वयम् अद्वारकतया, द्वारान्तरेण वा जगति आविः स्युः, तदा अवताराः स्मृताः। अप्रपंचात् प्रपंचेऽवतरणं स्वल्ववतारः। सद्वारकस्तु—यथा शेष-शायिनः कारणार्णवशयात् गर्भोदकशयः, यथा वसुदेवात् कृष्णः, दशरथात् रामः। कार्यं—प्रकृति-क्षोभ-महदा-द्युत्पादनं, दुष्ट-विमर्द्दन, देवादीनां सुखवर्द्धनं, समुत्क-ण्ठितानां साधकानां स्वसाक्षात्कारेण प्रेमानन्दवितरणं, विशुद्धभक्तिप्रचारणंच, तदर्थमित्यर्थः।"

देशकालपात्र से खण्डित मायाराज्य में खण्डक्रिया के निमित्त अथवा उपादानांश में भगवत्स्वरूप की जो कारकता विद्यमान है, उस कार्य के कारणरूप महाविष्णु-रूप भगवत्ता ही कृष्णांश है। इस अंश को ही 'अवतार' कहते हैं। साधारणतया स्थूलदृष्टि से पंगु-अन्ध न्याय के अवलम्बन में जड़ा-प्रकृति को 'उपादान' एवं भोक्ता, त्रिगुणमय पुरुष-जीव को 'निमित्त' कहा जाता है। किन्तु प्रकृति जगत् के 'उपादान' अथवा 'निमित्त' नहीं है। भागवतवृन्द ने सूक्ष्मभाव से इसे उपलब्ध किया है। जिनकी ईक्षणशक्ति के प्रभाव से प्रकृति जगत् के 'उपादान' के रूप में परिचित है, माया जगत् की 'निमित्त-कर्त्री' के रूप में ख्यात है, ये दोनों शक्तियाँ ही उस भगवान् के द्वारा प्रदत्त हैं। भगवान् के जो प्रकाश स्वरूप समूह, माया में विश्वसृष्टि के उद्देश्य से अथवा विश्वहित के लिये माया को शक्ति प्रदान-लीला का प्रदर्शन करते हैं, वे प्रकाशमूर्त्ति समूह ही 'अंश' अथवा 'अवतार' के रूपमें संज्ञित होते हैं। वस्तुतत्त्व में दीप के साथ उपमेय (तुल्य) अवतारगण विष्णु होने पर भी माया के ऊपर कर्त्तृत्व रहने से उन सबको मायिक भाषा के आश्रय में ही केवल 'अंश' अथवा 'अवतार' कहा जाता है। मध्य, २० प: २६३-२६४ संख्या द्रष्टव्य है।

आद्यावतार, महापुरुष, भगवान्।
सर्व-अवतार-बीज, सर्वाश्रय-धाम॥८२॥

८२। प० अनु०—श्रीकारणार्णवशायी महाविष्णु भगवान् के प्रथम अवतार हैं, वह सभी अवतारों के मूल एवं सर्वाश्रय हैं।

अनुभाष्य

८२। (कारणार्णवशायी महाविष्णु सभी अवतारों के बीजरूपी गर्भोदशायी के भी मूल हैं।) सर्वावतार-बीज-रूपी—गर्भोदशायी की कथा,—भागवत १।३।५ द्रष्टव्य है।

कारणार्णवशायी महाविष्णु—
(श्रीमद्भागवत २.६.४२)

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य
कालः स्वभावः सदसन्मनश्च।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि
विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः॥८३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८३। कारणाब्धिशायी पुरुष ही भगवान् के आदि अवतार हैं। काल, स्वभाव, कार्य-कारणरूप प्रकृति, मन आदि महत्तत्त्व, महाभूतादि अहङ्कार, सत्त्वादि गुण, इन्द्रिय-समूह, विराट्, स्वराट्, स्थावर एवं जङ्गम, ये सब उस पुरुषकी विभूतियाँ हैं।

पाठभेद में इन श्लोकों का भी उल्लेख है—

अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा
दक्षादयो ये भवदादयश्च।
स्वर्लोक-पालाः खगलोकपालाः
नृलोकपाला स्तललोकपालाः॥
गन्धर्वविद्याधर-चरणेशा
ये यक्षरक्षोरग-नागनाथाः।
ये वा ऋषीणामृषभाः
पितृणां दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः।
अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूत-
कुष्माण्ड-यादो-मृगक्ष्यधीशाः॥

यत् किञ्च लोके भगवन्महस्वदोजः
सहस्वद्बलवत् क्षमावत्।
श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्‌भुतार्णं
तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम्॥

अनुभाष्य

८३। श्रीब्रह्मा नारद के समक्ष भगवान् कारणार्णवशायी की विभूतियों का वर्णन कर रहे हैं,—

परस्य भूम्नः (भगवतः) पुरुषः (कारणार्णवशायी) आद्यः अवतारः। कालः (गुण-क्षोभकः) स्वभाव (तत्-संस्कारः) सदसत् (कार्यकारणात्मिका) प्रकृतिः मनः (महत्तत्त्व) द्रव्यं (भूत-सूक्ष्माणि पंचमहाभूतानि), विकारः (अहंकारः), गुणः (सत्त्वादिः), इन्द्रियाणि (एकादश), विराट् (समष्टिशरीर) स्वराट् (वैराज), स्थास्नू (स्थावर), चरिष्णु (जंगमंव्यष्टिशरीर) च (सर्वं तद्विभूति-रूपम्)।

महत्स्रष्टा आदिपुरुषावतार—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥८४॥

अनुभाष्य

८४। शौनकादि ऋषियों के पञ्चम प्रश्न के उत्तर में श्रीसूत गोस्वामी भगवान् के अवतार-कथा का वर्णन कर रहे हैं,—

आदौ (सर्गारम्भे) भगवान् (महासंकर्षणः) लोकसिसृक्षया (लोकानां भुवनानां स्त्रष्टुमिच्छया) महदादिभिः (महदहंकारपंचमहाभूतैकादशेन्द्रियपंचतन्मात्रैः) सम्भूतं (मिलित) षोडशकलं (तत्सृष्ट्युपयोगिपूर्णशक्तिमत्) पौरुषं रूपं जगृहे (प्रकटयाभास)।

षोडशकलं—लघुभागवतामृत में पुरुष-वर्णन के प्रसंग में (६८ संख्या)—"श्रीर्भूःकीर्त्तिरिला लीला कान्तिर्विद्येति सप्तकम्। विमलाद्या नवेत्येता मुख्याः षोडश शक्तयः॥" इसकी श्रीबलदेवकृत टीका में— "विमलोत्कर्षिणी ज्ञाना क्रिया योगा तथैव च। प्रह्वीसत्या तथेशानानुग्रहेति नव स्मृताः॥" भगवत्सन्दर्भ की (१०२ संख्या में)—"श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्त्या तुष्ट्येलयोर्जया। विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्॥ सन्धिनी-सम्बित्ह्लादिनीभक्त्याधारशक्तिमूर्त्तिविमलाजया योगा प्रह्वीशानुग्रहादयश्च ज्ञेयाः। ततः श्रियेत्यादौ शक्तिवृत्तिरूपया मायावृत्तिरूपया चेति सर्वत्र ज्ञेयम्। तत्र पूर्वस्याः भेदः श्रीर्भागवती सम्पत्। उत्तरस्या भेदः। श्रीर्जागती सम्पत्। ** तत्र इला भूस्तदुप-लक्षणत्वेन लीला अपि। अत्र सन्धिन्येव सत्या, जयैवोत्कर्षिणी, योगैव योगमाया, सम्बिदेव ज्ञाना-ज्ञानशक्तिः शुद्धसत्त्वञ्चेति ज्ञेयम्। प्रह्वी विचित्रानन्तसामर्थ्यहेतुः, ईशाना सर्वाधिकारिता शक्तिहेतुरिति भेदः।"

१) श्री, २) भू, ३) लीला, ४) कान्ति, ५) कीर्त्ति, ६) तुष्टि, ७) गीः, ८) पुष्टि, ९) सत्या, १०) ज्ञानाज्ञाना, ११) जया उत्कर्षिणी, १२) विमला, १३) योगमाया, १४) प्रह्वी, १५) ईशाना एवं १६) अनुग्रहा—वैकुण्ठ में ये षोड़श शक्तियाँ विद्यमान हैं। श्रीमद्‌भागवत में गौड़ीयभाष्य के अन्तर्गत श्रीमध्वकृत भागवत-तात्पर्य एवं तथ्य द्रष्टव्य है।

सभी के आश्रय एवं अन्तर्यामी—

यद्यपि सर्वाश्रय तिँहो, ताहाते संसार।
अन्तरात्मा-रूपे तिँहो जगत्-आधार॥८५॥

८५। प० अनु०—यद्यपि श्रीमहाविष्णु सर्वाश्रय हैं तथा उनमें ही सारा संसार विराजमान है, फिर भी अन्तरात्मा रूप में वे जगत् के आधारस्वरूप हैं।

ईक्षणादि-विषयों में मायासम्बन्ध होने पर भी वस्तुतः मायातीत—

प्रकृति-सहिते ताँर उभय सम्बन्ध।
तथापि प्रकृति-सह नाहि स्पर्शगन्ध॥८६॥

८६। प० अनु०—प्रकृति के साथ उनका दोनों प्रकार का सम्बन्ध है। फिर भी प्रकृति के साथ उनमें लेशमात्र स्पर्श की गन्ध भी नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

८५-८६। यद्यपि वे सर्वाश्रय-हेतु हैं, उनमें संसार

अवस्थित है, तथापि वे अन्तरात्मा के रूप में जगत् के आधार हैं। प्रकृति के साथ इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों के रहने पर भी वे प्रकृति के स्पर्शदोष को स्वीकार नहीं करते।

अनुभाष्य

८६। लघुभागवतामृत में विष्णु की निर्गुणता के वर्णन के प्रसङ्ग में श्रीरूपकृत कारिका (श्लोकबद्ध व्याख्या)—"योगो नियामकतया गुणैः सम्बन्ध उत्त्यते। अतः स तैर्नयुज्यते तत्र स्वांश परस्य यः॥" अर्थात् नियामक के रूप में गुणों के साथ विष्णु का जो सम्बन्ध है, उसे 'योग' कहते हैं। अतएव वे पुरुष गुणों के साथ कभी भी बद्ध नहीं होते; विशेषतया इनमें परम-पुरुष के साथ तत्त्वतः अभिन्न स्वांश-विष्णुगणों में से कोई भी कभी भी किसी भी प्रकार से गुणों के साथ युक्त नहीं होता है। श्रीबलदेव टीका—"ननु परस्य पुंसः कथं गुणसम्बन्धः, 'माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना (भाः२. ७.४७) इत्यादि वाक्य-विरोधादिति चेत? तत्राह—योग इति। गुणा नियमाः त्रिधाविर्भूतः पुरुषस्तु नियामक इति सम्बन्धाः, स इह योगो उच्यते, न तु तैर्बन्ध इत्यर्थः। स तु विष्णुनैव युज्यते, द्रमिलयोगीश- वाक्ये (भाः११।४।५) तत्र गुणसम्बन्धानुल्ल- खात्।" यदि कहो कि, महाविष्णु के साथ तो गुणों का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता; क्योंकि, यदि ऐसा हो, तो "जो माया सलज्जभाव में भगवत्-पराङ्‌मुखी होकर अवस्थान करती है" इस वचन के साथ विरोध हो जाता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि, 'गुण'—शब्द से नियम को समझा जाता है। विष्णु, ब्रह्मा एवं शिव, इन तीनरूपों में आविर्भूत 'पुरुष' का इस प्रकृति के साथ नियामक के रूप से सम्बन्ध है। जगत् में वही 'योग' नाम से कथित है, वह कभी भी इन तीन गुणों के द्वारा 'बन्धन'—शब्दवाच्य नहीं है। वह विष्णु कभी भी गुणों के साथ युक्त नहीं होते, नवयोगीन्द्रों में अन्यतम द्रुमिल के वचनों में विष्णु के साथ तीन गुणों के सम्बन्ध में उल्लेख का अभाव ही देखा जाता है।"

उपादान एवं निमित्त—दोनों प्रकार के कारणों के साथ ईक्षण-कर्त्तृत्व-सम्बन्ध रहने पर भी वे माया द्वारा किसी भी प्रकार से वशीभूत नहीं होते। भगवान् की इच्छाशक्ति के परिणाम से विकारविशिष्ट जगत् आविर्भूत है; किन्तु उनमें किसी प्रकार के जड़विकारों की सम्भावना नहीं है। आदि, द्वितीय अध्याय पः५२,५४ संख्या द्रष्टव्य है।

(श्रीमद्भागवत १.११.३८)

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥८७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८७। आदि २य, पः५५ संख्या द्रष्टव्य है।

ईश्वर अचिन्त्यशक्तिमान्—

एइमत गीतातेहो पुनः पुनः कय।
सर्वदा ईश्वर-तत्त्व अचिन्त्यशक्ति हय॥८८॥

८८। प० अनु—गीता भी बारबार यही कहती है कि, ईश्वर-तत्त्व सदैव अचिन्त्यशक्ति युक्त है।

ईश्वर के साथ जगत् का भेदाभेद-सम्बन्ध—

आति त' जगते वसि, जगत् आमाते।
ना आमि जगते वसि, ना आमा जगते॥८९॥
अचिन्त्य ऐश्वर्य एइ जानिह आमार।
एइ त' गीतार अर्थ कैल परचार॥९०॥
सेइ त' पुरुष याँर 'अंश' धरे नाम।
चैतन्येर संगे सेइ नित्यानन्द-राम॥९१॥
एइ त' नवम श्लोकेर अर्थ विवरण।
दशम श्लोकेर अर्थ शुन दिया मन॥९२॥

८९-९२। प० अनु०—'मैं जगत् में अधिष्ठित हूँ, जगत् भी मुझमें अधिष्ठित है; फिर भी न मैं जगत् में वास करता हूँ और न ही जगत् मुझमें वास करता है। जान लो यही मेरा अचिन्त्य ऐश्वर्य है। (भगवान् ने) गीता के इसी अर्थ को ही प्रचार किया है। वही पुरुष जिनके अंश हैं, वे श्रीबलराम ही श्रीनित्यानन्द के रूप

में श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ अवतीर्ण हुए हैं। यहाँ तक नवम श्लोक का अर्थ वर्णित हुआ, अब दशम श्लोक की व्याख्या मन देकर सुनो।

अमृतप्रवाह भाष्य

८९। मैं जगत् में अवस्थित हूँ एवं जगत् भी मुझमें अवस्थित है; फिर भी मैं जगत् में नहीं हूँ एवं जगत् भी मुझमें नहीं है। इसे 'अचिन्त्य अर्थ' कहते हैं।

अनुभाष्य

८९। भगवान् के अस्तित्व के अतिरिक्त दृश्य जगत् में किसी भी अधिष्ठान की सम्भावना नहीं है। भगवान् जगत् में अवस्थित हैं, इसे मानकर अचिद्भोगमय दर्शन की बाह्य-प्रतीति को भगवान् समझना ठीक नहीं होगा, भोगमय जगत् को भगवत्ता के रूप में जानना कर्त्तव्य नहीं है। भगवद्विमुखतारूप भोग अथवा माया भगवान् में अवस्थित नहीं है, भगवद्विमुखता भगवद्वस्तु में ठहर नहीं सकती। अधोक्षज भगवान् जगत् में या प्रपंच में अवतीर्ण होकर भी जागतिक अथवा प्रार्पंचिक, खण्ड एवं नश्वर वस्तु नहीं होते अथवा हो नहीं सकते। प्रकट एवं अप्रकट, उभय लीलाओं में ही उनका मायातीतत्व या मायाधीशतत्व अर्थात् निर्गुण-वैकुण्ठता नित्य वर्तमान है। विभिन्न लीलाभेदों में वे जगत् में अवतीर्ण एवं जगत् के समस्त वस्तु-सत्ता के मूल-अधिष्ठातृदेव हैं।

जगत् भी उनसे पृथक् अस्तित्त्वयुक्त होकर द्वितीय वस्तु के रूप में अवस्थान नहीं कर सकता। विष्णु स्वयं कभी भी प्राकृत जगत् या माया के साथ संस्पर्शयुक्त नहीं होते एवं उनका निजस्वरूप व तद्रूपवैभव भी भोगमय, परिमेय जगत् अथवा तत्विमुखी प्रकृति के अन्तर्भुक्त नहीं है—यही स्वेच्छामय, अचिन्त्य-ऐश्वर्यमय भगवान् की स्वतः कर्त्तृत्वत एवं भगवत्ता है।

श्रीमद्भागवत् के द्वितीय स्कन्द के नवम अध्याय में चतुःश्लोकी के अन्तर्गत "यथा महान्ति" (३४) श्लोक के विभिन्न टीका से सम्वलित 'गौड़ीय भाष्य' एवं भा:११।१५।३६ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

९०। गीता में (९।४-५)—"माया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥"

आदिलीला के मङ्गलाचरण के १४ श्लोकों में से दशम श्लोक का अर्थ
(श्रीस्वरूप गोस्वामी के कड़चा से श्लोक)

यस्यांशांशः श्रील गर्भोदशायी
यन्नाभ्यब्जं लोकसंघतनालम्।
लोकस्रष्टुः सूतिकाधामधातु-
स्तं श्रीनित्यानन्दरामं प्रपद्ये॥९३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९३। जिनके नाभिपद्म की नाल लोक-द्रष्टा विधाता का सूतिकाधाम (जन्म स्थान) एवं लोक-समूह का विश्रामस्थान है, वे गर्भोदशायी विष्णु जिनके अंश के अंश हैं, मैं उन नित्यानन्द-राम को प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

९३। यन्नाभ्यब्जं (यस्य नाभिकमलं) लोक-संघातनालं (लोकसमूहः) चतुर्द्दश लोकं नालं आधारो यस्य तत्) लोकस्त्रष्टुः (ब्रह्मणः) सूतिकाधाम (जन्म-गृहवरूप) श्रील गर्भोदशायी (द्वितीय पुरुषावतारः) यस्य नित्यानन्द-रामस्य अंशांशः (कला), तं श्रीनित्यानन्दरामं अहं प्रपद्ये।

गर्भोदशायी का वर्णन—

सेइ त' पुरुष अनन्त ब्रह्माण्ड सृजिया।
सब अण्डे प्रवेशिला बहु-मूर्त्ति हञा॥९४॥
भितरे प्रवेशि' देखे सब अन्धकार।
रहिते नाहिक स्थान करिल विचार॥९५॥
निजांग-स्वेदजल करिल सृजन।
सेइ जले कैल अर्द्ध-ब्रह्माण्ड भरण॥९६॥
ब्रह्माण्ड-प्रमाण पञ्चाशतकोटि-योजन।
आयाम, विस्तार, दुइ हय एक सम॥९७॥

९४-९७। प० अनु—उन्हीं कारणब्धिशायी विष्णु

ने अनन्त ब्रह्माण्डों को सृजन करके (द्वितीय पुरुष गर्भोदकशायी रूपी) अनेक मूर्त्ति धारणकर (एक-एक मूर्त्ति द्वारा) सभी ब्रह्माण्डों में प्रवेश किया। प्रवेश करके उन (द्वितीय पुरुष) देखा कि, चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार है और विचार किया यहाँ तो रहने का कोई स्थान नहीं है। तब उन्होंने अपने श्रीअङ्ग से स्वेदजल (पसीना) का सृजन किया एवं उस जल से आधे ब्रह्माण्ड को भर दिया। ब्रह्माण्ड का परिमाण पाँच-सौ कोटि योजन (१योजन=४कोस) है। इसकी लम्बाई और चौड़ाई, दोनों एक समान है।

अनुभाष्य

९६। भाः २।१०।१० श्लोक द्रष्टव्य है।

चतुर्द्दश भुवन की उत्पत्ति—

जले भरि' अर्द्ध ताँहा कैल निज-वास।
आर अर्द्धे कैल चौद्दभुवन प्रकाश॥९८॥

९८। प० अनु०—उस ब्रह्माण्ड के आधे भाग को अपने स्वेद जल से भरकर गर्भोदकशायी विष्णु ने अपना वास स्थान बनाया और आधे भाग में चौदह लोकों को प्रकाशित किया।

अनुभाष्य

९८। चौद्दभुवन (चतुर्द्दशभुवन)—भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः एवं सत्य, ये सात ऊर्द्धलोक और तल, अतल, वितल, नितल, तलातल, महातल एवं सुतल—ये सात पाताल लोक हैं। भाः २।५।३८-४२ एवं भाः ११।४।३ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

गर्भ-सागर में निज वैकुण्ठधाम का प्रकाशन—

ताँहाइ प्रकट कैल वैकुण्ठ निज-धाम।
शेष-शयन-जले करिल विश्राम॥९९॥
अनन्तशय्याते ताँहा करिल शयन।
सहस्र मस्तक ताँर सहस्र वदन॥१००॥

९९-१००। प० अनु०—उसी स्वेद जल में ही गर्भोदशायी पुरुष ने अपने वैकुण्ठ धाम को प्रकट किया और जल में शेष-शयन पर विश्राम किया। (दृढ़ करने हेतु पुनः कह रहे हैं कि) फिर उन्होंने उस अनन्त को अपनी शय्या बनाकर उस पर शयन किया, जिनके सहस्र मस्तक और सहस्र वदन हैं।

ऋक्सूत्र की स्तवनीय वस्तु—

सहस्र-चरण-हस्त, सहस्र-नयन।
सर्व-अवतार-बीज, जगत्-कारण॥१०१॥

१०१। प० अनु०—वही गर्भोदकशायी विष्णु सहस्र चरण, सहस्र हाथ, सहस्र नेत्रों से युक्त समस्त अवतारों के मूल एवं जगत् के कारण हैं।

अनुभाष्य

९९-१००। भाः १।३।२,४,५ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

१००-१०१। (भाः १।३।४)—"पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम। सहस्र-मूर्द्धन्-श्रवणाक्षि-नासिकं सहस्रमौल्यम्बर कुण्डलोल्लसत्॥" (ऋक् सं ८।४।१७, साम ६।४।४।३, शुक्ल यजुः ३१।१, अथर्व १९। ६।१)— "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्त्वात्यतिष्ठद्द-शांगुलम्॥" भाः ११।४।४-५ एवं ब्रह्मसंहिता ५।१०-११ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

उनसे विष्णु, ब्रह्मा एवं रुद्र का उद्भव—

ताँर नाभिपद्म हैते उठिल एक पद्म।
सेइ पद्मे हैल ब्रह्मार जन्म-सद्म॥१०२॥
सेइ पद्मनाले हैल चोद्दभुवन।
तेंहो ब्रह्मा हञा सृष्टि करिल सृजन॥१०३॥
विष्णुरूप हञा करे जगत् पालने।
गुणातीत-विष्णु स्पर्श नाहि माया-गुणे॥१०४॥
रुद्ररूप धरि' करे जगत् संहार।
सृष्टि-स्थिति-प्रलय—इच्छाय याँहार॥१०५॥
हिरण्यगर्भ, अन्तर्यामी, जगत्-कारण।
याँर अंश करि' करे विराट्-कल्पन॥१०६॥

हेन नारायण,—याँर अंशेर अंश।
सेइ प्रभु नित्यानन्द—सर्व-अवतंस॥१०७॥
दशम श्लोकेर अर्थ कैल विवरण।
एकादश श्लोकेर अर्थ शुन दिया मन॥१०८॥

१०२-१०८। प० अनु०—श्रीगर्भोदशायी विष्णु के नाभि कमल से एक कमल प्रकट हुआ, उसी कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ। उस कमल की नाल में चौदह भुवनों की उत्पत्ति हुई और गर्भोदकशायी ने ही ब्रह्मा के रूप में सृष्टि की। वे ही विष्णु रूप से जगत् का पालन करते हैं। विष्णु गुणातीत हैं, माया के गुण उन्हें स्पर्श नहीं कर सकते। वे रुद्र रूप धारण कर जगत् का संहार करते हैं। उनकी इच्छा से ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है। (गर्भोदकशायी) विष्णु ही हिरण्यगर्भ, अन्तर्यामी एवं जगत् के कारण हैं। उनके अंश की ही 'विराट्' के रूप में कल्पना की जाती है। ये नारायण (गर्भोदकशायी विष्णु) जिनके अंश के अंश हैं, वही सर्वश्रेष्ठ प्रभु श्रीनित्यानन्द हैं सर्व-अवतसं। यहाँ तक दशम श्लोक की व्याख्या की गई। अब एकादश श्लोक का अर्थ एकाग्रचित्त होकर सुनिये।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०६। गर्भोदशायी विष्णु ही हिरण्यगर्भ, अन्तर्यामी एवं जगत्कारण हैं। उनके अंश की ही 'विराट्' रूप में कल्पना की गई है।

१०८। दशमश्लोक का अर्थ—दशमश्लोक में एवं इसके निम्नलिखित पद्यसमूह में गर्भोदशायी विष्णु का विवरण है।

अनुभाष्य

१०२-१०३। महाभारत के मोक्षधर्म के नारायणो-पाख्यान में (शान्तिपर्व के ३३९ अ: ७०-७२ एवं ३४० अ: २७-२८ श्लोक में) कथित है—'जो प्रद्युम्न हैं, वही अनिरुद्ध हैं, वही ब्रह्मा के जनक हैं।' यहाँ यही समझना होगा कि, जो गर्भोदशायी हैं, वही क्षीरोदशायी हैं। दोनों अभिन्न हैं, इसलिये वस्तुतः प्रद्युम्न ही हिरण्यगर्भपद्मयोनि के नियामक अर्थात् अन्तर्यामी एवं जनक हैं। (भा: ३।१।२) श्लोक द्रष्टव्य है।

१०३-१०५। भा: १।२।२३ श्लोक में जिस पुरुष का वर्णन हुआ है वे यही गर्भोदशायी विष्णु हैं।

१०४। भा: ३।८।१६ श्लोक द्रष्टव्य है। लघुभागवतामृत में तीन पुरुषों के वर्णन के प्रसङ्ग में (१३७-१३९ संख्या में)—"सोऽस्य गर्भोदशय्यस्य विलासो यश्चतुर्भुजः। शेते प्रविश्य लोकाब्जं विष्णवाख्यः क्षीरवारिधौ॥ अयञ्च स्थावरान्तानां सुरादीनां शरीरिणाम्। हृद्यन्तर्य्यामितां प्राप्तो नानारूप इव स्थितः॥ 'तृतीयं सर्व-भूतस्थं इति विष्णोर्यदुच्यते। रूपं सात्वत-तन्त्रे तद्-विलासोऽस्यैव सन्मतः॥"

गर्भोदशायी के विलास-रूप जो चतुर्भुज मूर्त्ति है, वे लोकपद्म में प्रवेशकर, 'विष्णु' नाम से परिचित होकर क्षीराब्धि में शयन कर रहे हैं। ये विष्णु ही देवादि स्थावर तक समस्त प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी होकर मानो नानारूपों में अवस्थित हैं। सात्वत-तन्त्र में 'तृतीय पुरुष सर्वभूतस्थ है' इस वचनानुसार विष्णु के जिस रूप का उल्लेख किया गया, वह इन गर्भोदशायी विष्णु की विलासमूर्त्ति हैं।

लघुभागवतामृत में पुरुषवर्णन के प्रसङ्ग में (१२वीं संख्या में) श्रीबलदेव टीका—"विष्णुस्तु सत्त्वेनापि न युक्तः, किन्तु संकल्पेनैव तन्नियमनमात्रकृत्, अतः 'श्रेयांसि तस्मात्' इत्युक्तम्। अतएव वामन-पुराण में—ब्रह्मविष्णवीशरूपाणि त्रीणि विष्णोर्महात्मनः। ब्रह्माणि ब्रह्मरूपः स शिवरूपः शिवे स्थितः। पृथगेव स्थितो देवो विष्णुरूपी जनार्द्दनः।" 'विष्णु सत्त्वगुण के अधिष्ठातृदेव होने पर भी कभी भी सत्त्व-गुण से युक्त नहीं होते, किन्तु संकल्पमात्र से ही उस सत्त्वगुण के नियामक मात्र हैं, इस कारण उनसे ही जीवों को मङ्गल की प्राप्ति होती है। ऐसा कथित है। अतएव वामन-पुराण में भी कथित है कि, एक विष्णु के ही ब्रह्मा, विष्णु एवं शिवरूप हैं—ब्रह्मा में उनका ब्रह्मरूप, शिव में शिवरूप, एवं विष्णु-रूपी जनार्द्दन, ब्रह्मा और शिव से पृथग्रूप में अवस्थान करते हैं।

विष्णुवर्णन में भी (२९-३० संख्या में)—"विष्णुः सत्त्वं तनोतीति शास्त्रे सत्त्वतनुः स्मृतः। अवतारगणश्चास्य भवेत् सत्त्वतनुस्तथा। बहिरंगमधिष्ठानमिति वा तस्य तत् तनुः॥ अतो निर्गुणता सम्यक् सर्वशास्त्रे प्रसिद्ध्यति। तथाहि (भाः १०।८८।५)—'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।'

विष्णु सत्त्वगुण का विस्तार करते हैं, इसलिये शास्त्रों में विष्णु का नाम 'सत्त्वतनु' हुआ है। उसी प्रकार क्षीराब्धिशायी विष्णु के अवतारों को भी 'सत्त्वतनु' कहा गया है। अथवा वह सत्त्वरूप तनु उनका बहिरङ्ग अधिष्ठान है, इसलिये उन्हें 'सत्त्वतनु' कहा गया है। इसलिए सभी शास्त्रों ने विष्णु को निर्गुण कहा है। जैसा कि श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में—"हरि निर्गुण हैं, प्रकृति के अतीत साक्षात् परमेश्वर हैं, ब्रह्मादि देवताओं के ज्ञान-प्रदाता एवं सर्वसाक्षी हैं, उनका भजन करने से निर्गुणता की प्राप्ति होती है।" इति। इसलिए 'इस सत्त्व-तनु से सर्वविध श्रेयः (मङ्गल) सम्पन्न होता है'—भागवतपद्य ने ऐसा ही कहा है।

९४-१०७। ब्रह्मसंहिता (५।१४)—'प्रत्येकमेवम-कांशाद् विशति स्वयम्।' मध्य २०श पः२८३-२९३।

आदिलीला के मङ्गलाचरण के १४ श्लोकों में से एकादश श्लोक की व्याख्या—(श्रीस्वरूपगोस्वामीकड़्चा का श्लोक)

यस्यांशांशांश परात्मखिलानां
पोष्टा विष्णुर्भाति दुग्धाब्धिशायी।
क्षौणीभर्त्ता यत्कला सोऽप्यनन्त-
स्तं श्रीनित्यानन्दरामं प्रपद्ये॥१०९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१०९। अखिल परमात्मा एवं पालनकर्त्ता क्षीरोदशायी विष्णु जिनके अंश के अंश हैं एवं पृथ्वी को धारण करने वाले 'अनन्त' जिनकी कला हैं, मैं उन नित्यानन्द-राम को प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

१०९। अखिलानां (जीवाना) परात्मा (परमात्मा), पोष्टा (पोषणकर्त्ता), दुग्धाब्धिशायी (तृतीय पुरुषावतारः क्षीरोदशायी) विष्णुः भाति, सोऽपि यस्यांशांशांसः (यस्य नित्यानन्द रामस्य अंशस्य अंशः कला तदंशः विकला) क्षौणीभर्त्ता (जगत्पालकः) अनन्तः यत् (यस्य क्षीरोद-शायिनः) कला (अंशस्य अंशः), तं श्रीनित्यानन्दरामम् अहं प्रपद्ये।

क्षारोदशायी विष्णु के धाम का वर्णन—

नारायणेर नाभिनाल-मध्येते धरणी।
धरणीर मध्ये सप्त समुद्र ये गणि॥११०॥

११०। प० अनु०—श्रीनारायण अथवा गर्भोदशायी विष्णु के नाभि कमल के मध्य में पृथ्वी है और इस पृथ्वी पर सात समुद्र विराजमान हैं।

'श्वेतद्वीप'—

ताँहा क्षीरोदधि-मध्ये 'श्वेतद्वीप' नाम।
पालयिता विष्णु,—ताँर सेइ निज धाम॥१११॥

१११। प० अनु०—वहाँ क्षीरोदधि अर्थात् क्षीरसमुद्र है, जिसमें 'श्वेतद्वीप' नामक स्थान है। वह स्थान ही पालनकर्त्ता विष्णु का निज धाम है।

अनुभाष्य

१११। सिद्धान्तशिरोमणि में—"भूमेरर्द्धं क्षारसिन्धो-रुदक्स्थं जम्बूद्वीपं प्राहुराचार्यवर्य्याः। अर्द्धेऽन्यस्मिन् द्वीप-षट्कस्य याम्ये क्षारक्षीराद्यम्बुधीनांनिवेशः। लवण-जलधिरादौ दुग्धसिन्धुश्च तस्मादमृतममृतरश्मिः श्रीश्चय-स्माद् बभूव। महितचरण-पद्मः पद्मजन्मादिदेवैर्वसति सकलवासो वासुदेवश्च यत्र॥ दध्नो धृतस्येक्षुरसस्य तस्मान्मद्यस्य च स्यादुजलस्य चान्त्यः। स्वादूदकान्तर्वड़-वानलोऽसौ पातालल्लोकाः पृथिवीपुटानि॥" अर्थात् १) लवण समुद्र, २) क्षीरसमुद्र, ३) दधि समुद्र, ४) घृत-समुद्र, ५) इक्षुरससमुद्र, ६) मद्यसमुद्र, ७) स्वादुजल-समुद्र। लवण-समुद्र के दक्षिण भाग में क्षीरोदक विराज-मान है। वहाँ सर्वाश्रय वासुदेव ब्रह्मादि देवताओं के द्वारा अर्चित होते हुए निवास कर रहे हैं।

व्यष्टिजीवों के अन्तर्यामी—

सकल जीवेरे तिँहो हये अन्तर्यामी।
जगत्-पालक तिँहो जगतेर स्वामी॥११२॥

११२। प॰ अनु॰—वे सभी जीवों के अन्तर्यामी, जगत्-पालक एवं जगत् के स्वामी हैं।

अनुभाष्य

११२। लघुभागवतामृत में श्रीविष्णुवर्णन के प्रसंग में २६-२८ श्लोकों का मर्म्मानुवाद—विष्णुधर्मोत्तर आदि में विष्णुप्रकाश के ब्रह्माण्ड में जिन सब पुरीसमूह का उल्लेख है, मैं संक्षेप में उन सब पुरी समूहों का निर्देश करूँगा। जैसे—"रुद्रलोक के उपरिभाग में पंचायुत योजन परिमित दूसरा 'विष्णुलोक' नाम से सर्वलोकों का अगम्य लोक है, उसके उपरिभाग में सुमेरु की पूर्वी दिशा की ओर लवण-समुद्र के बीच जल में स्थित बृहदाकार स्वर्णमय 'महाविष्णुलोक' विराजमान है, उसे देखने के लिये ब्रह्मा बीच-बीच में वहाँ जाते रहते हैं,—उस लोक में जनार्द्दन विष्णु लक्ष्मी के साथ शेषरूपी-पलंग में वर्षा के चार मास तक शयन करते हैं। मेरु से पूर्वी दिशा की ओर क्षीरोदधि में क्षीराम्बु के मध्यभाग में 'शुभ्र-वर्णा' नाम से और एक पुरी है, उसमें भगवान् विष्णु लक्ष्मी के साथ शेष रूपी आसन पर बैठते हैं। वहाँ भी प्रभु वर्षा के चार मास निद्रासुख का अनुभव करते हैं। इसी के दक्षिण (दिशा) की ओर क्षीरार्णव में पंचविंशतिसहस्त्र योजन परिमित में 'श्वेतद्वीप' नाम से विख्यात एक परमसुन्दर द्वीप विराजमान है।

ब्रह्माण्डपुराण में भी कहा गया है,—"जो क्षीराब्धि के द्वारा परिवेष्टित (घिरा हुआ) है, जिसका विस्तार लाख योजन है, ** ऐसे अति वृहत् सुदृश्य कांचनमय द्वीप का नाम 'श्वेतद्वीप' है।" इति॥ और भी विष्णु-पुराणादि में एवं महाभारत के मोक्षधर्म में भी— 'क्षीराब्धि के उत्तरी तट पर श्वेतद्वीप वर्तमान है,' आदि वर्णित है। उदक-समुद्र के उत्तरीतट पर श्वेतद्वीप शोभित है, यह पद्मपुराण में भी कहा गया है। भाः ११।१५।१८ श्लोक में श्वेतद्वीप-प्रसङ्ग द्रष्टव्य है।

श्रीलघुभागवततामृत में पुरुषवर्णन के प्रसंग में १० संख्या में—"अथ यत्तु स्याद्रूपं तच्चाप्यदृश्यत। (भाः २।२।८)—'केचित् स्वे-देहान्तः' इति द्वितीयस्कन्दप-द्यतः॥" श्रीबलदेव टीका—तथा च क्षीराब्धिपतिरनि-रुद्धस्तृतीयः पुरुषः प्रादेशमात्रतादृग्विग्रहतया सर्व-जीवहृद्गतो ध्येय इति'। अर्थात् क्षीरशायी तृतीय पुरुष प्रादेशमात्र-विग्रहयुक्त होकर सर्वजीवों के अन्तर्यामी के रूप में ध्येय हैं। विष्णुवर्णन में (२५ संख्या में)—"यो विष्णुः पठ्यते सोऽसौ क्षीराम्बुधिशयो मतः। गर्भो-दशायिनस्तस्य विलासत्वान्मुनीश्वरैः। नारायणो विराड-न्तर्यामी चायं निगद्यते॥" अर्थात् जिन्हें 'विष्णु' के रूप में पढ़ा जाता है, वे क्षीरोदशायी हैं; गर्भोदशायी के विलास के रूप में मुनिगण विष्णु को 'नारायण' एवं विराट् के अन्तर्यामी भी कहते हैं।

क्षीरोदकशायी का ही युग-मन्वन्तरावतार—

युग-मन्वन्तरे धरि' नाना अवतार।
धर्म संस्थापन करे, अधर्म संहार॥११३॥
देवगणे ना पाय, याँहार दरशन।
क्षीरोदकतीरे याइ' करेन स्तवन॥११४॥

११३-११४। प॰ अनु॰—प्रत्येक युग एवं मन्वन्तर में यह क्षीरोदशायी विष्णु अनेक अवतार ग्रहण कर धर्म की संस्थापना और अधर्म का नाश करते हैं। देवगण भी जिनका दर्शन करने में असमर्थ होकर क्षीरसागर के तट पर जाकर उनका स्तव करते हैं।

क्षीरोदकशायी विष्णु ही जगतपालक—

तबे अवतरि' करे जगत् पालन।
अनन्त वैभव ताँर नाहिक गणन॥११५॥
सेइ विष्णु हय याँर अंशांशेर अंश।
सेइ प्रभु नित्यानन्द—सर्व-अवतंस॥११६॥

११५-११६। प॰ अनु॰—तब अवतार लेकर प्रभु जगत् का पालन करते हैं। इस प्रकार इनका अनन्त वैभव है जिसकी गिनती नहीं हो सकती। वे क्षीरोदशायी

विष्णु जिनके अंश के अंश के अंश हैं, वे सर्वश्रेष्ठ श्रीनित्यानन्द प्रभु हैं।

उनका 'शेष' नामक महासर्परूप—

सेइ विष्णु 'शेष' रूपे धरेन धरणी।
काँहा आछे मही, शिरे, हेन नाहि जानि॥११७॥
सहस्र विस्तीर्ण याँर फणार मण्डल।
सूर्य्य जिनि' मणिगण करे झलमल॥११८॥
पञ्चाशत्‌कोटि-योजन पृथिवी विस्तार।
याँर एकफणे रहे सर्षप-आकार॥११९॥

११७-११९। प० अनु०—वही विष्णु 'शेष' रूप में पृथ्वी को धारण करते हैं। सिर पर धारण करते समय वे यह भी नहीं जानते कि पृथ्वी कहाँ है। उनका विस्तीर्ण फणमण्डल (फणसमूह) हजारों की संख्या में सुशोभित है। सूर्य से भी उज्ज्वल ज्योतिसम्पन्न मणिसमूह उनके फणों पर झलमलाती (चमकती) रहती हैं। पृथ्वी का विस्तार पाँच-सौ कोटि-योजन है। वही पृथ्वी उनके एक फण पर सरसों के दाने की भाँति विराजमान है।

अनुभाष्य

११९। भा: ५।१७।२१ एवं भा: ५।२५।२ द्रष्टव्य हैं।

कृष्णभक्त शेषरूपी विष्णु—

सेइ त' 'अनन्त' 'शेष'—भक्त-अवतार।
ईश्वरेर सेवा बिना नाहि जाने आर॥१२०॥

१२०। प० अनु०—वे 'अनन्त' 'शेष' भक्त अवतार हैं, जो भगवान् की सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते।

अनुभाष्य

१२०। श्रीजीवप्रभु श्रीकृष्णसन्दर्भ में (८६ संख्या में)—"वासुदेव-कलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्। अग्रतो भविता देवा हरेः प्रियचिकीर्षया॥ श्रीवसुदेवनन्दनस्य वासुदेवस्य कला प्रथमोऽंशः श्रीसंकर्षणः। स्वराट् स्वेनैव राजते इति। अतएव अनन्तः कालदेशपरिच्छदरहितः; य एव शेषाख्यः सहस्र-वदनोऽपि भवति। एकांशेन शेषाख्येन। स्कान्दे अयोध्या-माहात्म्ये—'ततः शेषात्मतां यातं लक्ष्मणं सत्यसंगरम्। उवाच मधुरं शत्रुः सर्वस्य च स पश्यतः॥ वैष्णवं परमं स्थानं प्राप्नुहि स्वं सनातनम्। भवन्मूर्त्तिः समायाता शेषोऽपि विलसत्फणः॥' इत्युक्त्वा सुरराजेन्द्रो लक्ष्मणं सुरसंगतः। शेषं प्रस्थाप्य पाताले भूभारधरण- क्षमम्॥ अतः (भा: १०।२।८) 'शेषाख्यं धाम मामकम्' इत्यत्रापि (भा: १०।३।२५) 'शिष्यते शेष-संज्ञः इतिवत् अव्यभिचार्य्यंशं एवोच्यते। शेषस्याख्या ख्यातिर्यस्मादिति वा।"

भगवान् के कला (अंश के अंश) श्री- अनन्तदेव सहस्त्रवदन व स्वराट् हैं। वे श्रीहरि का प्रिय कार्य करने की इच्छा से सदैव उनके सामने रहते हैं। वसुदेवनन्दन वासुदेव के प्रथम अंश—सङ्कर्षण हैं। वे स्वयं प्रकाशित होते हैं, इसलिये वे स्वराट् हैं; अतः वे अनन्त अर्थात् कालदेश-सीमा-रहित हैं, वे सहस्त्र- वदन 'शेष' रूप में भी वर्तमान हैं। एकांश में—अर्थात् शेष-नामक अवतार के रूप में। स्कन्दपुराण के अयोध्या-माहात्म्य में—"सबके सामने देवराज इन्द्र शेष-रूपधारी सत्यप्रतिज्ञ लक्ष्मण से कहने लगे,—'आप अपने सनातन विष्णुधाम में जाइये—आपकी फणों से शोभित शेषमूर्त्ति भी आई है।' ऐसा कहकर देवराज इन्द्र भूभार को धारण करने में समर्थ 'शेष' रूपी लक्ष्मण को पाताल में प्रेरित कर देवता के स्थान पर चले गये।" (अर्थात् सङ्कर्षणव्यूह लक्ष्मण श्रीराम के साथ अवतीर्ण होते हैं तो पातालस्थित भू-धारी शेष आकर उनसे मिलित होते हैं, पश्चात् अप्रकटकाल उपस्थित होने पर 'शेष' लक्ष्मण से अलग होकर निज धाम पाताल में एवं लक्ष्मण विष्णुधाम वैकुण्ठ में चले जाते हैं)। इस कारण, 'शेष-नामक मेरा धाम' इस वचन में भी—जिनके द्वारा शेष (सीमा) की प्राप्ति होती है अर्थात् जो सबसे अन्त में अवशिष्ट रहते हैं, वे 'शेष' नाम से जाने जाते हैं—मूल वस्तु के साथ इनका अवशेष जिस प्रकार से अभिन्न है, उसी प्रकार वासुदेव के साथ भी शेष की अभेदांशत्व (अभिन्नता) कथित है, अथवा जिनसे उनकी शेष-नामक ख्याति है, वे 'शेष' है।

लघुभागवतामृत में रुद्रतत्त्ववर्णन के प्रसंग में (१९ संख्या मे) श्रीबलदेव-टीका—"शेषवदिति शार्गिणः शय्यारूपस्तदाधारशक्तिः शेष ईश्वरकोटिः, भूधारी तु तदाविष्टो जीवः" अर्थात् शार्गधनुर्धारी विष्णु की शय्यारूप आधार-शक्ति 'शेष'—ईश्वर-कोटि के हैं एवं भूधारी 'शेष'—शक्त्याविष्ट जीवकोटिके अन्तर्गत हैं। फिर श्रीराम-तत्त्व-वर्णन के प्रसंग में (२८ संख्या में)—"संकर्षणो द्वितीयो यो व्यूहो रामः स एव हि। पृथ्वीधरेण शेषेण संभूय व्यक्ति-मीयिवान्॥ शेषो द्विधा—महीधारी शय्यारूपश्च शार्गिणः। तत्र संकर्षणणावेशाद् भूभृत् संकर्षणो मतः। शय्यारूप स्तथा तस्य सख्य-दास्या-भिमानवान्॥" अर्थात् जो द्वितीय चतुर्व्यूह के सङ्कर्षण हैं, वे भूधारी 'शेष' के साथ मिलित होकर रामरूप से अवतीर्ण हुये हैं। भूधारी एवं भगवान् की शय्यारूप भेद से 'शेष' दो प्रकार के हैं। भूधारी 'शेष' संकर्षण के आवेशावतार हैं, इसलिये उन्हें भी 'संकर्षण' कहा जाता है एवं जो शय्यारूप शेष हैं, वे अपने को भगवान् शार्गधर का दास एवं सखा होने का अभिमान करते हैं।

सर्वक्षण कृष्णकीर्तन-रत एवं चतुःसन के उपदेष्टा—

सहस्र-वदने करे कृष्णगुण गान।
निरवधि गुण गान, अन्त नाहि पा'न॥१२१॥
सनकादि भागवत शुने यार मुखे।
भगवानेर गुण कहे, भासे प्रेमसुखे॥१२२॥

१२१-१२२। प० अनु०—सहस्रवदन से शेष कृष्णगुण-कीर्तन करते हैं। निरन्तर गुण-गान करते हुए भी वे श्रीकृष्ण के गुणों का अन्त नहीं पा सकते। सनकादि चतुःसन इनके मुख से भागवत श्रवण करते हैं, भगवान् की गुणमहिमा कीर्तन करते करते वे प्रेम-सुख में मग्न हो जाते हैं।

दस देह के द्वारा श्रीकृष्ण की सेवा—

छत्र, पादुका, शय्या, उपाधान, वसन।
आराम, आवास, यज्ञसूत्र, सिंहासन॥१२३॥

१२३। प० अनु०—छत्र, पादुका, शय्या, उपाधान (तकिया), वसन, आराम (बगीचा), आवास, यज्ञसूत्र और सिंहासन—इन दस प्रकार से शेष श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं।

शेष-संज्ञा का कारण—

एत मूर्त्ति-भेद करि' कृष्णसेवा करे।
कृष्णेर शेषता पाञा 'शेष' नाम धरे॥१२४॥
सेइ त' अनन्त, याँर कहि एक कला।
हेन प्रभु नित्यानन्द, के जाने ताँर खेला॥१२५॥

१२४-१२५। प० अनु०—इतने प्रकार से वे श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं और श्रीकृष्ण की शेषता अर्थात् चरम दास्य को पाकर 'शेष'—नाम धारण करते हैं। ये 'अनन्तदेव' जिनकी एक कला हैं, उन श्रीनित्यानन्द प्रभु की लीला को कौन जान सकता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२४। 'शेषता'—चरम दास्य के अर्थ में।

अनुभाष्य

१२४। (भाः १०।३।२५)—"भवानेकः शिष्यते 'शेष'-संज्ञः।"

समुदय विष्णु-अवतार ही श्रीकृष्ण के अंश होने के कारण तत्त्वतः श्रीकृष्ण के साथ अभेदहेतु श्रीकृष्ण को 'विष्णु' कहकर (पुकारना) दोषावह नहीं—

एसब प्रमाणे जानि नित्यानन्दतत्त्वसीमा।
ताँहाके 'अनन्त' कहि, कि ताँर महिमा॥१२६॥
अथवा भक्तेर वाक्य मानि सत्य करि'।
सकल सम्भवे ताँते, याते अवतारी॥१२७॥
अवतार-अवतारी—अभेद, ये जाने।
पूर्वे यैछे कृष्णके केहो काहो करि' माने॥१२८॥

१२६-१२८। प० अनु०—इन सब प्रमाणों से श्रीनित्यानन्द प्रभु के तत्त्व की सीमा को जाना जा सकता है। उन्हें केवल 'अनन्त' कहना ही क्या उनकी महिमा है? परन्तु भक्तों के वचन को सत्य मानता हूँ, क्योंकि अवतारी (श्रीनित्यानन्द प्रभु) में सबकुछ सम्भव है। जो

यह मानते हैं कि अवतार और अवतारी अभिन्न हैं, उन्हें यह भी पता है कि पहले जैसे श्रीकृष्ण को कोई कुछ तो कोई कुछ कहकर मानते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२८। अवतार एवं अवतारी का भेद जिन्हें पता नहीं, उन्होंने जिस प्रकार पहले श्रीकृष्ण को 'वामन' आदि के समान माना, उसी प्रकार अवतार और अवतारी को अभिन्न मानने वाले व्यक्ति श्रीनित्यानन्द प्रभु को भी 'अनन्त' आदि कहकर सम्बोधित करते हैं; वस्तुतः, भक्तों ने जब ऐसा कहा है, तो वह झूठ नहीं है, क्योंकि सर्वोच्च-तत्त्व में सबकुछ सम्भव है।

विभिन्न अवतार के रूप में अवतारी का अभिधान (नाम)—

केहो बले, कृष्ण साक्षात् नरनारायण।
केहो कहे, कृष्ण हय साक्षात् वामन॥१२९॥
केहो कहे, कृष्ण क्षीरोदशायी-अवतार।
असम्भव नहे, सत्य वचन सबार॥१३०॥
कृष्ण यवे अवतरे सर्वांश-आश्रय।
सर्वांश आसि' तबे कृष्णेते मिलय॥१३१॥
येइ येइ रूपे जाने, सइ ताहा कहे।
सकल सम्भवे कृष्णे, किछु मिथ्या नहे॥१३२॥

१२९-१३२। प० अनु—कोई कहता है, श्रीकृष्ण नरनारायण हैं। कोई कहता है, श्रीकृष्ण साक्षात् वामन हैं। कोई कहता है, श्रीकृष्ण क्षीरोदशायी के अवतार हैं। इसमें कुछ भी असम्भव नहीं है, सभी के वचन सत्य हैं। समस्त अवतारों के आश्रय श्रीकृष्ण जब अवतीर्ण होते हैं तब सभी अवतार उनमें आकर मिल जाते हैं। जो जिस रूप को जानता है, वह वैसा ही कहता है क्योंकि श्रीकृष्ण में सबकुछ सम्भव है, कुछ भी असम्भव नहीं।

अनुभाष्य

१२६-१३२। लघुभागवतामृत में श्रीरूपप्रभु पहले—'श्रीकृष्ण क्षीरशायी के अवतार हैं,' 'श्रीकृष्ण परव्योमपति नारायण के प्रथम व्यूह वासुदेव के अवतार हैं,' 'श्रीकृष्ण नारायण के विलास हैं' आदि पूर्वपक्षसमूह का खण्डन करके (१३६, १३७, १३९ संख्या में) श्रीमद्भागवत के ३।२।१५ श्लोक का उद्धारण देकर कह रहे हैं—"निज शान्तरूप अर्थात् वसुदेवादि भक्तवृन्द विकृतरूप अर्थात् भीषण-दर्शन कंसादि दैत्यों के द्वारा सताये जाने पर, अग्निमन्थन-काष्ठ अरणि से जिस प्रकार अग्नि प्रकटित होती है, उसी प्रकार चित् एवं अचित् के ईश्वर परम-दयालु श्रीकृष्ण अज (जन्मरहित) होकर भी वैकुण्ठनाथ आदि-विलास के साथ युक्त अथवा मिलित होकर कृष्णलोक से प्रपंच में अवतीर्ण होते हैं।" श्रीकृष्णव्यूह, निज विलास—परव्योमनाथ व्यूह के साथ एकता को प्राप्त कर प्रपंच में आगमन पूर्वक प्रादुर्भूत हुये हैं। वे उनके प्रसिद्ध अवतार 'पुरुषादि', श्रीराम, नृसिंह, वराह, वामन, नरनारायण, हयग्रीव एवं अजिता आदि के साथ सदैव योगप्राप्त होकर अवस्थान करते हैं। श्रीवृन्दावन में भी श्रीकृष्ण में उन उन अवतारों की लीलाएँ दिखाई देती हैं। अतएव ब्रह्माण्डपुराण ने भी कहा है कि,—"जो वैकुण्ठ में चतुर्भुजस्वरूप हैं, जो श्वेतद्वीपपति हैं, जो नर के सखा नारायण हैं, वही पुरुषोत्तम नन्दनन्दन हैं। जैसे महाग्नि से शत सहस्त्र विस्फुलिंग समूह निःसृत होकर फिर से उसमें ही विलीन हो जाते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण के अन्यान्य असंख्य मनोहर अवतार समूह फिर से उनमें ही एकता को प्राप्त करते हैं।" अतएव पुराणादि में श्रीकृष्ण को किसी ने नरसखा नारायण, किसी ने उपेन्द्र अर्थात् वामन, किसी ने क्षीरोदशायी, किसी ने सहस्त्रशीर्षा गर्भोदशायी, अथवा किसी ने वैकुण्ठ-नाथ के रूप में कीर्तन किया है। क्योंकि, श्रीकृष्णस्वरूप में अवस्थित मूल-संकर्षण से आविर्भूत (अर्थात इच्छामात्र से प्रकटित) बदरीनाथादिरूप की लीलामात्र-दर्शन से उन उन मुनिवृन्द ने उन उन लीलाभेद-युक्त विष्णु-चरित के अनुगामी होकर उस उस विष्णुरूप में श्रीकृष्ण को अभिहित किया है। अतएव मूल-अवतारी को 'अवतार' नाम से अभिहित करने पर भी तत्त्वतः कोई दोष नहीं होता। आदि, द्वितीय पः ११०-११५ संख्या द्रष्टव्य हैं।

नित्यानन्द के द्वारा गौरसुन्दर के सभी अवतार प्राकट्य—

अतएव श्रीकृष्णचैतन्य गोसाञि।
सर्व अवतार-लीला करि' सबारे देखाइ॥१३३॥
एइरूपे नित्यानन्द 'अनन्त'-प्रकाश।
सेइभावे—कहे मुञि चैतन्येर दास॥१३४॥

१३३-१३४। प० अनु०—अतएव श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने सबको सभी अवतारों की लीलाएँ करके दिखाई। इस प्रकार श्रीनित्यानन्द प्रभु 'अनन्त' के प्रकाश हैं एवं उन्हीं 'अनन्त' के भाव में कहते हैं—"मैं चैतन्य का दास हूँ"।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३३। अतएव सर्वोच्चतत्त्व श्रीकृष्णचैतन्य ने वराह-नृसिंह आदि अवतार लीलाएँ करके दिखाई थीं।

विभिन्नरूपों में, विभिन्नभाव में नित्यानन्द-राम की गौरकृष्णसेवा—

कभु गुरु, कभु सखा, कभु भृत्य-लीला।
पूर्वे येन तिनभावे ब्रजे कैल खेला॥१३५॥
वृष हञा कृष्णसने माखामाखि रण।
कभु कृष्ण करे ताँर पाद सम्वाहन॥१३६॥

१३५-१३६। प० अनु०—कभी गुरु, कभी सखा और कभी दास बनकर भी पहले व्रज लीला में श्रीबलराम तीन भावों से लीला करते थे। बैल के समान श्रीबलदेव श्रीकृष्ण के सिर के साथ सिर मिलाकर भिड़ते थे तो कभी श्रीकृष्ण श्रीबलदेव की चरण सेवा करते थे।

नित्यानन्दराम को अपने में सदैव गौरकृष्णदास-ज्ञान—

आपनाके भृत्य करि' कृष्णे प्रभु जाने।
कृष्णेर कलार कला आपनाके माने॥१३७॥

१३७। प० अनु०—श्रीबलदेव प्रभु अपने को दास समझकर श्रीकृष्ण को प्रभु मानते हैं और अपने को श्रीकृष्ण की कला की भी कला मानते हैं।

रामकृष्ण की क्रीड़ाएँ—(श्रीमद्भागवत १०.११.४०)

वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्।
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा॥१३८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१३८। कभी प्राकृत व्यक्ति की भाँति वृषरूप होकर शब्द करते-करते दोनों भाई युद्ध करते, तो कभी हंस-मोर आदि का अनुकरण करके उनके जैसा शब्द करते थे।

अनुभाष्य

१३८। कृष्ण-राम की बाल्यक्रीड़ा-वर्णन में ये दो श्लोक कथित हैं—वृषायमाणौ (वृषवदाचरन्तौ) नर्दन्तौ (तद्वच्छब्दायमानौ) कृष्ण-बलदेवौ परस्परं युयुधाते। रुतैः (आनुकरणिक शब्दैः) जन्तून् अनुकृत्य प्राकृतौ बालकौ यथा तथा चेरतुः।

कृष्ण के द्वारा राम की पादसंवाहनादि-सेवा—
(श्रीमद्भागवत १०.१५.१४ श्लोक)

क्वचित् क्रीड़ा-परिश्रान्तं गोपोत्संगोपवर्हणम्।
स्वयं विश्रामयत्यार्य्यं पादसंवाहनादिभिः॥१३९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१३९। कभी क्रीड़ा-परिश्रम के कारण राखालों (गोपबालकों) की गोद में मस्तक रखकर, श्रीकृष्ण स्वयं शयन करते एवं बलदेव को शयन के कराके उनका पाद-संवाहन करते थे।

अनुभाष्य

१३९। क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं (क्रीडया परिश्रान्त) गोपोत्संगोपवर्हणं (गोपोत्संगः उपवर्हणं उपाधानं यस्य तम्) आर्य्यम् (अग्रजं बलदेव) पादसंवाहनादिभिः (पादसेवना-दिभिः) स्वयं (कृष्णः) विश्रामयति (विगतश्रम करोति)।

कृष्ण की योगमाया-दर्शन से बलदेव को विस्मय—
(श्रीमद्भागवत १०.१३.३७ श्लोक)

केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्य्युतासुरी।
प्रायो मायास्तु मे भर्त्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी॥१४०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१४०। यह माया कौन है? कहाँ से आयी है? क्या यह दैवी, मानुषी, अथवा आसुरी है? मुझे विमोहित

करने में मेरे प्रभु श्रीकृष्ण की माया के अतिरिक्त और कोई भी माया समर्थ नहीं है।

अनुभाष्य

१४०। ब्रह्मा के द्वारा गोवत्स अपहरण करने पर श्रीकृष्ण ने पुनः गोवत्सादि का सृजन करके यथारीति (यथापूर्व) लीला की। एकदिन श्रीबलदेव गायों की चेष्टाओं को देखकर उसे समझने में समर्थ होकर विस्मित हुये—

इयं (माया) का? कुत वा आयाता? किं दैवी (देव सम्बन्धिनी), नारी (नरसम्बन्धिनी)? वा (उत) आसुरी (असुरसम्बन्धिनी) प्रायः माया में (मम) भर्त्तुः (स्वामिनः भागवतः एव) अस्तु अन्या (माया) न (यतः) इयं मे (मम) अपि विमोहिनी।

कृष्णपादपद्म में षड़ैश्वर्य नित्य विद्यमान—
(श्रीमद्भागवत १०.६८.३७)

यस्याङ्घ्रिपंकजरजोऽखिललोक-पालै—
र्म्मौल्युत्तमैर्धृतमुपासित-तीर्थतीर्थम्।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः
श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व?१४१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१४१। लोकपाल और समस्त तीर्थों के तीर्थ-स्वरूप जिनकी पदरज को अपने मस्तक पर धारण करते हैं एवं ब्रह्मा, शिव, मैं बलदेव तथा लक्ष्मी—हममें से कोई अंश अथवा अंशांश के रूप में जिनकी पदरज को सदा धारण करते हैं, उनके सामने सामान्य राजसिंहासन का क्या माहात्म्य है?

अनुभाष्य

१४१। कौरवगण श्रीकृष्ण के प्रति निन्दा-वचनों का प्रयोग करके श्रीबलदेव को अपने पक्ष में लाने के लिये प्रयास करने पर श्रीबलदेव ने रुष्ट होकर उन सबसे कहा,—

यस्य (कृष्णस्य) अङ्घ्रिपंकजरजः (पादपद्मरेणुः) अखिललोकपालैः (निखिलाधीश्वरैः) मौल्युत्तमैः (शिरोभूषणयुक्तैः उत्तमांगैः) धृतं (धारणया मनसि कृतम्) उपसिततीर्थतीर्थं (उपासितानि तीर्थानि यैः योगिभिः, तेषाम् अपि तीर्थं) यस्य कलायाः कलाः (विकलाः) ब्रह्माः, भवः (शिव) अहं (बलदेवः), श्रीः (लक्ष्मीः च) अपि चिरं (चिरकाल) व्याप्य उद्वहेम (शिरसि उद्वोढुं प्रार्थयाम्) अस्य (भगवतः कृष्णस्य) नृपासनं क्व (कुत्र)?

स्वयंरूप श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वेश्वर—

एकला ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।
यारे यैछे नाचाय, से तैछे करे नृत्य॥१४२॥

१४२। प० अनु०—एकमात्र श्रीकृष्ण ही ईश्वर हैं और सब उनके दास हैं। जिसको वे जैसे नचाते हैं वह वैसे ही नाचता है।

गौरसुन्दर ही परमेश्वर, उनके
संगीगण उनके दास—

एइ मत चैतन्यगोसाञि एकला ईश्वर।
आर सब पारिषद, केह वा किंकर॥१४३॥
गुरुवर्ग,—नित्यानन्द, अद्वैत आचार्य।
श्रीवासादि, आर यत—लघु, सम, आर्य॥१४४॥
सबे पारिषद, सबे लीलार सहाय।
सबा लञा निज-कार्य साधे गौर-राय॥१४५॥

१४३-१४५। प० अनु०—इसी प्रकार श्रीचैतन्य गोसाईं ही एकमात्र ईश्वर हैं अन्य सब कोई उनके पार्षद तो कोई उनका दास है। श्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रीअद्वैताचार्य श्रीमन् महाप्रभु के गुरुवर्ग हैं। श्रीवासादि एवं अन्य सभी पार्षद में कोई लघु अर्थात् दास, कोई समान अर्थात् सखा तो कोई आर्य अर्थात् उनसे बड़ा है। सभी पार्षद ही हैं तथा सभी लीला में सहायक हैं अतएव इन सभी को साथ लेकर श्रीगौरराय अपने कार्य को पूर्ण करते हैं।

गौर के दो अङ्ग—निताइ एवं अद्वैत—

अद्वैत आचार्य, नित्यानन्द,—दुइ अंग।
दुइजन लञा प्रभुर यत किछु रंग॥१४६॥

१४६। प० अनु—श्रीअद्वैत आचार्य और श्रीनित्या-

नन्द प्रभु दोनों श्रीमन् महाप्रभु के अङ्ग हैं। इन दोनों को लेकर ही प्रभु ने समस्त लीला की है।

अनुभाष्य

१४६। आदि ३य पः ७१ संख्या द्रष्टव्य है।

महाविष्णु के अवतार होकर भी अद्वैतप्रभु का अपने आप को गौरदास-ज्ञान—

अद्वैत-आचार्य-गोसाञि साक्षात् ईश्वर।
प्रभु, गुरु करि' माने तिँहो त' किंकर॥१४७॥

१४७। प० अनु०—अद्वैत आचार्य गोसाईं साक्षात् ईश्वर हैं। श्रीमन् महाप्रभु उन्हें गुरु रूप में मानते हैं, परन्तु श्रीअद्वैताचार्य अपने को प्रभु का दास ही जानते हैं।

अनुभाष्य

१४७। श्रीमन् महाप्रभु अद्वैत आचार्य को गुरुवर्ग के अन्यतम-ज्ञान से सम्मान प्रदर्शन करने पर भी श्रीअद्वैतप्रभु अपने आप को श्रीचैतन्य महाप्रभु का दास समझते थे। वे श्रीमन् महाप्रभु के पिता के समसामयिक एवं मित्र हैं। श्रीईश्वरपुरी एवं श्रीअद्वैतप्रभु श्रीमाधवेन्द्रपुरी के शिष्य हैं। श्रीईश्वरपुरी को दीक्षागुरु के रूप में स्वीकार करने के कारण, श्रीअद्वैतप्रभु श्रीमन् महाप्रभु के गुरु के सतीर्थ (गुरु भाई) एवं गौरव के पात्र हैं।

जीवों के प्रति आचार्य की दया का परिचय—

आचार्य-गोसाञिर तत्त्व ना याय कथन।
कृष्ण अवतारिया येंहो तारिल भुवन॥१४८॥

१४८। प० अनु०—श्रीकृष्ण को अवतीर्ण करवाकर जिन्होंने भुवन का उद्धार किया है, उन आचार्य गोसाईं की तत्त्व-महिमा का वर्णन करना सम्भव नहीं है।

कनिष्ठ लक्ष्मण के रूप में ज्येष्ठ रामचन्द्र की सेवा के फलस्वरूप कृष्णावतार में बलराम की ज्येष्ठता एवं कृष्ण की कनिष्ठता—

नित्यानन्दस्वरूप पूर्वे हइया लक्ष्मण।
लघुभ्राता हइया करे रामेर सेवन॥१४९॥
रामेर चरित्र सब,—दुःखेर कारण।
स्वतन्त्र लीलाय दुःख सहेन लक्ष्मण॥१५०॥
निषेध करिते नारे, याते छोट भाइ।
मौन धरि' रहे लक्ष्मण मने दुःख पाइ'॥१५१॥
कृष्ण-अवतारे ज्येष्ठ हैला सेवार कारण।
कृष्णके कराइल नाना सुख आस्वादन॥१५२॥
राम-लक्ष्मण—कृष्ण-रामेर अंशविशेष।
अवतार-काले दोँहे दोहाँते प्रवेश॥१५३॥
सेइ अंश लञा ज्येष्ठ-कनिष्ठाभिमान।
अंशांशी-रूपे शास्त्रे करये व्याखान॥१५४॥

१४९-१५४। प० अनु०—पूर्व युग में, श्रीनित्यानन्द-स्वरूप ने छोटे भाई लक्ष्मण के रूप में श्रीराम की बहुत सेवा की। सम्पूर्ण श्रीरामचरित दुःख से भरा हुआ है एवं स्वतन्त्र लीला में श्रीलक्ष्मण ने उन सभी दुःखों को सहन किया। लक्ष्मण छोटे भाई होने के कारण श्रीराम की क्रियाओं को निषेध नहीं कर सकते थे, इसलिए मन-ही-मन दुःख पाकर चुप रह जाते थे। (अपनी इसी) सेवा के कारण कृष्णावतार में लक्ष्मण ज्येष्ठ (बड़े भाई) बनकर आये और श्रीकृष्ण की अनेक प्रकार की सेवाकर उन्हें सुख का आस्वादन करवाया। श्रीराम-लक्ष्मण, श्रीकृष्ण-बलराम के अंशविशेष हैं। श्रीकृष्ण अवतार के समय श्रीराम-लक्ष्मण श्रीकृष्ण-बलराम में प्रवेश कर गये। उसी अंश को लेकर ज्येष्ठ और कनिष्ठरूप अभिमान विद्यमान रहता है, इसलिए शास्त्र अंशी एवं अंश के रूप में व्याख्या करते हैं।

अनुभाष्य

१४९। दशनामी दण्डिदल में ब्रह्मचारियों की चार प्रकार की उपाधियाँ हैं—'स्वरूप', 'आनन्द', 'प्रकाश', एवं 'चैतन्य'—श्रीनित्यानन्द प्रभु तीर्थ-भ्रमण के समय जिन संन्यासी के निकट थे, उनकी उपाधि 'तीर्थ' अथवा 'आश्रम' होने के कारण उनका ब्रह्मचारी—नाम 'नित्यानन्द-स्वरूप' हुआ था।

१५३। लघुभागतामृत में श्रीराघवेन्द्रतत्त्व-वर्णन-प्रसङ्ग में २० संख्या के मर्मानुवाद—'विष्णुधर्मोत्तर में

राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न को क्रमानुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के अवतार एवं पद्मपुराण में रामचन्द्र को नारायण एवं लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न को क्रमानुसार 'शेष', 'चक्र' एवं 'शंख' के रूप में कीर्तित किया गया है।

१५४। लघुभागवतामृत में—लीलावतार-निरूपण के प्रसङ्ग के ७९ संख्या के अनुवाद—स्कन्दपुराण की रामगीता में कहा गया है कि, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न—ये तीनों श्रीराम के व्यूहस्वरूप हैं।

कृष्ण ही स्वयंरूप, अन्यान्य सब अवतार उनके अंश अथवा कला—
(ब्रह्मसंहिता ५.३९)

रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥१५५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५५। कलाविभाग से रामादि मूर्त्तियों में भगवान् ने जगत् में नाना अवतारसमूह को प्रकाशित किया था; किन्तु जो परमपुरुष स्वयं कृष्णरूप में प्रकट होते हैं, मैं उन आदि-पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ।

अनुभाष्य

१५५। यः परमः पुमान् कृष्णः कलानिय-मेन (अंशांशभावादिना) रामादिमूर्त्तिषु तिष्ठन् (तत्तन्नैमित्ति-कावतारमूर्त्तीः प्रकटयन्) नानावतराम् अकरोत्, किन्तु स्वयं समभवत्, तं गोविन्दम् आदिपुरुषं अहं भजामि।

नित्यानन्द द्वारा ही नाम प्रेम-प्रचाररूप गौरवाञ्छा-पूर्ण—

श्रीचैतन्य—सेइ कृष्ण, नित्यानन्द-राम।
नित्यानन्द पूर्ण करे चैतन्येर काम॥१५६॥

१५६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु वही श्रीकृष्ण एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु वही श्रीबलराम हैं, श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीचैतन्य महाप्रभु की सभी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं।

नित्यानन्द की महिमा असीम—

नित्यानन्द-महिमा-सिन्धु अनन्त, अपार।
एक कणा स्पर्शि मात्र,—से कृपा ताँहार॥१५७॥

१५७। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु की महिमा सिन्धु के समान अनन्त अपार है। उन्हीं की कृपा से ही उनकी महिमा के एक कण को स्पर्शमात्र कर पाया हूँ।

निज-वृत्तान्त द्वारा नित्यानन्द-कृपा-माहात्म्य-वर्णन—

आर एक शुन ताँर कृपार महिमा।
अधम जीवेरे चड़ाइल ऊर्द्ध्वसीमा॥१५८॥
वेदगुह्य कथा एइ अयोग्य कहिते।
तथापि कहिये ताँर कृपा प्रकाशिते॥१५९॥
उल्लास-उपरि लेखों तोमार प्रसाद।
नित्यानन्द प्रभु, मोर क्षम अपराध॥१६०॥

१५८-१६०। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु की कृपा की महिमा के सम्बन्ध में और एक वृत्तान्त सुनिये। जिससे उन्होंने मुझ जैसे अधम जीव को भी उच्च पद पर चढ़ाया है। वेद भी जिसे गोपन रखते हैं उस कथा को मेरे समान अयोग्य व्यक्ति, उन्हीं की कृपा को प्रकाशित करने के लिए कह रहा है। अत्यन्त उल्लसित होकर आपकी कृपा को वर्णन कर रहा हूँ। हे श्रीनित्यानन्द प्रभु! मेरे अपराध को क्षमा कीजिये।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६०। उल्लास-उपरि—अत्यन्त उल्लसित होकर गोपन रखने में असमर्थ होने के कारण मैं आपकी प्रसन्नता का आख्यान लिख रहा हूँ।

सेवक-माहात्म्य-वर्णन; मीनकेतन रामदास—

अवधूत गोसाञिर एक भृत्य प्रेमधाम।
मीनकेतन रामदास हय ताँर नाम॥१६१॥
आमार आलये अहोरात्र-संकीर्तन।
ताहाते आइला तेंहो पाञा निमन्त्रण॥१६२॥

१६१-१६२। प० अनु०—अवधूत गोसाईं (श्रीनित्यानन्द प्रभु) के एक दास जो प्रेम के आधार एवं

जिनका नाम मीनकेतन रामदास है। वे एक बार निमन्त्रण पाकर मेरे घर में आयोजित अहोरात्र (अष्ट-प्रहर) संकीर्त्तन के लिए पधारे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६१। अवधूत-गोसाञि—श्रीनित्यानन्द प्रभु। प्रेम-धाम—प्रेम का आधार।

अनुभाष्य

१६१। अवधूत शब्द के अर्थ में भा: ३।१।१९ श्लोक की टीका में श्रीधर स्वामिपाद ने 'असंस्कृत-देह' लिखा है। अवधूत श्रीनित्यानन्द प्रभु के शिष्य भी महाभागवत परमहंस एवं वर्णाश्रम के अतीत नित्यसिद्ध थे, अत: उनके शरीर में वर्णाश्रम का कोई चिह्न न रहने के कारण वे 'असंस्कृत-देह' में भी व्रज-भाव में मत्त रहते थे।

मीनकेतन रामदास—आदि, ११श प:५३ संख्या अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

१६२। अहोरात्र—अष्ट प्रहर। उस समय कीर्तनोत्सव में शुद्धभक्तवृन्द के बीच परस्पर निमन्त्रणपत्री देने की प्रथा थी।

महाभागवत अथवा परमहंसावस्था—

महाप्रेममय तिँहो बसिला अंगने।
सकल वैष्णव ताँर, वन्दिला चरणे॥१६३॥
नमस्कार करिते, का'र उपरेते चड़े।
प्रेमे का'रे वंशी मारे, काहाके चापड़े॥१६४॥
ये नयन देखिते अश्रु हय मने यार।
सेइ नेत्रे अविच्छिन्न बहे अश्रुधार॥१६५॥
कभु कोन अंगे देखि पुलक-कदम्ब।
एक अंगे जाड्य ताँर, आर अंगे कम्प॥१६६॥
नित्यानन्द बलि' यबे करेन हुँकार।
ताहा देखि' लोकेर हय महा-चमत्कार॥१६७॥

१६३-१६७। प० अनु०—महा प्रेममय श्रीमीनकेतन रामदास आँगन में बैठे थे और सभी वैष्णव उनके चरणों की वन्दना कर रहे थे। वैष्णवों के द्वारा नमस्कार किये जाने पर वे कभी किसी के ऊपर चढ़ जाते, कभी प्रेम से किसी को वंशी मारते तथा किसी को थप्पर मारने लगते। जिनके नेत्रों को देखने से जीवों के नेत्रों में स्वभाविक रूप से अपने आप अश्रु प्रवाहित होने लगते, उन मीनकेतन रामदास के नेत्रों से अविश्रान्त अश्रुधाराएँ प्रवाहित होती थीं। कभी उनके अङ्ग में पुलक दिखाई दे रहा था, कभी किसी अङ्ग में स्तम्भ या किसी अङ्ग में कम्प हो रहा था। 'नित्यानन्द' कहकर जब वे हुँकार करते थे तो उसे देख लोगों में महान् चमत्कार का उदय हो जाता।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६५। जिनके नेत्रों को देखने से जीवों के नेत्रों में स्वभाविक रूप से अपने आप अश्रु प्रवाहित होने लगते, उन मीनकेतन रामदास के नेत्रों से अविश्रान्त अश्रुधाराएँ प्रवाहित होती थीं। पाठभेद में,—'ये नयने देखिते'—जिनके मन में जिन नेत्रों में आँसू देखने की इच्छा होती उनका वही नेत्र आँसू वहन करता है।

१६६। कदम्ब—समूह। जाड्य-स्तम्भ।

अश्रद्धाहेतु वैष्णवचरण में प्राकृत कनिष्ठ भक्त का अपराध—

गुणार्णव मिश्र नामे एक विप्र आर्य।
श्रीमूर्त्ति-निकटे तेंहो करे सेवा-कार्य॥१६८॥
अंगने वसिया तेंहो ना कैल सम्भाष।
ताहा देखि' क्रुद्ध हञा बले रामदास॥१६९॥
'एइ त' द्वितीय सूत रोमहरषण।
बलदेव देखि' ये ना कैल प्रत्युद्गम'॥१७०॥

१६८-१७०। प० अनु०—गुर्णाणव मिश्र नाम के एक ब्राह्मण श्रीमूर्त्ति की सेवा में व्यस्त थे। आङ्गन में बैठकर भी श्रीरामदास को प्रणाम नहीं किया। यह देखकर श्रीरामदास क्रोधित होकर कहने लगे—'यह दूसरा रोम-हर्षण सूत है जिसने बलराम को देखकर भी उनका प्रत्युद्गम (सम्मान-पूर्वक उठकर प्रणाम) नहीं किया था।

अनुभाष्य

१७०। भा: १०।७८।२२-२८ श्लोकों में नैमिषारण्य

में बलदेव के द्वारा व्यास-शिष्य रोमहर्षण के वध का वृत्तान्त वर्णित है।

अपमानित होकर भी वैष्णव अदोषदर्शी—

एत बलि' नाचे गाय, करये सन्तोष।
कृष्णकार्य करे विप्र—ना करिल रोष॥१७१॥
उत्सवान्ते गेला तिंहो करिया प्रसाद।
मोर भ्राता-सने ताँर किछु हइल वाद॥१७२॥

१७१-१७२। प० अनु०—इतना कहकर श्रीमीन-केतन रामदास आनन्दित हृदय से नृत्यकीर्तन करने लगे तथा ब्राह्मण भी कृष्णकार्य करने लगा वे क्रोधित नहीं हुआ। उत्सव के उपरांत वे प्रसाद लेकर सम्मानपूर्वक चले गये। मेरे भाई के साथ श्रीमीनकेतन रामदास का कुछ तर्क-वितर्क हुआ।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६९-१७१। श्रीमूर्त्तिसेवक गुणार्णव मिश्र के द्वारा आँगन में बैठकर भी श्रीनित्यानन्द प्रभु के दास मीनकेतन के साथ सम्भाषण न करने के कारण श्रीरामदास ने क्रोधित होकर कहा—'यह गुणार्णव मिश्र—दूसरा रोम-हर्षण सूत है।' तात्पर्य यही है कि, जिस प्रकार नैमिषा-रण्य-क्षेत्र में श्रीबलदेव प्रभु को देखकर रोमहर्षणसूत ने व्यास-आसन को परित्याग करके सम्भाषण नहीं किया था, उसी प्रकार गुणार्णव मिश्र ने भी सम्भाषण न करके अन्याय-पूर्ण व्यवहार किया है। गुणार्णव मिश्र के मन में श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्रति विशेष श्रद्धा नहीं थी। यह जानकर श्रीमीनकेतन के मन में भी ब्राह्मण के प्रति अश्रद्धा का जन्म हुआ। श्रीमीनकेतन के इस कार्य को अभिमान कहकर भक्तवृन्द उनके प्रति दोषारोपन नहीं करते।

कविराज गोस्वामी के भाई की गौरनिष्ठा,
किन्तु नित्यानन्द और वैष्णवों में अश्रद्धा—

चैतन्यप्रभुते ताँर सुदृढ़ विश्वास।
नित्यानन्द-प्रति ताँर विश्वास-आभास॥१७३॥

१७३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रति मेरे भाई का सुदृढ़ विश्वास था। परन्तु श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्रति विश्वास में अभाव था।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७२-१७३। उक्त व्यवहार को देखकर मेरे भाई ने मीनकेतन के साथ कुछ वादानुवाद किया था। मेरे भाई का श्रीचैतन्य महाप्रभु में सुदृढ़ विश्वास था, किन्तु श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्रति वैसा विश्वास न था।

अनुभाष्य

१७३। विश्वास-आभास—अति सामान्य (अल्प) विश्वास।

भाई के प्रति कविराज गोस्वामी की भर्त्सना—

इहा जानि' रामदासेर दुःख हइल मने।
तबे त' भ्रातारे आमि करिनु भर्तसने॥१७४॥

१७४। प० अनु०—यह जानकर श्रीरामदास के मन में दुःख हुआ और उनके दुःख को देखकर मैंने अपने भाई का तिरस्कार किया।

अखण्डतत्त्व को खण्डवस्तुज्ञान से अश्रद्धा—पाषण्डता मात्र—

दुइ भाइ एकतनु—समान-प्रकाश।
नित्यानन्द ना मान, तोमार हबे सर्वनाश॥१७५॥
एकेते विश्वास, अन्ये ना कर सम्मान।
"अर्द्धकुक्कुटि-न्याय" तोमार प्रमाण॥१७६॥

१७५-१७६। प० अनु०—दोनों भाई (श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु) एक तनु एवं समान-प्रकाश हैं। तुम नित्यानन्द को नहीं मानते, इसलिए तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा। एक में विश्वास करते हो और दूसरे के प्रति सम्मान नहीं। तुम्हारा यह प्रमाण (सिद्धान्त) "अर्द्धकुक्कुटि-न्याय" है।

गौर के अतिरिक्त निताइ में, निताइ के अतिरिक्त
गौर में विश्वास भक्तिविरोध-मात्र—

किंवा, दोहाँ ना मानिया हओ त' पाषण्ड।
एके मानि' आरे ना मानि—एइमत भण्ड॥१७७॥

१७७। प० अनु०—अथवा, दोनों को न मानकर पाषण्डी बन जाओ एक को मानते हो और दूसरें को अस्वीकार करते हो—तुम ऐसे ढ़ोगी हो।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७६-१७७—"अर्द्धकुक्कुटी-न्याय"—"अर्द्धजर-तीय (बूढ़ी स्त्री) न्याय" अर्थात् कुक्कुट (मुर्गा) का अर्द्धांश वृद्ध है, अर्द्धांश युवा है, यह बात प्रमाण में नितान्त अस्वीकार्य है। उसी प्रकारसे अर्द्धकुक्कुटी-न्याय का अवलम्बन-पूर्वक एक अखण्ड-ईश्वर श्रीचैतन्य-नित्यानन्द में से एक को मान रहे हो एवं दूसरे को नहीं मान रहे हो,—यही तुम्हारा पाषण्डता एवं भण्डता है।

भक्त की अवमाननाहेतु गौरनिष्ठ भाई का सर्वनाश एवं अधःपतन—

क्रुद्ध हइया वंशी भाँगि चले रामदास।
तत्काले आमार भ्रातार हैल सर्वनाश॥१७८॥
एइ त' कहिल ताँर सेवक-प्रभाव।
आर एक कहि ताँर दयार स्वभाव॥१७९॥

१७८-१७९। प० अनु०—क्रोधित होकर श्रीरामदास वंशी को तोड़कर चले गये। उसी समय मेरे भाई का सर्वनाश हो गया। यहाँ तक श्रीनित्यानन्द प्रभु के सेवक श्रीरामदास के प्रभाव को दिखाया गया अब उन दयालु श्रीनित्यानन्द प्रभु के कृपा स्वभाव का वर्णन करता हूँ।

नित्यानन्द की दया का परिचय—

भाइके भर्तसिनु मुञि, लञा एइ गुण।
सेइ रात्रे प्रभु मोरे दिला दरशन॥१८०॥

१८०। प० अनु०—मैंने अपने भाई की जो भर्त्सना की, मेरे इसी गुण के कारण उसी रात प्रभु ने मुझे दर्शन दिया।

स्वप्न में नित्यानन्द-दर्शन—

नैहाटी-निकटे 'झामटपुर' नामे ग्राम।
ताँहा स्वप्ने देखा दिला नित्यानन्द-राम॥१८१॥

१८१। प० अनु०—नैहाटी गाँव के पास 'झामटपुर' नाम का गाँव है। वहीं पर श्रीनित्यानन्द-राम ने मुझे स्वप्न में दर्शन दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१८१। काटोया से दो कोस उत्तरी दिशा की ओर नैहाटीगाँव के पास 'झामटपुर' नामक गाँव में श्रील कविराज गोस्वामी का निवास स्थान था। अब भी वहाँ श्रीमन् महाप्रभु का विग्रह है।

अनुभाष्य

१८१। 'झामटपुर' जाने के लिए काटोया- लाइन की छोटी रेल पर 'सालार' स्टेशन पर उतरकर जाना पड़ता है।

श्रीनित्यानन्द प्रभु के साक्षात् पादपद्म की प्राप्ति—

दण्डवत् हइया आमि पड़िनु पायेते।
निजपादपद्म प्रभु दिला मोर माथे॥१८२॥
'उठ', 'उठ' बलि' मोरे बले बार बार।
उठि' ताँर रूप देखि' हैनु चमत्कार॥१८३॥

१८२-१८३। प० अनु०—मैं दण्डवत् होकर उनके चरणकमलों में गिर पड़ा तथा प्रभु ने अपने चरणकमल मेरे मस्तक पर रख दिये। प्रभु मुझे बारम्बार 'उठो' 'उठो' कहने लगे और जब मैंने उठकर उनका रूप देखा तो अत्यन्त चमत्कृत हो गया।

नित्यानन्द का रूप-वर्णन एवं
गोपवेशधारी परिकरवृन्द के द्वारा
सेवापरिपाटी का वर्णन—

श्याम-चिक्कण कान्ति, प्रकाण्ड शरीर।
साक्षात् कन्दर्प, यैछे महामल्ल-वीर॥१८४॥
सुवलित हस्त, पद, कमल-लोचन।
पट्टवस्त्र शिरे, पट्टवस्त्र परिधान॥१८५॥
सुवर्ण-कुण्डल कर्णे, स्वर्णांगद-वाला।
पायेते नूपूर बाजे, कण्ठे पुष्पमाला॥१८६॥
चन्दन लेपित-अंग, तिलक सुठाम।
मत्तगज जिनि' मद-मन्थर पयान॥१८७॥
कोटिचन्द्र-जिनि' मुख उज्ज्वल-वरण।
दाड़िम्ब-बीज-सम दन्ते ताम्बुल-चर्वण॥१८८॥

प्रेमे मत्त अंग डाहिने वामे दोले।
'कृष्ण' 'कृष्ण' बलिया गम्भीर बोल बोले॥१८९॥
रांगा-यष्टि-हस्ते दोले येन मत्त सिंह।
चारि पाशे बेड़ि' आछे चरणेते भृंग॥१९०॥
पारिषदगणे देखि' सब गोप-वेशे।
'कृष्ण' 'कृष्ण' कहे सबे सप्रेम आवेशे॥१९१॥
श्रृंगा वाँशी बाजाय केह, केह नाचे गाय।
सेवक योगाय ताम्बुल, चामर ढुलाय॥१९२॥

१८४-१९२। प॰ अनु॰—श्रीनित्यानन्द प्रभु श्याम स्निग्ध कान्ति ये युक्त, प्रकाण्ड शरीरधारी साक्षात् कन्दर्प-स्वरूप महामल्ल-वीर जैसे दिखाई दे रहे थे। उनके हस्तपद सुवलित थे। उनके नेत्र कमल के समान थे, उनके सिर पर पट्टवस्त्र था और वे पट्टवस्त्र (रेशमी वस्त्र) पहने हुये थे। कानों में सुवर्ण के कुण्डल, तथा उन्होंने स्वर्ण से बने हुए अङ्गद तथा बाला पहने हुए थे। उनके चरणों में नूपुर बज रहे थे। कण्ठ में पुष्पमाला धारण की थी। चन्दन से लेपित-अङ्ग अत्यन्त सुन्दर तिलकधारी प्रभु मत्तगज से भी बढ़कर मद-मन्थर चाल चल रहे थे। कोटिचन्द्र से भी बढ़कर उज्ज्वल-वर्ण के मुखवाले प्रभु दाडिम (अनार) के बीजसमान दाँतों से ताम्बूल चर्वण कर रहे थे। प्रेम में मत्त श्रीअङ्ग दायें-बायें डोल रहा थे और प्रभु 'कृष्ण' 'कृष्ण' कहते हुए गम्भीर बोल, बोल रहे थे। रंगीन लाठी हाथों में लिये प्रभु मत्त सिंह की भाँति डोल रहे थे और चारों ओर से मधुकर के समान सेवकवृन्द चरणकमलोंको घेरे हुये थे। सभी पार्षदगण गोपवेश में थे और सभी प्रेम के आवेश में 'कृष्ण' 'कृष्ण' कह रहे थे। कोई श्रृंगा तो कोई वंशी बजा रहा था, तो कोई नृत्यगान कर रहा था। कोई सेवक ताम्बुल अर्पण कर रहा था और कोई चामर ढुला कर रहा था।

नित्यानन्द-दर्शन से ग्रन्थकार की आनन्द-मग्नता—

नित्यानन्द-स्वरूपेर देखिया वैभव।
किवा रूप, गुण, लीला—अलौकिक सब॥१९३॥
आनन्दे विह्वल आमि किछु नाहि जानि।
तबे हासि' प्रभु मोरे कहिलेन वाणी॥१९४॥

१९३-१९४। प॰ अनु॰—श्रीनित्यानन्द के स्वरूप के अपूर्व रूप, गुण, लीला आदि अलौकिक वैभव को देखकर मैं आनन्द में विह्वल होकर मन्त्रमुग्ध हो गया। यह देखकर प्रभु हँसकर मुझसे कहने लगे।

वृन्दावन जाने के लिये नित्यानन्द का आदेश—

आरे आरे कृष्णदास, ना करह भय।
वृन्दावने याह,—ताँहा सर्व लभ्य हय॥१९५॥

१९५। प॰ अनु॰—अरे ओ कृष्णदास,! डरो मत। तुम वृन्दावन चले जाओ,—वहाँ तुम्हें सबकुछ प्राप्त हो जायेगा।

निताइ का अन्तर्द्धान—

एत बलि' प्रेरिला मोरे हातसान दिया।
अन्तर्द्धान कैल प्रभु निजगण लञा॥१९६॥
मूर्च्छित हइया मुजि पडिनु भूमिते।
स्वप्नभंग हैल, देखि, हञाछे प्रभाते॥१९७॥
कि देखिनु, कि शुनिनु, करिये विचार।
प्रभु-आज्ञा हैल वृन्दावन याइबार॥१९८॥

१९६-१९८। प॰ अनु॰—इतना कहकर प्रभु ने अपने हाथों से स्पर्श कर मुझे प्रेरणा प्रदान की और अपने पार्षदों को साथ लेकर अन्तर्द्धान हो गये। मैं मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा और स्वप्न टूटने पर देखा कि सवेरा हो गया। जो देखा एवं जो सुना, उसे विचार कर मैंने निश्चित किया कि प्रभु ने मुझे वृन्दावन जाने की आज्ञा की है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९६। हातसान—हाथों का स्पर्श।

कविराज गोस्वामी का वृन्दावन जाना—

सेइक्षणे वृन्दावने करिनु गमन।
प्रभुर कृपाते सुखे आइनु वृन्दावन॥१९९॥

१९९। प० अनु०—उसी क्षण मैं वृन्दावन के लिये चल दिया और प्रभु की कृपा से सुखपूर्वक वृन्दावन आ गया।

श्रीनित्यानन्द-स्तवन—

जय जय नित्यानन्द, नित्यानन्द-राम।
याँहार कृपाते पाइनु वृन्दावन-धाम॥२००॥
जय जय नित्यानन्द, जय कृपामय।
याँहा हैते पाइनु रूप-सनातनाश्रय॥२०१॥
याँहा हैते पाइनु रघुनाथ-महाशय।
याँहा हैते पाइनु श्रीस्वरूप-आश्रय॥२०२॥
सनातन-कृपाय पाइनु भक्तिर सिद्धान्त।
श्रीरूप-कृपाय पाइनु भक्तिरसप्रान्त॥२०३॥
जय जय नित्यानन्द-चरणारविन्द।
याँहा हैते पाइनु श्रीराधागोविन्द॥२०४॥

२००-२०४। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीनित्यानन्द-राम की जय हो; जिनकी कृपा से मुझे वृन्दावन-धाम की प्राप्ति हुई एवं उन कृपामय श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो जिनकी कृपा से मुझे श्रीरूप-सनातन के चरणकमलों का आश्रय प्राप्त हुआ, उन्हीं की कृपा से मुझे श्रीरघुनाथ-महाशय की प्राप्ति हुई तथा उन्हीं की कृपा से मुझे श्रीस्वरूप का आश्रय प्राप्त हुआ। श्रीसनातन गोस्वामी की कृपा से मुझे भक्ति के सिद्धान्त की प्राप्ति हुई, श्रीरूप गोस्वामी के अनुग्रह से मैं भक्तिरस की सीमा को जान पाया। श्रीनित्यानन्द प्रभु के चरणारविन्द की जय हो, जय हो; जिनकी कृपा से मुझे श्रीराधागोविन्द की प्राप्ति हुई है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०३। भक्तिरसप्रान्त—भक्तिरस की निकटता मात्र।

अनुभाष्य

२०१-२०२। श्रीराधा गोविन्द की सेवा के अभिलाषी के लिए श्रीस्वरूप गोस्वामी, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी तथा श्रीरघुनाथ गोस्वामी के आश्रय एवं उनकी कृपा को लाभ करना ही जीवन का एकमात्र काम्य और वाञ्छनीय है। यह एकमात्र श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु की कृपा बल से ही प्राप्त हो सकता है। यही दोनों पयारों में दर्शाया गया है, श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी के सम्बन्ध में आदि लीला के ४थ परिच्छेद की प: संख्या १६०-१६१ द्रष्टव्य है।

२०३। श्रीसनातन गोस्वामी प्रभु—भक्ति-सिद्धान्त के आचार्य हैं। इस ग्रन्थ के अन्त्यलीला के चतुर्थ परिच्छेद के अन्त में ग्रन्थकार ने लिखा कि,—"सनातन ग्रन्थ कैल भागवतामृते। भक्त-भक्ति-कृष्ण तत्त्व जानि याहा हैते॥ सिद्धान्त-सार ग्रन्थ कैल दशम-टिप्पनि। कृष्णलीला, रसप्रेम, याहा हैते जानि॥ हरिभक्तिविलास-ग्रन्थ कैल वैष्णव-आचार। वैष्णवेर कर्त्तव्य याँहा पाइये पार॥" श्रीरघुनाथ गोस्वामीपाद ने "विलाप कुसुमांजलि" स्तव में श्रीसनातन के सम्बन्ध में लिखा है—"वैराग्ययुग्भक्तिरसं प्रयत्नैरपाययन् मामनभीप्सुमन्धम्। कृपाम्बुधिर्यः परदुःख-दुःखी सनातनस्तं प्रभुमाश्रयामि॥" श्रीकविराज गोस्वामी ने (अन्त्य, ४र्थ प: २३६ संख्या में) पहले श्रीरूप, श्रीसनातन एवं श्रीजीव गोस्वामी के नामों को उल्लेख किया—"एइ तिन गुरु आर रघुनाथदास। इँहा सबार चरण वन्दों याँर मुञि दास॥" श्रीरघुनाथदास ने भी श्रीसनातन प्रभु का भक्तिसिद्धान्ताचार्य के रूप में वर्णन किया है।

श्रीरूपगोस्वामी-प्रभु—भक्तिरस के आचार्य हैं। (अन्त्य लीला में, ४र्थ प:२२४ संख्या)—"रूपगोसाञि कैल रसामृतसिन्धुसार। कृष्णभक्ति-रसेर याँहा पाइये विस्तार॥ उज्ज्वनीलमणि-नाम ग्रन्थ आर। राधाकृष्ण लीलारस ताँहा पाइये पार॥"

२०४। श्रील नरोत्तम ठाकुर उनके द्वारा रचित 'प्रार्थना' में—"आर कबे निताइ-चाँद करुणा करिबे। संसार-वासना मोर कबे तुच्छ हबे॥ विषय छाड़िया कबे शुद्ध हबे मन। कबे हाम हेरब श्रीवृन्दावन॥ रूपरघुनाथ-पदे हइबे आकूति। कबे हम बुझब श्रीयुगलपिरीति॥" "हेन निताइ बिने भाइ, राधाकृष्ण पाइते नाइ, दृढ़ करि' धर निताइर पाय॥"

ग्रन्थकार की दैन्योक्ति—

जगाइ माधाइ हैते मुञि से पापिष्ठ।
पुरीषेर कीट हैते मुञि से लघिष्ठ॥२०५॥
मोर नाम शुने येइ, तार पुण्य क्षय।
मोर नाम लय येइ, तार पाप हय॥२०६॥
एमन निर्घृण मोरे केवा कृपा करे।
एक-नित्यानन्द बिनु जगत् भितरे॥२०७॥

२०५-२०७। प० अनु०—मैं जगाइ-माधाइ से भी बड़ा पापी हूँ। विष्ठा के कीड़े से भी नीच हूँ। जो मेरा नाम सुनता है, उसके पुण्य नष्ट हो जाते हैं। जो मेरा नाम लेता है, उसे पाप लगता है। एक श्रीनित्यानन्द प्रभु के बिना जगत् में कौन ऐसा है जो मुझ जैसे निर्घृण (निर्लज्ज) पर कृपा करेगा।

स्वयं के प्रति नित्यानन्द की कृपा का वर्णन—

प्रेमे मत्त नित्यानन्द कृपा-अवतार।
उत्तम, अधम, किछु ना करे विचार॥२०८॥
ये आगे पड़ये, तारे करये निस्तार।
अतएव निस्तारिला मो-हेन दुराचार॥२०९॥
मो-पापिष्ठे आनिलेन श्रीवृन्दावन।
मो-हेन अधमे दिला श्रीरूपचरण॥२१०॥

२०८-२१०। प० अनु०—प्रेम में मत्त, कृपा के अवतार श्रीनित्यानन्द प्रभु उत्तम और अधम का कुछ भी विचार नहीं करते। जो उनके सामने आ जाये उसी का उद्धार कर देते हैं। अतः प्रभु ने मुझ जैसे दुराचारी का भी उद्धार किया है। मुझ जैसे पापी को वे श्रीवृन्दावन ले आये, और मुझ अधम को श्रीरूप गोस्वामी के चरणों की प्राप्ति करा दी।

नित्यानन्द की कृपा से
श्रीमदनमोहन की सेवा की प्राप्ति—

श्रीमदनगोपाल-श्रीगोविन्द-दरशन।
कहिबार योग्य नहे एसब कथन॥२११॥

२११। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु की कृपा से मुझे श्रीमदनमोहन एवं श्रीगोविन्द के दर्शन की प्राप्ति हुई। यह सब वृत्तान्त कहने योग्य नहीं है अर्थात् इन्हें कहना नहीं चाहिए।

श्रीराधासंगी श्रीमदनगोपाल—

वृन्दावन-पुरन्दर श्रीमदनगोपाल।
रासविलासी साक्षात् व्रजेन्द्रकुमार॥२१२॥
श्रीराधा-ललिता-संगे रासविलास।
मन्मथ-मन्मथरूपे याँहार प्रकाश॥२१३॥

२१२-२१३। प० अनु०—वृन्दावन-पुरन्दर रास-विलासी श्रीमदनगोपाल साक्षात् व्रजेन्द्रकुमार हैं। श्रीराधा-ललिता के साथ रासविलास करते हुये वे मन्मथ-मन्मथ (मदनमोहन) के रूप में प्रकाशमान हैं।

(श्रीमद्भागवत १०.३२.२)

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥२१४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२१४। श्रीरासलीला में गोपियों के विच्छेद-विलापों के पश्चात् अचानक पीताम्बरधारी, वनमाली, हँसमुख, साक्षात् श्रीमदनमोहन उन सबके मध्य आविर्भूत हुये।

अनुभाष्य

२१४। रासक्रीड़ा के समय श्रीकृष्ण के अन्तर्द्धान होने के कारण श्रीकृष्ण दर्शन की अभिलाषिणी गोपियों के अधीर होकर रोते रहने से गोपवधुओं के समक्ष श्रीगोविन्ददेव आविर्भूत हुये—

तासां (दुःखपरिखिन्नानां गोपीनां मध्ये) स्मयमान-मुखाम्बुजः (स्मयमानं मुखाम्बुजं यस्य सः) पीताम्बरधरः (पीतवसनधारी) स्रग्वी (माल्यवान्) साक्षात् मन्मथ-मन्मथः (कामदेव-मोहनमूर्त्तिः) शौरिः (कृष्णः) आविर्भूत्।

स्वमाधुर्य्ये लोकेर मन करे आकर्षण।
दुइ पाशे राधा-ललिता करेन सेवन॥२१५॥
नित्यानन्द-दया मोरे ताँरे देखाइल।
श्रीराधा-मदनमोहने प्रभु करि' दिल॥२१६॥

२१५-२१६। प॰ अनु॰—वे अपने माधुर्य से सबका चित्त आकर्षित करते हैं एवं जिनके एक ओर श्रीराधा और दूसरी ओर ललिता सेवा करती हैं। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने मुझ पर दया कर उनके दर्शन कराये और श्रीराधा मदनमोहन को मेरा प्रभु अर्थात् स्वामी बना दिया।

मो-अधमे दिला श्रीगोविन्द दर्शन।
कहिबार कथा नहे अकथने कथन॥२१७॥

२१७। प॰ अनु॰। मुझ जैसे अधम को श्रीगोविन्द जी का दर्शन कराया। यह कथा अकथनीय होते हुए भी कह रहा हूँ।

कल्पवृक्ष के नीचे सखीसेवित् श्रीराधागोविन्द—

वृन्दावने योगपीठे कल्पतरु-वने।
रत्नमण्डप, ताहे रत्नसिंहासने॥२१८॥
श्रीगोविन्द बसियाछेन ब्रजेन्द्रनन्दन।
माधुर्य्य प्रकाशि' करेन जगत् मोहन॥२१९॥
वाम-पार्श्वे श्रीराधिका सखीगण-संगे।
रासादिक-लीला प्रभु करे कत रंगे॥२२०॥

२१८-२२०। प॰ अनु॰—श्रीवृन्दावन में कल्पवृक्षों के वन में एक योगपीठ है। जहाँ रत्नों से जड़ित मण्डप पर एक रत्नसिंहासन है। उस रत्नसिंहासन के ऊपर विराजमान व्रजेन्द्रनन्दन श्रीगोविन्ददेव अपने माधुर्य को प्रकाश करके जगत् को मोहित कर रहे हैं। उनके वाम भाग में सखियों के साथ श्रीराधिका विराजमान हैं। जिनके साथ प्रभु आनन्दपूर्वक रासादि लीलाएँ करते हैं।

ब्रह्मा के उपास्य एवं अष्टादशाक्षर-मन्त्र के अभिधेय-देवता—

याँर ध्यान निज-लोके करे पद्मासन।
अष्टादशाक्षर-मन्त्रे करे उपासन॥२२१॥
चौद्दभुवने याँर सबे करे ध्यान।
वैकुण्ठादि-पुरे याँर लीलागुण गान॥२२२॥
याँर माधुरीते करे लक्ष्मी आकर्षण।
रूपगोसाञि करियाछेन से-रूप वर्णन॥२२३॥

२२१-२२३। प॰ अनु॰—ब्रह्मा अपने लोक में जिनका ध्यान करते हैं एवं अष्टादशाक्षर-मन्त्र के द्वारा जिनकी उपासना करते हैं, चौदह भुवनों में सब जिनका ध्यान करते हैं, वैकुण्ठ आदि लोकों में जिनका लीलागुण कीर्तित होता है, अपनी माधुरी से जो लक्ष्मी को भी आकर्षित करते हैं; उनके ऐसे रूप का वर्णन श्रीरूप गोस्वामी ने इस प्रकार किया है।

अनुभाष्य

२२१। पद्मासन ब्रह्मा अपने लोक अर्थात् ब्रह्मलोक के वासियों के साथ जिस अभिधेयविग्रह गोविन्दमूर्त्ति का ध्यान करते हैं, चतुर्द्दशभुवन के वासियों के ध्येय वही श्रीगोविन्द अष्टादशाक्षर मन्त्र के द्वारा अर्च्चित होते हैं।

२२३। आदि ४र्थ प:१४७ संख्या—"कृष्ण माधुर्य्येर) एक स्वाभाविक बल। कृष्ण-आदि नरनारी करये चंचल॥"

श्रीरूपप्रभुके लघुभागवतामृत में कृष्णमाधुर्य की उत्कर्षता के विषय में (३५१-३५२ संख्या में) पद्मपुराण के उपाख्यान का वर्णन—"श्रीकृष्णमाधुर्य का अवलोकन कर लक्ष्मीदेवी भी उसमें लोभान्वित होकर तपस्या में प्रवृत्त हुईं। इस पर श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा,—'तुम क्यों तपस्या कर रही हो'? लक्ष्मी ने कहा,—'मैं गोपी के रूप में वृन्दावन में आपके साथ विहार करना चाहती हूँ। श्रीकृष्ण ने कहा,—'वह बहुत दुर्लभ है'। लक्ष्मी ने फिर से कहा,—'प्रभो, मैं स्वर्णरेखा की भाँति आपके वक्ष:स्थल पर रहना चाहती हूँ।' तब श्रीकृष्ण ने कहा,—'ऐसा ही हो'। इस प्रकार लक्ष्मी भी स्वर्णरेखा के रूप में श्रीकृष्ण के वक्ष पर रह गईं। श्रीभागवतम् (१०।१६।३६) में नाग पत्नियाँ कह रही हैं,—'लक्ष्मी ने भी परम सुन्दरी होकर आपके चरणों की धूल की अभिलाषिणी होकर सभी कामनाओं का परित्याग करके एवं व्रत धारणपूर्वक दीर्घकाल तक तपस्या की थी।

(भ:र:सि:पू: विभाग में साधनभक्ति के द्वितीय लहरी में २३९ श्लोक)

स्मेरां भंगीत्रयपरिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टिं
वंशीन्यस्ताधरकिशलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण।
गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे
मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे बन्धुसंगेऽस्ति रंगः॥२२४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२२४। हे सखे! यदि तुम्हें बान्धवों के साथ रहने का लोभ है, तो केशीघाट के निकट स्थित ईषत् हास्ययुक्त, त्रिभङ्ग ललित, तिरछे विशाल नेत्र वाले, अधरपंकज-किशलय में विराजित वंशी एवं मोरपुच्छ के द्वारा उत्कृष्ट शोभायमान श्रीगोविन्द की श्रीमूर्त्ति का दर्शन न करना। तात्पर्य यह है कि, श्रीगोविन्द की श्रीमूर्त्ति के दर्शन करने से सबसे वैराग्य हो जायेगा।

अनुभाष्य

२२४। हे सखे, यदि तव बन्धुसंगे (पुत्रकल- त्रादि विषयिणां संगे) रंगः (कौतूहलम्) अस्ति (विद्यते), तदा इतः (अस्मिन्) केशीतीर्थोपकण्ठे (यामुनतटस्थ-केशीतीर्थे) स्मेरां (स्मितान्विता) भंगीत्रयपरिचितां (ग्रीवाकटिजानुभंगित्रयेण युक्ता) साचिविस्तीर्ण-दृष्टिं (तिर्यक्प्रशस्तावलोकना) वंशीन्यताधरकिशलयां (वंश्यांवेणौन्यस्तः दत्तः अधर एव किशलयः नवपल्लवः ययाता) चन्द्रकेण (मयूरपिच्छेन) उज्ज्वलां (परमशोभा-मयीं) गोविन्दाख्यां हरितुनं (नन्दसुनूमूर्त्ति) मा प्रेक्षिष्ठाः (अवलोकय इति निषेधव्याजेन परमसौन्दर्य्याधारविग्रहम् अवश्यमेव द्रष्ट-व्यमभिप्रेतम्। तन्माधुर्ये अनुभूयमाने सर्वमेव तुच्छं मंस्यसे, तस्मादेनामेव पश्येदित्यभिप्रायः)।

अप्राकृत श्रीविग्रह में प्राकृत
शिलाकाष्ठ-धातुबुद्धि महान् अपराध—

साक्षात् ब्रजेन्द्रसुत इथे नाहि आन।
येवा अज्ञे करे ताँरि प्रतिमा-हेन ज्ञान॥२२५॥
सेइ अपराधे तार नाहिक निस्तार।
घोर नरकेते पड़े, कि बलिव आर॥२२६॥
हेन ये गोविन्द प्रभु, पाइनु याँहा हैते।
ताँहार चरण-कृपा के पारे वर्णिते॥२२७॥

२२५-२२७। प० अनु०—वह (श्रीगोविन्द) विग्रह साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन हैं। जो अज्ञानतावश उनमें प्रतिमा ज्ञान करते हैं, वह अपराधी हैं। उनका उद्धार कभी नहीं हो सकता तथा वह घोर नरक में डूब जाते हैं, और क्या कहूँ। जिन श्रीनित्यानन्द प्रभु की कृपा से मुझे श्रीगोविन्द के दर्शन प्राप्त हुए ऐसे दयालु प्रभु के चरणों की कृपा को कौन वर्णन कर सकता है।

अनुभाष्य

२२५-२२६। भक्तिसंदर्भ में (२८६ संख्या)— "परमोपासकाश्च साक्षात् परमेश्वरत्वेनैव तां पश्यन्ति। भेदस्फूर्त्तेर्भक्तिविच्छेदकत्वात् तथैव ह्ययुचितम्॥"

परमोपासगण श्रीमूर्त्ति को साक्षात् परमेश्वर के रूप में ही दर्शन करते हैं। भगवान् के साथ भगवान् की श्रीमूर्त्ति का भेद-ज्ञान आ जाने से भक्तिविच्छेद होता है, इसलिये श्रीमूर्त्ति में साक्षात् भगवद्बुद्धि करना ही कर्त्तव्य है। भक्ति से दूर हट जाने से जीव अभक्त बनकर अपराध-विशिष्ट हो जाते हैं।

"अर्च्च्ये विष्णौ शिलाधीः *** यस्य वा नारकी सः"—इस पाद्मोक्त श्लोक के अभिप्रायानुसार श्रीविष्णु-विग्रह जड़ द्रव्यों से निर्मित अथवा प्रतीक मात्र है—इस प्रकार की बुद्धि से युक्त जीव 'नारकी' संज्ञा प्राप्त करता है। निर्विशेषवादिगण श्रीमूर्त्ति का प्रेमनेत्रों से दर्शन करने से वंचित होकर प्राकृतदृष्टि-विशिष्ट होने के कारण वैष्णव-विचार में 'अपराधी मायावादी' के रूप में कथित हैं। श्रीमद्भागवतम् के मतानुसार "यस्यात्मबुद्धिः" श्लोक में "भौमे इज्यधीः" आदि भावविशिष्ट व्यक्ति की अनभिज्ञतावश उस सेवाधिकार की प्राप्ति नहीं होती।

नित्यानन्द-गौर के आश्रय में
राधागोविन्द-भजन ही वैष्णवता—

वृन्दावने वैसे यत वैष्णव-मण्डल।
कृष्णनाम-परायण, परम-मंगल॥२२८॥

याँर प्राणधन—नित्यानन्द-श्रीचैतन्य।
राधाकृष्ण-भक्ति बिने नाहि जाने अन्य॥२२९॥

२२८-२२९। प० अनु०—श्रीवृन्दावनवासी समस्त वैष्णवगण कृष्णनाम-परायण और परममङ्गल- स्वरूप हैं। उनके प्राणधन श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं श्रीचैतन्य महाप्रभु हैं तथा वे श्रीराधाकृष्ण की भक्ति के सिवाय और कुछ नहीं जानते।

अनुभाष्य

२२८-२२९। श्रीवृन्दावनवासी सभी वैष्णव परम मंगलमय, कृष्णनाम-परायण एवं कीर्तनाख्य-भक्ति के आश्रित हैं। श्रीगौरनित्यानन्द उनके प्राणधन हैं। राधाकृष्ण की नित्यसेवा के अतिरिक्त वे सब किसी अन्यप्रकार की काल्पनिक भक्ति की बातें नहीं जानते। आजकल प्राचीन शुद्धभक्तवृन्द की भजन-प्रणालियों का परित्याग करके कोई-कोई नवीन पन्थों का उद्भावन कर रहे हैं! कोई कहता है, 'श्रीगौरांग राधा-कृष्ण हों या न हों, उनका गौर-नाम ही हमें अच्छा लगता है, राधाकृष्ण नाम इस प्रकार रुचिप्रद नहीं है'। 'नदीया-नागरी' के भाव में मधुर (सम्भोग)-रस में गौर की उपासना ही हमारी गौरभक्ति है! नागरी के भाव में गौर की उपासना न करने से श्रीगौरांग के स्वतन्त्र अवतार की सार्थकता क्या है? इस प्रकार का दूषित मतसमूह पहले उद्भावित नहीं होता था, परन्तु अब कलिवृद्धि के साथ साथ वैष्णव-परिच्छद के अभ्यंतर इसरूप उत्कट भावावली (भाव समूह) का प्रसारण हो रहा है। यह देखकर शुद्धभक्त-वृन्द दुःख का अनुभव कर रहे हैं। दुष्पार माया की क्रीड़ा-पुतली बनकर वे सब श्रीगौरांग को श्रीराधा-कृष्ण की अपेक्षा थोड़ा बड़ा समझते हैं; अर्थात् 'राधा एवं कृष्ण', दोनों के मिलित तनु के रूप में गौरांग एकक-कृष्ण की अपेक्षा श्रेष्ठ है'। फिर कोई-कोई प्राकृत स्मार्त्त एवं पंचोपासक-समाज के समक्ष पदावनत होकर गौर, गौर-धाम, गौरशक्ति एवं गौर-भक्ति के विरोधी बनकर प्राकृत-इन्द्रियज-ज्ञान के बल पर राधाकृष्ण-भजन की कल्पना किया करते हैं। ये दोनों सम्प्रदाय ही षड्-गोस्वामी के विशुद्धमत के विरोधी हैं। अतः वे भगवद्-भक्तिविहीन, इन्द्रिय-परायण, नास्तिक एवं कलि के दास हैं। भविष्य में कल्पना के बल पर हरिविमुख अहंकारीजन अपने आप को श्रीगौरसुन्दर के अत्यन्त प्रियजन के रूप में परिचय देते हुये श्रीगौर-वस्तु को विस्मृत करके राधाकृष्ण के प्रति भक्ति करना छोड़ देंगे एवं अपने कुवासना रूप गर्भ से जात निज-कल्पित गौर का दुर्भागे जीवों को वंचित करने के लिये बहु-मानन करेगा—यह बात सर्वदर्शी, सर्वज्ञ श्रीकविराज गोस्वामी ने अनुधावन (चिन्तन) किया था। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि, वास्तव में श्रीगौरांग-पदाश्रित जनों के लिये श्रीगान्धर्विकागिरिधर के श्रीचरणयुगल ही एकमात्र आराध्य हैं।

नित्यानन्द की कृपा से ही
वैष्णव-पादपद्म की प्राप्ति—

से वैष्णवेर पदरेणु, तार पदछाया।
अधमेरे दिल प्रभुनित्यानन्द-दया॥२३०॥
'ताहा सर्व लभ्य हय'—प्रभुर वचन।
सेइ सूत्र, एइ तार कैल विवरण॥२३१॥

२३०-२३१। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु ने दया करके मुझ अधम को उन वैष्णवों की चरणधूलि एवं उनके चरणों का आश्रय प्रदान किया। उनके सूत्र वचन 'वहाँ तुम्हें सबकुछ प्राप्त हो जायेगा' अर्थात् श्रीवृन्दावन में जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ यहाँ तक उसका वर्णन कर दिया है।

अनुभाष्य

२३१। वृन्दावन में वैष्णवों के आदेशानुसार श्रीचरितामृत लिखने का मूल सूत्र है—निताइ का कृपा आदेश। आदि, ५म पः,१९६ संख्या द्रष्टव्य है।

नित्यानन्द की कृपा से सर्वाभीष्ट-पूरण—

सेइ सब पाइनु आमि वृन्दावन आय।
सेइ सब लभ्य एइ प्रभुर कृपाय॥२३२॥

आपनार कथा लिखि निर्लज्ज हइया।
नित्यानन्दगुणे लेखाय उन्मत्त करिया॥२३३॥
नित्यानन्द-प्रभुर गुण-महिमा अपार।
'सहस्त्रवदने' शेष नाहि पाय याँर॥२३४॥
श्रीरूप रघुनाथ-पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥२३५॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में श्रीनित्यानन्दतत्त्व निरुपण नामक पञ्चम-परिच्छेद समाप्त।

२३२-२३५। प० अनु०—वृन्दावन में आकर मुझे वह सबकुछ प्राप्त हुआ, यह श्रीनित्यानन्द प्रभु की कृपा से ही लभ्य है। श्रीनित्यानन्द प्रभु के गुणों ने मुझे उन्मत्त करके न कहने योग्य कथा का भी निर्लज व्यक्ति की भाँति लिखवा दिया। श्रीनित्यानन्द प्रभु की गुण-महिमा अपार है। 'सहस्त्रवदन' (श्रीअनन्तदेव) भी इसका अन्त नहीं पा सकते। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२३२। आय,—आकर।

पञ्चम परिच्छेद का अमृतप्रवाहभाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

२३४। मध्य २१श प:,१० एवं १२ संख्य एवं भागवत २।७।४१ एवं १०।१४।७ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

पञ्चम परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

❋ ❋ ❋

षष्ठ परिच्छेद

कथासार—इस परिच्छेद में श्रीमद् अद्वैताचार्य प्रभु के स्वरूप एवं उनकी महिमा का दो श्लोकों के विचार द्वारा निरूपण हुआ है। माया की दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं—निमित्त एवं उपादान। प्रकृति में लक्षित निमित्त-कारणरूप पुरुषावतार का नाम 'महाविष्णु' है। उपादान-रूप प्रधानतत्त्व में महाविष्णु के द्वितीय स्वरूप 'श्रीअद्वैत' ही हैं। उन्हीं श्रीअद्वैतप्रभु ने जगत्सृष्टि आदि के कार्यों में कर्त्ताविशेष एवं भक्तभाव स्वीकार कर जगत् में भक्ति की शिक्षा दी है। वे श्रीचैतन्य महाप्रभु के दास हैं, यह बात कहने से उनकी महिमा की ही वृद्धि होती है; क्योंकि, अन्तर्भूत दास्यभाव के अतिरिक्त किसी भी रस में कृष्ण-माधुर्य का आस्वादन नहीं किया जा सकता है।

(अ: प्र: भा:)

अद्वैताचार्य की कृपा से तत्स्वरूपनिरूपण में सामर्थ्य—

वन्दे तं श्रीमदद्वैताचार्यमद्भुतचेष्टितम्।
यस्य प्रसादादज्ञोऽपि तत्स्वरूपं निरूपयेत्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनकी कृपा से अज्ञव्यक्ति भी उनके स्वरूप का निरूपण कर सकता है, उन्हीं अद्भुत चेष्टाविशिष्ट श्रीमद् अद्वैताचार्य की मैं वन्दना करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यस्य (अद्वैतप्रभोः) प्रसादात् (अनुकम्पया) अज्ञः अपि तत्स्वरूपं (वस्तुतत्त्वं) निरूपयेत् (निरूपयितुं शक्नुयात्) तम् अद्भुत-चेष्टितं (अद्भुतानि चेष्टितानि यस्य तं) श्रीमदद्वैताचार्यम् (अहं) वन्दे।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥
पंच श्लोके कहिल श्रीनित्यानन्द-तत्त्व।
श्लोकद्वये कहि अद्वैताचार्येर महत्त्व॥३॥

२-३। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो तथा गौरभक्तवृन्द की जय हो। पाँच श्लोकों के द्वारा श्रीनित्यानन्द प्रभु के तत्त्व का वर्णन हुआ है। अब दो श्लोकों के द्वारा श्रीअद्वैताचार्य की महिमा का वर्णन कर रहा हूँ।

(आदिलीला के मङ्गलाचरण के १४ श्लोकों में से १२श एवं १३श श्लोक की व्याख्या)
(श्रीस्वरूपगोस्वामि-कड़चा से श्लोक)

महाविष्णुर्जगत्कर्त्ता मायया यः सृजत्यदः।
तस्यावतार एवायमद्वैताचार्य ईश्वरः॥४॥
अद्वैतं हरिणाद्वैताचार्यं भक्तिशंसनात्।
भक्तावतारमीशं तमद्वैताचार्यमाश्रये॥५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४-५। जो महाविष्णु मायाद्वारा इस जगत् की सृष्टि करते हैं; वे जगत्कर्त्ता ईश्वर श्रीअद्वैताचार्य उन्हीं के अवतार हैं। हरि से अभिन्न तत्त्व होने से इनका नाम 'अद्वैत' है एवं भक्ति के शिक्षक होने के कारण इन्हें 'आचार्य' कहा जाता है उन भक्तावतार ईश्वर श्रीअद्वैताचार्य का मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ।

अनुभाष्य

४। यः जगत्कर्त्ता महाविष्णुः (निमित्त कारणाश्रयः) मायया अदः विश्वं सृजति, तस्य अवतारः एव अयम् ईश्वरः (उपादान-कारणाश्रयः) अद्वैताचार्यः।

५। हरिणा (विष्णुतत्त्वेन सह) (अद्वैतत्वेन) अद्वैतात् (भेदराहित्यात् हेतोः) 'अद्वैतं', भक्ति-शंसनात् (भजनो-

पदेष्टृत्वात्) 'आचार्यं' भक्तावतारमीशं (भक्तावतारम् ईशं तम् अद्वैताचार्यम् आश्रये (प्रपद्ये)।

श्रीअद्वैततत्त्व एवं उनकी महिमा (महत्त्व)—

अद्वैत-आचार्य गोसाञि साक्षात् ईश्वर।
याँहार महिमा नहे जीवेर गोचर॥६॥

६। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैताचार्य गोसाईं साक्षात् ईश्वर हैं, उनकी महिमा जीव नहीं जान सकता।

महाविष्णु के अवतार—

महाविष्णु सृष्टि करेन जगदादि कार्य।
ताँर अवतार साक्षात् अद्वैत आचार्य॥७॥

७। प॰ अनु॰—जो महाविष्णु सृष्टि एवं जगतादि कार्य करते हैं, उन्हीं के साक्षात् अवतार श्रीअद्वैताचार्य हैं।

कारणार्णवशायी के अभिन्नांश—

ये पुरुष सृष्टि-स्थिति करेन मायाय।
अनन्त ब्रह्माण्ड सृष्टि करेन लीलाय॥८॥
इच्छाय अनन्त मूर्त्ति करेन प्रकाश।
एक एक मूर्त्त्ये करेन ब्रह्माण्डे प्रवेश॥९॥
से पुरुषेर अंश—अद्वैत, नाहि किछु भेद।
शरीर-विशेष ताँर,—नाहिक विच्छेद॥१०॥

८-१०। प॰ अनु॰—जो कारणार्णवशायी पुरुष माया के द्वारा सृष्टि-स्थिति करते हैं एवं लीलामात्र के द्वारा ही अनन्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि कर देते हैं तथा अपनी इच्छा से अनन्त स्वरूपों को प्रकाशित करके एक-एक स्वरूप के द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं। उन्हीं पुरुष के अंश श्रीअद्वैताचार्य हैं, इनके साथ पुरुष का कोई भी भेद नहीं है। श्रीअद्वैताचार्य उन्हीं के विग्रह-विशेष हैं उनसे भिन्न नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०। एक ही माया उपादान-अंश में 'प्रधान' एवं निमित्तांश में 'माया' है। महाविष्णु माया की इन दोनों वृत्तियों में दो रूपों से विराजमान हैं। एकस्वरूप से महाविष्णु 'प्रकृतिस्थ' होकर जगत् के निमित्तकारण-स्वरूप हैं,—वही 'विष्णु' रूप है और वही द्वितीय स्वरूप में 'प्रधानस्थ' होकर रुद्र के रूप में 'श्रीअद्वैत' हैं। अतएव पुरुष के साथ श्रीअद्वैतप्रभु का कुछ भी भेद नहीं है—केवलमात्र शरीर भेद है।

जगत् के उपादान प्रधान के अधिष्ठातृ देवता—

सहाय करेन ताँर लइया 'प्रधान'।
कोटि ब्रह्माण्ड करेन इच्छाय निर्माण॥११॥

११। प॰ अनु॰—'प्रधान' को लेकर वे पुरुष की सहायता करते हैं और अपनी इच्छा से कोटि ब्रह्माण्डों का निर्माण करते हैं।

मङ्गलमय श्रीअद्वैत—

जगत्-मंगल अद्वैत, मंगल-गुणधाम।
मंगल-चरित्र सदा, 'मंगल' याँर नाम॥१२॥

१२। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैताचर्य जगत् को मङ्गल प्रदान करने वाले एवं मङ्गल गुणों के आश्रय स्वरूप हैं। इनका चरित्र सदा मङ्गल एवं मङ्गल नाम है।

अनुभाष्य

१२। श्रीअद्वैतप्रभु—महाविष्णु हैं। वे आचार्य हैं। विष्णु का आचरण कर्त्तृसत्ता में मंगलमय है। उनकी मंगलमयी लीला एवं वस्तुत्व में मांगल्य का दर्शन करने से जीवों का मंगल होता है। वे यावतीय (सभी) मंगल समूह के आकर हैं। उनका सेवोन्मुख आचरण जगत् में सभी के लिये मंगल का विधान करता है। जगज्जंजाली-गण इस शुद्ध, नित्य, पूर्ण एवं मुक्त मंगल को समझने में असमर्थ होकर ही आत्मवृत्ति-स्वरूप 'भक्ति' से विच्युत हो जाते हैं। भोगबुद्धिमूलक कर्मानुष्ठान, निर्विशिष्ट-मुक्तिलाभ आदि किसी अमंगल की कथाएँ चिन्मयगुण से गुणी श्रीअद्वैत में स्थान प्राप्त नहीं कर सकतीं। उन्हें अद्वय-विष्णुतत्त्व के रूप में समझने में असमर्थ होकर, भक्तिहीन एवं केवलाद्वैतवादि-ज्ञान से जिन सब माया-

मोहित आसुरस्वभावाले जीव-समूह ने उनके अनुगमन का छल किया था, निज मायाद्वारा उन सबकी आत्मंभरिता (खुदगर्जी) का पोषण कराने की छलना से आचार्य के द्वारा उन अभक्तसमूहों के प्रति किया गया जो दण्डविधान है, वह भी मंगलाचरण-मात्र है। विष्णुवस्तु अन्वय एवं व्यतिरेक भाव से जीवों के लिये मंगल-विधायक ही है। अमंगल को मंगल के रूप में प्रतिष्ठित करने से विष्णु-माया के औपादानिक आकर को समझना सम्भव नहीं है। कोई-कोई कहता है कि,—अद्वैतप्रभु का दूसरा नाम 'मंगल'' था। वे नैमित्तिक अवतार के रूप में प्रकृति में उपादान-शक्ति का संचारण करते हैं। वे अंमगलमय प्राकृतवस्तु नहीं हैं अथवा वे अमंगलमय प्राकृतगुणों के आश्रय नहीं है। उनके मंगलमय चरित के अनुकरण से ही जीवों के मंगल का उदय होता है। उनके नाम का श्रवण एवं कीर्तन करने से जीवों के सभी अमंगलसमूह विनष्ट हो जाते है। विष्णुवस्तु में किसी प्रकार के अनुपादेय, अवर, परिछिन्न, निर्विशेष-धर्म का आरोप करना उचित नहीं है। जो उनकी वास्तव-सत्ता है, उसके विषय में अप्राकृत-ज्ञान लाभ के द्वारा ही जीवों को निःश्रेयस (आत्यन्तिक मंगल) की प्राप्ति होती है।

असंख्य वैभवसमूह को लेकर पुरुष का सृजन—

कोटि अंश, कोटि शक्ति, कोटि अवतार।
एत लञा सृजे पुरुष सकल संसार॥१३॥

१३। प० अनु—कोटि अंश, कोटि शक्तियाँ और कोटि अवतारों को लेकर 'पुरुष' (महाविष्णु) सम्पूर्ण संसार की सृष्टि करते हैं।

माया के दो रूप—

माया यैछे दुइ अंश—'निमित्त', 'उपादान'।
माया—'निमित्त'-हेतु, उपादान—'प्रधान'॥१४॥

१४। प० अनु—जैसे माया 'निमित्त' और 'उपादान' दो अंशों अर्थात् माया 'निमित्त'—कारण स्वरूप और उपादान 'प्रधान' है।

अनुभाष्य

१४। मध्य, २०श प:,२७१ संख्या द्रष्टव्य है।

दो मूर्त्तियों में कारणशायी का सृजन—

पुरुष ईश्वर ऐछे द्विमूर्त्ति हइया।
विश्व-सृष्टि करे 'निमित्त' 'उपादान' लञा॥१५॥

१५। प० अनु—उसी प्रकार पुरुष-ईश्वर दो मूर्त्ति होकर 'निमित्त' और 'उपादान' के द्वारा विश्व की सृष्टि करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५। जैसे प्रकृति में 'निमित्त' और 'उपादान'—दो भाग हैं, वैसे ही कारणसमुद्रशायी पुरुष, 'महाविष्णु' के रूप में 'निमित्त' कारण एवं 'श्रीअद्वैत' के रूप में 'उपा-दान' कारण से—इन दो मूर्त्तियों के द्वारा विश्व की सृष्टि करते हैं।

अनुभाष्य

१५। दृश्य जगत् के आकर-निर्णय में दो प्रकार की विचार-प्रणालियाँ हैं। एक प्रकार का मत यह है कि, सच्चिदानन्द वस्तु से जगत् गौणभाव में सृष्ट है, मुख्यभाव में सपरिकर गोलोक-वैकुण्ठ आदि प्रकाशमान हैं। दूसरा मत यह है कि,—असत्, अचित् एवं निरानन्द के आकर—दुर्ज्ञेय, अव्यक्त एवं वस्तुभावसम्पन्न हैं। वेद-प्रयोजन है—वेदों का चरमफल वेदान्त पूर्वोक्त मत का वक्ता है; और सांख्य आदि स्मृतियों ने वस्तुवाद के विरोध के उद्देश्य से इसके विपरीत शेषोक्त मत का प्रकाशन किया है। दृश्यजगत् अधिकांशतः अचित्-प्रतीतिमय है। प्राणियों में जो चिदाभासयुक्त धर्म गुणमाया के द्वारा रचित विश्व के साथ संश्लिष्ट है, वैसे चेतनधर्म भी प्रकृति से गुणों के द्वारा उत्पन्न हुआ है,— इस विचारसे उपादान-कारणत्व में कोई-कोई वेदान्त-मत के साथ भेद की स्थापना किया करते हैं। सर्वकारण-कारण आकर-वस्तु ही शक्तिमत्तत्त्व है। शक्ति भी शक्तिमत्-तत्त्व में अवस्थित है। दृश्यजगत् जिस प्रकार से शक्ति

से उद्भूत हुआ है, उससे भिन्न (अलग) शक्तिसमूह भी उसी बृहत् पालक-वस्तु में नित्यकाल अवस्थित है। जो लोग दृश्यजगत् की विषय-सेवा में आबद्ध हैं, वे सब जागतिक शक्ति की उपलब्धि करके समझते हैं कि, भगवान् केवल उस शक्ति के शक्तिमान् हैं। वे सब,— एकमात्र शक्ति से शक्तिमत-तत्त्व का आविर्भाव हुआ है एवं खण्ड-शक्तिमान-समूह के प्राकृत-ज्ञान से अखण्ड-शक्तिमत्ता भी प्रकृति से उद्भूत् हुई है—इस प्रकार अपसिद्धान्त का निर्धारण करते हैं। यह सच है कि, जागतिक इन्द्रियज-ज्ञान से जो सत् एवं असत् ज्ञेय के रूप में निर्दिष्ट होता है, उसे ही 'आकर' के रूप में विचार करें, तो अचित् से ही चेतन का उद्भव हुआ है— ऐसा स्थिरीकृत (निर्णीत) होता है; किन्तु वास्तव सत्य— शक्ति-विशिष्ट वास्तव-वस्तु में ही अधिष्ठित है। जो वस्तु देशकालपात्र का सृजन करती है, उस वस्तु को मूल-कारण के रूप में निर्देशित न करके पहले ही बहु-विचित्रतामय असंख्य वस्तुओं को ग्रहण करके फिर उससे अनुमिति-न्याय के अवलम्बन से एक की ओर अग्रसर होने की पद्धति—'अधिरोह-वाद' नाम से ख्यात है। अवरोह-विचार में वस्तु ही सर्वकारणकारण है; उसमें अनन्त शक्तिसमूह विराजमान हैं, इसलिये वह सविशेष-तत्त्व है। उसकी निर्विशेषता भी असंख्य सविशेष-विचारों में से अन्यतम विचार है। अचिद्वस्तु की धारणा से उसे कार्य समझकर उसका कारण अनुसन्धान करने में लगे आग्रही व्यक्ति में इस प्रकार की मादक-द्रव्य-संगजनित बुद्धि का जन्म होता है। वास्तव में, जड़ा-प्रकृति ही मूल-कारण है; ऐसी धारणाएँ वास्तव सत्य से अलग है। अनन्त-शक्तिमान् परमेश्वर वस्तु की ईक्षण-शक्ति से ही अव्यक्त एवं अचित्शक्ति-परिणत जगत् का उदय हुआ है। प्रकृति सर्वशक्तिमान् से प्राप्त शक्ति लाभ करके ही जीवों के लिये जड़ेन्द्रियग्राह्य एवं कालदेश के अन्तर्गत जगत् का निर्माण करती है। अनन्त शक्तिमान् वास्तव-वस्तु जगत निर्माण की शक्ति के द्वारा ही बद्धजीवों के निकट उपलब्ध होते हैं। वस्तु के साथ शक्ति के सम्बन्ध-विवेका-भाव से ही इस प्रकार की विचार-भ्रान्तियाँ जीवों में 'विवर्त्त' उत्पन्न करती हैं। सत्य का प्रकाशन न होने तक भगवद्विमुख जीव भोग-योग्य जगत् में विचरण करके सत्यवस्तु का सन्धान प्राप्त नहीं कर सकते।

श्रील बलदेव विद्याभूषण गोविन्दभाष्य में (व्रः सूः, २अ, २पा)—"सांख्याचार्यः कपिलस्तत्त्वानि संजग्राह,— सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् पंचतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियं स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गण इति। साम्येनाव-स्थितानि पुरुष सत्त्वादीनि प्रकृतिः। तानि च सुखदुःख-मोहात्मकानि क्रमाद्बोध्यानि। तत्कार्ये जगति सुखादिरूप-त्वदर्शनात्। तथाहि तरुणी रत्या पत्युः सुखदेति सात्त्विकी भवति, मानेन दुःखदेति राजसी, विरहेण मोहदेति तामसी चेत्येवं सर्वे भावा द्रष्टव्याः। उभयमिन्द्रियमिति दश बाह्येन्द्रियाण्येकमन्तरिन्द्रियं मन इत्येकादशेत्यर्थः। नित्या बिम्बी च प्रकृतिः। मूले मूलाभावादमूलं मूलम्। न परिछिन्नं सर्वोपादानम्। "सर्वत्र कार्य्यदर्शनात् विभुत्वम्" इति सूत्रेभ्यः। महदंहकार-पंचतन्मात्राणि सप्त प्रकृति-विकृतयः। अहमादेः प्रकृतयः प्रधानादेस्तु विकृतय इति। एकादशेन्द्रियाणि पंचभूतानि चेति षोडश विकृतय एव। पुरुषस्तु निष्परिणामत्वान्न कस्यापि प्रकृतिर्न च विकृति-रिति। सा खलु प्रकृतिर्नित्यविकारा स्वयमचेतना-ऽप्यनेकचेतन-भोगापवर्ग हेतुरत्यन्तातीन्द्रियापि तत्कार्ये-णानुमीयते। एकैव विषमगुणा सती परिणामशक्त्या महदादिविचित्ररचनं जगत् प्रसूते इति जगन्निमित्तोपादान-भूता सेति। पुरुषस्तु निष्क्रियो निर्गुणो विभुचित् प्रतिकायं भिन्नः संघातपरार्थादनुमेयश्च सः। विकारक्रिययोर्विरहात् कर्तृत्त्वभोक्तृत्वयोर्विरहः। एवं स्थिते प्रकृतिपुरुष-योस्तत्त्वे सन्निधिमात्रात् तयोर्मिथो धर्मविनिमयः— प्रकृतौ चैतन्यं पुरुषे तु कर्त्तुत्त्व-भोक्तृत्वयोरध्यासो भवति। इत्थमविवेकात् भोगो, विवेकात् तु अपवर्गः। प्रकृतौदासी-न्यवपुरित्येवमादीनर्थान् सोपपत्तिकैः सूत्रैर्निबन्ध। अस्यां प्रक्रियायां प्रत्यक्षानुमानागमान् प्रमाणानि मेने। त्रिविधं प्रमाणं, तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिरिति। तत्र

प्रत्यक्षागमसिद्धेष्वर्थेषु नातीव विसंवादः। यत्तु "परिणा-मात्", "समन्वयात्", "शक्तितश्च" इत्यादि सूत्रैः प्रधानं जगत्कारणमनुमितं, तन्निरस्यं भवति तेनैव सर्वतन्मत-निरासात्। तत्र प्रधानं जगन्निमित्तोपादानं भवेत् न वेति संशये, प्रधानमेव तथा जगतः सात्विकादिरूपत्वात् प्रधान-स्यैव सत्त्वादिरूपस्य तदुपादानत्वेनानुमानात्। घटादिकार्य-स्योपादानं खलु तत्-सजातीयं मृदाद्येव दृष्टम्। फलति वृक्षश्चलति जलमितिवत् जडस्यापि तस्य कर्त्तृत्त्वंच। तस्मात् प्रधानमेव जगदुपादानं जगत्कर्त्तृ चेत्येवं प्राप्ते, (ब्रःसूः, २अ, २पा)—"रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्"॥१॥ अनुमीयते जगत्हेतुतयेत्यनुमानं जडम् प्रधानम्। तन्न जगदुपादानं न च तन्निमित्तम्। कुतः?—रचनेति। विचित्र-जगद्रचनायाश्चेतनानधिष्ठितेन जडेन तेनासिद्धेरित्यर्थः। न खलु चेतनानधिष्ठितैरिष्टकादिभिः प्रासादादि-रचना सिद्धा लोके। च-शब्देनान्वयानुपपत्तिः समुच्चिता। न हि बाह्या घटादयः सुखादिरूपतयान्विताः। सुखादीनामान्त-रत्वात् घटादीनां सुखादिहेतुत्वात् तद्रूपताप्रतीते श्च॥१॥

"प्रवृत्तेश्च"॥२॥

जड़श्च चेतनाधिष्ठितत्वे सतीति शेषः। यस्मिन्न-धिष्ठातरि सति जडं प्रवर्त्तते, तस्यैव सा प्रवृत्तिरिति निश्चितं रथसूतादौ। इत्थंच फलतीत्यादिकं प्रत्युक्तम्। तत्रापि चेतनाधिष्ठितत्वात् तत्त्चान्तर्य्यामिब्राह्मणात्। एतत् परत्र स्फुटीभावि। चोऽवधारणे। अहं करोमीति चेतनस्यैव प्रवृत्तिदर्शनात् जड़स्य कर्त्तृत्वं नेति वा। ननु प्रकृतिपुरुषयोः सन्निधिमात्रेण मिथो धर्माध्यासात् जगद्ररचनोपपत्तिरिति चेदुच्यते,—अध्यासहेतुः सन्निधिः किं तयोः सद्भाव किंवा प्रकृतिपुरुषगतः कश्चिद्विकार इति। नाद्यः,—मुक्तानाम-प्यध्यास प्रसंगात्; अन्तयोऽपि न,—तावत् प्रकृतिगतो विकारः अध्यास-कार्यतयाभिमतस्य तस्याध्यासहेतु-त्वायोगात्; न च पुरुषगतः, अस्वीकारात्॥२॥

ननु पयो यथा दधिभावेन स्वतः परिणमते यथा च अम्बु वातिदमुक्तमेकरसमपि तालचूतादिषु मधुराम्लादि-विचित्ररसरूपेण, तथा प्रधानमपि पुरुष-कर्मवैचित्र्याद् तनुभुवनादि रूपेणेति चेत्, तत्राह—

"पयोऽम्बुवच्चेत् तत्रापि"॥३॥

तयोः पयोऽम्बुनोरपि चेतनाधिष्ठिततयोरेव प्रवृत्तिः, न तु स्वतः रथादि दृष्टान्तेन तथानुमानात्। तयोस्तदधिष्ठितत्वं चान्तर्य्यामिब्राह्मणात् सिद्धम्॥३॥

"व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्"॥४॥

अप्यर्थे च-कारः। सृष्टेः प्राक् प्रधान-व्यतिरिकेण हेत्वन्तरानवस्थितेरनपेक्षत्वान्न केवलस्य प्रधानस्य स्व-परिणामकर्त्तृत्वम्। प्रधानव्यतिरिक्तस्तत्प्रवर्तकस्त-न्निवर्त्तको वा हेतुरादिसर्गात् पूर्वं नावतिष्ठते इति यत् स्वीकृतं, तस्यापि पुनरपेक्षणात्,—चैतन्यसन्निधेर्हेत्वन्त-रस्यांगीकारादिति यावत्। तथा च केवलजड़कर्त्तृत्ववाद-भंगः। किंच, व्यतिरिक्तहेत्वभावात् सन्निधिसत्त्वाच्च प्रलयेऽपि कार्योदयप्रसंगः। न च तदादृष्टोद्बोधाभावात् कार्या-भाव स्तदुद्बोधस्यापि तदैवापाद्यमानत्वात्॥४॥

ननु लतातृणपल्लवादि विनैव हेत्वन्तरं स्वभावदेव क्षीराकारेण परिणमते, तथा प्रधान- मपि महदाद्याकारेणेति चेत्तत्राह—

"अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्"॥५॥

अवधृतौ च-शब्दः। नैतच्चतुरस्त्रम्। कुतः?— अन्यत्राभावात। वलीवर्द्दादिभक्षिते तृणादिके क्षीराकार-परिणामाभावादित्यर्थः। यदि स्वभावादेव तृणादि क्षीरात्मना परिणमते, तर्हि चत्वरादि पतितेऽपि तथा स्यान्न चैवम-स्त्यतो न स्वभावमात्रं हेतुः। किन्तु व्यक्तिविशेष-सम्बन्धात् सर्वेशसंकल्प एव तथेति॥५॥

प्रधानस्य जाड्यात् स्वतः प्रवृत्तिर्न समस्तीत्यापादि-तम्। अथ तुन्मुखोल्लासाय ताञ्चेदभ्युपगच्छामस्तथापि न किंचित्तवाभीष्टं सिद्ध्येदित्तयाह—

"अभ्युपगमेष्वर्थाभावात्"॥६॥

चतुर्षु नेत्यनुवर्त्तते। पुरुषो मां भुक्त्वा मद्दोषाननुभूय मदौदासीन्यलक्षणं मोक्षं प्राप्स्यतीति तद्भोगापवर्गार्थं प्रधानप्रवृत्तिं मन्यते। प्रधान-प्रवृत्तिः परार्था, स्वतोऽप्य-भोकतृत्वादुष्ट्रकुंकुमवहनवदिति। अकर्त्तापि पुरुषो भोक्तेति च मन्यते। अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नादवदिति। सैषा प्रवृत्तिर्न युक्ता मन्तुम्। कुत?—तस्याः स्वीकारे

फलाभावात्। पुरुषस्य प्रकृतिदर्शनरूपो भोगस्तदौदासिन्य-रूपो मोक्षश्च प्रवृत्तेः फलम्। तत्र भोगस्तावन्न सम्भवति, प्रवृत्तेः प्राक् चैतन्यमात्रस्य निर्विकारस्याकर्त्तुः पुरुषस्य तद्दर्शन-रूपविकारा-योगात्। न चापवर्गः, प्रागपि प्रवृत्तेस्तस्य सिद्धत्वेन तद्वैयर्थात्। सन्निधिमात्रस्य भोग-हेतुत्वे तु मुक्तानामपि तदापत्तिः, तस्य नित्यत्वात्॥६॥

ननु यथा गतिशक्तिरहितस्य दृक्शक्तिसहितस्य पंगुपुरुषस्य सन्निधानात् गतिशक्तिमान् दृक्शक्तिरहित-ऽप्यन्धः प्रवर्त्तते, यथा चायस्कान्ताश्मनः सन्निधानाज्जड़-मप्यश्चलति, एवं चिन्मात्रस्य पुंसः सन्निधानादचेतनापि प्रकृतिस्तच्छायया चेतनेव तदर्थे सर्गे प्रवर्त्तेतेति चेत्तत्राह—

"पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि"॥७॥

तथापि तेनापि प्रकारेण जड़स्य स्वतः प्रवृत्तिर्न सिद्ध-यति। पंगोर्गतिवैकल्येऽपि वर्त्मदर्शनतदुपदेशादयोऽन्धस्य दृक्शक्तिविरहेऽपि तदुपदेश-ग्रहादयो विशेषाः सन्ति। अयस्कान्तमणेश्चायः सामीप्यादयः। पुरुषस्य तु नित्य-निष्क्रियस्य निर्धर्मकस्य न कोऽपि विकारः। सन्निधि-मात्रेण तस्मिन् स्वीकृते तस्य नित्यत्वान्नित्यं सर्गो मोक्षभाव-श्च प्रसज्येत। किंच, पंगुन्धावुभौ चेतनौ अयस्कान्तायसी च द्वे जड़े इति दृष्टान्तवैषम्यं विस्फुटम्॥७॥

यत्तु गुणामामुत्कर्षापकर्षवशेनांगाभावा-द्विश्वसृष्टि-रितिमन्यते, तन्निरस्यति—

"अंगित्वानुपपत्तेश्च"॥८॥

सत्त्वादिनां साम्येनावस्थितिः प्रधानावस्था। तस्यां च निरपेक्षस्वरूपाणां तेषां कस्यचिदेकस्यांगित्वं नोपपद्यते, इतरयो स्तत्समत्वेन गुणीभावा-सम्भवात्। तथा च गुणा-नामंगांगिभावासिद्धिः। न चेश्चर कालो वा तत्कृत्, अस्वीकारात्। यथाह कपिलः—ईश्वरासिद्धेः, मुक्तवद्ध-योरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिरिति। दिक्कालावाकाशादिभ्य इति च। न च पुरुषस्तत्कृत् तस्य तत्रौदासीन्यात् तथा च गुणवैषम्यहेतुकः सर्गो नेति। किञ्चैवं हेत्वभावात् प्रतिसर्गे-ऽपि ते वैषम्यं भजेरन्। आदिसर्गे तु न भजेरन्निति॥८॥

ननु कार्यानुरोधेन गुणा विचित्रस्वभावा भवन्तीत्य-नुमेयम्। तेन नोक्तदोषावकाश इति चेत्तत्राह—

"अन्यथानुमितौ च ज्ञ-शक्तिवियोगात्"॥९॥

विचित्रशक्तिकतया गुणानामनुमानेऽपि न दोषान्नि-स्तारः। कुतः?—ज्ञेति। ज्ञातृत्वविरहादित्यर्थः। इदमहवे-मवंच सृजामीति विमर्शाभावादिति यावत्। ज्ञान-शून्या-ज्जड़ान्न सृष्टिरिष्ट-कादेरिवर्त्ते चेतनाधिष्ठानादिति॥९॥

सांख्याचार्य कपिल ने तत्त्वसमूह का संग्रह इस प्रकार से किया है। उनके मतानुसार,—सत्त्व, रज और तमः—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही 'प्रकृति' है। प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्र, पंचतन्मात्र से ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय और स्थूलभूत समूह एवं 'पुरुष'—कुल मिलाकर ये पंचविंशति-तत्त्व हैं। साम्यरूप में अवस्थित सत्त्वादि त्रिगुण ही प्रकृति है। उन तीनों गुणों को क्रमानुसार सुख-दुःख-मोहात्मक के रूप में समझना चाहिए। क्योंकि, प्रकृति के कार्यभूत जगत् में सुखादि भावों का ही दर्शन होता है। दृष्टान्त जैसे—तरुणी रति के द्वारा पति के लिये सुखदायी होती है—यहाँ सात्त्विक भाव का प्रकाश है; वही फिर दुःखदायिनी होकर 'राजसी' एवं मोहिनी बनकर 'तामसी' होती है। 'उभय इन्द्रिय'—शब्द से दस बहिरिन्द्रिय समूह एवं एक अन्तरिन्द्रिय मन,—सब मिलाकर ये एकादश इन्द्रिय हैं। प्रकृति नित्या एवं विभुत्वशालिनी है। मूल में मूल के (चेतन के) अभाव होने के कारण मूल (प्रधान) अमूल अर्थात् कारणान्तररहित है। वह प्रधान अपरिच्छिन्न एवं सभी का उपादानस्वरूप है—"सर्वत्र कार्यदर्शनात् विभुत्वम्" आदि सूत्रों से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। महत्तत्त्व, अहंकारतत्त्व एवं पंचतन्मात्राएँ,—ये सात प्रकृति-विकार हैं एवं अहंकार आदि की प्रकृति भी प्रधान का विकार है; एकादश इन्द्रिय एवं पंच महाभूत,—ये षोडश विकार हैं। पुरुष परिणामहीन है, इसलिये वह किसी की भी प्रकृति या विकार भी नहीं है। वह प्रकृति नित्य-विकार-विशिष्ट है एवं स्वयं अचेतन होकर भी अनेक चेतन-जीवों के लिये भोग एवं अपवर्ग की हेतु-स्वरूप है एवं इन्द्रियातीत होकर भी उसके कार्यों के द्वारा अनुमित होती है। प्रकृति स्वयं एक होकर भी

विषमगुणसम्पन्न है, इसलिये परिणामशक्ति के द्वारा महदादि रूप विचित्ररचनामय जगत् को प्रसव करती है। इस रूप से ही प्रकृति जगत् की निमित्त एवं उपादानस्वरूपिणी है। पुरुष निष्क्रिय, निर्गुण एवं प्रभु है। वह चित्स्वरूप है एवं प्रत्येक देह में भिन्नरूप में अवस्थित है एवं प्रधान के परिचालन से अनुमेययोग्य और विकार एवं क्रिया के अभाववशतः कर्त्तृत्त्व-भोक्तृत्त्व-रहित है। प्रकृति एवं पुरुष का तत्त्व इस प्रकार का होने के कारण उभय के सान्निध्यमात्र से परस्पर में धर्म का विनिमय होता है—प्रकृति में चैतन्य का एवं पुरुष में कर्त्तृत्त्व एवं भोक्तृत्त्व का अध्यास होता है। इस प्रकार के विवेक के अभाव के कारण ही भोगों की एवं विवेक के द्वारा ही अपवर्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रकृति के प्रति पुरुष का औदासीन्यमय धर्म आदि विषयसमूह सोपपत्तिक सूत्रसमूह के द्वारा निबद्ध (ग्रथित) किया गया है। इस प्रक्रिया में सांख्यकार ने,—'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' एवं 'आगम'—इन तीनों प्रमाणों को स्वीकार किया है। इनकी सिद्धि से ही सर्वसिद्धि है। (उपमानादि इनके ही अन्तर्गत है; वे सब अतिरिक्त प्रमाण नहीं है)। प्रत्यक्षसिद्ध एवं आगमसिद्ध अर्थसमूह में अधिक विसंवाद नहीं है। "परिमाणत्", "समन्वयात्", "शक्तितः" आदि सूत्रसमूह के द्वारा जिस प्रधान की जगत्कारणता के बारे में अनुमान किया गया है, अब उसी के ही निरास (खंडन) का प्रयोजन हो गया है; कारण उक्त मतों के निरास द्वारा सांख्य के सभी मतों का निरास सम्भव होगा। इस विषय में संशय यह है कि, 'प्रधान'—जगत् का निमित्त एवं उपादान है या नहीं? पूर्वपक्ष प्रधान की निमित्तता एवं उपादानता दोनों ही स्वीकार करता है। पूर्वपक्ष कहता है कि,—जगत् के उपादान के रूप में ही सत्त्वादिरूप प्रधान का अनुमान किया जाता है। उपादान,—कार्य के सम-जातीय ही होता है; जैसे—घटादि (घड़ादि) कार्य के उपादान के रूप में मृत्ति-का (मिट्टी) आदि को ही समजातीय देखा गया है। जड़-वृक्षों के द्वारा फलोत्पादन एवं जल के चलन-दर्शन से जड़ अथवा अचेतन-प्रधान का भी जगत् कर्त्तृत्त्व स्थिरीकृत होता है। अतएव 'प्रधान' ही जगत् का उपादान एवं निमित्त-कारण है'—इस पूर्वपक्षीय सिद्धान्त के निरासार्थ प्रथम सूत्र की अवतारणा कर रहे हैं—

प्रधान—अचेतन है, अतएव जड़-प्रधान जगत् का उपादान अथवा निमित्त-कारण नहीं है। क्योंकि, इस जगत् की विचित्र रचनाएँ देखकर चेतन के अधिष्ठान व्यतीत उस जड़-प्रधान के द्वारा परिदृश्यमान जगत् की रचना सिद्ध होती नहीं, या अनुमान करना संगत नहीं है। इस जगत् में चेतन के द्वारा अनधिष्ठित इष्टिका (ईंट) आदियों के द्वारा कभी भी प्रासाद आदि का निर्माण संभव नहीं है। सूत्रोक्त च-शब्द के द्वारा अन्वय की अनुपपत्ति (असंगति) समुच्चित (संगृहीत) हुई है। बाहरी घटादि पदार्थनिचय (पदार्थ-समूह) कभी भी सुखादि स्वरूप में अन्वित नहीं है; क्योंकि सुखादि विषयसमूह आन्तर-धर्म (हृदय में अनुभवयोग्य) है, अतएव बाहरी वस्तुओं के साथ उन सबका अन्वय हो नहीं सकता। विशेषतया घटादि पदार्थ उक्त सुखादि के हेतुस्वरूप हैं एवं सुखादि के रूप में भी उन सबकी प्रतीति नहीं है॥१॥

द्वितीय सूत्र—प्रवृत्ति-दर्शन करने पर भी प्रधान को हेतु समझना संगत नहीं है। चेतन के द्वारा अधिष्ठित जड़ में ही प्रवृत्ति दिखाई देती है। जिसके अधिष्ठान होने से जड़ की प्रवर्त्तना होती है, वह प्रवृत्ति उसी की ही है, यह निश्चित है। रथ एवं सारथि ही इसका प्रकृष्ट (मुख्य) दृष्टान्त है। इस प्रकार से ही 'वृक्ष फल प्रसव कर रहा है' आदि प्रधान की कारणता के सम्बन्ध में दृष्टान्त उक्त हुआ है। यहाँ भी चेतन का अधिष्ठान स्वी-कृत होता है; क्योंकि अन्तर्यामी ब्राह्मण में इसका उल्लेख है। इस भाष्य में इसे बाद में विस्तार से वर्णन किया जायेगा। सूत्रोक्त च-शब्द अवधारणा में व्यवहृत हुआ है। 'मैं कर रहा हूँ' इस दृष्टान्त में चेतन की ही प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, इसलिये जड़ का कर्त्तृत्त्व संगत नहीं हो रहा है। यदि कहो कि,—प्रकृति-पुरुष के सन्निधि (एक

दूसरे के निकट) मात्र से परस्पर के धर्म के अध्यासवश ही जगत् की रचना है? इसके उत्तर में,—ऐसा कहना भी संगत नहीं है। अच्छा, जो सन्निधि परस्पर के धर्माध्यास के कारण है, क्या वह सन्निधि प्रकृति एवं पुरुष, दोनों का ही सद्भाव है या प्रकृतिपुरुषगत कोई विकार है? उत्तर,—वह तो दोनों का सद्भाव है ही नहीं, क्योंकि, इस बात को स्वीकार करने से सभी मुक्तपुरुषों का भी अध्यास-प्रसंग हो जाता है। वह सन्निधि—प्रकृतिगत विकार भी नहीं है; क्योंकि, अध्यास के कार्य के रूप में अभिमत इस प्रकृतिगत विकार की अध्यास- हेतुता की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार से वह पुरुषगत विकार भी नहीं है, क्योंकि, वह अर्थात् पुरुषगत विकार भी अस्वीकार्य है। अतएव 'प्रधान' जगत्-कारण नहीं हो सकता।

यदि कहो कि,—दूध जिस प्रकार से अपने आप दही बन जाता है, एवं एक ही मेघ-निर्मुत जल जिस प्रकार से एकरस होकर भी ताल एवं आम्र आदि फलों में मधुर और अम्ल (खट्टा) आदिरूप विचित्र रस के रूप में परिणत होता है, उस प्रकार से एक ही प्रधान, पुरुष के कर्मवैचित्र्य के अनुसार देह-जगदादिरूप में परिणत होता रहता है? इसके उत्तर में कह रहे है—

तृतीय सूत्र—दूध एवं जल आदि अचेतन वस्तु-समूहों की भी चेतन के द्वारा अधिष्ठित होकर ही कार्य में प्रवृत्ति है,—वे अपने आप प्रवर्त्तक नहीं बन सकते; क्योंकि, रथादि दृष्टान्तों से वैसा ही अनुमानित होता है। अन्तर्यामी ब्राह्मण से उन दोनों जड़वस्तुओं में चेतनाधि-ष्ठित-भाव का होना सिद्ध होता है।

चतुर्थ सूत्र—प्रधान व्यतीत अन्य कारण की अवर्तमानता परित्यक्त होने के कारण केवल प्रधान का ही कर्त्तृत्व असंगत हो रहा है।

'अपि' शब्द का अर्थ च-कार अर्थात् समुच्चय है। सृष्टि से पहले प्रधान व्यतीत अन्य हेतु की असद्भाव परित्यक्त होने के कारण केवल प्रधान का ही निज परिणाम कर्त्तृत्त्व निरस्त हुआ है। प्रधान व्यतीत उसका प्रवर्त्तक या निवर्त्तक अन्य कोई कारण ही आदिसृष्टि से पहले विद्यमान नहीं रहता है,—इस प्रकार का मत ही उपेक्षित हुआ है; क्योंकि, उस समय चेतन के सन्निधानहेतु अन्य कारण स्वीकार्य हो रहा है। अतएव केवल जड़-कर्त्तृत्त्ववाद निरस्त हुआ है। विशेषतया उस प्रकार के रूप पूर्वपक्ष में, प्रलय में भी कार्योत्पत्ति-प्रसंग विद्यमान रहता है; क्योंकि, प्रधान व्यतीत अन्य कारण का अभाव व प्रधान की सन्निधि रहने के कारण सृजनकाल की भाँति प्रलयकाल में भी कार्योत्पत्ति का प्रसंग होता है। अदृष्ट के उद्बोधन (जगना) के अभावहेतु प्रलयकाल में कार्य का अभाव कहना भी संगत नहीं है; क्योंकि, उस समय उस अदृष्ट का उद्बोधन भी आकर उपस्थित हो सकता है॥४॥

यदि कहो कि, तृणपल्लवादि जिस प्रकार से गो-आदियों के द्वारा भक्षित होकर अपने आप क्षीराकार में परिणत होता है, प्रधान भी उस प्रकार से महदादि तत्त्वों के आकार में परिणत हो जाता है, इसके उत्तर में कह रहे हैं—

पञ्चम सूत्र—अन्यत्र क्षीराकार में परिणाम के अभाव-हेतु प्रधान का भी तृणादि की भाँति स्वभावतया (स्वतः) परिणाम कहना संगत नहीं है।

निश्चयार्थ में च-शब्द उद्दिष्ट हुआ है। उस प्रकार का पूर्वपक्ष असंगत है; क्योंकि, अन्यत्र वह दिखाई नहीं देता; जैसे वृषादि के द्वारा भक्षित तृणादि का क्षीराकार में परिणाम दिखाई नहीं देता है, वैसे वह स्वाभाविक नहीं है। और भी है, यदि तृणादि स्वभावतया ही क्षीरात्मक होकर परिणत हो जाता, तो अङ्गप आदि में भी उस प्रकार क्षीराकार में परिणाम दिखाई देता। जब ऐसा दिखाई नहीं देता, तब केवल स्वभाव को ही परिणाम का हेतु कहना संगत नहीं है; 'प्राणिविशेष के सम्बन्ध में तृणादि क्षीराकार में परिणत हो जाये'—सर्वेश्वर का इस रूप संकल्प ही इसका कारण है॥५॥

जड़ताप्रयुक्त प्रधान की सम्यक् स्वतः प्रवर्त्तना नहीं है। यही प्रतिपन्न (युक्ति आदि के द्वारा समर्थित) हुआ है। फिर भी, यदि आपके सन्तोष के कारण उसे स्वीकार

करता हूँ, तो भी इससे आपकी कोई अभीष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती, इसका वर्णन कर रहे है—

षष्ठ सूत्र—प्रधान की स्वभाविकी-प्रवृत्ति-स्वीकार करने में भी कोई सार्थकता नहीं है। चारों सूत्रों में 'ना'-अर्थ अनुवर्त्तित होगा। 'पुरुष मुझे भोग करके मेरे दोषों का अनुभव करते हुए मुझमें औदासीन्यरूप मोक्षलाभ करेंगे'—लगता है, प्रधान की प्रवृत्ति इस रूप भोग-मोक्षार्थक है। ऊँट जिस प्रकार से केवल दूसरों के लिये ही कुंकुमभार ढोता है, स्वयं भोग नहीं करता, प्रधान की भी उस प्रकार केवल दूसरों के लिये प्रवृत्ति है। और लगता है, पुरुष अकर्त्ता होकर भी भोक्ता है। अन्न के कर्त्ता न होकर भी अन्नभोक्ता का जिस प्रकार अन्नभोग होता है, पुरुष का भी उस प्रकार फलोपभोग होता है। पूर्वपक्ष की उस प्रधान-प्रवृत्ति को स्वीकार करना युक्ति-युक्त नहीं है; क्योंकि, इसको स्वीकार करने पर भी कोई फल नहीं दिखाई देता है। पुरुष का प्रकृतिदर्शन-रूप भोग एवं प्रकृति के प्रति औदासीन्यरूप मोक्ष ही प्रवृत्ति का फल है। प्रधान के द्वारा भोग सम्भव नहीं है; क्योंकि, चिन्मात्र, निर्विकार एवं अकर्त्ता होकर भी पुरुष के द्वारा प्रकृतिदर्शनरूप संगवश विकार योगहेतु पुरुष का ही भोग है। प्रधान का अपवर्ग भी सम्भव नहीं है; क्योंकि, प्रवृत्ति की उत्पत्ति से पहले भी अपवर्ग सिद्ध रहने के कारण उसकी व्यर्थता प्रकाशित है। सन्निधिमात्र को ही भोग का हेतु कहने पर, सन्निधि की नित्यतावशतः मुक्त जनसमुदाय भी भोगी बन जाते हैं॥६॥

यदि कहो कि, गतिशक्तिरहित परन्तु दृष्टि-शक्ति सम्पन्न पंगु (लँगड़ा)-पुरुष के सन्निधान में दृष्टिशक्ति-रहित किन्तु गतिशक्तिविशिष्ट पुरुष भी चलने में होते प्रवृत्त हैं एवं जिस प्रकार से अयस्कान्त (चुम्बक) प्रस्तर के सन्निधान में जड़ लोहा भी चलता रहता है, उसी प्रकार चिन्मात्र-पुरुष के सन्निधान में प्रकृति अचेतन होकर भी पुरुष की छाया के प्रभाव से चेतन-वस्तु की भाँति पुरुष के भोग के निमित्त सृजन आदि में प्रवृत्त होती है, इसके उत्तर में कह रहे हैं—

सप्तम सूत्र—पुरुष चुम्बक की भाँति होने पर भी जड़-प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति नहीं है। ऐसा होने पर भी जड़-वस्तु की स्वतः प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती। पंगु की गतिशक्ति न रहने पर भी मार्गप्रदर्शन एवं तदुपदेश-प्रदानादि-वैशिष्ट्य एवं अन्धे की दर्शनशक्ति न रहने पर भी पंगु के द्वारा प्रदत्त उपदेश ग्रहणादि रूप वैशिष्ट्य वर्त्तमान है, एवं अयस्कान्त-मणि के लिये लौहसामीप्य आदि भी सम्भव हो रहा है; परन्तु नित्यनिष्क्रिय निधर्मक पुरुष में कोई भी विकार नहीं होता है। सन्निधिमात्र से विकार स्वीकार करने पर, सन्निधि की नित्यतावश नित्य सृष्टि एवं मोक्षाभाव का प्रसंग उपस्थित होता है। विशेष-तया पंगु एवं अन्धा,—दोनों ही चेतन हैं, एवं अयस्कान्त एवं लोहा,—दोनों ही जड़ हैं, इसलिये दृष्टान्त की विषमता परिस्फुट हो रही है॥७॥

अनन्तर गुणसमूहों के उत्कर्ष एवं अपकर्षवशतः अंगांगिभावहेतु विश्व का सृजन होता है; ऐसा जो प्रतीत होता है, इसका खंडन कर रहे हैं—

अष्टम सूत्र—गुणों का अंगित्व ही अनुपपन्न (अयुक्त) हो रहा है, अतः ऐसा पक्ष संगत नहीं हो सकता।

सत्त्वादि गुणसमूहों के साम्यभाव में अवस्थान करने का नाम ही 'प्रधानावस्था' है। उस अवस्था में गुणसमूह निरपेक्षस्वरूप हैं, इसलिये एक गुण को दूसरे एक गुण के अंगी के रूप में देखना संगत नहीं है; क्योंकि, गुणत्रय में से एक गुण को अंगी के रूप में स्वीकार करने पर, उससे अलग गुणद्वय की उसके साथ समानता हेतु गुणि-भाव की असम्भावना होती है। गुणसमूह का परस्पर अंगांगिभाव कभी भी सिद्ध नहीं होता। ईश्वर को अथवा काल को भी उक्त अंगांगिभाव के कर्त्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि, उसे कोई भी स्वीकार नहीं करता। कपिल ने ही कहा है कि, 'मुक्त एवं बद्ध में अन्यतर के अभावहेतु अर्थात् प्रमाणाभाववशतः ईश्वरा-सिद्धि घटती है, अर्थात् ईश्वरसिद्धि होती नहीं।' दिक् (दिशा) एवं काल आकाश आदि से ही उत्पन्न होते हैं,—पुरुष उन सबका कर्त्ता नहीं है; क्योंकि वह कर्त्तृत्त्व

के विषय में सम्पूर्णतः उदासीन है। गुणविषमता भी सृष्टि का कारण नहीं है। और भी है, हेतु के इस प्रकार के अभाववश प्रत्येक सृष्टि में ही वह गुणसमूह विषमता को प्राप्त करने पर भी आदिसृष्टि में विषमता को प्राप्त नहीं कर सकता॥८॥

यदि कहो कि, कार्य के अनुरोध-हेतु गुण समूह विचित्र स्वभावयुक्त होता है, इस प्रकार अनुमान किया जा सकता है,—इसमें पूर्वोक्त दोषों का अवकाश नहीं है, तो इसके उत्तर में कह रहे हैं—

नवम सूत्र—अन्यथा अनुमान में भी जड़ की स्वतः प्रवृत्ति नहीं है, अर्थात् इस प्रकार विचित्रशक्तिविशिष्ट होने के कारण गुणसमूह के अनुमान में भी दोषों का निस्तार नहीं है; क्योंकि, गुणसमूह ज्ञातृत्त्व (चेतनता) विहीन है, अर्थात् इसमें 'यह मैं हूँ, इस प्रकार से सृजन कर रहा हूँ' इस प्रकार के विचारों का अभाव दिखाई दे रहा है। ज्ञानरहित जड़-पदार्थ से कभी भी सृजन सम्भव नहीं है। इष्टक-काष्ठ आदि अचेतन वस्तु जिस प्रकार से चेतन के अधिष्ठान व्यतीत कार्य करने में सक्षम नहीं है, उसी प्रकार अचेतन गुणसमूह भी चेतन-परमेश्वर की शक्ति के अधिष्ठान के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता।

(द्वितीय अध्याय १पा)—"स्मृतिः खलु कर्मकांडोदितान्यग्निहोत्रादिकर्माणि यथावत् स्वीकुर्वता 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्' इत्यादिश्रुताप्त-भावेन परमर्षिणा कपिलेन मोक्षेप्सुना ज्ञानकांडर्थोपवृंहणाय प्रणीता। "अथ त्रिविध-दुःखात्यन्त-निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः", "न दृष्टार्थ-सिद्धि-र्निवृत्तेरप्यनुवृत्ति-दर्शनात्" इत्यादिभिस्तत्र ह्यचेतनं प्रधान-मेव स्वतन्त्रं जगत्कारामित्यादि निरूप्यते—"विमुक्त-मोक्षार्थम्", स्वार्थं वा प्रधानस्य", "अचेतनत्वेऽपि क्षीर-वच्चेष्टितं प्रधानस्य", इत्यादिभिः। सा च ब्रह्मकारण-तापरिग्रहे निर्विषया स्यात्, कृत्स्नायास्तस्यास्तत्त्वप्रतिपत्ति-मात्र-विषयत्वात्। अतः परमाप्तकपिल स्मृत्यविरोधेन वेदान्ता व्याख्येयाः। न चैवं मन्वादिस्मृतीनां निर्विषयता—तासां धर्मप्रतिपादनद्वारा कर्मकांडोपवृंहणे सति सविषय-त्वादित्येवं प्राप्ते, ब्रूते—

"स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवका-शदोषप्रसंगात्"॥१॥

अवकाशस्याभावोऽनवकाशः निर्विषयतेत्यर्थः। सम-न्वयानुरोधेन वेदान्तेषु व्याख्यातेषु सांख्यस्मृतिनिर्विषय-तादोषा-पत्तिरतः श्रुतविपरीतार्थतया ते व्याख्येया इति चेन्न। कुतः?—अन्येत्यादेः। तथा सत्यन्यासां मन्वादि-स्मृतीनां वेदान्तानुसारिणीनां ब्रह्मैककारणतापराणां निर्विष-यता महान् दोषः प्रसज्येत। तासु हि सर्वेश्वरो जगदुत्पत्त्या आदिहेतुः प्रतिपाद्यते, न तु कापिलोक्त-प्रकारान्तर-त्वसंगतिः। तत्र श्रीमन्मनुः—"आसीदिदंत-मोभूतमप्रज्ञात मलक्षणम्। अप्रतकर्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव-सर्वतः॥ ततः स्वयम्भुभगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम्। महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीद् तमोनुदः॥ योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽ-व्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एष स्वयमुद्ध-वौ॥ सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव स-सर्जादौ तासु वीजमवासृजत्॥ तदण्डमभवद्-हैमं सहस्त्रांशुसमप्रभम्। तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक-पितामहः"॥ इत्यादि। श्रीपराशरः—"विष्णोः सकाशाद् उद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्। स्थिति-संयमकर्त्तासौ जगतो-ऽस्य जगत्त्च सः॥ यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः। तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं जनार्द्दनः॥" इत्यादि। एव-मन्येऽपि। न चासां स्मृतीनां कर्मकांडार्थो पवृंहणेन सावकाशता। ब्रह्म-ज्ञानोदयार्थं चित्तशुद्धिमुद्दिश्य धर्मान् विदधतीनां तासां ज्ञानकांडार्थोपवृंहण एव वृत्तेः। चित्तेशोधकता चैषां दृश्यते—"तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि-श्रुतौ। यत्तु तेषां वृष्टिपुत्र-स्वर्गादिफलकत्वं क्वापि क्वापि वीक्ष्यतेऽनुभाव्यते च, तदपि शास्त्र-विश्रम्भोत्पादनेन तत्रैव न विश्रान्तम्। "सर्वे वेदा यत्पद-मामनन्ति" इत्यादेः, "नारायणपराः वेदाः" इत्यादेश्च न च सांख्यस्मृत्या वेदान्तार्थोपवृंहणं शकयं कर्त्तुं, श्रुति-विरुद्धार्थप्रतिपादनात्। श्रुतिसंवादार्थस्पष्टीकरणं हि उपवृंहणम्। न च तस्यामिदमस्ति। तस्माच्छुतिविरुद्धा सांख्यस्मृतिः स्वकपोल-कल्पिता नाप्तेति न तद्वद्व्यर्थ-

तादोषाद् बिभीमः। न चाप्तत्वव्यपाश्रयकल्पनया तत् स्मृतिपक्षपातो युक्तः, तत्त्वेन व्याख्यातृणां बहूनां स्मृतिषु विभिन्नार्थासु पक्षपाते सति वास्तवार्थ-नवस्थिति-प्रसंगात्। स्मृत्योर्विप्रतिपत्तौ सत्यां श्रुतिव्यपाश्रयादन्यो निर्णयहेतु-र्नभवेदतः श्रुत्यनुसारिण्येवादरणीयेति। स्मृतिबलेनाक्षेप्तुन् निराकरिष्याम इत्यन्य-स्मृत्यनवकाशात् दोषोपन्यासः। यत्तु "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्त-मग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति" इति श्वेताश्वतरश्रुतेराप्तत्वं तस्येति, तन्न; तस्या अन्यपरत्वात् श्रुत्यर्थ-वैपरीत्यवक्तृतया तदभावाच्च। मनोराप्तत्वं तु तैत्तिरीया; पठन्ति—"यद्वैकिंचन मनुरवदत्तद्भेषजम्" इति। श्रीपराशरो हि पुलस्त्यवशिष्ट प्रसादादेव देवता-पारमार्थ्यधियं प्रापेति स्मर्यते। वेदविरुद्धस्मृतिप्रवर्त्तकः कपिलो ह्यग्निवंशजो जीवविशेषो एव मायया विमोहितः, न तु कर्द्दमोद्भूतो वासुदेवः। "कपिलो वासुदेवाख्यः सांख्यं तत्त्वं जगाद ह। ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथैव च॥ तथैवा- सुरये सर्वं वेदार्थैरुपबृंहितम्। सर्व्ववेदविरुद्धंच कपिलोऽन्ये। जगादह॥" "सांख्यमासुरयेऽन्यस्मै कुतर्क-परिबृंहितम्" इति स्मरणात्। तस्माद्वेदविरुद्ध-तयानाप्तायाः सांख्य-स्मृतेर्व्यर्थता न दोषः॥१॥

"इतरेषाञ्चानुपलब्धेः"॥२॥

इतरेषांच सांख्यस्मृत्युक्तानामर्थानां वेदेऽनुपल-म्भास्तस्याः नाप्तत्वम्। ते च—विभवश्चिन्मात्राः पुरुषोस्तेषां बन्धमोक्षौ प्रकृतिरेव करोति। तौ पुनः प्राकृतावेव। सर्वेश्वरः पुरुष-विशेषो नास्ति। कालस्तत्त्वं न भवति। प्राणादयः पंच करण-वृत्तिरूपा भवन्तीत्येवमादयस्तस्या-मेव द्रष्टव्याः॥२॥

१। श्रुति में 'कपिल' नामक एक आप्त ऋषि का उल्लेख है। उन्होंने वेदोक्त कर्मकाण्ड-समूह को यथावत् स्वीकार किया है। उस कपिल-ऋषि ने ही ज्ञानकाण्ड-विस्तार के निमित्त सांख्यस्मृति का प्रणयन किया है।

सांख्यस्मृति के मतानुसार—"अथ त्रिविध दुःखा-त्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" आदि सूत्र में आध्यात्मिकादि त्रिवि ध दुःखों की अत्यन्त-निवृत्ति ही 'अत्यन्त पुरुषार्थ अथवा मोक्ष' के रूप में उक्त हुआ है। उसमें अचेतन प्रधान को ही स्वतन्त्रभाव में जगत्कारण के रूप में निरुपित किया गया है। यदि केवल ब्रह्म को ही जगत्-कारण माना जाता है, तो यह सांख्यस्मृति निर्विषय बन जाती है; क्योंकि, आदि और अन्त में सांख्यस्मृति का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय ही तत्त्वप्रतिपादन करना है। अतः परम-आप्त कपिल-ऋषि के मत के अविरोध में ही वेदान्त समूह का व्याख्यान कर्त्तव्य बन जाता है। इससे मनु आदि के द्वारा प्रचारित स्मृति की भी निर्विषयता नहीं बन जाती; कारण, धर्म के प्रतिपादन द्वारा कर्म-काण्डका उपबृंहण (सशक्त करना, बढ़ाना) होने पर उन सब स्मृतियों की सविषयता होती है। इसके खंडन-हेतु "स्मृत्यनवकाश-दोषप्रसंग" आदि प्रथमसूत्र की अवतारणा कर रहे हैं,—

अवकाश का अभाव ही अनवकाश है। 'अनव-काश'-शब्द का अर्थ—निर्विषयता है। समन्वय के अनुरोध पर वेदान्त की व्याख्या होने से सांख्य स्मृति की निर्विषयता-रूप दोषों की प्राप्ति होती है। अतएव, यथा-श्रुत अर्थ के विपरीत अर्थ में ही वेदान्तसमूह का व्याख्यान होना उचित है?—इसके उत्तर में कहते हैं कि, वह असम्भव है; क्योंकि, उस प्रकार व्याख्या करने से, ब्रह्मैक कारणतावादी वेदान्त के अनुगत अन्यान्य मनु आदि स्मृतियों का निर्विषयतारूप महान् दोष घटता है। उन सब स्मृति समूहों में सर्वेश्वर को ही जगत् की उत्पत्ति आदि के कारण के रूप में प्रतिपादित किया गया है। उन सब स्मृतियों में कपिलमुनि ने जिस प्रकार से तत्त्व समूहों का वर्णन किया है, वैसा वर्णन नहीं है। उसमें श्रीमनु ने कहा है कि,—"सृष्टि से पहले समग्र विश्व ही तमोमय, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य (जो तर्क या अनुमान से न जाना जा सके), अविज्ञेय एवं सुप्त की भाँति अवस्थान कर रहा था। तत्पश्चात् स्वयंभू भगवान् ने स्वयं अव्यक्त होकर भी इस संसार को व्यक्त करने के लिये महाभूतादि-शक्ति से समन्वित होकर प्रादुर्भूत होकर पूर्वोक्त तमोराशि को विदूरित किया। वे अतीन्द्रिय, अग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय एवं अचिन्त्य

स्वरूप हैं। वे स्वयं प्रादुर्भूत होकर मन-ही-मन निजदेह से विविध प्रजा-सृष्टि-हेतु अभिलाषी हुये एवं उन्होंने पहले ही जल का सृजन किया। पश्चात् परमेश्वर ने उस वारि (कारणवारि) में वीर्याधान किया। उस वीर्य से सहस्त्रसूर्य की भाँति प्रभायुक्त सुवर्ण-मय अण्ड उत्पन्न हुआ। उस अण्ड में ही सर्वलोक-पितामह स्वयं ब्रह्मा आविर्भूत हुये।" पराशर-ऋषि ने भी कहा है कि,—"परिदृश्यमान जगत् भगवान् विष्णु से ही समुत्पन्न एवं उनके आश्रय में ही अवस्थित है। वे ही इसके पालनकर्त्ता एवं विनाशकर्त्ता हैं। यह जगत् उनकी ही शक्ति-विशेष है। ऊर्णनाभ (मकड़ी) जिस प्रकार से निजदेह से ही ऊर्णासमूह-विस्तारपूर्वक पश्चात् स्वयं ही उसे ग्रसित कर लेता है, भगवान् विष्णु भी वैसे ही निज-शक्ति से जगत्-प्रपंच का सृजन करके पश्चात् फिर निजशक्ति में ही उसे विलीन कर देते हैं।" अन्यान्य ऋषिगण भी वैसा ही कहते हैं। कर्मकाण्ड के विस्तार के द्वारा ही सांख्यस्मृति की सविषयता सिद्ध होगी,—ऐसा कहना भी संगत नहीं है; क्योंकि, ब्रह्मज्ञान के उदय के निमित्त चित्तशुद्धि के उद्देश्य से वह धर्म-विधान में प्रवृत्त है। उन स्मृतिसमूह की प्रवृत्ति को ज्ञानकाण्ड के विस्तार के निमित्त ही कहना होगा। उन सब धर्मों में चित्तशोधकता भी दिखाई देती है—'तमेतं वेदानुवचनेन' आदि श्रुतिवाक्य ही इसका प्रमाण है। उन सब धर्मों के (धर्मानुष्ठान के द्वारा) वृष्टि-पुत्र-स्वर्ग-आदि फलों की प्राप्ति कहीं कहीं दिखाई देती है एवं समर्थित भी होती है। वह भी शास्त्रों के प्रति श्रद्धा-उत्पादन के द्वारा चित्त को शोधित करने के लिये ही है। 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' एवं 'नारायणपरा वेदाः' आदि श्रुतियाँ भी इस प्रकार के अभिप्राय ही व्यक्त कर रही हैं। इस प्रकार से सांख्य-स्मृति के अन्तर्भुक्त ज्ञानकाण्ड के विस्तार के निमित्त ही प्रवृत्ति अनुमित होने पर भी इसके द्वारा वेदान्तार्थ के विस्तार की बात स्वीकार नहीं की जा सकती; क्योंकि, सांख्य-स्मृति में श्रुतिविरुद्ध अर्थ ही प्रतिपादित हुआ है। श्रुतिसंवादसमूह के अर्थ का स्पष्टीकरण ही इसका 'उपबृंहण' है। सांख्यस्मृति में श्रुति-संवादार्थ का स्पष्टी- करण दिखाई नहीं देता है। अतः उसे श्रुतिविरुद्ध ही कहना होगा। जो श्रुति-विरुद्ध है, वह स्वकपोल-कल्पित है; इसलिये अनाप्त (अप्रामाणिक) है। अतः उस सांख्यस्मृति का व्यर्थता-दोष अपरिहार्य है। किसी एक स्मृति की अप्रामाणिकता को स्थिर करने के लिये अन्यस्मृतियों के प्रति पक्षपात सही नहीं है; क्योंकि, विभिन्नार्थ-समन्वित स्मृतिसमूहों के पक्षपाती होने पर, अनेक प्रकारों से व्याख्याकारी गौतम आदि के अनेक मत-दर्शन से वास्तवार्थ के निर्णय में अचलावस्था होती है। दो स्मृतियों के बीच परस्पर विरोध उपस्थित होने पर, श्रुति के आश्रय-ग्रहण के सिवाय किसी और एक निर्णायक प्रमाण की सहायता ग्रहण करना असंभव हो जाता है। जिसका आश्रय ग्रहण करना होगा, उसे अवश्य ही श्रुति-अनुगत होना होगा। श्रुति के अनुसार न होने पर उसका आदर नहीं किया जा सकता। जो स्मृति के बल पर ही निन्दा का उत्थापन करते हैं, उन सबको उन स्मृतियों के द्वारा ही निराकृत किया जायेगा। इसमें अन्य-स्मृतियों के निर्विषयतारूप दोषों का उल्लेख अवश्यंभावी है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्' आदि वचनों में एक आप्त कपिल-ऋषि का उल्लेख तो है, परन्तु वे कपिल यह कपिल नहीं हैं, वे अन्य कपिल ऋषि हैं। अतएव उस सांख्यकार कपिल को 'अनाप्त' कहने से श्रुति का भी असम्मान नहीं हो रहा है। मनु एवं पराशर की आप्तता श्रुतिस्मृति-प्रसिद्ध है। जैसे, 'मनु ने जो कुछ भी कहा है, वह भेषज-स्वरूप है'—इस वचन में तैत्तिरीयगणों ने मनु की आप्तता को स्वीकार किया है। स्मृति कहती है—श्रीपराशर-पुलस्त्य-वशिष्ट के प्रसाद से ही देवताओं ने परमार्थ-ज्ञान को प्राप्त किया है। वेदविरुद्ध सांख्यस्मृति के प्रवर्त्तक कपिल एवं कर्द्दमनन्दन भगवान् कपिल,—एक नहीं हैं। प्रथमोक्त कपिल—अग्निवंशज मायामोहित जीवविशेष हैं, एवं शेषोक्त कपिल—कार्द्दम वासुदेव के ही अवतार हैं। पद्मपुराण में उक्त हुआ है कि,—'भगवान् वासुदेव ने कर्द्दम-ऋषि से कपिल के रूप में अवतीर्ण

होकर ब्रह्मादि देवताओं को, भृगु आदि ऋषियों को एवं आसुरि-नामक विप्र को सांख्यतत्त्व का उपदेश किया है; उनके द्वारा वर्णित सांख्यस्मृति वेदार्थ के द्वारा उपबृंहित (वर्द्धित) है। अन्य कपिल ने भी और एक आसुरि को ही सर्ववेदविरुद्ध, कुतर्कपरिवृंहित स्वकपोलकल्पित (निज कल्पना के मुताबिक) और एक सांख्य का उपेदश किया था।' अतएव वेदविरुद्ध शेषोक्त अनाप्त सांख्यस्मृति को व्यर्थ कहने में कोई दोष नहीं है।

२। विशेषतया उक्त सांख्यस्मृति में इस प्रकार के कुछ विषयों का वर्णन है, जो वेदों में प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस कारण से भी उक्त सांख्यस्मृति को 'अनाप्त' कहा जा सकता है। विषयसमूह इस प्रकार हैं—"पुरुषगण अर्थात् जीवात्मा-समूह चिन्मात्र एवं विभु हैं; प्रकृति ही उनके बन्धन एवं मोक्ष की कर्त्री है। 'बन्धन' एवं 'मोक्ष', —दोनों ही प्राकृत हैं। 'सर्वेश्वर' के रूप में कोई एक पुरुष नहीं है। 'काल' त त्त्व ही नहीं। प्राण आदि पाँच—इन्द्रियसमूह की वृत्तियाँ हैं"—आदि कुछ वेदान्त-विरुद्ध विषय उस सांख्यस्मृति में दिखाई देते हैं।

स्वयं—'निमित्त' एवं अद्वैतप्रभु—'उपादान-कारण—

आपने पुरुष—विश्वेर 'निमित्त'-कारण।
अद्वैत-रूपे 'उपादान' हन नारायण॥१६॥

१६। प० अनु—कारणार्णशायी पुरुष स्वयं विश्व के 'निमित्त' कारण हैं और श्रीअद्वैत प्रभु के रूप में नारायण विश्व के 'उपादान' कारण हैं।

ईक्षणकर्त्ता के रूप में निमित्त एवं
श्रीअद्वैतप्रभु के रूप में उपादानरूपी स्रष्टा—

'निमित्तांशे' करे तेंहो मायाते ईक्षण।
'उपादान' अद्वैत करेन ब्रह्माण्ड-सृजन॥१७॥

१७। प० अनु—'निमित्तांश' रूप से वे पुरुष माया (प्रकृति) की ओर दृष्टि डालते हैं और विश्व के 'उपादान' कारण होकर श्रीअद्वैत रूप से ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं।

सांख्य-मत-खण्डन—

यद्यपि सांख्य माने, 'प्रधान'—कारण।
जड़ हइते कभु नहे जगत्-सृजन॥१८॥

१८। प० अनु—यद्यपि सांख्य मत में 'प्रधान' को ही जगत् का कारण माना गया है। परन्तु जड़ से जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती।

भगवान् की शक्ति से
ही प्रकृति क्रियाशील—

निजसृष्टिशक्ति प्रभु संचारे प्रधाने।
ईश्वरेर शक्त्ये तबे हये त' निर्माणे॥१९॥

१९। प० अनु—प्रभु अपनी सृष्टि करने की शक्ति को प्रधान में सञ्चारित करते हैं। तभी वह उसी शक्ति के द्वारा सृष्टि कार्य करने में समर्थ होती है।

अनुभाष्य

१८-१९। आदि, ५म प:५८-६६; मध्य २० प: २५९-२६१,२७१,२७६ संख्या द्रष्टव्य हैं।

श्रीअद्वैतप्रभु की
दो मूर्त्तियाँ—

अद्वैत-आचार्य—कोटिब्रह्माण्डेर कर्त्ता।
आर एक एक मूर्त्ये ब्रह्माण्डेर भर्त्ता॥२०॥

२०। प० अनु—एक स्वरूप से श्रीअद्वैत-आचार्य कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं और दूसरे स्वरूप से एक-एक मूर्त्ति धारण कर प्रत्येक ब्रह्माण्ड का पोषण करते हैं।

भगवान् के अङ्ग अथवा
अंशस्वरूप श्रीअद्वैत प्रभु—

सेइ नारायणेर मुख्य अंग,—अद्वैत।
'अंग' शब्दे अंश करि' कहे भागवत॥२१॥

२१। प० अनु—उन्हीं नारायण के मुख्य अङ्ग श्रीअद्वैताचार्य हैं। 'अङ्ग' शब्द का अर्थ श्रीमद्भागवत में 'अंश' कहा गया है।

(श्रीमद्भागवत १०.१४.१४)

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मा-
स्यधीशाखिललोकसाक्षी।
नारायणोऽङ्गं नर-भू-जलायनात्तच्चापि
सत्यं न तवैव माया॥२२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२२। आदि, २य प:,३० संख्या द्रष्टव्य है।

अनुभाष्य

२१। आदि, ३य प:६७ संख्या द्रष्टव्य है।

अङ्ग या अंश होने पर भी माया के अतीत—

ईश्वरेर 'अंग', अंश—चिदानन्दमय।
मायार सम्बन्ध नाहि, एइ श्लोके कय॥२३॥

२३। प० अनु०—ईश्वर के 'अङ्ग' तथा अंश दोनों ही चिदानन्दमय हैं। इस श्लोक के द्वारा यही कहा जा रहा है कि माया के साथ इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

अनुभाष्य

२३। आदि, ३य प:६९-७० संख्या द्रष्टव्य है।

'अंश' न कहकर अङ्ग
कहने का तात्पर्य—

'अंश', ना कहिया, केन कह तारे 'अंग'।
'अंश' हैते 'अंग', याते हय अन्तरंग॥२४॥

२४। प० अनु०—'अंश' न कहकर 'अङ्ग' शब्द क्यों व्यवहार हो रहा है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अंश' न कहकर 'अङ्ग' कहने से अन्तरङ्गता प्रतीत होती है।

'अद्वैत' नाम की सार्थकता—

महाविष्णुर अंश—अद्वैत गुणधाम।
ईश्वरे अभेद, तेञि 'अद्वैत' पूर्ण नाम॥२५॥

२५। प० अनु०—महाविष्णु के अंश श्रीअद्वैतप्रभु गुणों के आधार हैं। ईश्वर (महाविष्णु) से अभिन्न होने के कारण उनका नाम 'अद्वैत' सार्थक है।

आचार्य-नाम की सार्थकता—

पूर्वे यैछे कैल सर्व विश्वेर-सृजन।
अवतरि' कैल एवे भक्ति-प्रवर्त्तन॥२६॥

२६। प० अनु०—सृष्टि के प्रारम्भ में जिस प्रकार श्रीअद्वैतप्रभु विश्व का सृजन करते हैं उसी प्रकार अब अवतीर्ण होकर भक्ति का प्रवर्त्तन कर रहे हैं।

अद्वैतावतार में कृष्णभक्ति-प्रचार ही उनका कार्य—

जीव निस्तारिल कृष्णभक्ति करि' दान।
गीता-भागवते कैल भक्तिर व्याख्यान॥२७॥
भक्ति-उपदेश बिनु ताँर नाहि कार्य।
अतएव नाम हैल 'अद्वैत आचार्य'॥२८॥
वैष्णवेर गुरु तेंहो जगतेर आर्य।
दुइनाम-मिलने हैल 'अद्वैत-आचार्य॥२९॥

२७-२९। प० अनु०—उन्होंने कृष्णभक्ति को प्रदान करके जीवों का उद्धार किया है और गीता-भागवत की व्याख्या में भक्ति का ही प्रचार किया है। भक्ति उपदेश के अतिरिक्त उनका कोई और कार्य नहीं है, इसलिए उनका नाम 'अद्वैत आचार्य' हुआ है। वे वैष्णवों के गुरु एवं जगत् के आर्य हैं। इसलिए दो नाम के मिलने से उनका नाम 'अद्वैत-आचार्य' है।

अनुभाष्य

२६-२८। यद्यपि श्रीअद्वैतप्रभु सेव्य विष्णुतत्त्व हैं, फिर भी उनका जीवों के प्रति मङ्गलविधान-कार्यरूप सेवाप्रवृत्ति प्रदान करने के अतिरिक्त और कोई कार्य अथवा आचरण नहीं है। केवल सेव्यभाव में अपनी लीलाओं का प्रचार करने से जगत् के भोगी लोग उनका अनुकरण करके निरीश्वर केवलाद्वैतवादी अथवा अहंग्र-होपासक बन जायेंगे,—यह देखकर भगवान् विष्णु की सेवकलीला को प्रकटित करके इस आचार्यत्व को प्रदर्शन करना भी एक कार्य है। आचार्य के लिये कृष्ण सेवोन्मुख-तारूप आचरण के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं है। सेव्य का सेवक के रूप में आचरण ही आचार्यत्व का

कारण है,—वही नैमित्तिक अवतार की लीला का वैशिष्ट्य है। दुराचारी जनगण आचार्य के पवित्र स्थान एवं वेष को कलुषित करके भगवत्सेवा के अतिरिक्त जो अपनी इन्द्रियतर्पण के ताण्डवनृत्य का प्रदर्शन करते हैं, वह सर्वतोभावेन आचार्य के द्वारा तिरष्कृत है।

२९। श्रीअद्वैत-आचार्य वैष्णव-जगत् के गुरु एवं सभी के लिये माननीय हैं। उनके ही पादपद्म के अनुसरण में भगवद्भक्त वैष्णवगण वैसे आचरणों का अनुसरण कर हरिसेवा करते हैं।

'कमलाक्ष' नाम की सार्थकता—

कमल-नयनेर तेंहो, याते 'अंग', 'अंश'।
'कमलाक्ष' बलि' धरे नाम अवतंस॥३०॥

३०। प॰ अनु॰—वे कमलनयन श्रीभगवान् के 'अंग' या 'अंश' होने से इनका नाम 'कमलाक्ष' भी है।

वैकुण्ठ में विष्णु एवं वैष्णव की सारुप्यता—

ईश्वरसारुप्य पाय पारिषदगण।
चतुर्भुज, पीतवास, यैछे नारायण॥३१॥

३१। प॰ अनु॰—जिस प्रकार नारायण के पार्षदगण सारुप्य प्राप्तकर नारायण जैसे ही पीतवास और चतुर्भुज धारण करते हैं।

श्रीअद्वैतप्रभु की गुण-महिमा—

अद्वैत-आचार्य—ईश्वरेर अंशवर्य।
ताँर तत्त्व-नाम-गुण, सकलि आश्चर्य॥३२॥

३२। प॰ अनु॰—उसी प्रकार श्रीअद्वैत आचार्य ईश्वर के मुख्य अंश हैं इसलिए उनका तत्त्व-नाम-गुण, सबकुछ आश्चर्य (अद्भुत) युक्त है।

श्रीअद्वैतप्रभु के द्वारा श्रीमन् महाप्रभु की अवतारणा—

याँहार तुलसीदले, याँहार हुँकारे।
स्वगण सहिते चैतन्येर अवतारे॥३३॥
याँर द्वारा कैल प्रभु कीर्त्तन प्रचार।
याँर द्वारा कैल प्रभु जगत् निस्तार॥३४॥
आचार्य गोसाञिर गुण-महिमा अपार।
जीवकीट कोथाय पाइबेक तार पार॥३५॥

३३-३५। प॰ अनु॰—जिनके तुलसी-दल (तुलसी मञ्जरी) के समर्पण से, और जिनके हुँकार से श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने निजगणों के साथ अवतीर्ण हुये हैं, जिनके द्वारा प्रभु ने कीर्तन का प्रचार किया है और जिनके द्वारा प्रभु ने जगत् का उद्धार किया है, उन आचार्य गोसाईं की गुण-महिमा अपार है। कीट के समान जीव इसका पार कैसे पा सकते हैं?

अनुभाष्य

३३-३४। आदि, ३य प:९१, ९५-१०८ संख्या द्रष्टव्य है।

गौर के एक अङ्ग—अद्वैत
और दूसरा अङ्ग—निताइ—

आचार्य गोसाञि चैतन्येर मुख्य अंग।
आर एक अंग ताँर प्रभु नित्यानन्द॥३६॥

३६। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के एक मुख्य अङ्ग श्रीअद्वैत गोसाईं हैं और एक अङ्ग श्रीनित्यानन्द प्रभु हैं।

उपाङ्गरूप अस्त्र—श्रीवासादि भक्तगण—

प्रभुर उपांग—श्रीवासादि भक्तगण।
हस्तमुखनेत्र-अंग चक्राद्यस्त्र-सम॥३७॥

३७। प॰ अनु॰—श्रीवासादि भक्तवृन्द प्रभु के उपाङ्ग हैं। वे सब हस्तमुखनेत्र-रूप अंग और चक्र आदि के समान अस्त्रस्वरूप हैं।

सांगोपाङ्ग को लेकर गौर
के द्वारा नामप्रेम प्रचार—

एसब लइया चैतन्यप्रभुर विहार।
एसब लइया करेन वांछित-प्रचार॥३८॥

३८। प॰ अनु॰—इन सबको लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु विहार करते हैं एवं इन सबको लेकर ही अपने वाञ्छित (नाम और प्रेम) का प्रचार करते हैं।

अनुभाष्य

३६-३८। आदि, ३य पः७१-७४ संख्या द्रष्टव्य है।

श्रीअद्वैतप्रभु के प्रति श्रीगौरहरि की गुरुबुद्धि—

माधवेन्द्रपुरीर इँहो शिष्य, एइ ज्ञाने।
आचार्य-गोसाञिरे प्रभु गुरु करि' माने॥३९॥

३९। प॰ अनु॰—आचार्य-गोसाईं को श्रीमाधवेन्द्र-पुरीपाद के शिष्य जानकर श्रीगौराङ्ग महाप्रभु श्रीअद्वैतप्रभु को अपना गुरु मानते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

३९। श्रीअद्वैतप्रभु—श्रीमाधवेन्द्रपुरी के शिष्य हैं एवं उनके गुरुभाई ईश्वरपुरी—श्रीमन् महाप्रभु के गुरु हैं। इस सम्बन्ध के कारण श्रीमन् महाप्रभु आचार्य गोसाईं को गुरु मानते हैं। वास्तव में श्रीचैतन्यगोसाईं—सर्वेश्वर हैं, एवं श्रीअद्वैताचार्य प्रभु—उनके दास हैं। इस सम्बन्ध से श्रीअद्वैतप्रभु स्वयं को उनका 'दास' होने का अभिमान रखते हैं।

अनुभाष्य

३९। श्रीमाधवेन्द्रपुरी श्रीमध्वाचार्य-सम्प्रदाय के एक गुरु हैं। उनके शिष्य—ईश्वरपुरी एवं श्रीअद्वैतप्रभु हैं। श्रीमाध्व-परम्परा में श्रीगौड़ीय-वैष्णव-शाखा 'श्रीगौर-गणोद्देश में' 'प्रमेयरत्नावली' एवं श्रीगोपालगुरु गोस्वामी के ग्रन्थ में उद्धृत हुई है। श्रीभक्तिरत्नाकर में भी इसका वर्णन देखा जाता है। श्रीगौरगणोद्देश में श्रीमाध्व-शाखा इस प्रकार वर्णित है—"परव्योमेश्वरस्यासीच्छिष्यो ब्रह्मा जगत्पतिः। तस्य शिष्यो नारदोभूत् व्यासस्तस्याप शिष्य-ताम्॥ शुको व्यासस्य शिष्यत्वं प्राप्तो ज्ञानावरोधनात्। व्यासाल्लब्धोकृष्णदीक्षो मध्वाचार्यो महायशाः॥ तस्य शिष्योऽभवत् पद्मनाभाचार्य-महाशयः। तस्य शिष्यो नर-हरिस्तच्छिष्यो माधवद्विजः। अक्षोभ्यस्तस्य शिष्योऽ-भूत्तच्छिष्यो जयतीर्थकः। तस्य शिष्यो ज्ञानसिन्धुः तस्य शिष्यो महानिधिः॥ विधानिधि-स्तस्य शिष्यो राजेन्द्रस्तस्य सेवकः। जयधर्मा मुनिस्तस्य शिष्यो यद्गणमध्यतः॥ श्रीमद्विष्णुपुरी यस्तु भक्तिरत्नावलीकृतिः। जयधर्मस्य शिष्योऽभूत् ब्रह्मण्यः पुरुषोत्तमः॥ व्यासतीर्थस्तस्य शिष्यो यश्चक्रे विष्णुसंहिताम्। श्रीमान् लक्ष्मीपतिस्तस्य शिष्यो भक्तिरसाश्रयः॥ तस्य शिष्यो माधवेन्द्रो यद्धर्मोऽयं प्रवर्त्तितः। तस्य शिष्योऽभवत् श्रीमानीश्वराख्यपुरी यतिः॥ कलयामास शृंगारं यः शृंगारफलात्मकः। अद्वैतः कलयामास दास्या-सख्ये फले उभे॥ ईश्वराख्यपुरीं गौर उरीकृत्य गौरवे। जगदाप्लावयामास प्राकृताप्राकृता-त्मकम्॥"

लौकिक रीति के अनुसार श्रीअद्वैत के प्रति श्रीगौर महाप्रभु का गुरुतुल्य व्यवहार—

लौकिक-लीलाते धर्ममर्यादा-रक्षण।
स्तुति-भक्त्ये करे ताँर चरण-वन्दन॥४०॥

४०। प॰ अनु॰—लौकिक-लीला में धर्म-मर्यादा की रक्षा करते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्ति-पूर्वक स्तुति के द्वारा श्रीअद्वैताचार्य की चरण वन्दना करते हैं।

श्रीअद्वैतप्रभु की श्रीमन् महाप्रभु के प्रति प्रभु-बुद्धि—

चैतन्यगोसाञिके आचार्य करे 'प्रभु'-ज्ञान।
आपनाके करेन ताँर 'दास'-अभिमान॥४१॥

४१। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैताचार्य भी श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपना प्रभु और स्वयं में उनके प्रति दास अभिमान रखते हैं।

कृष्णदास अभिमान से भक्ति का प्रचार—

सेइ अभिमान-सुखे आपना पासरे।
'कृष्णदास' हओ—जीवे उपदेश करे॥४२॥

४२। प॰ अनु॰—वे श्रीचैतन्यदास के अभिमान में इतना सुख अनुभव करते हैं कि अपने आपको भी भूल जाते हैं एवं जीवों को भी 'कृष्णदास' होने का उपदेश करते हैं।

अनुभाष्य

४२। भक्तभाव-अङ्गीकार कर महाविष्णु अपने

स्वरूपाभिमान का परित्याग करके भगवत्-दास्य में अपने आनुष्ठानिक कार्यज्ञान से आनन्द का अनुभव करते हैं। उस सेवानन्द के द्वारा महाविष्णु की निजस्वरूप-ज्ञान में (स्वयं को भोक्तारूप उपलब्धि में) शिथिलता है। वे स्वयं आचरण करके जीवों को अनुक्षण कृष्णसेवा करने की लिये प्रवृत्ति प्रदान करते हैं। २७-२८ संख्या द्रष्टव्य है।

कृष्णदास्य में वैकुण्ठ-आनन्द—

कृष्णदास-अभिमाने ये आनन्द सिन्धु।
कोटी-ब्रह्मसुख नहे तार एक बिन्दु॥४३॥

४३। प० अनु—कृष्णदास-अभिमान में जो आनन्द-सिन्धु प्राप्त होता है, उसकी तुलना में कोटि-ब्रह्मसुख एक बिन्दु के समान भी नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

४३। ब्रह्मसुख—'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी अभेद-बुद्धि के कारण जिस सुख का उदय होता है।

अद्वैतप्रभु एवं नित्यानन्द प्रभु
का गौरदास्य में ही सुख—

मुञि ये चैतन्यदास, आर नित्यानन्द।
दास-भाव-सम नहे अन्यत्र आनन्द॥४४॥

४४। प० अनु०—मैं (श्रीअद्वैताचार्य) और श्री-नित्यानन्द श्रीचैतन्य के दास हैं क्योंकि दासभाव के समान और कहीं भी आनन्द नहीं है।

अनुभाष्य

४३-४४। आदि, ७म प:८५, ९७-९८ संख्या द्रष्टव्य है। भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्वविभाग प्रथम लहरी में—"ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः। नैति भक्ति-सुखाम्बोधेः परमाणु-तुलामपि॥" भावार्थदीपिका में—"त्वत्कथामृत-पाथोधौ विहरन्तो महामुदः। कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्॥ तत्रापि च विशेषेण गतिमण्वीमन्विच्छतः। भक्तिर्हृतमनःप्राणान् प्रेम्णा तान् कुरुते जनान्॥ श्रीकृष्णचरणाम्भोजसेवा-निर्वृतचेतसाम्। एषां मोक्षाय भक्तानां न कदाचित् स्पृहा भवेत्॥" पद्मपुराण के कार्तिक-माहात्म्य में—"वरं देव मोक्षं न मोक्षावधिं वा न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह। इदं ते वपुर्नाथ गोपालबालं, सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः॥ कुवेरात्मजौ बद्धमुर्त्त्यैव यद्वत् त्वया मोचितौ भक्तिभाजौ कृतौ च। तथा प्रेमभक्तिं स्वकां मे प्रयच्छ, न मोक्षे ग्रहो मेऽस्ति दामोदरेह॥" हय-शीर्षीय श्रीनारायण-व्यूहस्तव में—"न धर्मं काममर्थं वा मोक्षं वा वरदेश्वर। प्रार्थये तव पादाब्जे दास्यमेवाति-कामये॥ पुनः पुनर्वरान् दित्सुर्विष्णु मुर्क्तिं न याचितः। भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम्॥ यदृच्छया लब्धमपि विष्णोर्दाशरथेस्तु यः। नैच्छन्मोक्षं बिना दास्यं तस्मै हनुमते नमः॥" श्रीहनुमद्वाक्य में—"भवबन्धच्छिदे तस्यै स्पृहयामि न मुक्तये। भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते॥" श्रीनारद-पंचरात्र में जितन्तु-स्तोत्र में—"धर्मार्थ-काम-मोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन। त्वत्पाद-पंकजस्याधो जीवितं दीयतां मम॥ मोक्ष-सालोक्यसारु-प्यान् प्रार्थये न धराधर। इच्छामि हि महाभाग कारूण्यं तव सुव्रत॥" सम्राट् कुलशेखर-कृत 'मुकुन्दमाला' स्तोत्र में—"नाहं वन्दे पदकमलयोर्द्वन्द्वमद्वन्द्वहेतोः, कुम्भीपाकं गुरुमपि हरे नारकं नापनेतुम्। रम्या-रामा-मृदुतनुलता-नन्दने नाभिरन्तुं, भावे भावे हृदयभवने भावयेयं भवन्तम्॥" श्रीमदभागवत में—३।२५।३६, ३।४।१५, ३।२५।३४, ४।१।२२, ४।९।१०, ४।२०।२४, ५।१४।४३, ६।११।२५, ६।१७। २८, ६।१८।७४, ७।६।२५, ७।८।४२, ८।३।२०, ९।४।४९, ९।२१।१२, १०।१६।३७, १०।८७।२१, ११।१४।१४, ११।२०।३४, १२।३।६ आदि अनेक श्लोक समूह द्रष्टव्य हैं।

दृष्टान्त के द्वारा कृष्णदास्य की सर्वश्रेष्ठता का प्रदर्शन—
१) लक्ष्मी की कृष्णदास्य के लिये प्रार्थना—

परमप्रेयसी लक्ष्मी हृदये वसति।
तेंहो दास्य-सुख मागे करिया मिनति॥४५॥

४५। प० अनु—परमप्रेयसी लक्ष्मी जो भगवान् के हृदय पर वास करती है। वे भी विनतिपूर्वक दास्य-सुख के लिये प्रार्थना करती हैं।

२) विष्णुपार्षदवर्ग एवं ब्रह्मा, शिव, चतुःसन, नारद और शुक आदि का भी कृष्णदास्य—

दास्य-भावे आनन्दित पारिषदगण।
विधि-भव-नारदादि-शुक-सनातन॥४६॥

४६। प० अनु०—भगवन् के सभी पार्षदगण ब्रह्मा, शिव, नारद, शुक और सनातनादि चतुःसन दास्य भाव के सुख में ही आनन्दित रहते हैं।

३) गौरदास्य में पागल निताइ—

नित्यानन्द अवधूत सबाते आगल।
चैतन्येर दास्य-प्रेमे हइल पागल॥४७॥

४७। प० अनु०—अवधूत श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीचैतन्य महाप्रभु के दासों में सबसे अग्रगण्य हैं एवं श्रीमन् महाप्रभु के दास्य-प्रेम में पागल हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

४७। आगल—अग्रगण्य।

४) श्रीवासादि महाजनगण, सभी का गौरदास्य—

श्रीवास, हरिदास, रामदास, गदाधर।
मुरारि, मुकुन्द, चन्द्रशेखर, वक्रेश्वर॥४८॥
एसब पण्डितलोक परम-महत्त्व।
चैतन्येर दास्ये सबाय करये उन्मत्त॥४९॥

४८-४९। प० अनु०—श्रीवास, हरिदास, रामदास, गदाधर, मुरारि, मुकुन्द, चन्द्रशेखर, वक्रेश्वर आदि परम महान एवं पण्डित व्यक्ति भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के दास्य भाव में उन्मत्त रहते हैं।

स्वयं गौरदास होने पर गौर दास्य का उपदेश—

एइ मत गाय, नाचे, करे अट्टहास।
लोके उपदेशे,—'हओ चैतन्येर दास'॥५०॥
चैतन्यगोसाञि मोरे करे, गुरु-ज्ञान।
तथापिह मोर हय 'दास' अभिमान॥५१॥

५०-५१। प० अनु०—इस प्रकार श्रीगौराङ्ग महाप्रभु का वर्णन करते हुए श्रीअद्वैताचार्य कभी कीर्तन, नर्तन और कभी अट्टहास करते हुये लोगों को उपदेश देते—'सभी श्रीचैतन्य के दास बन जाओ।' यद्यपि श्रीचैतन्य गोसाईं मुझे गुरु मानते हैं; फिर भी मैं उनके प्रति दास अभिमान ही रखता हूँ।

कृष्णप्रेम का प्रभाव—

कृष्णप्रेमेर एइ एक अपूर्व प्रभाव।
गुरु-सम-लघु के कराय दास्यभाव॥५२॥

५२। प० अनु०—कृष्णप्रेम का एक अपूर्व प्रभाव है कि यह प्रेम गुरु (बड़े)-सम (समान)-लघु (छोटे) तीनों को दास्यभाव में आकर्षित करता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

५२। गुरु—वत्सलरसाश्रित गुरुवर्ग; सम—समान (सख्य-रसाश्रित); लघु—क्षुद्र। कृष्णप्रेम इन तीनों को दास्य-भाव प्रदान करता है। अतः श्रीकृष्णचैतन्य के गुरुगण, समानगण एवं लघुगण,—सभी उनके दास हैं।

अनुभाष्य

५२। जगत् में गुरुवर्ग जो अज्ञातभाव में दास्य करते हैं, उसे अनेक बार ऐश्वर्य-प्रधान बुद्धि से अथवा मर्यादा-मार्ग से समझना सम्भव नहीं है। इसलिये नारायण-सेवा में कृष्णप्रेम की भाँति चमत्कारिता नहीं है। श्रीकृष्ण के गुरुवर्ग दास्य के उत्कर्ष में स्थित होने के लिये ही 'श्रीगुरुत्व' को स्वीकार करके सेवा करते रहते हैं। सम (समान) एवं लघु (दास) सम्बन्ध-विशिष्ट होकर दास्य-भाव में अवस्थित होना ऐश्वर्य-प्रधान बुद्धि से समझ में आता है, परन्तु गुरु (बड़े, वात्सल्य भाव युक्त) के अभिमान में दास्यभाव की प्रबलता केवल कृष्णसेवा में ही विद्यमान है। सर्वतोभावेन सेवा-प्रवृत्तिविशिष्ट होकर प्रचुर परिमाण में सेवाभिलाष—केवल सर्वसेव्य श्रीकृष्ण के प्रति ही सम्भव है। नारायण के सम एवं लघु, अनेक सेवक हैं। किन्तु श्रीकृष्ण के गुरु-वर्ग अपूर्व प्रभाव का विस्तार करते हुए आत्यन्तिक सेवा ही करते हैं। श्रीकृष्ण के गुरुवर्ग, श्रीकृष्ण के समान एवं श्रीकृष्ण के स्नेह-पात्र, ये तीन प्रकार के व्यक्ति ही तत् प्रेमविशिष्ट होकर कृष्ण

दास्य ही करते हैं—यही प्रेम का अद्‌भुत विक्रम है।

सिद्धानुभूति-प्रमाण—

इहार प्रमाण शुन शास्त्रेर व्याख्यान।
महदनुभव याते सुदृढ़ प्रमाण॥५३॥

५३। प॰ अनु॰—इसके प्रमाण में शास्त्रों का व्याख्यान श्रवण कीजिए क्योंकि महद् व्यक्तियों का अनुभव ही सुदृढ़ प्रमाण होता है।

५) नन्द-महाराज का वत्सल-रस में भी कृष्णदास्य—

अन्येर का कथा, ब्रजे नन्द महाशय।
ताँर सम 'गुरु' कृष्णेर आर केह नय॥५४॥
शुद्धवात्सल्ये ईश्वर-ज्ञान नाहि ताँर।
ताँहाकेइ प्रेमे कराय दास्य-अनुकार॥५५॥
तेंहो रति-मति मागे कृष्णेर चरणे।
ताँहार श्रीमुखवाणी ताहाते प्रमाणे॥५६॥
शुन उद्धव, सत्य, कृष्ण,—आमार तनय।
तेंहो ईश्वर—हेन यदि तोमार मने लय॥५७॥
तथापि ताँहाते रहु मोर मनोवृत्ति।
तोमार ईश्वर-कृष्णे हउक मोर मति॥५८॥

५४-५८। प॰ अनु॰—अन्य का कहना क्या, व्रज में नन्द महाराज के समान श्रीकृष्ण के 'गुरु' (बड़े) और कोई नहीं है। शुद्धवात्सल्य के कारण उनका श्रीकृष्ण के प्रति ईश्वर-ज्ञान नहीं है। परन्तु कृष्णप्रेम उन्हें भी दास्यभाव में अनुराग करने को प्रवृत्त करता है। वे भी कृष्णचरणों में रति-मति के लिये प्रार्थना करते हैं। उनके श्रीमुखकी वाणी इसका प्रमाण है। श्रीनन्द महाराज कहते हैं—सुनो उद्धव, यह सच है कि कृष्ण मेरा पुत्र है किन्तु यदि तुम्हें लगता है कि वह ईश्वर है, तो ऐसा होने पर भी कृष्ण में ही मेरी मनोवृत्ति निविष्ट रहे। तुम्हारे ईश्वर-कृष्ण में मेरी मति बनी रहे।

अमृतप्रवाह भाष्य

५८। हे उद्धव, यद्यपि तुम कृष्ण को ईश्वर मानते हो, तब भी उस कृष्ण में मेरी मनोवृत्ति स्थित हो जाये।

(श्रीमद्भागवत १०.४७.६६-६७)

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वनादिषु॥५९॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मंगलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥६०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५९-६०। नन्द महाराज ने कहा,—हे उद्धव, हमारी मन की समस्त वृत्तियाँ श्रीकृष्ण के चरणकमलों का आश्रय करें। हमारे वचन समूह उनका नामकीर्त्तन करें एवं हमारे शरीर उनके अभिवादन में लग जायें। ईश्वर की इच्छा से कर्मफलानुसार हम सब किसी भी अवस्था में क्यों न रहें, दानादि शुभ अनुष्ठानों के द्वारा परम पुरुष कृष्ण में हमारी रति परिवर्द्धित होती रहे।

अनुभाष्य

५९। व्रजवासियों के साथ मिलने के पश्चात् उन सबको आमन्त्रित करके जब उद्धव द्वारका को जाने के लिए प्रस्तुत हुए तब नन्दादि गोप श्रीकृष्ण के प्रति अनुरागवशत उद्धव से कह रहे हैं,—

नः (अस्माकं) मनसः वृत्तयः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः (कृष्णपादपद्माश्रिताः) स्युः। (अस्माकं) वाचः तु नाम्नां (तन्नाम्नाम्) अभिधायिनीः (अभिधायिन्यः कीर्तनपरा भवन्तु), कायः (देहः) तत् प्रह्वनादिषु (तस्य कृष्णस्य नमस्कारादिषु) अस्तु।

६०। कर्मभिः (पापपुण्यादिभिः फलान्वितैः) ईश्वरेच्छया यत्र क्वापि भ्राम्यमाणानां (चतुरशीति-योनिषु जायमानाना) नः (अस्माकं) मंगलाचरितैः दानैः (तज्जनितैः शुभकर्मभिः) ईश्वरे (भगवति) कृष्णे रतिः (अनुरागः) अस्तु।

६) व्रजसखासमूहों का सख्यरस में भी कृष्णदास्य—

श्रीदामादि ब्रजे यत सखार निचय।
ऐश्वर्य-ज्ञान-हीन, केवल-सख्यमय॥६१॥
कृष्णसंगे युद्ध करे, स्कन्दे आरोहण।
ताँरा दास्यभावे करे चरण-सेवन॥६२॥

६१-६२। प० अनु०—व्रज में श्रीदाम आदि जितने भी सखागण हैं; वे सब ऐश्वर्य-ज्ञान-रहित, केवल सख्यमय हैं। वे सब श्रीकृष्ण के साथ लड़ते-झगड़ते हैं, कन्धों पर चढ़ जाते हैं और दास्यभाव में श्रीकृष्ण के चरणों की सेवा भी करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

६१। सख्य दो प्रकार का होता है—ऐश्वर्यज्ञानयुक्त एवं 'केवल' अथवा 'अमिश्र' सख्य। श्रीदामादि व्रज-सखागण 'केवल' सख्य में अवस्थित हैं—वे सब श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य को नहीं जानते।

(श्रीमद्भागवत १०.१५.१७)

पादसंवाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन्॥६३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६३। श्रीकृष्ण के शयन करने पर कोई सखा उनके पादसंवाहन करने लगा और कोई विशुद्ध-सख्यभाव में पल्लव-रचित व्यजन के द्वारा उनको हवा करने लगा।

अनुभाष्य

६३। तालवन में धेनुकासुर-वध से पहले रामकृष्ण को लेकर गोपबालकगण इस प्रकार क्रीड़ा कर रहे थे—

हतपाप्मानोः (विगतकल्मषाः) केचित गोपबालकाः महात्मनः (भगवतः) तस्य (कृष्णस्य) पादसंवाहनं चक्रुः, अपरे गोपाः व्यजनैः समवीजयन् (सम्यक् अवीजयन्)।

७) व्रजगोपियों के मधुर रस में भी कृष्णदास्य—

कृष्णेर प्रेयसी ब्रजे यत गोपीगण।
याँर पदधूलि करे उद्धव प्रार्थन॥६४॥
याँ-सबारे उपरे कृष्णेर प्रिय नाहि आन।
ताँहारा आपनाके करे दासी-अभिमान॥६५॥

६४-६५। प० अनु०—व्रज में कृष्णप्रेयसी जितनी भी गोपियाँ हैं, जिनकी पदधूलि को प्राप्त करने के लिए उद्धव प्रार्थना करते हैं, जिनसे श्रेष्ठ श्रीकृष्ण का प्रिय और कोई नहीं है। वह भी श्रीकृष्ण के प्रति दासी अभिमान रखती हैं।

(श्रीमद्भागवत १०.३१.६ श्लोक)

व्रजजनार्त्तिहन् वीर योषितां
निज-जनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत् किंकरीः
स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय॥६६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६६। हे व्रज जनों के दुःख के नाशक, हे प्रियाओं के मध्य परम-नायक, हे निजजन के दर्पहारी (गर्व को) दूर करने वाले! मन्दहास्य युक्त! हे सखे! हम सब आपकी किंकरी हैं—हमें अपने मुखकमल का दर्शन कराइये।

अनुभाष्य

६६। रासलीला में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर उनको ढूँढती हुई गोपियों का गीत—

हे व्रजजनार्त्तिहन् (कृष्णानुरागिजनविरह-कलेश-विनाशन), वीर (उदारविग्रह), निजजन-स्मयध्वंसन-स्मित (निजजनानां रसविग्रहाणां स्मयः गर्वः तं ध्वंसयति इति तथाभूतं स्मितं हास्यं यस्य तथाभूत) सखे, स्म (निश्चित) भवत्-किंकरीः नः (अस्मान्) भज (अनुवर्त्तस्व); चारु (मनोहर) जलरुहाननं (मुखपद्म) च योषितां (गोपीनामस्माकं) दर्शय।

(श्रीमद्भागवत १०.४७.२१)

अपि वत मधुपुर्य्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते।
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥६७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६७। इस समय खेद का विषय यही है कि, हमारे आर्यपुत्र अब मथुरा-नगरी में वास कर रहे हैं। हे उद्धव! क्या वे अपने पिता नन्द के घर का एवं गोपबान्धवों का

स्मरण करते हैं? क्या वे कभी भी हम किंकरियों की चर्चा करते हैं? आहा! क्या वे कभी अगुरु की गन्ध से युक्त अपने हस्तकमल हमारे मस्तक पर रखेंगे?

अनुभाष्य

६७। वृन्दावन में उद्धव के आगमन पर भ्रमर को लक्ष्य करके श्रीमती के द्वारा चित्रजल्पोक्ति,—

हे सौम्य, अपि वत आर्यपुत्रः (नन्दनन्दनः) अधुना किं मधुपुर्य्यां (मथुरायाम्) आस्ते (सुखं निवसति)? सः पितृगेहान् (पितृभ्यां नन्दयशोदाभ्यां गेहैश्च सहितान्) बन्धून् (पर्ज्जन्य-वरीयस्युपनन्दाभिनन्द-सन्नन्द-नन्दन-रोहिणी-सानन्दानन्दिनी-कण्डव-दण्डवादीन् गोपान् सुबलार्ज्जुन-गन्धर्व-वसन्त-श्रीदाम-सुदामोज्ज्वल-कोकिल-सनन्दन-विदग्धादीन्) च किं स्मरति? क्वचित् (कदाचित्) अपि किंकरीणां (ललिता)-विशाखा-चित्राचम्पकलता-तुंगविद्येन्दुलेखारंगदेवी-सुदेवी-कला-वती-शुभांगदा-हिरण्यांगी-रत्नलेखा-शिखावती-कन्दर्प-मंजरी-फुल्लकलिकानंग मंजरी-पुण्डरीका-सीताखंडी-चारुखंडी-सदण्डिका-कुण्ठिता-कलकण्ठी-रोमचि-मेचका-हरिद्राभा-हरिच्चेला-वितण्डिका-लीलावती-साधिका-चन्द्रिका-माध्वी-विजयानन्दा-गौरी-सुधा मुखी-वृन्दा-कौमुदी-रत्नभवा-रत्न-प्रभादि-दासीना) नः (अस्माकं श्रीमतीवृषभानु कुमारीणां गान्धर्व्विकाणा) कथां सः गृणीते (किं स्वमुखेनोच्चारयति)? कदा नु अगुरुसुगन्धं (अगुरुः सकाशादपि सुष्ठु- गन्धः यस्य तादृश) भुजं (स्वभुज) मुर्द्धिन अधास्यत् (निधास्यति)?

८) यहाँ तक कि, साक्षात्
श्रीराधा का भी कृष्णदास्य—

ताँ-सबार कथा रहु,—श्रीमती राधिका।
सबा हैते सकलांशे परम-अधिका॥६८॥
तेंहो याँर दासी हैञा सेवेन चरण।
याँर प्रेमगुणे कृष्ण बद्ध अनुक्षण॥६९॥

६८-६९। प॰ अनु॰—अन्य सबकी बातें छोड़ दीजिए, श्रीमती राधिका, जो सभी गोपियों में सब प्रकार से परम-श्रेष्ठ हैं और जिनके प्रेम एवं गुण में श्रीकृष्ण प्रतिक्षण बन्धे हुए हैं, वे भी दासी बनकर श्रीकृष्ण के चरणों की सेवा करती है।

(श्रीमद्भागवत १०.३०.३९)

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥७०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७०। हा नाथ! हा रमण! हा प्रियतम! हा महाबाहो! मैं आपकी अतिदीन दासी हूँ। मुझे अपना सान्धिय प्रदान कीजिए।

अनुभाष्य

७०। रासलीला में अन्य गोपियों को छोड़कर श्रीकृष्ण केवल श्रीमती राधिका के साथ अन्तर्धान होने पर अन्य गोपियों को श्रीकृष्ण के विरह में विलाप करते हुये देखकर दृप्तिवश श्रीमती अपनी चलने की शक्ति-हीनता ज्ञापन करती हुई श्रीकृष्ण को उन्हें उठा ले चलने का आदेश करने पर जब श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये। तब श्रीमती की विलापोक्ति—हा नाथ, रमण, प्रेष्ठ, (सर्वोत्तम) क्वासि (त्व) क्वासि? हे सखे, कृपणायाः (तव विरहकातरायाः) दीनायाः ते (तव) दास्याः (मे मम मह्यमित्यर्थः) सन्निधिं (निज-सन्निधान) दर्शय (अवलोकय)।

९) महिषियों का भी कृष्णदास्य—

द्वारकाते रुक्मिण्यादि यतेक महिषी।
ताहाराओं आपनाके माने कृष्णदासी॥७१॥

७१। प॰ अनु॰—द्वारका में रुक्मिणी आदि जितनी महिषियाँ हैं, वे सब भी अपने को श्रीकृष्ण की दासी मानती हैं।

(श्रीमद्भागवत १०.८३.११)

तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया।
सख्योपेत्याग्रहीत् पाणिं साहं तद्गृहमार्ज्जनी॥७२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७२। मैं श्रीकृष्ण के चरणों को स्पर्श करने की लोभी होकर तपस्या कर रही थी, श्रीकृष्ण ने अपने सखा के साथ आकर कृपापूर्वक मेरा पाणिग्रहण किया। तबसे मैं उनकी घर को मार्जन करने वाली दासी बन गई हूँ।

अनुभाष्य

७२। स्यमन्त-पंचक में यादवों एवं कौरवों की महिलाएँ एकत्र सम्मिलित हुई थीं, उस समय परस्पर कृष्णकथा के प्रसङ्ग में द्रौपदी के प्रति कृष्णमहिषी कालिन्दी के वचन—स्वपादस्पर्शनाशया (स्वस्य श्री कृष्णस्य पाद-स्पर्शनस्य आशा तया) तपश्चरन्तीं मा (माम्) आज्ञाय (ज्ञात्वा) सः कृष्णः सख्या (अर्जुनेन) सह उपेत्य (समीपमागत्य) पाणिम् अग्रहीत्; सा (अहं) तत् (तस्य) गृहमार्ज्जनी (दासी)।

(श्रीमद्भागवत १०.८३.३९)

आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः।
सर्वसंगनिवृत्त्याद्धा तपस्या च बभूविम॥७३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७३। हम सबने अनेक तपस्याओं के द्वारा सर्वसङ्ग परित्याग करके इन आत्माराम पुरुष के गृहदासीत्व को प्राप्त किया है।

अनुभाष्य

७३। उस समय इसी प्रसङ्ग में द्रौपदी के प्रति कृष्णमहिषी लक्ष्मणा की उक्ति,—

इमाः वयं (महिष्यः) सर्वसंगनिवृत्त्या (सर्वेषु सुख-वित्त-पुत्रादिषु स-मोक्ष-चतुर्वर्गादिषु वा संगः तस्य निवृत्त्या (उपेक्ष्या) तपसा (दासी-वृत्त्या) आत्मरामस्य तस्य (कृष्ण-स्य) अद्धा (साक्षात्) गृहदासिकाः बभूविम (आस्महि)।

१०) स्वयंप्रकाश बलराम का भी कृष्णदास्य—

आनेर कि कथा, बलदेव महाशय।
याँर भाव—शुद्धसख्य-वात्सल्यादिमय॥७४॥
तेंहो आपनाके करेन दास-भावना।
कृष्णदास-भाव बिनु आछे कोन जना॥७५॥

७४-७५। प० अनु०—अन्य व्यक्तियों का क्या कहना, बलदेव महाशय जिनका शुद्धसख्यवात्सल्यादिमय भाव है। वे भी स्वयं को श्रीकृष्ण का दास मानते हैं। कृष्णदास के भाव के बिना कौन व्यक्ति हो सकता है।

अनुभाष्य

७४। श्रीबलदेव अग्रजन्मा अर्थात् पूज्य होकर भी अपने आपको अनुज श्रीकृष्ण के सेवक के रूप में ही जानते हैं। महावैकुण्ठ में इन स्वयंप्रकाश बलदेवविग्रह का ही चतुर्व्यूहात्मक प्रकोष्ठ है—वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का परम ऐश्वर्य है। मर्यादामार्ग में इस प्रकार समुन्नत परमश्रेष्ठ पदवी भी श्रीकृष्ण की दास्य वृत्ति में अवस्थित है, अतः गोलोक-वैकुण्ठ एवं असंख्य ब्रह्माण्ड समूह अथवा इसके अभ्यंतर में स्थित कोई भी सत्त्व श्रीकृष्ण को भोग करने में या दास बनाने में समर्थ नहीं है। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य प्रत्येक ही श्रीकृष्ण के प्रति जिस परिमाण से सेवाप्रवृत्तिविशिष्ट हैं, वह उसी परिमाणानुसार अन्यान्य वस्तुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है। कृष्णदास्य-परित्यागपूर्वक जो प्राणी जिस परिमाण में विमुख हैं, उसी परिमाणानुसार उन्होंने अमङ्गलों का आह्वान किया है। जड़जगत् में श्रीकृष्ण को भोग करने की प्रवृत्ति से अथवा श्रीकृष्ण के साथ समानज्ञान से श्रीकृष्ण-जैसी भोग करने की प्रवृत्ति अभक्त-कुल का मूलमंत्र होने पर भी स्वरूपतः सभी कृष्णाश्रित जन ही नित्यकाल भगवान् की सेवा में नियुक्त हैं। कृष्णसेवाविमुखता ही जीवों को मृतकल्प (जीवित अवस्था में मृतव्यक्ति की तरह) बना देती है, जब कृष्णज्ञान का उन्मेष होता है, तब न्यूनाधिक कृष्ण-दास्यवृत्ति जीवमात्र में दिखाई देती है।

११) शेषरूपी अनन्त का दसदेहों से कृष्णदास्य—

सहस्र-वदने येंहो शेष-संकर्षण।
दश देह धरि' करे कृष्णेर सेवन॥७६॥

७६। प० अनु०—सहस्र वदन शेष जिन्हें सङ्कर्षण

कहा जाता है। वे भी दस देह धारण कर श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

७६। दसदेह—छत्र, पादुका, शय्या, उपाधान, वसन, भूषण, आराम, आवास, यज्ञ-सूत्र एवं सिंहासन हैं।

१२) शिव का कृष्णदास्य—

अनन्त ब्रह्माण्डे रुद्र—सदाशिवेर अंश।
गुणावतार तेंहो, सर्वदेव-अवतंस॥७७॥
तेंहो करेन कृष्णेर दास्य-प्रत्याश।
निरन्तर कहे शिव, 'मुञि कृष्णदास'॥७८॥
कृष्णप्रेमे उन्मत्त, विह्वल दिगम्बर।
कृष्ण-गुण-लीला गाय, नाचे निरन्तर॥७९॥

७७-७९। प० अनु०—अनन्त ब्रह्माण्डों में विराजमान रुद्र सदाशिव के अंश हैं। यह गुणावतार रुद्र सब देवों के मूल हैं। वे भी कृष्णदास्य की कामना करते हैं और निरन्तर कहते हैं कि 'मैं कृष्णदास हूँ।' कृष्णप्रेम में उन्मत्त तथा विह्वल होकर दिगम्बर श्रीकृष्ण के गुण, लीला का गायन कर निरन्तर नाचते रहते हैं।

अनुभाष्य

७७-७८। रुद्र एवं सदाशिव—लघुभागवतामृत में गुणावतारों के प्रसङ्ग में (१८-२४) श्लोक। रुद्र—"एकादशव्यूहस्तथाष्टतनुरप्यसौ। प्रायः पंचाननस्त्र्यक्षो दशबाहुरुदीर्यते क्वचिज्जीव-विशेषत्वं हरस्योक्तं विधेरिव। तत् तु शेषवदेवास्तांतदंशत्वेन कीर्त्तनात्॥ हरः पुरुषधामत्वान्निर्गुण-प्राय एव सः। विकार-वानिह तमोयोगात् सर्वैः प्रतीयते॥ यथा श्रीदशमे (१०।८८।३)—"शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिंगो गुणसंवृतः॥" यथा ब्रह्म- संहितायां ५।४५—"क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात्, संजायते न तु ततः पृथगस्ति हेतोः। यः शंभुतामपि तथा समुपैति कार्यात्, गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥" विधेर्ललाटाज्जन्मास्य कदाचित् कमलापतेः। कालाग्निरुद्रः कल्पान्ते भवेत् संकर्षणादपि॥ सदाशिवाख्या तन्मूर्त्तिस्तमो-गन्धविवर्ज्जिता। सर्वकारणभूतासावंगीभूता स्वयं प्रभोः। वायव्यादिषु सैवेयं शिवलोके प्रदर्शिता॥ तथा च ब्रह्मसंहितायाम् आदि शिव-कथने (५।८)—"नियतिः सा रमा देवी ततप्रिया तद्वशंवदा। तल्लिंगं भगवान् शंभुर्ज्योतीरूपः सनातनः। या योनिः सापरा शक्तिः" इत्यादि॥

श्रीरुद्र—एकादशव्यूह, यथा—अजैकपात्, अहिव्रध्न, विरूपाक्ष, रैवत, हर, बहुरूप, देव-श्रेष्ठ त्र्यम्बक, सावित्र, जयन्त, पिनाकी एवं अपराजित; एवं अष्ट मूर्त्तियाँ जैसे—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र एवं सोमयाजी, इनमें से लगभग प्रायः प्रत्येक रुद्र ही पंचमुख, त्रिनयन एवं दसबाहु सम्पन्न है। कहीं कहीं रुद्र भी ब्रह्मा की भाँति 'जीवविशेष' के रूप में कीर्तित होते हैं। भगवद अंश के रूप में कीर्त्तन करने से 'शेष' की भाँति इनकी भी मीमांसा करनी होगी, अर्थात् स्वांश शिव—ईश्वर-कोटि हैं एवं संहारक रुद्र—विभिन्नांश जीव हैं। भगवदवतार पुरुषात्मरूप हैं, इसलिये 'हर' वस्तुतः निर्गुण होकर भी तमोगुण के योग से अतात्त्विक सर्वसाधारण लोगों के समक्ष ऊपर से दिखने में विकारी की भाँति प्रतीत होते हैं। जैसे श्रीदशमस्कन्ध में—"रुद्र निरन्तर गुणसाम्यावस्थारूप प्रकृतियुक्त हैं, गुणक्षोभ के पश्चात् तीन गुणों से युक्त हैं एवं दूर से तीन गुणों में संवृत (रुद्ध) हैं" इति। जैसे श्रीब्रह्मसंहिता में—"दुग्ध जैसे विकारविशेष के योग से दही में रूपान्तरित हो जाता है, परन्तु वही दही स्वकारण दुग्ध से कभी भी पृथक् वस्तु नहीं है, ठीक उसी प्रकार से जो संहारकार्य के निमित्त रुद्र के रूप में अवतीर्ण होते हैं, मैं उन्हीं आदि-पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ।" किसी कल्प में ब्रह्मा के ललाट से, अथवा किसी कल्प में विष्णु के ललाट से रुद्र का जन्म होता है। कल्प के अन्त में सङ्कर्षण से भी कालाग्निरूप रुद्र का जन्म होता है। वायुपुराण आदि में वैकुण्ठ के अन्तर्भुक्त शिवलोक में सर्वकारणस्वरूप और तमोगुण के साथ सम्बन्ध-रहित जो सदाशिव नामकी शिवमूर्त्ति प्रदर्शित हुई है, वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के विलास हैं। जैसे ब्रह्मसंहिता में आदिशिव-कथन में उक्त हुआ है कि,—"सदैव भगवत् स्वरूपभूता अनपायिनी (स्थिर) एवं वश में रहनेवाली

वे रमादेवी जिनकी प्रेयसी हैं, सनातन ज्योतिरूप भगवान् शम्भु उन्हीं स्वयंरूप के अङ्गविशेष हैं। जो योनि, अर्थात् योनि-स्थानीय अंश हैं, महामाया अथवा महदादि तत्त्व के उत्पत्ति स्थान हैं, वे अपरा अर्थात् त्रिगुणमयी प्रधाना-ख्यशक्ति हैं" इत्यादि।

श्रीबलदेव विद्याभूषणः—वाक्यविशेषलाभात् रुद्र-स्यापि द्वैविध्यं प्रतिपादयितुमाह—श्रीति। 'सत्त्व' रजः इत्यादि (भाः १।२।२३) वाक्ये य ईश्वरकोटिरुक्तः, तं तावदाह—रुद्र एकादशव्यूह इति। अत्र भारतवाक्यम्—"अजैकपादहिर्व्रघ्नो विरुपाक्षोऽथ रैवतः। हरश्च बहुरूप-श्चत्र्यत्म्बकबश्च सुरेश्वरः। सावित्रश्च जयन्तश्च पिना-की चापराजितः॥" इत्येतत्। तथाष्टतनुरिति—"पृथ्वी सलिलंतेजोवायुराकाशमेव च। सूर्या-चन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यषमूर्त्तयः॥" इति यादवः। प्राय इति—जलावरणस्थ-रुद्रस्यैकमुखत्ववीक्षणात्।

अथ जीवकोटित्वं तस्याह—क्वचिदिति। "यं कामये तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम॥" इत्यादि-कमृक्श्रुतौ; "अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत—प्रजाः सृजेय" इत्यारभ्य, "नारायणाद् ब्रह्मा जायते, नारायणाद् रुद्रो जायते, नारायणात् प्रजापतिर्जायते, नारायणादिन्द्रो जायते, नारायणादष्टौ वसवो (जायन्ते), नारायणादेकादश रुद्राः (जायन्ते) नारायणाद्द्वादशादित्याः" (नाः३ः१) इत्यादिकं नारायणोपनिषदि। "एकोह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा न ईशानः" इत्युपक्रम्य, "तस्य ध्यानान्तस्थस्य लला-टात्त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत विभ्रच्छ्रियं सत्यं ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यम्" (मःउः१-२) इत्यादिकं महोप-निषदि। "प्रजापतिंच रुद्रंचाप्यहमेव सृजामि वै। तौ हि मां न विजानीतो मम मायाविमोहितौ॥" इति मोक्षधर्मे च। एभिर्वाक्यैर्जन्मोक्तेः हरस्य जीवत्वम्। अतः प्रलयश्च "ब्रह्मा शम्भु-स्तथैवार्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः। एवमाद्या-स्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा॥ जगत्-कार्य्यावसाने तु वियुज्यन्ते च तेजसा। वितेजसश्च ते सर्वे पंचत्वमुपयान्ति वै॥" इति विष्णुधर्मे। "एको ह" इत्यादिश्रुतौ च। अन्यथा एतानि कुप्येयुः। दृष्टान्तोऽत्र—विधेरिवेति। शेषवदिति—शार्ङ्गिणः शय्यारूपस्तदाधार-शक्तिः शेष ईश्वर-कोटिः, भूधारी तु तदाविष्टो जीवः। तदंशत्वेनेति—तत्स्वांशत्वेन तद्विभिन्नांशत्वेन च पुराणे- ष्वभिधानादित्यर्थः।

यस्तु "सत्त्वं रजस्तमः" इति पद्ये परस्य पुरुष-स्याविर्भावो हरः पठितः, स खलु पुरुष-धामत्वात्—तदात्मभूतत्वात् निर्गुण एव। प्राय इति—स्वेच्छागृहीतेन तमसा आवृतत्वात्। अतएव, सर्वैः—अतत्त्वविद्भिः; विकारवान्, इह—गुणावतारेषु प्रतीयते। वस्तुतस्तु अवि-कारी स इत्यर्थः। तमोयोगाद्विकारवान् प्रतीयते, इत्यत्र प्रमाणमाह—शिवः शक्तीति। शिवः—रुद्रः, शश्वत्—सर्वदा, शक्त्या—स्वेच्छागृहीतया गुण-साम्यावस्थया प्रकृ-त्या, युतः गुणक्षोभे सति त्रिलिंगः—गुणत्रययुक्तः, प्रकटै-श्च सद्भिस्तैर्गुणैर्द्रतः संवृतश्चेति। ननु तमः संवृतत्वं तस्य ख्यातम्, त्रिलिंगत्वमिह कथमुक्तमिति चेत्? उच्यते,—त्रयाणां गुणानां मिथः संपृक्तत्वात् सत्त्व-रजसी च तत्र स्यातामेवेत्यविरोधः एतच्च वाक्यं लोक-प्रतीत्यनुवादरूपं बोध्यम्।

पुरुषधामत्वात् निर्गुणत्वं तमोयोगात् विकारवत्त्व-भणितिः इत्यत्र प्रमाणं—क्षीरं यथेति। विकारविशेषयोगात् क्षीरं यथा दधि संजायते, ततः—क्षीरात् हेतोः दधि, पृथक् भिन्नं, न अस्ति न भवति, तथा, यः—गोविन्दः, तमो-योगात्—स्वेच्छागृहीत-तमः सम्बन्धात् शम्भुवतिः न तु गोविन्दात् शम्भुरन्य इत्यर्थः। तथा च विकारस्यागन्तुकत्वात् स्वरूपे न तत्प्रसंग इति।

रुद्रस्याविर्भावस्थानान्याह—विधेरिति। विधेर्ललाटा-दिति शतपथादौ दृष्टं, कमलापतेर्ललाटादिति महोपनिषिदि (मःउः२), पुराणेषु च; तदिदं कल्पभेदात् सम्भाव्यम्। कालाग्निरुद्र इति—"पातालतलमारभ्य संकर्षणमुखा-नलः" (भाः११।३।१०) इत्येकादशोक्तेर्वोध्यम्।

यत्तु कृष्णः स्वयंप्रभुः, नारायणादयस्तद्-विलास-स्वांशाः, तथा आवेशाश्च केचित्, तत्-स्वांशात् गर्भोदशयात् ब्रह्म-विष्णु-रुद्राः, तेषामीशत्वं, कदाचित ब्रह्मरुद्रयो-जीवत्वंच, इति वचनलाभात् शास्त्रकृता निर्णीतं, न तत् चतुरस्त्रं; किन्तु सदाशिवो मूलं तत्त्वं स्वयंपदाभिमतं, तदेव

नारायणादिरूपम्, अतः ब्रह्मादयस्त्रयस्तस्यैव कार्यभूताः— "अचिन्त्यमव्यकतमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्म-योनिम्। तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दरूप-मद्भुतं॥ उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्॥ ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥ स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालाग्निः स चन्द्रमाः। स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं चराचरम्। ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये॥" (कैं॰ उ॰ ६-९) इति कैवल्योपनिषदि श्रवणात्। तस्मादयं पक्षो वरीयान्, श्रौतत्वादिति चेत? तत्राह—सदेति। सा मूर्त्तिः स्वयं-प्रभोः—कृष्णस्य अंगभूता, नारायणस्तद्-विलास इत्यर्थः। अतएव तैत्तिरीया शिवमच्युतं नारायणम् इत्येकार्थेन पठन्ति। श्रुतौ, उमा—कीर्त्तिः, तत्सहायं त्रिलोचनं—त्रिकालज्ञं, नीलकण्ठं—नीलमणि-भूषित कण्ठम्, इति व्याख्य-यं-प्रतीतार्थानां तस्मिन् शिवे अस्वीकारात्। वायव्यादिष्विति। शिवलोके—वैकुण्ठधाम्नि। "अण्डौघ-स्य समन्तात् तु," इत्यादि-भिर्वायवीयवाक्यैर्निरूपितोऽयं सदाशिवस्तल्लोकश्च सन्दर्भकृद्भिः।

स्वयंरूपस्य कृष्णस्यैव मूर्त्तिः सदाशिवः इत्यत्र निर्णाय-कं वाक्यमाह—नियतिः सेति। आदि-पदेनेदं ग्राह्यं—"कामो बीजं महद्धरेः। लिंगयोन्यात्मिका जाता इमा माहेश्वरीः प्रजाः॥ शक्तिमान् पुरुषः सोऽयं लिंगरूपी महेश्वरः। तस्मिन्नाविरभूल्लिंगे महाविष्णुर्जगत्पतिः॥" (ब्र सं ५।८-१०) इति। अस्यार्थः—पूर्वं रमया रमणमुक्तं, रमा सा कीदृशी? इत्याह—नियतिरिति—नियम्यते नियता भवति रमणे तस्मिन्निति तदनपायिनी तत्स्वरूपभूतेति यावत् अत उक्तं—"तत्प्रिया तद्वशंवदा" इति, "न विष्णुना बिना देवी, न विष्णुः पद्मजां विना" इति हयशीर्षपंचरात्रात् "नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी" (वि:पु: १।८।१५) इति वैष्णवाच्च। तस्य स्वयंरूपस्य भगवान् शम्भुः, लिंगं—चिह्नं भवति, "लिंगं चिह्नेनुमाने च" इति विश्वः। भगवान्—षडैश्वर्यविशिष्टः परव्योमाधीशः। शं भावयति स्व-द्वितीयव्यूह-संकर्षणात्मना प्रकृतिविलीनानां जीवानां तत्तदुपाधिसृष्ट्येति शम्भुः, ज्योतिरूपः—चैतन्य-विग्रहः। अनेन तदधीशत्वेन कृष्णस्य स्वयंरूपत्वं परि-चीयते, सास्नादिनेव गोर्गोत्वम्। यस्यासौ विलासः स स्वयम्। इत्यतस्तस्य स लिंगमुच्यते। या खलु योनिः—महदाद्युपादानभूता, सा त्वपरा शक्तिः—त्रिगुणेत्यर्थः। हरेः—तदंशस्य संकर्षणस्य कामः—तद्दिदृक्षालक्षणः, महदादि सृष्टि फलको भवति, ततो बीजं महदिति। महत्—अपरिमितं जीव-तत्त्वं तस्यामाहितं भवति। अत इमा माहेश्वर्य्या प्रजाः लिंगा-योन्यात्मिकाः—पुरुष-प्रकृति-कारणिका जाताः कथ्यन्ते। प्रकृतेरूपसर्ज्जनत्वेन तदाधीन्यात् माहेश्वरीरिति प्रजा नाम, इत्युपपाद यति शक्तिमानित्यर्द्धकेन। अथोक्तार्थमेव स्फुटयिति—तस्मि-न्निति। लिंगे—तदधीशे, तत्सन्निधौ। महाविष्णुः—संकर्षणः।

१३) मधुर-वात्सल्य-सख्य-दास्य—
चारों रसों में ही कृष्णदास्य अनुस्यूत—

पिता-माता-गुरु-सखा-भाव केने नय।
कृष्णप्रेमेर स्वभावे दास्य-भाव से करय॥८०॥

८०। प॰ अनु॰—पिता, माता, गुरु अथवा सख्यभाव वाले ही क्यों न हो, कृष्णप्रेम का ऐसा स्वभाव है कि वे सबको दास्यभाव में नियुक्त कर देता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

८०। कोई किसी भी भाव को स्वीकार क्यों न करें, सभी भावों के अन्तर्गत दास्यभाव को अवश्य ही स्वीकार करना होगा।

स्वयं श्रीकृष्ण ही सर्वप्रभु—

एक कृष्ण—सर्वसेव्य, जगत्-ईश्वर।
आर यत सब,—ताँर सेवकानुचर॥८१॥
सेइ कृष्ण अवतीर्ण—चैतन्य-ईश्वर।
अतएव आर सब,—ताँहार किंकर॥८२॥

८१-८२। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण ही एकमात्र सबके सेव्य एवं जगत् के ईश्वर हैं। अन्य सब उनके सेवक

अनुचर हैं। वे श्रीकृष्ण ही श्रीचैतन्य ईश्वर के रूप में अवतीर्ण हुये हैं अतएव अन्य सब उन्हीं के दास हैं।

अनुभाष्य

८१। आदि, द्वितीय पः ७०, ८३, ८८, १०२, १०६; तृतीय पः ५; चतुर्थ पः११-१२; पञ्चम पः १३१, सप्तम पः७-८; मध्य, छष्ठ पः १४७; अष्टम पः १३३-१३५; दशम पः१५; १५श पः १३९; १८श पः १९०-१९१, २०श पः १५२-१५५,२४०,४००; २१श पः३४,९२; २२श पः७; २४श पः७१ संख्या आदि द्रष्टव्य हैं।

१४) इसके अतिरिक्त समग्र चिद्वस्तु ही उनका दास—

केह माने, केह ना माने, सब तार दास।
ये ना माने, तार हय सेइ पापे नाश॥८३॥
चैतन्येर दास मुञि, चैतन्येर दास।
चैतन्येर दास मुञि, ताँर दासेर दास॥८४॥
एत बलि' नाचे, गाय, हुँकार गम्भीर।
क्षणेके बसिला आचार्य हैञा सुस्थिर॥८५॥

८३-८५। प० अनु०—कोई माने या न माने, किन्तु सभी उनके दास हैं। किन्तु जो नहीं मानता, उनका उस पाप के कारण विनाश हो जाता है। मैं श्रीचैतन्य का दास हूँ श्रीचैतन्य का ही दास। मैं श्रीचैतन्य का दास हूँ, उनके दासों का दास हूँ। इतना कहकर आचार्य गोसाईं गम्भीर हुँकार करते हुये नृत्यकीर्त्तन करने लगे और कुछ देर बाद सुस्थिर होकर बैठ गये।

अनुभाष्य

८३। स्वरूप-विस्मृत होकर जीव भोगी की सज्जा में कृष्णसेवा से विमुख हो जाते हैं। कोई-कोई अज्ञान-वशतया ऐसा सोचते हैं कि भगवत्सेवा ही उनका एकमात्र कार्य नहीं है, किन्तु वास्तव में सभी प्राणी नित्यकाल उनके दास्य में ही स्थित हैं। भगवत् सेवा न करने से जीवों के स्वभाव-विपर्यय के कारण अमङ्गल का आगमन होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु की दासता ही अणुचित्त जीवों का स्वरूप-धर्म है। स्वरूपवृत्ति को भूलकर बद्धजीव जिन अन्यान्य चेष्टाओं में रत रहते हैं, वे केवल अचिद् भोगों को ही आकर्षित करती हैं। चैतन्योदय (चेतन के उदय) होने पर उनके हृदय में चैतन्यदास स्वभावतः ही प्रकाशित होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु की सेवा से वंचित होकर बद्धजीवों के अनुष्ठानों में अन्य वस्तुओं की प्रभुता उपस्थित हो आती है, परन्तु उस समय भी वे श्रीचैतन्य महाप्रभु के अयोग्य दास मात्र हैं।

बलदेव एवं उनके समस्त अंशावतार ही कृष्णदासाभिमानी—

भक्त-अभिमान मूल श्रीबलरामे।
सेइ भावे अनुगत ताँर अंशगणे॥८६॥

८६। प० अनु०—मूल भक्त अभिमान श्रीबलराम में ही विद्यमान है। इसलिए उनके अंशों में भी भक्त भाव रहता है।

१) उनके संकर्षणावतार दासाभिमानी—

ताँर अवतार एक श्रीसंकर्षण।
भक्त बलि' अभिमान, करे सर्वक्षण॥८७॥

८७। प० अनु०—श्रीबलराम के एक अवतार श्रीसङ्कर्षण हैं। वे प्रत्येक क्षण भक्त होने का अभिमान करते हैं।

२) उनके लक्ष्मणावतार दासाभिमानी—

ताँर अवतार आन श्रीयुत लक्ष्मण।
श्रीरामेर दास्य तिंहो कैल अनुक्षण॥८८॥

८८। प० अनु०—उनके एक और अवतार श्री लक्ष्मण हैं। जो सर्वदा श्रीराम के दास्य में प्रत्येक क्षण व्यतीत करते हैं।

३) उनके आदि-पुरुषावतार भी भक्ताभिमानी—

संकर्षण-अवतार कारणाब्धिशायी।
ताँहार हृदये भक्तभाव अनुयायी॥८९॥

८९। प० अनु०—सङ्कर्षण के अवतार कारणाब्धि-शायी हैं। उनके हृदय में भी भक्तभाव नित्य विराजमान रहता है।

४) उनके अद्वैतावतार भी भक्ताभिमानी—

ताँहार प्रकाश-भेद, अद्वैत-आचार्य।
कायमनोवाक्ये ताँर भक्ति सदा कार्य॥९०॥
वाक्ये कहे, 'मुञि चैतन्येर अनुचर'।
मुञि ताँर भक्त—मने भावे निरन्तर॥९१॥
जल-तुलसी दिया करे कायाते सेवन।
भक्ति प्रचारिया सब तारिला भुवन॥९२॥

९०-९२। प० अनु०—उन कारणाब्धिशायी के प्रकाश श्रीअद्वैत आचार्य हैं। जो शरीर, मन और वचन से सदैव भक्ति का ही कार्य करते हैं। वह वचन के द्वारा कहते हैं—'मैं श्रीचैतन्य का दास हूँ' और हृदय में निरन्तर भावना करते हैं कि 'मैं उनका भक्त हूँ'। वे जल-तुलसी देकर श्रीविग्रह की सेवा करते हैं तथा भक्ति का प्रचारकर जगत् का उद्धार करते हैं।

५) उनके शेषावतार भी सेवकाभिमानी—

पृथिवी धरेन येइ शेष-संकर्षण।
कायव्यूह करि' करेन कृष्णेर सेवन॥९३॥

९३। प० अनु०—जो शेष-सङ्कर्षण पृथ्वी को धारण करते हैं, वे कायव्यूह धारणकर श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं।

अनुभाष्य

९३। कायव्यूह—दसदेह। ७६ संख्या द्रष्टव्य है।

श्रीकृष्ण के सभी अंशावतार ही उनके भक्त—

एइ सब हय श्रीकृष्णेर अवतार।
निरन्तर देखि सबार भक्तिर आचार॥९४॥

९४। प० अनु०—ये सब श्रीकृष्ण के अवतार हैं। अतः इन सबमें निरन्तर भक्ति का आचरण देखा जाता है।

भक्तावतारों की सर्वश्रेष्ठ मर्यादा—

ए सबाके शास्त्रे कहे 'भक्त-अवतार'।
'भक्त-अवतार'-पद ऊपरि सबार॥९५॥

९५। प० अनु०—शास्त्र इन सबको 'भक्त-अवतार' कहते हैं। 'भक्त-अवतार' का पद सबसे ऊपर माना गया है।

अनुभाष्य

९५। भगवान् जब अपने ऐश्वर्य का प्रकाश करने के लिये प्रपंच में अवतीर्ण होते हैं, उस समय उन सभी ईश्वर के अवतारों की लीलाओं की अपेक्षा जीवों में भजनशिक्षा के उन्मेष-हेतु आदर्श भक्तावतार ही जीवों के लिये मङ्गलमय दर्शन में सबसे श्रेष्ठ एवं प्रयोजनीय है। ऐश्वर्य-प्रधान अवतारसमूहों को अक्षजज्ञान से दर्शन करने के कारण अनेक समय जीव दुर्गति को प्राप्त होता है; किन्तु भगवद्-भक्त के रूप में अवतार-दर्शन से जीवों का अहङ्कार ऐसे आदर्श में कुफल उत्पन्न नहीं कर पाता। अनेक अर्वाचीन जीवित रहते समय अपने आपको 'वासुदेवादि' मानकर मरने के बाद स्याल-योनि को प्राप्त करते हैं। भक्तावतार समूह के स्वरूपदर्शन में विमूढ़ जनसमुदाय को ही इस प्रकार की दुर्गति की प्राप्ति होती है। अहङ्कार बद्धजीवों को भगवदैश्वर्य की कामनाओं में प्रमत्त बनाकर मायावादी बना देता है।

अंशी श्रीकृष्ण के प्रति अंशावतार
का ज्येष्ठ-कनिष्ठ व्यवहार—

एकमात्र 'अंशी'—कृष्ण, 'अंश'—अवतार।
अंशी-अंशे देखि ज्येष्ठ-कनिष्ठ-आचार॥९६॥

९६। प० अनु०—एकमात्र श्रीकृष्ण 'अंशी' हैं, और सब उनके 'अंश' अवतार हैं। अंशी और अंश में ज्येष्ठ-कनिष्ठ का आचरण दिखाई देता है।

ज्येष्ठ अंशावतार की कनिष्ठ अंशी के प्रति प्रभु-बुद्धि एवं कनिष्ठ अंशावतार का ज्येष्ठ अंशी के प्रति दासाभिमान—

ज्येष्ठ-भावे अंशीते हय प्रभु-ज्ञान।
कनिष्ठ-भावे आपनाते भक्त-अभिमान॥९७॥

९७। प० अनु०—ज्येष्ठ भाव होने से अंशी के प्रति अंश का प्रभु ज्ञान होता है और कनिष्ठ भाव होने से अंश अपने आपको अंशी का भक्त मानते हैं।

अनुभाष्य

९७। खण्डित वस्तु को 'अंश' कहते हैं। जिसका

खण्ड है, उस वस्तु को 'अंशी' कहते हैं। अंशी का अंश, अखण्ड का खण्ड—अंशी एवं अखण्ड के अन्त-र्भुक्त है। प्रभु अंशी हैं, भक्त अंश हैं। इस 'प्रभु' एवं 'भक्त' के परस्पर सम्बन्ध में ज्येष्ठ-कनिष्ठ अथवा बड़े-छोटे का विचार संश्लिष्ट है। बड़े का नाम 'प्रभु', और छोटे का नाम 'भक्त' है। अंशी—श्रीकृष्ण हैं, अंश—श्रीबलदेव एवं उनके समान-धर्म में स्थित महाविष्णु के प्रकाशसमूह हैं। श्रीकृष्ण को अपने में प्रभु-अभिमान रहता है और बलदेव आदि को अपने में भक्ताभिमान रहता है।

कृष्ण के निकट भक्त का ही सर्वश्रेष्ठ सम्मान—

कृष्णेर समता हैते बड़ भक्तपद।
आत्मा हैते कृष्णेर भक्त हय प्रेमास्पद॥९८॥

९८। प० अनु०—श्रीकृष्ण के समान होने के विचार से श्रीकृष्ण के भक्त होने का पद श्रेष्ठ है क्योंकि श्रीकृष्ण के लिए उनके भक्त उनकी आत्मा से भी अधिक प्रिय हैं।

अनुभाष्य

९८। श्रीकृष्ण के समान विचार की अपेक्षा कृष्णभक्त का पद अर्थात् भक्त की कृष्णसेवा श्रेष्ठ है, क्योंकि श्रीकृष्ण अपने स्वार्थ के प्रति जिस प्रकार प्रेमविशिष्ट हैं, उससे भी बढ़कर वे अपने सेवक के प्रति अधिकतर प्रेमवान् हैं। श्रीमद्भागवतम् के (९।४।६८)—"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।" यह श्लोक इसका प्रकृष्ट साक्षी है।

आत्मा हैते कृष्ण भक्ते बड़ करि' माने।
इहाते बहुत शास्त्र-वचन प्रमाणे॥९९॥

९९। प० अनु०—श्रीकृष्ण अपनी आत्मा से अपने भक्त को श्रेष्ठ मानते हैं। अनेक शास्त्रों के वचन इसके प्रमाण हैं।

(श्रीमद्भागवत ११.१४.१५)

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥१००॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१००। हे उद्धव! ब्रह्मा, सङ्कर्षण, लक्ष्मी और स्वयं मैं भी मुझे इतने प्रिय नहीं है, जितने कि मेरे भक्त तुम मेरे प्रिय हो।

अनुभाष्य

१००। निज भक्तश्रेष्ठ उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण का वचन—मे (मम) यथा भवान् (उद्धवः) प्रियतमः (भक्तः) आत्मयोनिः (ब्रह्मा) तथा नः, शंकर तथा न; संकर्षणः च न तथा प्रियतमः श्रीः (लक्ष्मीः) तथा न, आत्मा तथा न एव (अहं श्रीमूर्त्तिरपि नैव प्रियतमा)।

भक्तभाव में ही श्रीकृष्ण
का स्वमाधुर्यास्वादन—

कृष्णसाम्ये नहे ताँर माधुर्यास्वादन।
भक्तभावे करे ताँर माधुर्य चर्वण॥१०१॥
शास्त्रेर सिद्धान्त एइ,—विज्ञेर अनुभव।
मूढ़लोक नाहि जाने भावेर वैभव॥१०२॥

१०१-१०२। प० अनु०—श्रीकृष्ण की समान होने से उनके माधुर्य का आस्वादन नहीं किया जा सकता। भक्तभाव से ही उनके माधुर्य का आस्वादन हो सकता है। यही शास्त्रों का सिद्धान्त है, जिसका अनुभव विज्ञजन करते हैं, परन्तु मूर्ख लोग इस भाव की महिमा को नहीं जानते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०१। श्रीकृष्ण के प्रति समताबुद्धि करने से उनका माधुर्यास्वादन नहीं हो सकता है।

षष्ठ परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

१०१-१०२। सारूप्य आदि मुक्ति में अथवा विष्णु-तत्त्व में कृष्णसाम्यभाव होने के कारण कृष्णदास्य के माधुर्य का उस प्रकार से आस्वादन करना सम्भव नहीं है। भक्तभाव में श्रीकृष्ण के साथ समानता (भोक्तृत्व) न रहने के कारण चर्व्यवस्तु के रसास्वादन की भाँति

कृष्ण-मधुरिमा सम्पूर्णरूप से उपलब्ध की जा सकती है। साधारण लोग मूढ़वशतः प्रभुता के लोभ में दास्यभाव की पराकाष्ठा (सर्वश्रेष्ठ अवस्था) को अनुभव करने में स्वभावतः ही अक्षम हैं। विशेष अभिज्ञ व्यक्ति एवं शास्त्रों में प्रगाढ़रूप से प्रविष्ट व्यक्ति ही इस सूक्ष्म विषय को समझने में समर्थ हैं।

भक्तभाव को लेकर ही नित्यानन्द-रामादि विष्णुवर्ग का कृष्णमाधुर्यास्वादन—

भक्तभाव अंगीकरि' बलराम, लक्ष्मण।
अद्वैत, नित्यानन्द, शेष, संकर्षण॥१०३॥
कृष्णेर माधुर्यरसामृत करे पान।
सेइ सुखे म त्त किछु नाहि जाने आन॥१०४॥

१०३-१०४। प० अनु०—भक्तभाव को अङ्गीकार कर श्रीबलराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीअद्वैतप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीशेष (श्रीअनन्तदेव) और श्रीसङ्कर्षण कृष्ण-माधुर्यरस के अमृत का पान करते हैं तथा उस सुख में मत्त रहने के कारण वे और कुछ नहीं जानते हैं।

स्वयं श्रीकृष्ण भी अपने माधुर्य के आस्वादन के लिए भक्तभाव को अङ्गीकार करके श्रीगौररूप में अवतरित—

अन्येर आछुक कार्य, आपने श्रीकृष्ण।
आपन-माधुर्य-पाने हइला सतृष्ण॥१०५॥
स्वमाधुर्य आस्वादिते करेन यतन।
भक्तभाव बिनु नहे ताहा आस्वादन॥१०६॥

१०५-१०६। प० अनु०—अन्य का क्या कहना, स्वयं श्रीकृष्ण भी अपने माधुर्य-आस्वादन के लिए तृष्णार्त्त हो उठे और अपने माधुर्य को आस्वादन करने के लिए यत्न करने लगे परन्तु भक्तभाव ग्रहण किये बिना उसका आस्वादन नहीं हो सकता।

अनुभाष्य

१०५-१०६। आदि, ४र्थ प: १३७-१५८ संख्या द्रष्टव्य हैं।

१०६। भक्त के भजनीय-वस्तु श्रीकृष्ण—मेरे माधुर्य को भक्तवृन्द किस प्रकार से आस्वादन करते हैं, इसे जानने के लिये भक्तभाव-स्वीकार करने के अतिरिक्त इसका आस्वादन सम्भव नहीं है, यह जानकर वे स्वयं भक्त हुए।

भक्तभाव में स्वमाधुर्यास्वादन—

भक्तभाव अंगीकरि' हैला अवतीर्ण।
श्रीकृष्णचैतन्यरूपे सर्वभावे पूर्ण॥१०७॥
नाना-भक्तभावे करेन स्वमा धुर्य पान।
पूर्वे करियाछि एइ सिद्धान्त व्याख्यान॥१०८॥

१०७-१०८। प० अनु०—भक्तभाव को अङ्गीकार कर श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्णचैतन्य के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। जो सर्वभाव से परिपूर्ण हैं। इस सिद्धान्त की व्याख्या पहले की गई है कि स्वयं अवतार लेकर प्रभु विभिन्न भक्तों के भावों को ग्रहण कर अपने माधुर्य का आस्वादन करते हैं।

अनुभाष्य

१०७-१०८। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—इन पाँच विभिन्न रसों के आस्वादन के उद्देश्य से उस-उस भाव को अङ्गीकार कर श्रीगौरहरि सर्वतोभावेन पूर्णस्वरूप हैं। भिन्न-भावाश्रित भक्तभावों को ग्रहण करके श्रीगौरचन्द्र अपने मा धुर्य का आस्वादन करते हैं।

विष्णु के सभी अवतारों में ही भक्तभाव—

अवतारगणेर भक्तभावे अधिकार।
भक्तभाव हैते अधिक सुख नाहि आर॥१०९॥

१०९। प० अनु०—अवतारों का भक्तभाव में ही अधिकार है। भक्तभाव के सुख से अधिक सुख और कहीं नहीं है।

अनुभाष्य

१०९। विष्णु के सभी अवतारों का कृष्णसेवा के उद्देश्य से ही भक्तभाव में अवतीर्ण होने का अधिकार है। ईश्वरभाव की अपेक्षा भक्तभाव में ही आस्वादनकारी सेव्य की सेवा में अधिक सुख अनुभव करते हैं।

श्रीसङ्कर्षण ही आदि भक्तावतार—

मूल-भक्त-अवतार श्रीसंकर्षण।
भक्त-अवतार तँहि अद्वैते गणन॥११०॥

११०। प० अनु०—श्रीसङ्कर्षण मूल भक्तावतार हैं। इसलिए श्रीअद्वैत भी भक्तावतारों में गिने गये हैं।

अनुभाष्य

११०। विष्णुतत्त्व होने पर भी श्रीअद्वैत प्रभु ने श्रीचैतन्य महाप्रभु की पार्षदोचित सेवकलीला का प्रदर्शन किया है। स्वयं को सेवकाभिमान करना ही विष्णुतत्त्व की भक्तावतारता है। महावैकुण्ठ में श्रीसङ्कर्षण चतुर्व्यूह-ईश्वररूप में विराजित होकर भी मूल भक्तावतार हैं। उनसे कारण-वारि में जिन महाविष्णु का अधिष्ठान है, उनके प्रकाशभेद के कारण ही हम सब निमित्त एवं उपादान में ईक्षण के सम्बन्ध में जान सकते हैं, इसलिये श्रीअद्वैताचार्य महाविष्णु के अवतार श्रीविष्णुतत्त्व हैं। सङ्कर्षण के सभी प्रकाश-भेद ही स्वयंरूप-कृष्ण के द्वारा नियुक्त होने के कारण श्रीअद्वैतप्रभु भी श्रीगौरकृष्ण के सेवक अथवा भक्तावतार हैं।

षष्ठ परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

श्रीअद्वैतप्रभु की महिमा—

अद्वैत-आचार्य गोसाञिर महिमा अपार।
याँहार हुँकारे कैल चैतन्यावतार॥१११॥
संकीर्तन प्रचारिया सब जगत् तारिल।
अद्वैत-प्रसादे लोक प्रेमधन पाइल॥११२॥
अद्वैत-महिमा अनन्त के पारे कहिते।
सेइ लिखि, येइ शुनि महाजन हैते॥११३॥

१११-११३। प० अनु०—श्रीअद्वैत-आचार्य गोसाईं की महिमा अपार है। जिनके हुँकार से श्रीचैतन्य महाप्रभु का अवतार हुआ है। सङ्कीर्तन का प्रचार करके उन्होंने सम्पूर्ण जगत् का उद्धार किया एवं उन्हीं की कृपा से लोगों को प्रेमधन की प्राप्ति हुई। श्रीअद्वैतप्रभु की महिमा अनन्त है कौन इसका वर्णन कर सकता है? महापुरुषों से मैंने जो सुना है, उसी का ही यहाँ वर्णन किया है।

आचार्यप्रभु की वन्दना—

आचार्य-चरणे मोर कोटि नमस्कार।
इथे किछु अपराध ना लबे आमार॥११४॥
तोमार महिमा—कोटिसमुद्र-अगाध।
ताहार इयत्ता कहि,—ए बड़ अपराध॥११५॥
जय जय जय श्रीअद्वैत-आचार्य।
जय जय श्रीचैतन्य, नित्यानन्द आर्य॥११६॥
दुइ श्लोके कहिल अद्वैत-तत्त्वनिरूपण।
पंचतत्त्वेर विचार किछु, शुन भक्तगण॥११७॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥११८॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में श्रीअद्वैत-तत्त्वनिरुपण नामक षष्ठपरिच्छेद समाप्त।

११४-११८। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य के चरणों में मेरा कोटि नमस्कार है। यदि मुझसे कोई अपराध हुआ हो, तो उसे ग्रहण न करें। आपकी महिमा कोटिसमुद्र के समान अगाध (अथाह) है। जिसका मैंने कुछ वर्णन मात्र किया है। यह बड़ा अपराध है। श्रीअद्वैत-आचार्य की जय हो, जय हो, जय हो। श्रीचैतन्य, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो। दो श्लोकों के द्वारा श्रीअद्वैततत्त्व का निरूपण हुआ है। हे भक्तवृन्द! अब पञ्चतत्त्व का कुछ विचार श्रवण कीजिए। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋ ❋ ❋

सप्तम परिच्छेद

कथासार—इस सप्तम परिच्छेद में पंचतत्त्व की महिमा का वर्णन हुआ है। पंचतत्त्वात्मक कृष्णचैतन्य अवतीर्ण होकर जगत् में नाम-प्रेम-दान करने के कारण प्रेम की महावन्या (महान् बाढ़) उदित हुई। मायावादी, निन्दक आदि कुछ कुतार्किक उस बाढ़ से भाग गये थे। उनका उद्धार करने की इच्छा से महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया और शुद्धभक्ति-प्रचारपूर्वक उन सभी लोगों को श्रीचरणों की ओर आकर्षित किया। काशीवासी माया-वादी संन्यासियों का उद्धार करने की इच्छा से वाराणसी-धाम में भक्तों के द्वारा विनीत अनुरोध किये जाने पर किसी ब्राह्मण के घर उन सब संन्यासियों को एकसाथ पाकर पहले निज स्वरूप के ऐश्वर्य का प्रदर्शन करके उन सबकी श्रद्धा को आकर्षित किया। पश्चात् उनकी जिज्ञासानुसार मायावादी के सिद्धान्तों का अमूलक अर्थ प्रदर्शित करते हुए श्रीशंकराचार्य के मतों के सर्वविध दोष दिखा दिये। भगवद् दर्शनरूप सुकृति के बलपर उन सबको भक्तिपथ में लाकर कृपा दान की।

(अ:प्र:भा:)

श्रीकृष्णचैतन्य की महावदान्यता का वर्णन—

अगत्येकगतिं नत्वा हीनार्थाधिकसाधकम्।
श्रीचैतन्यं लिख्यतेऽस्य प्रेमभक्तिवदान्यता॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। अगति अथवा अकिंचनों की गति (लक्ष्य), परमार्थहीन व्यक्ति के महदर्थसाधक श्रीचैतन्य को नमस्कार निवेदनपूर्वक, उनकी प्रेमभक्ति की वदान्यता का वर्णन कर रहा हूँ।

अनुभाष्य

१। अगत्येकगतिम् (अगतीनाम् आश्रयान्तररहितानाम् एका अनन्या गतिः शरणं तथाभूत) हीनार्थाधिकसाधकं (अर्थेन परमार्थेन हीनाः वंचिताः हीनार्थाः तेषां तेभ्यः अधिकं महत्तमम् पंचमपुरुषार्थरूपं कृष्णप्रेम) साधकम् (प्रदातार)। श्रीचैतन्यं नत्वा (प्रणम्य) अस्य (भगवतः श्रीकृष्ण-चैतन्यस्य) प्रेमभक्तिवदान्यता (कृष्ण प्रेम-भक्तिप्रदानरूप-महाकारुण्य) लिखते (वर्ण्यते)।

जय जय महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य।
ताँहार चरणाश्रित, सेइ बड़ धन्य॥२॥

२। प॰ अनु॰—महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य की जय हो, जय हो। जो उनके चरणाश्रित हैं, वे बड़े धन्य हैं।

'वन्दे गुरून्' श्लोक के छः तत्त्वों में से 'गुरु'-तत्त्व को छोड़कर पंचतत्त्व का विचारारम्भ; अभेद होने पर भी रसास्वादन-हेतु पंचभेद—

पूर्वे गुर्वादि छय तत्त्वे कैल नमस्कार।
गुरुतत्त्व कहियाछि, एवे पाँचेर विचार॥३॥
पंचतत्त्व अवतीर्ण चैतन्येर संगे।
पंचतत्त्व लञा करेन संकीर्तन-रंगे॥४॥
पंचतत्त्व—एकवस्तु, नाहि किछु भेद।
रस आस्वादिते तत्त्व विविध विभेद॥५॥

३-५। प॰ अनु॰—पहले गुरुवर्ग आदि छः तत्त्वों के प्रति नमस्कार निवेदन किया है। गुरुतत्त्व का वर्णन किया है, अब पाँचों का विचार होगा। चैतन्य के साथ पंचतत्त्व अवतीर्ण हुये हैं। पंचतत्त्वों को साथ लेकर प्रभु ने महान् आनन्द के साथ संकीर्त्तन किया है। पंचतत्त्व—एकवस्तु हैं, परस्पर कुछ भेद नहीं है; केवल रस आस्वा-दन हेतु एकही तत्त्व विभिन्न स्वरूपों में प्रतीयमान हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

३। प्रथम परिच्छेद में दीक्षागुरु-शिक्षागुरु के भेदानुसार गुरुतत्त्व का वर्णन किया है। "वन्दे गुरुनीशभक्तान्"—

श्लोकोक्त छः तत्त्व हैं। अब इस श्लोक में गुरुतत्त्व को छोड़कर और पाँच तत्त्वों का विचार कर रहा हूँ।

अनुभाष्य

५। शक्तिमान् वस्तु पाँच विभिन्न प्रकार के लीला-परिचय में पंचतत्त्व में प्रकाशित है,—वस्तुतः तत्त्वों में द्वैत के अभाव के कारण तत्त्व के एक होने पर भी पाँच प्रकार की विचित्रताएँ इसमें समाई हुई हैं। ये विचित्र-ताएँ,—नीरस भाव के विपरीत सारस्य के उद्देश्य से लीलावैशिष्ट-सम्पन्न हैं। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'—इस श्रुतिवचन से अद्वयज्ञान-वस्तु के विविध-शक्तिभेद नित्यकाल अवस्थित है।

श्रीगौरांग, नित्यानन्द, अद्वैत, गदाधर एवं श्रीवास आदि पंचतत्त्वों में, वास्तव में कोई भेद नहीं है, परन्तु रसास्वादन के उद्देश्य से विचित्रलीलामय तत्त्व ही 'भक्त-रूप', 'भक्तस्वरूप', 'भक्तावतार', 'भक्तशक्ति' एवं 'शुद्ध भक्त'—इन पंचप्रकारों से विविध-भेद-विशिष्ट है। इन पंचतत्त्वों में 'भक्तरूप', 'भक्तस्वरूप', 'भक्तावतार' ही 'स्वयं', 'प्रकाश' और 'अंश' के रूप में प्रभु-विष्णुतत्त्व हैं। 'भक्तिशक्ति' एवं 'शुद्धभक्त'—विष्णुतत्त्व के अन्तर्गत उनके आश्रित अभिन्न-शक्तितत्त्व हैं, अतः वस्तु से अभिन्न रस के उपकरणसमूह रसमयविग्रह में समाविष्ट हैं, इसलिये वास्तव में परस्पर भेदयोग्यता नहीं है। 'आराधक' एवं 'आराध्य'—दोनों में से एक के विश्लेषण में अथवा अभाव में, रसास्वादनलीला का अभाव होता है।

आदि १४ श्लोकों में से शेष श्लोक की व्याख्या—
(श्रीरूपगोस्वामी के कड़चा में श्लोक)

पंचतत्त्वात्मकं कृष्णं भक्तरूपस्वरूपकम्
भक्तावतारं भक्ताख्यं नमामि भक्तशक्तिकम्॥६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६। कृष्ण के भक्तरूप, भक्तस्वरूप, भक्तावतार, भक्त एवं भक्तशक्ति—इन पंचतत्त्वात्मक श्रीकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

६। भक्त-रूप-स्वरूपकं (भक्तभावमयः शुद्ध-कलेवरः निजास्वादकपरः श्रीगौरः भ्रातृस्वरूपधृक् नित्यानन्दश्च क्रमेण रूपं स्वरूपंच यस्य सः तं), भक्ता-वतारम (अद्वैतं), भक्ताख्यं (शान्त-दास्यादिरसाश्रितं श्रीवासादिं), भक्तशक्तिकं (श्रीगदाधर-दामोदर-रामा-नन्दादिं) पंचतत्त्वात्मकं (पंचानां तत्त्वानां आत्मा स्वरूपं यस्य तं) कृष्णं (कृष्णचैतन्यदेवं) नमामि।

स्वयंरूप श्रीनन्द-नन्दन ही सर्वेश्वर—

स्वयं भगवान् कृष्ण एकले ईश्वर।
अद्वितीय, नन्दात्मज, रसिक-शेखर॥७॥

७। प॰ अनु॰—अद्वितीय, नन्दात्मज, रसिकशेखर स्वयं भगवान् कृष्ण ही एकमात्र ईश्वर हैं।

जितने भी विष्णु हैं, वैष्णव एवं धाम-
सेवोपकरण हैं, जीव एवं प्रधान हैं,
सभी कृष्ण-सेवक हैं—

रासादि-विलासी, व्रजललना-नागर।
आर यत सब देख,—ताँर परिकर॥८॥

८। प॰ अनु॰—रासादि-विलासी, व्रजललना-नागर और जितने सब उनके परिकर समूह हैं।

वही कृष्ण ही गौर—

सेइ कृष्ण अवतीर्ण श्रीकृष्णचैतन्य।
सेइ परिकरगण संगे सब धन्य॥९॥

९। प॰ अनु॰—उनमें से श्रीकृष्ण श्रीकृष्णचैतन्य के रूप में अवतीर्ण हुये हैं तथा वही सब धन्य परिकरसमूह भी उनके साथ हैं।

श्रीकृष्णचैतन्य ही सर्वेश्वर होकर भी वश्यभावमय—

एकला ईश्वर-तत्त्व चैतन्य-ईश्वर।
भक्तभावमय ताँर शुद्ध कलेवर॥१०॥

१०। प॰ अनु॰—ईश्वर श्रीचैतन्य ही एकमात्र ईश्वर-तत्त्व हैं। उनका शुद्ध श्रीअंग भक्तभावमय है।

अनुभाष्य

१०। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां" इस श्रुतिमन्त्र के द्वारा उद्दिष्ट असंख्य चिद्वस्तुओं के एकमात्र परमेश्वर,—श्रीचैतन्यदेव हैं। माया- वादिगण अनुचित् शक्तिसमूह का विभूचित् के साथ समन्वय करने की चेष्टा में जिस प्रकार से भ्रान्त होते हैं, उसे दूर करने के लिये इस पद्य (पयार) की अवतारणा हुई है। श्रीचैतन्य-देव अभिन्न-व्रजेन्द्रनन्दन होकर भी उनको (कृष्ण को) भजनीय-वस्तु-विचार से उनका ही सेवाभावमय विग्रह धारण करते हैं। उस भगवद्विग्रह को कोई जड़भोग का विषय-विग्रह समझकर उसे प्रपंच के अन्तर्गत जीवकोटि के अन्तर्भुक्त न सोचे। (यह सावधान-वाणी है।) इसलिये, श्रीचैतन्यविग्रह को केवल प्रपंच के अन्तर्गत साधक-विग्रह नहीं कहा गया है। विशुद्ध सत्त्व में प्रकटित होने के कारण सत्त्वोज्ज्वल-हृदय में ही उस रस-विग्रह का परिचय मिलता है। श्रीचैतन्यदेव स्वयं परमेश्वर होने पर भी सेवकोचित-लीला-प्रदर्शनकारी हैं, भोक्ता के लीला-प्रदर्शनकारी नहीं। तमोमय-दर्शन में उनकी श्री-मूर्त्ति को इन्द्रियतर्पण-रत यन्त्रविशेष समझने हेतु निषेध किया गया है।

स्वमाधुर्यास्वादन निमित्त ही कृष्ण
का 'भक्त के रूप में' गौरावतार—

कृष्णमाधुर्येर एक अद्‌भुत स्वभाव।
आपना आस्वादिते कृष्ण करे भक्तभाव॥११॥

११। प० अनु०—कृष्णमाधुर्य का एक अद्‌भुत स्वभाव है। स्वयं के आस्वादन-हेतु कृष्ण भक्तभाव स्वीकार करते हैं।

अनुभाष्य

११। निखिल माधुर्य के आश्रय कृष्ण की एक अपूर्व चित्तवृत्ति यही है कि, वे स्वयं विषयविग्रह होकर भी आश्रय अथवा पूजक का भाव स्वीकारपूर्वक विषय के सेवास्वादन में रत हैं। परन्तु श्रीचैतन्यदेव आश्रय-भावमय विग्रहमात्र नहीं हैं—वे स्वयंरूप वस्तु हैं।

निताइ—'भक्तस्वरूप', अद्वैत—'भक्तावतार'—

इथे भक्तभाव धरे चैतन्य गोसाञि।
'भक्तस्वरूप' ताँर नित्यानन्द-भाइ॥१२॥
'भक्त-अवतार' ताँर आचार्य-गोसाञि।
एइ तिन तत्त्व सबे प्रभु करि' गाइ॥१३॥

१२-१३। प० अनु०—इस कारण चैतन्य गोसाईं भक्तभाव अंगीकार करते हैं। उनके भाई नित्यानन्द 'भक्त-स्वरूप' हैं। आचार्य-गोसाईं उनके 'भक्त-अवतार' हैं। ये तीनों तत्त्व प्रभु के रूप में कीर्त्तित होते हैं।

निताइ एवं अद्वैत,—
दोनों ईश्वरों के भी ईश्वर गौर—

एक महाप्रभु, आर प्रभु दुइजन।
दुइ प्रभु सेवे महाप्रभुर चरण॥१४॥

१४। प० अनु—एक महाप्रभु हैं, बाकी दो प्रभु हैं। दोनों प्रभु महाप्रभु के चरणों की सेवा करते हैं।

तीन तत्त्व—आराध्य एवं चतुर्थ
और पंचम तत्त्व—आराधक—

एइ तिन तत्त्व,—'सर्वाराध्य' करि', मानि।
चतुर्थ ये भक्ततत्त्व—'आराधक' करि' जानि॥१५॥

१५। प० अनु—इन तीनों तत्त्वों को मैं 'सर्वाराध्य' मानता हूँ। चतुर्थ भक्ततत्त्व को 'आराधक' के रूप में जानता हूँ।

अनुभाष्य

१४-१५। पंचतत्त्व के स्वरूप-वर्णन से हम श्रीमन् महाप्रभु को ही सर्वश्रेष्ठ परतत्त्व एवं श्रीनित्यानन्द और श्रीअद्वैत नामक दोनों प्रभु को इनके अधीन 'ईश्वर-तत्त्व' के रूप में जान सकते हैं। परमेश्वर एवं ईश्वर प्रकाश-द्वय,—सभी परतत्त्व होने पर भी ये सब अन्य सभी तत्त्वों के आराध्य हैं। चतुर्थ शुद्धभक्त-तत्त्व और पंचम अन्तरंग-भक्ततत्त्व,—ये दोनों ही 'आराधक'—तत्त्व हैं। 'आराध्य' सेवक-रूपी दोनों तत्त्व 'आराधक' तत्त्वद्वय के लिये पूजनीय होने पर भी, सेव्य श्रीगौरांग की सेवन-वृत्ति में स्थित हैं।

श्रीवासादि-भक्ततत्त्व—

श्रीवासादि यत कोटि कोटि भक्तगण।
'शुद्धभक्त'-तत्त्वमध्ये ताँ-सबार गणन॥१६॥

१६। प० अनु०—श्रीवासादि जितने सब करोड़ों-करोड़ों भक्तवृन्द हैं, वे सब 'शुद्धभक्त'—तत्त्व में गिने जाते हैं।

गदाधरादि-शक्तितत्त्व—

गदाधर-पण्डितादि प्रभुर 'शक्ति'-अवतार।
'अन्तरंग-भक्त' करि' गणन याँहार॥१७॥

१७। प० अनु०—पण्डित गदाधर आदि प्रभु के 'शक्ति'-अवतार हैं। वे सब 'अन्तरंग'-भक्तों में गिने जाते हैं।

अनुभाष्य

१६-१७। अन्तरङ्गभक्त एवं शुद्धभक्त के तत्त्वों में विशेषता यही है कि, शक्तितत्त्व मधुर-रस में, वात्सल्य में, सख्य में एवं दास्यरस में स्थित हैं। तटस्थ होकर तारतम्य के विचार से भक्तसमूह की अपेक्षा शक्तिसमूह की श्रेष्ठता है, इसलिये मधुर-रस में नित्य आश्रित भक्तवृन्द ही श्रीगौरसुन्दर के अन्तरंग सेवक हैं। श्रीनित्यानन्द एवं श्रीअद्वैत के सेवकवृन्द साधारणतया वात्सल्य, सख्य, दास्य और शान्त-रस में स्थित हैं। वे सब शुद्ध भक्तवृन्द जब श्रीगौरसुन्दर के प्रति अत्यन्त प्रीतिविशिष्ट होते हैं, तब वे अन्तरंग-भक्तों के आश्रय में मधुररस के आश्रित होते हैं। श्रीठाकुर महाशय की प्रार्थना के आरम्भ में यह बात स्पष्ट रूप में सामने आई है—"गौरांग बलिते हबे पुलक शरीर। हरि हरि बलिते नयने ब'वे नीर॥ आर कबे निताइचाँद करुणा करिबे। संसार-वासना मोर कबे तुच्छ हबे॥ विषय छाड़िया कबे शुद्ध हबे मन। कबे हाम हेरब श्रीवृन्दावन॥ रूप-रघुनाथ पदे हइबे आकुति। कबे हाम बुझब से श्रीयुगल-प्रीति॥"

'शुद्धभक्त' एवं 'अन्तरङ्ग-भक्त' के वैशिष्ट्य-वर्णन में श्रीरूप गोस्वामीपाद ने अपने द्वारा लिखित 'उपदेशामृत'—ग्रन्थ में साधक-जीवों की क्रमोन्नति के बारे में ऐसा लिखा है—"कर्म्मिभ्योः परितो हरेः प्रियतया व्यक्तिं ययुर्ज्ञानिनस्तेभ्यो ज्ञान-विमुक्त-भक्तिपरमाः प्रेमैकनिष्ठास्ततः। तेभ्यस्ताः पशुपालपंकजदृशस्ताभ्योऽपि सा राधिका प्रेष्ठा तद्वदियं तदीयसरसी तां नाश्रयेत कः कृती॥"

पंचतत्त्व के दो तत्त्व—शक्ति हैं, तीन—शक्तिमान् शुद्धभक्त एवं अन्तरङ्ग-भक्त—यही द्विविध शक्तियाँ हैं। जो सब अन्याभिलाष-रहित होकर शुद्ध कृष्णानुशीलन-वृत्ति को कर्म अथवा ज्ञान के आवरण में आवृत नहीं करते, वे सब शुद्धभक्त हैं; केवल-मधुर-रसाश्रित ऐकान्तिक भक्तवृन्द ही अन्तरंग भक्त हैं। मधुर-रस में वात्सल्य, सख्य एवं दास्य अन्तर्भुक्त हैं। शुद्धभक्त विशेष ही अन्तरङ्ग भक्त हैं।

चारों तत्त्वों को लेकर प्रभु का विहार, प्रचार, आस्वादन एवं दान—

याँ-सबा लञा प्रभुर नित्य विहार।
याँ-सबा लञा प्रभुर कीर्त्तन-प्रचार॥१८॥
याँ-सबा लञा करेन प्रेम आस्वादन।
याँ-सबा लञा दान करे प्रेमधन॥१९॥

१८-१९। प० अनु०—जिन सब (चार तत्त्वों) को लेकर प्रभु का नित्य विहार है, जिन सबको लेकर प्रभु का कीर्त्तन-प्रचार है, जिन सबको लेकर प्रभु प्रेम का आस्वादन किया करते हैं एवं जिन सबको लेकर प्रेमधन दान करते हैं।

अनुभाष्य

१८-१९। श्रीमहाप्रभु,—उनके प्रकाश, उनके पुरुषावतारों के अवतार एवं अन्तरंग-भक्त और शुद्धभक्त,—इन सबको लेकर ही स्वयं प्रेम-आस्वादनरूप नित्य विहार एवं जगत् में कीर्तन-प्रचाररूप प्रेम का दान करते हैं।

पंचतत्त्व एकसाथ मिलकर कृष्णप्रेम-रस का नित्य आस्वादन एवं वितरण—

सेइ पंचतत्त्व मिलि' पृथिवी आसिया।
पूर्व प्रेमभांडारेर मुद्रा उघाड़िया॥२०॥

पाँचे मिलि' लुटे प्रेम, करे आस्वादन।
यत यत पिये, तृष्णा बाड़े अनुक्षण॥२१॥
पुनः पुनः पियाइया हय महामत्त।
नाचे, कान्दे, हासे, गाय, यैछे मदमत्त॥२२॥

२०-२२। प० अनु०—पृथ्वी पर आकर उन पंच-तत्त्वों ने मिलकर, पूर्व के प्रेमभण्डार का द्वार खोल दिया। फिर पाँचों ने मिलकर प्रेम को लूटकर आस्वादन किया। जितना पीते गये, तृष्णा उसी क्रम से अनुक्षण बढ़ती गई। बारम्बार पीकर महामत्त होते रहे और मदमत्त-जैसे नाचते रहे, रोते रहे, हँसते रहे एवं गाते रहे।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०-२१। श्रीकृष्णचरित्र ही प्रेमभांडार है, वह जगत् में आया तो था, परन्तु वह भांडार द्वारबद्ध हेकर मुद्रांकित (मंसमक) था। श्रीचैतन्यावतार में पंचतत्त्व ने मिलकर उसी मुद्रा (मंस) को तोड़ा और द्वार उद्घाटन-पूर्वक लूटपाट के साथ प्रेम का आस्वादन किया।

कृष्णप्रेम-वितरण में
पात्रापात्र-विचाराभाव—

पात्रापात्र-विचार नाहि, नाहि स्थानास्थान।
येइ याँहा पाय, ताँहा करे प्रेमदान॥२३॥

२३। प० अनु०—उस वितरण में पात्र और अपात्र (योग्य और अयोग्य) का विचार नहीं, स्थान और अस्थान का विचार नहीं, जिसे जो जहाँ भी मिलता है, उसे ही वह प्रेम दान करता हैं।

प्रेम-वितरण के फल
से ह्रास के बदले वृद्धि—

लुटिया, खाइया, दिया, भांडार उजाड़े।
आश्चर्य भांडार, प्रेम शतगुण बाड़े॥२४॥

२४। प० अनु—लूटकर, खाकर, देकर भंडार खाली करते हैं। किन्तु आश्चर्यमय भंडार है, प्रेम सौ गुना बढ़ता रहता है।

प्रेम की वन्या (बाढ़) में जगत् मग्न—

उछलिल प्रेमवन्या चौदिके वेड़ाय।
स्त्री, वृद्ध, बालक, युवा, सबारे डुवाय॥२५॥
सज्जन, दुर्ज्जन, पंगु, जड़ अन्धगण।
प्रेमवन्याय डुबाइल जगतेर जन॥२६॥

२५-२६। प० अनु०—प्रेम की बाढ़ प्रबल-वेग से चारों ओर धावित होती है और स्त्री, वृद्ध, बालक, युवा—सबको डुबोने लगती है। सज्जन, दुर्जन, पंगु (लंड़ा), जड़ अन्धगण—जगत् के सभी जन प्रेम की बाढ़ ने डूब गये।

कृष्णप्रीतिरस में अवगाहन (डूबने) के
कारण जीवों के कर्मबीजों का विनाशन—

जगत् डुबिल, जीवेर हइल बीज नाश।
ताहा देखि' पाँच जनेर परम उल्लास॥२७॥

२७। प० अनु०—जगत् डूब गया, जीवों के कर्म बीजों का विनाशन हो गया। यह देखकर पाँचों जन परम उल्लसित हो उठे।

अमृतप्रवाह भाष्य

२५-२७। प्रेमभंडार के द्वार खुल जाने पर, प्रेमरस की बाढ़ ने प्रबलवेग से धावित होकर समस्त जगत् को डुबो दिया। इससे बद्ध जीवों के कृष्णदास्य-विस्मृतिरूप अविद्या- बन्धन-बीज नष्ट हो गये।

अनुभाष्य

२७। भगवान् की तटस्थाख्य-जीवशक्ति में कृष्णोन्मु-खी चेष्टा के साथ-साथ कृष्ण-वैमुख्यरूप भोग-वासना का बीज भी अव्यक्त-भाव में स्थित है। संसार-वृक्ष से उद्भूत वासना-बीज काल-प्रवाह से सिंचित होकर अनेक प्रकार के भोग बन्धनों के द्वारा बद्धजीवों को दिनरात त्रिताप के द्वारा कलेश प्रदान कर रहा है। जिस प्रकार से मिट्टी पर प्रोथित बीज के जलमग्न हो जाने पर उससे अंकुर आदि के उद्गम होने की सम्भावनाएँ नहीं रह जाती, उसी प्रकार से भगवत्सेवा-समुद्र के अतलवारि की प्रेमवन्या में कृष्णसेवा से अलग भोगवासनारूप बीज डूबकर नष्ट हो गया एवं इस कारण उससे वासना रूपी

अंकुर के उद्गम की सम्भावना नहीं रह गई। श्रीचैतन्यचन्द्र के पंचतत्त्व के रूप में अवतीर्ण होने के कारण उद्देश्य सफल होते देखकर सभी उल्लसित हो उठे। श्रीमत् प्रबोधानन्द सरस्वती त्रिदण्डिपाद ने 'श्रीचैतन्यचन्द्रामृत'-ग्रन्थ में इसका इस प्रकार से वर्णन किया है—"स्त्री-पुत्रादि-कथां जहुर्विषयिण: शास्त्रप्रवादं बुधा, योगीन्द्रा विजहुर्मरुन्नियमज-क्लेशं तपस्तापसा:। ज्ञानाभ्यासविधिं जहुश्च यतयश्चैतन्यचन्द्रे परमाविष्कुर्वति भक्तियोग-पदवीं नैवान्य आसीद्रस:॥"

प्रेमवर्षण के कारण प्रेमरस की वृद्धि—

यत यत प्रेमवृष्टि करे पंचजन।
तत तत बाड़े जल, व्यापे त्रिभुवन॥२८॥

२८। प० अनु०—पाँचों जन जितनी प्रेमवृष्टि कर रहे थे, जल उतना ही बड़ता चला गया और इससे त्रिभुवन व्याप्त हो गया।

कृष्णप्रेमरस से वंचित—

मायावादी, कर्मनिष्ठ, कुतार्किकगण।
निन्दक, पाषण्डी, यत पडुया अधम॥२९॥
सेइ सब महादक्ष धाञा पलाइल।
सेइ वन्या ता-सबारे छुँइते नारिल॥३०॥

२९-३०। प० अनु०—मायावादी, कर्मनिष्ठ, कुतार्किक, निन्दक, पाषण्डी और जितने अधम विद्यार्थी थे, वे सब महानिपुण (व्यंग्य) भाग गये। प्रेम की बाढ़ उन सबको छूने में असमर्थ रह गई।

अमृतप्रवाह भाष्य

२९। मायावादी,—प्रकाशानन्द आदि संन्यासिगण। समस्त सद्विषयों के बारे में जो लोग 'माया' का नाम लेकर वाद उठाते रहते है। 'ब्रह्म' को 'माया के अतीत' कहकर 'ईश्वर' को 'मायासंगी' बताते हैं, एवं ईश्वर के अवतारसमूहों की देह को 'मायिक' कहते हैं। जीवों के गठन (बनावट) में माया का कार्य है, अर्थात् जीवों में सर्वप्रकार की अहंबुद्धि—माया के द्वारा निर्मित है, ऐसा कहते हैं। अत: जीव के मुक्त होने पर 'शुद्धजीव' नामक और कोई अवस्था नहीं है—इस प्रकार का सिद्धान्त करते हैं; अर्थात् मुक्त हो जाने पर जीव का ब्रह्म के साथ अभेद हो जाता है—इस प्रकार की शिक्षा देते हैं।

कर्मनिष्ठ,—देवानन्द आदि भक्तिहीन कर्मि-समूह। कर्मजड़ स्मार्त्तसमूह, अर्थात् जो लोग कर्मों एवं कर्मफलों को जीवों के लिये प्रधान उद्देश्य मानते हैं।

कुतार्किकगण,—सार्वभौम आदि निरीश्वर तार्किक-गण।

निन्दक,—प्रभु ने जिन्हें दण्ड लेकर ताड़ित किया था एवं गोपाल चापाल आदि प्रभु एवं प्रभु-भक्तों के निन्दकगण।

पाषण्डी,—भगवान् के साथ अन्यान्य देवताओं की समता-व्याख्याकारीगण।

अधम पडुया (विद्यार्थी),—जो सब विद्यार्थी विद्या को तर्क के हेतु के रूप में निर्णीत करते हैं, एवं विद्या, जो ईश्वर प्राप्ति का उपाय है, इस बारे में अनजान हैं।

अहैतुकी-कृपासिन्धु के द्वारा
उन सबके उद्धार की चिन्ता—

ताहा देखि' महाप्रभु करेन चिन्तन।
जगत् डुबाइते आमि करिलुँ यतन॥३१॥
केह केह एड़ाइल, प्रतिज्ञा हइल भंग।
ता-सबा डुबाइते पातिब किछु रंग॥३२॥

३१-३२। प० अनु०—यह देखकर महाप्रभु चिन्तन करने लगे कि, 'मैंने सम्पूर्ण जगत् को प्रेम में डुबो देने के लिये यत्न किया, किन्तु कोई-कोई इससे वंचित रह गया है, इससे मेरी प्रतिज्ञा भंग हुई है। इन सबको डुबो देने के लिये कुछ रंगों (आनन्दमय लीलाओं) का प्रकाशन करूँगा।

पतित-वंचित-जीवों के
उद्धार-हेतु संन्यास-ग्रहण—

एत बलि' मने किछु करिया विचार।
संन्यास-आश्रम प्रभु कैला अंगीकार॥३३॥

चब्बिश वत्सर छिला गृहस्थ-आश्रमे।
पंचविंशति वर्षे कैल यतिधर्मे॥३४॥

३३-३४। प० अनु०—इतना कहकर मन-ही-मन कुछ सोचविचार करके प्रभु ने संन्यास-आश्रम को अङ्गी-कार किया। चौबीस साल तक प्रभु गृहस्थ-आश्रमी थे। पच्चीसवें वर्ष में प्रभु ने यतिधर्म को अपनाया।

अनुभाष्य

३३। मायातीत भगवत्ता में, भगवद्धाम में, भगवद्-भक्ति में एवं भक्त में 'माया' विद्यमान है,—इसप्रकार के भ्रान्तविश्वासी व्यक्ति ही 'मायावादी' हैं। उन चारों तत्त्वों में कर्म एवं कर्मफलभोग की बाध्यता है,—इसप्रकार के भ्रान्तविश्वासी व्यक्ति ही 'कर्मनिष्ठ' हैं। उन चारों तत्त्वों में अज्ञान-जनित तर्क के लिये स्थान है,—इसरूप भ्रान्त बुद्धि-विशिष्ट जनसमुदाय ही 'कुतार्किक' है। उस तत्त्व-चतुष्टय में निन्दनीयता की योग्यता है,—इसप्रकार के भ्रान्तबुद्धि व्यक्ति ही 'निन्दक' हैं; उस तत्त्व-चतुष्टय के साथ अन्य मायिक वस्तुओं की समानता है,—इसप्रकार के भ्रान्तमति व्यक्ति ही पाषण्डी हैं; एवं उन चारों तत्त्वों के साथ अन्य जड़भोग्य विषयसमूहों की तुल्यता है,—इसप्रकार का भ्रान्त अध्ययनशील जन-समुदाय ही 'अधम पडुया' है। ये सभी, प्रेममय गौरसुन्दर के द्वारा प्रदत्त प्रेम-वन्या का जल उन्हें कहीं किसी भी प्रकार से स्पर्श न करें, इस उद्देश्य के वशवर्त्ती होकर, भाग गये। यह देखकर, श्रीमन्महाप्रभु ने पूर्वोक्त कृष्णप्रेमविमुख चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) के अभिलाषी जड़प्रकृति-सम्पन्न मानवों के लिये परम-श्रद्धेय चतुर्थाश्रम (संन्यास) भूषण स्वीकार करने की अभिलाष व्यक्त की। पूर्वोक्त मायामुग्ध विषयी जनों के विश्वास में चतुर्थ आश्रम ही उपादेय आदर्श है,—ऐसा ही विचार किया।

३४। आश्रमी चार प्रकार के हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी। सभी आश्रम में चार-चार भेद हैं। भागवत में—(३.१२.४२-४३) श्लोक—'सावित्र्यं प्राजापत्यंच ब्राह्मंचाथ वृहत्तथा। वार्त्तासंचयशालीनशि-लोञ्छ इति वै गृहे॥ वैखानसा वालिखिल्यौडुम्बराः फेनपा वने। न्यासे कुटीचकः पूर्वं बह्वादो हंस-निष्क्रियौ॥" अर्थात् ब्रह्मचर्य चार प्रकार का है—(१) सावित्र्य (उप-नयन से लेकर गायत्री-अध्ययन तक त्रिरात्रव्यापि ब्रह्म-चर्य), (२) प्राजापत्य (उपनयन से लेकर वर्षव्यापिव्रत-पालनपरक ब्रह्मचर्य), (३) ब्राह्म (उपनयन से लेकर वेदत्रयग्रहणकालव्यापि ब्रह्मचर्य), (४) वृहत् (उपनयन से लेकर आमरण ब्रह्मचर्य); पहले तीनों उपकुर्वाण' हैं एवं चौथा 'नैष्ठिक'—नाम से परिचित है। गृहस्थ भी चार प्रकार के हैं—(१) वार्त्ता (अनिषिद्ध कृषि आदि वृत्ति), (२) संचय—(याजनादि-वृत्ति), (३) शालीन (अयाचित-वृत्ति), (४) शिलोञ्छन (पतित-कणिका-शन-वृत्ति)। वानप्रस्थ भी चार प्रकार के हैं—(१) वैखा-नस (अकृष्टपत्त्य-बिना जुते खेत में उगने पकने वाला) (२) बालिखिल्य—(नये अन्न की प्राप्ति पर पहले का अन्नत्याग वृत्ति), (३) औडुम्बर (शय्या से उठते समय जिस दिशा की ओर देखेंगे, उस दिशा से आनीत-द्रव्यग्रहणकुशल), (४) फेनप—(स्वयंपतित फलों से जीवन-धारण)। संन्यासी भी चार प्रकार के हैं—(१) कुटिचक (निज आश्रम धर्म-प्रधान), (२) बहूदक (त्य-क्तकर्मा ज्ञानाभ्यास-प्रधान), (३) हंस (ज्ञानाभ्या-सनिष्ठ), (४) निष्क्रिय (परमहंस अथवा प्राप्ततत्त्व)। संन्यास द्विविध है—धीर एवं नरोत्तम; (भाः १.१३.२६-२७)—"गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबंधनः। अविज्ञात गतिर्जह्यात् स वै 'धीर' उदाहृतः॥ यः स्वकात् परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्। हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत् स 'नरोत्तमः'॥" श्रीगौरांग महाप्रभु ने १४३२ शकाब्द के माघ महीने के शुकलपक्ष में श्रीशंकर सम्प्रदाय के काटोया-स्थित श्रीकेशवभारती दण्डिस्वामी से संन्यास ग्रहण किया था। ये दक्षिणदेश के शृंगेरी मठ के अधीन हैं।

कर्मी, विद्यार्थी, पाषंडी,
तार्किक-निन्दकादि
वंचित गुटों का उद्धार—

संन्यास करिया प्रभु कैला आकर्षण।
यतेक पालाञाछिल तार्किकादिगण॥३५॥

पडुया, पाषंडी, कर्मी, निन्दकादि यत।
तारा आसि' प्रभु-पाय हय अवनत॥३६॥

३५-३६। प० अनु०—जितने भी तार्किक आदि जनसमुदाय भाग गये थे, संन्यास अंगीकार पूर्वक प्रभु ने उन सबको आकर्षित किया। जितने भी विद्यार्थी, पाषंडी, कर्मी और निन्दक आदि थे, वे सब आकर प्रभु के चरणों में नतमस्तक होने लगे।

अनुभाष्य

३६। आदि, ७म परिच्छेद ३३ संख्या के अनुभाष्य का शेषांश द्रष्टव्य है।

उन सबका अपराध-मोचन
एवं भक्ति लाभ—

अपराध क्षमाइल, डुबिल प्रेमजले।
केबा एड़ाइवे प्रभुर प्रेम-महाजाले॥३७॥

३७। प० अनु०—अपराधों से सभी को छुटकारा मिला, सभी प्रेमजल में डूब गये। प्रभु के महान् प्रेमजाल से कौन बच सकता है?

सभी जीवों के उद्धार-हेतु
उपाय का आविष्कार—

सबा निस्तारिते प्रभु कृपा-अवतार।
सबा निस्तारिते करे चातुरी अपार॥३८॥

३८। प० अनु—सबका उद्धार करने हेतु कृपावतार प्रभु असीम चतुरता का आश्रय लेने लगे।

काशी के मायावादी
व्यतीत सकल मानवों
का उद्धार—

तबे निज भक्त कैल यत म्लेच्छ आदि।
सबे एड़ाइल मात्र काशीर मायावादी॥३९॥
वृन्दावन याइते प्रभु रहिला काशीते।
मायावादिगण ताँरे लागिला निन्दिते॥४०॥

३९-४०। प० अनु—फिर प्रभु ने म्लेच्छ आदियों को अपना भक्त बनाया। केवल काशी के मायावादी इससे बच निकले। वृन्दावन जाते समय प्रभु काशी में ठहरे। वहाँ मायावादिगण उनकी निन्दा करने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

३९। प्रभु के संन्यास अंगीकार करने मात्र से ही कुतार्किक, कर्मनिष्ठ, निन्दक, पाषंडी और अधम विद्यार्थियों ने क्रमपूर्वक उनके चरणों में आश्रय लिया एवं अनेक म्लेच्छ ने भी उनका आनुगत्य स्वीकार किया; केवल वाराणसीधाम के मायावादिगण प्रेमवन्या से अछूते रह गये।

अनुभाष्य

३९। "काशी के मायावादी"—अक्षज ज्ञान-विमूढ़ व्यक्तिगण इन्द्रियों के द्वारा जिस जगत् का दर्शन करते हैं, उसे इन्द्रियज्ञान के सहारे नाप लेना सम्भव है, ऐसा विचार करके इसे 'माया-रचित' कहते हैं। 'तत्त्ववस्तु के मायातीत होने पर भी इसमें नित्य चिद्विचित्रता अथवा चिद्विलास नहीं है, यह केवल चिन्मात्र है'—इस प्रकार के विचारों में निपुण व्यक्तिगण ही "काशी के मायावादी" हैं। 'सारनाथ के मायावादिगण' अथवा 'बोधगया के मायावादिगण' ब्रह्म की माया को स्वीकार नहीं करते। उन सबके विचार में अचिन्मात्रवाद ही सिद्ध है। 'काशी के मायावादी' एवं इससे अलग अन्य-स्थानों के मायावादि गण,—सभी प्रकृतिवादी हैं—उनमें से कोई भी 'ब्रह्म अथवा तत्त्ववादी' नहीं है। काशी के मायावादि- गण अपने मुख से अपने आपको 'ब्रह्मवादी' के रूप में अभिहित करने पर भी ब्रह्म-प्रकृति की विशिष्टता को स्वीकार नहीं करते। समन्वयवाद के चलते वे ब्रह्म एवं माया को अभिन्न जानते हैं। मायावादिगण भक्ति-योगमाया का सन्धान नहीं रखते, इस कारण ही वे सब अभक्त एवं कृष्णभक्तिविमुख हैं। मायावादियों का हृद्गत अनुभाव यही है कि, नित्यभक्ति की सारी कथाएँ, भजनीय वस्तु एवं भक्त—सभी उनके इन्द्रियजात ज्ञान के अधीन हैं। किन्तु असल में, वास्तव-सत्य के विचार में, ये सब बातें मूल्यहीन है। मायावादिगण परस्पर मिलकर कितने ही कुतर्क अथवा विवाद की उपस्थापना क्यों न करें,

वास्तव-सत्य के निकट अभिगमन न करने से तत्त्ववस्तु एवं उसकी चिद्विचित्रता उन सबके काल्पनिक विचारों के अधीन नहीं होती है।

मायावादियों के द्वारा
प्रभुनिन्दा—

संन्यासी हइया करेन गायन, नाचन।
ना करे वेदान्त श्रवण, करे संकीर्त्तन॥४१॥
मूर्ख संन्यासी निज-धर्म नाहि जाने।
भावुक हइया फेरे भावुकेर सने॥४२॥
एसब शुनिया प्रभु हासे मने मने।
उपेक्षा करिया कारो ना कैल सम्भाषणे॥४३॥

४१-४३। प० अनु०—ये (महाप्रभु) संन्यासी होकर गाते हैं, नृत्य करते हैं। वेदान्त का श्रवण नहीं करते, संकीर्तन करते हैं। यह मूर्ख संन्यासी निजधर्म के बारे में अनजान है। भावुक होकर भावुकों के साथ घूमता-फिरता रहते है। यह सब सुनकर प्रभु मन-ही-मन मुस्कराते रहते थे और उन सबके प्रति उपेक्षा (उदासीनता) का भाव पदर्शन करके किसी के भी साथ संम्भाषण नहीं करते थे।

अनुभाष्य

४१। "संन्यासी को तौर्यत्रिक अर्थात् 'गान', 'नृत्य' एवं 'वादन'—कार्य का परित्याग करना चाहिये एवं सदैव वेदान्तानुशीलन करते रहना चाहिये—इस स्मृति-शास्त्र-विधि की अनुकूलता में, श्रीमहाप्रभु को शांकर-मायावाद का श्रवण न करते हुये देखकर, ऊपर से कृष्णकीर्तन आदियों में मत्त होकर प्रेम से नृत्यरत देखकर, काशी के संन्यासीवृन्दों ने समझा था कि, श्रीमहाप्रभु संन्यास-धर्म से अनभिज्ञ हैं। शंकरकथित "वेदान्त-वाक्येषु सदा रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः"—यह लक्षण न देख कर मायावादी संन्यासीवृन्द एवं गृहव्रतगण श्रीमहाप्रभु की निन्दा किया करते थे। काशी के मायावादी संन्यासियों के उद्धार के प्रसङ्ग में मध्य २५पः ५-१६९ संख्या विशेष-रूप से द्रष्टव्य है।

प्रभु के द्वारा उसकी उपेक्षा करते हुए मथुरा गमन—

उपेक्षा करिया कैल मथुरा गमन।
मथुरा देखिया पुनः कैल आगमन॥४४॥

४४। प० अनु०—इसकी उपेक्षा करके प्रभु मथुरा चले गये। मथुरा को देखकर फिर वापस आ गये।

चन्द्रशेखर के घर में अवस्थान—

काशीते लेखक शूद्र-श्रीचन्द्रशेखर।
ताँर घरे रहिला प्रभु स्वतन्त्र ईश्वर॥४५॥

४५। प० अनु०—स्वतन्त्र ईश्वर प्रभु काशी में शूद्र वर्णोद्भुत लेखक श्रीचन्द्रशेखर के घर में ठहर गये।

मायावादी संन्यासियों का त्याग
करके तपन मिश्र के घर में भिक्षा—

तपन-मिश्रेर घरे भिक्षा-निर्वाहण।
संन्यासीर संगे नाहि माने निमन्त्रण॥४६॥

४६। प० अनु०—तपन मिश्र के घर प्रभु ने भिक्षा की। संन्यासियों के साथ उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

४५-४६। वैद्य चन्द्रशेखर—शूद्रवर्ण के थे। शूद्रवर्ण के घर में संन्यासियों का रात बिताना ठीक नहीं है, किन्तु महाप्रभु उनके प्रति कृपा-प्रदर्शन पूर्वक उनके घर रह गये; क्योंकि, वे स्वतन्त्र ईश्वर हैं; उनकी कृपा के सामने ब्राह्मण, शूद्र,—सभी समान हैं। उन्होंने तपन मिश्र के घर में भिक्षा अर्थात् भोजन स्वीकार किया, परन्तु किसी भी अवस्था में अन्य संन्यासियों के साथ निमन्त्रण ग्रहण नहीं किया।

अनुभाष्य

४५। श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नामक नाटक में श्रीचन्द्र-शेखर 'शौक्र वैद्य' के रूप में उल्लिखित हैं। उस समय, शौक्र-वैद्यगण एवं शौक्र-ब्राह्मण के अतिरिक्त सभी वर्ण-समूह 'शूद्र' की संज्ञा में अभिहित होते थे। पश्चात् वर्तमान-शताब्दी में व्रात्यसंस्कार (संस्कारहीनता) का

आश्रय करके कायस्थों ने क्षत्रिय के, एवं वैद्यों ने वैश्य के संस्कार को ग्रहण किया है व कर रहे हैं। श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्यवर्ग के वंशसमूह में वैष्णव-विश्वास के अनुगमन में ठाकुर रघुनन्दन के वंश में, ठाकुर-कृष्णदास एवं नवनी होड़ के वंश में और श्यामानन्द प्रभु के शिष्य श्रीरसिकानन्ददेव के वंश में ब्रह्मण्य का आदर्श उपनयन-संस्कार आज तीन चारसौ सालों से चला आ रहा है। ये सब अभी भी विप्रादि सभी वर्णों के दीक्षागुरु का कार्य एवं शालग्रामादि का अर्चन करते आ रहे हैं।

श्रीसनातन को शिक्षा—

सनातन गोसाञि आसि' ताँहाइ मिलिला।
ताँर शिक्षा लागि' प्रभु दु-मास रहिला॥४७॥
ताँरे शिक्षाइल सब वैष्णवेर धर्म।
श्रीभागवत-आदि शास्त्रेर यत गूढ़ मर्म॥४८॥

४७-४८। प० अनु०—श्रीसनातन गोस्वामी आकर वहाँ उनसे मिले। उनकी शिक्षा-हेतु प्रभु दो महीने वहीं रुक गये। प्रभु ने उन्हें वैष्णव धर्म और श्रीमद्भागवतम् आदि शास्त्रों के समस्त गूढ़ मर्म्म के बारे में सारी शिक्षाएँ दीं।

चन्द्रशेखर एवं तपन
मिश्र के द्वारा निवेदन—

इतिमध्ये चन्द्रशेखर, मिश्र-तपन।
दुःखी हञा प्रभु-पाय कैल निवेदन॥४९॥
कतेक शुनिव प्रभु तोमार निन्दन!
ना पारि सहिते, एवे छाड़िब जीवन॥५०॥
तोमाके निन्दये यत संन्यासीर गण।
शुनिते ना पारि, फाटे हृदय-श्रवण॥५१॥
इहा शुनि' रहे प्रभु ईषत् हासिया।
सेइ काले एक विप्र मिलिल आसिया॥५२॥

४९-५२। प० अनु०—इसी बीच चन्द्रशेखर और तपन मिश्र ने दुःखी होकर प्रभु के चरणों में एक निवेदन किया। 'हे प्रभु! आपकी निन्दा और कितनी सुननी होगी! हमसे सहन नहीं हो पाता, अब जीवन को ही त्याग देंगे। जितने संन्यासीवृन्द आपकी निन्दा करते रहते हैं, हम सुनने में असमर्थ हैं, हमारे हृदय और श्रवण (कर्णेन्द्रिय) फटे जा रहे हैं।' यह सुनकर प्रभु थोड़े मुस्कुराये। उसी समय वहाँ एक ब्राह्मण आकर उपस्थित हुये।

ब्राह्मण की प्रार्थना—

आसि' निवेदन करे चरणे धरिया।
एक वस्तु मागों, देह, प्रसन्न हइया॥५३॥
सकल संन्यासी मुञि कैनु निमन्त्रण।
तुमि यदि आइस, पूर्ण हय मोर मन॥५४॥
ना याह संन्यासी-गोष्ठी, इहा आमि जानि।
मोरे अनुग्रह कर निमन्त्रण मानि'॥५५॥

५३-५५। प० अनु०—ब्राह्मण आकर चरण पकड़-कर निवेदन करने लगा; 'एक वस्तु माँग रहा हूँ, प्रसन्न होकर दीजिये। मैंने सभी संन्यासियों को निमन्त्रण किया है, यदि आप भी आगमन करें, तो मैं पूर्णकाम हो जाऊँगा। मुझे पता है कि आप संन्यासी-गोष्ठी से दूर रहते हैं। कृपया निमन्त्रण स्वीकार करके मुझ पर अनुग्रह कीजिये।

प्रभु के द्वारा निमन्त्रण-स्वीकार—

प्रभु हासि' निमन्त्रण कैल अंगीकार।
संन्यासीरे कृपा लागि' ए भंगी ताँहार॥५६॥
से विप्र जानेन, प्रभु ना या'न का'र घरे।
ताँहार प्रेरणाय ताँरे अत्याग्रह करे॥५७॥

५६-५७। प० अनु०—प्रभु ने हँसकर निमन्त्रण अंगीकार कर लिया। संन्यासियों के प्रति कृपा-वर्षण-हेतु उन्होंने ऐसा किया। ब्राह्मण जानते थे कि, प्रभु किसी के घर नहीं जाते। फिर भी, उनकी प्रेरणा से ब्राह्मण ने उनके प्रति अतिशय आग्रह का प्रकाशन किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

५७। तथापि प्रभु संन्यासियों पर कृपा करेंगे, इसलिये उस ब्राह्मण के हृदय में प्रेरणा देने से, उसने अतिशय आग्रह के साथ प्रभु से उस प्रकार प्रार्थना की।

संन्यासिमंडली के बीच प्रभु का गमन—

आर दिने गेला प्रभु से विप्र-भवने।
देखिलेन, बसियाछेन संन्यासीर गणे॥५८॥

५८। प॰ अनु॰—फिर एकदिन प्रभु उस ब्राह्मण के घर गये। जाकर प्रभु ने देखा कि, संन्यासिवृन्द वहाँ बैठे हुये हैं।

प्रभु की दीनता—

सबा नमस्करि' गेला पाद-प्रक्षालने।
पाद प्रक्षालिया बसिल सेइ स्थाने॥५९॥

५९। प॰ अनु॰—सबके प्रति नमस्कार निवेदन-पूर्वक प्रभु चरण धोने को गये। चरण-प्रक्षालन-पूर्वक (चरण धोकर) प्रभु वहीं बैठ गये।

प्रभु के द्वारा ऐश्वर्य का प्रकाशन एवं पाषंड मोहन—

बसिया करिला किछु ऐश्वर्य प्रकाश।
महातेजोमय वपु कोटीसूर्य्याभास॥६०॥
प्रभावे आकर्षिल सब संन्यासीर मन।
उठिला संन्यासी सब छाड़िया आसन॥६१॥

६०-६१। प॰ अनु॰—बैठकर प्रभु ने कुछ ऐश्वर्य का प्रकाशन किया। कोटि सूर्याभास-युक्त महान् तेजोमय शरीर के प्रभाव से प्रभु ने सभी संन्यासियों के मन को आकर्षित कर लिया। सभी संन्यासी आसन छोड़कर उठ खड़े हुए।

प्रकाशानन्द-सरस्वती की उक्ति—

प्रकाशानन्द-नामे एक संन्यासी प्रधान।
प्रभुके कहिल किछु करिया सम्मान॥६२॥
इँहा आइस गोसाञि, शुनह श्रीपाद।
अपवित्र स्थाने बैस, किबा अवसाद॥६३॥

६२-६३। प॰ अनु॰—प्रकाशानन्द नामके एक संन्यासी-प्रधान ने प्रभु को कुछ सम्मान-पूर्वक कहा; 'यहाँ आइये गोसाईं, सुनिये श्रीपाद! किस अवसाद (सुस्ती) के कारण आप वहाँ अपवित्र स्थान पर बैठे हुये हैं?'

प्रभु की दैन्योक्ति—

प्रभु कहे,—आमि हइ हीन-सम्प्रदाय।
तोमा-सबार सम्प्रदाये बसिते ना युयाय॥६४॥

६४। प॰ अनु॰—प्रभु ने कहा,—'मैं हीन सम्प्रदाय से हूँ। आप सबके सम्प्रदाय में बैठना मुझे शोभा नहीं देता।

अनुभाष्य

६४। श्रीशंकराचार्य के द्वारा प्रवर्त्तित दशनामी दंडियों में, 'तीर्थ', 'आश्रम' एवं 'सरस्वती'—ये तीन सम्प्रदाय सदाचार और सम्मान के मामले में अन्य साम्प्रदायिक संन्यासिगणों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। श्रीमहाप्रभु ने 'भारती'—सम्प्रदाय में संन्यास ग्रहण करने के कारण, प्रकाशानन्द-सरस्वती को ऊँचे सम्प्रदाय में स्थित व्यक्ति के रूप में विचार किया; अथवा ब्रह्मसंन्यासियों की सामाजिक-मर्यादा को वे सब अपने आप ही स्वयं को ऊँचा मानते हैं, इसलिये श्रीमन् महाप्रभु ने वैष्णव संन्यासी के अमानी एवं मानद-धर्म की जानकारी देते हुये स्वयं को हीन सम्प्रदाय के अर्न्तभुक्त के रूप में अभिमत किया। शांकर-साम्प्रदायिक संन्यासिगण आज भी अन्य संन्यासियों को 'संन्यासी' कहना नहीं चाहते, केवल 'ब्रह्मचारी' संज्ञा देकर अपने आप को 'गुरु' अभिमान करते हैं।

प्रकाशानन्द की जिज्ञासा—

आपने प्रकाशानन्द हातेते धरिया।
बसाइल सभामध्ये सम्मान करिया॥६५॥
पुछिले, तोमार नाम 'श्रीकृष्णचैतन्य'।
केशव-भारतीर शिष्य, ताते तुमि धन्य॥६६॥
साम्प्रदायिक संन्यासी तुमि, रह एइ ग्रामे।
कि कारणे आमा-सबार ना कर दर्शने॥६७॥
संन्यासी हइया कर नर्त्तन-गायन।
भावुक सब संगे लञा करह कीर्त्तन॥६८॥
वेदान्त-पठन, ध्यान,—संन्यासीर धर्म।
ताहा छाडि' कर केने भावुकेर कर्म॥६९॥
प्रभावे देखिये तोमा साक्षात् नारायण।
हीनाचार कर केने, इथे कि कारण॥७०॥

६५-७०। प० अनु०—प्रकाशानन्द ने स्वयं प्रभु का हाथ पकड़कर उन्हें सम्मानपूर्वक सभा में बिठाया। फिर पूछा, "तुम्हारा नाम 'श्रीकृष्णचैतन्य' है; तुम केशव-भारती के शिष्य हो, इसलिये तुम धन्य हो। तुम भी साम्प्रदायिक संन्यासी हो, इसी गाँव में रहते हो; फिर किस कारण हम सबके दर्शन नहीं करते? संन्यासी होकर नृत्य करते हो, गाते रहते हो। भावुकों के साथ लेकर कीर्तन करते हो। वेदान्त-पठन और ध्यान संन्यासी का धर्म है। इसे छोड़कर क्यों भावुकों-जैसा कर्म करते हो? प्रभाव से तो तुम साक्षात् नारायण लगते हो। तो फिर हीनाचार क्यों करते हो? इसका क्या कारण है?"

अमृतप्रवाह भाष्य

६७। साम्प्रदायिक संन्यासी,—श्रीशंकराचार्य के उपदेशानुसार,—जो सब ब्राह्मण दशनामी के दल में संन्यास ग्रहण करते हैं, वे ही जगतमान्य 'वैदिक संन्यासी' अथवा यथार्थ शास्त्रसम्मत संन्यासी हैं।

अनुभाष्य

६६। केशव भारती—वैष्णवमंजूषा-समाहृति (२य संख्या) द्रष्टव्य है।

६९। आदि, ७म प:४१ संख्या के अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

प्रभु के द्वारा श्रीनाममाहात्म्य-वर्णन—

प्रभु कहे,—शुन, श्रीपाद, इहार कारण।
गुरु मोरे मूर्ख देखि' करिल शासन॥७१॥
मूर्ख तुमि, तोमार नाहि वेदान्ताधिकार।
'कृष्णमन्त्र' जप' सदा,—एइ मन्त्रसार॥७२॥

७१-७२। प० अनु०—प्रभु ने कहा,—"सुनिये श्रीपाद! इसका कारण बता रहा हूँ। गुरु ने देखा कि मैं मूर्ख हूँ, इसलिये शासन करते हुये उन्होंने मुझसे कहा,—तुम मूर्ख हो, वेदान्त में तुम्हारा अधिकार नहीं है। तुम सदैव 'कृष्णमन्त्र' जपते रहो, यही सभी मन्त्रों का सार मन्त्र है।

अनुभाष्य

७१। वेदान्त के एकमात्र प्रतिपाद्य वास्तव-वस्तु-विग्रह श्रीचैतन्यदेव ने वेदान्तपाठ के अधिकारी का निर्णय करने के प्रसंग में प्रचार किया है कि,—तृण से भी सुनीच, तरु की भाँति सहनगुण सम्पन्न एवं स्वयं अमानी होकर दूसरों को मानप्रदानकारी जनसमुदाय ही श्रौतपथ का अधिकारी है। गुरु के श्रीमुख से कीर्त्तित श्रवणकारी के द्वारा श्रुतवाक्य के कीर्तनरूप अभिधेय अथवा साधन से ही प्रयोजनरूप फल का उद्गम होता है। श्रौतवाक्य के जिस अंश में भजनीय-वास्तववस्तुविज्ञान कीर्तित है, वह श्रौत शास्त्र का सर्वव्यापक आकरस्थानीय मूल अंशी है। उस अंशी के अभ्यंतर में समस्त अंश की प्रतीति एवं अप्रतीति स्थित है। भजनीय-वस्तु के अनुशीलनकारी भक्त निज भजन के अवलम्बन से भजनीय-वस्तु के साथ सम्बन्ध-विशिष्ट हैं। जहाँ भजनवृत्ति की शिथिलता विद्यमान है, वहाँ अंशी के अनुशीलन के बदले वस्तु का आंशिक अनुशीलन होता है। भजनवृत्ति की शिथिलता से भजनीय-वस्तु के साथ तदाश्रित शक्ति का जो विच्छिन्नभाव है, वही आत्मस्वरूप-विस्मृति अथवा हरिसेवा-विमुखता है।

श्रीचैतन्यदेव ने भक्त के द्वारा निरपेक्ष, निर्मल आचरण के बारे में उपदेश करते हुये वेदान्त की चरमपरिणति के विषय में जिस सर्वोत्तम आदर्श का प्रदर्शन किया है, उसके ही प्रकृष्ट उदाहरण के रूप में यहाँ शिष्यब्रूव चतुर्दशभुवनपति के द्वारा निरभिमान-वशतया उक्ति। पाण्डित्य-प्रतिभा में मत्त जनसमुदाय गुरुपादपद्म-सेवा में अनधिकारी है,—ब्रह्मसूत्र के पठन में अनधिकारी है। किसी दूसरी वस्तु के प्रति अभिनिवेशयुक्त अभक्त भजनीय-वस्तु के अनुशीलन की चेष्टा करते हुये भजनकारी गुरु की सेवा त्याग देते हैं। वहाँ सेवक के द्वारा स्व-स्वरूप निरूपण में भ्रान्ति-निषेधार्थ गुरुरूपी भगवान् के द्वारा शिष्य के निर्मल स्वरूपवर्णन के समय उनकी मूर्खता की अभिव्यक्ति। श्रीगुरुदेव जिस प्रकार से सरल भाषा में शिष्य के मंगल के लिये शिष्य की अनधिकारिता के विषय में कहते हैं, इससे शिष्य में आपेक्षिक दोषों का स्पर्श नहीं होता है। भगवत्तत्त्व में

अनभिज्ञता ही शिष्य की मूर्खता है। मूर्ख का औचित्यधर्म शिष्य में नित्य वर्तमान है। उस स्वरूप के साथ स्वरूप-ज्ञान के अभाव के कारण हम सब बहुत बार कपटता-पूर्वक शिष्याभिमान करके अपने शिष्यप्रतिम जन-समुदाय को मुख से 'गुरु' कहकर प्रतारणा कहते हैं; इससे हमारा मंगल नहीं होता। वेदसमूह जिनकी चरणसेवा में निरन्तर नियुक्त हैं, उन वेदान्त-वेद्य पुरुष के प्रति अक्षज-ज्ञानविशिष्ट व्यक्ति वास्तव में ही मूर्ख है। इन्द्रियज-ज्ञान में विमूढ़ व्यक्ति जो वेदशास्त्र के वास्तव अधिष्ठान का दर्शन करता है, वह वहिःप्रज्ञा-चालित एवं अपरा विद्या के अन्तर्भुक्त है। जिस समय तक जीवों से वश्यजगत् का गुणमय अभिमान अन्तर्हित नहीं हो जाता, उस समय तक उसमें जो परिछिन्न, अनुपादेय, परिवर्तनशील अक्षज ज्ञान विराजमान है, वह मूर्खता के ही अन्तर्गत है। वेदान्ता-धिकारी—वृहत् एवं पालक विष्णुवस्तु का ही सेवक है। परिछिन्न वस्तु आदि की सेवा का अतिक्रमण न करने से कोई भी ब्रह्मज्ञ नहीं हो सकता। कर्माधिकार के ब्रह्म सूत्र एवं ज्ञानाधिकार के ब्रह्मसूत्र के पठन-पाठन के अधिकार से नित्य, शुद्ध, पूर्ण, मुक्त, चैतन्यरस विग्रह अप्राकृत-चिन्तामणि कृष्णनाम में अधिकार नहीं हो जाता। इसमें जिनका अधिकार है, उन्हें फिर से अक्षजज्ञान में वेदान्ता- धिकार प्राप्त करना नहीं होता।

नामभजन में अनधिकारी व्यक्तिसमूह नाम-नामी में अभिन्न-बुद्धि-रहित होकर मायावादी वैदान्तिक होने की चेष्टा करता है। वे सब ही अप्राकृत-विचार में श्रीगुरुदेव की भाषा में परम मूर्ख हैं। अधिरोहवाद के अवलम्बन में वेदान्त के अनुशीलन से मूर्खता अथवा जाड्य आकर उपस्थित होता है; दूसरी ओर, वास्तव में नामाधिकारी की ही वेदान्त के उसपार नित्य अवस्थिति है। इस प्रसंग में श्रीभागवत के "अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्य्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते।।" आदि श्लोक एवं "ऋक्वेदऽथ यजुर्वेदः सामवेदोऽप्यथर्वणः। अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरिति अक्षरद्वयम्।।" आदि श्लोक अवलोकनीय हैं।

मूढ़ साहजिकसम्प्रदाय निज वैष्णवब्रुवता के अभिमान में वेदान्त को अहंग्रहोपासक केवलद्वैतवादी की विचरण-भूमिका समझते हैं। परन्तु 'वेदान्त' वैकुण्ठ-हरिजन की ही एकमात्र विचरणभूमि है। चारों सम्प्रदायों के वैष्णवा-चार्यगणों ने ब्रह्मसूत्र-वेदान्तभाष्य श्रीमद्भागवत के अनुगमन में जो सब वैदान्तिक प्रबन्धसमूह की रचना की है, दुःसंग समझकर उन सबका परिहार (परित्याग) करना ठीक नहीं है,—यह सीधी-सी बात प्राकृत सहजि-यागण समझने में असमर्थ हैं। इसलिये वे सब प्रकृत शुद्धवैष्णव एवं वैष्णवाचार्यगणों को ज्ञानमिश्र व कर्ममिश्र विद्धभक्त के रूप में कल्पना करके नरकगामी होते हैं एवं स्वयं मायावादी होकर विष्णुसेवा से दूर हट जाते हैं। अक्षज-ज्ञान के वेदान्ताधिकार में कृष्ण-मन्त्र-जप की सार्थकता उपलब्धि का विषय नहीं होती। जो सब अक्षज-ज्ञान में विमुग्ध हैं, वे सब ही संसार में कठिन रूप से आबद्ध है। भोक्ता एवं भोग्य—ये दोनों तत्त्व उन सबको संसार में बद्ध करने में समर्थ होकर बाहरी विषयों के प्रति मननवृत्ति को संयमित करने नहीं देते।

मन्त्र एवं महामन्त्र श्रीनाम में लीला की विचित्रता—

कृष्णमन्त्र हैते हबे संसार-मोचन।
कृष्णनाम हैते पाबे कृष्णेर चरण॥७३॥

७३। प० अनु०—कृष्णमन्त्र से (के कारण) संसार से छुटकारा मिलेगा। कृष्णनाम से कृष्णचरण की प्राप्ति होगी।

अनुभाष्य

७३। जिस समय जीव दिव्यज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय द्वितीयाभिनिवेश से मुक्त होकर अधोक्षज की सेवा में प्रवृत्त होते हैं। मुकुन्दसेवा ही बाहरीजगत् के प्रति चेष्टा-निवृत्ति का एकमात्र उपाय एवं उपेय है। मन्त्र का जाप करते करते अप्राकृत अनुभूति के चलते बाहरी भोगमय जगत्प्रतीति से निरस्त होकर पंचविध रतियों में से किसी एक प्रकार की रति के आश्रय में सामग्री के संयोग से रससेवा के प्रभाव के कारण विशुद्ध

सत्तोज्ज्वल हृदय में भजनीय वस्तु का आस्वादन करते हैं। तादृश अनुष्ठान उपाधिद्वय का भोगमात्र नहीं है। नाम एवं नामी अभिन्न हैं,—वास्तव में दिव्यज्ञान की प्राप्ति किसी के हृदय में आनुष्ठानिक रूप से स्थित हो जाने पर ही नामकीर्तनकारी साक्षात् कृष्ण-सेवा लाभ करते हैं। उस समय उनके लिये चतुर्थ्यन्तपद अथवा व्याकरण के साथ सम्बन्धित निर्णायक भाषा शिथिल हो जाती है। सम्बोधनपद से उद्दिष्ट वास्तव-वस्तु सत्वो-ज्ज्वल हृदय में ही सद्य (तत्क्षण) अवरुद्ध हो जाती है। उस समय सम्बोधनपद के द्वारा बाधारहित सेवन करने की योग्यता आती है। सभी शास्त्र एवं सभी दिव्य ज्ञाना-त्मक मन्त्र जीवों को सर्वतोभावेन मुक्त करवाकर साक्षात् कृष्णसेवा में नियुक्त करते हैं। ये सारी बातें मुझ मूर्ख ने श्रीगुरुदेव के समक्ष सुनी हैं। उन्होंने श्रीव्यासदेव के द्वारा उक्त "लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्" आदि नामभजन के सोपानरूप श्रीमद्भागवत आदि का अध्ययन, अध्यापन एवं विचार नामसेवा के तात्पर्य में ही पर्यवसित है, कहकर उपदेश किया है। नाम एवं नामी जो अभिन्न वस्तु हैं और माया प्रयास रहित जन के लिये ही एकमात्र ज्ञेय हैं—यही गुरुपादपद्म से प्राप्त दिव्य-ज्ञान है। श्रीगुरुपाद-पद्माश्रय से पहले मैं साम्बन्धिक-विचार में मूढ़ था, परन्तु सेवोन्मुख होते ही बन्धमोक्षविदों की चेष्टाएँ मुझमें दिखाई दे रही हैं। 'कृष्णनाम' शब्द से यहाँ नामाभास अथवा नामापराध उद्दिष्ट नहीं हुआ है।

कलियुग में कृष्णनाम ही एकमात्र उपास्य—

नाम विना कलिकाले नाहि आर धर्म।
सर्वमन्त्रसार नाम,—एइ शास्त्रमर्म्म ॥७४॥

७४। प० अनु०—कलियुग में नाम बिना और धर्म नहीं है। नाम सभी मन्त्रों का सार है,—यही शास्त्रों का मर्म है।

अनुभाष्य

७४। सत्य, त्रेता और द्वापर, इन तीनों युगों में श्रौत-पन्थ का आदर था, कलिकाल-प्रवृत्ति के साथ अश्रौत अथवा तर्कपन्थ का उदय हुआ है। वास्तव-सत्य के अवरोहण के विषय में सन्देह करके इन्द्रियज्ञान के बल पर तर्कपन्थ का उद्भव हुआ है—वह श्रुति-विरोधी है। कृष्णनाम वैकुण्ठवस्तु है, इसलिये वास्तव- वस्तु कृष्ण के साथ सम्पूर्ण रूप से अभिन्न है। नाम एवं नामी अभिन्न हैं, इस कारण वास्तव-वस्तु कृष्ण जिसप्रकार नित्य, शुद्ध, पूर्ण, मुक्त, चैतन्यरसविग्रह एवं अप्राकृत चिन्तामणि है, वैकुण्ठनाम भी उस प्रकार का है। कृष्ण से अलग प्राकृतनाम के साथ वे पृथक् होने पर भी स्वयं वैकुण्ठवस्तु हैं। इस नाम में तर्कपन्थी का कोई अधिकार नहीं है। एकमात्र नाम-भजन से ही स्थूल एवं सूक्ष्म औपाधिक धर्मद्वय निरस्त होता है। इसलिये तर्कपन्थ की प्रबलता के दिनों में अन्य प्रकार का कुण्ठधर्मसमूह तर्कपन्थ में बाधक है। केवल स्वयं नाम ही तर्कपन्थियों के लिये तर्कातीत नामी वस्तु है। वैकुण्ठ-वस्तु का नाम ही प्राकृत भोगचिन्ता-परक मननधर्म से जीवों का त्राण करने में समर्थ है, इसलिये वह सर्वमन्त्रसार है। जड़वस्तु का नाम, रूप, गुण, भाव एवं क्रिया,—तर्कपन्थाधीन है; वैकुण्ठ- वस्तु वैसी नहीं है। उस वैकुण्ठनाम के अप्राकृत नाम, रूप, गुण, परिकर-वैशिष्ट्य एवं लीला अद्वयज्ञान में स्थित है। मायावादिगण अक्षजज्ञान के कारण वस्तु के नाम, रूप और गुण में भेद स्थापनपूर्वक द्वैतविचार की हेयता में अधःपातित होते हैं। इसलिये उन सबके उपदेष्टा "सदैव सौम्येदमग्र आसीत्" एवं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" आदि महावाक्यों के द्वारा उन सबको प्राकृत विचारों से मुक्त करते हैं। श्रीनामाश्रय व्यतीत नाम अपराध के द्वारा कभी भी अक्षज भोगमय तर्कपन्थ से अवसर नहीं मिलता।

मन्माहात्म्य (नारदपंचरात्र में)—"त्रयो वेदाः षडंगानि छन्दांसि विविधाः सुराः। सर्वमष्टा-क्षरान्तःस्थं यच्चान्य-दपि वाङ्मयम्। सर्ववेदान्त-सारार्थः संसारार्णवतारणः॥" (कलिसन्तरोपनिषद में)—"हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥ इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्पषनाशनम्। नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते॥" मुण्डकोपनिषद्-भाष्ये श्रीमध्वधृत-

वचनम्—"द्वापरीयैर्जनैर्विष्णुः पंचरात्रेश्च केवलम्। कलौ तु नाममात्रेण पूज्यते भगवान् हरिः॥"

'कृष्णमन्त्र' एवं 'कृष्णनाम' के सम्बन्ध में श्रीजीव प्रभु भक्तिसन्दर्भ में (२८४ संख्या में)—"ननु भगवन्नामात्मका एव मन्त्राः; तत्र विशेषेण नमः—शब्दाद्यलंकृताः श्रीभगवता श्रीमदृषिभिश्चा-निहितशक्तिविशेषाः, श्रीभगवता सममात्मसम्बन्ध-विशेषप्रतिपादकाश्च। तत्र केवलानि श्रीभगवन्ना-मान्यपि निरपेक्षाण्येव परमपुरुषार्थ-फल-पर्यन्तदानसामर्थानि। ततो मन्त्रेषु नामोऽप्यधिक-सामर्थ्येऽलब्धे कथं दीक्षाद्यपेक्षा? उच्यते—यद्यपि स्वरूपतो नास्ति, तथापि प्रायः स्वभावतो देहादिसम्बन्धेन कदर्यशीलानां विक्षिप्तचित्तानां जनानां तत्संकोचीकरणाय "श्रीमदृषिप्रभृति-भिरत्रार्च्चनमार्गे क्वचित् क्वचित् काचित् काचिन्मर्यादा स्थापितास्ति॥"

'यदि कहो कि—मन्त्रसमूह भगवन्नामात्मक है, मन्त्र की विशेषता यही है कि, मन्त्र भगवान् के नाम के साथ नमः-शब्दादि के द्वारा भूषित है, अर्थात् नामानुगत्य-भावयुक्त है। मन्त्रसमूहों में भगवान् की इच्छा से श्रीनारदादि-ऋषियों के द्वारा शक्तिविशेष निहित है। मन्त्र समूह श्रीभगवान् के साथ मन्त्रोच्चारणकारी का सम्बन्ध-विशेष दर्शाते हैं। मन्त्र में जो भगवान् का अन्य भावापेक्षा-रहित नामसमूह विद्यमान है, वही परमपुरुषार्थ रूप फल तक दान करने में समर्थ है। तो फिर नाम की अपेक्षा जो मन्त्र अधिक सामर्थ्य प्राप्त करने में असमर्थ है, तो नाम कीर्तनकारी के लिये उस मन्त्र में दीक्षा की अपेक्षा क्यों? इसके उत्तर में कहते हैं,—यद्यपि नामकारी के लिये दीक्षा की अपेक्षा स्वरूपतया नहीं है, तथापि प्रायः ही स्वाभाविक भोगपरक देहादिसम्बन्ध रहने के कारण कदर्य-स्वभावसम्पन्न विक्षिप्त चित्तयुक्त मानवों के लिये उन-उन कदर्यस्वभाव एवं चित्तचांचल्य के संकोचन-हेतु श्रीनारदादि ऋषिवृन्द ने अर्चनमार्ग में कहीं कहीं मन्त्र में कुछ-कुछ मर्यादा की स्थापना की है।

बद्धजीवों की जड़ अहंकाररूप भोगनिवृत्ति के लिये मन्त्रसिद्धि की आवश्यकता है। नमः-शब्द में 'म' कार का अर्थ है अहंकार, 'न' कार का अर्थ—इसकी निवृत्ति। अर्थात् मन्त्रसिद्धि के फलस्वरूप जीवों को अप्राकृत अनुभूति की प्राप्ति। श्रीरूप-गोस्वामी प्रभु ने भी 'नामाष्टक' में—'अयि मुक्तकुलैरुपास्यमानं' कहकर हरिनाम का आवाहन किया है।

हरेर्नाम श्लोक—

एत बलि' एक श्लोक शिखाइल मोरे।
कण्ठे करि' एइ श्लोक करिह विचारे॥७५॥

७५। प० अनु०—इतना कहकर उन्होंने मुझे एक श्लोक सिखाया और कहा कि, कण्ठ में धारणपूर्वक इस श्लोक का विचार करना।

(वृहन्नारदीय में ३८।१२६ श्लोक)

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव
गतिरन्यथा॥७६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७६। कलियुग में हरिनाम के बिना और गति नहीं है; हरिनाम ही एकमात्र गति है।

अनुभाष्य

७६। (सत्ययुगे ध्यानरूपा गतिः), कलौ नास्त्येव (केवलं हरेर्नाम एव); (त्रेतायां यज्ञे यज्ञेश्वरयजनरूपा गतिः), कलौ नास्त्येव (केवलं हरेर्नाम एव); (द्वापरे अर्चनरूपा गतिः), कलौ नास्त्येव (केवलं हरेर्नाम एव गतिः)। (विशेषतया) कलौ अन्यथा गतिः नास्त्येव (अन्यसाधनानां निरर्थकत्वात्)।

नामग्रहण
का फल—

एइ आज्ञा पाञा नाम लइ अनुक्षण।
नाम लैते लैते मोर भ्रान्त हैल मन॥७७॥
धैर्य धरिते नारि, हैलाम उन्मत्त।
हासि, कान्दि, नाचि, गाइ, यैछे मदमत्त॥७८॥

तबे धैर्य धरि' मने करिलाम विचार।
कृष्णनामे ज्ञानाच्छन्न हइल आमार॥७९॥

७७-७९। प० अनु०—यह आज्ञा पाकर मैंने अनुक्षण नाम जपना आरम्भ किया। नाम जपते जपते मेरा मन भ्रान्त हो गया। मेरा धैर्य जवाब दे गया, मैं उन्मत्त हो उठा। मदमत्त जैसे मैं हँसने, रोने, नाचने और गाने लगा। फिर धैर्य धारणपूर्वक मैंने मन-ही-मन विचार किया। विचार में पाया कि कृष्णनाम के कारण मेरा ज्ञान आच्छन्न (छिपा हुआ) हुआ है।

नामग्रहण के फलस्वरूप निज
अवस्था के दर्शन से विस्मय—

पागल हइलाम् आमि, धैर्य नाहि मने।
एत चिन्ति' निवेदिलाम गुरुर चरणे॥८०॥
किवा मन्त्र दिला, गोसाञि, किवा तार बल।
जपिते जपिते मन्त्र करिल पागल॥८१॥
हासाय, नाचाय, मोरे कराय क्रन्दन।
एत शुनि' गुरु मोरे बलिला वचन॥८२॥

८०-८२। प० अनु०—मैं पागल हो गया, मेरा मन धैर्य धारण करने में असमर्थ रह गया। इतना सोचकर मैंने गुरु के चरणों में एक निवेदन किया। 'हे गोसाईं, आपने कैसा मन्त्र दे दिया, मन्त्रशक्ति भी कैसी है!' जपते-जपते मन्त्र ने मुझे पागल बना दिया। वह मुझे हँसाती है, नचाती है तथा रुलाती है। इतना सुनकर गुरु ने मुझसे कहा—

कृष्णनाम का धर्म—

कृष्णनाम-महामन्त्रेर एइ त' स्वभाव।
येइ जपे तार कृष्णे उपजये भाव॥८३॥

८३। प० अनु०—कृष्णनाम-महामन्त्र का यही तो स्वभाव है; जो इसका जप करता है, उसका कृष्ण के प्रति भाव उत्पन्न होता है।

अनुभाष्य

८३। श्रीगुरुदेव के नामकीर्तन करने पर वही श्रीनाम शिष्य के कर्णकुहर में प्रविष्ट होता है। श्रीगुरुदेव के अनुसरण में श्रुत श्रीनाम को श्रद्धा के साथ हृदय में स्थापना-पूर्वक जाप के द्वारा पूजा जाता है। श्रीनाम पूजित होने से वे स्वयं स्वतः कर्त्तृत्व धर्म का विचार करके नामजपकारी को कीर्तन-हेतु अधिकार प्रदान करते हैं। तभी वे (शिष्य) नाम गान करके सम्पूर्ण जगत् को शिष्य बनाने में समर्थ होते हैं। जगत् नामकीर्तन के शासन के प्रभाव से कृष्णनाम का जाप शुरु करता है। जाप करते-करते जापकारी में हँसी, क्रन्दन, नृत्य एवं कीर्तन आदि नामभजन की प्रणालियाँ परिस्फुट (विकसित) होती हैं। कोई-कोई मूढ़तावश "हरेकृष्ण" सोलह नाम—बत्तीस अक्षरों को महामन्त्र न जानकर उसे केवल जप्यमन्त्र-विचार से उस महामन्त्र का कीर्तन करने में कृत्रिमरूप से बाधा प्रदान करते हैं, इसलिये प्राप्तप्रेम व्यक्ति कृष्णनाम गाकर भक्तवृन्द के साथ कृष्णनाम का सम्यक् कीर्तन करते हैं; इस प्रकार कीर्तन के फलस्वरूप जगत् के सभी लोग कृष्णनाम के उपदेशों को प्राप्त होते हैं। नामश्रवण, नामकीर्तन के साथ-साथ ही नामों का स्मरण होता है। नाम एवं नामी अभिन्न हैं, इसलिये कृष्णनामजाप के प्रभाव से कृष्णवस्तु के प्रति सेवा-प्रवृत्ति का उदय होता है—वही 'भाव' नाम से प्रसिद्ध है। जातभाव जनसमुदाय अविद्या-बन्धनग्रस्त अनर्थयुक्त नहीं है। वे सब जातरति हैं, अतः चारों सामग्रियों के सम्मिलन में उदित रसों का आस्वादन करते हैं। भावों की घनीभूत अवस्था ही 'प्रेमा' है।

कृष्णनाम—महामन्त्र है। पांचरात्रिक मन्त्र-समूह—'मन्त्र'-नाम से ख्यात है। भगवन्नाम 'महामन्त्र' के रूप में प्रसिद्ध है।

चतुर्वर्ग एवं
कृष्णप्रेमा—

कृष्णविषयक प्रेमा—परम पुरुषार्थ।
यार आगे तृणतुल्य चारि पुरुषार्थ॥८४॥

८४। प० अनु०—कृष्णविषयक प्रेमा परम पुरुषार्थ है; जिसके आगे चारों पुरुषार्थ तृण-तुल्य है।

अमृतप्रवाह भाष्य

८४। 'धर्म', 'अर्थ', 'काम', 'मोक्ष'—ये चार प्रकार के पुरुषार्थ हैं। कृष्णप्रेम—पंचम पुरुषार्थ है। मोक्ष की प्रथमावस्था ब्रह्मानन्द आदियों की इसकी एक बूँद के साथ भी तुलना नहीं हो सकती। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—कृष्णनाम का 'फल' नहीं है। सभी शास्त्रों के अनुसार—कृष्णप्रेम ही कृष्ण-नाम का एकमात्र फल है।

अनुभाष्य

८४। कृष्णप्रेमा जीवों के लिये प्रयोजन-स्वरूप सर्व-श्रेष्ठ भाव है। जीवों के धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप प्रयोजनों के साथ पंचमपुरुषार्थ प्रेमा की तुलना करने से तारतम्यता में बुभुक्षु एवं मुमुक्षु के लिये लभ्यवस्तु को नश्वर और अकिंचित्कर के रूप में जाना जा सकता है। नश्वर उपाधिगत अस्मिता (अहंता) में, बुभुक्षा एवं मुमुक्षा-धर्म अवस्थित हैं। भगवत्प्रेमा—आत्मा के लिये नित्य, अविकृत धर्म है; इसलिये भुक्ति-मुक्तिरूप चतुर्वर्ग के प्रयोजन-विचारों का मूल्य प्रेमा की तुलना में कुछ भी नहीं हैं।

मोक्षादि-तिरस्कारी प्रेमा
ही पंचम पुरुषार्थ—

पंचम पुरुषार्थ—प्रेमानन्दामृतसिन्धु।
ब्रह्मादि आनन्द यार नहे एक बिन्दु॥८५॥

८५। प० अनु०—पंचम पुरुषार्थ प्रेमानन्दरूप अमृत-सिन्धु है, जिसके आगे ब्रह्मानन्द आदि एक बूँद भी नहीं है।

कृष्णनाम
का फल—

कृष्णनामेर फल—'प्रेमा', सर्वशास्त्रे कय।
भाग्ये सेइ प्रेमा तोमाय करिल उदय॥८६॥

८६। प० अनु०—सभी शास्त्र कहते हैं कि, कृष्णनाम का फल 'प्रेमा' (प्रेम) है। सौभाग्य से तुम में उस प्रेम का उदय हुआ है।

कृष्णप्रेम
का धर्म—

प्रेमार स्वभावे करे चित्त-तनु क्षोभ।
कृष्णेर चरण-प्राप्त्ये उपजाय लोभ॥८७॥
प्रेमार स्वभावे भक्त हासे, कान्दे, गाय।
उन्मत्त हइया नाचे, इति-उति धाय॥८८॥

८७-८८। प० अनु०—प्रेम के स्वभाव के कारण चित्त और तनु क्षुभित होते हैं एवं कृष्णचरण की प्राप्ति-हेतु लोभ उत्पन्न होता है। प्रेम के स्वभाव के कारण भक्त हँसते हैं, रोते हैं, गाते हैं, उन्मत्त होकर नृत्य करते हैं और इधर-उधर धावित होते हैं।

अनुभाष्य

८८। कृष्णप्रेमहीन अभक्तवृन्द जिस इन्द्रिय-चांचल्य का प्रदर्शन करके हास्य, क्रन्दन, नृत्य और गीत आदि में उन्मत्त होते हैं, वह उन सबके लिये अमंगल की प्राप्ति का ही परिचय मात्र है। कृत्रिम शारीरिक एवं इन्द्रिय-चांचल्य भजनशील (भजनपरायण) व्यक्ति के लिये सर्वतोभावेन परिहार्य (परित्याग करने योग्य) विषय है। आत्मा की स्वाभाविकी वृत्ति के उदय से जो भाव एवं प्रेमा उपस्थित होता है, उससे ही हास्य, क्रन्दन, गान, नृत्य एवं उत्कण्ठा आदि उदित होते हैं। ये सभी सेवोन्मुख व्यक्ति की अकृत्रिम चेष्टाएँ हैं। अजातप्रेम व्यक्ति के लिये भक्त की उच्चपदवी को ग्रहण करने की धृष्टता जगत् में अनर्थ अथवा जंजाल ले आती है।

श्रीजीवप्रभु प्रीतिसन्दर्भ की ६६ संख्या में—"भगवत् प्रीतिरूपा वृत्तिर्मायादिमयी न भवति; किन्तु स्वरूप-शक्त्यानन्दरूपा, यदानन्दपराधीनः श्रीभगवानपीति।" (*** ६९ संख्या में)—"तदेवं प्रीतेर्लक्षणं चित्तद्रवस्तस्य च रोमहर्षादिकम्। कथंचितजातेऽपि चित्तद्रवे रोमहर्षादिके वा न चेदाशयशुद्धिस्तदापि न भक्तेः सम्यगाविर्भाव इति ज्ञापितम्। आशयशुद्धिर्नाम चान्यतात्पर्य-परित्यागः प्रीति-तात्पर्यंच। अतएवानिमित्ता स्वाभाविकी चेति तद्विशेषणम्।"

भगवत्प्रेमरूपा वृत्ति कभी भी मायामयी नहीं है, परन्तु आनन्दरूपा स्वरूपशक्ति है; क्योंकि, श्रीभगवान्

भी आनन्द पराधीन (आनन्दमयता के अधीन) है। सो इस प्रकार की प्रीति का लक्षण ही चित्त की द्रवता है एवं इसके फलस्वरूप रोमहर्षादि का उद्गम होता है। कुछ परिणाम में चित्त की द्रवता अथवा रोमहर्षादि दिखाई देने पर भी आशय की शुद्धि न होने से भक्ति का सम्यक् आविर्भाव नहीं हुआ है, ऐसा समझना होगा। 'आशय की शुद्धि' अर्थ से अन्य तात्पर्यसमूह का परित्याग एवं केवल प्रीतितात्पर्य है। अतएव 'अहैतुकी' एवं स्वाभाविकी' इसका विशेषण है।

सात्त्विक एवं व्यभिचारी भाव—

स्वेद, कम्प, रोमांचाश्रु, गद्गद, वैवर्ण्य।
उन्माद, विषाद, धैर्य, गर्व, हर्ष, दैन्य॥८९॥
एत भावे प्रेमा भक्तगणेरे नाचाय।
कृष्णेर आनन्दामृतसागरे भासाय॥९०॥

८९-९०। प० अनु०—प्रेम भक्तवृन्द को स्वेद, कम्प, रोमांच, अश्रु, गद्गद्, वैवर्ण्य, उन्माद, विषाद, धैर्य, गर्व, हर्ष, दैन्य आदि भावों से नचाता है और कृष्ण के आनन्दरूप अमृतसागर में डुबो देता है।

शिष्य के प्रति गुरु
का कर्त्तव्योपदेश—

भाल हैल, पाइले तुमि परमपुरुषार्थ।
तोमार प्रेमेते आमि हैलाङ कृतार्थ॥९१॥
नाच, गाओ, भक्तसंगे कर संकीर्त्तन।
कृष्णनाम उपदेशि' तार' सर्वजन॥९२॥
एत बलि' एक श्लोक शिखाइल मोरे।
भागवतेर सार एइ बले बारे बारे॥९३॥

९१-९३। प० अनु०—अच्छा हुआ, तुम्हें परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हुई है। तुम्हारे प्रेम के कारण मैं कृतार्थ (धन्य) हो गया हूँ। नाचो, गाओ, भक्तवृन्द के साथ संकीर्तन करो और कृष्णनाम का उपदेश करते हुए सभी का उद्धार करो। इतना कहकर उन्होंने मुझे एक श्लोक सिखाया और वे बारम्बार कहने लगे कि, यह श्लोक भागवत का सार है।

अनुभाष्य

९२। जो लोग श्रीगुरुदेव की दृष्टि में अधिकार प्राप्त करते हैं, उन सबको ही श्रीगुरुदेव सजातीयाशय-स्निग्ध भजनपरायण हरिजनों के साथ नृत्य, गीत एवं संकीर्तन आदि में अधिकार प्रदान करते हैं। वे सब ही श्रीगुरुदेव के पदानुसरण में निज भजनज्ञान के बल पर जगत् के उद्धारकार्य में नियुक्त होते हैं। अनधिकारी जनसमुदाय निर्जन में कृष्णनाम का जाप करेंगे। उस प्रकार की उपासना में दूसरों के साथ संग आदि नहीं है। अधिकार लाभ करने से ही जनसंग अशुभफल प्रदान करने में असमर्थ हो जाता है; पक्षान्तर (दूसरे पक्ष) में, बहिर्मुख जनसमुदाय भी नाम की कृपा प्राप्त करने में समर्थ होता है। इस प्रसंग में—"नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः" अथवा "अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुंजतः। निर्बन्ध कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्य-मुच्यते।" आदि श्लोक आलोचना के योग्य हैं।

महाभागवत
की अवस्था—
(श्रीमद्भागवत में ११.२.४० श्लोक)

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥९४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९४। कृष्णसेवा-व्रती पुरुष विवश-चित्त होकर निज प्रियतम श्रीकृष्ण के नामकीर्तन में जातानुरागवश श्लथ-हृदय (नरमदिल के) होते हैं; वे उन्मत्त की भाँति लोक-बाह्य अर्थात् अपेक्षा-रहित होकर कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं, कभी शोर मचाते हैं, कभी गाते हैं, नृत्य करते हैं।

अनुभाष्य

९४। श्रीनारद के समक्ष वसुदेव के भगवद्धर्म सुनने की इच्छा का प्रकाशन करने पर श्रीनारद के द्वारा ऋषभपुत्र नवयोगेन्द्र एवं विदेहराज निमि के उपाख्यान-वर्णन के

प्रसंग में नवयोगेन्द्रों में अन्यतम 'कवि' ने निमिराज से कहा,—

एवंव्रतः (श्रवणकीर्तनादिरूपं सेवनव्रतं यस्य सः) स्वप्रियनामकीर्त्त्या (स्वस्य प्रियस्य भगवतः नाम-कीर्तनादिना) जातानुरागः (जातः अनुरागः यस्य सः जातरतिः, अतएव) द्रुतचित्त (उत्कण्ठित हृदयः) उन्मादवत् लोक-बाह्यः (लोकानां बाह्यः हास्यनिन्दास्तुत्यादिषु अपेक्षारहितः सन्) उच्चैः हसति अथो रोदिति, रौति (क्रोशति), गायति, नृत्यति च।

गुरु आज्ञा से भजन
में दृढ़ चेष्टा—

एइ ताँर वाक्ये आमि दृढ़ विश्वास धरि'।
निरन्तर कृष्णनाम संकीर्तन करि॥९५॥

९५। प० अनु—मैं उनके इस वचन में दृढ़ विश्वास स्थापनपूर्वक निरन्तर कृष्णनाम संकीर्तन करता हूँ।

भजन के फलस्वरूप स्वतः
कर्त्तृत्वमय श्रीनाम-प्रभु की कृपा—

सेइ कृष्णनाम कभु गाओयाय, नाचाय।
गाहि, नाचि नाहि आमि आपन-इच्छाय॥९६॥

९६। प० अनु॰—वही कृष्णनाम कभी मुझे गान कराता है तो कभी नृत्य कराता है। अपनी इच्छा से न तो गाता हूँ, न ही नृत्य करता हूँ।

अनुभाष्य

९५-९६। श्रीगुरुदेव के वचनों में विश्वास करने में असमर्थ होकर जो सब व्यक्ति निज अधिकार का विपर्यय करते हैं, वे सब कृष्ण नाम-संकीर्तन में अधिकार प्राप्त नहीं कर पाते। "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥" इस श्रुति-वाक्य का समर्थन करते हुए श्रीगौरसुन्दर ने कृष्णसंकीर्तन आरम्भ किया था। उसमें आनुगत्य धर्म की रीति के अनुसार गुरुदेव के आदेश का उल्लघन न करके निरन्तर नाम संकीर्तन बन्द नहीं किया अर्थात् गुरुदेव के आदेश को पालन करते हुए निरन्तर नाम संकीर्तन किया। वैसे कृष्णनामप्रभु के कीर्तन ने स्वयं इच्छा-शक्ति का परिचालन करके श्रीगौरसुन्दर को नृत्य करने व गाने के लिये प्ररोचित किया था। श्रीगौरसुन्दर ने श्रीनाम को जड़पदार्थ समझकर अनुग्रह-पूर्वक कीर्तन नहीं किया। जो लोग इन्द्रियसमूह की चंचलतावश कृष्णनाम को उन सबकी क्रीड़ा-पुतली समझकर श्रीनामसेवा के बदले नाम के प्रभु बनकर कर्त्तृत्त्व दिखाना चाहते हैं, वे सब भजन के बदले कर्मफलभोगवश पित्त को बढ़ाकर केवल शारीरिक अस्वास्थ्य को बुलाते हैं।

मैं हिताहित-विवेकहीन मूर्ख हूँ; वेदान्त के शुद्ध अर्थ का अन्वेषण करते समय मुझमें एक आशंका थी कि, कहीं श्रीशंकराचार्य के द्वारा कथित मायावादरूप कुतर्क आकर मेरी नैसर्गिक भजनवृत्ति को नष्ट न कर दें—इस आशंका के कारण मेरा शांकर-व्याख्या-युक्त वेदान्त में अधिकार नहीं है, ऐसा जानकर कृष्णमन्त्र जाप के द्वारा ही मेरा सांसारिक अनर्थ दूर हट गया और मुक्तकुलों के उपास्य कृष्णनाम को ग्रहण करता हूँ तथा इसके फलस्वरूप कृष्णपादपद्म की प्राप्ति होती है। विवादमय कलिकाल में नामग्रहण व्यतीत और कोई धर्म नहीं है। श्रीगुरुदेव से यह सब आज्ञा प्राप्त करके नामग्रहण के कारण मैं उन्मत्तप्राय हो गया था। पश्चात् फिर उनसे पूछा तो जाना कि, चतुर्वर्ग-फलाकांक्षियों की क्षुद्र आशा की अपेक्षा परम उपादेय परम पुरुषार्थ-रूप प्रेमाधिकार की प्राप्ति होने से जीवों का जो कल्याण होता है, इसकी तुलना नहीं है। जात-प्रेम व्यक्ति स्वभाव के कारण लोकलज्जा की उपेक्षा करते हुए ऊँचे स्वर में हास्य, क्रन्दन, गान एवं कीर्तन-नर्तन आदि के साथ कृष्णकीर्तन करते हैं, मैंने इसे ही 'भागवतजीवन' के रूप में जाना है। कृत्रिमभाव से कपटताके आश्रय में मैंने कोई कार्य नहीं किया। गुरुदेव के वचनों में दृढ़-श्रद्धाविशिष्ट होकर कृष्णकीर्तन करता रहता हूँ। श्रीनाम ने ही मुझे कौपीनधारी वैदान्तिकवृन्द के गाम्भीर्य के प्रतिपक्ष में गायक एवं नर्तक बना दिया है। इसमें मेरी

अपनी कार्यकारकता अर्थात् स्वतः कर्त्तृत्त्व या प्रेरणा कम ही है—यह सम्पूर्णतया श्रीनामप्रभु की कृपा है।

ब्रह्मानन्द एवं कृष्णप्रेमानन्द
में पार्थक्य—

कृष्णनामे ये आनन्दसिन्धु-आस्वादन।
ब्रह्मानन्द तार आगे खातोदक-सम॥९७॥

९७। प॰ अनु॰—कृष्णनाम में जिस आनन्दसिन्धु का आस्वादन होता है, ब्रह्मानन्द उसके आगे खात के अल्प जलस्वरूप है।

अमृतप्रवाह भाष्य

९७। खातोदक,—खात का अल्प जल।

अनुभाष्य

९७। आदि, षष्ठ पः ४३-४४ संख्या द्रष्टव्य है।

सिन्धु एवं गोष्पद के साथ तुलना—
(हरिभक्ति-सुधोदय में १४अ ३६श्लोक)

त्वत् साक्षात्करणाह्लाद-विशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो॥९८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९८। हे जगद्गुरो, मैं आपके स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त करके आह्लादरूप-विशुद्ध समुद्र में अवस्थान कर रहा हूँ। बाकी सब सुख मुझे गोष्पदस्वरूप लग रहे हैं; ब्रह्मलय में जीवों का जो सुख है, वह भी गोष्पदस्वरूप है। गोष्पद में अर्थात् गायों के पदचिह्न से जो गड्ढा होता है, उसमें जो जल रहता है, वह समुद्र की तुलना में अतिक्षुद्र है।

अनुभाष्य

९८। हे जगद्गुरो, त्वत्साक्षात्करणाह्लाद-विशुद्धाब्धिस्थितस्य (त्वत् तव साक्षात्करणेन दर्शनजनितेन यदाह्लादः स एव विशुद्धः मलरहितः अब्धिः समुद्रः तस्मिन् स्थितस्य) मे (मम) ब्राह्माणि (ब्रह्मानुभवजनितानि) सुखानि अपि गोष्पदायन्ते (गोष्पदविलस्थ-जलवत् प्रतीयन्ते)।

संन्यासियों की चित्तवृत्ति का
क्रमशः परिवर्तन एवं प्रश्न—

प्रभुर मिष्टवाक्य शुनि' संन्यासीर गण।
चित्त फिरि' गेल, कहे मधुर वचन॥९९॥

९९। प॰ अनु॰—प्रभु के मीठे वचनों को सुनकर संन्यासियों का मन परिवर्तित हो गया, वे सब मधुर वचनों में कहने लगे।

तथापि भक्ति में सामान्य किन्तु मायावाद में दृढ़श्रद्धा—

ये किछु कहिले तुमि, सर्व सत्य हय।
कृष्णप्रेमा सेइ पाय, यार भाग्योदय॥१००॥
कृष्ण भक्ति कर—इहाय सबार सन्तोष।
वेदान्त ना शुन केने, तार किवा दोष॥१०१॥

१००-१०१। प॰ अनु॰—आपने जो कुछ भी कहा है, सब सच है। जिसका भाग्योदय होता है, उसे ही कृष्ण प्रेम की प्राप्ति होती है। कृष्ण में भक्ति करते हो— इसमें सभी का सन्तोष है। फिर भी वेदान्त का श्रवण क्यों नहीं करते, इसमें क्या दोष है?

अनुभाष्य

१०१। मायावादिगण श्रीशंकरपाद के शारीरक-भाष्य के द्वारा उद्दिष्ट शास्त्र को ही 'वेदान्त' कहते हैं; अर्थात् वेदान्त कहने से शांकर मतावलम्बिगण उन सबके आचार्य के द्वारा कृत केवलाद्वैतमतमूलक भाष्यतात्पर्य-विशिष्ट उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र को ही लक्ष्य करते हैं। सदानन्द-योगीन्द्र-कृत 'वेदान्तसार' में—"वेदान्तो नाम उपनिषत्-प्रमाणम्, तदुपकारीणि शारीरक सूत्रादीनि च"। वस्तुतः 'वेदान्त' शब्द से 'केवलाद्वैतवाद' को समझा नहीं जाता। श्रीवैष्णवाचार्यचतुष्टय सभी वेदान्तचार्य हैं, परन्तु वे शंकर-मतावलम्बि मायावादी नहीं हैं। भेद-दर्शन-रहित होकर केवलाद्वैत-विचार में जो अहंग्रहोपासना है, उसमें मायावाद-पन्थिगण शुद्धाद्वैत, शुद्धद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत एवं अचिन्त्य-भेदाभेद को स्वीकार नहीं करते; परन्तु केवलाद्वैत विचार ही जो निर्दोष वेदान्तमत है, इसमें ही विश्वास करते हैं। कृष्ण के प्रति प्राकृत देह

एवं मन के द्वारा जिस अनित्यसेवा का अनुष्ठान होता है, इसमें मायावादिगण सन्तुष्ट होते हैं, अर्थात् वे सब कृष्ण-भक्ति को कर्मानुष्ठान-विशेष के रूप में जानते हैं, इसलिये वह भी 'अभक्ति' है, ऐसा जानकर इन सबमें सन्तुष्टि आती है।

प्रभु की उक्ति—

एत शुनि' हासि' प्रभु बलिला वचन।
दुःख ना मानिह यदि, करि निवेदन॥१०२॥

१०२। प॰ अनु॰—इतना सुनकर प्रभु ने हँसकर कहा,—'यदि आप दुःख न मानें तो निवेदन करूँ'।

मायावादी संन्यासियों की नम्रता—

इहा शुनि' बले सर्व संन्यासीर गण।
तोमाके देखिये यैछे साक्षात् नारायण॥१०३॥
तोमार वचन शुनि' जुड़ाय श्रवण।
तोमार माधुरी देखि' जुड़ाय नयन॥१०४॥
तोमार प्रभावे सबार आनन्दित मन।
कभु असंगत नहे तोमार वचन॥१०५॥

१०३-१०५। प॰ अनु॰—यह सुनकर सभी संन्यासी वृन्द ने कहा,—'आपको देखने से लगता है आप साक्षात् नारायण हैं। आपके वचनों को सुनकर श्रवणेन्द्रिय की तृप्ति होती है। आपकी माधुरी को देखकर नयन सन्तुष्ट होते हैं। आपके प्रभाव से सबका मन आनन्दित है। आपका वचन कभी भी असंगत नहीं है।'

वेदान्त के विषय में प्रभु का
मत एवं इसकी व्याख्या—

प्रभु कहे, वेदान्त-सूत्र—ईश्वर-वचन।
व्यासरूपे कैल ताहा श्रीनारायण॥१०६॥

१०६। प॰ अनु॰—प्रभु ने कहा, वेदान्त-सूत्र ईश्वर का वचन है। व्यास के रूप में श्रीनारायण ने ही इसका प्रवर्तन किया है।

अनुभाष्य

१०६। सूत्र—"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवत् विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यचं सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥" (स्कन्द एवं वायुपुराण में)। वेदान्त- सूत्र—(१) ब्रह्मसूत्र, (२) शारीरक, (३) व्यास-सूत्र, (४) वादरायणसूत्र, (५) उत्तर-मीमांसा एवं (६) वेदान्तदर्शन आदि अनेक नामों से परिचित चतुरध्यायी (चार अध्याययुक्त), षोड़शपाद-विशिष्ट सूत्र के आकार में ग्रथित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक पाद में कुछेक अधिकरण हैं। प्रत्येक अधिकरण में पंचावयव-न्याय वर्तमान है,—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन अन्य भाषा में—"एको विषयसन्देहः पूर्वापक्षावभाषकः। श्लोकोऽपरस्तु सिद्धान्तवादी संगतयः स्फुटाः॥"

विभिन्न भाष्यों के मतानुसार,—इसके १६२-२२३ तक अधिकरण विभाग लक्षित होते हैं; सूत्र-संख्या—५२०-५६० तक।

'वेदान्त'-शब्द से कोषकार 'हेमचन्द्र' कहते हैं—ब्राह्मण के साथ उपनिषदों के अंश ही 'वेदान्त' हैं—वेद के अवशिष्ट अथवा वेदों का शेष-भाग अर्थात् वेदसमूहों का अन्त। वेद का चरम उद्देश्य जिस शास्त्र में प्रदर्शित हुआ है, वह भी 'वेदान्त' है। उपनिषद समूह प्रमाण रूप में जिस शास्त्र में व्यवहृत हुये हैं एवं तदुपकारक जो सूत्रादि हैं, वे भी 'वेदान्त' हैं। 'वेदान्तसूत्र' को प्रस्थानत्रय का अन्यतम 'न्याय-प्रस्थान' कहा जाता है। उपनिषदत् समूह—'श्रुति-प्रस्थान' हैं, एवं गीता-भारत-पुराणादि—'स्मृति-प्रस्थान' हैं।

श्रीनारायण के निःश्वास से वेदसमूह प्रपंच में आये हैं। श्रीनारायण-कथित वेदविस्तार-शास्त्र को ही 'सात्वत-पंचरात्र कहते हैं। श्रीनारायण के आवेशावतार श्रीव्यास अथवा किसी-किसी के मतानुसार (श: भा: ३।३।३२) 'अपान्तरतमा' ऋषि वेदान्तसूत्र के गुंफन-कारक हैं। पंचरात्र एवं वेदान्त में एक ही अभिमत प्रकाशित है,—यही श्रीगौरसुन्दर की उक्ति है। श्रीव्यास के द्वारा रचित होने के कारण इसे भी श्रीनारायण के वचन के रूप में ही जानना होगा।

श्रीव्यासदेव ने सूत्रों की रचना के समय और भी सात ऋषियों के द्वारा प्रणीत वेदान्त-मतों की समालोचना

की है। यथा—आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि एवं वादरी। इसके अतिरिक्त पाराशरी और कर्मन्दीभिक्षुसूत्रद्वय भी श्रीव्यास के द्वारा रचित सूत्र के पूर्ववर्त्ती ग्रन्थ हैं।

वेदान्तदर्शन के प्रथम दोनों अध्यायों में 'सम्बन्ध'-ज्ञान, तृतीय अध्याय में 'अभिधेय' साधन-भक्ति, एवं चतुर्थ अध्याय में 'प्रयोजन-फल' भगवत् प्रेम की कथा ही वर्णित है। सूत्रकार व्यास के द्वारा रचित अकृत्रिम वेदान्तभाष्य—श्रीमद्भागवत है। इसके अतिरिक्त श्रीमद्-भागवत के न्यूनाधिक अनुगत चारों वैष्णवाचार्य के द्वारा प्रणीत भाष्य एवं उन सबके सम्प्रदायों में उनके अधस्तनगणों के द्वारा रचित अनेक टीकाओं में वेदान्त की भगवद्भजन-तत्परता ही कथित है। विष्णु-भक्ति-रहित निर्विशिष्ट-विचारपरक सम्प्रदाय में भी इस वेदान्त-सूत्र के प्रति आदर परिलक्षित होता है। इस वेदान्त के मायिक-विचार में जो सब भाष्यादि एवं तदुनगत टीका और सन्दर्भादि मिलते हैं, वे सब विष्णुसेवा-रहित वास्तव-सत्य से भेद-विचारयुक्त हैं।

(१) ईश्वर-वाक्य—चारों
दोषों से मुक्त—

भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव।
ईश्वरेर वाक्ये नाहि दोष एइ सब॥१०७॥

१०७। प० अनु०—ईश्वर के वचनों में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव आदि सब दोष नहीं हैं।

अनुभाष्य

१०७। आदि, २य प:, ८६ संख्या द्रष्टव्य है।

(२) अभिधा (मुख्या)—वृत्ति में
सविशेष-तत्त्व भगवान् ही वेदान्त-वेद्य—

उपनिषत्-सहित सूत्र कहे येइ तत्त्व।
मुख्यवृत्त्ये सेइ अर्थ परम महत्त्व॥१०८॥

१०८। प० अनु०—उपनिषदों के साथ सूत्र-समूह जिस तत्त्व का वर्णन करते हैं, अभिधा-वृत्ति (मुख्यवृत्ति) में उस अर्थ का परम महत्त्व है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०८। उपनिषद्—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक एवं श्वेताश्वतर—ये एकादश वेद-शिरोमणि उपनिषत्।

सूत्र,—ब्रह्मसूत्र, चार अध्याय १६ पाद। शास्त्रों में ये दोनों ही प्रधान हैं।

गौणवृत्ति में रचित असुरमोहन
शांकर-भाष्य के श्रवण से सर्वनाश—

गौण-वृत्त्ये येवा भाष्य करिल आचार्य।
ताहार श्रवणे नाश याय सर्व कार्य॥१०९॥
ताँहार नाहिक दोष, ईश्वर-आज्ञा पात्रा।
गौणार्थ करिल, मुख्य अर्थ आच्छादिया॥११०॥

१०९-११०। प० अनु०—आचार्य ने गौणवृत्ति में जिस भाष्य की रचना की है, उसे सुनने से सभी कार्यों का विनाश हो जाता है। इसमें उनका दोष नहीं है, ईश्वर से आज्ञा प्राप्त होकर उन्होंने मुख्य अर्थ को आच्छादित करके इसका गौणार्थ किया है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०९-११०। ये प्रधानशास्त्र, मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधा वृत्ति के द्वारा जिस तत्त्व की शिक्षा देते हैं। वही परम महत् है। श्रीशंकरचार्य ने उन शास्त्रों की मुख्यवृत्ति का परित्याग करके गौणवृत्ति अर्थात् लक्षणावृत्ति के द्वारा केवलाद्वैतवाद-सिद्धान्त की स्थापना करते हुए जो भाष्य लिखा है, उसे सुनने से पारमार्थिक समस्त कार्यों का विनाश हो जाता है। यदि कहो कि, साक्षात् शिवावतार शंकरस्वामी ने इस प्रकार का अवैध कार्य क्यों किया? तो सुनो, ईश्वर की आज्ञा से उस कार्य में प्रवृत्त होने के कारण इसमें उनका दोष नहीं है; जैसे पद्मपुराण में श्रीमहादेव-वचन,—"मायावाद-मसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्ध-मुत्त्यते। मयैव कल्पितं देवि कलौ ब्राह्मण-रूपिणा॥ ब्रह्मणश्चापरं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया। सर्वस्वं जगतोऽ-प्यस्य मोहनार्थं कलौ युगे॥ वेदान्त तु महाशास्त्रे मायावाद-मवैदिकम्। मयैव वक्ष्यते देवि जगतां नाशकारणात्॥";

शिवपुराण में भगवद्-वचन— "द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु। स्वागमैः कल्पितैस्त्वंच जनान् मद्विमुखान् कुरु॥"

अनुभाष्य

१०८-१०९। मुक्तिकोपनिषद में (३०-३९)— "ईश-केनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः। ऐतरेय श्च छान्दोग्यं वृहदारण्यकं तथा॥ ब्रह्मकैवल्यजावालश्वेताश्वो हंस आरुणिः। गर्भो नारायणो हंसो विन्दुर्नादशिरः शिखा॥ मैत्रायणी कौषीतकी वृहज्जावालतापनी। कालाग्निरुद्र मैत्रेयी सुवालक्षुरिमन्त्रिका॥ सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं बज्रसूचिकम्। तेजो नादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम्॥ परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूड़ा निर्वाणमण्डलम्। दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाह्वयम्॥ रहस्यं रामतपनं वासुदेवंच मुद्गलम्। शाण्डिल्यं पैंगलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा॥ तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजक्षमालिका। अव्यैकाक्तैक्षरं (अव्यक्तैकाक्षर) पूर्णा सूर्याक्ष अध्यात्मकुण्ड़िका॥ सावित्र्यात्मा पाशुपतं परब्रह्माऽवधूतम्। त्रिपुरातपनं देवी त्रिपुरा कठभावना। हृदयं कुण्डलीभस्म-रुद्राक्षगणदर्शनम्॥ तारसार महावाक्य-पंचब्रह्माग्नि-होत्रकम्। गोपाल-तपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम्॥ शाठ्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम्। कलिजावालि-सौभाग्य-रहस्योक्तश्च मुक्तिका॥" ये १०८ उपनिषद्।

'मुख्यवृत्ति' शब्द की अभिधा-वृत्ति। जिस शक्ति के द्वारा कोष-व्याकरणादि-प्रसिद्ध अर्थ का बोध होता है, वह 'अभिधा' है। 'गौणवृत्ति' शब्द की लक्षणा-वृत्ति। जिस शक्ति के द्वारा प्रयोजनवश अथवा बहुप्रयोगवश वास्तव अर्थ-सम्बन्धी अन्यार्थ का बोध होता है, वह 'लक्षणा' है।

भाष्य,—जैसे, "सूत्रस्थं पदमादाय वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः। स्व-पदानि च वर्णयन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।"

उपनिषत् एवं सूत्र के द्वारा प्रतिपाद्य सविशेष-तत्त्व ही श्रेष्ठ है—उसे मुख्य (अभिधा) वृत्ति का अवलम्बन करके प्रदर्शित किया गया है। निर्विशेषवादी गौणी (लक्षणा) वृत्ति का अवलम्बन करके जिस तत्त्वाभास का प्रदर्शन करते हैं, वह 'तत्त्ववाद' के बदले 'मायावाद' नाम से प्रसिद्ध है। श्रीविष्णुस्वामी का शुद्धाद्वैत-विचार केवलाद्वैत-विचारों के द्वारा बाधा प्राप्त होने के पश्चात् ही 'विशिष्टाद्वैतवाद' एवं श्रीमध्वाचार्य के 'तत्त्ववाद' ने श्रौतपथ के अवलम्बन में अतात्त्विकों के तर्कपन्थामूलक सिद्धान्तों का खंडन किया है। श्रीमहाप्रभु ने अभिधा-वृत्ति-अवलम्बनपूर्वक वेदान्तार्थ का आदर किया है। श्रीशंकराचार्य ने लक्षणा-वृत्ति-अवलम्बन-पूर्वक जो वेदान्तार्थ निजभाष्य में लिखा है, उसके द्वारा सर्वनाश साधित होता है। जैसे पद्मपुराण में—"शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम्। येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि॥ अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयँल्लोकगर्हितम्। कर्मस्वरूप-त्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते॥ सर्वकर्मपरिभ्रंशान्नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते। परात्म-जीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते॥"

अन्त्य २य पः ९४-९९ संख्या द्रष्टव्य है।

(३) चिद्विलास-वैभवमय
भगवान् ही श्रुति-प्रतिपाद्य—

'ब्रह्म'-शब्दे मुख्य अर्थे कहे 'भगवान्'।
चिदैश्वर्य-परिपूर्ण, अनूर्द्ध-समान॥१११॥

१११। प० अनु०—'ब्रह्म' शब्द के मुख्य अर्थ में चिद्‌ऐश्वर्य से परिपूर्ण, अनूर्द्ध-समान (उनके समान कोई नहीं, उनसे बड़ा भी कोई नहीं) भगवान् को समझाया जाता है।

(४) वे सच्चिदानन्दमय आकार
विशिष्ट हैं, निराकार नहीं—

ताँहार विभूति, देह,—सब चिदाकार।
चिद्विभूति आच्छादिया कहे 'निराकार'॥११२॥

११२। प० अनु०—उनकी विभूति, देह—सबकुछ चिदाकार है। चिद्विभूति को आच्छादित करके उन्हें 'निराकार' कहते हैं।

तत्त्ववस्तु को निराकार एवं विष्णुशरीर आदि
को मायिक-विकार कहना ही 'मायावाद'—

चिदानन्द-देह, ताँर स्थान, परिवार।
ताँरे कहे—प्राकृत-सत्त्वेर विकार॥११३॥

११३। प॰ अनु॰—उनका परिवार, देह, स्थान सब चिदानन्दमय है। वे इन्हें प्राकृत-सत्त्व का विकार कहते हैं।

अनुभाष्य

१११-११३। मध्य, २५श प:३३-३४ संख्या द्रष्टव्य है।

११३। सदानन्दयोगीन्द्र के द्वारा रचित 'वेदान्तसार' में—"वस्तु सच्चिदानन्दभद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादि-सकल-जड़समूहः अवस्तु। अज्ञानन्तु सद्सद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोध भावरूपं यत्किंचिदिति वदन्ति। इदमज्ञानं समष्टि-व्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधानं; एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादि-गुणकं सदसदअव्यक्तमन्तर्य्यामिजगत्कारणम् ईश्वर इति च व्यपदिश्यते। सकलाज्ञानावभास-कत्वादस्य सर्वज्ञत्वम्।"

शांकर-वैदान्तिक सदानन्द ने संक्षेप में 'वेदान्तसार' ग्रन्थ में शंकरमत-तात्पर्य लिखा है। यह अब शांकर-सम्प्रदाय का अतिमान्य प्रामाणिक आधार है। "सच्चिदानन्द अद्वयवस्तु ही ब्रह्म है; अज्ञानादि सकलजड़समूह ही अवस्तु है। 'अज्ञान' मतलब सत् एवं असत् से अलग, अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधि-भावरूप जो कुछ भी है, इन्हें समझाया जाता है। यह अज्ञान समष्टि एवं व्यष्टि-भेद में एक और अनेकरूप में व्यवहृत होता है। यह समष्टि उत्कृष्ट उपाधि-विशिष्ट होने पर 'विशुद्धसत्त्वप्रधान' नाम प्राप्त करते हैं। चैतन्य में विशुद्धसत्त्वप्रधान (समष्टि अज्ञान) प्रतिफलित होने पर सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सदसदव्यक्त, जीवसमूह के अन्तर्यामी, जगत् के कारण 'ईश्वर'-संज्ञा प्राप्त करते हैं। 'ईश्वर'—समस्त अज्ञानों के प्रकाशक हैं, इसलिये 'सर्वज्ञ' हैं। इन सबके मतानुसार, ईश्वरत्व प्राकृत सत्त्व के अज्ञान-जनित विकारमात्र है। जीव—मलिनसत्त्व-प्रधान एवं व्यष्टि-उपाधिविशिष्ट है।"

आदेश-पालक शंकर का दोष न रहने पर भी
उनके भाष्य के श्रवण से जीवों का सर्वनाश—

ताँर दोष नाहि, तेंहो आज्ञाकारी दास।
आर येइ शुने, तार हय सर्वनाश॥११४॥

११४। प॰ अनु॰—इसमें उनका दोष नहीं है, वे आज्ञापालनकारी दास (भृत्य) हैं। परन्तु जो भी इसे सुनता है, उसका सर्वनाश हो जाता है।

अनुभाष्य

११४। मध्य, ६ष्ठ पः १६९ संख्या द्रष्टव्य है।

मायाधीश विष्णु को
मायिक-ज्ञान ही पाषंडता—

प्राकृत करिया माने विष्णु-कलेवर।
विष्णुनिन्दा आर नाहि इहार उपर॥११५॥

११५। प॰ अनु॰—वे विष्णु-कलेवर (विष्णु-विग्रह) को प्राकृत मानते हैं। इससे अधिक विष्णु की निन्दा और नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१११-११५। विषय का पाठ करने मात्र से जो अर्थ मुख्यरूप से अर्थात् स्पष्टरूप से प्रकाशित होता है, उसे 'मुख्यार्थ' कहते हैं। "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" (५।१)— इति वृहद्‌ारण्यक् में; "विचित्र शक्तिः पुरुषः पुराणः," "स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपंचः परिवर्त्ततेऽयम् धर्मावहं पापनुदं भगेशं" (६।६), "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (३।८), "पतिं पतीनां परमं परस्तात्" (६।७), "महान् प्रभुर्वैपुरुषः" (३।१२), "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" (६।८), आदि श्वेताश्वतर में; "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इति ऋक्वेद में; "स ईक्षांचक्रे" (६।३), इति प्रश्न में; "स ऐक्षतः (१।१।१), "स इमाँल्लोकानसृजत"

(१।१।२) इति ऐतरेय में; "तद्ऐषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्वभूव" (३।२) इति तलवकार में;—इस प्रकार अनेक अनेक वेदवचनों के पाठ करने मात्र से षड़ैश्वर्यपरिपूर्ण अनूर्द्ध, सम-सहित, एक परतत्त्व भगवान् ही प्रतीत होते हैं। फिर जो "अपाणिपाद:" (श्वे ३।१९) आदि आकार-निषेधवचन दिखाई देता है, इसके द्वारा उन भगवान् का आकार-चिदकार है, उनका शरीर एवं उनकी विभूति—चिद्विभूति है, केवल यह समझना होगा। आचार्य-प्रमुख मायावादियों ने उनकी चिद्विभूति को आच्छादित करके उन्हें सत्त्वगुण के विकार-रूप 'निराकार' के रूप में स्थापित किया है। जब वे, उनका स्थान, उनका परिवार, सबकुछ प्रकृति के अतीत चिदानन्दस्वरूप है, तब उन्हें किस प्रकार से प्राकृतसत्त्व का विकार कहा जा सकता है? वस्तुत:, अप्राकृत चिद्- विभूतिमय उनका आकार भी सत्य है। इस प्रकार निराकाररूप-वर्णन में आचार्य का दोष क्या है? क्योंकि, वे तो आज्ञा पालनकारी भृत्य हैं, जैसे नारद-पंचरात्र में—"मांच गोपय येन स्यात् सृष्टि-रेषोत्तरोत्तरा।" परन्तु जब कोई और व्यक्ति इस प्रकार के व्याख्यान का श्रवण करता है, तब उसका सर्वनाश हो जाता है। विष्णुविग्रह को 'प्राकृत' मानने के समान विष्णुनिन्दा और नहीं हो सकती।

अनुभाष्य

११५। सविशेष तत्त्ववस्तु ही विष्णु है। विष्णु की प्रकृति ही प्राकृत जड़-जगत् का मूल हैं। निर्विशेष-ब्रह्म की प्रकृति अथवा मायाशक्ति के विवर्त्तवाद-विचार में वास्तव अस्तित्व के सन्धान नहीं मिलते। विष्णुमाया के सम्बन्ध में शास्त्रों में अनेक वर्णन है। विष्णु मायाप्रसूत देवविशेष नहीं है। जो लोग ऐसा मानते हैं, उन सबकी विष्णुधारणा में विपर्यय का उदय हुआ है। प्राकृतदेवपर्याय में कभी भी विष्णु की गिनती नहीं हो सकती। जो लोग इस प्रकार से भ्रान्त होते हैं, वे सब ही विष्णु को प्राकृत देवता के रूप में जानते हैं। श्रीभगवान् ने गीता में उन सबके भव-बन्धन-मोचन के लिये कहा है—"देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" विष्णु—वैकुण्ठ वस्तु है, उन्हें प्रकृतिजात देवता समझने से वस्तुनिर्देश के सम्बन्ध में दौरात्म्य का प्रकाशन होता है, वही निन्दा है। विष्णु अधोक्षज वस्तु है—वे प्राकृत वस्तु की भाँति जड़ेन्द्रिय- ग्राह्य नहीं है। उनके देह-देहि में अद्वयज्ञान अवस्थित है। प्राकृत वस्तु-समूह में देह-देहि भेद वर्त्तमान है। प्राकृत-वस्तु-समूह—भोग की सामग्री है, किन्तु विष्णु नित्यकाल भोक्ता है। 'भोक्ता' को 'भोग्य' समझने से अपराध होता है एवं जीवों के नित्य सेव्य-वस्तु को जीवसाम्य में सेवक-ज्ञान से परिचय देने से उनकी निन्दा ही होती है।

आदि, ७म प:११२-११३ संख्या के अनुभाष्य एवं मध्य, २५श प: ३५-३९ संख्या द्रष्टव्य है।

तत्त्व-वस्तु—अग्निसदृश, जीव—अग्निकण—

ईश्वरेर तत्त्व—येन ज्वलित ज्वलन।
जीवेर स्वरूप यैछे स्फुलिंगेर कण॥११६॥

११६। प० अनु०—ईश्वरतत्त्व ज्वलित ज्वलन-स्वरूप है। जीवों का स्वरूप स्फुलिंग (चिनगारी) के कण जैसा है।

जीव—शक्ति, कृष्ण—शक्तिमत् तत्त्व—

जीवतत्त्व—शक्ति, कृष्णतत्त्व—शक्तिमान्।
गीता-विष्णुपुराणादि ताहाते प्रमाण॥११७॥

११७। प० अनु०—जीवतत्त्व शक्ति है, कृष्ण-तत्त्व शक्तिमान है। गीता और विष्णुपुराण आदि इसका प्रमाण है।

अमृतप्रवाह भाष्य

११६-११७। ईश्वरतत्त्व को ज्वलित-ज्वलन (जलती हुई आग) के साथ तुलना करने पर, अनन्त जीवों को उनके स्फुलिंग के कणस्वरूप तुलना किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि, ईश्वर—चिन्मय, असीम, ज्वलित अग्नि-विशेष है। अनन्त जीवसमूह उनके स्फुलिंग के कणस्वरूप पृथक्तत्त्व होकर निसृत (निकला हुआ) हुये हैं। यहाँ जीवों के स्वरूपगठन में माया की कोई क्रिया

नहीं है। अर्थात् कोई प्राकृत व्यापार नहीं है। यदि कहो कि, इस प्रकार के चित्कण-गठन की प्रयोजनीयता क्या है? तो सुनो,—ईश्वर के विचित्र स्वरूपशक्ति की दो प्रकार प्रवृत्तियाँ हैं—असीम-क्रिया प्रवृत्ति एवं अणु-क्रियाप्रवृत्ति। असीम-क्रियावृत्ति से ईश्वर-स्वरूप और चित्जगत्रूप वैकुण्ठतत्त्व का प्रकाशन; इस प्रवृत्ति को ही 'चिच्छक्ति' कहते हैं। अणु-क्रियाप्रवृत्ति से अणुचैतन्य-रूप अनन्त जीवसमूह का प्रकाशन; इस प्रवृत्ति को 'जीव शक्ति' कहते हैं। यदि स्वरूपशक्ति में ये दोनों वृत्तियाँ न रही होती, तो उनकी पूर्णता में हानि होती। पूर्णैश्वर्य भगवान् के शक्तिगत अणुक्रियारूप जीवों का अस्तित्व अवश्यम्भावी एवं अपरिहार्य है। अतः जीवतत्त्व से ही कृष्णतत्त्व में शक्तिमत्ता (विलास) है। जीव-तत्त्व न रहने से कृष्ण की पूर्ण-शक्तिमत्ता स्वीकार्य नहीं होती। ईशितव्य के अभाव से ईशिता का अभाव होता है।

(श्रीभगवद्गीता में ७.५ श्लोक)

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥११८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

११८। भूमि, जल, तेज, वायु एवं आकाश, ये पंच-भूतरूप स्थूल जगत्; मन, बुद्धि एवं अहंकार-रूप लिंग-जगत्। इन आठ प्रकारों से विभक्त प्रकृति—'अपरा' अथवा 'जड़ा' है; इसका नाम 'माया प्रकृति' है। इससे अलग मेरी और एक 'परा-प्रकृति' है। वही प्रकृति ही जीवस्वरूप होकर इस जगत् में परिपूर्णरूप से विराजमान है। तात्पर्य यही है कि, भगवान् ही एकमात्र वस्तु हैं; उनकी एक 'स्वरूप' अथवा 'आत्म'-शक्ति है। उस स्वरूपशक्ति से लगभग पृथक्, फिर भी उनकी छाया की भाँति जो शक्ति प्रतीयमान होती है, उसका नाम 'मायाशक्ति' है। स्थूल एवं लिंगमय जड़ब्रह्माण्ड—उस माया से प्रसूत हैं। इसके अतीत है—जीवतत्त्व। जीवों की शुद्धसत्त्वा, शुद्ध अहंकार और मनोवृत्ति,—सबकुछ ही माया के अतीत किसी एक पराशक्ति के द्वारा निर्मित है; इसलिये 'जीव'-निर्माण-कार्य में माया का कोई अधिकार नहीं था। माया-प्रविष्ट होकर जीवों में जो जड़-भावान्वित अणुबुद्धि एवं अहंकार प्रतीत हो रहा है, केवल वही माया का कार्य है। इस माया-सम्बन्ध से छुटकारा पाकर स्व-स्वरूप में जीवों के अवस्थान को 'मुक्ति' (मोक्ष) कहते हैं। मुक्ति मिलने से माया-निर्मित अहंकार तक नहीं रहता है। किन्तु जीवों में स्वतःसिद्ध जो सब चिन्मयी वृत्तिसमूह है, वे सब शुद्धरूप में कार्य कर सकेंगे। अतएव जीव—भगवान् की एक शक्तिविशेष है।

अनुभाष्य

११८। इयम् अपरा (अचित् प्रकृतिः जड़त्वात् निकृष्टा) इतः (जड़-प्रकृतेः) अन्यां परां (चिन्मयीं) जीवभूतां (जीवस्वरूपा) मे (मम) प्रकृतिं विद्धि (जानीहि)। हे महाबाहो, यया (चेतनया जीवाख्यया शक्त्या) इदं (जड़) जगत् धार्यते (स्वभोग्याय गृह्यते)।

चित्, जीव एवं माया—
ये त्रिविधा मायाशक्ति—
(विष्णुपुराण में ६ष्ठ अं, ७म अः, ६१ श्लोक)

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥११९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

११९। विष्णुशक्ति तीन प्रकार की है,—परा, क्षेत्रज्ञा एवं अविद्या-संज्ञाविशिष्टा। विष्णु की पराशक्ति ही 'चिच्छक्ति' है; क्षेत्रज्ञाशक्ति ही जीवशक्ति है; (जिसे माया-रूपी 'अविद्या' से 'अपरा' (भिन्ना) के रूप में उक्त किया गया है); कर्मसंज्ञारूपी अविद्या-शक्ति का नाम 'माया' है।

अनुभाष्य

११९। विष्णुशक्तिः (विष्णोः स्वरूपशक्तिः) परा (चित्स्वरूपा) प्रोक्ता; तथा अपरा (अन्या क्काचित् शक्तिः) क्षेत्रज्ञाख्या (जीवशक्तिः प्रोक्ता); अन्या तृतीय शक्तिः अविद्याकर्मसंज्ञा (अविद्या च कर्म च यस्याः संज्ञा सा मायाशक्तिः) इष्यते।

ईश्वर को जीव की भाँति अज्ञानमय-बोध भी मायावाद—

हेन जीवतत्त्व लञा लिखि' परतत्त्व।
आच्छन्न करिल श्रेष्ठ ईश्वर-महत्त्व॥१२०॥

१२०। प० अनु—इस प्रकार के जीवतत्त्व को परम-तत्त्व के रूप में वर्णन करते हुये ईश्वर-महिमा की श्रेष्ठता को छिपा कर रख दिया।

'शक्तिपरिणाम-वाद' ही ब्रह्मसूत्र में स्वीकृत—

व्यासेर सूत्रेते कहे 'परिणाम'-वाद।
व्यास भ्रान्त—बलि' तार उठाइल विवाद॥१२१॥

१२१। प० अनु—व्यास के सूत्रों में 'परिणाम' वाद का समर्थन हैं। व्यास भ्रान्त है—ऐसा कहकर (श्रीशंकर ने) इसके ऊपर विवाद खड़ा कर दिया।

अनुभाष्य

१२१। ईश्वर, जीव एवं प्रकृतिस्वरूप को अनिर्वच-नीय और अज्ञानबोध के रूप में लिखते हुये, शंकर ने ईश्वर की अलौकिक श्रेष्ठता को आच्छादित किया है।

श्रीरामानुजपाद 'वेदान्तसार' में—"ननु 'आत्मा वा इदमग्रआसीत्' इति प्राक्सृष्टेः एकत्वाव-धारणात् कथं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य नारायणस्य कारणत्वम्? उच्य-ते—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति। परित्यक्तस्थूला-कारणां सूक्ष्माकारापत्त्या ब्रह्मणि वृत्तिः प्रतिपाद्यते, न तु स्वरूप-निवृत्तिः। 'अक्षरन्तमसि लीयते, तमः परे देवे एकीभवति' इति तमः—शब्द-वात्त्यायाः प्रकृतेः परमात्मन्येकीभाव-श्रवणात्। पृथग्ग्रहण-रहितत्वेन वृत्तिरेकी-भावः; स एव लयशब्दार्थः; यथा—वृक्षे लीनाः पतंगाः, वने लीनाः सारंगाः।"

यदि कहो कि, 'जगत्सृष्टि से पहले केवल आत्मा ही थी (वृः आः १।४।१), तो किसप्रकार से आप कह सकते हैं कि, सूक्ष्म चिदचिदशक्तिविशिष्ट नारायण जगत् के मूल कारण हैं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है—"जिनसे ये भूतसमूह जात (उत्पन्न) है, जिनके द्वारा पालित एवं जिनमें प्रविष्ट होते हैं' (तै, भृ, १अ) इस तैत्तिरीय-वचन से पता चलता है कि, भूतसमूह उनके स्थूल जड़ आकार का परित्याग करके मुक्त अवस्था में सूक्ष्म आकार ग्रहणपूर्वक ब्रह्म में निजनिज वृत्तियाँ प्रति-पन्न करते हैं, उन सबका स्वरूप ध्वंस नहीं करते;—क्योंकि, अविनाशी आत्मा तमः—शब्दवाच्य प्रकृति में लीन हो जाने पर प्रकृति ब्रह्म के साथ अभेद हो (एकी-भाव) जाता है। उस समय प्रकृति के साथ ब्रह्म की पृथक्ता न रहने के कारण प्रकृति की सत्त्वा ब्रह्म में ही अवस्थान करती है। 'लय'-शब्द से ऐसा ही समझना होगा; दृष्टान्त,—जैसे, वृक्ष में स्थित पंछी अथवा वन में स्थित मृगसमूह वृक्ष में या वन में लीन अथवा अन्तर्निविष्ट रहते हैं।"

ब्रह्मसूत्रकार श्रीव्यासदेव के "आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्रःसूः १।१।१२)—इस सूत्र को उपलक्ष्य करके "अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति" (ब्रःसूः १।१।१९) इस सूत्र की व्याख्या-प्रसंग में श्रीशंकर ने जो लिखा है, इसका मर्मानुवाद—"आनन्दमय-वचन में 'ब्रह्म' शब्द का संयोग न रहने से उसे मुख्यब्रह्म कहना संगत नहीं है। आनन्दमय को ब्रह्म कहने पर अवयव (शरीर)—सम्बन्ध-हेतु इसे सविशेष-ब्रह्म ही कहना होगा। किन्तु 'आनन्दमय' वचन के अन्त में निर्विशेष-ब्रह्म अभिहित है। आनन्दमय शब्द में आनन्द-प्रचुर अर्थात् प्राचुर्य में 'मयट्' प्रत्यय (जिस अर्थ में चिद्-विलास-वादी भागवत वृन्द ने प्रयुक्त किया है, वह) कथित होने से इसमें दुःख का भी अस्तित्त्व है, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि, आधिक्य के अनुसार ही प्रचुर-शब्द का प्रयोग होता है, अल्पता इसका लक्ष्य नहीं रहता। आनन्दमय 'शुद्ध-ब्रह्म' नहीं है, इसलिये श्रुति ने आनन्दमय का अभ्यास (पुनः पुनः उक्ति) न करके 'आनन्दमात्र' का अभ्यास किया है। यदि आनन्दमय की ब्रह्मता निश्चित होती, तो आनन्द-मात्र के अभ्यास को आनन्दमयाभ्यास के रूप में कल्पना कर सकते थे, किन्तु अवयव-सम्बन्ध न रहने के कारण आनन्दमय का अब्रह्मत्व ही निश्चित है, इन्हीं सब हेतु-वश एवं "आनन्दं ब्रह्म" आदि श्रुति में परब्रह्म के विषय में आनन्द शब्द का प्रयोग रहने के कारण स्पष्ट समझ

में आ रहा है कि, अन्यान्य श्रुतिसमूह में भी 'आनन्दमात्र' ब्रह्म ही अभ्यस्त हुआ है, 'आनन्दमय' अभ्यस्त नहीं हुये। यद्यपि "आनन्दमयमात्मानम्" श्रुति में आनन्दमय का अभ्यास ही दिखाई देता है, तथापि अन्नमय आदि में वह पतित होने के कारण आनन्दमय की भी शुद्धब्रह्म-बोधकता निवारित हुई है। 'आनन्दमय' वचन के निकट ही "उन्होंने कामना किया, मैं अनेक होऊँगा"—इस प्रकार वचन रहने पर भी शुद्धब्रह्म के साथ आनन्दमय का निकट सम्बन्ध न रहने के कारण आनन्दमय की शुद्धब्रह्म बोधकता नहीं है। इसके पश्चात् "वे ही रस हैं" आदि वचन भी तत्सापेक्ष (उस वचन के अवलंबन में) होने के कारण आनन्दमयबोधक नहीं है। "प्रिय ही उनका मस्तक हैं" आदि अवयव-बोधक शब्द न रहने से निश्चय हो रहा है कि, 'आनन्द' ही मुख्यब्रह्म है, 'आनन्दमय' नहीं। यदि कहो कि, सविशेष-ब्रह्म ही तो उक्त श्रुति का अभिप्रेत है? तो इसका उत्तर है—आप ऐसा नहीं कह सकते—क्योंकि वह "अवाङ्म्नसगोचर" अर्थयुक्त श्रुति द्वारा निरस्त है, अतएव 'आनन्दमय' शब्द का 'मयट्'-प्रत्यय—विकारबोधक है, प्राचुर्यबोधक नहीं।

श्रीपाद शंकर ने इस प्रकार से सूत्रसमूह की व्याख्या में से 'मयट्' प्रत्यय को उठा देने के लिये अर्थात् इसका व्यर्थता एवं बाहुल्य (बहुतायात) दिखाने के लिये एक ही वक्तव्य-विषय को १२-१९ सूत्रों में बारम्बार कहने को क्या क्या प्रयास नहीं किया! इस सम्बन्ध में 'सर्वसंवादिनी' ग्रन्थ में श्रीमद्जीवप्रभु की उक्ति— "यदि च सूत्रकारस्य वेदान्तार्थानभिज्ञतां निगूढ़मभिप्रायता, तत्-प्रमाद-मार्जन-स्वचातुरी-व्यंग्य-भंग्या तत् "आनन्द-मय" सूत्रमेवं व्याख्ये- यम्—

'आनन्मयः इत्यत्र "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इति स्व-प्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते इति, तथा विकारसूत्रे (१।१। १३) च 'विकार'-शब्देनावयवः, 'प्राचुर्य'-शब्देन 'सादृश्यं' व्याख्येयम्, तदा सूत्रकार-स्याशाब्दिकतैव च प्रसज्यते—तत्तच्छब्दादिभिस्तत् तदर्थानभिधानात्। 'मयट्'—प्रत्यय-विकार-प्राचुर्य-शब्दानामनन्तर-निर्द्दिष्टा-नामन्यार्थत्वं न वा बालकस्यापि हृदयमारोहति।"

शंकर-भाष्य पाठ करके यह धारणा होती है कि, सूत्रकार श्रीवेदव्यास जो वेदान्त के निगूढ़ अर्थ को समझने में अनभिज्ञ थे, यही उनका निगूढ़ अभिप्राय है, (अर्थात् शंकर दिखाना चाहते हैं कि श्रीवेदव्यास वेदान्तार्थ में अनभिज्ञ थे।) इसलिये सूत्रकार आचार्य श्रीवेदव्यास की प्रमाद मार्जना-हेतु छलपूर्वक श्रीशंकर ने निज-चातुर्य का अवलंबन करके 'आनन्दमय' सूत्र की इस प्रकार व्याख्या की है—

'आनन्दमय' आदि श्रुतिवचनों में "ब्रह्मपुच्छ प्रति-ष्ठा"—इस श्रुतिवचन में मुख्यब्रह्म ही उपदिष्ट है; १।१। १३ सूत्र में विकार-शब्द से 'अवयव' एवं प्राचुर्य-शब्द से 'सादृश्य' की व्याख्या करूँगा। इस प्रकार से व्याख्यात होने पर सूत्रकार का (व्यास का) जो शब्दज्ञान नहीं था, इसी का ही प्रसक्ति (अनुमिति) होती है; क्योंकि, उनके व्यवहृत शब्दों के द्वारा वेदान्त के वे वे अर्थ नहीं होते। मयट्-प्रत्यय से उत्पन्न विकार-प्राचुर्य-शब्द आदि के पश्चात् निर्दिष्ट शब्दसमूह का अन्य अर्थ हो ही क्या सकता है? यह बात तो बालक के हृदय में भी आती है। अर्थात् मयट्-प्रत्यय में 'विकार' एवं 'प्राचुर्य्यार्थ' व्यतीत अन्य अर्थ लगाना जो नितान्त भ्रम है, यह सहज समझ में आता है।

मध्य, ६ष्ठ पः१७०-१७५ एवं मध्य, २५श पः४०-४१ संख्या द्रष्टव्य है।

१२२-१२६। श्रीजीवप्रभु परमात्मसन्दर्भ में—(५८ संख्या में) "तद्वादे हि सर्वमेव जीवादि-द्वैतम् अज्ञाने- नैव स्व-स्वरूपे ब्रह्मणिकल्प्यते इति मतम्। निरहंकारस्य केनचित् धर्मान्तरेणापि रहितस्य सर्व-विलक्षणस्य चिन्मात्र-स्य ब्रह्मणस्तु नाज्ञानाश्रयत्वं, न चाज्ञानविषयत्वं, न च भ्रमहेतुत्वं सम्भवतीति। परमालौकिकवस्तुत्वाद-चिन्त्य-शक्तित्वन्तु सम्भवेत्। यत् खलु चिन्त्यामणयादावपि दृश्यते, यया त्रिदोषघ्नौषधिवत् परस्परविरोधिनामपि गुणानां धारिण्या तस्य निरवयवत्वादिके सत्यपि सावयवादिकमंगीकृतं तत्र शब्दश्चास्ति-प्रमाणम्। "विचित्र- शक्तिः पुरुषः पुराणो, न चान्येषां शक्तयस्तादृशः स्युः" इत्यादिकं श्वेताश्वतरो-

पनिषदादौ। (भाः ३।३३।३) "आत्मेश्वरोऽतर्क-सहस्र-शक्तिः" इत्यादिकं श्रीभागवतादिषु। तथा च ब्रह्मसूत्रं (२।२।२८)—"आत्मनि चैवं विचित्राश्च ही" ति। तत्र द्वैतान्यथानुपपत्त्यापि ब्रह्मण्य- ज्ञानादिकं कल्पयितुं न शक्यते, असम्भवादेव। ब्रह्मण्य- चिन्त्यशक्तिसद्भावस्य युक्ति-लब्धत्वात् श्रुतत्वाच्च द्वैतान्यथानुपपत्तिश्च दूरे गता। ततश्चाचिन्त्यशक्तिरेव द्वैतापपत्तौ कारणं पर्य्यवसीयते। तस्मान्निर्विकारादि-स्वभावेन सतोऽपि परमात्मनोऽचिन्त्य-शक्त्या विश्वाकारत्वादिना परिणामादिकं भवति, चिन्तामण्ययस्कान्त्यादीनां सर्वार्थप्रसवलोहचालनादिवत्। तदेतत् अंगीकृतं श्रीबादरायणेन—(ब्रःसूः २।१।२७) "श्रुतेस्तु शब्द-मूलत्वात्" इति। ततस्तस्य तादृश-शक्तित्वात् प्राकृत-वन्माया-शब्दस्य इन्द्रजाल-विद्यावाचित्वमपि न युक्तम्। किन्तु 'मीयते विचित्रं निर्मीयते अनया' इति विचित्रार्थकर-शक्ति-वाचित्वम्। तस्मात् परमात्मपरिणाम एव शास्त्र-सिद्धान्तः। *** तत्र चापरिणतस्यैव सतोऽचिन्त्यया शक्त्या परिणाम इत्यसौ सन्मात्रतावभासमान स्वरूप-व्यूहरूपव्याख्या-शक्तिरूपेणैव परिणमते' न तु स्वरूपेणेति गम्यते। यथैव चिन्तामणिः। *** अतएव क्कचिदस्य ब्रह्मोपादानत्वं क्कचित् प्रधानो पादानत्वंच श्रूयते। *** पूर्वं वारिदर्शनात् वार्य्याकारा वृत्तिर्जातापि तदप्रसंगसमये सुप्ता तिष्ठति, तत्तुल्यवस्तुदर्शनेन तु जागर्त्ति, तद्विशेषानुसन्धानं बिना तदभेदेन स्वतन्त्र-तामारोपयति तस्मान्न वारि मिथ्या, न वा तत् स्मरणमयी तदाकारा वृत्तिर्न वा तत्तुल्यं मरीचिकादि वस्तु, किन्तु तदभेदेनारोप एव अयथार्थत्वान्मिथ्या। स्वप्ने च (ब्रःसूः ३।२।३) "मायामात्रन्तु कार्त्स्नेनानभिव्यक्त-स्वरूपत्वात्" इतिन्यायेन जाग्रद्वष्ट वस्त्वाकारायां मनोवृत्तौ परमात्ममाया तद्वस्तुभेदमारोपयतीति पूर्वतत्। तस्माद् वस्तुतस्तु न क्कचिदपि मिथ्यात्वम्। शुद्ध आत्मनि परमात्मनि वा तादृश-तदारोप एव मिथ्या, न तु विश्वं मिथ्येति। ** किंच विवर्त्तस्य ज्ञानादिप्रकरण-पठितत्वेन गौणत्वात्, परिणामस्य तु स्वप्रकरण-पठितत्वेन मुख्यत्वात् ज्ञानाद्युभय-प्रकरणपठितत्वेन सन्दंशन्याय-सिद्ध-प्रावल्याच्च परिणाम एव श्रीभागवत-तात्पर्यमिति गम्यते।"

परमात्मसन्दर्भ में—विवर्त्त में अथवा मिथ्यावाद के आश्रय में जीव आदि समस्त द्वितीयभावविशिष्ट तत्त्व ब्रह्म के निजस्वरूप में अज्ञानद्वारा कल्पित हुये हैं। अन्य किसी प्रकार के धर्मरहित, सर्वविलक्षण, अहंकारशून्य, चिन्मात्र ब्रह्मवस्तु की अज्ञानाश्रय योग्यता, अज्ञान-विषयाश्रितता एवं भ्रम-हेतुता कभी भी सम्भव नहीं है। ब्रह्मवस्तु—परम अलौकिक वस्तु है। अतः इसमें क्षुद्र मानवों कि लिये अचिन्त्यनीय शक्ति की सम्भावना है। प्राकृत चिन्तामणि आदि वस्तुओं में भी जब अलौकिक शक्ति दिखाई देती है, तब ब्रह्म में भी निश्चय ही अलौकिक शक्ति विराजमान है। वात, कफ एवं पित्त, ये त्रिविध दोष एकसाथ रोगी को आश्रय करने पर जिस प्रकार से परस्पर-विरोधी धातु-शोधन-हेतु औषधि की व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार परस्पर विरोधी गुणत्रय धारिणी शक्ति द्वारा ब्रह्म की निराकारता आदि सम्भव होने पर भी अवयव आदि को स्वीकार किया जाता है। इस विषय में वेद-प्रमाण है—"सनातन पुरुष—विचित्र-शक्तिविशिष्ट है; दूसरों में इस प्रकार शक्ति समूह नहीं है"—यह श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है। श्रीमद्-भागवत आदि में भी ऐसा उक्त है कि "आत्मा ईश्वर अतर्क्य सहस्त्रशक्तिविशिष्ट हैं"। ब्रह्म सूत्र में भी "आत्मा में इस प्रकार विचित्रता हैं।" ब्रह्म में द्वैतभाव की संगति न रहने के कारण ब्रह्म में अज्ञानादि की असम्भावना-हेतु कल्पना करना सम्भव नहीं है। "ब्रह्म में अचिन्त्य शक्ति के सद्भाव युक्ति सम्मत है एवं श्रुति-समर्थित होने के कारण इसमें से द्वैतान्यथानुपपत्ति (द्वैत-सहित अन्य भावों की असंगति) दूर हुये हैं; इस हेतु अचिन्त्यशक्ति ही द्वैतोपपत्ति के कारण के रूप में शेष रह जाते हैं। इसलिये निर्विकार-स्वभावसम्पन्न होने पर भी परमात्मा की अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से विश्वरूप में परिणामादि संघटित होता है। जिस प्रकार से चिन्तामणि स्वयं विकार-विशिष्ट न होकर सर्वार्थ-प्रसव में समर्थ है, अयस्कान्त-मणि भी स्वयं विकारविशिष्ट न होकर अन्य वस्तु जैसे लोहा आदि को अपनी ओर खिंचने में समर्थ है, उसी

प्रकार से ब्रह्मवस्तु विकृत न होकर ब्रह्म के विकारयोग्य शक्ति ही विकृत होकर विश्वाकार में परिणत होती है। ब्रह्मसूत्र में श्रीवादरायण ने इसे स्वीकार किया है। इस हेतु ब्रह्म में वैसी शक्ति रहने के कारण प्राकृत की भाँति 'माया'-शब्द के लिये इन्द्रजाल-विद्या-वाचकता भी युक्त नहीं है। किन्तु इस माया के द्वारा विचित्रता निर्मित होने के कारण विचित्रार्थकर-शक्तिवाचकता ही सिद्ध होती है। इसलिये यही शास्त्रसिद्धान्त है कि, यह विश्व परमात्मा का ही परिणाम है। *** वहाँ अपरिणत सत्य-वस्तु की ही अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से परिणति होती है। अतः उस सद्‌वस्तु में सन्मात्रता-प्रकाशमान स्वरूप का ही विस्ताररूप द्रव्यनामक जो शक्ति विराजमान है, उस शक्ति-रूप का ही परिणति होता है, परन्तु स्वरूप के परिणाम नहीं होते। जैसे चिन्तामणि निज शक्ति का परिचालन करते हुये भी स्वयं किसी प्रकार विकार के अन्तर्भुक्त नहीं होती, वैसे। *** अतएव कोई-कोई इस विश्व के उपादान के रूप 'ब्रह्म' को, अथवा कोई विश्वोपादान के रूप में 'प्रधान' को निर्देशित करते हैं, ऐसा जाना जाता है। *** पहले वर्षा का दर्शन करके वर्षा के सम्बन्ध में धारणाएँ उदित होने पर भी जब उसका प्रसंग नहीं होता, तब वह भाव सोये रहता है, फिर इसके समान वस्तु के दर्शन से वह वृत्ति जाग उठती है। उस वस्तु के विशेष अनुसन्धान व्यतीत उस वस्तु को पूर्ववस्तु के साथ अभेद जानकर स्वेच्छापरक होकर आरोप करने से वर्षा मिथ्या नहीं हो जाती। अथवा जल के स्मरणमयी जलाकारा वृत्ति मिथ्या नहीं होती, अथवा वर्षातुल्य मरीचिकादि वस्तु झूठ नहीं होती, किन्तु वर्षा के साथ अभेद मानकर इस प्रकार आरोप ही अयथार्थ अथवा मिथ्या है। स्वप्न में भी "मायामात्र ही समग्र अप्रकाशित" स्वरूप है—इस न्याय के अवलम्बन में जागरण के समय प्रतीत (दृष्ट) वस्तु की आकाररूपिणी मनोवृत्ति में परमात्मा की माया पहले की भाँति उस वस्तु में अभेद का आरोप करती है; इसलिये वस्तुतः कुछ भी मिथ्या नहीं है। शुद्ध आत्मा में अथवा परमात्मा में इस प्रकार का आरोप ही मिथ्या है, विश्व मिथ्या नहीं है। *** और भी है, विवर्त्त के दृष्टान्त ज्ञानादि-प्रकरणसमूह में उल्लिखित होन के कारण गौण है, और परिणामवाद स्वप्रकरण में पठित होने के कारण मुख्य है एवं ज्ञानादि दोनों प्रकरणों में परिणामवाद पठित होने के कारण सन्दंश (सँडसी)-न्यायसिद्ध-प्रावल्य हेतु शक्ति परिणाम को ही श्रीभागवत-तात्पर्य के रूप में जाना जाता है।

गुरु को भ्रान्त माननेवाले
मायावादियों का 'विवर्त्तवाद'—

परिणाम-वादे ईश्वर हयेन विकारी।
एत कहि' 'विवर्त्त'-वाद स्थापना ये करि॥१२२॥

१२२। प० अनु०—परिणाम-वाद में ईश्वर स्वयं विकारयुक्त (विकारी) हो जाते हैं। ऐसा कहकर 'विवर्त्त' वाद की स्थापना की है।

'विवर्त्त' के आश्रय—

वस्तुतः परिणाम-वाद—सेइ से प्रमाण।
देहे आत्मबुद्धि—हय विवर्त्तेर स्थान॥१२३॥

१२३। प० अनु०—वस्तुतः परिणाम-वाद ही प्रमाण है। देह में आत्मबुद्धि (देहात्मबुद्धि) को विवर्त्त कहते हैं।

विवर्त्तवाद का खंडन—
(१) अचिन्त्यशक्तिमान् भगवान्—

अविचिन्त्य-शक्तियुक्त श्रीभगवान्।
इच्छाय जगद्‌रूपे पाय परिणाम॥१२४॥

१२४। प० अनु०—अविचिन्त्य-शक्तियुक्त श्रीभगवान् अपनी इच्छा से जगत्‌रूप परिणाम को प्राप्त होते हैं।

(२) प्राकृत चिन्तामणि के दृष्टान्त—

तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अविकारी।
प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥१२५॥

१२५। प० अनु०—फिर भी अचिन्त्यशक्ति के कारण भगवान् अविकारी रहते हैं। इस सम्बन्ध में प्राकृत चिन्तामणि दृष्टान्तस्वरूप है।

रत्नराशि-प्रसवकारी चिन्तामणि की विकारहीनता—

नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हैते।
तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥१२६॥

१२६। प० अनु०—चिन्तामणि से अनेक रत्नराशि उत्पन्न होती है। फिर भी चिन्तामणि अपने स्वरूप में अविकारी रहती है।

(३) शक्ति परिणत होने पर भी स्वयं विकार-रहित—

प्राकृत-वस्तुते यदि अचिन्त्यशक्ति हय।
ईश्वरेर अचिन्त्यशक्ति,—इथे कि विस्मय॥१२७॥

१२७। प० अनु०—प्राकृत वस्तु में यदि अचिन्त्य-शक्ति विराजमान है, तो ईश्वर के अचिन्त्यशक्ति के सम्बन्ध में विस्मित होने की क्या बात है?

अमृतप्रवाह भाष्य

१२०-१२७। जीवतत्त्व—शक्तिविशेष है। उस जीव-तत्त्व को 'अणुचैतन्य' के रूप में सिद्ध (स्थापित) न करके 'ब्रह्म' रूप में सिद्ध करने की चेष्टा करने पर निश्चित ही भ्रममय सिद्धान्त होगा। श्रीशंकराचार्य ने ईश्वर-आज्ञानुसार ईश्वरतत्त्व को आच्छादित करने के अभिप्राय से जीवतत्त्व के साथ परतत्त्व की एकता स्थापनापूर्वक भ्रममय सिद्धान्तसमूह का प्रचार किया है। व्याससूत्रों में वस्तुतः (शक्ति)—परिणाम-वाद स्वीकृत है। आचार्य ने परिणाम-वाद में ईश्वर को विकारी कहना होगा—यह विर्तक उठाकर, परिणाम-वाद मानने से व्यास 'भ्रान्त' है, यह स्वीकार करना होगा,—ऐसा सोचकर 'विवर्त्तवाद' की स्थापना की है। ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद में "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इस १४श सूत्र के भाष्य में "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं" (छान्दोग्य ६।१।१४) आदि वेदवचनों का उदाहरण देकर परिणाम- वाद को दोषयुक्त विकार-वाद कहकर वितर्क की उपस्थापना की है। वास्तव में, ब्रह्मसूत्र में ईश्वर की इच्छामात्र से उनकी अविचिन्त्य शक्ति के कार्यविकार के रूप में इसप्रकार का परिणाम-वाद प्रदर्शित हुआ है। परिणाम का लक्षण है—"सतत्त्वतोऽन्यथाबुद्धि-र्विकार इत्युदाहृतः"। एक सत्य तत्त्व से अन्य और एक सत्य-तत्त्व का उदय होने पर इसमें अन्यवस्तु-रूप जो बुद्धि है, वही 'विकार' अर्थात् परिणाम है। 'ब्रह्म'—एक सत्य-वस्तु है; इससे 'जीव'-रूप एक सत्यवस्तु एवं 'मायिक-ब्रह्माण्ड'—रूप और एक सत्यवस्तु पृथक्रूप से उदित हुये है—इसप्रकार बुद्धि को ब्रह्म के 'विकार' अथवा परिणाम कहते हैं। विकार या परिणाम का दृष्टान्त यही है कि, 'दुग्ध'—एक सत्यपदार्थ है, वही 'दधी' रूप अन्य सत्यपदार्थ के रूप में विकार को प्राप्त (विकृत) होते हैं। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" (छाः ६।८।७) इसरूप वेदवचनों के द्वारा सन्देहातीत रूप से जाना जा सकता है कि, ब्रह्म ही जगत् है। ब्रह्म में एक अचिन्त्यशक्ति है, यह "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" (श्वे ६।८) इस वेद वचन के द्वारा सिद्ध होता है। उन शक्तियों के कारण ब्रह्म में विराजमान सत्यधर्म ही जगद्रूप में परिणत हैं, इसप्रकार के सिद्धान्त में कोई दोष नहीं हो सकता। "सदैव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छाः ६।२।१), तदैक्षत वहु स्यां प्रजायेय (छाः ६।२।३), "सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्-प्रतिष्ठाः" (छाः ६।८।४), "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" (छाः ६।८।७) आदि आदि छान्दोग्य उपनिषद के वचनानुसार वही ब्रह्म निज परा-शक्ति के कारण इस चित्-जड़ात्मक जगद्रूप में परिणत है,—यही प्रसिद्ध है। जगत् एवं जीव 'उपादेय' है, ब्रह्म—'उपादान' है। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैः, भृः १अः) इस वेदवचन के द्वारा ब्रह्म ही उपादानता एवं जीव और जड़ की उपादेयता स्वीकृत हुई है। परिणाम-वाद के यथार्थ मर्म को न समझने से यह 'जगत्' एवं 'जीव' को पृथक् सत्यतत्त्व के रूप में पहचानना कठिन है। "सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः" (छा ६।८।४) आदि वचनानुसार 'जीव' एवं जीवायतन 'जड़-जगत्' सत्यवस्तु है। यहाँ ब्रह्म विकारयुक्त हो जायेंगे—इस अर्थ-हीन डर से रज्जु में सर्पबुद्धि एवं शुक्ति (सीपी) में रजतबुद्धि की भाँति जीव और जगत् को मिथ्यारूप कल्पना करना केवल प्रतारणा है। तो फिर माण्डूक्य

आदि वेदों में जो 'रज्जु में सर्पबुद्धि' एवं 'शुक्ति में रजत बुद्धि'—ये सब दृष्टान्त दिखाई देता है, इसका कारण यही है कि, विशेष विशेष स्थानों पर इसका प्रयोग हुआ है। जीव—शुद्धचित्कण है। मानव-देहविशिष्ट जीव इस जड़शरीर में जो आत्मबुद्धि करते हैं, इसे ही 'विवर्त्त' कहते हैं। 'विवर्त्त' इसप्रकार से व्याख्यात है—"अतत्त्व-तोऽन्यथा-बुद्धिर्विवर्त्त इत्युदाहृतः।" जो वस्तु जैसा नहीं है, उसे उस वस्तु के रूप में प्रतीति करने का नाम 'विवर्त्त' है। जीवों के लिये 'विवर्त्त' एक महान् दोष है—बद्धजीव इस विवर्त्तबुद्धि-दोष से दूषित हैं। इसप्रकार के विवर्त्त-दोष को मूल विश्वतत्त्व में एवं जीवतत्त्व में आरोप करना नितान्त अकिंचित्कर है। अविचिन्त्यशक्ति को भूल जाने से ही इसप्रकार के भ्रम का उदय होता है। भगवान् जिसप्रकार से जगद्रूप में परिणत हुये हैं, इसका एक साधारण दृष्टान्त है। अनेक व्यक्ति कहते हैं कि, प्राकृत-जगत् में 'चिन्तामणि' नामक एक निधि (खजाना) है, वे नाना रत्नराशि को प्रसव करके भी स्वयं अविकृत-स्वरूप में अवस्थान करता है। यदि प्राकृत-वस्तु में इसरूप अचिन्त्यशक्ति विद्यमान है, तो ईश्वर में इसकी अपेक्षा जो अनन्तगुण-विशिष्ट एक अचिन्त्यशक्ति होगी, इसमें विस्मित होने की क्या बात है?

वेदतरु के बीज प्रणव ही महावाक्य एवं ईश्वर-स्वरूप—

'प्रणव' से महावाक्य वेदेर निदान।
ईश्वरस्वरूप प्रणव—सर्वविश्व-धाम॥१२८॥

१२८। प॰ अनु॰—महा वाक्य 'प्रणव' ही वेदों का निदान (आदि कारण) है। सर्वविश्व-धाम प्रणव ईश्वर-स्वरूप है।

अनुभाष्य

१२८। गीता में—"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्माम-नुस्मरण्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥" (८।१३); "वेद्यं पवित्र-मोंकारः" (९।१७); "ओम (ॐ) तत्सदिति निर्द्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृतः" (१७। २३)। (छाःउः १।१।१, १।४।१)—"ओमित्येतदक्षर-मुद्गीथमुपासित। ओमिति ह्युद्गायति। तस्योपव्याख्या-नम्"; (छाः १।५।१)—"य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः"; (अथर्वशिखा-२)—"प्रणवः सर्वान् प्राणान् परमात्मनि प्रणावयति इत्येतस्मात् प्रणवश्चतुर्धाऽवस्थित इति वेद देवयोनिर्धेयाश्चेति संधर्त्ता सर्वेभ्यो दुःखभयेभ्यः संतारयति, तारणात् तानि सर्वाणीति विष्णुः सर्वानजयतिः" (माण्डूक्य-१)—"ओमित्येदक्षरमिदं सर्वम्, तस्यो-पव्याख्यानम् भूतं भवद्भविष्यतिदति सर्वमोंकार एव, यच्चान्यत्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।" (तैः, शिः ८अः)—"ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं ब्रह्म। ओमिति सामानि गायन्ति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मो-पाप्नवानीति। ब्रह्मैवापाप्नोति।

श्रीभगवत्सन्दर्भ के (४८ संख्या मे)—"श्रुतौ च प्रणवमुद्दिश्य—"ओमित्येतद् ब्रह्मणो नेदिष्ठं नाम, यस्मा-दुच्चार्यमाण एव संसार-भयात् तारयति, तस्मादुच्यते तार इति।" *** तस्माद् भगवत्-स्वरूपमेव नाम। स्पष्टं-चोक्तं श्रीनारद-पंचरात्रेऽष्टाक्षरमुद्दिश्य—"व्यक्तं हि भगवानेव साक्षान्नारायणः स्वयम्। अष्टाक्षर-स्वरूपेण मुखेशु परिवर्त्तते"॥ इतिः माण्डूक्योपनिषत्षु (४।४-७) च प्रणवमुद्दिश्य—"ओंकार एवेदं सर्वम्। ओमित्येतद-क्षरमिदं सर्वम्"। "प्रणवो हि परं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः। अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्त स्तथैव च। एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा-व्यश्नुते तदनन्तरम्॥ प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदये स्थितम्। सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति॥ अमात्रोऽननन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः। ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः।" न तु परमेश्वरस्यैवत-त्तद्-योग्यता-सम्भवाद् वर्णमात्रस्य स्तुतिरूपैवेति मन्त-व्यम्। अवतारान्तरवत् परमेश्वरस्यैववर्णरूपेणाव-तारोऽयमिति अस्मिन्नर्थे तेनैव श्रुति-वलेनांगीकृते तदभेदेन तत्सम्भवात्। तस्मान्नाम-नामिनोरभेद एव।"

श्रीभागवतसन्दर्भ में—श्रुति में प्रणव के सम्बन्ध में—यही ॐ परब्रह्म के लिये सबसे घनिष्ठ (मधुरतम) नाम है—उच्चारण के आरम्भ से ही जीवों को संसार-भय

से पूर्णतया रक्षा करता है; इसलिये वे 'तार' नाम से भी विख्यात है। (श्रीधर-स्वामीपाद ने भागवत के निज-कृतटीका के प्रारम्भ में, उँकार-सहित आरम्भ होने के कारण श्रीमद्भागवत को 'तारांकुर' संज्ञा दी है) अतएव श्रीनाम साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। अष्टाक्षरमन्त्र को लक्ष्य करके श्रीनारदपंचरात्र ने स्पष्टरूप से कहा है—"यह प्रसिद्ध है कि, भगवान् श्रीनारायण स्वयं ही अष्टाक्षरस्वरूप में जीवों के मुख में उदित होते हैं।" प्रणव को उद्देश करके माण्डूक्योपनिषद में भी कहा गया है कि—"चित्दर्शन में जो कुछ भी दिखाई देता है, सबकुछ ही उँकार—'ॐ' यह अक्षर है।"

"ब्रह्म के एक और आविर्भाव है—प्रणव; वे परम वस्तु के रूप में कथित हैं। वे अपूर्व, अवाध, अवाह्य, परम एवं अव्यय है। वे सबके आदि, मध्य एवं अन्त हैं। प्रणव को इस प्रकार से जानकर जीव अमृत का भोग करते हैं। सबके हृदय में स्थित प्रणव को ईश्वर-स्वरूप के रूप में जानना। उँकार को सर्वव्यापी विभु अर्थात् विष्णु-स्वरूप जानने से ही बुद्धिमान व्यक्ति को और शोक करना नहीं होता है अर्थात् उसमें शूद्रता नहीं रह जाती। वे जड़मात्राहीन होकर भी अनन्त मात्रायुक्त हैं; उनसे ही जड़ीय द्वैत-ज्ञान का उपशमन (निवारण) होकर अद्वय-ज्ञानकी प्राप्ति होती है, अतः वे परममंगल-स्वरूप है।" यहाँ ऐसा सोचना नहीं है कि, परमेश्वर के लिये ही अवतार के रूप में वे सभी मंगल- विधान सम्भव होने के कारण एक जड़ीय वर्ण अथवा अक्षरमात्र-हेतु उस रूप उक्ति में वास्तव सत्य नहीं है,—वे केवल स्तुतिरूप मात्र है। वास्तव में, परमेश्वर के अन्यान्य अवतारों की भाँति यह प्रणव भी उनका वर्णरूपी अवतार है; क्योंकि, यह अर्थ पूर्वोक्त श्रुतिवचन के बल पर ही स्वीकृत होने के कारण, इससे अभिन्नता-हेतु इसकी सम्भावना के चलते यह अर्थ ही ठीक है। अतएव भगवान् का नाम और नामी-भगवान्—परस्पर अभिन्न है, इसमें सन्देह नहीं है।

ॐ अथवा प्रणव ही वेद के निदानस्वरूप महावाक्य है। प्रत्येक वैदिक मन्त्र के आदि एवं अन्त में प्रणव निहित है। प्रणव—ईश्वर-स्वरूप है। "अकारेणोच्यते कृष्णः सर्वलोकैक-नायकः। उकारणोच्यते राधा मकारो जीव-वाचकः।"

ईश्वर-वाच्य, प्रणव—वाचक;
'तत्त्वमस्यादि'—वेद के एक
अंश के द्योतक (सूचक) मात्र—

सर्वाश्रय ईश्वरेर करि प्रणव उद्देश।
'तत्त्वमसि'—वाक्य हय वेदेर एक देश॥१२९॥
'प्रणव' महावाक्य—ताहा करि' आच्छादन।
महावाक्ये करि' 'तत्त्वमसि'र स्थापन॥१३०॥

१२९-१३०। प॰ अनु॰—प्रणव से सर्वाश्रय ईश्वर को उद्देश (लक्ष्य) किया जाता है। 'तत्त्वमसि'—वचन वेदों का एक देश (विभाग) मात्र है। 'प्रणव' महा वाक्य है, इसे आच्छादित करके 'तत्त्वमसि' को महा वाक्य के रूप में निर्धारित किया है।

अनुभाष्य

१२९। 'तत्त्वमसि' श्रुति—छाः उः षष्ठ प्रः ८म—१३श खः—"स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति" दिखाई देता है। शंकर के द्वारा प्रवर्तित चार वैदिक महावाक्य में से 'तत्त्वमसि' एक है।

वेदादि शास्त्रों में अभिधा-
वृत्ति के द्वारा कृष्ण
ही स्वीकार्य—

सर्ववेदसूत्रे करे कृष्णेर अभिधान।
मुख्यवृत्ति छाड़ि' कैल लक्षणा-व्याख्यान॥१३१॥

१३१। प॰ अनु॰—सभी वेदसूत्रों में कृष्ण ही स्वीकृत हैं। उन्होंने मुख्य-वृत्ति को छोड़कर लक्षणा-वृत्ति के आधार पर इसकी व्याख्या की है।

अनुभाष्य

१३१। "वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते"॥

निरपेक्ष शब्द-प्रमाण
ही सर्वश्रेष्ठ—

स्वतः प्रमाण वेद—प्रमाण-शिरोमणि।
लक्षणा करिले स्वतः प्रमाणता-हानि॥१३२॥

१३२। प॰ अनु॰—स्वतः प्रमाण वेद प्रमाण-शिरोमणि हैं। लक्षणा-वृत्ति अपनाने से स्वतः प्रमाणता की हानि होती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२८-१३२। प्रणव वेदों का मूलवाक्य है, अतः वही एकमात्र ब्रह्मवाचक महा वाक्य है। 'प्रणव'—ईश्वर का स्वरूपव्यंजक शब्द है, अतएव ईश्वर के नित्यनाम, 'सर्वविश्वधाम'—सर्वाश्रय ईश्वर को उद्देश करता हैं। तो फिर "तत्त्वमसि" (छाः ६।८।७), "इदं सर्वं यद-यमात्मा", "ब्रह्मेदं सर्वं" (वृः आः २।५।१), "आत्मैवेदं सर्वं (छाः ७।२५।२), "नेह नान्यस्ति किंचन" (कठ २।१।११, वृः आः ४।४।१९) आदि वचनसमूह को 'महावाक्य' कहना एक विषम भ्रम है। क्योंकि, इनमें से प्रधान वाक्यरूप 'तत्त्वमसि' वाक्य केवल प्रादेशिक है; अर्थात् 'तत्त्वमसि' शब्द से जो उपदिष्ट होता है, वह केवल वेद का एकदेशव्यापी उपदेश है। जो वेदों में सर्वदेशव्यापी है, वही महावाक्य है, अतः 'प्रणव' के बिना और कुछ भी 'महावाक्य' नहीं हो सकता। इस तत्त्व को आच्छादित करके श्रीशंकराचार्य ने 'तत्त्वमसि' को 'महावाक्य' कहा है। इस प्रकार से कल्पित महावाक्य अवलम्बनपूर्वक वेदों के सर्वत्र मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधा-वृत्ति को छोड़कर जिस लक्षणा अथवा गौणवृत्ति के द्वारा व्याख्या की गई है, इससे सर्ववेदसूत्रों के कृष्ण-तत्त्व-व्याख्यान को बिना कारण तिरस्कृत किया गया है। जब वेद स्वतः प्रमाण है, तब उसके शब्दार्थ समूह में लक्षणा योजन (प्रयोग) करना ही स्वतः सिद्ध प्रमाण की प्रमाणता-हानि करना मात्र है।

अनुभाष्य

१३२। आदि, ७म पः १०७संख्या के अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

शंकर की व्याख्या लक्षणा-वृत्ति के आधार पर, अतः काल्पनिक—

एइ मत प्रतिसूत्रे सहजार्थ छाड़िया।
गौणार्थ व्याख्या करे सब कल्पना करिया॥१३३॥

१३३। प॰ अनु॰—इस प्रकार से प्रत्येक सूत्र के सहज अर्थ को छोड़कर कल्पनापूर्वक उन्होंने गौणार्थ की व्याख्या की है।

प्रभु के द्वारा प्रत्येक सूत्र के शांकर-भाष्य का खंडन—

एइ मते प्रतिसूत्रे करेन दूषण।
शुनि' चमतकार हैल संन्यासीर गण॥१३४॥

१३४। प॰ अनु॰—इस प्रकार से प्रभु प्रत्येक सूत्र की व्याख्या में दोष दर्शाने लगे। ये सब सुनकर संन्यासी-वृन्द चमत्कृत हो गये।

संन्यासियों में चमत्कार का अनुभव,
स्वीकारोक्ति एवं साम्प्रदायिकभाव—

सकल संन्यासी कहे,—'शुनह श्रीपाद।
तुमि ये खण्डिले अर्थ, ए नहे विवाद॥१३५॥
आचार्य-कल्पित अर्थ,—इहा सबे जानि।
सम्प्रदाय-अनुरोधे तत्त्व इहा मानि॥१३६॥

१३५-१३६। प॰ अनु॰—सभी संन्यासियों ने कहा, —'सुनिये श्रीपाद! आपने जो अर्थसमूह का खंडन किया है, इसमें विवाद नहीं है। हम सब यह जानते हैं कि, आचार्य ने कल्पनापूर्वक व्याख्या (अर्थ) की है। फिर भी, सम्प्रदाय के अनुरोध पर (साम्प्रदायिक आग्रह के कारण) हम इस तत्त्व को मानते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३५। हे श्रीकृष्णचैतन्य, आपने पूर्वोक्त जिन विचार के द्वारा शंकर के अर्थ का खंडन किया है, वे निरर्थक विवाद नहीं है, अर्थात् भाग्यवान् व्यक्ति उसे ही 'सत्य' कहकर स्वीकार करता है।

अनुभाष्य

१३३-१३६। मध्य, २५श पः ४६-४८ संख्या द्रष्टव्य है।

अभिधा-वृत्ति में व्याख्या करने के लिये प्रभु से अनुरोध—

मुख्यार्थ व्याख्या कर, देखि तोमार बल।'
मुख्यार्थे लागाल प्रभु सूत्र सकल॥१३७॥

१३७। प॰ अनु॰—आप मुख्यार्थ की व्याख्या कीजिये, हम देखना चाहते हैं कि आप में कितना बल है।' यह सुनकर प्रभु ने सूत्रसमूह का मुख्यार्थ में प्रयोग किया।

प्रभु की व्याख्या—(१) भगवान् कृष्ण ही 'सम्बन्ध'—

वृहद्वस्तु 'ब्रह्म' कहि—श्रीभगवान्।
षड्विधैश्वर्यपूर्ण परतत्त्वधाम॥१३८॥
स्वरूप-ऐश्वर्ये ताँर नाहि मायागन्ध।
सकल वेदेर हय भगवान् से 'सम्बन्ध'॥१३९॥
ताँरे 'निर्विशेष कहि, चिच्छक्ति ना मानि'।
अर्द्ध स्वरूप ना मानिले पूर्णता हय हानि॥१४०॥

१३९-१४०। प॰ अनु॰—षड्विध ऐश्वर्यपूर्ण, पर-तत्त्वधाम वृहत् वस्तु 'ब्रह्म' को श्रीभगवान् कहते हैं। उनके स्वरूप-ऐश्वर्य में मायागन्ध नहीं है। सभी वेदों में भगवान् ही 'सम्बन्ध' है। चित्शक्ति को न मानकर उन्हें 'निर्विशेष' कहने का अर्थ अर्द्धस्वरूप को अस्वीकार करना है। अर्द्धस्वरूप न मानने से पूर्णता की हानि होती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३८-१४०। वृहदारण्यक में (५।१)— "पूर्णमदः" आदि वचनों में षड़ैश्वर्यपूर्ण परमतत्त्व को वृहद्वस्तु कहा गया है। सभी पुराणों में भगवत्-शब्द के लिये वे सब लक्षण लिखित है। अतः वेदों में जहाँ जहाँ 'ब्रह्म' शब्द उक्त है, वहाँ वहाँ 'श्रीभगवान्' शब्द प्रयोग करने से ही शब्द चरितार्थ (कृतार्थ) हो जाता है। अतएव सम्पूर्ण वेद में भगवान् ही एकमात्र सम्बन्ध है। भगवान् निर्विशेष गुणों का क्रोड़ीभूत करके अर्थात् अपने आपमें समाकर नित्य-सविशेष है। उन्हें 'निर्विशेष' कहने का अर्थ उनकी चित्शक्ति को अस्वीकार करना है। ब्रह्म चित्शक्ति-विशिष्ट-सविशेष तत्त्व है। अतएव अर्द्धस्वरूप को न मानने से पूर्णता की हानि होती है।

अनुभाष्य

१४०। श्रीरामानुजपाद 'वेदार्थसंग्रह' में—"ज्ञानेन धर्मेण स्वरूपमपि निरूपितं, न तु ज्ञानमात्रं ब्रह्मेति कथमिदमवगम्यते इति चेत्? "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादि ज्ञातृत्व-श्रुतेः, "परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते," "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इत्यादि-श्रुतिशतसमधिगतमिदं ज्ञानस्य धर्ममात्रत्वाद्धर्ममात्रस्यैकस्य वस्तुत्वप्रतिपाद नानुपपत्तेश्च। अतः सत्य-ज्ञानादिपदानि स्वार्थभूत-ज्ञानादिविशिष्टमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्ति। तत्त्वमिति द्वयोरपि पदयोः स्वार्थप्रहाणेन निर्विशेषवस्तु-स्वरूपोपस्थापन-परत्वे मुखार्थ परित्यागश्च। ऐक्ये तात्पर्यनिश्चयान्न लक्षणा-दोषः 'सोऽहं देवदत्तः' इतिवत्। *** अपि च अर्थभेद-तत्-संसर्गविशेष-बोधनकृत-पदवाक्यस्वरूप-ता-लब्ध-प्रमाण-भावस्य शब्दस्य निर्विशेष-वस्तुबोधना-सामर्थान्न निर्विशेष वस्तुनि शब्दः प्रमाणम्। निर्विशेष इत्यादि शब्दास्तु केनचित्विशेषेण विशिष्टयावगतस्य वस्तुनो वस्तुन्तरावगतविशेष-निषेधकतया बोधकाः।"

(२) श्रवणादि साधन-भक्ति
ही उपाय अथवा 'अभिधेय'—

भगवान्-प्राप्तिहेतु ये करि उपाय।
श्रवणादि भक्ति—कृष्णप्राप्त्येर सहाय॥१४१॥
सेइ सर्ववेदेर 'अभिधेय' नाम।
साधनभक्ति हैते हय प्रेमेर उद्गम॥१४२॥

१४१-१४२। प॰ अनु॰—भगवत्-प्राप्ति हेतु उपाय समूह में श्रवणादि साधनभक्ति कृष्णप्राप्ति की सहायक है। उसी को सभी वेदों में 'अभिधेय' कहा गया है। साधन-भक्ति से प्रेम का उद्गम (उदय) होता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४१-१४२। उस भगवत्तत्त्व के चरणों में आश्रय पाने के लिये सभी वेदों में साधन-भक्ति को 'अभिधेय' के रूप में निर्देशित किया गया है। श्रवणादि नवविध साधनभक्ति से ही कृष्णप्रेम का उद्गम होता है।

(३) कृष्णप्रेम ही उपेय 'प्रयोजन' या पंचम पुरुषार्थ—

कृष्णेर चरणे हय यदि अनुराग।
कृष्ण विनु अन्यत्र तार नाहि रहे राग॥१४३॥
पंचम पुरुषार्थ सेइ प्रेम-महाधन।
कृष्णेर माधुर्य-रस कराय आस्वादन॥१४४॥
प्रेमा हैते हय कृष्ण निजभक्तवश।
प्रेमा हैते पाय कृष्णेर सेवा-सुखरस॥१४५॥

१४३-१४५। प० अनु०—कृष्ण के चरणों में यदि अनुराग उत्पन्न होता है, तो कृष्ण-बिना कहीं और उसका मन नहीं लगता। प्रेम-महाधन-स्वरूप पंचम पुरुषार्थ है। यह प्रेम कृष्ण के माधुर्य-रस का आस्वादन कराता है। प्रेमा से कृष्ण निज भक्त के वशीभूत हो जाते हैं। प्रेमा से कृष्ण के सेवा-सुखरस की प्राप्ति होती है।

सम्बन्धाभिधेयप्रयोजन ही ब्रह्मसूत्र के प्रतिपाद्य—

सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन-नाम।
एइ तिन अर्थ सर्वसूत्रे पर्यावसान॥१४६॥

१४६। प० अनु०—सभी सूत्रों में सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन नामरूप तीनों का तात्पर्य ही दिखाया गया है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४६। 'मैं कौन हूँ? यह जड़ ब्रह्माण्ड क्या है? भगवद्वस्तु क्या है? और हमारे बीच परस्पर सम्बन्ध क्या है?' इन चारों प्रश्न का सदर्थ मिलने से 'सम्बन्ध-ज्ञान' की प्राप्ति होती है। सम्बन्ध ज्ञान प्राप्त पुरुष के लिये कर्त्तव्य क्या है? यह जानकर उस कर्त्तव्य के अवलम्बन को ही सभी शास्त्रों ने 'अभिधेय' के रूप में निर्देशित किया है। कर्त्तव्य के अनुष्ठान के पश्चात् जिस प्रकार के फल की प्राप्ति होती है, उसी का नाम 'प्रयोजन' है। ब्रह्मसूत्र में यह तीनों अर्थ ही उपदिष्ट हुए है।

सभी सूत्रों की व्याख्या सुनकर यतियों का स्तव—

एइमत सर्वसूत्रेर व्याख्यान शुनिया।
सकल संन्यासी कहे विनय करिया॥१४७॥
वेदमय-मूर्त्ति तुमि,—साक्षात् नारायण।
क्षम अपराध,—पूर्वे ये कैलु निन्दन॥१४८॥

१४७-१४८। प० अनु०—इस प्रकार से सभी सूत्रों की व्याख्या सुनकर सभी संन्यासियों ने विनयपूर्वक कहा,—'वेदमय मूर्त्तिस्वरूप आप साक्षात् नारायण हैं।' हम सबने पहले जो आपकी निन्दा की है, उसके लिये हम क्षमा-प्रार्थी हैं; हमारे अपराध क्षमा कीजिये।

उन सबका निरन्तर कृष्णनाम-ग्रहण—

सेइ हैते संन्यासीर फिरे गेल मन।
'कृष्ण' 'कृष्ण' नाम सदा करये ग्रहण॥१४९॥

१४९। प० अनु०—तब से संन्यासियों का मन बदल गया। वे सब सदैव 'कृष्ण' 'कृष्ण' नाम ग्रहण करने लगे।

अनुभाष्य

१४९। श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती काशीवासी एकदण्डी शांकर-सम्प्रदाय के संन्यासीवृन्द कि तात्कालिक नेता थे। कोई-कोई भ्रमवश इनके साथ श्रीरंग-क्षेत्रवासी, पश्चात् काम्यवनवासी श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती की समानता का प्रयास करते हैं। यह कहना अधिक न होगा कि, प्रबोधानन्द महीशूर-देश से आगत रंगक्षेत्रप्रवासी कोई एक रामाजुनीय त्रिदण्डी जीया के स्वामी थे। वे 'श्रीचैतन्यचन्द्रामृत', 'राधा-रससुधानिधि', 'संगीतमाधव', 'वृन्दावनशतक', 'नवद्वीप-शतक' आदि ग्रन्थसमूह के प्रणेता है। व्येंकटभट्ट, तिरुम-लयभट्ट एवं प्रबोधानन्द—ये तीनों भाई है। महाप्रभु ने इन्हें १४३३ शकाब्द के चातुर्मास्य के समय रामानुजीय सम्प्रदाय में स्थित देखा था। पश्चात् उनके द्वारा १४३५ शकाब्द में काशी में उन्हें शांकर- सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त के रूप में देखना तर्कसंगत नहीं है। श्रीभक्तिरत्नाकर-ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

प्रभु के द्वारा अपराध की क्षमा एवं कृपा—

एइमते ताँ-सबार क्षमि अपराध।
सबाकारे कृष्णनाम करिल प्रसाद॥१५०॥

१५०। प० अनु०—इस प्रकार से प्रभु ने उन सबके अपराध क्षमा कर दिये और सबको कृष्णनाम-रूप प्रसाद प्रदान किया।

सबका मिलकर
महाप्रसाद-सम्मान—

तबे सकल संन्यासी महाप्रभुके लैया।
भिक्षा करिलेन सबे, मध्ये बसाइया॥१५१॥
भिक्षा करि' महाप्रभु आइला बासाघर।
हेन चित्र लीला करे गौरांग-सुन्दर॥१५२॥

१५१-१५२। प० अनु०—फिर सभी संन्यासियों ने महाप्रभु को लेकर उन्हें बीच में बिठाकर महाप्रसाद का सम्मान किया। भिक्षा समापन-पूर्वक महाप्रभु घर चले आये। महाप्रभु श्रीगौरांग-सुन्दर इस प्रकार की विचित्र लीलाएँ करते हैं।

प्रभु की वदान्य-लीला में
भक्तवृन्द का आनन्द—

चन्द्रशेखर, तपन मिश्र, आर सनातन।
शुनि' देखि आनन्दित सबाकार मन॥१५३॥
प्रभुके देखिते आइसे सकल संन्यासी।
प्रभुर प्रशंसा करे सब वाराणसी॥१५४॥

१५३-१५४। प० अनु०—ये सब सुनकर और देखकर चन्द्रशेखर, तपन मिश्र और सनातन आदि सभी मन में आनन्द का अनुभव करने लगे। प्रभु को देखने के लिये सभी संन्यासी आने लगे। सम्पूर्ण वाराणसीवासी प्रभु की प्रशंसा करने लगे।

प्रभु की पदार्पण से
काशी धन्या—

वाराणसीपुरी आइला श्रीकृष्णचैतन्य।
पुरीसह सर्वलोक हैल महाधन्य॥१५५॥

१५५। प० अनु०—श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के वाराणसीपुरी में आगमन से पुरी के साथ सभी लोग धन्यातिधन्य हो गये।

अनगिनत लोगों का प्रभु-दर्शन—

लक्ष लक्ष लोक आइसे प्रभुके देखिते।
महाभिड़ हैल द्वारे, नारे प्रवेशिते॥१५६॥
प्रभु यवे या'न विश्वेश्वर-दरशने।
लक्ष लक्ष लोक आसि' मिले सेइ स्थाने॥१५७॥
स्नान करिते यवे या'न गंगातीरे।
ताहाञि सकल लोक हय महाभीड़े॥१५८॥

१५६-१५८। प० अनु०—प्रभु को देखने के लिये लाखों लोग आने लगे, परन्तु द्वार पर महान भीड़ के कारण प्रवेश करने में असमर्थ रह गये। प्रभु जब विश्वेश्वर दर्शन को जाते थे, लाखों लोग आकर वहीं उनसे मिलते थे। स्नान करने के लिये जब गंगा के तट पर जाते तो सारी भीड़ वहीं पहुँच जाया करती थी।

हरिकीर्त्तन करवाकर प्रभु के द्वारा लोगों का उद्धार—

बाहु तुलि' प्रभु बले,—बल हरि हरि।
हरिध्वनि करे लोक स्वर्गमर्त्त्य भरि'॥१५९॥

१५९। प० अनु०—प्रभु अपनी बाहुओं को ऊपर उठाकर कहने लगे,—बोलो हरि हरि। स्वर्गमर्त्त्य पूरित करके लोग हरिध्वनि करने लगे।

प्रभु का काशीत्याग एवं श्रीसनातन
को वृन्दावन में प्रेरण—

लोक निस्तारिया प्रभुर चलिते हैल मन।
वृन्दावने पाठाइला श्रीसनातन॥१६०॥
रात्रि-दिवसे लोकेर शुनि' कोलाहल।
वाराणसी छाड़ि' प्रभु आइला नीलाचल॥१६१॥
एइ लीला कहिब आगे विस्तार करिया।
संक्षेपे कहिलाङ इहाँ प्रसंग पाइया॥१६२॥

१६०-१६२। प० अनु०—लोगों का उद्धार करके प्रभु ने चले जाने के लिये मनस्थिर किया और श्रीसनातन को वृन्दावन भेज दिया। रातदिन लोगों का कोलाहल सुनकर प्रभु वाराणसी छोड़कर नीलाचल (पुरी) आ गये। आगे ये सारी लीलाएँ विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा। प्रसंग पाकर यहाँ संक्षेप में वर्णन किया है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६२। आगे—मध्य २५श पः देखिये।

सप्तम परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

पंचतत्त्व के रूप में प्रभु का जगदुद्धार—

एइ पंचतत्त्वरूपे श्रीकृष्णचैतन्य।
कृष्ण-नाम-प्रेम दिया विश्व कैल धन्य॥१६३॥

१६३। प॰ अनु॰—श्रीकृष्णचैतन्य ने इन पंचतत्त्व के रूप में कृष्णनाम-प्रेम देकर विश्व को धन्य किया है।

स्वयं एवं प्रचारकगणों के द्वारा भारत में सर्वत्र नामप्रेम-प्रचार व लोगों का उद्धार—

मथुराते पाठाइल रूप-सनातन।
दुइ सेनापति कैल भक्ति प्रचारण॥१६४॥
नित्यानन्द-गोसाञे पाठाइला गौड़देशे।
तेंहो भक्ति प्रचारिला अशेष-विशेषे॥१६५॥
आपने दक्षिण देश करिला गमन।
ग्रामे ग्रामे कैला कृष्णनाम प्रचारण॥१६६॥
सेतुबन्ध पर्यन्त कैल भक्तिर प्रचार।
कृष्णप्रेम दिया कैल सबार निस्तार॥१६७॥

१६४-१६७। प॰ अनु॰—प्रभु ने रूप-सनातन को मथुरा भेज दिया और दोनों सेना पतियों ने भक्ति का प्रचार किया। नित्यानन्द गोसाञि को गौड़देश भेजा। उन्होंने अशेष-विशेष प्रकार से भक्ति का प्रसारण किया। स्वयं दक्षिण देश को गये और गाँव-गाँव तक कृष्णनाम का प्रचारण किया। प्रभु ने सेतुबन्ध (रामेश्वर) तक भक्ति का प्रचार किया और कृष्णप्रेम देकर सबका उद्धार किया।

अनुभाष्य

१६४-१६७। कृष्णप्रेम-द्वारा भारत में सर्वत्र सभी का उद्धार करने के उद्देश्य से उत्तरपश्चिम देश में माथुर-मंडल में श्रीरूप-सनातन के द्वारा, गौड-बंगदेश में श्री-नित्यानन्द के द्वारा एवं स्वयं दक्षिणदेश में सेतुबन्ध तक गाँव-गाँव में कृष्णनाम का प्रचार किया था।

सप्तम परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

पंचतत्त्व की व्याख्या सुनने से गौरतत्त्व-ज्ञानलाभ—

एइ त' कहिल पंचतत्त्वेर व्याख्यान।
इहार श्रवणे हय चैतन्यतत्त्व-ज्ञान॥१६८॥
श्रीचैतन्य, नित्यानन्द, अद्वैत,—तिन जन।
श्रीवास-गदाधर-आदि यत भक्तगण॥१६९॥
सबाकार पादपद्मे कोटि नमस्कार।
यैछे तैछे कहि किछु चैतन्य-विहार॥१७०॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥१७१॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में पंचतत्त्वाख्यान-निरूपणं नामक सप्तम-परिच्छेद समाप्त।

१६८-१७१। प॰ अनु॰—अभी तक पंचतत्त्व की व्याख्या की गयी है। इसके श्रवण से चैतन्यतत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है। श्रीचैतन्य, नित्यानन्द एवं अद्वैत—ये तीनों जन, और श्रीवास-गदाधर आदि जितने भी भक्तवृन्द हैं; उन सबके श्रीचरणकमलों में मेरा कोटि नमस्कार है। जैसे-तैसे कुछ श्रीचैतन्य महाप्रभु के विहार का वर्णन कर रहा हूँ। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋ ❋ ❋

दशम परिच्छेद

कथासार—इस परिच्छेद में श्रीमन् महाप्रभु की निजशाखा का वर्णन हुआ है।

(अ:प्र:भा:)

गौरभक्त की वन्दना—

श्रीचैतन्यपदाम्भोज-मधुपेभ्य नमो नमः।
कथंचिदाश्रयात् येषां श्वापि तद्गन्धभाग्भवेत्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। श्रीचैतन्यपादपद्म के भ्रमरों को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ। किसी भी प्रकार से इनका आश्रय लेने से कुक्कुर भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की गन्ध को प्राप्त कर सकता है।

अनुभाष्य

१। श्रीचैतन्यपदाम्भोजमधुपेभ्यः (श्रीचैतन्यस्य पदाम्भोजयोः मधु भक्तिरसं पिवन्ति ये मधुपाः भृंगाः तेभ्यः गौरभक्तेभ्यः) नमो नमः। येषां कथंचित् (केनचित् अपि प्रकारेण) आश्रयात् श्वा (कुक्कुरः भोगपरः भगवद् अभक्तौ श्रद्धाहीनः) अपि तद्-गन्धभाक् (तयोः गौरपदकमलयोः गन्धं भजति प्राप्नोति इति गौरभक्तिमान्) भवेत्।

जय जय श्रीकृष्णचैतन्य-नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प० अनु०—श्रीकृष्णचैतन्य की जय हो। जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो तथा गौरभक्तवृन्द की जय हो।

गौर-कल्पवृक्ष की मुख्यशाखा का वर्णन—

एइ मालीर—एइ वृक्षेर अकथ्य कथन।
एबे शुन मुख्यशाखार नाम-विवरण॥३॥

३। प० अनु०—श्रीचैतन्य माली के इस वृक्ष का कथन अवर्णनीय है। अब मुख्यशाखा के नाम का विवरण सुनिये।

गौरभक्तों में गुरु-लघु-भेद नहीं—

चैतन्य-गोसाञिर यत पारिषदचय।
लघु-गुरु-भाव ताँर ना हय निश्चय॥४॥
यत यत महान्त कैला ताँ-सबार गणन।
केह करिवारे नारे ज्येष्ठ-लघु-क्रम॥५॥
अतएव ताँ-सबार करि' नमस्कार।
नाम-मात्र करि, दोष ना लबे आमार॥६॥

४-६। प० अनु०—श्रीचैतन्य गोसाईं के जितने भी पार्षदवर्ग हैं, उनमें निश्चित रूप से छोटे-बड़े का भाव नहीं है। जिन-जिन महापुरुषों ने उन सबकी गणना की है, उनमें से किसी ने भी बड़े-छोटे के क्रमानुसार उनका परिचय नहीं दिया। अतः मैं उन सबको नमस्कार कर उनके नाम मात्र को ही उल्लेख कर रहा हूँ। वह मेरे दोष को ग्रहण न करें।।

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्य-प्रेमामरतरोः प्रियान्।
शाखारूपान् भक्तगणान् कृष्णप्रेमफलप्रदान्॥७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७। श्रीकृष्णचैतन्यरूप प्रेमकल्पवृक्ष के कृष्णप्रेम फल को देने वाले शाखा-स्वरूप उनके प्रिय भक्तवृन्द की मैं वन्दना करता हूँ।

अनुभाष्य

७। श्रीकृष्णचैतन्यप्रेमामरतरोः (गौरप्रेमकल्पवृक्षस्य) कृष्णप्रेमफलप्रदान शाखारूपान् प्रियान् भक्त-गणान् अहं वन्दे।

(१—क, ख, ग, घ) श्रीवास-
श्रीरामादि चार भाईयों की शाखा—

श्रीवास पण्डित, आर श्रीराम पण्डित।
दुइ भाइ—दुइ शाखा, जगते विदित॥८॥
श्रीपति, श्रीनिधि—ताँर दुइ सहोदर।
चारि भाइर दास-दासी, गृह-परिकर॥९॥

८-९। प० अनु०—श्रीवास पण्डित एवं श्रीराम पण्डित नामक दो भाई, दो शाखाओं के रूप में प्रसिद्ध हैं और श्रीपति और श्रीनिधि इनके दो भाई हैं। इस प्रकार चार भाई अपने-अपने दास-दासी, गृह-परिवार के साथ विराजमान हैं।

अनुभाष्य

८। श्रीवास—श्रीगौरगणोद्देश में (९० श्लोक)—"श्रीवास पण्डितो धीमान य पुरा नारदो मुनिः। पर्वताख्यो मुनिवरः य आसीन्नारद-प्रियः। श्रीराम पण्डित श्रीमान् तत्कनिष्ठसहोदरः॥" "नाम्नाम्बिका ब्रजे धात्री स्तन्यदात्री स्थिता पुरा। सैवेयं 'मालिनी' नाम्नी श्रीवासगृहिणी माता॥" श्रीवास के भाई की पुत्री ही श्रीवृन्दावन ठाकुर की जननी श्रीनारायणीदेवी हैं।

श्रीमन् महाप्रभु के द्वारा संन्यास-ग्रहण के पश्चात् श्रीवास ने नवद्वीप के वास-स्थान को छोड़कर कुमारहट्ट में वास किया था। यह चैतन्यभागवत आदि ग्रन्थों (अन्त्य लीला, ५म अः) में वर्णित है।

उन सबकी ऐकान्तिकी गौरभक्ति—

दुइ शाखार उपशाखाय ताँ-सबार गणन।
याँर गृहे महाप्रभुर सदा संकीर्त्तन॥१०॥
सवंशे करेन याँरा चैतन्येर सेवा।
गौरचन्द्र बिना नाहि जाने देवी-देवा॥११॥

१०-११। प० अनु०—उक्त दो शाखाओं की उपशाखा के रूप में इन सबकी गिनती होती है। इनके घर में श्रीमन् महाप्रभु सदा सङ्कीर्त्तन करते थे। ये चारों भाई अपने वंश सहित श्रीचैतन्य की सेवा करते और श्रीगौरचन्द्र के बिना अन्य किसी देव-देवियों को नहीं जानते थे।

(२) श्रीचन्द्रशेखर शाखा—

'आचार्यरत्न' नाम धरे बड़ एक शाखा।
ताँर परिकर, ताँर शाखा-उपशाखा॥१२॥
आचार्यरत्न नाम 'श्रीचन्द्रशेखर'।
याँर घरे देवी-भावे नाचिला ईश्वर॥१३॥

१२-१३। प० अनु०—आचार्यरत्न नाम की एक बड़ी शाखा है। इनके परिकर, इनकी शाखा की उपशाखा हैं। आचार्यरत्न का नाम 'श्रीचन्द्रशेखर' है। जिनके घर में ईश्वर श्रीचैतन्यदेव ने देवी-भाव में नृत्य किया था।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३। श्रीचन्द्रशेखर आचार्यरत्न—किसी-किसी ग्रन्थ के मतानुसार श्रीमन् महाप्रभु के मौसा हैं।

अनुभाष्य

१३। श्रीचन्द्रशेखर—श्रीमान् नवनिधि में से एक अथवा चन्द्र (?)। इनके घर में ही श्रीमन् महाप्रभु ने देवीभाव में नृत्याभिनय किया था (चैःभाः मध्यलीला, १८अः)। इन्हीं चन्द्रशेखर का घर अब 'व्रजपत्तन'-नाम से सुप्रसिद्ध है। इन्होंने पहले से ही श्रीनित्यानन्द प्रभु के मुख से श्रीमन् महाप्रभु की संन्यास कथा को जान लिया था (चैःभाः मध्यलीला, २६अः) एवं संन्यास ग्रहण के समय श्रीनित्यानन्द और मुकुन्ददत्त के साथ काटोया में उपस्थित होकर इन्होंने संन्यासकाल में उचित कार्यादि का सम्पादन किया था तथा नवद्वीप में लौटकर सभी को प्रभु के संन्यास के सम्बन्ध में बताया था। इनके घर में श्रीमन् महाप्रभु के कीर्त्तन की कथाएँ—चैःभाः मध्यलीला, ८म अः, काजीदलन के समय नगर कीर्त्तन के साथ एवं श्रीधर को कृपा करते समय इनकी उपस्थित थे—मध्यलीला २३पः द्रष्टव्य है। ये भक्तों के साथ गौड़देश से श्रीक्षेत्र (जगन्नाथपुरी) में जाया करते थे।

(३) श्रीपुण्डरीक-शाखा—

पुण्डरीक विद्यानिधि—बड़शाखा जानि।
याँर नाम लञा प्रभु कान्दिला आपनि॥१४॥

१४। प० अनु०—पुण्डरीक विद्यानिधि को एक

बड़ी शाखा के रूप में जानता हूँ, जिनका नाम लेकर प्रभु स्वयं क्रन्दन करते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४। श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि—चट्टग्रामनिवासी।

अनुभाष्य

१४। श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि,—गौरगणोद्देश में ५४ श्लोक—"वृषभानुतया ख्यातः पुरा जो ब्रजमण्डले। अधुना पुण्डरीकाक्षो विद्यानिधि- महाशयः॥ स्वकीयभावमास्याद्य राधा-विरहकातरः। चैतन्यः पुण्डरीकाक्षमये तातावदत् तावत् स्वयम्। 'प्रेमनिधि' तयाख्यातिं गौरो यस्मै ददौ सुधीः। माधवेन्द्रस्य शिष्यत्वात् गौरवंच सदाकरोत्। रत्नावती तु तत्पत्नी कीर्त्तिदा कीर्त्तिता वुधैः॥ इनके पिता का नाम—'वाणेश्वर', (मतभेद में शुकलाम्बर ब्रह्म-चारी) और माता का नाम—गंगादेवी है। मतभेद में, वाणेश्वर—शिवराम गंगोपाध्याय के वंशजात है। विद्या-निधि के पिता ढाका जिला के वाधिया गाँव निवासी वारेन्द्र श्रेणी के ब्राह्मण थे, इसलिये वहाँ के राढ़ीय ब्राह्मण समाज ने उन्हें स्वीकार नहीं किया; इस कारण उनके शाक्त समाज के द्वारा बहिष्कृत होकर अलग से ही वास करते हुए आ रहे हैं। वर्तमान में उनमें से एक 'सरोजानन्द गोस्वामी' का नाम धारण कर वृन्दावन में अवस्थान कर रहे हैं। इन सबके वंश की एक विशेषता यह है कि, सभी भाईयों में केवल किसी एक को ही पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है, अन्यान्य भाईयों के घर में या तो कन्या का जन्म होता है, या सन्तान ही नहीं होती; इस कारण इस वंश का विस्तार न हो सका। चट्टग्राम से छः कोस उतरी दिशा की ओर 'हाट-हाजारि' नामक एक थाना है। उससे एक कोस पूर्वी दिशा की ओर 'मेखला-गाँव' में इनका पूर्व-निवास था। चट्टग्राम शहर से सड़क के रास्ते घोड़ा-गाड़ी या बैलगाड़ी में, अथवा जलपथ में नौका या स्टीमर के सहारे वहाँ कोई भी जा सकता है। स्टीमर से अन्नपूर्णा के घाट और वहाँ से श्रीपाट—दो मील दक्षिण-पश्चिम में अवस्थित है।

विद्यानिधि का भजनमन्दिर अब नितान्त जीर्ण एवं अपरिष्कृत है; संस्कार न होने से शीघ्र ही लुप्त होने की सम्भावना है। मन्दिर की दीवार पर स्थित इष्टफलक में दो श्लोक खुदे हुए हैं; अक्षरसमूह विकृत होने के कारण पाठोद्धार अथवा अर्थ को समझना सम्भव नहीं है। इस मन्दिर से ४००।५०० हाथ दूर दक्षिण-पूर्व दिशा की ओर और एक मन्दिर दिखाई देता है; उसके दीवार पर स्थित इष्टफलक-लिपि का भी पाठोद्धार सम्भव नहीं है। इसके सामने ही १५।२० हाथ दूर उतरी दिशा की ओर और एक मन्दिर के होने की बात नीचे गिरे हुये अनेक इष्टकखण्ड के दर्शन से पता चलता है। प्रवाद है,—वही मुकुन्ददत्त का भजनमन्दिर था।

महाप्रभु इन्हें 'बाप' कहकर पुकारते थे। प्रभु ने उनका नाम 'प्रेमनिधि' रखा था। ये श्रीलगदाधर पण्डित गोस्वामी के गुरु एवं श्रीदामोदर स्वरूप के सुहृत् (हितैषी) थे। अबोध जीवों को सतर्क करके मङ्गलशिक्षा देने के उद्देश्य से पण्डित गोस्वामी ने विद्यानिधि को पहले विषयी के ज्ञान से गलत समझने का अभिनय करके अन्त में उनसे दीक्षाभिनय लीला का प्रदर्शन किया। श्रीजगन्नाथ देव के द्वारा उनके कपोलों पर में थप्पड़ मारने का वृत्तान्त—चैःभाः अन्त्यलीला, एकादश परिच्छेद में द्रष्टव्य है।

पुण्डरीक के वंश में श्रीहरकुमार स्मृतितीर्थ एवं श्री कृष्णकिंकर विद्यालंकार अधुना वर्तमान है। (वैष्णव-मंजुषा—१म संख्या द्रष्टव्य है)।

(४) श्रीगदाधर-शाखा—

बड़ शाखा,—गदाधर पण्डित गोसाञि।
तेंहो लक्ष्मीरूपा, ताँर सम केह नाइ॥१५॥
ताँर शिष्य-उपशिष्य,—ताँर उपशाखा।
एइमत सब शाखा-उपशाखा लेखा॥१६॥

१५-१६। प० अनु०—श्रीगदाधर पण्डित गोसाईं एक बड़ी शाखा हैं। वे लक्ष्मीस्वरूपा हैं तथा उनके समान कोई नहीं है। इनके शिष्य और उपशिष्य ही इनकी उपशाखा हैं। इस प्रकार समस्त शाखा और उपशाखा का उल्लेख किया गया है।

अनुभाष्य

१५। गदाधरपण्डित गोसाईं (गौ:ग: १४७-१५३ श्लोक)—'श्रीराधा-प्रेमरूपा या पुरा वृन्दावनेश्वरी। सा श्रीगदाधरो गौरवल्लभ: पण्डिताख्यक:॥ निर्णीत: श्रीस्व-रूपैर्यो ब्रजलक्ष्मीतया यथा। पुरा वृन्दावने लक्ष्मी: श्याम सुन्दर-वल्लभा। साद्य गौरप्रेमलक्ष्मी: श्रीगदाधर-पण्डित:। राधा-मनुगता यत्तल्ललिताप्यनु-राधिका। अत: प्राविशदेषा तं गौरचन्द्रोदये यथा॥'

आदिलीला, १२प: शेषभाग में गदाधर-शाखा द्रष्टव्य है।

(५) श्रीवक्रेश्वर-महिमा एवं शाखा—

वक्रेश्वर पण्डित—प्रभुर बड़ प्रियभृत्य।
एकभावे चब्बिश प्रहर याँर नृत्य॥१७॥
आपने महाप्रभु गाहेन याँर नृत्यकाले।
प्रभुर चरण धरि' वक्रेश्वर बले॥१८॥
"दशसहस्र गन्धर्व मोरे देह, चन्द्रमुख।
तारा गाय, मुञि नाचि, तबे मोर सुख"॥१९॥
प्रभु बलेन,—तुमि मोर पक्ष एक शाखा।
आकाशे उड़िया याङ, पाङ आर पाखा॥२०॥

१७-२०। प० अनु०—वक्रेश्वर पण्डित, श्रीमन् महाप्रभु के अत्यन्त प्रिय दास हैं। इन्होंने चौबीस प्रहर तक एक ही भाव में नृत्य किया था। जब महाप्रभु ने इनके नृत्य के समय स्वयं कीर्त्तन किया तब श्रीवक्रेश्वर, प्रभु के चरण पकड़कर कहने लगे—"हे चन्द्रमुख! मुझे दस हजार गन्धर्व दीजिये। जिससे वह सब तो गाते रहें और मैं नाचता रहूँ, तभी मुझे सुख प्राप्त होगा।" यह सुनकर प्रभु ने कहा—तुम मेरी एक शाखा होते हुए पंख के समान हो। यदि मुझे तुम्हारे जैसा एक पंख और मिल जाये, तो मैं आकाश में उड़ जाऊँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०। प्रभु ने कहा,—'तुम मेरे एक पंख हो; तुम्हारे जैसा एक और पंख मिलने से मैं आकाश में उड़ जाता।'

अनुभाष्य

१७। श्रीवक्रेश्वर पण्डित—गौरगणोद्देश में ७१ श्लोक—"व्यूहस्तुर्योऽनिरुद्धो य: स वक्रेश्वर-पण्डित:। कृष्णावेशजनृत्येन प्रभो सुखमजीजनत्। सहस्रगायकान्मह्यं देहि त्वं करूणामयं इति चैतन्यपादे य उवाच मधुरंवच:। स्वप्रकाश-विभेदेन शशिरेखा तमाविशत्॥"

श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामी प्रभु ने लिखा है—"राधा-कृष्णरसप्रकाशपरं गानावलीभूषितं, वृन्दारण्यसुखप्रचार-जनितं स्तम्भादिभावान्वितं। श्रीगौरांगौ-महाप्रभोरसमिल-नृत्यावतारंकुरं श्रीवक्रेश्वर-पण्डितं द्विजवरं चैतन्यभक्तं भजे॥ नित्यं तिष्ठति तत्रैव तुंगविद्या समुत्सुका। विप्रल-ब्धात्वमापन्ना श्रीकृष्णे रतियुक् सदा॥ अस्या वय: प्रमाणं स्यात् असौ गौररसे पुन:। वक्रेश्वर इति ख्यातामापन्ना हि कलौ युगे॥" ये श्रीवास के आङ्गन में एवं चन्द्रशेखर के भवन में श्रीमन् महाप्रभु के कीर्तन के समय नृत्य किया करते थे। देवानन्द के समक्ष प्रभु के द्वारा वक्रेश्वर की महिमा का कथन—चै:भा: अन्त्य, ३य अ: द्रष्टव्य है।

श्रीवक्रेश्वर के सम्बन्ध में उत्कल-कवि श्रीगोविन्द के द्वारा लिखित 'श्रीगौर-कृष्णोदय' में—'प्रभो: प्रथम-शिष्य इत्यर्थं विमृश्य वक्रेश्वरं निवेश्य च तदाश्रमे निज-निजं निवासं ययौ।"

इनके शिष्य श्रीगोपालगुरु हैं और उनके शिष्य श्रीध्यानचन्द्र है।

उत्कल-प्रदेश (उड़ीसा) में श्रीवक्रेश्वर के शिष्य-सम्प्रदाय में से अधिकांश ही अपने आपको गौड़ीय वैष्णव कहकर परिचय देते हैं।

(६) श्रीजगदानन्द की महिमा—

पण्डित जगदानन्द प्रभुर प्राणरूप।
लोके ख्यात येंहो सत्यभामार स्वरूप॥२१॥
प्रीत्ये करिते चाहे प्रभुके लालन-पालन।
वैराग्य-लोक-भये प्रभु ना माने कथन॥२२॥

दुइजने खट्मटि लागाय कोन्दल।
ताँर प्रीत्येर कथा आगे कहिब सकल॥२३॥

२१-२३। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु के प्राण-स्वरूप श्रीजगदानन्द पण्डित, लोगों में सत्यभामा के स्वरूप में विख्यात हैं। वे अत्यन्त प्रीति से प्रभु का लालन-पालन करना चाहते थे परन्तु वैराग्य जीवन का यापन करनेवाले प्रभु, लोगों के भय से इनकी बात नहीं मानते। इसलिए दोनों में परस्पर झगड़ा हो जाता। इनकी प्रीति का वर्णन आगे विस्तार-पूर्वक किया जायेगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

२३। अन्त्यलीला ४र्थ ७म, १२श एवं १३श पः देखिये।

अनुभाष्य

२१। जगदानन्द—गौरगणोद्देश में ५१श्लोक में—"केनावान्तरभेदेन भेदं कुर्वन्ति सात्वताः। सत्यभामा प्रकाशोऽपि जगदानन्द पण्डितः॥" ये श्रीवास-अङ्गन में एवं श्रीचन्द्रशेखर भवन में, प्रभु के कीर्तन के संगी थे। जगदानन्द पण्डित, प्रभु के संन्यास के पश्चात् उड़ीसा जाते समय प्रभु का दण्ड वहन करते एवं भिक्षा किया करते थे।

(७) श्रीराघवपण्डित-शाखा—

राघव-पण्डित—प्रभुर आद्य-अनुचर।
ताँर शाखा मुख्य एक,—मकरध्वज कर॥२४॥

२४। प० अनु०—श्रीराघव पण्डित, प्रभु के नित्य पार्षद हैं। इनकी एक मुख्य शाखा मकरध्वज कर नाम से जानी जाती है।

अनुभाष्य

२४। राघव पण्डित—गौरगणोद्देश में ४४ श्लोक—"धनिष्ठा भक्ष्यसामग्रीं कृष्णायाद् ब्रजेऽमिताम्। सैव साम्प्रतं गौरांगौप्रियो राघव-पण्डितः॥"

इ,वि,आर लाइन पर सियालदह स्टेशन से सोदपुर स्टेशन, वहाँ से एक मील पश्चिम की ओर गङ्गा के तट पर पाणिहाटी गाँव में राघवभवन है। राघवपण्डित की समाधि के ऊपर लताकुञ्ज से घिरी हुई एक उच्च बेदी स्थापित है। जहाँ समाधि विद्यमान है, वहाँ से ही उत्तरी दिशा की ओर एक टुटे हुये जीर्ण घर में बिना किसी यत्न से सेवित श्रीमदनमोहन-विग्रह विराजमान हैं। पाणिहाटी के वर्तमान जमींदार श्रीशिवचन्द्र राय चौधुरी की अध्यक्षता में अब यह सेवा चल रही है।

अनुभाष्य

२४। मकरध्वज—गौरगणोद्देश में १४१ श्लोक—"नटश्चन्द्रमुखः प्राग् य स करो मकरध्वजः॥" ये पाणिहाटी गाँव के अधिवासी थे।

उनकी बहन दमयन्ती की गुणराशि—

ताँहार भगिनी दमयन्ती प्रभुर प्रिय दासी।
प्रभुर भोगसामग्री ये करे वारमासि॥२५॥
से सब सामग्री यत झालिते भरिया।
राघव लइया या'न गुपत करिया॥२६॥
बारमास ताहा, प्रभु करेन अंगीकार।
'राघवेर झालि' बलि' प्रसिद्धि याहार॥२७॥
से-सब सामग्री आगे करिब विस्तार।
याहार श्रवणे भक्तेर बहे अश्रुधार॥२८॥

२५-२८। प० अनु०—श्रीराघव पण्डित की बहन दमयन्ती, प्रभु की प्रिय दासी है; जो प्रभु के लिए बारह मास तक भोगसामग्री प्रस्तुत करती। वे सब सामग्री को एक झोली में रख देतीं जिसे राघव पण्डित छिपाकर प्रभु के लिए ले जाते। बारह मास तक प्रभु इन भोग सामग्री को आस्वादन करते इसलिए यह 'राघव की झाली' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उन सब सामग्री को आगे विस्तार-पूर्वक वर्णन करूँगा। जिसके श्रवण से भक्तों की अश्रु धारा बहने लगती।

अमृतप्रवाह भाष्य

२८। आगे—अन्त्यलीला, १०म पः द्रष्टव्य है।

अनुभाष्य

२५। दमयन्ती—गौरगणोद्देश में १६७ श्लोक—"गुण माला ब्रजे यासीद्दमयन्ती तु तत्-स्वसा॥"

२७। अन्त्यलीला, १०म पः में 'झालि' का वर्णन द्रष्टव्य है।

(८) श्रीगङ्गादास—

प्रभुर अत्यन्त प्रिय—पण्डित गंगादास।
याँहार स्मरणे हय सर्वबन्ध-नाश॥२९॥

२९। प॰ अनु॰—गङ्गादास पण्डित, प्रभु के अत्यन्त प्रिय हैं। इनके स्मरण से सभी बन्धनों का नाश हो जाता है।

अनुभाष्य

२९। गङ्गादास पण्डित—गौरगणोद्देश के ५३ श्लोक में—"पुरासीत् रघुनाथस्य यो वशिष्ठ-मुनिर्गुरुः। स प्रकाशविशेषेण गंगादास-सुदर्शनौ॥" वहाँ १११ श्लोक में—** "गंगादासः प्रभु- प्रियः। आसीन्निधुवने प्राग् यो दुर्वासा गोपिका प्रियः॥"

(९) श्रीपुरन्दर आचार्य—

चैतन्य-पार्षद—श्रीआचार्य पुरन्दर।
पिता करि' याँरे बले गौरांगसुन्दर॥३०॥

३०। प॰ अनु॰—श्रीपुरन्दर आचार्य, श्रीचैतन्य महाप्रभु के पार्षद हैं। इन्हें श्रीगौराङ्गसुन्दर 'पिता' कहकर सम्बोधन करते थे।

अनुभाष्य

३०। पुरन्दर आचार्य—चैःभाः अन्त्यलीला, ५म अः—"प्रभु आइलेन मात्र पण्डितेर घर। वार्त्ता पाइ' आइला आचार्य पुरन्दर॥ ताहाने देखिया प्रभु पिता करि' बले। प्रेमावेशे मत्त ताने करिलेन कोले॥ परम सुकृति से आचार्य पुरन्दर। प्रभु देखि' कान्दे अति हइ असंबर॥"

(१०) श्रीदामोदर पण्डित-शाखा—

दामोदर पण्डित शाखा प्रेमेते प्रचण्ड।
प्रभुर ऊपरे येंहो कैल वाक्यदण्ड॥३१॥
दण्ड-कथा कहिब आगे विस्तार करिया।
दण्डे तुष्ट प्रभु ताँरे पाठाइल नदीया॥३२॥

३१-३२। प॰ अनु॰—श्रीदामोदर पण्डित की शाखा अत्यन्त प्रचण्ड प्रेम वाली है। इन्होंने प्रभु पर वाक्य दण्ड का प्रयोग किया था, जिसे आगे विस्तार-पूर्वक वर्णन करूँगा। इनके इस वाक्य दण्ड से सन्तुष्ट होकर प्रभु ने इन्हें नवद्वीप भेज दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

३२। आगे—अन्त्यलीला ३य पः देखिये।

अनुभाष्य

३१-३२। दामोदर पण्डित—गौरगणोद्देश में (१६९ श्लोक)—"शैव्या यासीत् व्रजे चण्डी स दामोदर पण्डितः। कुतश्चित् कार्यतो देवी प्राविशत्तं सरस्वती॥" प्रभु की आज्ञा से दामोदर, शचीमाता के दर्शन के लिए गौड़देश में आकर और फिर रथयात्रा से पहले भक्तवृन्द के साथ पुरुषोत्तम (जगन्नाथ पुरी) में जाते थे (चैःभाः अन्त्यलीला, ९म अः)। शचीदेवी की कृष्णभक्ति की कथाएँ पूछने पर, प्रभु के प्रति दामोदर पण्डित का उत्तर—चैः भाः अन्त्यलीला, १०म अः द्रष्टव्य है।

अन्त्यलीला, तृतीय परिच्छेद में दामोदर का प्रभु के प्रति वाक्य-दण्ड-वृत्तान्त द्रष्टव्य है।

(११) श्रीशङ्कर पण्डित
की महिमा एवं शाखा—

ताँहार अनुज शाखा—शंकर पण्डित।
'प्रभु-पादोपाधान' याँर नाम विदित॥३३॥

३३। प॰ अनु॰—श्रीदामोदर पण्डित के छोटे भाई श्रीशङ्कर पण्डित एक शाखा हैं। ये 'प्रभु के पादोपाधान' (श्रीमन् महाप्रभु के चरणों के तकिया) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

अनुभाष्य

३३। शङ्कर पण्डित—गौरगणोद्देश में (१५७ श्लोक) "यस्या वक्षसि सुष्वाप कृष्णो वृन्दावने पुरा। सा श्रीभद्राद्य गौराङ्ग-प्रियः शङ्कर पण्डितः॥" अन्त्यलीला, १९परिच्छेद, पः संख्या ६७-७८ द्रष्टव्य है।

पण्डित दामोदर के प्रति श्रीमन् महाप्रभु की गौरव-

मयी प्रीति एवं उनके अनुज पण्डित शङ्कर के प्रति श्रीमन् महाप्रभु का केवल शुद्धप्रेम विद्यमान था। (मध्य लीला, ११परिच्छेद, पः संख्या १४६-१४८ द्रष्टव्य है।

(१२) श्रीसदाशिवपण्डित—

सदाशिवपण्डित याँर प्रभुपदे आश।
प्रथमेइ नित्यानन्देर याँर घरे वास॥३४॥

३४। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु के चरणों में ही जिनकी आस है, उन सदाशिव पण्डित के घर में श्री-नित्यानन्द प्रभु पहले वास करते थे।

अनुभाष्य

३४। सदाशिव पण्डित—चै:भाः अन्त्यलीला, ९म अः—(श्रीरथयात्रा के समय)—"सदाशिव पण्डित चलिला शुद्धमति। याँर घरे पूर्वे नित्यानन्देर वसति॥"

ये नवद्वीप के अधिवासी प्रभु के कीर्तन के साथी थे। गया से आने के बाद इन्हें एवं अन्यान्य भक्तवृन्द को शुक्लाम्बर के घर में महाप्रभु ने अपनी कृष्णभजन की कथा सुनायी थी और चन्द्रशेखर-भवन में लक्ष्मी के वेष में नृत्य करते समय महाप्रभु ने सदाशिव पण्डित को काचसज्जादि (वेशभूषा आदि को सजाने) के लिए कहा था। (चै:भाः मध्यलीला, १८ अः)।

(१३) श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी—

श्रीनृसिंह-उपासक—प्रद्युम्न ब्रह्मचारी।
प्रभु ताँरे नाम कैला 'नृसिंहानन्द' करि'॥३५॥

३५। प० अनु०—प्रद्युम्न ब्रह्मचारी श्रीनृसिंह भगवान् के उपासक थे। प्रभु इन्हें 'नृसिंहानन्द' नाम से बुलाते थे।

अनुभाष्य

३५। प्रद्युम्न ब्रह्मचारी—अन्त्य, २य पः—"प्रद्युम्न ब्रह्मचारी ताँर निजनाम। 'नृसिंहानन्द' नाम ताँर कैल गौरधाम॥" पाणिहाटी में स्थित राघव के घर से आकर कुमारहट्ट में शिवानन्द के भवन में श्रीमन् महाप्रभु ने इनके हृदय में आविर्भूत होकर श्रीजगन्नाथ, श्रीनृसिंह एवं अपना—तीनों का भोग ग्रहण किया था। (चै:चः अन्त्य, २य पः ४८-७८)। कुलिया में श्रीमन् महाप्रभु का वृन्दावनगमन समाचार सुनने के पश्चात् इन्होंने ध्यान-मग्न चित्त से पहले कुलिया से वृन्दावन तक का मार्ग सुसज्जित किया था, परन्तु बाद में ध्यानभंग हो जाने के कारण इन्होंने भक्तवृन्द से कहा—इस बार प्रभु कानाइ नाटशाला तक ही जायेंगे, वृन्दावन नहीं जायेंगे (मध्य, १म पः ५५-६२)। गौरगणोद्देश में ७४ श्लोक—"आवेश-श्च तथा ज्ञेयो मिश्रे प्रद्युम्नसंज्ञके।" (चै:भाः अन्त्य, ३य अः)—"जिनके शरीर में नृसिंह का प्रकाश" ("याँहार शरीरे नृसिंहेर परकाश") एवं (अन्त्य, ९अः)—"साक्षात् नृसिंह याँर सने कथा कय" ("साक्षात् नृसिंहदेव जिनके साथ बात करते हैं")।

(१४) श्रीनारायण-पण्डित—

नारायण-पण्डित एक बड़इ उदार।
चैतन्य-चरण बिनु नाहि जाने आर॥३६॥

३६। प० अनु०—नारायण पण्डित बड़े ही उदार थे। वे श्रीचैतन्य महाप्रभु के पादपद्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते थे।

अनुभाष्य

३६। नारायण पण्डित—वे श्रीवास के भाई श्रीराम पण्डित के साथ श्रीमन् महाप्रभु के दर्शन को नीलाचल (पुरी) गये थे। चै:भाः अन्त्य, ९म अः ९३ संख्या द्रष्टव्य है।

(१५) श्रीमान् पण्डित-शाखा—

श्रीमान् पण्डित शाखा—प्रभुर निज भृत्य।
देउटि धरेन, यबे प्रभु करेन नृत्य॥३७॥

३७। प० अनु०—श्रीमान् पण्डित नामक एक शाखा प्रभु के निज दास हैं। वे प्रभु के नृत्य के समय दीवट (मशाल) पकड़ते थे।

अनुभाष्य

३७। श्रीमान् पण्डित—वे श्रीनवद्वीपवासी, प्रभु के

प्रथम कीर्तन के साथी हैं। किसी दिन प्रभु देवीभाव में और अन्य समय भी जब नृत्य करते तो यह मशाल जलाते थे। चैःभाः मध्य, १८अः—"आद्या-शक्ति—वेशे नाचे प्रभु गौरसिंह। सुखे देखे ताँर यत चरणेर भृंग॥ सन्मुखे देउटी धरे पण्डित श्रीमान्॥"

(१६) श्रीशुक्लाम्बर ब्रह्मचारी—

शुक्लाम्बर-ब्रह्मचारी बड़ भाग्यवान्।
याँर अन्न मागि' काड़ि' खाइला भगवान्॥३८॥

३८। प॰ अनु॰—भगवान् ने जिनका अन्न माँगकर अथवा छीनकर खाया, वे शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी बड़े भाग्यवान हैं।

अनुभाष्य

३८। शुकलाम्बर ब्रह्मचारी—वे श्रीनवद्वीपवासी एवं प्रभु के प्रथम कीर्तन के साथी हैं। गया से लौटकर श्रीमन् महाप्रभु ने भक्तों को इन्हीं के ही घर में एकत्र होकर इनके समक्ष श्रीकृष्ण का आख्यान सुनने के लिये अनुरोध किया था। (चैःभाः मध्य १म अः) नवद्वीप-लीला में श्रीमन् महाप्रभु इन्हीं के भिक्षा के अन्न को छीनकर परम आनन्द से भोजन करते थे। (चैःभाः मध्य, १६ एवं २५ अः)। गौरगणोद्देश में १९१ श्लोक में—"शुक्लाम्बरो ब्रह्मचारी पुरासीद्यज्ञपत्निका। प्रार्थयित्वा यदन्नं श्रीगौरांगो भुक्तवान प्रभुः। केचिदाहुर्ब्रह्मचारी याज्ञिकब्राह्मणः पुरा॥"

(१७) श्रीनन्दन-आचार्य-शाखा—

नन्दन-आचार्य-शाखा जगते विदित।
लुकाइया याँर घरे दुइ प्रभुर स्थित॥३९॥

३९। प॰ अनु॰—नन्दन-आचार्य शाखा जगत में प्रसिद्ध हैं। इनके घर में दोनों प्रभु कुछ दिनों तक छिपकर रहे।

अनुभाष्य

३९। नन्दन आचार्य—वे नवद्वीपवासी प्रभु के कीर्तन के साथी हैं। श्रीनित्यानन्द प्रभु अवधूत वेष में अनेक तीर्थ भ्रमण के उपरान्त पहले इन्हीं के ही घर में आकर उपस्थित हुये थे। वहाँ श्रीमन् महाप्रभु का भक्तों सहित इनके मिलन हुआ। महाप्रकाश प्रकट के दिन श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीअद्वैतप्रभु को ले आने के लिये रामाइ पण्डित को भेजा। श्रीअद्वैताचार्य नन्दनाचार्य के घर में छिपे रहे। सर्वान्तर्यामी श्रीगौरसुन्दर को इस बात का पता चला और वे भी एकदिन इनके घर में छिपे गये। चैःभाः मध्य, ६ एवं १७ अध्याय द्रष्टव्य है।

(१८) श्रीमुकुन्द-दत्त-शाखा—

श्रीमुकुन्द-दत्त-शाखा—प्रभुर समाध्यायी।
याँहार कीर्तन नाचे चैतन्य-गोसाञि॥४०॥

४०। प॰ अनु॰—श्रीमुकुन्द-दत्त नामक शाखा प्रभु के सहपाठी हैं। जिनके कीर्तन में श्रीचैतन्य गोसाईं नृत्य करते थे।

अनुभाष्य

४०। श्रीमुकुन्ददत्त—इनका जन्म चट्टग्राम- जिला के पटिया थाना के अन्तर्गत 'छनहरा'-गाँव में हुआ था। यह गाँव विद्यानिधि के श्रीपाट 'मेखला' गाँव से दस कोस की दूरी पर स्थित है। गौरगणोद्देश के १४० श्लोक में—"व्रजे स्थितौ गायको यौ मधुकण्ठ-मधुव्रतौ। मुकुन्द-वासुदेवौ तौ दत्तौ गौरांगगायकौ॥" विद्या-शिक्षा के समय निमाइ अपने सहपाठी मुकुन्द के साथ न्यायशास्त्र की पहेली को लेकर झगड़ा किया करते थे। (चैःभाः आदि ७म एवं ८म अः) गया से लौटे कृष्णप्रेममत्त प्रभु को मुकुन्द भागवत-श्लोक पढ़कर आनन्द प्रदान करते थे। इनकी ही चेष्टा से साथी श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी श्रीविद्यानिधि से दीक्षित हुये (मध्य ७म अः)। श्रीवास अङ्गन में जब ये कीर्तन करते तो श्रीमन् महाप्रभु नृत्य-कीर्तन किया करते थे। 'सातप्रहरिया' भाव के समय इन्होंने 'अभिषेक' नामक गीत गाया था। मुकुन्द के प्रति दण्ड और कृपा का उल्लेख (चैःभाः मध्य, १०अः द्रष्टव्य) है। चन्द्रशेखर के भवन में प्रभु के लक्ष्मी वेश में नृत्यलीला के समय इन्होंने पहले कीर्तन शुरू किया

था। अपने संन्यास-ग्रहण की कथा श्रीनित्यानन्द प्रभु को कहने के पश्चात् प्रभु मुकुन्द के घर उपस्थित हुये। सारी बातें सुनकर मुकुन्द ने प्रभु को और कुछ दिनों तक नवद्वीप में रहकर कीर्तन-लीला करने के लिये अनुरोध किया (चै:भा: मध्य २५अ:)। प्रभु की संन्यास की कथा को श्रीनित्यानन्द प्रभु के श्रीमुख से सुनकर गदाधर और चन्द्रशेखर के साथ मुकुन्द भी जान गये थे। तब वे सबके साथ काटोया गये और वहाँ जाकर मुकुन्द दत्त कीर्तन करने लगे एवं प्रभु के संन्यास के समय होनेवाली क्रियाओं का सम्पादन करने लगे। प्रभु के संन्यास के उपरान्त निताइ, गदाधर और गोविन्द के साथ वे भी प्रभु के पीछे-पीछे चल पड़े (मध्य, २६अ:, अन्त्य १म अ:) एवं इस प्रकार प्रभु के पीछे-पीछे मुकुन्द दत्त ने पुरुषोत्तम (पुरी) तक गमन किया। (अन्त्य २य अ: द्रष्टव्य है) जलेश्वर जाते समय श्रीनित्यानन्द प्रभु के द्वारा श्रीमन् महाप्रभु के दण्ड को तोड़ने के समय वे उपस्थित थे और कुछ देर के बाद प्रभु के पीछे-पीछे जलेश्वर में आ गये। मुकुन्द दत्त प्रति वर्ष भक्तवृन्द के साथ प्रभुदर्शन के लिये गौड़देश से नीलाचल आया करते थे।

(१९) श्रीवासुदेवदत्त ठाकुर की गुणराशि—

वासुदेव दत्त—प्रभुर भृत्य महाशय।
सहस्र-मुखे याँर गुण कहिले ना हय॥४१॥
जगते यतेक जीव, तार पाप लञा।
नरक भुंजिते चाहे जीव छाड़ाइया॥४२॥

४१-४२। प० अनु०—वासुदेव दत्त महाशय प्रभु के दास हैं। जिनकी गुण महिमा हजारों मुखों के द्वारा भी नहीं की जा सकती। वे चाहतें हैं कि जगत् के जीवों का उद्धार हो जाए और जीवों के समस्त पापों को लेकर वे स्वयं नरक भोगें।

अनुभाष्य

४१। वासुदेव दत्त—इनका जन्म चट्टग्राम में हुआ था एवं ये मुकुन्द दत्त के भाई हैं। (चै:भा: अन्त्य ९म अ:) "याँर स्थाने कृष्ण हय आपने विक्रय।" कुमारहट्ट में श्रीवास के घर में अवस्थान के समय (चै:भा: अन्त्य ५म अ:)—"हेन से प्रभुर प्रीति दत्तेर विषय। प्रभु बले,—आमि वासुदेवेर निश्चय। *** ए शरीर वासुदेव दत्तेर आमार॥ दत्त आमा' यथा वेचे, तथाइ विकाइ। सत्य, सत्य, इहाते अन्यथा किछु नाइ॥ सत्य आमि कहि, शुन वैष्णवमण्डल। ए देह आमार वासुदेवेर केवल॥" इनके द्वारा अनुगृहीत श्रीयदुनन्दन आचार्य—श्रीरघुनाथदास-गोस्वामी के दीक्षागुरु थे। (अन्त्य, ६ प: १६१)। इनमें अधिक खर्चा करने की प्रवृत्ति को देखकर प्रभु ने शिवानन्द सेन को इनका 'सरखेल' (मैनेजर) बनाकर खरचा-समाधान के लिये आदेश दिया। (मध्य १५ प:९३-९६) जीवों का दु:ख देखकर श्रीमन् महाप्रभु के सामने इनकी प्रार्थना (१५प: १५९-१८०) द्रष्टव्य है।

इ,वि,आर लाइन में पूर्वस्थली-स्टेशन से १ मील की दूरी पर ठाकुर वृन्दावनदास की जन्मभूमि मामगाछि-गाँव में इनके द्वारा प्रतिष्ठित श्रीमदनगोपाल अभी भी विराजमान हैं। नितान्त अयत्न के साथ सेवा चलाई जा रही है। सेवा का उज्ज्वलता-विधान वाञ्छनीय है।

(२०) नामाचार्य हरिदास ठाकुर
की गुणराशि एवं उनकी शाखा—

हरिदास ठाकुर—शाखार अद्भुत चरित।
तिन लक्ष नाम तिंहो लयेन अपतित॥४३॥
ताँहार अनन्त गुण,—कहि दिङ्मात्र।
आचार्य गोसाञि याँरे भुंजाय श्राद्धपात्र॥४४॥
प्रह्लाद-समान ताँर गुणेर तरंग।
यवन-ताड़नेओ याँर नाहिक भ्रूभंग॥४५॥
तेंहो सिद्धि पाइले ताँर देह लञा कोले।
नाचिल चैतन्यप्रभु महाकुतुहले॥४६॥
ताँर लीला वर्णियाछेन वृन्दावनदास।
येवा अवशिष्ट, आगे करिब प्रकाश॥४७॥

४३-४७। प० अनु०—हरिदास ठाकुर नामक शाखा का अद्भुत चरित है। वे नित्य ही निर्दिष्ट रूप से तीन लाख हरिनाम किया करते थे। इनके गुण अनन्त हैं। जिन्हें संक्षेप में ही वर्णन कर रहा हूँ। आचार्य-गोसाईं

(श्रीअद्वैताचार्य) इन्हें श्राद्धपात्र प्रदान करते हैं। इनके गुण श्रीप्रह्लाद के समान है। यवनों के द्वारा कष्ट दिये जाने पर इनकी भ्रू तक भी टेढ़ी नहीं हुई। जब वे सिद्धि (अप्रकट-लीला) को प्राप्त हुये, तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इनके शरीर को अपनी गोद में लेकर महा-आनन्द के साथ नृत्य किया था। श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने उनकी लीलाओं का वर्णन किया है। जो कुछ शेष रह गया है, उसका आगे वर्णन करूँगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

४३। अपतित—विधिभंग किये बिना।

अनुभाष्य

४३-४७। श्रीहरिदास ठाकुर—(चैःभाः आदि २अः) "बूढ़ने हइला अ वतीर्ण हरिदास। ** कतदिन थाकि' आइला गंगातीरे। आसिया रहिला फुलियाय शान्तिपुरे॥"—यवनों के द्वारा दौरात्म्य-प्रसङ्ग—चैःभाः ११अध्याय में वर्णित है। श्रीहरिदास की दैन्योक्ति एवं प्रभु की कृपा—चैःभाः मध्य, १०अः, द्वार द्वार पर नाम-प्रचार—मध्य, १३अः, चन्द्रशेखर-भवन में अभिनय के समय हरिदास का कोतवालवेश—चैःभाः मध्य १८अः, बेनापोल में हरिनाम-भजन एवं परीक्षा—चैःचः अन्त्य ३य पः और हरिदास निर्याण—अन्त्य, ११पः में वर्णित है।

२४ परगणा के अन्तर्गत (अब खुलना-जिला) सातक्षीरा-मोहकम में 'बूढ़न' नामक एक परगणा है, वहाँ ठाकुर आविर्भुत हुये थे या नहीं, अभी तक इस बात का निश्चय नहीं हुआ है।

(२०क) हरिदासशिष्य सत्यराज खाँ (वसु) आदि—

ताँर उपशाखा,—यत कुलीनग्रामीजन।
सत्यराज-आदि—ताँर कृपार भाजन॥४८॥

४८। प॰ अनु॰—श्रीहरिदास ठाकुर की शाखा की उपशाखा समस्त कुलीन ग्राम के वासी हैं। जिनमें सत्यराज आदि उनके कृपा के पात्र हैं।

अनुभाष्य

४८। सत्यराज खान—ये कुलीनगाँव-निवासी गुणराज खान के पुत्र एवं रामानन्द वसु के पिता हैं। ठाकुर हरिदास ने चातुर्मास्य के समय कुलीनगाँव में रहकर भजन किया था एवं वसु वंशीयगणों को कृपा वितरण की थी। प्रति वर्ष श्रीजगन्नाथदेव की पट्टडोरी लाने के लिये श्रीमन् महाप्रभु के कृपादेश की प्राप्ति—मध्य, १४पः एवं गृहस्थियों के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में पूछने पर वैष्णव, वैष्णवतर और वैष्णवतम के अधिकार का तारतम्यता एवं उनके लक्षण का श्रवण (मध्य, १५पः १०२-१०९, १६पः ६९-७५ संख्या) द्रष्टव्य है। इनकी भजनस्थली पर आज भी श्रीमन् महाप्रभु का विग्रह विराजमान है।

कुलीनग्राम—हावड़ा-वर्द्धमान निउकर्ड लाइन में 'जौग्राम' स्टेशन से २ मील के भीतर कुलीनग्राम स्थित है। कुलीनग्राम की महिमा के सम्बन्ध में श्रीमन् महाप्रभु की उक्ति—आदि, १०म पः ८२-८३ एवं मध्य, १०म पः१००-१०१ संख्या द्रष्टव्य है।

(२१) श्रीमुरारिगुप्त की
महिमा एवं शाखा—

श्रीमुरारि गुप्त-शाखा,—प्रेमेर भाण्डार।
प्रभुर हृदय द्रवे शुनि' दैन्य याँर॥४९॥
प्रतिग्रह नाहि करे, ना लय कार धन।
आत्मवृत्ति करि' करे कुटुम्ब भरण॥५०॥
चिकित्सा करेन यारे हइया सदय।
देहरोग, भवरोग,—दुइ तार क्षय॥५१॥

४९-५१। प॰ अनु॰—श्रीमुरारिगुप्त नामक शाखा प्रेम का भण्डार हैं। जिनकी दीनता को सुनकर प्रभु का हृदय द्रवीभूत हो जाता था। वे प्रतिग्रह (किसी से दान) नहीं लेते और न ही किसी से धन ग्रहण करते थे। केवल आत्मवृत्ति के द्वारा कुटुम्ब का पालन-पोषण करते थे। वे दया करके जिसकी भी चिकित्सा करते—उनका देहरोग व भवरोग, दोनों ही दूर हो जाते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

५०। आत्मवृत्ति,—स्व-वर्णवृत्ति; मुरारिगुप्त कविराज (वैद्य) व्यवसाय करते थे।

अनुभाष्य

४९। श्रीमुरारिगुप्त—'श्रीचैतन्यचरित' ग्रन्थ के लेखक। वे श्रीहट्ट के वैद्यवंशजात एवं बाद में नवद्वीप-प्रवासी हुये थे। वे आयु में श्रीमन् महाप्रभु से बड़े थे। इनके घर में महाप्रभु ने अपना वराहरूप दिखाया था (चै:भा: मध्य, ३य अध्याय) एवं महाप्रकाश के समय उन्हें श्रीरामरूप का दर्शन कराया था (चै:भा: मध्य, १०अ:)। श्रीवास के घर में श्रीनित्यानन्द प्रभु के साथ विराजमान श्रीगौरसुन्दर को देखते हुये मुरारिगुप्त ने पहले श्रीगौरसुन्दर को प्रणाम एवं पश्चात् श्रीनित्यानन्द प्रभु को दण्डवत् किया। प्रभु ने मुरारि को कहा 'तुम ने व्यवहार का अतिक्रमण करके नमस्कार किया है।' और रात को स्वप्न में उनके निकट श्रीनित्यानन्द-तत्त्व का वर्णन किया। अगले दिन प्रातः मुरारि ने पहले श्री-नित्यानन्द प्रभु की और बाद में श्रीमन् महाप्रभु की चरण-वन्दना की। जिसे देख प्रभु ने मुरारि को चर्वित ताम्बुल प्रदान किया। एक दिन श्रीमन् महाप्रभु को लक्ष्य करके मुरारि ने घृत अन्न प्रदान किया। अगले दिन प्रातः श्रीमन् महाप्रभु अधिक मात्रामें अन्नग्रहण करने के कारण, अजीर्ण (अपच) हेतु, मुरारि के निकट चिकित्सा के लिये आये। 'मुरारि के जलपात्र का जल ही इसकी औषध है' ऐसा कहकर प्रभु ने जलपान किया; श्रीवास के भवन में श्रीमन् महाप्रभु ने चतुर्भुज-मूर्त्ति धारण की, मुरारि ने गरुड़ भाव का प्रदर्शन किया एवं प्रभु ने उनके कन्धों पर आरोहण किया। 'प्रभु का अप्रकट-विरह असहनीय होगा' ऐसा सोचकर प्रभु के प्रकट-काल में ही मुरारि ने देहत्याग का संकल्प लिया एवं अन्तर्यामी प्रभु ने उन्हें ऐसा करने से रोका (चै:भा: मध्य २० अ:)। एकदिन प्रभु का भावावेश एवं मुरारिगुप्त के घर प्रभु के द्वारा वराहमूर्त्ति का प्रदर्शन, जिसे देखकर मुरारि की स्तुति (चै:भा: अन्त्य, ४अ:); मुरारिगुप्त की दैन्योक्ति—मध्य ११प: १५२- १५८; मुरारि की श्रीरामनिष्ठा—मध्य, १५प: १३७-१५७ संख्या द्रष्टव्य है।

(२२) श्रीमान् सेन—

श्रीमान् सेन प्रभुर सेवक प्रधान।
चैतन्य-चरण बिनु नाहि जाने आन॥५२॥

५२। प० अनु—श्रीमान् सेन प्रभु के प्रधान सेवक हैं। वे श्रीचैतन्य-चरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते हैं।

अनुभाष्य

५२। श्रीमान् सेन—ये नवद्वीपनिवासी हैं तथा प्रभु के साथी हैं।

(२३) श्रीगदाधर दास-शाखा—

श्रीगदाधर दास-शाखा सर्वोपरि।
काजीगणेर मुखे येहँ बोलाइल हरि॥५३॥

५३। प० अनु—श्रीगदाधर दास नामक शाखा सर्व-प्रधान है। जिन्होंने काजी के मुख से भी हरिनाम उच्चारण करवाया था।

अमृतप्रवाह भाष्य

५३। गदाधर दास,—एँड़ियादहवासी।

अनुभाष्य

५३। श्रीगदाधर दास—कोलकाता से ४ कोस उत्तरी दिशा की ओर भागीरथी के तट पर 'एँड़ियादह' गाँव है। दास गदाधर श्रीमन् महाप्रभु के अप्रकट के पश्चात् नवद्वीप से काटोया में, (भक्तिरत्नाकर ७म तरङ्ग) फिर वहाँ से इसी गाँव में आकर रहने लगे। ये श्रीराधारानी की कान्ति है; जैसे श्रील पण्डित गोस्वामी श्रीमती वृषभानुनन्दिनीरूपा हैं; वैसे श्रील गदाधरदास भी श्रीमती की अङ्गशोभा है। ये "राधाभावद्युति-सुवलित" गौर के द्युति-स्वरूप हैं। ये गौरगणोद्देश में वृषभानुनन्दिनी की विभूतिरूप से निर्दिष्ट हैं। इनकी गणना श्रीगौरप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु दोनों के गणों में होती है। गौरगण—व्रज के मधुररस के रसिक हैं, नित्यानन्दगण—शुद्ध-भक्ति-प्रधान सख्यादि रस के रसिक हैं। श्रीदास गदाधर नित्या-नन्दगण में होने पर भी सख्यभावमय गोपाल नहीं है; वे

मधुर-रसिक हैं। काटोया में उनके पास श्रीगौरसुन्दर का अर्च्चाविग्रह था।

१४३४ शकाब्द में जब श्रीनित्यानन्दप्रभु नीलाचल से गौड़देश में भक्ति के प्रचार कि लिये श्रीमन् महाप्रभु के द्वारा अनुरोधित हुये, उस समय गदाधर उनके प्रचार-कार्य में एक प्रधान सहायक बने (आदि ११पः १३-१४)। श्रीगदाधर दास सभी को हरिनाम करने का उपदेश करते। उस गाँव के काजी कीर्तन के विरोधी थे। श्रीदास गदाधर ने एक समय रात में कीर्तन करते-करते काजी-उद्धार हेतु उसके घर उपस्थित होकर हरिनाम का उच्चारण करने के लिये उनसे अनुरोध किया; इसके उत्तर में काजी ने कहा 'कल हरि कहूँगा' ऐसा कहने से गदाधरदास प्रेमसुख से पूर्ण होकर बोले,—"** और कल क्यों। अभी-अभी आपने अपने मुँह से हरि कहा है (आर कालि केने। एइत बलिला हरि आपन वदने)॥" गौरगणोद्देश में—"राधा-विभूतिरूपा या चन्द्रकान्तिः पुरा ब्रजे। स श्रीगौरांग निकटे दासवंश्यो गदाधरः॥ पूर्णानन्दा ब्रजे यासीद् बलदेवप्रियाग्रणी। सापि कार्यवशादेव प्राविशत्तं गदाधरम्॥" नीलाचल से गौड़ आते समय रास्ते में श्रीदास गदाधर श्रीराधिका के भाव में महा अट्टहास्य-सहित दही बेचनेवाली के रूप में अपने बाहरी परिचय को भूल गये थे—इसे श्रीनित्यानन्द प्रभु ने देखा था। कभी-कभी गदाधर गोपीभाव में विभोर होकर गङ्गाजल से पूर्ण कुम्भ को सिर पर रखकर दूध बेचते थे। श्रीमन् महाप्रभु ने जब गौड़मण्डल से श्रीवृन्दावन जाने के लिये इच्छा प्रकट की तब वे पाणिहाटी-गाँव में राघव के भवन पर उपस्थित हुये। तब "राघव-मन्दिरे शुनि' श्रीगौरसुन्दर। गदाधर धाइ आइला सत्वर॥ प्रभुओ देखिया गदाधर सुकृतिरे। श्रीचरण तुलिया दिलेन ताँर शिरे॥" (चै:भाः अन्त्य ५अः)। एँड़ियादह में गदाधर भवन में उनके प्रकटकाल में 'बालगोपाल' मूर्त्ति विराजमान थी। श्री-माधवघोष ने श्रीगोपाल-विग्रह के सामने श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं श्रीदास गदाधर की सहायता से 'दानखण्ड' अभिनय के द्वारा नृत्यगीत किया। (चै:भाः अन्त्य, ५अः)। श्रीगदाधर के तिरोभाव के पश्चात् उसी गाँव में उनको समाधि दी गई। यह समाधि संयोगी-वैष्णवों के अधिकार में थी। कालना के सिद्ध महापुरुष श्रीभगवान् दास-बाबाजी महाराज की आज्ञा से कोलकाता के नारि- केल डांगा निवासी परलोकगत मधुसूदन मल्लिक ने वहाँ पाटवाटी की स्थापना (१२५६) करके 'श्रीराधा-कान्त' विग्रह की सेवा के लिये व्यवस्था की थी। तत्- पश्चात् उनके पुत्र बलाइ मल्लिक ने १३१२ में श्रीगौर- निताइ की सेवा प्रतिष्ठित की। मन्दिर के सिंहासन पर श्रीगौरनित्यानन्द विग्रह एवं श्रीराधाकृष्ण की श्रीमूर्त्तियाँ विराजमान हैं, सिंहासन के नीचे एक संस्कृत श्लोक लिखा हुआ है। एक गोपेश्वर शिवलिंग भी वहाँ प्रतिष्ठित है। मन्दिर के द्वारदेश पर एक प्रस्तर फलक के ऊपर ये सब कथाएँ लिखी हुई है।

वैष्णवमंजुषा-समाहृति (१म संख्या) द्रष्टव्य है।

(२४) श्रीशिवानन्द सेन-शाखा—

शिवानन्दे सेन—प्रभुर भृत्य अन्तरंग।
प्रभुस्थाने याइते सबे लयेन याँर संग॥५४॥
प्रतिवर्षे प्रभुगण संगेते लइया।
नीलाचले चलेन पथे पालन करिया॥५५॥

५४-५५। प० अनु०—शिवानन्द सेन प्रभु के अन्तरङ्ग दास हैं। प्रभु के पास जाने के लिए सब इनको साथ ले जाया करते थे। ये प्रत्येक वर्ष प्रभु के भक्तों को साथ लेकर नीलाचल जाते और मार्ग में उनके भोजनादि की व्यवस्था भी करते थे।

प्रभु की तीन रूपों में अवतीर्ण होकर कृपा—

भक्ते कृपा करेन प्रभु ए-तिन स्वरूपे।
'साक्षात्', 'आवेश' आर 'आविर्भाव'-रूपे॥५६॥
'साक्षाते' सकल भक्त देखे निर्विशेष।
नकुल ब्रह्मचारी-देहे प्रभुर आवेश॥५७॥

'प्रद्युम्न ब्रह्मचारी' ताँर आगे नाम छिल।
'नृसिंहानन्द' नाम प्रभु पाछे त' राखिल॥५८॥
ताँहाते हइल चैतन्येर 'आविर्भाव'।
अलौकिक ओइछे प्रभुर अनेक स्वभाव॥५९॥
आस्वादिल ए सब रस सेन शिवानन्द।
विस्तारि' कहिब आगे एसब आनन्द॥६०॥

५६-६०। प० अनु०—प्रभु तीन स्वरूप से अर्थात् 'साक्षात्', 'आवेश' और 'आविर्भाव' के रूप से भक्तों पर कृपा करते हैं। 'साक्षात्रूप' में सभी भक्त प्रभु को देखते हैं, नकुल ब्रह्मचारी के शरीर में प्रभु का आवेश हुआ। पहले उनका नाम 'प्रद्युम्न ब्रह्मचारी' था परन्तु बाद में प्रभु ने उनका नाम 'नृसिंहानन्द' रख दिया। उनमें श्रीचैतन्य महाप्रभु का 'आविर्भाव' हुआ। इस प्रकार प्रभु अनेक अलौकिक लीला करते हैं। शिवानन्दसेन ने इन सब रसों का आस्वादन किया। इन सब आनन्दमयी लीलाओं को आगे विस्तार-पूर्वक कहूँगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

५६। सभी भक्तवृन्द के समक्ष एक प्रकार से दर्शन देकर 'साक्षात्' कृपा करते थे, परन्तु नकुल या प्रद्युम्न ब्रह्मचारी की देह में समय-समय पर आविष्ट होते हैं; इनकी देह में श्रीचैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव होता है।

अनुभाष्य

५६। 'साक्षात्'—स्वयंरूप गौरसुन्दर; 'आवेश'—नकुल या प्रद्युम्न ब्रह्मचारी में; आविर्भाव—(चैःचः अन्त्य २।३४-३५) "शचीर मन्दिरे, आर नित्यानन्द-नर्तने। श्रीवास-कीर्तने, आर राघव-भवने॥ एइ चारि ठाँइ प्रभुर सदा 'आविर्भाव'। प्रेमाविष्ट हय प्रभुर सहज स्वभाव॥"

गौरगणोद्देश के मतानुसार—'नकुल ब्रह्मचारी' एवं 'प्रद्युम्न मिश्र' में प्रभु का आविर्भाव और आवेश हुआ था; जैसे (७४ श्लोक)—"आविर्भावो गौरहरेर्नकुल ब्रह्मचारिणि। आवेशश्च तथा ज्ञेयो मिश्रे प्रद्युम्नसंज्ञके॥"

५७। प्रत्यक्षरूप में समस्त भक्तवृन्द को परस्पर वैशिष्ट्य-विहीन अर्थात् एक ही प्रकार सेवक के रूप में अथवा अभिन्न रूप में दिखाई देता है, परन्तु नृसिंहानन्द में श्रीमन् महाप्रभु का आवेश होने के कारण श्रीशिवानन्द सेन आदि भक्तवृन्द ने उन्हें ठीक श्रीगौरसुन्दर की भाँति अन्यान्य सभी भक्तवृन्द की अपेक्षा अधिकतर अलौकिक ईश्वर-चेष्टायुक्त कृष्ण-प्रेममयरूप में दर्शन किया।

५८। प्रद्युम्न ब्रह्मचारी—इनका पूर्व निवास—कालना के निकट 'पियारीगंज' नामक पल्ली में हुआ था। आदि १०म पः३५ एवं अन्त्य, २य पः३-८३ संख्या में इनके प्रसङ्ग का उल्लेख है। चैःभाः अन्त्य, ३य एवं ९म अध्याय द्रष्टव्य है।

(२४क) श्रीशिवानन्द के पुत्र-भृत्यादि-शाखा—

शिवानन्देर उपशाखा—ताँर परिकर।
पुत्र-भृत्य-आदि करि' चैतन्य-किंकर॥६१॥

६१। प० अनु०—शिवानन्द नामक शाखा की उप-शाखा उनके अपने परिकर ही हैं। इनके पुत्र भृत्यादि सभी श्रीचैतन्य महाप्रभु के दास हैं।

अनुभाष्य

६१। शिवानन्दसेन—कुमारहट्ट या हालिसहर निवासी एवं प्रभु के भक्त हैं। वहाँ से १.५ मील की दूरी पर काचड़ापाड़ा में इनके द्वारा प्रतिष्ठित गौरगोपाल विग्रह विराजमान है। (श्रीकृष्ण राय मन्दिर में अभी भी वर्तमान है)। इनके पुत्र परमानन्द (पुरीदास) ने गौरगणोद्देश में लिखा है (१७६ श्लोक)—"पुरा वृन्दावनेवीरा दूती सर्वाश्च गोपिकाः। निनाय कृष्णनिकटं सेदानीं जनको मम॥" ये प्रति वर्ष गौड़देश से भक्तवृन्द का मार्ग प्रदर्शन करके आने-जाने का खर्चा स्वयं उठाकर एवं रास्ते में उन सबकी देखभाल करके श्रीमन् महाप्रभु के निकट नीलाचल ले जाया करते थे (मध्य १६ पः१९-२६)। इनके तीन पुत्र—चैतन्यदास, रामदास और परमानन्द (कविकर्णपूर) थे। कर्णपूर के दीक्षागुरुदेव (इनके गुरु पुरोहित) श्रीनाथ पण्डित के सम्बन्ध में १०७ संख्या द्रष्टव्य है। वासुदेवदत्त की व्ययबहुलता (अधिक खरचा) को

देखकर श्रीमन् महाप्रभु ने इन्हें उनके सरखेल (तत्त्वाव- धायक, मैनेजर) के रूप में कार्य करने के लिये आदेश किया था (मध्य, १५ प:९३-९७ संख्या)। महाप्रभु 'साक्षात', 'आवेश' एवं आविर्भाव-रूप तीन उपायों से भक्तवृन्द के प्रति कृपा करते हैं; शिवानन्दसेन ने इसकी परीक्षा लेते हुये उन्हीं तीनों रसों का आस्वादन किया (अन्त्य, २य प:) एवं इनके गौरचरण-दर्शनाभिलाषी कुक्कुर की कथाएँ—अन्त्य १म प: में वर्णित हैं। रघुनाथ-दास गोस्वामी जब प्रभु के दर्शन के लिए नीलाचल भाग गये, तब गोवर्द्धन ने इनके निकट एक पत्र भेजा था। शिवानन्दसेन से पुत्र रघुनाथ के सम्बन्ध में समाचार सुनकर फिर से पुत्र की सुख-स्वाच्छन्द्य-हेतु पाचक (खाना बनानेवाले), भृत्य एवं अनेक मुद्राएँ भेजने पर शिवानन्द अगले वर्ष उन सबको नीलाचल ले गये (अन्त्य ६: प:२४५-२६७)। एकबार नीलाचल में शिवानन्द ने प्रभु को निमन्त्रण करके बहुत प्रकार का भोजन करवाया। जिससे प्रभु का चित्त प्रसन्न न हुआ तब अगले दिन उनके पुत्र चैतन्यदास ने प्रभु को हजमकारक द्रव्य आदि प्रदान किये जिसे खाकर प्रभु सन्तुष्ट हुये (अन्त्य १०म प:१२४-१५१)। एकबार नीलाचल-गमन के उपलक्ष में घाटि—समाधान अर्थात् नदी पार करने के पश्चात् श्रीनित्यानन्द प्रभु जैसे वरिष्ट सभी को ठहरने का स्थान न मिलने के कारण पास में स्थित गाँव में एक वृक्ष के नीचे रहने को विवश होना पड़ा, तब निताइ ने क्षुधार्त्त (भुखे) और क्रुद्ध होने का अभिनय करके अभिशाप दिया 'शिवानन्द के तीनों पुत्र मर जाये'—इसे सुनकर शिवानन्द की पत्नी अकल्याण होने की आशंका से रोने लगी। शिवानन्द ने घाटी से लौटकर सारे वृत्तान्त को सुना और पत्नी के समक्ष अपने भाग्य की प्रशंसा का कीर्तन करके निताइ के निकट आते ही निताइ के चरणों के प्रहार-सौभाग्य को प्राप्त किया। शिवानन्द के भांजे श्रीकान्त ने यह देख अभिमानी होकर अकेले श्रीमन् महाप्रभु के पास चले जाने पर अन्तर्यामी प्रभु ने उसे क्षमा एवं सान्त्वना प्रदान की। उसी वर्ष ही प्रभु ने पुरीदास के मुख में अपने पादांगुष्ठ (चरणों के अँगूठे) को प्रदान किया। इससे पुरीदास ने पहले मौनव्रत धारण किया, तत्पश्चात् किसी दिन प्रभु की आज्ञा से श्लोक रचना की (अन्त्य १६प: १५-७५)। उसी समय प्रभु ने गोविन्द को आज्ञा दी— "शिवानन्देर प्रकृति, पुत्र, यावत् हेथाय। आमार अवशेष-पात्र तारा येन पाय॥" (अन्त्य, १२प: १५-५३)।

उनके तीन पुत्र—

चैतन्यदास, रामदास, आर कर्णपूर।
तिन पुत्र शिवानन्देर प्रभुर भक्तशूर॥६२॥

६२। प० अनु—शिवानन्द के चैतन्यदास, रामदास और कर्णपूर नामक तीनों पुत्र प्रभु के भक्तों में प्रधान हैं।

अनुभाष्य

६२। चैतन्यदास—शिवानन्द के ज्येष्ठ पुत्र हैं। इनके द्वारा रचित कृष्णकर्णामृत का टीका-सहित श्रीमद्भक्ति-विनोद ठाकुर का अनुवाद 'श्रीसज्जनतोषणी' पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। अभिज्ञ व्यक्तियों के मतानुसार, श्री चैतन्यदास ही संस्कृत भाषा में रचित 'चैतन्यचरित' नामक महाकाव्य के रचयिता हैं—कविकर्णपूर नहीं।

रामदास—मध्यम पुत्र। गोरगणोद्देश में १४५ श्लोक— "वृन्दावने यौ विख्यातौ शुकौ दक्ष-विचक्षणौ। तावद्य जातौ मज्येष्ठ्यौ चैतन्य-रामदासकौ॥"

कर्णपूर—परमानन्ददास या पुरीदास या कविकर्ण-पूर। ये अद्वैतशाखा में श्रीनाथ पण्डित के शिष्य हैं। इन्होंने 'आनन्दवृन्दावन-चम्पू', 'अलंकार-कौस्तुभ', 'श्री चैतन्यचरित' (?) महाकाव्य, 'श्रीचैतन्य-चन्द्रोदय-नाटक', 'गौरगणोद्देश-दीपिका' आदि ग्रन्थों की रचना की है। इनका जन्म १४४८ शकाब्द में हुआ और १४९८ शकाब्द तक इन्होंने ग्रन्थादि की रचना की।

(२४ख) श्रीशिवानन्द के दो भांजे—

श्रीवल्लभ सेन, आर सेन श्रीकान्त।
शिवानन्द-सम्बन्धे प्रभुर भक्त एकान्त॥६३॥

६३। प० अनु०—श्रीवल्लभसेन और श्रीकान्तसेन शिवानन्द के सम्बन्ध से प्रभु के एकान्त भक्त हैं।

अनुभाष्य

६३। श्रीवल्लभसेन और श्रीकान्तसेन—शिवानन्द के भांजे हैं। पुरी आते समय श्रीनित्यानन्द प्रभु ने मामा शिवानन्द को गाली-श्राप एवं लात मारी, जिसके कारण ये अभिमानी होकर गुट छोड़कर श्रीमन् महाप्रभु के निकट पहले ही पहुँच गये थे। सर्वज्ञ प्रभु ये सब जान गये और इनके नीलाचल रहने तक प्रभु ने उनको अपना प्रसाद देने के लिये गोविन्द को अनुमति प्रदान की। रथयात्रा के समय सात सम्प्रदायों में से मुकुन्द के सम्प्रदाय में ये दोनों भाई कीर्तनीया थे (मध्य, १३ प:४१)। गौरगणोद्देश में १७४ श्लोक—"व्रजे कात्यायनी यासीद्य श्रीकान्त-सेनकः।"

(२५) श्रीगोविन्दानन्द एवं
(२६) श्रीगोविन्ददत्त—

प्रभुप्रिय गोविन्दानन्द—महाभागवत।
प्रभुर कीर्तनीया आदि—श्रीगोविन्द दत्त॥६४॥

६४। प० अनु०—महाभागवत श्रीगोविन्दानन्द प्रभु के प्रिय हैं और श्रीगोविन्ददत्त आदि प्रभु के की र्त्तनीया अर्थात् उनके लिए कीर्त्तन करनेवाले हैं।

अनुभाष्य

६४। गोविन्दानन्द,—प्रथम कीर्तन के समय नवद्वीप में श्रीमन् महाप्रभु के साथी थे। श्रीधर के घर जलपान के दिन इन्होंने क्रन्दन किया था। रथयात्रा के समय ये पुरुषोत्तम (पुरी) गये थे।

गोविन्ददत्त,—नवद्वीप में प्रभु के कीर्तन के साथी, ये मूल गायक बनकर श्रीमन् महाप्रभु के साथ कीर्तन करते थे (चैःभाः अन्त्य ९म अध्याय)—"मूल हइया ये कीर्तन करे प्रभु-सने।" इनका श्रीपाट (आश्रम)—खड़दह के दक्षिण-सीमा पर स्थित 'सुखचर' गाँव में।

(२७) श्रीविजयदास—

श्रीविजयदास-नाम प्रभुर आखरिया।
प्रभुरे अनेक ग्रन्थ दियाछे लिखिया॥६५॥

६५। प० अनु०—श्रीविजयदास, प्रभु के लेखक हैं। इन्होंने प्रभु को अनेक ग्रन्थ लिख कर दिये हैं।

अनुभाष्य

६५। विजयदास,—नवद्वीपवासी लिपिकार; ये नव-निधि में से एक हैं। इन्होंने प्रभु को अनेक ग्रन्थ लिखकर दिये। इसलिये श्रीगौरहरि ने इनका नाम 'रत्नबाहु' रखा था। शुक्लाम्बर के घर में श्रीमन् महाप्रभु ने विजय पर कृपा की—चैःभाः मध्य, २५अः द्रष्टव्य है।

(२८) अकिंचन कृष्णदास—

'रत्नबाहु' बलि' प्रभु थुइल ताँर नाम।
अकिंचन प्रभुर प्रिय कृष्णदास-नाम॥६६॥

६६। प० अनु०—प्रभु ने उनका नाम 'रत्नबाहु' रखा था। अकिंचन कृष्णदास, प्रभु के प्रियपात्र थे।

अनुभाष्य

६६। अकिंचन कृष्णदास,—ये नवद्वीपवासी हैं एवं महाप्रभु के साथी हैं। ये रथयात्रा के समय पुरुषोत्तम आये थे। चैःभाः अन्त्य, ९म अः द्रष्टव्य है।

(२९) श्रीधर की गुणराशि—

खोला-बेचा श्रीधर प्रभुर प्रियदास।
याँहा-सने प्रभु करे नित्य परिहास॥६७॥
प्रभु याँर नित्य लय थोड़-मोचा-फल।
याँर फुटा-लौहपात्रे प्रभु पिला जल॥६८॥

६७-६८। प० अनु०—जिनके साथ प्रभु नित्य परिहास करते थे, वही खोला (कैले के पेड़ का अंश) बेचने वाले श्रीधर प्रभु के प्रियदास हैं। जिनके पास प्रभु नित्य थोड़-मोचा-फल (कैले के पेड़ का गुर्दा, मोचा)

लेते थे एवं जिनके फूटे हुए लोहे के पात्र में प्रभु ने जल पिया था।

अनुभाष्य

६७-६८। श्रीधर,—नवद्वीपवासी कदली-काननोप- जीवी (केले के बगान में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं से ही अपना जीवन चलाने वाले) दरिद्र ब्राह्मण थे। चैःभाः आदि ८म अः—श्रीधर के साथ खींचतानी, मध्य ९म अः—प्रभु के 'सात प्रहरिया'—भाव में श्रीधर के प्रति कृपा एवं काजीदलन के समय कीर्तन सुनकर श्रीधर का नृत्य (मध्य, २३ अः) और (मध्य २३अः अन्त में)—छेद वाले जीर्ण लौहपात्र से प्रभु ने परमान्दित होकर जलपान किया था एवं (मध्य १६अः) संन्यास के पूर्वरात्रि में श्रीधर के द्वारा प्रदत्त लौकी शचीदेवी के द्वारा रन्धन करवाकर भोजन-प्रसङ्ग द्रष्टव्य है। श्रीधर रथयात्रा के समय पुरुषोत्तम जाते थे। श्रीकर्णपूर के मतानुसार, ये द्वाद्वश गोपाल में अन्यतम 'कुसुमासव' गोपाल हैं; गौर-गणोद्देश में १३३ श्लोक—"खोला-वेचातया ख्यातः पण्डित श्रीधरो द्विजः। आसीद्-व्रजे हास्यकरो यो नाम्ना कुसुमासवः॥"

(३०) श्रीभगवान् पण्डित—

प्रभुर अतिप्रिय दास भगवान् पण्डित।
याँर देहे कृष्ण पूर्वे हैल अधिष्ठित॥६९॥

६९। प० अनु०—प्रभु के अत्यन्त प्रिय दास भगवान् पण्डित हैं, जिनके शरीर में श्रीकृष्ण एकबार अधिष्ठित अर्थात् आविर्भूत हुये थे।

अनुभाष्य

६९। भगवान् पण्डित—चैःभाः अन्त्य, ९म अः—"चलिलेन लेखक पण्डित भगवान्। याँर देहे कृष्ण हइ-याछिला अधिष्ठान॥"

(३१) श्रीजगदीश पण्डित एवं (३२) हिरण्य—

जगदीश पण्डित, आर हिरण्य महाशय।
यारे कृपा कैल बाल्ये प्रभु दयामय॥७०॥
एइ दुइ-घरे प्रभु एकादशी दिने।
विष्णुर नैवेद्य मागि' खाइल आपने॥७१॥

७०-७१। प० अनु०—जगदीश पण्डित और हिरण्य महाशय प्रभु के भक्त हैं, जिन पर दयामय प्रभु ने बाल्य-वास्था में कृपा की थी। इन दोनों के घर में प्रभु ने एकादशी के दिन स्वयं विष्णुनैवेद्य माँगकर खाया था।

अनुभाष्य

७०-७१। जगदीश पण्डित,—गौरगणोद्देश में १९२ श्लोक—"अपरे यज्ञपत्नौ श्रीजगदीश-हिरण्यकौ। एका- दश्यां यरोरन्नं प्रार्थयित्वाऽघसत् प्रभुः॥" १४३ श्लोक— "आसीद् ब्रजे चन्द्र-हासो नर्त्तको रसकोविदः। सोऽयं नृत्यविनोदी श्रीजगदीशाख्य पण्डितः॥ चैःचः आदि ११प ३०एवं १४पः ३९संख्या और चैःभाः आदि, ४र्थ अः—एकादशी-तिथि में प्रभु का हिरण्य जगदीश के घर में स्थित विष्णुनैवेद्य-भोजन वर्णित है। चैःभाः अन्त्य, ६ अः—"जगदीश पण्डित परम ज्योतिर्धाम। सपार्षदे नित्या-नन्द याँर धन प्राण"॥

हिरण्य पण्डित—चैःभाः अन्त्य ५म अः—नवद्वीप में हिरण्य पण्डित नामक एक सुब्राह्मण के घर श्रीनित्यानन्द प्रभु अकेले बहुमूल्य अलङ्कार पहनकर वास कर रहे थे। उस समय एक दस्युपति ने उनके श्रीअंग से सब अलङ्कारों को अपहरण करने की बारम्बार चेष्टा की परन्तु अन्त में विफल होकर श्रीनित्यानन्द प्रभु के चरणों में शरण ग्रहण की।

(३३) श्रीपुरुषोत्तम एवं
(३४) श्रीसंजय—

प्रभुर पडुया दुइ,—पुरुषोत्तम, संजय।
व्याकरणे दुइ शिष्य—दुइ महाशय॥७२॥

७२। प० अनु०—पुरुषोत्तम और संजय प्रभु के दो विद्यार्थी थे। व्याकरण में ये दोनों शिष्य ही महाशय थे।

अनुभाष्य

७२। पुरुषोत्तम और संजय—ये दोनों नवद्वीपवासी पण्डित पहले विद्यार्थी थे, किन्तु बाद में कीर्तन के आरम्भ के समय प्रभु के साथी बने। चैः भाः आदि १०म अध्याय में—"अनेक जन्मेर भृत्य मुकुन्द संजय। पुरुषोत्तम दास हेन (हन) याँहार तनय॥ प्रतिदिन सेइ भाग्यवन्तेर आलय। पड़ाइते गौरचन्द्र करेन विजय॥ चण्डीगृहे गिया प्रभु वसेन प्रथमे। तबे शेषे शिष्यगण आइसेन क्रमे॥" चैःभाः अन्त्य ९म अध्याय में—पुरुषोत्तम संजय चलिला हर्षमने। ये प्रभुर मुख्य शिष्य पूर्व अध्ययने॥" अतएव चैतन्यभागवत के वर्णानुसार— मुकुन्द-संजय के पुत्र पुरुषोत्तम संजय हैं; किन्तु कविराज गोस्वामी ने 'पुरुषोत्तम' एवं 'संजय' नामक दो व्यक्तियों का उल्लेख करके ये दो शब्द तीन बार व्यवहार करके चैतन्यभागवत की धारणाओं को शुद्ध किया है।

(३५) श्रीवनमाली पण्डित शाखा—

वनमाली पण्डित-शाखा विख्यात जगते।
सोनार मूषल हल ये देखिल प्रभुर हाते॥७३॥

७३। प० अनु०—वनमाली पण्डित नामक शाखा जगत में विख्यात है। जिन्होंने प्रभु के हाथ में सोने का हल और मूसल देखा था।

अनुभाष्य

७३। वनमाली पण्डित,—"चलिलेन वनमाली पण्डित मङ्गल। ये देखिल सुवर्णेर श्रीहल-मूषल॥" गौरगणोद्देश में १४४ श्लोक—वेणुञ्च मुरलीं योऽधात् नाम्ना मालाधरो ब्रजे। सोऽधुना वनमाल्याख्याः पण्डितो गौरवल्लभः॥" इन्होंने प्रभु को बलदेव के भाव में दर्शन किया। चैःचः आदि, १७ पः११९ एवं चैःभाः अन्त्य ९म अः में—श्रीवास के भवन में विष्णुसिंहासन के ऊपर आरोहण-पूर्वक (श्रीमन् महाप्रभु ने) नित्यानन्द प्रभु से हल-मूषल लेकर जिस लीला का प्रदर्शन किया है, वहाँ वनमाली पण्डित ने उस दिन प्रभु के हाथ में सोने का हलमूषल देखा था,—इस प्रकार के वचनों का उल्लेख नहीं है।

(३६) श्रीबुद्धिमन्त खान—

श्रीचैतन्येर अति प्रिय बुद्धिमन्त खान।
आजन्म आज्ञाकारी तेहों सेवक-प्रधान॥७४॥

७४। प० अनु०—जन्म से आज्ञा का पालन करने वाले श्रीबुद्धिमन्त खान, श्रीचैतन्य महाप्रभु के अत्यन्त प्रिय प्रधान सेवक हैं।

अनुभाष्य

७४। बुद्धिमन्त खान—ये नवद्वीपवासी भक्तों में एक धनवान भक्त हैं। इन्होंने राजपण्डित सनातन मिश्र की कन्या विष्णुप्रिया देवी के साथ प्रभु के दूसरे विवाह का पूरा खर्च उठाया था। प्रभु को वायु रोग हो जाने पर इन्होंने ही प्रभु की चिकित्सा करवायी थी तथा ये प्रभु के जलक्रीड़ा और कीर्तन के साथी तथा चन्द्रशेखर भवन में जब प्रभु ने महालक्ष्मी के रूप में अभिनय किया उस समय इन्होंने वस्त्रादि भूषणों का संग्रह किया था। ये रथयात्रा के समय नीलाचल भी गये थे।

(३७) श्रीगरुड़ पण्डित—

गरुड़ पण्डित लय श्रीनाम-मंगल।
नाम-बले विष याँरे ना करिल बल॥७५॥

७५। प० अनु०—गरुड़ पण्डित मङ्गलमय श्रीनाम लिया करते थे। इनके नाम के प्रभाव से विष भी इन पर कोई प्रभाव नहीं करता था।

अनुभाष्य

७५। गरुड़ पण्डित—ये नवद्वीपवासी प्रभु के साथी थे। चैःभाः अन्त्य ९म अः—"चलिलेन श्रीगरुड़ पण्डित हरिषे। नामबले याँरे ना लंघिल सर्पविषे॥" गौरगणोद्देश में १७ श्लोक—"गरुड़ पण्डितः सोऽद्य गरुडो यः पुरा श्रुतः॥

(३८) श्रीगोपीनाथ सिंह—

गोपीनाथ सिंह—एक चैतन्येर दास।
अक्रुर बलि' प्रभु याँरे कैला परिहास॥७६॥

७६। प० अनु०—गोपीनाथ सिंह नामक श्रीचैतन्य महाप्रभु के एक दास हैं। जिन्हें प्रभु अक्रुर कहकर परिहास किया करते थे।

अनुभाष्य

७६। गोपीनाथ सिंह—चैःभाः अन्त्य, ९म अः— "(रथ यात्रामे) चलिलेन गोपीनाथ सिंह महाशय। 'अक्रुर करिया याँरे गौरचन्द्र कय॥" गौरगणोद्देश में ११७ श्लोक—"पुरा योऽक्रुरनामासीत् स गोपीनाथसिंहकः॥"

(५क) देवानन्द पण्डित-शाखा—

भागवती देवानन्द वक्रेश्वर-कृपाते।
भागवतेर भक्ति-अर्थ पाइल प्रभु हैते॥७७॥

७७। प० अनु०—भागवत पढ़ने वाले देवानन्द पण्डित श्रीवक्रेश्वर की कृपा से, प्रभु द्वारा श्रीमद्भागवत के भक्ति-परक अर्थों को जान पाये।

अनुभाष्य

७७। देवानन्द—चैःभाः मध्य, २१ अः—"सार्वभौम पिता विशारद महेश्वर। ताँहार जांगाले गेला प्रभु विश्व- म्भर॥ सेइ खाने देवानन्द पण्डितेर वास। चैःचः मध्य, १म पः—"कुलिया-ग्रामे कैल देवानन्देरे प्रसाद।" देवानन्द मुमुक्षु होकर भागवत पाठ किया करते थे। एकदिन इनके पाठ के समय श्रीवास पण्डित क्रन्दन करने लगे, यह देखकर उनके पाषण्डी विद्यार्थियों ने श्रीवास को वहाँ से निकाल दिया (चैःभाः मध्य ९ एवं २१ अः)। बहुत दिनों के बाद एकदिन श्रीमन् महाप्रभु ने उस मार्ग पर चलते हुए देवानन्द को भागवत की व्याख्या करते हुये देखा। उसको ऐसा करते देखकर महाप्रभु ने क्रोधित होकर वैष्णवों के प्रति श्रद्धाहीन देवानन्द की तीव्र भर्तसना की। देवानन्द का श्रीमन् महाप्रभु के प्रति भी विश्वास न था। उनके बहुत सौभाग्य के फलस्वरूप एकबार वक्रेश्वर पण्डित ने इनके घर में कृष्णकीर्तन किया था और उन्हीं वक्रेश्वर पण्डित की कृपा से देवानन्द श्रीमन् महाप्रभु की महिमा को जान पाये। तब प्रभु ने उन्हें श्रीमद्भागवत की भक्ति-व्याख्या करने के लिये कहा। ये व्रज के नन्द महाराज के सभा-पण्डित भागुरि मुनि हैं। (गौः गः १०६, ७७ श्लोक द्रष्टव्य)

श्रीखण्डवासी (३९) मुकुन्द, (४०) नरहरि, (४१) चिरंजीव, (४२) सुलोचन—

खण्डवासी मुकुन्ददास, श्रीरघुनन्दन।
नरहरिदास, चिरंजीव, सुलोचन॥७८॥
एइ सब महाशाखा—चैतन्य-कृपाधाम।
प्रेम-फल-फुल करे याँहा ताँहा दान॥७९॥

७८-७९। प० अनु०—खण्डवासी मुकुन्ददास, श्री रघुनन्दन, नरहरिदास, चिरंजीव और सुलोचन—ये सब कृपामूर्त्ति श्रीचैतन्य महाप्रभु की एक महा-शाखा स्वरूप हैं। जो सभी स्थान पर प्रेम के फल और फूल को दान करते थे।

अनुभाष्य

७८। मुकुन्ददास—ये नारायणदास के पुत्र एवं नरहरि सरकार ठाकुर के ज्येष्ठभ्राता हैं, इनके मझले भाई का नाम माधवदास है। इन्हीं के पुत्र रघुनन्दन हैं। रघुनन्दन की वंशावली आज भी काटोया से चार मील पश्चिम में स्थित श्रीखण्ड गाँव में वास कर रही है। रघुनन्दन के पुत्र कानाइ हैं; जिनके दो पुत्र—मदनराय (नरहरि ठाकुर के शिष्य) एवं वंशीवदन हैं। इस वंश में आज तक चार-सौ से भी अधिक व्यक्तियों ने जन्म लिया है। उन सबकी धारावाहिक वंशप्रणाली श्रीखण्ड में विराजित है। गौरगणोद्देशदीपिका में १७० श्लोक—"व्रजाधिकारिणी यासीद् वृन्दादेवी तु नामतः। सा श्रीमुकुन्ददासोऽद्य खण्ड वासः

प्रभुप्रियः॥" इनके अत्याश्चर्य कृष्णप्रेम का वर्णन—इस ग्रन्थ के पंचदश परिच्छेद में (११३-१३१) संख्या द्रष्टव्य है।

रघुनन्दन—ये गौरविग्रह की सेवा करते थे (भक्तिरत्नाकर अष्टम तरङ्ग द्रष्टव्य है)। गौरगणोद्देश में ७० श्लोक—"व्यूहस्तृतीयः प्रद्युम्नः प्रियनर्मोसखोऽभवत्। चक्रे लीलासहायं यो राधा-माधवयोर्व्रजे॥" ये तृतीय व्यूह प्रद्युम्न विष्णु हैं (मुकुन्ददास द्रष्टव्य है)। 'भक्तिरत्नाकर' ग्रन्थ के ९म तरङ्ग में श्रीखण्ड-महोत्सव का वर्णन द्रष्टव्य है।

नरहरि सरकार ठाकुर—गौरगणोद्देश के १७७ श्लोक में,—"पुरा मधुमती प्राणसखी वृन्दावने स्थिता। अधुना नरहर्याख्यः सरकारः प्रभोः प्रियः॥" झामट्पुर के निकट स्थित कोग्राम-निवासी श्रीचैतन्यमङ्गल के रचियता श्रीलोचनदास ठाकुर इन्हीं के ही शिष्य हैं। इस ग्रन्थ में श्रीगदाधर एवं श्रीनरहरि श्रीमन् महाप्रभु के अत्यन्त प्रिय के रूप में वर्णित हैं। चैतन्यभागवत में खण्डवासियों का इस प्रकार विशेष उल्लेख दिखाई नहीं देता।

चिरंजीव एवं सुलोचन,—ये दोनों ही खण्डवासी हैं। आज भी श्रीखण्ड में इन दोनों के स्थान सुरक्षित हैं एवं इनके वंश अब भी विद्यमान हैं। चिरंजीव सेन के दो पुत्र हैं; ज्येष्ठ—रामचन्द्र कविराज—श्रीनिवास आचार्य के शिष्य एवं ठाकुर महाशय के साथी हैं। कनिष्ठ— पदकर्त्ता गोविन्ददास कविराज हैं। चिरंजीव की पत्नी सुनन्दा एवं ससुर दामोदरसेन कविराज (खण्डवासी) हैं। चिरंजीव पहले भागीरथी के तट पर स्थित कुमारनगर गाँव में रहते थे (भक्तिरत्नाकर)।

चिरंजीव—ये व्रज की चन्द्रिका हैं। गौः गः में १९७ और २०७ श्लोक—"खण्डवासौ नरहरेः साहचर्य्यान्महत्तरौ। गौराङ्गैकान्तशरणौ चिरंजीव-सुलचनौ॥

कुलीनग्रामवासी—
(२०ख) रामानन्द, (२०ग) यधुनाथ, (२०घ) पुरुषोत्तम, (२०ङ) शंकर, (२०च) विद्यानन्द—

कुलीनग्रामवासी सत्यराज, रामानन्द।
यदुनाथ, पुरुषोत्तम, शंकर, विद्यानन्द॥८०॥

८०। प॰ अनु॰—सत्यराज, रामानन्द, यदुनाथ, पुरुषोत्तम, शंकर और विद्यानन्द सभी कुलीनग्राम के वासी हैं।

अनुभाष्य

८०। रामानन्द वसु—गौरगणोद्देश में—"कलकण्ठीसुकण्ठौ ये व्रजे गान्धर्वनाटिके। रामानन्द-वसुः सत्यराजश्चापि यथायथम्॥" यदुनाथ, पुरुषोत्तम, शङ्कर, विद्यानन्द आदि सभी वसुवंश के हैं। इस वसुवंश में सभी कृष्णभक्त एवं कृष्णलीला के अभिनय में दक्ष थे। अभी भी कृष्णलीलाभिनय की स्मृतियाँ रक्षित हैं। ये सब हरिदास ठाकुर के अनुगत शुद्धभक्त हैं। पूर्व में उल्लखित ४८ संख्या द्रष्टव्य है।

(२०छ) वाणीनाथवसु आदि
कुलीन-ग्रामवासियों का महात्म्य—

वाणीनाथ वसु आदि यत ग्रामी जन।
सबेइ चैतन्यभृत्य,—चैतन्य-प्राण धन॥८१॥
प्रभु कहे, कुलीनग्रामेर ये हय कुक्कुर।
सेइ मोर प्रिय, अन्यजन रहु दूर॥८२॥
कुलीनग्रामीर भाग्य कहने ना याय।
शूकर चराय डोम, सेह कृष्ण गाय॥८३॥

८१-८३। प॰ अनु॰—वाणीनाथ वसु आदि जितने ग्रामवासी हैं, सभी श्रीचैतन्य महाप्रभु के दास हैं एवं श्रीचैतन्य महाप्रभु ही इनके प्राणधन हैं। प्रभु कहते हैं,—'दूसरों का क्या कहना! कुलीनग्राम के कुक्कुर भी मेरे प्रिय हैं' कुलीन-ग्रामवासियों का भाग्य अवर्णनीय है क्योंकि यहाँ शूकर चरानेवाला डोम भी कृष्णकीर्त्तन करता है।

(४३) श्रीसनातन, (४४) श्रीरूप एवं
(४५) श्रीअनुपम-शाखा—

अनुपम-वल्लभ, श्रीरूप-सनातन।
एइ तिन शाखा वृक्षेर पश्चिमे गणन॥८४॥

८४। प० अनु०—अनुपम-वल्ल्भ, श्रीरूप और श्रीसनातन—यह तीन शाखाएँ वृक्ष के पश्चिम की ओर स्थित है।

अनुभाष्य

८४। अनुपम,—श्रीजीव गोस्वामी के पिता एवं श्रीरूप और श्रीसनातन गोस्वामी के अनुज हैं। इनके पूर्वाश्रम का नाम 'श्रीवल्लभ' है एवं श्रीमन् महाप्रभु के द्वारा प्रदत्त नाम 'अनुपम' है। गौड़ के बादशाह का कार्य करने से इनकी उपाधि 'मल्लिक' हुई थी। "अनुपम मल्लिक,—ताँर नाम श्रीवल्लभ। श्रीरूप गोसाञिर छोट भाइ परम वैष्णव॥"—चै:च: मध्य १९ प:३६ संख्या। भरद्वाज गोत्र के जगदगुरु 'सर्वज्ञ' नामक एक महात्मा द्वादश शक-शताब्दी में कर्णाटक प्रदेश के ब्राह्मण-राजवंश में आविर्भूत हुये। उनके पुत्र अनिरुद्ध के रूपेश्वर एवं हरिहर नामक दो पुत्र हुये। परन्तु वे दोनों राजपाट से वंचित हो जाने के कारण ज्येष्ठ पुत्र रूपेश्वर शिखरभूमि में रहने लगे। रूपेश्वर के पुत्र पद्मनाभ गङ्गा के तट पर स्थित 'नैहाटी' नामक गाँव में वास करने लगे और वहाँ उन्होंने पाँच पुत्रों को जन्म दिया। इनमें से सबसे छोटे मुकुन्द के पुत्र महा सदाचारी कुमारदेव हुए—यही सनातन, रूप और अनुपम के पिता हैं। कुमारदेव वाक्ला-चन्द्रदीप में वास करते थे। उस समय के 'यशोहर' प्रदेश के अन्तर्गत 'फतेयाबाद' नामक स्थान पर उनका भवन था। उनके पुत्रों में से तीन पुत्रों ने वैष्णव-धर्म को स्वीकार किया। काम के उपलक्ष्य में श्रीवल्लभ ने चन्द्रद्वीप से आकर अपने ज्येष्ठ-भ्राता श्रीरूप एवं श्रीसनातन के साथ गौड़ के 'रामकेलि' नामक गाँव में वास किया। इसी स्थानपर श्रीजीव गोस्वामी का जन्म हुआ था। नवाब-सरकार के राज्य में काम करने के कारण तीनों को 'मल्लिक' उपाधि प्राप्त हुई। जिस समय श्रीमन् महाप्रभु रामकेलि गये थे, उसी समय अनुपम के साथ उनका प्रथम साक्षात्कार हुआ था। श्रीरूप गोस्वामी जब विषयकार्य का त्याग करके श्रीमन् महाप्रभु के चरणकमलों के उद्देश्य से जब श्री- वृन्दावन जा रहे थे उस समय वल्लभ उनके साथी बने। प्रयाग में श्रीमन् महाप्रभु के साथ मिलन-वर्णन प्रसङ्ग मध्य, १९प: द्रष्टव्य है।

श्रीमन् महाप्रभु के दर्शन के पश्चात् श्रीरूप एवं अनुपम वृन्दावन गये। यह श्रीसनातन के प्रति श्रीमन् महाप्रभु की उक्ति से जाना जाता है—"रूप-अनुपम दुँहे वृन्दावन गेला"। सुबुद्धि राय उस समय मथुरा-नगरी में सुखी लकड़ी को बेचकर उसके द्वारा अपना भरण-पोषण एवं अन्यान्य वैष्णवों की परिचर्या कर रहे थे। जब श्रीरूप एवं अनुपम उनके निकट पहुँचे तो वे विशेषरूप से आनन्दित हुये एवं उन दोनों के साथ वृन्दावन के द्वादश वनों का परिभ्रमण किया। दोनों भाई वृन्दावन में एक मास रहकर श्रीसनातन गोस्वामी को ढूँढ़ने के लिए गङ्गातट के पथ पर प्रयाग आ पहुँचे, परन्तु श्रीसनातन ने राजमार्ग से मथुरा आ पहुँचे। इसी कारण तीनों भाई एकसाथ सम्मिलित नहीं हो सके। सुबुद्धि राय ने श्रीसनातन को अनुपम एवं श्रीरूप के सम्बन्ध में सूचना दी। अनुपम एवं श्रीरूप, दोनों ने काशी आकर श्रीमन् महाप्रभु से सारी बातें सुनकर दस दिनों के बाद ही गौड़ के लिये प्रस्थान किया। वहाँ वैषयिक व्यवस्था का समाधान कर श्रीमन् महाप्रभु की आज्ञानुसार दोनों ने नीलाचल की ओर यात्रा की। १४३६ शकाब्द में मार्ग में गङ्गा के तट पर अनुपम को श्रीरामचन्द्र के धाम की प्राप्ति हुई। श्रीरूप गोस्वामी ने अपने भाई के धाम प्राप्ति का समाचार नीलाचल में स्थित श्रीमन् महाप्रभु को बताया। वल्लभ श्रीराम के उपासक होने के कारण श्रीमन् महाप्रभु के द्वारा प्रदर्शित मतानुसार व्रज-भजनका मार्ग पूर्णरूप से स्वीकार नहीं कर सके। वे श्रीमन् महा- प्रभु को साक्षात् श्रीरामचन्द्र के रूप में जानते थे। अनुपम के सम्बन्ध में भक्तिरत्नाकर ग्रन्थ में इस

प्रकार लिखा है, "अनुपम-नाम थुइल श्रीगौरसुन्दर। सदा मत्त रघुनाथ- विग्रह-सेवने। रघुनाथ बिना येइँ अन्य नाहि जाने॥ साक्षात् श्रीरघुनाथ—चैतन्यगोसाञि॥"

श्रीरूप—गौरगणोद्देश में १८०श्लोक—"श्रीरूप-मञ्जरी ख्याता यासीद् पुरा। साद्य रूपाख्य-गोस्वामी भूत्वा प्रकटतामियात्॥" भक्तिरत्नाकर के १म तरङ्ग में—"श्रीरूप ग्रन्थ षोड़श करिल। (१) काव्य 'हंसदूत', आर (२) 'उद्धवसन्देश', (३) 'कृष्णजन्मतिथिविधि' विधान अशेष, (४) 'गणोद्देशदीपिका' बृहत् एवं लघु, (५) 'स्तवमाला', (६) 'विदग्धमाधव'—रसमय, (७) 'ललितमाधव'—विप्रलम्भ की सीमा (८) 'दानलीला-कौमुदी'—आनन्द-महोदधि, (९) 'दानकेलिकौमुदी' विदित यह नाम (१०) भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ अनुपम, (११) 'उज्ज्वलनीलमणि'—ग्रन्थ रसपूर, प्रयुक्ता (१२) 'आख्यात-चन्द्रिका'—ग्रन्थ सुमधुर, (१३) 'मथुरा-महिमा', (१४) 'पद्यावली'—यह विदित है, (१५) 'नाटकचन्द्रिका', (१६) 'लघुभागवतामृत'॥ वैष्णव-इच्छाय एकादश श्लोक कैल। कृष्णदास कविराजे विस्तारिते दिल॥ पृथक् पृथक् स्तव गोस्वामी वर्णिल। श्रीजीव-संग्रहे 'स्तवमाला' नाम हैल॥ संक्षेपे करिल आर विरुदलक्षण। 'गोविन्द-विरुदावली' ताह्लार लक्षण॥" चै:च: मध्य, १म प:३५-४४ एवं अन्त्य, ४र्थ प:२१९-२३१ संख्या द्रष्टव्य है। श्रीरूप का विषय-त्याग—मध्य, १९प: ४ संख्या, धनविभाग७, प्रयाग आकर प्रभु के साथ मिलित होना—३७ एवं ४५ संख्या; अनुपम के साथ वल्लभ भट्ट के भवन में प्रसाद-सेवा ८८ संख्या; प्रयाग में प्रभु के निकट शिक्षा, १३५-२३३संख्या; प्रभु के द्वारा वृन्दावन जाने के लिये आदेश २३७ संख्या; श्रीरूप का फिर गौड़ आगमन एवं अनुपम की गङ्गा-प्राप्ति—अन्त्य, १म प: ३७ संख्या। श्रीक्षेत्र में ठाकुर हरिदास के कुटीर में आगमन एवं सपार्षद प्रभु के साथ मिलन ४८ और ५४; प्रभु के द्वारा श्रीरूप के हस्ताक्षर की प्रशंसा, प्रभु के हृदय के भावनानुसार श्लोक एवं ललित-माधव और विदग्ध-माधव की रचनारम्भ, श्रीरामानन्द राय के द्वारा प्रंशसा ६८-१९२; प्रभु की भक्ति- शास्त्र के प्रकाशन की इच्छा एवं श्रीरूप को वृन्दावन जाने के लिये आदेश २०२, २१६; रूप का वृन्दावन जाना २११ और सनातन प्रभु वृन्दावन आने पर उनके साथ मिलन—अन्त्य, १४ प:२१३ एवं गौर की आज्ञा का पालन २१७-२२२ संख्या द्रष्टव्य है।

श्रीसनातन—गौरगणोद्देश में १८१श्लोक—"या रूप-मञ्जरी प्रेष्ठा पुरासीद्रतिमञ्जरी। सोच्यते नामभेदेन लवङ्गमञ्जरी वुधैः॥ साद्य गौराभिन्नतनुः सर्वाराध्यः सनातनः। तमेव प्राविशत् कार्यान्मुनिरत्नं सनातनः॥" भक्तिरत्नाकर के प्रथम तरङ्ग में—"श्रीसनातनेर गुरु विद्या-वाचस्पति। मध्ये मध्ये रामकेलि-ग्रामे ताँर स्थिति॥ सर्व-शास्त्र अध्ययन करिला याँर ठाँइ। यैछे गुरुभक्ति कहि,—ऐछे साध्य नाइ॥ यवन देखिले पिता प्रायश्चित्त करय। हेन यवनेर संग निरन्तर हय॥ करि मुखापेक्षा यवनेर गृहे यान। एहेतु आपना माने म्लेच्छेर समान॥ इथे अति दीनहीन आपना मानय॥ यवे मग्न हन दैन्यसमुद्र-माझारे। म्लेच्छादिक हइते नीचे माने आपनारे॥ नीचजाति संगे सदा नीच-व्यवहार। एइ हेतु "नीचजात्यादिक" उक्ति ताँर॥ विप्रराज हइया महाखेदयुक्त अन्तरे। आपनाके विप्रज्ञान कभु नाहि करे॥" भक्तिरत्नाकर के प्रथम तरङ्ग में—"सनातन गोस्वामीर ग्रन्थ चतुष्टय। टीका-सह 'भागवतामृत' खंडद्वय॥ हरिभक्ति-विलास-टीका 'दिक्-प्रदर्शिनी'। 'वैष्णवतोषणी' नाम दशम-टीप्पनी॥ 'लीला-स्तव' दशम-चरित यारे कय। सनातन गोस्वामीर एइ चतुष्टय॥" चौद्दशत सप्त छये (१४७६) सम्पूर्ण बृहत् (अर्थात् वैष्णवतोषणी)। पनरशत चारिशके (१५०४) लघुतोषणी सुसम्मत॥ (महाप्रभु) रामानन्द द्वारे कन्दर्पेर दर्प नाशे। दामोदर द्वारे नैरपेक्षा परकाशे॥ हरिदास-द्वारे सहिष्णुता जानाइल। सनातन-रूप द्वारे दैन्य प्रकाशिल॥"

श्रीसनातन के द्वारा विषयत्याग के उपाय का चिन्तन—मध्य१९ प:१३; रोग के बहाने भागवत की आलोचना—१५; देखने के लिये बादशाह का आना; १८; बादशाह के द्वारा बन्धन २७; बादशाह के साथ उड़िसा-देश में युद्ध-हेतु जाने को अस्वीकार करना २९; गृहत्याग के समय रूप का सनातन के पास कारागृह (जेल) में पत्र भेजना ६२; और २०प: ३; कारागार की रक्षा करने वाले दरबान को लालच देकर मुक्त होना ४; एकमात्र भृत्य ईशान के साथ भाग जाना एवं आठ मोहरों के दान से दस्युपति के चंगुल से आत्मरक्षा एवं उसकी सहायता से पर्वत का अतिक्रमण और ईशान को विदा देकर अकेले गमन १६-२५; हाजिपुर में भग्निपति (बहनोई) श्रीकान्त के साथ मिलन एवं वहाँ रहने को अस्वीकार करना, उनसे भोटकंबल (बहुत महंगा कंबल) ग्रहण ३८-४४; वाराणसी आगमन एवं चन्द्रशेखर के घर में प्रभु के साथ मिलन ५१; क्षौरकर्म के पश्चात् वेष परिवर्त्तन करके तपनमिश्र के द्वारा प्रदत्त पुरातन वस्त्र से बहिर्वास एवं कौपीन-ग्रहण ६८-७७; महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के घर भिक्षा ७९; प्रभु के समक्ष तत्त्व-जिज्ञासा एवं प्रभु की शिक्षा—(१) सम्बन्धज्ञान—२९प: ९८-२१प: सम्पूर्ण; (२) अभिधेय-विचार—२२प: सम्पूर्ण; (३) प्रयोजन-विचार—२३प: ३-९३; श्रीसनातन का भक्तिसिद्धान्त लिखना, लुप्त तीर्थों का उद्धार, वैष्णव-स्मृति-संकलन के द्वारा वैष्णव-समाज की संस्थापना, एवं भक्तिशास्त्र प्रचार के लिये आदेश ९७; आशीर्वाद ११८; उनके निकट 'आत्माराम' श्लोक की पहले १८ प्रकार, पश्चात् ६१ प्रकार अर्थ की व्याख्या २४प: ४-३०८; राजमार्ग से श्रीसनातन का मथुरा जाना एवं सुबुद्धि राय के साथ मिलना २०३-२०४; फिर झारखंड के रास्ते से श्रीसनातन का नीलाचल आना—अन्त्य, ४र्थ प:३; रथ के पहिये के नीचे देह त्याग का संकल्प १२; हरिदास के साथ मिलन एवं सपार्षद प्रभु के दर्शन १४-२२; अनुपम की गङ्गाप्राप्ति एवं महिमा-श्रवण ३०-४७; सनातन के देहत्याग के संकल्प में प्रभु का बाधा डालना ५४-६५; श्रीसनातन गोस्वामी के द्वारा श्रीमन् महाप्रभु की अपने प्रयोजन को पूर्ण करने की इच्छा ७६-८८, सनातन द्वारा हरिदास ठाकुर की महिमा का वर्णन १००-१०३; मर्यादामार्ग पर चलनेवाले जगन्नाथ के सेवकों के स्पर्श के भय से तप्त बालू (रेती) के ऊपर से होकर प्रभु के पास जाना एवं इसे देखकर प्रभु का संतोष ११५-१३१; जगदानन्द के कहने पर वृन्दावन- गमन के लिये आदेश की प्रार्थना १४१-१५५; प्रभु के द्वारा श्रीसनातन की स्तुति १६३-१७०; श्रीसनातन के अप्राकृत शरीर के प्रति प्रभु की प्रीति एवं आलिङ्गन, फलस्वरूप दिव्यदेह की प्राप्ति १७२-१९८; एक वर्ष नीलाचल में रहने के लिये प्रभु का आदेश २००; वृन्दावन भेजना २०७ एवं अनेक दिनों के पश्चात् वृन्दावन जाकर श्रीरूप के साथ मिलना २१३; गौर की आज्ञा का पालन २१७-२२२ संख्या द्रष्टव्य है।

श्रीरूप एवं श्रीसनातन का श्रीपाट रामकेलि ('गुप्त वृन्दावन') में है—यह वर्तमान शहर अंग्रेजबाजार से लगभग ८मील दक्षिण की ओर स्थित है। वहाँ निम्न-लिखित दर्शनयोग्य स्थान है; जैसे,—

(१) श्रीश्रीमदनमोहन विग्रह—श्रीसनातन के द्वारा प्रतिष्ठित विग्रह। (२) केलिकदम्ब वृक्ष—इस वृक्ष के नीचे रात को श्रीमन् महाप्रभु के साथ श्रीरूप और श्री सनातन का साक्षात्कार हुआ एवं वहाँ महाप्रभु ने भक्तवृन्द को प्रेमामृत का दान किया, यह बात प्रसिद्ध है। (३) रूपसागर—श्रीरूप गोस्वामीप्रभु के द्वारा प्रतिष्ठित बृहत् सरोवर। इस सरोवर का पंकोद्धार एवं श्रीरामकेलि-पाट के लुप्तकीर्ति के उद्धार के लिये मालदह में ८।६।१९२४ ख्रीष्टाब्द में 'रामकेलि-संस्कार-समिति' का गठन हुआ है।

(४४क) श्रीजीव—

ताँर मध्ये रूप-सनातन—बड़ शाखा।
अनुपम, जीव, राजेन्द्रादि उपशाखा॥८५॥

८५। प० अनु०—इनमें से रूप-सनातन बड़ी शाखा हैं और अनुपम, जीव, राजेन्द्र आदि उपशाखाएँ हैं।

अनुभाष्य

८५। जीव—गौरगणोद्देश में २०३ श्लोक—"सुशीलः पण्डितः श्रीमान् जीवः श्रीवल्लभात्मजः।" १९५ श्लोक में—ये ब्रजलीला में विलासमंजरी है। श्रीजीव बचपन में श्रीमद्भागवतम के अनुरागी थे। बाद में नवद्वीप आकर श्रीनित्यानन्द के अनुसरण में श्रीनवद्वीपधाम की परिक्रमा और दर्शन करके काशी चले गये। वहाँ मधुसूदन वाचस्पति के निकट सर्वशास्त्रों का अध्ययन किया और तत्पश्चात् वृन्दावन जाकर श्रीरूप-सनातन के आश्रित हुये। श्रीभक्तिरत्नाकर की प्रथम तरङ्ग में—"श्रीजीवेर ग्रन्थ पंचविंशति विदित। (१) 'हरिनामामृत'—व्याकरण दिव्य- रीत॥ (२) 'सूत्रमालिका', (३) 'धातुसंग्रह' सुप्रकार। (४) 'कृष्णर्चादीपिका'—ग्रन्थ अति चमत्कार॥ (५) 'गोपालविरुदावली' (६) 'रसामृतशेष'। (७) 'श्रीमाधव- महोत्सव' सर्वांशे विशेष॥ (८)'श्रीसंकल्प-कल्पवृक्षे'- ग्रन्थेर प्रचार। (९) 'भावार्थ सूचक'—चम्पू अति चमत्कार॥ (१०) 'गोपालतापनी टीका', (११) टीका ब्रह्मसंहितार। (१२) 'रसामृत-टीका', (१३) श्रीउज्ज्वलटीका आर॥ (१४) 'योगसार'—स्तवेर टीकाते सुसंगति। (१५) 'अग्नि पुराणस्थ श्रीगायत्री भाष्य' तथि॥ (१६) 'पद्मपुराणोक्त श्रीकृष्णेर पदचिह्न'। (१७) 'श्रीराधिका-कर-पदस्थित चिह्न भिन्न'॥ (१८) 'गोपालचम्पु'—पूर्व-उत्तर-विभागेते। वर्णिलेन कि अद्भुत विदित जगते॥ (१९-२५) सप्त-सन्दर्भ विख्यात भागवत-रीति। क्रम-तत्त्व-भगवत्-परमात्म-कृष्ण-भक्ति-प्रीति॥

श्रीजीव, श्रीरूप-सनातनादि के अप्रकट के पश्चात् उत्कल-सहित गौड़-माथुर-मण्डल के गौड़ीय-सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आचार्य के पद पर अधिष्ठित होकर सभी को श्रीगौरसुन्दर के द्वारा प्रचारित सत्य का कीर्तन करके हरिभजन कराते थे। बीच-बीच में वे भक्तवृन्द के साथ व्रज-धाम की परिक्रमा करते थे एवं मथुरा में विठ्ठल-देव के दर्शन के लिये जाते थे। श्रील कविराज गोस्वामी ने इन्हीं के प्रकटकाल में ही श्रीचैतन्यचरितामृत की रचना की। कुछदिनों पश्चात् इन्होंने गौड़देश से आये हुये श्रीनिवास, नरोत्तम और दुःखी कृष्णदास को यथा-क्रमानुसार 'आचार्य' 'ठाकुर' एवं 'श्यामानन्द' नाम प्रदान किया तथा गोस्वामियों द्वारा रचित शास्त्रादि के साथ नामप्रेम प्रचार-हेतु गौड़देश के लिए प्रेरित किया। पहले ग्रन्थों के अपहरण का समाचार एवं पश्चात् इनके उद्धार के सम्बन्ध में सुना। इन्होंने श्रीनिवास-शिष्य रामचन्द्र सेन एवं इनके अनुज गोविन्द को 'कविराज' नाम प्रदान किया। इनके प्रकटकाल में श्रील जाह्नवीदेवी कुछ भक्त-वृन्द के साथ वृन्दावन आईं थीं। गौड़देश से भक्तवृन्द के आगमन पर श्रीजीव उन सबके लिये प्रसाद-सेवा एवं वास स्थान की व्यवस्था कर देते थे। इनके शिष्य श्री कृष्णदास अधिकारी ने अपने द्वारा रचित ग्रन्थ में तीनों प्रभु श्रीरूप-सनातन-जीव के द्वारा लिखित ग्रन्थों की तालिका प्रदान की है।

अनभिज्ञ प्राकृत सहजिया-सम्प्रदाय में श्रीजीव-गोस्वामी प्रभुके विरुद्ध तीन अपवाद प्रचलित हैं। इसके द्वारा कृष्णविमुखता-हेतु हरिगुरुवैष्णव-विरोध के कारण निश्चित ही उन सबका अपराध वर्धित होता है।

(१) जड़प्रतिष्ठा के आकांक्षी एक दिग्विजयी पण्डित ने निष्किंचन श्रीरूप-सनातन के निकट से जयपत्र लिखवाकर गुरुवर्ग की (श्रीरूप-सनातन की) मूर्खता को ज्ञापन कर श्रीजीव को भी जयपत्र लिख देने के लिये कहा। यह सुनकर श्रीजीवप्रभु ने दिग्विजयी को पराजित करके गुरु के अपवादकारी की जिह्वा को स्तंभित करके गुरुदेव के चरणों के नख की शोभा की मर्यादा स्थापनकर वास्तव 'गुरुदेवतात्मा' शिष्य के आदर्श का प्रदर्शन किया। वे सब सहजिया कहते हैं,—श्रीजीव के

इस प्रकार के आचरण से उनकी तृणादपि सुनीचता एवं मानद-धर्म के विरोध हेतु श्रीरूपगोस्वामी प्रभु ने पहले उनकी तीव्र भर्त्सना की और बाद में उन्हें त्याग दिया। तदुपरान्त श्रीसनातन गोस्वामी प्रभु के कहने पर फिर से श्रीजीवप्रभु को स्वीकार किया।

वे सब गुरुवैष्णवविरोधिगण श्रीकृष्ण की कृपा से जिस दिन अपने आपको गुरुवैष्णव के नित्यदास के रूप में जान सकेंगे, उसी दिन श्रीजीवप्रभु की कृपा लाभ करके वास्तव में 'तृणादपि-सुनीच' एवं 'मानद' होकर हरिनाम-कीर्तन के अधिकारी हो सकेंगे।

(२) कोई-कोई अनभिज्ञ कहते हैं,—कविराज गोस्वामी प्रभु के द्वारा रचित 'श्रीचैतन्यचरितामृत' ग्रन्थ की रचना-सौष्ठव (शैली) एवं अप्राकृत व्रजरस की महिमा के दर्शन से स्वयं की प्रतिष्ठा के कम हो जाने की आशङ्का से श्रीजीव गोस्वामी में द्वेष भाव उदय हुआ तथा उन्होंने मूल—'चरितामृत' ग्रन्थ को कुएँ में फेंक दिया और यह सुनकर श्रीकविराज गोस्वामी ने प्राण त्याग दिये। उन्हीं के शिष्य 'मुकुन्द' नामक एक व्यक्ति ने पहले से ही मूल पाडुंलिपि की एक नकल कर रखी थी, इसलिये 'चरितामृत' फिर से प्रकाशित हुआ; नहीं तो 'चरितामृतग्रन्थ' जगत से लुप्त हो जाता।

इस प्रकार की हेय वैष्णव-विद्वेषमूलक कल्पना—नितान्त मिथ्या एवं असम्भव है।

(३) फिर कोई-कोई इन्द्रियतर्पण-तत्पर व्यभिचारी कहते हैं,—श्रीजीवप्रभु ने श्रीरूप-गोस्वामी के मतानुसार व्रजगोपियों के 'पारकीय रस' को स्वीकार न करके 'स्वकीय रस' को अनुमोदन किया। जिसके कारण वे रसिक भक्त नहीं थे, अतः उनका आदर्श ग्रहण करने योग्य नहीं है।

प्रकटकाल में अपने अनुयायियों में से किसी-किसी भक्त को 'स्वकीया रस' में रुचिविशिष्ट देखकर उन सबके मङ्गल के निमित्त उस सबका अधिकार समझकर एवं बाद में अनधिकारी व्यक्तिगण अप्राकृत परम-चमत्कारमय पारकीय व्रजरस की सुन्दरता एवं महिमा को नहीं समझ पाने के कारण स्वयं इस प्रकार का अनुष्ठान करते हुये कहीं किसी व्यभिचार का आनयन करें, इसलिये वैष्णवाचार्य श्रीजीव-प्रभु ने 'स्वकीयवाद' को स्वीकार किया। परन्तु इससे उन्हें अप्राकृत पारकीय व्रजरस के विरोधी के रूप में स्वीकार कर लेना गलत होगा। क्योंकि, वे स्वयं श्रीरूपानुगवर,—साक्षात् श्रील कविराज गोस्वामी के शिक्षा गुरुवर्गों में अन्यतम हैं।

श्रीरूप-सनातन शाखा का विस्तार एवं कार्य—

मालीर इच्छाय शाखा बहुत बाड़िल।
बाड़िया पश्चिम देश सब आच्छादिल॥८६॥

८६। प॰ अनु॰—माली की इच्छा से शाखा बहुत बड़ गयी और बढ़कर पश्चिम देश को आच्छादित कर गई।

समग्र भारत का उद्धार—

आ-सिन्धुनदी-तीर आर हिमालय।
वृन्दावन-मथुरादि यत तीर्थ हय॥८७॥

८७। प॰ अनु॰—सिन्धुनदी के तट से लेकर हिमालय तक और वृन्दावन-मथुरा आदि जितने भी तीर्थ थे।

सभी की प्रेमोन्मत्तता—

दुइ शाखार प्रेमफले सकल भासिल।
प्रेमफलास्वादे लोक उन्मत्त हइल॥८८॥

८८। प॰ अनु॰—दोनों शाखाओं के प्रेमफल के कारण सभी बहने लगे और प्रेमफलके आस्वादन से लोग उन्मत्त हो गये।

(१) भक्ति-आचरण का प्रवर्तन—

पश्चिमेर लोक सब मूढ़ अनाचार।
ताँहा प्रचारिल दुँहे भक्ति-सदाचार॥८९॥

८९। प॰ अनु॰—पश्चिम देश के सभी लोग मूर्ख एवं आचरण को न जानने वाले थे। वहाँ इन दोनों (श्रीरूप

गोस्वामी एवं श्रीसनातन गोस्वामी) ने भक्ति-सदाचार का प्रचार किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

८९। पश्चिम प्रदेश के सभी लोग यवन के संग के कारण थोड़ा कर्त्तव्य-विमूढ़ और बंगदेशीय सदाचार की तुलना में अत्यधिक आचार-रहित हैं। उस समय वे मुसलमानों के संसर्ग के कारण अधिक अनाचारी हो गये थे। श्रीरूप-सनातन की कृपा से उन सबमें सदाचार की प्रवृत्ति आयी।

(२) लुप्त तीर्थों का उद्धार एवं
(३) श्रीमूर्त्ति-पूजा-प्रचार—

शास्त्रदृष्ट्ये कैल लुप्ततीर्थेर उद्धार।
वृन्दावन कैल श्रीमूर्त्ति-पूजार प्रचार॥९०॥

९०। प॰ अनु॰—शास्त्र-प्रमाण के बल पर इन दोनों ने लुप्ततीर्थों का उद्धार किया और वृन्दावन में श्री मूर्त्तिपूजा का प्रचार किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

९०। लुप्ततीर्थ—श्रीश्रीराधाकुण्ड आदि लुप्ततीर्थ। श्रीमूर्त्ति—श्रीमदनमोहन, श्री गोविन्द, श्रीगोपीनाथ आदि सात मूर्त्तियों की पूजा का प्रचार किया।

(४५) श्रीरघुनाथदास—

महाप्रभुर प्रिय भृत्य—रघुनाथदास।
सर्वत्याजि कैल प्रभुर पदतले वास॥९१॥

९१। प॰ अनु॰—श्रीरघुनाथ दास श्रीमन् महाप्रभु के प्रिय सेवक हैं। जिन्होंने सबकुछ त्याग कर प्रभु के चरणाश्रय में वास किया।

अनुभाष्य

९१। श्रीरघुनाथ दास—आनुमानिक १४१६ शकाब्द में हुगली जिला के अन्तर्गत 'श्रीकृष्ण-पुर' गाँव में शौक्र कायस्थकुल में हिरण्य मजुमदार के अनुज श्रीगोवर्द्धन के घर में जन्मग्रहण किया।

सप्तग्राम से श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी प्रभु की प्रकट-भूमि 'श्रीकृष्णपुर'—एक मील से कुछ अधिक और त्रिशविघा-स्टेशन से लगभग डेढ़ मील की दूरी पर स्थित है। इस स्थान पर श्रील दास गोस्वामी प्रभु के पूर्वाश्रम के पिता श्रीगोवर्द्धन दास के द्वारा प्रतिष्ठित प्रसिद्ध श्रीराधागोविन्द श्रीविग्रह विराजमान हैं। श्रीमन्दिर के सामने एक विस्तृत प्रांगण है; जिसमें कोई नाट्यमन्दिर नहीं है, केवल एक जगमोहन है। कोलकाता सिमला-निवासी श्रीमान् हरिचरण घोष ने एक वर्ष पहले इस मन्दिर का संस्कार किया है। मन्दिर-प्रांगण प्राकारों से घिरे हुये हैं। जिस घर में श्रीविग्रह विराजित हैं, उस घर के साथ ही एक छोटे से घर में श्रील दास गोस्वामी का 'भजनासन' स्थित है। पत्थर से बना हुआ यह आसन बहुत ऊँचा नहीं है। यह आसन डेढ़ हाथ लम्बा, डेढ़ हाथ चौड़ा और तीन-चौथाई हाथ ऊँचा है। प्रवाद है, इस आसन पर श्रीलदास गोस्वामी भजन किया करते थे। मन्दिर के पास में ही स्वल्पतोया (अल्पजल) स्त्रोतहीन सरस्वती-नदी कृशा एवं मलिना की भाँति विराजित है।

इनके पितृगण वैष्णवप्राय विशिष्ट धनाढ्य व्यक्ति थे एवं इनके दीक्षागुरु यदुनन्दन आचार्य थे। संसार में प्रवेश कर ये कुछ ही दिनों में ही श्रीमन् महाप्रभु के आश्रय के लिए प्रार्थी हुये। पश्चात् १४३९ शकाब्द में सुयोग पाकर घर से भागकर पुरुषोत्तम चले गये। वहाँ श्रीचैतन्यदेव के सुशीतल पादपद्म की छत्रछाया में दामोदर स्वरूप के आनुगत्य में रहे। पुरुषोत्तम (पुरी) में १६ वर्ष तक वास करके प्रभु के अप्रकट के बाद, वे श्रीवृन्दावन में आकर श्रीरूप-सनातन के निकट वास करने लगे। भक्तिरत्नाकर के १म तरङ्ग में—"रघुनाथदास गोस्वामीर ग्रन्थत्रय। 'स्तवमाला' नाम 'स्तवावली' यारे कय॥ 'श्रीदान-चरित,' 'मुक्ताचरित' मधुर।"

इन्होंने सुदीर्घ जीवन प्राप्त किया। श्रीनिवासाचार्य

ने वृन्दावन से ग्रन्थ-आदि को लेकर लौटने से पहले श्रीदास गोस्वामी से कृपा प्राप्त की; जैसे भक्तिरत्नाकर की छटी तरङ्ग में—"अतिक्षीण शरीर, दुर्बल क्षणे क्षणे। करये भक्षण किछु दुइ चारि दिने॥ दिवानिशि ना जानये श्रीनाम-ग्रहणे। नेत्रे निद्रा नाइ, अश्रुधारा दुनयने॥ श्री निवास-दास गोस्वामी सन्दर्शने। आपना मानये धन्य पड़िया चरणे॥ श्रीदास गोस्वामी श्रीनिवासे आलिंगिला। श्रीनिवास श्रीगौड़-गमन निवेदिला॥ शुनि' श्रीगोस्वामी मुखे अनुमति दिल।" यह घटना १५१२ शकाब्द के बाद हुई। गौरगणोद्देश में १८६ श्लोक—दास श्रीरघुनाथस्य पूर्वाख्या रसमञ्जरी। अमुं केचित् प्रभावन्ते श्रीमतीं रति- मञ्जरीम्। भानुमत्याख्यया केचिदाहुस्तं नामभेदतः॥"

श्रीस्वरूप के आनुगत्य में श्रीरघुनाथ की गौरसेवा—

प्रभु समर्पिल ताँरि स्वरूपेर हाते।
प्रभुर गुप्तसेवा कैल स्वरूपेर साथे॥९२॥

९२। प॰ अनु॰—श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीरघुनाथदास को श्रीस्वरूप दामोदर के हाथों में समर्पित कर दिया और ये श्रीस्वरूप दामोदर के साथ प्रभु की गुप्त सेवाएँ करने लगे।

श्रीगौर एवं स्वरूप के अप्रकट के पश्चात् वृन्दावन आगमन—

षोड़श वत्सर कैल अन्तरंग-सेवन।
स्वरूपेर अन्तर्धाने आइला वृन्दावन॥९३॥
वृन्दावने दुइ भाइर चरण देखिया।
गोवर्द्धने त्यजिव देह भृगुपात करिया॥९४॥

९३-९४। प॰ अनु॰—सोलह वर्ष तक इन्होंने प्रभु की अन्तरङ्ग सेवाएँ की और श्रीस्वरूप दामोदर के अप्रकट के पश्चात् वे वृन्दावन चले आये। (इन्होंने अपने मन-ही-मन विचार किया कि) वृन्दावन में दो भाइयों (श्रीरूप-सनातन) के दर्शन करके—गोवर्द्धन के ऊँचे शिखर से गिरकर अपने देह को त्याग दूँगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

९२-९३। 'गुप्तसेवा',—जिन सेवाकार्यों में बाहर के लोगों का अधिकार नहीं होता, जैसे प्रभु के स्नान, भोजन, विश्राम, कीर्तन आदि के समय जिन अभीष्ट प्रिय सेवाओं का प्रयोजन होता है, वे सब 'अन्तरङ्ग-सेवा' नाम से जानी जाती है।

९४। भृगुपात करिया—पर्वत के ऊँचे शिखर से नीचे गिरकर।

श्रीरूप-सनातन के साथ मिलन—

एइ त' निश्चय करि' आइल वृन्दावने।
आसि' रूप-सनातनेर वन्दिल चरणे॥९५॥

९५। प॰ अनु॰—यही निश्चय कर श्रीरघुनाथ वृन्दावन चले आये और आकर श्रीरूप-सनातन के चरणों की वन्दना करने लगे।

श्रीरूप-सनातन के तीसरे भाई—

तबे दुइ भाइ ताँरे मरिते ना दिल।
निज तृतीय भाइ करि' निकटे राखिल॥९६॥
महाप्रभुर लीला यत बाहिर-अन्तर।
दुइ भाइ ताँर मुखे शुने निरन्तर॥९७॥

९६-९७। प॰ अनु॰—तब श्रीरूप-सनातन ने रघुनाथ को प्राण त्यागने से रोका और उनको अपना तीसरा भाई बनाकर अपने पास रख लिया और दोनों भाई उनके मुख से निरन्तर श्रीमन् महाप्रभु की समस्त अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग लीलाओं को सुनते रहे।

उनका दैनिक कृत्य—

अन्न-जल त्याग कैल अन्य-कथन।
पल दुइ-तिन माठा करेन भक्षण॥९८॥
सहस्र दण्डवत् करे, लय लक्ष नाम।
दुइ सहस्र वैष्णवेरे नित्य परणाम॥९९॥
रात्रिदिने राधाकृष्णेर मानस सेवन।
प्रहरेक महाप्रभुर चरित्र-कथन॥१००॥
तिन सन्ध्या राधाकुण्डे अपतित स्नान।

व्रजवासी वैष्णवेरे आलिंगन दान॥१०१॥
सार्ध सप्तप्रहर करे भक्तिर साधने।
चारि दण्ड निद्रा, सेह नहे कोनदिने॥१०२॥

९८-१०२। प० अनु०—श्रीरघुनाथदास गोस्वामी अन्न-जल और अन्य-कथन को परित्याग करके दिन में दो-तीन पल (के समय में) मठा पान करते, वे एक हजार दण्डवत् प्रणाम करते तथा एक लाख नाम जप करते, दो हजार वैष्णवों के उद्देश्य से नित्य प्रणाम करते हुये रातदिन श्रीराधाकृष्ण की मानस सेवा करते हुए, एक प्रहर तक श्रीमन् महाप्रभु की लीला का कीर्तन करते थे। तीनों सन्ध्याओं में राधाकुण्ड में नित्यप्रति स्नान और व्रजवासी वैष्णवों को आलिंगन दान करते थे। वे साड़े-सात प्रहर भक्ति का साधन कर केवल चार दण्ड (डेढ़ घण्टा) विश्राम करते और किसी-किसी दिन वह भी नहीं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१००। रात्रिदिने राधाकृष्णेर मानस सेवा,—हरिनाम (कीर्तन) के साथ अष्टकालीन सेवा का मनन।

अनुभाष्य

९८। माठा—घोल।

रूप-रघुनाथ के प्रति ग्रन्थकार का नित्यदासाभिमान—

ताँहार साधानरीति शुनिते चमत्कार।
सेइ रूप-रघुनाथ प्रभु ये आमार॥१०३॥
इँहा-सबार यैछे हैल प्रभुर मिलन।
आगे विस्तारिया ताहा करिब वर्णन॥१०४॥

१०३-१०४। प० अनु०—इनकी साधनरीति को सुनकर चमत्कार लगता है। वे ही श्रीरूप-रघुनाथ मेरे प्रभु हैं। महाप्रभु के साथ इन सबका मिलन कैसे हुआ, इसका आगे विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०४। आगे—रघुनाथ के साथ प्रभु का मिलन अन्त्य षष्ठ परिच्छेद में द्रष्टव्य है।

अनुभाष्य

१०३। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी प्रभु श्रीलदास गोस्वामी एवं श्रीरूप गोस्वामी को 'मेरे प्रभु' के रूप में मानते हैं इसलिए प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में उन्होंने लिखा है—'श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश। चैतन्य-चरितामृत कहे कृष्णदास॥' कोई-कोई 'रघुनाथ' शब्द से 'श्रीरघुनाथ भट्ट' कहना चाहते हैं तथा श्रीरघुनाथ भट्ट को श्रीकविराज गोस्वामी के पांचरात्रिक-दीक्षा-गुरु बतलाना चाहते हैं; परन्तु इसका कोई भी प्रमाण नहीं है। कविराज-शाखा-गुरुपरम्परा में श्रीरघुनाथ भट्ट को दीक्षागुरु के रूप में मानने की जो रीत है, वह विशिष्ट सत्य का परिचय नहीं है।

१०४। श्रीरूप के साथ प्रभु का मिलन—मध्य, १९प: ४५संख्या, श्रीसनातन के साथ प्रभु का मिलन—मध्य, २०प: ५१संख्या एवं श्रीरघुनाथ के साथ प्रभु का मिलन— अन्त्य, षष्ठ प:१९१ संख्या द्रष्टव्य है।

(४६) श्रीगोपाल भट्ट-शाखा—

श्रीगोपाल भट्ट—एक शाखा सर्वोत्तम।
रूप-सनातन संगे याँर प्रेम-आलापन॥१०५॥

१०५। प० अनु०—श्रीगोपाल भट्ट एक सर्वोत्तम शाखा है, जिनका श्रीरूप-सनातन के साथ प्रेम आलाप होता था।

अनुभाष्य

१०५। श्रीगोपाल भट्ट—ये रंगश्रेत्र-प्रवासी व्येंकट भट्ट के पुत्र एवं (पहले रामानुजीय, पश्चात् गौड़ीय) श्रीप्रबोधानन्द के शिष्य हैं। १४३३ शकाब्द में श्रीमन् महाप्रभु का श्रीरंगक्षेत्र में श्री-सम्प्रदाय के व्येंकट भट्ट के घर पर चातुर्मास्य-व्रत के उपलक्ष में वास करते समय श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी ने श्रीमन् महाप्रभु की बहुत

सेवा की थी। इन्होंने अपने पितृव्य त्रिदण्डी श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती से दीक्षा ग्रहण की, जैसे—हरिभक्तिविलास, १म विभाग, २य श्लोक—"भक्तेविलासांश्चिनुते प्रबोधा- नन्दस्य शिष्यो भगवत्प्रियस्य। गोपालभट्ट रघुनाथ दासं सन्तोषयन् रूप-सनातनौ च॥" भक्तिरत्नाकर के १म तरङ्ग में—"गोपालेर माता पिता महाभाग्यवान्। श्रीचैतन्यपदे ये सँपिल मनः प्राण॥ वृन्दावने याइते पुत्रेरे आज्ञा दिया। दोंहे संगोपन हइला प्रभु सोङरिया॥ कतदिने गोपाल गेलेन वृन्दावन। रूप-सनातन संगे हइल मिलन॥" *** (नीलाचले प्रभुके) "लिखलेन पत्रीते श्रीरूप- सनातन। गोपाल भट्टेर वृन्दावने आगमन॥" (प्रभु) "लिखये पत्रीते प्रिय रूप-सनातने। पाइल आनन्द गोपालेर आगमने॥ निजभ्रातासम गोपाल भट्टेरे जानिबे।" ** "गोपालेर नामे श्रीगोस्वामी सनातन। करिल श्रीहरिभक्तिविलास वर्णन। श्रीरूपगोस्वामी प्राणसम जाने। श्रीराधारमण सेवा कराइल ताने॥" *** (कविराज गोस्वामी के) "श्रीगोपाल भट्ट हृष्ट हइया आज्ञा दिल। ग्रन्थे निज प्रसंग वर्णिते निषे- धिल॥ कविराज ताँर आज्ञा नारे लंघिवार। नाममात्र लिखे, अन्य ना करे प्रचार॥ निरन्तर अति दीन माने आपनारे।"— "प्राचीन मुखे एइ सब शुनिल।" (ग्रन्थकार घनश्यामदास की उक्ति)। षट्सन्दर्भ में से तत्त्वसन्दर्भ के आदि में (श्रीरूप-सनातन के प्रति प्रणाम के पश्चात्)—"कोऽपि तद्बान्धवो भट्टो दक्षिण-द्विजवंशजः। विविच्य व्यलिखद् ग्रन्थं लिखिताद्वृद्धवैष्णवैः॥ तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्त- व्यूत्क्रान्त-खंडितम्। पर्य्यालोच्याथ पर्यायं कृत्वा लिखति जीवकः॥" अर्थात् श्रीमध्व-श्रीरामानुज-श्रीधरस्वामि आदि प्राचीन वैष्णव आचार्यों के द्वारा लिखित ग्रन्थों से विचारादि का संकलन करके श्रीरूप-सनातन दोनों प्रभु- ओं के प्रिय सुहृत दक्षिणदेश-निवासी द्विजकुलोद्भुत श्रीगोपाल भट्ट ने एक ग्रन्थ लिखा था। जिसमें कहीं-कहीं क्रमानुसार, कहीं व्युत्क्रम अर्थात् बिना क्रम के, तो कहीं-कहीं खण्ड-खण्ड के रूप में जो कुछ भी लिखा हुआ था, मैं क्षुद्र जीव उसकी पर्य्यालोचना करके क्रमानु- सार यथायथ लिख रहा हूँ। 'भगवत्' सन्दर्भ आदि अन्यान्य सन्दर्भ के प्रारम्भ में भी इसी प्रकार लिखा हुआ है। ये—'सत्क्रिया-सार-दीपिका' के रचयिता, 'हरिभक्ति- विलास' के सम्पादक एवं षट्सन्दर्भ के पूर्व लेखक हैं। "करिलेन कृष्ण कर्णामृतेर टिप्पनी। वैष्णवेर परम आनन्द याहा शुनि'॥" ये श्रीराधारमण-विग्रह के स्थापनकर्त्ता हैं। गौरगणोद्देश में १८४ श्लोक—"अनङ्गमञ्जरी यासीत् साद्य गोपाल भट्टकः। भट्टगोस्वामीनं केचित् आहुः श्रीगुण- मंजरीम्॥" श्रीनिवासाचार्य एवं गोपीनाथ पुजारी इन्हीं के शिष्य हैं।

(४७) शंकरारण्य-शाखा, (४७क) मुकुन्द,
(४७ख) काशीनाथ, (४७ग) रुद्र—

शंकरारण्य—आचार्य-वृक्षेर एक शाखा।
मुकुन्द, काशीनाथ, रुद्र,—उपशाखा लेखा॥१०६॥

१०६। प० अनु—शंकरारण्य आचार्य-वृक्ष की एक शाखा हैं। मुकुन्द, काशीनाथ एवं रुद्र उस शाखा की उपशाखाओं में गिने जाते हैं।

अनुभाष्य

१०६। शंकरारण्य—गौरगणोद्देश में ६० श्लोक— "अस्याग्रजस्त्वकृतदारपरिग्रहः सन् संकर्षणः स भगवान् भुवि विश्वरूपः। स्वीयं महः किल पुरीश्वरमापयित्वा पूर्वं परिव्रजित एव तिरोवभूव॥" ये १४३२ शकाब्द में शोलापुर जिला के अन्तर्गत पांडेरपुर नामक तीर्थ में अप्रकट हुये। मध्य, ९म प:२१९-३०० संख्या द्रष्टव्य है।

मुकुन्द (मुकुन्द संजय)—इनके घर में विश्वम्भर ने पाठशाला की थी और इनके पुत्र पुरुषोत्तम, महाप्रभु के छात्र थे।

काशीनाथ—विश्वम्भर के विवाह में संयोगकर्त्ता

ब्राह्मण पण्डित। इन्होंने राजपण्डित सनातन को उनकी कन्या विष्णुप्रिया देवी के साथ प्रभु का विवाह करने का परामर्श दिया था। गौरगणोद्देश में ५० श्लोक—"यश्च सत्राजिता विप्रः प्रहितो माधवं प्रति। सत्योद्वाहाय कुलकः श्रीकाशीनाथ एव सः।"

रुद्र—गौरगणोद्देश में १३५ श्लोक—"बरुथपः सखा नाम्ना कृष्णचन्द्रस्य यो व्रजे। आसीत् स एव गौरांगोवल्लभो रुद्रपण्डितः"॥

वल्लभपुर—कमलाकर पिप्पलाइ के श्रीपाट माहेश से एक मील उत्तरी दिशा की दूरी पर स्थित है। इस स्थान पर एक बड़े मन्दिर में काशीश्वर गोस्वामी के भांजे श्रीरुद्राम पण्डित के द्वारा स्थापित श्रीराधा-वल्लभ जी विराजित हैं। रुद्राम पण्डित के अनुज यदुनन्दन बन्दोपाध्याय महाशय के वंशधर 'चक्रवर्त्तिगण' वर्तमान में श्रीराधावल्लभजी के सेवायत हैं। पूर्व में रथयात्रा के समय महेश से श्रीजगन्नाथदेव वल्लभपुर में श्रीराधा-वल्लभजी के मन्दिर में आते थे, परन्तु १२६२ वर्ष से इन विग्रह के सेवायेतगणों के बीच में मनमुटाव के कारण वह प्रथा बन्द हो चुकी है।

(४८) श्रीमन् महाप्रभु के कृपापात्र
एवं अद्भुत श्रीकृष्ण-सेवादर्श श्रीनाथ पण्डित—

श्रीनाथ पण्डित—प्रभुर कृपार भाजन।
याँर कृष्णसेवा देखि' वश त्रिभुवन॥१०७॥

१०७। प॰ अनु॰—श्रीनाथ पण्डित प्रभु के कृपापात्र हैं। जिनकी कृष्णसेवा को देखकर त्रिभुवन भी वशीभूत हो जाता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०७। श्रीनाथ पण्डित—काचड़ापाड़ा- निवासी हैं।

अनुभाष्य

१०७। श्रीनाथ पण्डित—गौ:ग: २११—"व्याचकार पारिपाट्याद् जो भागवत-संहिताम्। कुमारहट्टे यत्कीर्त्तिः कृष्णदेवो विराजते॥"

कुमारहट्ट से लगभग डेढ़ मील की दूरी पर स्थित काचड़ापाड़ा में सेन शिवानन्द का स्थान है। उस स्थान पर शिवानन्द के द्वारा प्रतिष्ठित 'श्रीगौरगोपाल' विग्रह, श्रीनाथविप्र द्वारा प्रतिष्ठित 'श्रीकृष्णराय' नामक श्रीराधा-कृष्णमूर्त्ति एक सुबृहत् मन्दिर में विराजमान है। मन्दिर के सामने बृहत् प्राङ्गण है, साथ में भोगरन्धन का घर एवं अतिथिशाला आदि वर्तमान हैं। प्राङ्गण ऊँचे प्राकार से परिवेष्टित है। माहेश के श्रीमन्दिर से भी यह मन्दिर बड़ा है। १७०८ शकाब्द में इस मन्दिर का निमार्ण हुआ था। मन्दिर के सामने एक अनुष्टुप श्लोक में मन्दिर-प्रतिष्ठाता का नाम, उनके पिता, पितामह का नाम एवं तारीख लिखी हुई है। कोलकाता के पाथुरियाघाटा-निवासी परलोक-प्राप्त निमाइ मल्लिक नामक किसी एक धनकुबेर (बहुत धनी व्यक्ति) ने इस मन्दिर का निर्माण किया है। श्रीनाथ पण्डित श्रीअद्वैताचार्य के शिष्य हैं। श्रीनाथ पण्डित के अनुगृहीत शिवानन्द के तृतीय पुत्र गौरगणोद्देश के लेखक परमानन्द कविकर्णपूर हैं। सम्भवतः कविकर्णपूर के समय ही श्रीकृष्णराय-विग्रह का प्रकाशन हुआ। किंवदन्ती यह है कि, मुर्शिदाबाद में वीरभद्रप्रभु के द्वारा लाये गये। एक सुबृहत् सुरम्य प्रस्तर-खण्ड से वल्लभपुर के श्रीराधा-वल्लभ-विग्रह, खड़दह के श्रीश्यामसुन्दर-विग्रह एवं काचड़ापाड़ा के श्रीकृष्ण-राय विग्रह का प्राकट्य हुआ।

सेन शिवानन्द का प्राचीन स्थान गङ्गा के तट पर है—वहाँ भग्नप्राय क्षुद्र मन्दिर था। सुनने में आता है कि, निमाइ मल्लिक जिस समय काशी जा रहे थे, उस समय वे कुछ देर के लिये यहाँ रुके। उन्होंने श्रीकृष्णराय के मन्दिर की भग्नावस्था को देखकर उन्होंने वर्तमान सुबृहत् मन्दिर का निर्माण कराया।

(४९) श्रीजगन्नाथ आचार्य—

जगन्नाथ आचार्य प्रभुर प्रिय दास।
प्रभुर आज्ञाते तेंहो कैल गंगावास॥१०८॥

१०८। प॰ अनु॰—जगन्नाथ आचार्य श्रीमन् महाप्रभु

के प्रिय दास हैं। प्रभु की आज्ञा से उन्होंने गङ्गावास नामक एक गाँव का निर्माण किया था।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०८। गङ्गावास—श्रीनवद्वीप के अन्तर्गत 'अलका- नन्दा' के तट पर 'गङ्गावास' नामक गाँव बसाया था।

अनुभाष्य

१०८। जगन्नाथाचार्य,—गौः गः १११—"आचार्य्यः श्रीजगन्नाथो गंगावास प्रभुप्रियः। आसीन्निधुवने प्राग् यो दुर्वासा गोपिकाप्रियः॥"

(५०) कृष्णदास, (५१) शेखर पण्डित,
(५२) कविचन्द्र, एवं (५३) षष्ठीवर—

कृष्णदास वैद्य, आर पण्डित-शेखर।
कविचन्द्र, आर कीर्तनीया षष्ठीवर॥१०९॥

१०९। प० अनु०—कृष्णदास वैद्य, शेखर पण्डित, कविचन्द्र और कीर्त्तनया षष्ठीवर—

(५४) श्रीनाथ मिश्र, (५५) शुभानन्द, (५६) श्रीराम,
(५७) ईशान, (५८) श्रीनिधि, (५९) गोपीकान्त,
(६०) भगवान् मिश्र—

श्रीनाथ मिश्र, शुभानन्द, श्रीराम, ईशान।
श्रीनिधि, श्रीगोपीकान्त, मिश्र भगवान्॥११०॥

११०। प० अनु०—श्रीनाथ मिश्र, शुभानन्द, श्रीराम, ईशान, श्रीनिधि, श्रीगोपीकान्त और भगवान् मिश्र—

अनुभाष्य

१०९-११०। कविचन्द्र एवं श्रीनाथ मिश्र—गौः गः १७१—"श्रीनाथ-मिश्रश्चित्रांगी कविचन्द्र मनोहरा"।

शुभानन्द—ये व्रज की मालती हैं; रथ के सामने नृत्य के समय सात सम्प्रदायों में से श्रीवास और नित्यानन्द की गोष्ठी के गायकों में से एक गायक थे। इन्होंने भावाविष्ट प्रभु के मुखनिःसृत फेन का पान किया था (मध्य १३पः ११० संख्या द्रष्टव्य है)। गौःगः १९७ एवं १९९ श्लोक द्रष्टव्य है।

ईशान—चैःभाः मध्य ८अः—"सेविलेन सर्वकाल आइरे ईशान। चतुर्दशलोकमध्ये महा भाग्यवान्॥" वैष्णव वन्दना में—"वन्दिव ईशान-दास करजोर करि'। शची ठाकुराणी याँरे स्नेह कैल बड़ि॥" भक्तिरत्नाकर के १२ तरङ्ग में—"निमाइ चाँदेर अति प्रिय से ईशान॥"

(६१) सुबुद्धि मिश्र, (६२) हृदयानन्द,
(६३) कमलनयन, (६४) महेश पण्डित,
(६५) श्रीकर, (६६) मधुसूदन—

सुबुद्धि मिश्र, हृदयानन्द, कमलनयन।
महेश पण्डित, श्रीकर, श्रीमधुसूदन॥१११॥

१११। प० अनु० सुबुद्धि मिश्र, हृदयानन्द, कमल- नयन, महेश पण्डित, श्रीकर और श्रीमधुसूदन—

अनुभाष्य

१११। सुबुद्धि मिश्र—गौःगः १९४ एवं २०१—व्रज की गुणचूड़ा। इनका श्रीपाट—श्रीखण्ड से ३ मील पश्चिम की ओर 'वेलगाँ' में। यहाँ श्रीनिताइगौर विग्रह विराजमान हैं। इनके वर्तमान वंशधर—श्रीगोविन्दचन्द्र गोस्वामी।

कमलनयन—गौःगः २०५ एवं १९६—व्रज की गन्धोन्मादा।

महेश पण्डित—आदि ११पः ३२ संख्या द्रष्टव्य है।

(६७) पुरुषो त्तम, (६८) श्रीगालीम,
(६९) जगन्नाथदास, (७०) श्रीचन्द्रशेखर,
(७१) द्विज हरिदास—

पुरुषोत्तम, श्रीगालीम, जगन्नाथदास।
श्रीचन्द्रशेखर वैद्य, द्विज हरिदास॥११२॥

११२। प० अनु०—पुरुषोत्तम, श्रीगालीम, जगन्नाथ दास, श्रीचन्द्रशेखर वैद्य और द्विज हरिदास—

अनुभाष्य

११२। चन्द्रशेखर वैद्य—काशी में रहते समय श्रीमन् महाप्रभु इनके घर पर रहे। ये लिखकर जीविका निर्वाह करते थे। आदि, ७म प४५ एवं अनुभाष्य; १०म प:१५२,१५४; मध्य, १७ प:९२ और १९; प:२४१-२४३; मध्य, २० प:४६-५३, ६७-७१; २५ प:६२, १७२ संख्या द्रष्टव्य है।

द्विज हरिदास—यह अष्टोत्तरशतनाम के रचयिता हैं की नहीं, इस विषय में प्रश्न है। कांचनगड़ियानिवासी इनके दो पुत्र श्रीदाम और गोकुलानन्द—श्रीनिवास आचार्य प्रभु के शिष्य हैं। कांचनगड़िया मुर्शिदाबाद जिला के आजिमगंज से ५म स्टेशन 'बाजारसाउ' स्टेशन से ५ मील के भीतर स्थित है।

(७२) रामदास, (७३) कविदत्त, (७४) गोपालदास, (७५) रघुनाथ, (७६) शार्ङ्ग ठाकुर—

रामदास, कविदत्त, श्रीगोपालदास।
भागवताचार्य, ठाकुर सार्ङ्गदास॥११३॥

११३। प० अनु०—इसमें रामदास, कविदत्त, श्री गोपालदास, भागवताचार्य, ठाकुर सारङ्गदास—

अमृतप्रवाह भाष्य

११३। भागवताचार्य—वराहनगर-निवासी। अभी भी इनके आश्रम को 'भागवताचार्य का पाट' कहते हैं।

ठाकुर सारङ्ग दास—मामगाछि निवासी।

अनुभाष्य

११३। श्रीगोपालदास—गौ:ग: १५८—"पुरा श्री-तारकापाल्यौ ये स्थित व्रजमंडले। ते साम्प्रतं जगन्नाथ-श्रीगोपालौ प्रभोः प्रियौ॥"

भागवताचार्य—गौ:ग: २०३—"निर्म्मिता पुस्तिका येन 'कृष्णप्रेमतरंगिनी'। श्रीमद्भागवताचार्य्यो गौरांगात्यन्त वल्लभः॥" चै:भा: अन्त्य, ५म अ:—"तबे प्रभु आइलेन वराहनगरे। महाभाग्यवन्त एक ब्राह्मणेर घरे॥ सेइ विप्र बड़ सुशिक्षित भागवते। प्रभु देखि' भागवत लागिला पड़िते॥ शुनिया ताहार भक्तियोगेर पठन। आविष्ट हइला गौरचन्द्र नारायण॥ प्रभु बले, भागवत एमत पड़िते। कभु नाहि शुनि' आर काहारो मुखेते॥ एतेके तोमार नाम 'भागताचार्य'। इहा वइ आर कोन ना करिह कार्य॥" इनका नाम 'रघुनाथ' कहा जाता है—इनका पाटवाटी (आश्रम-भवन)—वराहनगर के मालिपाड़ा में (कोलकाता से लगभग साड़े तीन मील उत्तरी दिशा की ओर) गङ्गा के तट पर स्थित है। परलोक प्राप्त राजचन्द्र गांगुली के पुत्र धीरेन्द्र गांगुली इस जीर्ण पाटवाटी के वर्तमान सेवक है।

ठाकुर सारंगदास—दूसरा नाम शार्ङ्ग ठाकुर है। कोई-कोई उन्हें शार्ङ्गपाणि एवं शार्ङ्गधर के नाम से भी जानते हैं। ये श्रीनवद्वीप के अन्तर्गत मोदद्रुमद्वीप में रहकर गङ्गा के तट पर एकान्त में भजन किया करते थे। भगवान् की बार-बार प्रेरणा से शिष्य स्वीकार करने के लिए विवश होकर उन्होंने विचार किया कि, कल प्रातः जिसका दर्शन होगा, उसे ही शिष्य बनायेंगे। दैव से अगले दिन प्रातः भागीरथी में स्नान करते समय उनके चरणों में एक मृतशरीर संलग्न होने के कारण उसे ही फिर से जीवन दान देकर शिष्य के रूप में स्वीकार किया। यही 'श्रीठाकुर मुरारि' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके अनुगामीगण वंश-परम्परा में आजकल 'शर' नामक गाँव में वास कर रहे हैं। श्रीशार्ङ्ग के नाम के साथ मुरारि की कथा जुड़ी हुई है। अभी भी 'शार्ङ्गमुरारि' के रूप में सब स्थान पर प्रसिद्धि देखी जाती है।

वर्तमान में शार्ङ्गठाकुर की एक प्राचीन सेवा माम्गाछि गाँव में है। कुछ दिन हुये, श्रीठाकुर का एक मन्दिर प्राचीन बकुलवृक्ष के सामने निर्म्मित हुआ। हम प्रार्थना करते हैं कि, सेवा और भी अच्छी हो।

गौ:ग: १७२ श्लोक—"व्रजे नान्दीमुखी यासीत् साद्य सारंग ठाकुरः। प्रह्लादो मन्यते कैश्चिन्मत्पित्रा स न मन्यते॥"

(७७) जगन्नाथ तीर्थ, (७८) जानकीनाथ,

(७९) गोपाल आचार्य, (८०) द्विज वाणीनाथ—

जगन्नाथ तीर्थ, विप्र श्रीजानकीनाथ।
गोपाल आचार्य, आर विप्र वाणीनाथ॥११४॥

११४। प० अनु०—जगन्नाथ तीर्थ, विप्र श्रीजानकीनाथ, गोपाल आचार्य और विप्र वाणीनाथ। (यह सभी श्रीचैतन्य महाप्रभु की शाखा में गिने गये हैं।)

अमृतप्रवाह भाष्य

११४। वाणीनाथ विप्र—चम्पाहाटी-निवासी।

अनुभाष्य

११४। जगन्नाथ तीर्थ—आदि, ९प: १४ (अनुभाष्य) द्रष्टव्य है।

वाणीनाथ—गौ:ग: २०४ श्लोक—"वाणीनाथद्विजश्चम्पाहट्टवासी प्रभोः प्रियः।" ये व्रज की कामलेखा है। चम्पाहट्ट या चाँपाहाटि—वर्धमान जिला के पूर्वस्थली-थाना एवं समुद्रगड़ डाकघर के अन्तर्गत छोटे गंडगाँव। इस प्राचीन श्रीपाट की सेवा में नितान्त अनियंत्रित व्यवस्था एवं अवहेलना का दर्शन करके बंगाब्द १३२८ वर्ष में श्रीपरमानन्द ब्रह्मचारी प्रमुख प्राचीन नवद्वीप—श्रीमायापुरस्थित श्रीचैतन्य मठ के सेवकों ने इस पाटवाटी का संस्कार साधन कर एक नये मन्दिर का निर्माण किया। इसमें श्रीवाणीनाथ के द्वारा प्रतिष्ठित प्रमाणाकार नयन-मनोभिराम दो विग्रह श्रीगौर-गदाधर शास्त्रानुसार अर्चित हो रहे हैं। इ,आइ,आर लाइन में समुद्रगड़ अथवा नवद्वीप स्टेशन से २ मील की दूरी पर चाँपाहाटि में श्रीगौर-गदाधर का श्रीमन्दिर स्थित है।

(८१) गोविन्द, (८२) माधव,
(८३) वासुदेव—

गोविन्द, माधव, वासुदेव—तिन भाइ।
याँ-सबार कीर्तन नाचे चैतन्य-निताइ॥११५॥

११५। प० अनु०—गोविन्द, माधव और वासुदेव नामक तीन भाई हैं। जिनके कीर्तन में श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु नृत्य करते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

११५। गोविन्द,—अग्रद्वीप में गोपीनाथ के स्थापक है।

अनुभाष्य

११५। गोविन्द, माधव एवं वासुदेव घोष—ये तीनों भाई उत्तर राढ़ीय शौक्रकायस्थ- कुलोद्भुत है। चै:भा: अन्त्य, ५म अ:—"सुकृति माधवघोष कीर्तने तत्पर। हेन कीर्तनीया नाहि पृथिवी भितर॥ याहारे कहेन वृन्दावनेर गायन। नित्यानन्द स्वरूपेर महाप्रियतम॥ माधव, गोविन्द, वासुदेव,—तिन भाई। गाइते लागिला, नाचे ईश्वर निताइ॥" गौ:ग: १८८ श्लोक—'कलावती' 'रसोल्लासा' 'गुणतुंगा' व्रजे स्थिता। श्रीविशाखा-कृतं गीतं गायन्ति स्माद्य ता मताः॥ गोविन्द-माधवानन्द-वासुदेवो यथा-क्रमम्॥" श्रीक्षेत्र में रथ खींचते समय श्रीमन् महाप्रभु के साथ सात कीर्तन-सम्प्रदायों में से एक सम्प्रदाय में ये तीनों भाई मूल गायक थे एवं इन्होंने साक्षात् वक्रेश्वर पण्डित को प्रधान नर्त्तक के रूप में प्राप्त किया था (मध्य, १३प: ४२-४३)।

(८५) ठाकुर अभिराम—

रामदास अभिराम—सख्य-प्रेमराशि।
षोलषांगेर काष्ठ तुलि' ये करिल वाँशी॥११६॥

११६। प० अनु०—रामदास अभिराम सख्य प्रेम की राशि हैं। ये सोलह हाथ लम्बी लकड़ी को उठाकर वंशी बना लेते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

११६। अभिराम—खानाकुल-कृष्णनगरवासी।

निताइ के साथ अभिराम, माधव
एवं वासुघोष का गौड़ में नामप्रचार—

प्रभुर आज्ञाय नित्यानन्द गौड़े चलिला।
ताँर संगे तिनजन प्रभु-आज्ञाय आइला॥११७॥

११७। प० अनु०—प्रभु की आज्ञा से जब श्रीनित्यानन्द प्रभु गौड़ के लिये चल पड़े। तब प्रभु की आज्ञा से ये तीन वैष्णव भी उनके साथ चले आये।

अनुभाष्य

११७। मध्य, १५ प:४२-४३ संख्या द्रष्टव्य है।

(८१) श्रीगोविन्दघोष ठाकुर—

श्रीरामदास, माधव आर वासुदेव घोष।
प्रभु-संगे रहे गोविन्द पाइया सन्तोष॥११८॥

११८। प० अनु०—श्रीरामदास, माधव, वासुदेवघोष और गोविन्द अत्यन्त सन्तुष्ट होकर महाप्रभु के साथ रहते थे।

अनुभाष्य

११८। रामदास—आदि ११ प:१३-१६ एवं मध्य, १५ प: ४२-४३ संख्या द्रष्टव्य है।

(७५), (४१), (३९क), (८५) माधवाचार्य, (८६) कमलाकान्त (८७) यदुनन्दन—

भागवताचार्य, चिरंजीव, श्रीरघुनन्दन।
श्रीमाधवाचार्य, कमलाकान्त, श्रीयदुनन्दन॥११९॥

११९। प० अनु०—भागवताचार्य, चिरंजीव, रघुनन्दन, श्रीमाधवाचार्य, कमलाकान्त और यदुनन्दन गौड़ीय भक्त हैं।

अनुभाष्य

११९। माधवाचार्य—ये व्रज की माधवी हैं—गौ: ग: १६९, ये नित्यानन्द-शाखा में है एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु की पुत्री श्रीमती गंगादेवी के पति हैं। इन्होंने नित्यानन्द-गण पुरुषोत्तम (नागर) के निकट दीक्षा ग्रहण की थी। ऐसा कथित है कि गंगादेवी के विवाह के समय श्रीनित्यानन्द प्रभु ने माधव को पाजिनगर दान में दिया था। इनका श्रीपाट—जीराट् में है (इ,आइ,आर लाइन में उस नाम के स्टेशन के पास) ११प: ३८ संख्या द्रष्टव्य है।

कमलाकान्त—अद्वैतगण के कमलाकान्त विश्वास।

यदुनन्दनाचार्य—अद्वैतशाखा (अन्त्य ६ प: १६०-१६१)।

(८८) जगाइ एवं (८९) माधाइ—

महा-कृपापात्र प्रभुर जगाइ, मधाइ।
'पतितपावन' नामेर साक्षी दुइ भाई॥१२०॥

१२०। प० अनु०—जगाइ और माधाइ प्रभु के अत्यन्त कृपापात्र हैं। श्रीमन् महाप्रभु के 'पतितपावन' नामके ये दो भाई हैं।

अनुभाष्य

१२०। जगाइ और माधाइ—गौरगणोद्देश ११५ में श्लोक—"वैकुण्ठे द्वारपालौ यौ जयाद्यविजयान्तकौ। तावद्य जातौ स्वेच्छातः श्रीजगन्नाथ-माधवौ॥" ये दोनों नवद्वीपवासी एवं शौक्र ब्राह्मण होकर भी दस्युवृत्ति और अन्यान्य सभी प्रकार के पापकर्मों में लिप्त थे। किन्तु बाद में श्रीमन् महाप्रभु एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु की कृपा से हरिनाम प्राप्तकर दोनों 'महाभागवत' बन गये। माधाइ का वंश आज भी विद्यमान है,—वे सब कुलीन ब्राह्मण हैं। आकाइहाट जाने के रास्ते काटोया से १ मील दक्षिण की ओर 'घोषहाट' अथवा माधाइतला-गाँव में जगाइ एवं माधाइ का समाज है। सुना जाता है कि, श्रीगोपी-चरणदास बाबाजी ने लगभग २०० वर्ष पहले इसका उद्धार करके श्रीनिताइगौर-विग्रह की प्रतिष्ठा की थी।

असंख्य गौड़ीयभक्त में से उल्लिखित कुछेक वैष्णववृन्द—

गौड़देश-भक्तेर कैल संक्षेप कथन।
अनन्य चैतन्यभक्त ना याय गणन॥१२१॥

१२१। प० अनु०—मैंने गौड़देश के भक्तों का संक्षेप में वर्णन किया है। श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्त अनन्त हैं जिनकी गिनती नहीं की जा सकती।

गौड़ एवं ओड्र (उड़िसा), दोनों स्थान पर इनकी गौरसेवा—

नीलाचले एइ सब भक्त प्रभुसंगे।
दुइ स्थाने प्रभु-सेवा कैल नाना-रंगे॥१२२॥

१२२। प० अनु०—नीलाचल में यह सब भक्त प्रभु के साथ रहते हैं। गौड़ एवं ओड्र (उड़िसा) दोनों स्थान पर ही इन भक्तों ने अनेक प्रकार से प्रभु की सेवा की थी।

केवल नीलाचल में मिलित सेवकों का उल्लेख—

केवल नीलाचले प्रभुर ये ये भक्तगण।
संक्षेपे करिये किछु से सब कथन॥१२३॥
नीलाचले प्रभुसंगे सब भक्तगण।
सबार अध्यक्ष प्रभुर मर्म्म दुइजन॥१२४॥

१२३-१२४। प० अनु०—केवल नीलाचल में स्थित प्रभु के जो भक्त हैं। उनके सम्बन्ध में कुछ वर्णन किया जा रहा है। नीलाचल में प्रभु के साथ जितने भी भक्तवृन्द हैं, उनमें से प्रभु के मर्म को जानने वाले सबके अध्यक्ष केवल दो जन हैं।

सर्वप्रधान—(१) श्रीपरमानन्द और (२) श्रीस्वरूप—

परमानन्दपुरी, आर स्वरूप-दामोदर।
गदाधर, जगदानन्द, शंकर, वक्रेश्वर॥१२५॥
दामोदर पण्डित, ठाकुर हरिदास।
रघुनाथ वैद्य, आर रघुनाथ दास॥१२६॥
इत्यादिक पूर्वसंगी बड़ भक्तगण।
नीलाचले रहि' प्रभुर करेन सेवन॥१२७॥
आर यत भक्तगण गौड़देशवासी।
प्रत्यब्दे प्रभुरे देखे नीलाचले आसि'॥१२८॥
नीलाचले प्रभुसह प्रथम मिलन।
सेइ भक्तगणेर एबे करिये गणन॥१२९॥

१२५-१२९। प० अनु०—प्रभु के पूर्वसाथी परमानन्द पुरी और स्वरूप-दामोदर, गदाधर, जगदानन्द, शङ्कर, वक्रेश्वर, दामोदर पण्डित, ठाकुर हरिदास, रघुनाथ वैद्य और रघुनाथ दास आदि प्रधान भक्तवृन्द नीलाचल में रहकर प्रभु की सेवा करते थे। और जितने गौड़देशवासी भक्त हैं, वे सब प्रति वर्ष प्रभु को देखने के लिये नीलाचल आते रहे। जिन भक्तों का प्रभु के साथ नीलाचल में प्रथम मिलन हुआ अब उन भक्तों का वर्णन करता हूँ।

अनुभाष्य

१२६। रघुनाथ वैद्य—चैःभाः अन्त्य, ५म अः (पाणिहाटी में)—"रघुनाथ वैद्य आइलेन ततक्षणे। परम-वैष्णव, अन्त नाहि याँर गुणे॥" श्रीनित्यानन्द प्रभु के साथ गौड़ आते समय मार्ग में साथ चलने वालों का व्रज भाव—चैःभाः अन्त्य, ५म अः—"रघुनाथ वैद्य उपाध्याय महामति। हइलेन मूर्त्तिमती येहेन रेवती॥" उसी में अन्त्य षष्ठ अः—"यार दृष्टिपाते कृष्णे हय रतिमति।" चैःचः आदि, ११ पः२२ संख्या द्रष्टव्य है। ये पुरी में समुद्रतट पर थे और वहाँ के 'स्थान-निरूपण' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया।

(३) सार्वभौम शाखा, (४) गोपीनाथ आचार्य—

बड़शाखा एक,—सार्वभौम भट्टाचार्य।
ताँर भग्नीपति श्रीगोपीनाथाचार्य॥१३०॥

१३०। प० अनु०—सार्वभौम भट्टाचार्य एक बड़ी शाखा हैं। जिनके बहनोई श्रीगोपीनाथ आचार्य हैं।

अनुभाष्य

१३०। सार्वभौम भट्टाचार्य—इनका नाम 'वासुदेव' है। ये वर्तमान नवद्वीप अथवा चाँपाहाटी से ढ़ाई मील की दूरी पर स्थित 'विद्यानगर' नामक पल्ली के प्रसिद्ध अधिवासी महेश्वर विशारद के पुत्र हैं। कथित है कि, उस समय भारत के सर्वप्रधान नैयायिक ने, मिथिला के सुविख्यात न्याय-विद्यालय के प्रधान अध्यापक पक्षधर मिश्र के निकट से समस्त न्यायशास्त्र को कण्ठस्थ करके नवद्वीप में न्यायविद्यालय की स्थापना करके अध्यापना आरम्भ की। न्याय-शास्त्र के इतिहास में इन्होंने युगान्तर का प्रवर्तन किया। तब से मिथिला को गौरवहीन करके नवद्वीप आज भी समग्र भारत में सर्वप्रधान न्याय-विद्यापीठ के रूप में परिचित है। किसी-किसी के मतानुसार सुविख्यात नैयायिक 'दीधिति' कार रघुनाथ शिरोमणि इनके ही छात्र हैं। जैसा भी हो, सार्वभौम न्याय एवं वेदान्तशास्त्र में प्रचुर पाण्डित्य प्रतिभा को प्राप्त करके गृहस्थाश्रम में रहकर भी क्षेत्र-संन्यास स्वीकार करके नीलाचल में वेदान्त की अध्यापना किया करते थे। श्रीमन् महाप्रभु को शांकर-भाष्यानुमोदित वेदान्त

सुनाकर, पश्चात् प्रभु के निकट वास्तव वेदान्तार्थ से अवगत हुये। इन्होंने प्रभु के षड्भुज-मूर्त्ति का दर्शन किया। इनके द्वारा रचित 'चैतन्यशतक' में गौरभक्ति प्रकाशित है; विशेषतः, "वैराग्यविद्यानिजभक्तियोग" दो श्लोक सार्वभौम के पाण्डित्य की सीमा है। प्रभु का सार्वभौम के साथ मिलन एवं इनके साथ विचार और उद्धार-वृत्तान्त—मध्य, षष्ठ पः द्रष्टव्य है। गौः गः ११९ श्लोक—"भट्टाचार्यः सार्वभौमः पुरासीद् गीष्पतिर्दिवि॥"

गोपीनाथ आचार्य—ये नवद्वीपवासी एवं प्रभु के साथी ब्राह्मण हैं। ये सार्वभौम के बहनोई हैं। गौः गः में १७८ श्लोक—"पुरा प्राणसखी यासीन्नाम्ना रत्नावली ब्रजे। गोपीनाथाख्य-काचार्य्यो निर्मलत्वेन विश्रुतः॥" किसी-किसी ने मतानुसार, ये ब्रह्मा है। गौःगः ७५ श्लोक—"गोपीनाथाचार्यनाम्ना ब्रह्मा ज्ञेयो जगत्पतिः। नवव्यूहे तु गणितो यस्तन्त्रे तन्त्र वेदिभिः॥"

(५) काशीमिश्र, (६) प्रद्युम्नमिश्र,
(७) राय भवानन्द—

काशीमिश्र, प्रद्युम्नमिश्र, राय भवानन्द।
याँहार मिलने प्रभु पाइला आनन्द॥१३१॥
आलिङ्गन करि' ताँरे बलिल वचन।
तुमि पाण्डु, पंचपाण्डव—तोमार नन्दन॥१३२॥

१३१-१३२। प॰ अनु॰—काशीमिश्र, प्रद्युम्नमिश्र और राय भावानन्द—जिन्हें मिलकर प्रभु को आनन्द हुआ। राय भवानन्द को आलिङ्गन कर प्रभु ने कहा—तुम पाण्डु हो और तुम्हारे पुत्र पाँच पाण्डव हैं।

अनुभाष्य

१३१। काशीमिश्र—राज-पुरोहित हैं। नीलाचल में श्रीमन् महाप्रभु इनके घर में ही रहे थे। बाद में वह स्थान श्रीवक्रेश्वर पण्डित को मिला। वक्रेश्वर पण्डित ने उनके शिष्य श्रीगोपालगुरु गोस्वामी के समय में 'श्रीराधा-कान्त' विग्रह की स्थापना की। गौःगः १९३ श्लोक—"मथुरायां पुरा यासीत् सैरिंध्री कृष्ण वल्लभा। साद्य नीलाचलावासः काशीमिश्रः प्रभोः प्रियः॥"

प्रद्युम्न मिश्र—उड़िसावासी। चैःभाः अन्त्य, ५म अः—"श्रीप्रद्युम्न मिश्र कृष्णसुखेर सागर। आत्मपद याँरे दिला श्रीगौरसुन्दर॥" अन्त्य ८म अः—"श्रीप्रद्युम्नमिश्र प्रेम-भक्तिर प्रधान।" (चैःचः मध्य, १० पः४३)— "प्रद्युम्नमिश्र इहँ वैष्णव प्रधान। जगन्नाथेर "महासोयार" इहँ दास नाम॥" अशौक्र ब्राह्मणकुलोद्भुत महाभागवत श्रीरामानन्द के निकट शौक्रब्राह्मण-कुलोद्भुत प्रद्युम्न- मिश्र के हरिकथा-श्रवणरूप शिष्यत्व को प्रदान करके प्रभु की कृपा-प्रसङ्ग—अन्त्य, ५म पः द्रष्टव्य है।

भवानन्द राय—श्रीरामानन्द राय के पिता हैं। पुरी से पश्चिम की ओर ६कोस की दूरी पर ब्रह्मगिरि अथवा आलालनाथ के निकट इनका वास स्थान था। जाति में ये शौक्रकरण थे। इनके पाँच पुत्र के सम्बन्ध में १३३ संख्या द्रष्टव्य है। ये पहले 'पाण्डुराज' के रूप में परिचित थे।

(८) श्रीराय-रामानन्द आदि पाँच भाई—

रामानन्द राय, पट्टनायक गोपीनाथ।
कलानिधि, सुधानिधि, नायक वाणीनाथ॥१३३॥
एइ पँच पुत्र तोमार—मोर प्रियपात्र।
रामानन्द सह मोर देह-भेद मात्र॥१३४॥

१३३-१३४। प॰ अनु॰—रामानन्द राय, गोपीनाथ पट्टनायक, कलानिधि, सुधानिधि और नायक वाणीनाथ—यद्यपि तुम्हारे ये पाँच पुत्र मेरे प्रिय पात्र हैं किन्तु रामानन्द के साथ मेरा केवल देह मात्र का भेद है।

अनुभाष्य

१३४। रामानन्द राय—गौरगणोद्देश दीपिका १२०-१२४ श्लोक में—"प्रियनर्म्मसखः कश्चिदर्ज्जुनः पाण्ड-वोऽर्ज्जुनः। मिलित्वा समभूद्रा- मानन्दरायः प्रभोः प्रियः॥ अतो राधाकृष्ण-भक्तिप्रेमतत्त्वादिकं कृती। रामानन्दो गौरचन्द्रं प्रत्यवर्णयदन्वहम्॥ ललितेत्याहुरेके यत्तदेकेनानु-मन्यन्ते। भवानन्दं प्रति प्राह गौरो य त्तं पृथापतिः॥ गोप्या-

र्ज्जुनीयया सार्धमेकीभूयापि पाण्डवः। अर्ज्जुनो यदराय- रामानन्द इत्याहुरुत्तमाः॥ अर्ज्जुनीयाभवत्तूर्णां अर्ज्जुनोऽपि च पाण्डवः। इति पाद्मोत्तरे खण्डे व्यक्तमेव विराजते॥ तस्मादेतत्रयं रामानन्द राय-महाशयः॥" किसी-किसी के मतानुसार ये विशाखा देवी हैं। (मध्य, अष्टम एवं अन्त्य, पञ्चम परिच्छेद आदि द्रष्टव्य हैं)। अन्तरङ्ग भक्तों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। प्रभु की उक्ति— "आमि त' संन्यासी आपना विरक्त करि' मानि। दर्शन दूरे, प्रकृतिर नाम यदि शुनि॥ तवहिं विकार पाय मोर तनु मन। प्रकृति-दर्शने स्थिर हय कोन जन॥ निर्विकार देह-मन काष्ठ-पाषाण सम। आश्चर्य तरुणी-स्पर्शे निर्विकार मन। एक रामानन्देर हय एह अधिकार। ताते जानि,—अप्राकृत देह ताँहार। ताँहार मनेर भाव तेंह जाने मात्र। ताहा जानिवारे आर द्वितीय नाहि पात्र॥ *** गृहस्थ हञा नहे राय षड्वर्गेर वशे। विषयी हञा संन्यासीरे उपदेशे॥"

श्रीमन् महाप्रभु शेषलीला में श्रीस्वरूप दामोदर एवं रामानन्द राय के साथ निरन्तर श्रीकृष्णविरहिणी श्रीराधा के महाभाव-वैचित्रसमूह का आस्वादन किया करते थे (मध्य, २य पः ७७); शुद्धसख्यरस के कारण प्रभु इनके वशीभूत थे (उसी में ७८)। सार्वभौम की उक्ति (मः ७) "रामानन्द राय आछे गोदावरी-तीरे। अधिकारी हयेन तेंहो विद्यानगरे॥ पृथिवीते रसिक भक्त नाहि ताँर सम॥ पाण्डित्य, आर भक्तिरस,—दुँहेर तेंहो सीमा।" श्रीराम राय के साथ प्रभु का मिलन एवं राय के मुख में साध्य-साधन-तत्त्व कीर्तन करवाकर इसका श्रवण, प्रभु द्वारा राय को रसराज-महाभाव-रूप-प्रदर्शन, प्रभु की उक्ति— "आमि—एक वातुल, तुमि—द्वितीय वातुल। अतएव तोमाय आमाय हइ समतुल॥" रामराय को राजकार्य का परित्याग करके श्रीक्षेत्र में जाने के लिये प्रभु की आज्ञा (मध्य, ८म पः); दाक्षिणात्य (दक्षिण देश) में प्रचार के उपरान्त रामराय के साथ प्रभु का पुनर्मिलन एवं राय के द्वारा प्रभु को नीलाचल भेजकर, (मध्य, ९म पः ३१९-३३४) पुरी में प्रभु के साथ मिलन (मध्य ११ पः १५); राजा प्रतापरुद्र को प्रभु की कृपा की प्राप्ति हो जाये, इस कारण राय का यत्न (मध्य, १२ पः ४१-५७), रथयात्रा के दिन कीर्तन के उपरान्त सार्वभौम के साथ जलक्रीड़ा (मध्य, १४ पः८२); प्रभु को वृन्दावन जाने देने में असहमति (मध्य,१६ पः१०, ८५); अन्त में प्रभु के द्वारा अनुरोध किये जाने पर विवश होकर अनुमोदन एवं कटक में राजा के साथ प्रभु का मिलन (उसी में १०५); रेमुणा से राय को प्रभु द्वारा विदाई (उसी में १५३); वृन्दावन न जाकर प्रभु का गौड़देश होकर नीलाचल में राय के साथ मिलन (उसी में २५४); श्रीरूप के साथ रस की आलोचना एवं रूप के कवित्व की प्रशंसा (अन्त्य, १म पः११५-१९६); रामराय एवं सनातन में वैराग्य की समता (उसी में २०१), श्रीराधा-कृष्णप्रेमरस-पात्र—साड़े तीन जनों में अन्यतम (अन्त्य, २य १०६); सनातन के साथ मिलन (अन्त्य, ४र्थ ११०); प्रभु के द्वारा प्रेरित प्रद्युम्नमिश्र के समक्ष कृष्णकथा-कीर्तन; प्रभु के द्वारा राय की प्रशंसा (अन्त्य, ५म ४-८५); "सुबल यैछे पूर्वे कृष्णसुखेर सहाय। गौरसुख-दानहेतु तैछे राम राय॥" (अन्त्य ६ पः९); "कहने ना याय रामनन्देर प्रभाव। राय-प्रसादे जानिलुँ ब्रजेर शुद्धभाव॥" (७ पः३७); "रामानन्द राय—कृष्ण-रसेर निधान। तेंह जानाइला कृष्ण स्वयं भगवान्॥" (उसी में २३); शेषलीला में रामराय एवं स्वरूप के निकट कृष्णविरहविलाप-रसगीतास्वादन (अन्त्य, १४-२० पः)। इन्होंने "श्रीजगन्नाथ-वल्लभ" नामक नाटक की रचना की थी।

(९) राजा प्रतापरुद्र, (१०) कृष्णानन्द,
(११) परमानन्द महापात्र, (१२) शिवानन्द—

प्रतापरुद्र राजा, आर ओढ्र कृष्णानन्द।
परमानन्द महापात्र, ओढ्र शिवानन्द॥१३५॥

१३५। प० अनु०—राजा प्रतापरुद्र, उड़िसावासी कृष्णानन्द, परमानन्द महापात्र और उड़िसावासी शिवानन्द

प्रभु के कृपापात्र हैं।

अनुभाष्य

१३५। प्रतापरुद्र—गङ्गावंशीय (गजपति) उत्कल सम्राट। इनकी राजधानी कटक में थी। इन्होंने श्रीमन् महाप्रभु की गुणावली को सुनकर दीन होकर बहुत सेवा की एवं उत्कण्ठा के साथ रामानन्द राय और सार्वभौम की सहायता से प्रभु की कृपा प्राप्त की। गौः गः ११८ श्लोक—"इन्द्रद्युम्नो महाराजो जगन्नाथार्च्चकः पुरा। जातः प्रतापरुद्रः सन् सम इन्द्रेण सोऽधुना॥" इनकी इच्छानुसार कर्णपूर ने 'चैतन्य-चन्द्रोदय' नाटक लिखा है।

परमानन्द महापात्र—चैःभाः अन्त्य, ५म अः—"उत्कले जन्मियाछिल यत अनुचर। सबे चिनिलेन निज प्राणेर ईश्वर॥ श्रीपरमानन्द महापात्र महाशय। याँर तनु श्रीचैतन्य-भक्ति-रसमय॥"

(१३) भगवान् आचार्य, (१४) ब्रह्मानन्द भारती, (१५) शिखि एवं (१६) मुरारि माहिति—

भगवान् आचार्य, ब्रह्मानन्दाख्य भारती।
श्रीशिखि माहिति, आर मुरारि माहिति॥१३६॥

१३६। प॰ अनु॰—भगवान् आचार्य, ब्रह्मानन्द भारती, श्रीशिखि माहिति और मुरारि माहिति।

अनुभाष्य

१३६। भगवान् आचार्य—हालिसहरवासी, इनके पुत्र का नाम—रघुनाथ है (भक्तिरत्नाकर)। ये खंज (पंगु) थे। मध्य १० पः१८४—"** भगवान् आचार्य। प्रभुपदे रहिला दुँहे छाड़ि' सर्व कार्य॥" अन्त्य, २य पः—"पुरुषोत्तमे प्रभुपाशे भगवान् आचार्य। परम पण्डित तेंहो सुपण्डित आर्य॥ सख्यभावाक्रान्तचित्त गोप-अवतार। स्वरूप गोसाञि सह सख्य-व्यवहार॥ एकान्तभावे आश्रियाछे चैतन्य-चरण। मध्ये मध्ये प्रभुर तेंह करे निमन्त्रण॥" इन्हीं के घर पर जब श्रीमन् महाप्रभु आये थे, तब छोटा हरिदास ने प्रभु की भिक्षा के लिए माधवीदेवी के निकट से सुक्ष्म तंडुल (चावल) का संग्रह किया था। इस भिक्षा में प्रकृति-संभाषण होने के कारण महाप्रभु ने छोटा हरिदास को त्याग दिया था—(अन्त्य, २य पः१०१-१६६ संख्या द्रष्टव्य है)। ये अत्यन्त उदार और सरल थे, इनके पिता शतानन्द खाँ जैसे भयानक विषयी थे, इनके अनुज गोपाल भट्टाचार्य वैसे ही मायावादी थे। गोपाल भट्टाचार्य काशी में मायावाद-भाष्य अध्ययन करके पुरी में अपने बड़े भाई भगवान् आचार्य के पास आये थे, यद्यपि भगवान् आचार्य स्नेहवश इनसे मायावाद सुनने को राजी हो गये थे, किन्तु मायावाद-भाष्य के भक्ति विरोधी होने के कारण श्रीस्वरूप ने इन्हें सुनने के लिए मना किया। (अन्त्य, २य पः ८९-१००)। एकदिन इनके पूर्वपरिचित एक बंगदेशीय 'यद्वा-तद्वा' कवि ने एक भक्तिसिद्धान्त-विरोधी नाटक की रचना करके उसे साथ लाकर इनके भवन में रहकर प्रभु को उस नाटक को सुनाने की इच्छा की। श्रीस्वरूप के द्वारा सन्देह किये जाने पर भी प्रभु को उस नाटक सुनाने के लिये इन्होंने बारम्बार अनुरोध किया। स्वरूप के राजी होने पर इन्होंने पहले नान्दी-श्लोक का पठन किया। नान्दीश्लोक का पठन होते ही श्रीस्वरूप ने उनके नाटक में प्रचुर भक्तिसिद्धान्त-विरोध का प्रदर्शन किया। अन्त में कवि ने भक्तवृन्द के चरणों में शरण ग्रहण की (अन्त्य, ५म ९१-११६)। चैः भाः अन्त्य, ३य अः द्रष्टव्य है। गौर-गणोद्देश में ७४श्लोक—"आचार्य्यो भगवान् खंजः कला गौरस्य कथ्यते।"

शिखि माहिति—गौःगः १८९श्लोक—"रागलेखा कलाकेल्यौ राधादास्यौ पुरा स्थिते। ते ज्ञेये शिखि माहाती तत्स्वसा माधवी क्रमात्॥" ये एवं इनकी बहन दोनों ही प्रभु के उत्कलवासी अन्तरङ्ग अधिकारी भक्त हैं; जैसे—चैतन्यचरित महाकाव्य के १३ सर्ग ८९-१०९ में—पुरुषोत्तम क्षेत्र में शिखि माहिति (महान्ति) नामक एक

निर्मल चित्त, करूणहृदय महात्मा वास करते थे। वे नीलाचल तिलक श्रीजगन्नाथ के दास स्वरूप थे। मुरारि माहिति नामक इनका एक छोटा भाई था और शुद्धबुद्धिमती माधवीदेवी इनकी छोटी बहन थी। प्रिय छोटे भाई एवं छोटी बहन—दोनों ही श्रीगौरसुन्दर के प्रति अनुरक्त थे। इन दोनों की जन्मजात निश्चल शुभबुद्धि ने कभी भी श्रीगौरसुन्दर को भूलने नहीं दिया। आजकल वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण स्वयं श्रीगौरचन्द्र के रूप में इस धरणीतल में उदित होकर इन भाई-बहनों के प्रति शुभ गौरस्नेह-राशि का सदैव वर्षण कर रहे हैं। नीलाचलेन्द्र श्रीजगन्नाथ के प्रेम-भृत्य निज-अग्रज (अपने बड़े भाई) शिखि माहिति को श्रीगौरसुन्दर का भजन करवाने के लिये इन दोनों ने बहुत यत्न किया, परन्तु हजार चेष्टा करने पर भी शिखि माहिति गौरभजन में अनुरागी नहीं हुए।

फिर एकदिन अनुजों के उपदेश से एवं निरन्तर अनेक मानसिक आलोचना करते-करते सो जाने पर, उन्होंने रात के अन्त में एक स्वप्न देखा कि, चकित होकर 'गौरपादपद्मदर्शनकारी' अनुजगण उन्हें जगा रहे हैं। इस आश्चर्यमय स्वप्न-दर्शन से पुलक और हर्ष के कारण दोगुणा अधिक चकित होकर उन्होंने अश्रुपूर्ण दोनों नेत्र को खोलकर सामने अपने अनुजों को देखा। जागकर ही अपने समीप उन महान अनुजों को देखकर अति आनन्द से उन दोनों का आलिङ्गन किया। इससे वे दोनों विस्मित हो उठे। शिखि माहिति उनसे कहने लगे,—भाई, मैंने जो स्वप्न देखा, वह अति विचित्र है, उसे सुनो! श्रीशचीसुत की अप्रमेय (असीम) महिमा पर आज ही मेरा विश्वास हुआ है। मैंने देखा कि, गौरसुन्दर नीलाचलेन्द्र (जगन्नाथ) का दर्शन करके क्षण-क्षण में उनमें प्रवेश कर रहे हैं और पुनः पुनः बाहर आकर उनके दर्शन कर रहे हैं—वे इस प्रकार की लीला कर रहे हैं। बहुत ही आश्चर्य की बात है! मैं अब भी परमेश्वर गौरसुन्दर को उसी अवस्था में ही देख रहा हूँ, क्या मेरी आँखे भ्रान्त हो रही हैं? हाय, उस असीम कृपासिन्धु गौरसुन्दर ने मुझे जगन्नाथदेव के सामने स्थित देखकर मेरा नाम लेकर, दीर्घ उन्नत ललित बाहुओं के द्वारा जैसे मेरा आलिङ्गन किया। इस प्रकार से उत्पुलकि- तांग होकर शिखि अश्रुपूर्ण नेत्रों से प्रेमगद्गद वचनों के द्वारा वे सब बातें करते-करते वहाँ से बाहर आ गये। अपने बड़े भाई से ये सब बातें सुनकर मुरारि और माधवी ने प्रभु के दर्शन के निमित्त उन्हें जगन्नाथदर्शन के लिये जाने को कहा। तब तीनों नीलाचल-पति के दर्शन के लिये पुरी गये। मुरारि एवं माधवी प्रभु को जगमोहन में दर्शन करके आनन्दाश्रु विसर्जित करने लगे, परन्तु अग्रज शिखि माहिति ने प्रभु को स्वप्न में जैसे देखा था, चारों ओर गौरसुन्दर को ठीक उसी प्रकार भावविशिष्ट रूप में दर्शन करने के कारण उनका हृदय प्रेम से उत्फु- ल्लित हो उठा। महावदान्य महाप्रभु ने भी उन्हें 'तुम मुरारि के बड़े भाई हो' ऐसा कहकर दोनों भुजाओं के द्वारा उनका आलिङ्गन किया। शिखि माहिति ने भी गौरसेवामय-बुद्धियुक्त होकर अतिशय सुख प्राप्त किया। तब से शिखि माहिति गौरपादपद्म के सौरभ से सबकुछ भूलकर अभीष्टदेव श्रीगौर की सेवा करने लगे।

मुरारि माहिति—मध्य १०म पः४४—"मुरारि माहिति हइ शिखि माहितिर भाई। तोमार चरण बिना अन्य गति नाइ॥"

(१७) माधवी देवी—

माधवी-देवी—शिखिमाहितिर भगिनी।
श्रीराधार दासीमध्ये याँर नाम गणि॥१३७॥

१३७। प० अनु०—माधवी देवी शिखि माहिति की बहन है एवं श्रीराधा की दासियों में उनका नाम गिना

जाता है।

अनुभाष्य

१३७। माधवीदेवी—(अन्त्य, २य प:१९४-१०६)— "प्रभु लेखा करे याँरे राधिकार गण। जगतेर मध्ये पात्र— साड़े तिन जन॥ स्वरूप गोसाञि, आर राय रामानन्द। शिखि माहिति,—तिन ताँर भगिनी—अर्द्धजन॥"

(१८) काशीश्वर,
(१९) गोविन्द—

ईश्वरपुरीर शिष्य—ब्रह्मचारी काशीश्वर।
श्रीगोविन्द नाम ताँर, प्रिय अनुचर॥१३८॥
ताँर सिद्धिकाले दोंहे ताँर आज्ञा पाञा।
नीलाचले प्रभुस्थाने मिलिला आसिया॥१३९॥

१३८-१३९। प० अनु०—श्रीईश्वरपुरी के शिष्य तथा प्रिय सेवक काशीश्वर एवं श्रीगोविन्द ब्रह्मचारी थे। श्रीईश्वरपुरी की सिद्धि (प्रकट लीला की समाप्ति) के समय यह दोनों उनकी आज्ञा पाकर नीलाचल में प्रभु के पास चले आये।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३८। गोविन्द और काशीश्वर—श्रीईश्वरपुरी के शिष्य हैं। श्रीईश्वरपुरी के सिद्धिप्राप्त के समय ये दोनों उनकी आज्ञानुसार नीलाचल में प्रभु के पास चले आये।

अनुभाष्य

१३८। गोविन्द—श्रीमन् महाप्रभु के निज-सेवक थे। गौः गः १३७—"पुरा वृन्दावने चेटौ स्थितौ भृंगार-भंगुरौ। श्रीकाशीश्वर-गोविन्दौ तौ जातौ प्रभु-सेवकौ॥" प्रभु के साथ श्रीईश्वरपुरी-शिष्य गोविन्द का मिलन—(मध्य, १०म प: १३१-१४८)। "गोविन्दाद्येर शुद्धदास्य-रसे" प्रभु वशीभूत—मध्य, २य प:७८। प्रभु की सेवा के लिये प्रभु के देह को भी अतिक्रमण कर जाने पर गोविन्द संकोच नहीं करते थे। परन्तु अपने लिये ऐसा करने में उनको अपराध का भय था। "गोविन्द कहे, आमार सेवा से नियम। अपराध हउक् किंवा नरके गमन॥"—मध्य, १०म प: ८२-१०० संख्या द्रष्टव्य है।

गुरु-सम्बन्ध में, मान्यज्ञान करके एवं 'गुरोरनुज्ञाह्यविचारणीया' इस विचार से सेवा-स्वीकार—

गुरुर सम्बन्धे मान्य कैल दुँहाकारे।
ताँर आज्ञा मानि' सेवा दिलेन दोंहारे॥१४०॥

१४०। प० अनु०—गुरु से सम्बन्धित होने के कारण श्रीमन् महाप्रभु इन दोनों को सम्मान करते थे। परन्तु गुरु श्रीईश्वरपुरी की आज्ञा मानकर प्रभु ने इन दोनों को अपनी सेवा प्रदान की।

गोविन्द एवं काशीश्वर की गौर-सेवा—

अंगसेवा गोविन्देरे दिलेन ईश्वर।
जगन्नाथ देखिते आगे चले काशीश्वर॥१४१॥
अपरश याय, गोसाञि मनुष्य-गहने।
मनुष्य ठेलि पथ करे काशी बलवाने॥१४२॥

१४१-१४२। प० अनु०—भगवान् श्रीगौरहरि ने गोविन्द को अपनी अङ्ग सेवा प्रदान की और जब प्रभु जगन्नाथ के दर्शन को जाते उस समय काशीश्वर श्रीमन् महाप्रभु के आगे-आगे चलते, जिससे अत्यधिक भीड़ में कोई मनुष्य प्रभु को स्पर्श न कर पाये। इसलिए बलवान काशीश्वर लोगों को हटाकर रास्ता बनाने की सेवा करते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४२। अपरश—स्पर्श किये बिना।

दशम परिच्छेद का अमृतप्रवाह-भाष्य समाप्त।

(२०) रामाइ, (२१) नन्दाइ—

रामाइ-नन्दाइ—दोंहे प्रभुर किंकर।
गोविन्देर संगे सेवा करे निरन्तर॥१४३॥
बाइश घड़ा जल दिने भरेन रामाइ।

गोविन्देर आज्ञाय सेवा करेन नन्दाइ॥१४४॥

१४३-१४४। प० अनु०—रामाइ और नन्दाइ, दोनों प्रभु के सेवक हैं और दोनों गोविन्द के साथ मिलकर निरन्तर प्रभु की सेवा करते थे। रामाइ दिन में बाइस घड़े जल भरते और नन्दाइ गोविन्द की आज्ञानुसार सेवा करते।

अनुभाष्य

१४३। रामाइ और नन्दाइ—गौः गः १३९—"पयोद्-वारिदौ प्राग् यौ नीरसंस्कारकारिणौ। तावद्य भृत्यौ रामायि-र्नन्दायिश्चेति विश्रुतौ।" ये दोनों गोविन्द के आनुगत्य में प्रभु की सेवा किया करते थे।

(२२) कालाकृष्णदास विप्र—

कृष्णदास नाम शुद्ध कुलीन ब्राह्मण।
यारे संगे लइआ कैल दक्षिण गमन॥१४५॥

१४५। प० अनु०—कृष्णदास नामक एक शुद्ध कुलीन ब्राह्मण थे, जिन्हें साथ लेकर श्रीमन् महाप्रभु दक्षिण यात्रा को गये थे।

अनुभाष्य

१४५। कृष्णदास—मध्य, ७म और ९म परिच्छेद में इनका प्रसङ्ग वर्णित है। जलपात्र को उठाने के लिये यह सरल ब्राह्मण प्रभु के साथ दक्षिणदेश गये। मालाबार देश में भट्टथारियों ने इनको स्त्री के रूप में मोहित करके आबद्ध करने की चेष्टा की। यह देखकर श्रीगौरहरि ने इनका उद्धार किया और नीलाचल लौटकर इनको विदा किया।

(२३) बलभद्रभट्ट—

बलभद्र भट्टाचार्य—भक्ति-अधिकारी।
मथुरा-गमने प्रभुर यिँहो ब्रह्मचारी॥१४६॥

१४६। प० अनु०—बलभद्र भट्टाचार्य भक्ति के अधिकारी हैं। वे ब्रह्मचारी के रूप में प्रभु के साथ मथुरा गये थे।

अनुभाष्य

१४६। बलभद्र भट्टाचार्य—व्रज की मधुरेक्षणा हैं। संन्यासियों के लिये भोजन पकाने व व्यवहारिक कर्म- काण्ड निषिद्ध हैं। वे गृहस्थियों के निकट से यह सब ग्रहण एवं स्वीकार करते हैं। संन्यासीगण—गुरु हैं, ब्रह्म- चारीगण—शिष्य हैं। वृन्दावन जाते समय बलभद्र ने श्रीमन् महाप्रभु के लिये ब्रह्मचारी का कार्य किया था (अर्थात् वे गृहस्थों के यहाँ से महाप्रभु के लिए भिक्षा आदि करते थे।)

(२४) बड़े हरिदास, (२५) छोटा हरिदास—

बड़ हरिदास, आर छोट हरिदास।
दुइ कीर्तनीया रहे महाप्रभुर पाश॥१४७॥

१४७। प० अनु०—बड़ा हरिदास और छोटा हरिदास नामक दो कीर्तनीया प्रभु के पास रहते हैं।

अनुभाष्य

१४७। छोटा हरिदास—इनका प्रसङ्ग अन्त्य २५ पः द्रष्टव्य है।

(२६) रामभद्र, (२७) सिंहेश्वर, (२८) तपनाचार्य,
(२९) रघुनाथ,(३०) नीलाम्बर—

रामभद्राचार्य, आर ओढ्र सिंहेश्वर।
तपन आचार्य, आर रघु, नीलाम्बर॥१४८॥

१४८। प० अनु०—रामभद्राचार्य, उड़िसावासी सिंहे- श्वर, तपन आचार्य, रघु और नीलाम्बर प्रभु के भक्त हैं।

(३१) सिंगाभट्ट, (३२) कामाभट्ट,
(३३) शिवानन्द, (३४) कमलानन्द—

सिंगाभट्ट, कामाभट्ट, दस्तुर शिवानन्द।
गौड़े पूर्वे भृत्य प्रभुर प्रिय कमलानन्द॥१४९॥

१४९। प० अनु०—सिंगाभट्ट, कामाभट्ट, शिवानन्द दस्तुर और गौड़देश से पहले के सेवक एवं प्रभु के प्रिय कमलानन्द भी नीलाचल में प्रभु के साथ थे।

(३५) अच्युतानन्द—

अच्युतानन्द—अद्वैत-आचार्य-तनय।
नीलाचले रहे प्रभुर चरण आश्रय॥१५०॥

१५०। प० अनु०—अच्युतानन्द, श्रीअद्वैताचार्य के पुत्र हैं। वे नीलाचल में प्रभु के चरणों का आश्रय लेकर रहते थे।

अनुभाष्य

१५०। अच्युतानन्द—आदि, १२ प:१३ संख्या द्रष्टव्य है।

(३६) गङ्गादास, (३७) विष्णुदास—

निर्लोम गंगादास, आर विष्णुदास।
एइ सबेर प्रभुसंगे नीलाचले वास॥१५१॥

१५१। प० अनु०—निर्लोम गङ्गादास और विष्णुदास यह समस्त भक्त नीलाचल में प्रभु के साथ रहते थे।

काशीप्रवासी—(१) चन्द्रशेखर, (२) तपनमिश्र, (३) श्रीरघुनाथ भट्ट—

वाराणासी-मध्ये प्रभु-भक्त तिन जन।
चन्द्रशेखर वैद्य, आर मिश्र तपन॥१५२॥
रघुनाथ भट्टाचार्य—मिश्रेर नन्दन।
प्रभु यबे काशी आइला देखि' वृन्दावन॥१५३॥

१५२-१५३। प० अनु०—वाराणासी में प्रभु के तीन भक्त रहते थे। चन्द्रशेखर वैद्य, तपनमिश्र और (तपन) मिश्र के पुत्र श्रीरघुनाथ भट्टाचार्य। एक बार वृन्दावन-दर्शन के उपरान्त प्रभु काशी में पधारे।

अनुभाष्य

१५२। तपनमिश्र—महाप्रभु जिस समय बङ्गदेश (वर्तमान बांगलादेश) गये थे, उस समय इन्होंने श्रीमन् महाप्रभु से साधन एवं साध्यतत्त्व के सम्बन्ध में प्रश्न पूछकर प्रभु से हरिनाम प्राप्त किया था। पश्चात् प्रभु की आज्ञा से काशी में वास करने लगे। काशीवास के समय प्रभु इन्हीं के घर में ही भिक्षा ग्रहण करते थे।

श्रीभट्ट रघुनाथ का विवरण—

चन्द्रशेखर-गृहे कैल दुइ मास वास।
तपन-मिश्रेर घरे भिक्षा दुइ मास॥१५४॥
रघुनाथ बाल्ये कैल प्रभु सेवन।
उच्छिष्ट-मार्जन आर पाद-सम्वाहन॥१५५॥
बड़ हैले नीलाचले गेला प्रभुर स्थाने।
अष्टमास रहिल भिक्षा देन कोन दिने॥१५६॥
प्रभुर आज्ञा पाइया वृन्दावनेरे आइला।
आसिया श्रीरूप-गोसाञिर निकटे रहिला॥१५७॥
ताँर स्थाने रूप-गोसाञि शुनेन भागवत।
प्रभुर कृपाय तिँहो कृष्णप्रेमे मत्त॥१५८॥

१५४-१५८। प० अनु०—प्रभु ने चन्द्रशेखर के

एकादश परिच्छेद

कथासार—इस परिच्छेद में श्रीनित्यानन्द प्रभु के समस्त गणसमूह (भक्तवृन्द) का वर्णन है।

(अ:प्र:भा:)

श्रीनित्यानन्द प्रभ के गणों के प्रति नमस्कार—

नित्यानन्दपदाम्भोज-भृंगान् प्रेममधुन्मदान्।
नत्वाखिलान् तेषु मुख्या लिख्यन्ते कतिचिन्मया॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। प्रेमरूपी मधुपान से उन्मत्त श्रीनित्यानन्द प्रभु के पादपद्म के मधुकरवृन्द (भक्तवृन्द) को नमस्कार करके उनमें से कुछ मुख्य भक्तों के नामों का उल्लेख कर रहा हूँ।

अनुभाष्य

१। प्रेममधुन्मदान् (प्रेम एव मधु तेन उन्मदान्) अखिलान् (सर्वान्) नित्यानन्दपदाम्भोजभृंगान् (प्रभुपाद-पद्मभ्रमरान्) नत्वा (प्रणम्य) तेषु कतिचित् मुख्याः (प्रधा-नाभक्ताः) मया लिख्यन्ते।

जय जय महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य।
ताँहार चरणाश्रित येइ, सेइ धन्य॥२॥
जय जय श्रीअद्वैत, जय नित्यानन्द।
जय जय महाप्रभुर सर्वभक्तवृन्द॥३॥

२-३। प० अनु०—महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य की जय हो, जय हो। जो इनके चरणाश्रित हैं, वह सब धन्य हैं। श्रीअद्वैतप्रभु की जय हो, जय हो; श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो तथा श्रीमन् महाप्रभु के समस्त भक्तवृन्द की जय हो, जय हो।

नित्यानन्द-स्कन्द के शाखा का वर्णन—

तस्य श्रीकृष्णचैतन्य-सत्प्रेमामरशाखिनः।
ऊर्द्धस्कन्धावधूतोन्दोः शखारूपान् गणान्नूमः॥४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४। श्रीकृष्णाचैतन्यरूप प्रेमकल्पतरु के ऊर्द्धस्कन्द-रूप श्रीअवधूत नित्यानन्दचन्द्र के शाखारूप गणसमूह को नमस्कार करता हूँ।

अनुभाष्य

४। श्रीकृष्णचैतन्यसत्प्रेमामरशाखिनः (श्रीकृष्ण-चैतन्य एव सतः नित्यस्थितस्य प्रेमामरवृक्षस्य गौरनाम-धेयस्य अविनाशिनोस्तरोः तस्य) ऊर्द्धस्कन्दावधूतेन्दोः (ऊर्द्धस्कन्दरूपः नित्यानन्द प्रभुः एव इन्दुः चन्द्रः तस्य) शाखारूपगणान् नुमः (नमस्कुर्म्मः)।

श्रीमन् महाप्रभु की इच्छा से नित्यानन्द-शाखा की वृद्धि एवं प्राधान्य—

श्रीनित्यानन्द-वृक्षेर स्कन्द-गुरुतर।
ताहाते जन्मिल शाखा-प्रशाखा विस्तर॥५॥
मालाकारेर इच्छा-जले बाड़े शाखागण।
प्रेम-फूल-फल भरि' छाइल भुवन॥६॥
असंख्य अनन्त गण के करु गणन।
आपना शोधिते कहि मुख्य मुख्य जन॥७॥

५-७। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीचैतन्य रूपी वृक्ष के एक प्रधान स्कन्द हैं जिनसे अनेक शाखा-उपशाखा उत्पन्न हुईं। मालाकार (श्रीमन् महाप्रभु) की इच्छा रूपी जल से शाखाएँ बढ़ने लगीं और प्रेम के फल, फूल से भरकर समस्त भुवन में छा गयी। श्रीनित्यानन्द प्रभु के भक्त अनन्त हैं। इनकी गणना कौन कर सकता है।

अपने को पवित्र करने के लिए मुख्य-मुख्य भक्तों का वर्णन कर रहा हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

६। मालाकार की,—श्रीमहाप्रभु की।

(१) श्रीवीरचन्द्र गोसाईं-शाखा—

श्रीवीरभद्र गोसाञि—स्कन्द-महाशाखा।
ताँर उपशाखा यत, असंख्य तार लेखा॥८॥

८। प० अनु—श्रीवीरभद्र गोसाईं श्रीनित्यानन्द रूपी स्कन्द की एक प्रधान शाखा हैं। इनकी उपशाखाएँ अनन्त हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती।

अनुभाष्य

८। श्रीवीरभद्र गोसाईं—ये श्रीनित्यानन्द प्रभु के पुत्र एवं जाह्नवा-माता के शिष्य और वसुधा के गर्भजात हैं। गौः गः में ६७ श्लोक—"सकर्षणस्य यो व्यूहः पयोब्धिशायि नामकः। स एव वीरचन्द्रोऽभूच्चैतन्याभिन्न विग्रहः॥" हुगली जिला के अन्तर्गत झामट्पुर-गाँव के निवासी इनके ही शिष्य यदुनाथाचार्य के औरस से जन्में विद्युन्माला (लक्ष्मी) की गर्भजात कन्या श्रीमती और इनके पालित-कन्या नारायणी को इन्होंने विवाह किया। भक्तिरत्नाकर की १३वीं तरङ्ग द्रष्टव्य है। गोपीजनवल्लभ, रामकृष्ण और रामचन्द्र—ये तीनों शिष्यों ही इनके पुत्र के रूप में विख्यात हुये। कनिष्ठ रामचन्द्र ने खड़दह में वास किया; वे शांडिल्य-गोत्रीय शुद्ध श्रोत्रीय 'वटव्याल' है। ज्येष्ठ गोपीजनवल्लभ ने वर्धमान जिला के मानकर के पास 'लता' गाँव में और मध्यम रामकृष्ण ने मालदह के पास गयेशपुर में वास किया। यदि इन तीनों का गोत्र एवं गाँव का परिचय एक है, तो इनमें कोई सन्देह नहीं है कि, ये तीनों वीरभद्र के औरसजात पुत्र हैं। रामचन्द्र के चार पुत्र हैं; ज्येष्ठ पुत्र राधामाधव के तृतीय नन्दन—यादवेन्द्र, इनके पुत्र—नन्दकिशोर, इनके पुत्र—निधि कृष्ण, इनके नन्दन—चैतन्य-चाँद, इनके तनय—कृष्ण मोहन, इनके पुत्र—जगनमोहन, इनके पुत्र—ब्रजनाथ और इनके पुत्र—परलोकगत श्रीश्यामलाल गोस्वामी हैं।

उनकी महिमा—स्वयं विष्णु होते हुए भी वैष्णव के समान चेष्टा—

ईश्वर हइया कहाय महा-भागवत।
वेदधर्मातीत हञा वेदधर्मे रत॥९॥
अन्तरे ईश्वर-चेष्टा, बाहिरे निर्दम्भ।
चैतन्यभक्ति-मंडपे तेंहो मूलस्तंभ॥१०॥
अद्यापि याँहार कृपा-महिमा हइते।
चैतन्य-नित्यानन्द गाय सकल जगते॥११॥
सेइ वीरभद्र-गोसाञिर चरण-शरण।
याँहार प्रसादे हय अभीष्ट-पूरण॥१२॥

९-१२। प० अनु०—श्रीवीरभद्र प्रभु स्वयं ईश्वर होते हुए भी महाभागवत कहलाते हैं। वे वेदधर्म के अतीत होते भी वेदधर्मों का पालन करते हैं। वे अन्तर में ईश्वर होते हुए भी बाहर से अभिमान रहित हैं। यह श्रीचैतन्यभक्ति मण्डप के मूल स्तम्भ हैं। आज भी उनकी कृपा-महिमा से सम्पूर्ण जगत् श्रीचैतन्य-नित्यानन्द की महिमा का कीर्तन करता है। मैं उन्हीं वीरभद्र गोसाईं के चरणकमल की शरण लेता हूँ। जिनकी कृपा से सब अभीष्ट पूर्ण हो जाते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

९। वीरचन्द्र प्रभु—श्रीसङ्कर्षण के जो पयोब्दिशायी व्यूह हैं, उसी के ही स्वरूप साक्षात् ईश्वर होकर भी अपने में वैष्णव अभिमान रखते थे।

(२) ठाकुर अभिराम (गोपाल-१),
(३) दास गदाधर—

श्रीरामदास आर, गदाधर दास।
चैतन्य-गोसाञिर भक्त, रहे ताँर पाश॥१३॥

१३। प० अनु—रामदास और गदाधर दास दोनों ही श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्त हैं एवं दोनों ही श्रीमन् महाप्रभु के पास रहते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३। रामदास—अभिराम दास।

अनुभाष्य

१३। गदाधरदास,—आदि, १० प:५३ संख्या द्रष्टव्य है।

श्रीरामदास (अभिराम)—ठाकुर अभिराम नित्यानन्द एकप्राण स्वरूप द्वादशगोपाल में अन्यतम व्रज के 'श्री दाम' सखा हैं। गौ:ग: में १२६ श्लोक—"पुरा श्रीदाम-नामा-सीदभिरामोऽधूना महान्। द्वात्रिंशता जनैरेव बाह्यं काष्ठमुवाह य:॥" आदि १०म प: ११६-११८ संख्या द्रष्टव्य है।

भक्तिरत्नाकर के चतुर्थ तरङ्ग में श्रील अभिराम ठाकुर की कथा लिखी हुई हैं। अभिराम ठाकुर पाषण्ड-दलनवाना (पाखण्ड का दमन करनेवाले) श्रीनित्यानन्द प्रभु के आदेश से आचार्य एवं भक्तिधर्म के प्रचारक थे। "अभिराम-गोस्वामीर प्रताप प्रचण्ड। याँरे देखि' काँपे सदा दूर्जय पाषण्ड॥ नित्यानन्द-आवेशे उन्मत्त निरन्तर। जगते विदित याँर कृपा मनोहर॥" अभिराम ठाकुर के प्रणाम करने पर विष्णु-शिला अथवा विष्णु-अर्च्चा को छोड़कर अन्यान्य शिला या मूर्त्ति विदीर्ण या चूर्ण हो जाती थी। यह प्रवाद आज भी प्रचलित है।

हावड़ा-आमता-लाइन में चापाडांगा-स्टेशन से लगभग दस मील की दूरी पर दक्षिण-पश्चिम-कोण में स्थित 'हेलानार हाट' का अतिक्रमण करके खानाकुल-कृष्णनगर में अभिराम ठाकुर का श्रीपाट विद्यमान है। वर्षा के समय मार्ग जलमग्न हो जाता है, इसलिये वि, एन,आर लाइन में कोलाघाट से स्टीमर के सहारे राणीचक और वहाँ से साढ़े सात मील की दूरी पर उत्तरी दिशा की ओर खानाकुल है। अभिराम ठाकुर का श्रीपाट, जो कृष्णनगर में स्थित है, वह खाना अथवा द्वारकेश्वर नदी के तट पर स्थित है, इसलिये वह 'खानाकुल-कृष्णनगर' नाम से अभिहित है।

मन्दिर के बाहर द्वार के सामने एक बकुल-वृक्ष है; यह स्थान 'सिद्धबकुलकुंज' नाम से अभिहित है। सुनने में आता है कि, यहाँ आकर अभिराम ठाकुर सबसे पहले इस स्थान पर बैठे थे।

श्रीमन्दिर में श्रीबलदेव, श्रीमदनमोहन (एकाएक) और एक सवा हाथ ऊँची और लगभग एकहाथ के बराबर कषण-पत्थर (कसौटी) के ऊपर वस्त्रहरण लीला-कालीन कदम्बवृक्ष, यमुना एवं धेनुवत्सवृन्द-सहित श्रीगोपीनाथ-विग्रह एक साथ खुदित है—इस प्रकार अर्च्चा विग्रह के अतिरिक्त नृत्य के आवेश में अभिराम ठाकुर की एक मूर्त्ति (चरणयुगल अविस्तृत) एवं श्रीब्रजवल्लभ (युगल)—मूर्त्ति सिंहासन पर विराजमान है। इनके साथ श्रीशालग्राम और श्रीगोपालमूर्त्ति भी है। किंवदन्ती है कि, पुष्करिणी के खननकार्य के समय उक्त गोपीनाथ विग्रह श्रीअभिराम ठाकुर को मिला था। तब से उक्त पुष्करिणी 'अभिराम कुण्ड' के नाम से विदित है। अब जिस मन्दिर में श्रीविग्रह विराजित है, उस मन्दिर के ठीक दक्षिण दिशा की ओर एक प्राचीन नवरत्न मन्दिर विद्यमान है। मन्दिर की ऊँचाई पर एक प्रस्तर फलक में यह खुदित है कि, ११८१ वर्ष में इस मन्दिर का निर्माण हुआ है। मन्दिर निर्माता के नाम का उल्लेख नहीं है। सुनने में आता है कि, पास के गाँव के परलोक पधार चुके 'नछिराम सिंह गइला' नामक एक व्यक्ति ने इस मन्दिर का निर्माण कराया था एवं पहले यहाँ श्रीविग्रह विराजमान थे और मन्दिर-निर्माण से पहले खड़ के बने हुए घर में इस स्थान पर ही श्रीविग्रह की सेवा होती थी।

श्रीगोपीनाथ-मन्दिर के उत्तरी दिशा की ओर ही स्थानीय कायस्थ चौधरियों के द्वारा प्रतिष्ठित श्रीराधा-वल्लभजी का प्राचीन मन्दिर विराजमान है।

वर्तमान मन्दिर के प्रस्तर-फलक में यह खुदित है—"श्रीश्रीगोपीनाथजी सन् १२१९ वर्ष माघ माह मन्दिर तैयारी। सन् १३०८ साले मेरामत माह वैशाख।" सुनने में आता है कि, हुगली जिला के आरामबाग थाने के पास माधवपुरवासी परलोकगत पुण्डरीकाक्ष राय नामक एक व्यक्ति ने इस मन्दिर का निर्माण किया था। प्राचीन मन्दिर के सामने एक विशाल पक्का नाट मन्दिर है।

मेदिनीपुर जिले के धीवरों (समुद्र में मछली पकड़ने का काम करने वालों) ने १२६३ वर्ष में इस नाट्यमन्दिर

का निर्माण किया था, ये टूट जाने पर १३२० वर्ष में उन्होंने फिर इसका संस्कार किया।

सेवायेतगणों के निकट से जानकारी प्राप्त होती है कि, श्रील अभिराम ठाकुर के समय से ही यहाँ सिद्ध-चावल के भोग की व्यवस्था प्रचलित है, यहाँ तक कि, मुड़ि का भी भोग होता है। और एक अभिनव प्रथा यह है कि, ठाकुर को शयन देते समय मन्दिर का दरवाजा खुला रहता है और सबके सामने शयन दिया जाता है। आजकल प्रातःकाल ठाकुर की मंगल-आरती करने की रीति नहीं है।

वर्तमान में ३६-३७ घर सेवायेत हैं। कथित है कि, मन्दिर के भीतर लोहे के सिन्दूक में श्रील अभिराम ठाकुर का प्रसिद्ध "श्रीजयमङ्गल" चाबुक (कोड़ा) विद्यमान है। यह चाबुक उक्त सेवायेतगणों के समस्त चाबियों के द्वारा सिन्दूक में बन्द है, यह कोड़ा दो हाथ लम्बा और जरी से लपेटा हुआ है,—केवल महोत्सव के समय सभी सेवायेतों की एकसाथ सर्वसम्मति से उसे बाहर लाया जाता है। "श्रीजयमंगल" चाबुक के बारे में भक्तिरत्नाकर के (४र्थ तरङ्ग) में लिखित है, उस चाबुक से अभिराम ठाकुर जिस पर प्रहार करते थे, उसमें कृष्णप्रेम उदित हो जाता था। एकबार श्रीनिवासाचार्य अभिराम के घर गये, तो ठाकुर अभिराम ने तीनबार उस चाबुक से श्रीनिवास के अङ्ग का स्पर्श किया। तब अभिरामपत्नी ब्राह्मणकन्या मालिनी देवी ने हँसकर ठाकुर के हाथ पकड़कर कहा,—"ठाकुर, धीरज रखिये; श्रीनिवास बालक है, आपके चाबुक के स्पर्श से अधीर हो जायेगा।"

हुगली जिला के अन्तर्गत कृष्णनगर, आमता और बाँकुड़ा जिला के अन्तर्गत विष्णुपुर, कोतलपुर आदि गाँवों में इनकी वंशावली (शौक्र, अथवा शिष्य-शाखागत?) विद्यमान है।

रत्नेश्वर-शिष्य 'अभिरामदास' नामक किसी एक व्यक्ति ने 'शाखा-निर्णय' ग्रन्थ में 'ठाकुर अभिराम' के शिष्यसमूह के नामों का एवं स्थान-विवरण इस प्रकार लिखा है—(१) खानाकुल में कृष्णदास ठाकुर का निवास ; (वंश लुप्त है)। (२) कैयड़ नामक गाँव में (वर्धमान से लगभग १० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर) वेदगर्भ नामक भक्त का वास; आजकल वहाँ इनके वंशधरगण विग्रह की सेवा कर रहे हैं। (३) बूड़न गाँव में हरिदास का निवास (इनका विशेष सम्वाद अज्ञात है)। (४) हेलाल (?) गाँव में (खानाकुल से लगभग दो मील उत्तरी दिशा की ओर, खानानदी के तट पर) पाखिया-गोपालदास का वास; आजकल वहाँ इनके समाज के रूप में परिचित एक छोटा सा टूटा हुआ मन्दिर विराजमान है, परन्तु श्रीविग्रह नहीं है। (५) मेदिनीपुर जिला के रामजीवनपुर के निकट पाइकमा- जिटा(?) गाँव में 'गुंफनारायण' का वास; इनके वंशधर-गण अभी भी वर्तमान हैं। (६) सीतानगर में दाड़िया मोहन का वास; (स्थान एवं पात्र, दोनों अविज्ञात हैं)। (७) मयनामुड़ि (बाँकुड़ा) में सत्यराघव का वास; (इनके वंशधरगणों का निवास अज्ञात है)। (८) सालिखाय (हावड़ा के निकट) रजनी पण्डित का वास; (इनके वंशधरगणों का अवस्थान भी अज्ञात है)। (९) भांगामोड़ा में (तारकेश्वर से लगभग ४मील उत्तर-पश्चिम की ओर) सुन्दरानन्द का वास; इनके वंशधरगण अभी भी हैं। (१०) द्वीपगाँव में (अवस्थान अज्ञात) कृष्णानन्द अवधूत का वास; इनका कोई वंश था या नहीं, इसमें सन्देह है। (११) सोनातला (ली) गाँव में (हुगली अथवा हावड़ा जिला में?) रंगण-कृष्णदास का वास (वंश लुप्त है)। (१२) मालदह में मुरारि-दास का निवास है; (इनके वंशधरगणों का निवास अज्ञात है)। (१३) पाणिहाटी में मोहन ठाकुर का वास; (इनके वंशावली का समाचार अज्ञात है)। (१४) राधानगर में (खानाकुल-कृष्णनगर के दक्षिण की ओर) यदु हालदार का वास; इनका वंश लुप्त हो जाने के कारण इनके द्वारा प्रतिष्ठित विग्रह श्रीबलराम आज भी श्रीगोपीनाथ के साथ सेवित हो रहे है। (१५) अनन्तनगर में (खानाकुल के पास) हरिमाधव का वास; (वंश लुप्त है)। (१६) माहेश में (श्रीरामपुर के पास?) गोपालदास का वास; (इनके वंश अज्ञात

है)। (१७) कोटरा में (खानाकुल-थाना के पास) अच्युत पण्डित का वास (वंशधर वर्तमान है)। (१८) पाटला-गाँव में लक्ष्मी-नारायण का वास; (वंश लुप्त है)। (१९) पुरी में गोपीनाथदास का वास (समाचार अविज्ञात है)। (२०) चूणाखालि परगणा में (माहेश के पास) नन्दकिशोर का वास; (वंश अज्ञात है)। (२१) पाता गाँव में (वर्धमान जिला के पाटुल?) विदुर ब्रह्मचारी का वास, वंश वर्तमान है। (२२) बिनुपाड़ा में रामकृष्ण का वास (स्थान एवं पात्र, दोनों अज्ञात है)। (२३) गौरांगपुर में (श्रीपाट से लगभग ४मील उत्तरी दिशा की ओर) कमलाकर का वास, सामने निकट में ही उनका समाज है एवं इनके वंशधरगण श्रीनिताइ-गौर विग्रह के सेवक हैं। (२४) विश्वग्राम में बलराम ठाकुर का वास (स्थान एवं पात्र, दोनों अज्ञात है)। (२४।।०) श्रीनिवास आचार्य प्रभु (अभिराम के अति प्रियतम एवं स्नेह-कृपापात्र थे, परन्तु दीक्षित नहीं थे, संभवतया इस कारण ही अर्द्धशिष्य के रूप में गिने जाते है)। चैत्र-कृष्णासप्तमी तिथि पर महोत्सव के उपलक्ष में यहाँ अनेक लोगों का समागम होता है।

निताइ के साथ दोनों का गौड़ में प्रचार—

नित्यानन्दे आज्ञा दिल यबे गौड़े याइते।
महाप्रभु एइ दुइ दिला ताँर साथे॥१४॥

१४। प० अनु—श्रीमन् महाप्रभु ने जब श्रीनित्यानन्द प्रभु को गौड़ जाने के लिये आदेश दिया, तब इन दोनों (रामदास और गदाधरदास) को भी श्रीनित्यानन्द प्रभु के साथ जाने का आदेश किया।

(४) माधव एवं (५) वासुघोष ठाकुर—

अतएव दुइगणे दुँहार गणन।
माधव-वासुदेव घोषेर एइ विवरण॥१५॥

१५। प० अनु—श्रीरामदास-गदाधर तथा माधव-वासुघोष के सम्बन्ध में यही वर्णन है कि इन दोनों की गिनती श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु, दोनों के गणों में होती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४-१५। ये दोनों (रामदास एवं गदाधरदास) श्रीनित्यानन्द प्रभु के पार्षद-स्वरूप हैं। जिस समय श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु को गौड़देश जाने की आज्ञा दी थी, तब रामदास और गदाधर दास को भी साथ जाने के लिये कहा था। इसलिए इन दोनों की गिनती एकबार श्रीमन् महाप्रभु के गणों में हुई एवं फिर श्रीनित्यानन्द प्रभु के गणों में भी हुई। इसी प्रकार माधव एवं वासुघोष की गिनती भी दोनों के गणों में होती है।

अनुभाष्य

१५। गोविन्द घोष, वासुघोष—गोविन्द घोष ठाकुर के अति प्रियतम विग्रह श्रीगोपीनाथ आज भी वर्द्धमान जिला के अन्तर्गत दाँइहाट एवं पाटुलि के सामने अग्रद्वीप में वर्तमान है और पितृश्राद्ध में सन्तान की भाँति भक्त के अप्रकट-तिथि पर पिण्ड प्रदान किया जाता है। नदीया कृष्णनगर के राजवंश की देखरेख में इनकी सेवा चलती आ रही है। प्रत्येक वर्ष कृष्णनगर में वैशाख मास में 'वारदोल' के समय अन्यान्य ग्यारह श्रीविग्रह के साथ इन्हें भी राजधानी लाया जाता है और दोल के पश्चात् फिर वापस अग्रद्वीप ले जाया जाता है।

वासुघोष की पदावली में प्राकृत-सहजिया-गणों के इन्द्रिय-तृप्तिकर अनेक गौरनागरीपद प्रक्षिप्त हुए हैं; वास्तव में, वे सब कभी भी विप्रलम्भरसिक गौरभक्त वासुघोष के पद नहीं है और न ही हो सकते हैं। साधक वे सब वर्जित करेंगे। आदि, १० पः ११५ संख्या द्रष्टव्य है।

अभिराम की लीला—

रामदास—मुख्यशाखा, सख्यप्रेमराशि।
षोलसांगेर काष्ठ तुलि' येइ कैल बाँशि॥१६॥

१६। प० अनु—रामदास मुख्य शाखा हैं एवं सख्य प्रेम की राशि हैं। इन्होंने सोलह (सोलह मनुष्यों के द्वारा उठाई जा सकने वाली) लकड़ी को उठाकर वंशी की तरह धारण किया था।

दास गदाधर की अलौकिक चेष्टाएँ—

गदाधर दास गोपीभावे पूर्णानन्द।
याँर घरे दानकेलि कैल नित्यानन्द॥१७॥

१७। प० अनु०—गदाधरदास गोपीभाव में पूर्ण आनन्दित रहते थे। इनके घर में श्रीनित्यानन्द प्रभु ने दानकेलि का अभिनय किया था।

माधवघोष का कीर्तन—

श्रीमाधवघोष—मुख्य कीर्तनीयागणे।
नित्यानन्द प्रभु नृत्य करे याँर गाने॥१८॥

१८। प० अनु०—श्रीमाधवघोष कीर्तनीया गण में मुख्य थे। इनके गान करने पर श्रीनित्यानन्द प्रभु नृत्य करते थे।

वासुघोष का कीर्तन—

वासुदेव गीते करे प्रभुर वर्णने।
काष्ठ-पाषाण-द्रवे याहार श्रवणे॥१९॥

१९। प० अनु०—वासुदेवघोष अपने कीर्त्तन में प्रभु की महिमा का गान करते थे जिसे सुनकर काष्ठ एवं पाषाण भी द्रवीभूत हो जाते थे।

(६) मुरारि-चैतन्यदास—

मुरारि-चैतन्यदासेर अलौकिक लीला।
व्याघ्र-गाले चड़ मारे, सर्प-सने खेला॥२०॥

२०। प० अनु०—मुरारि-चैतन्यदास की अलौकिक लीला है। वे कभी व्याघ्र (शेर) के गाल पर थप्पड़ मारते और कभी साँप के साथ खेलते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०। मुरारि-चैतन्यदास—वर्द्धमान जिले के गलशी स्टेशन से एक कोस की दूरी पर सर-वृन्दावनपुर गाँव में इनका जन्म हुआ था। नवद्वीप-धाम के अन्तर्गत मोदद्रुम या मामगाछि-गाँव में आकर इनका नाम 'शार्ङ्ग' (सारङ्ग) मुरारि चैतन्यदास हुआ था। इनके वंशावली अभी भी सर के पाट पर निवास करती है।

अनुभाष्य

२०। मुरारि चैतन्यदास—चैःभाः अन्त्य, ५म अः—"बाह्य नाहि श्रीचैतन्यदासेर शरीरे। व्याघ्र ताड़ाइया यान वनेर भितरे॥ कखन चड़ेन सेइ व्याघ्रेर ऊपरे। कृष्णेर प्रसादे व्याघ्र लंघिते ना पारे॥ महा-अजगर सर्प लइ निजकोले। निर्भये चैतन्यदास थाके कुतूहले॥ व्याघ्रेर सहित खेला खेलेन निर्भय। हेन कृपा करे अवधूत महाशय॥ चैतन्यदासेर आत्म-विस्मृति सर्वथा। निरन्तर कहेन आनन्दे मनःकथा॥ दुइ तिन दिन मज्जि' जलेर भितरे। थाकेन, कोथाओ दुःख ना हय शरीरे॥ जड़प्राय अलक्षित वेश, व्यवहार। परम उद्दाम सिंह-विक्रम अपार॥

चैतन्यदासेर यत भक्तिर विकार। कत वा कहिते पारि,—सकलि अपार॥ योग्य श्रीचैतन्य-दास मुरारि पण्डित। याँर वातासेओ कृष्ण पाइये निश्चित॥"

शुद्धभक्त व्रजसखागण
ही निताइ के गण—

नित्यानन्देर गण यत,—सब ब्रजसखा।
शृंग-वेत्र-गोपवेश, शिरे शिखिपाखा॥२१॥

२१। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु के समस्त भक्त व्रजलीला के सखा हैं। जो शृंग, वेत्र, सिर पर मयूरपंख धारण कर गोपवेश में रहते थे।

अनुभाष्य

२१। श्रीनित्यानन्द प्रभु के आश्रित भक्त गण, सभी व्रज के सख्यरसाश्रित हैं। उन सभी का गोपाल-वेश है। प्रभु की पत्नी ईश्वरी जाह्नवा-माता—व्रज की अनङ्ग-मञ्जरी एवं श्रीमती राधिका की छोटी बहन है। गौर-गणोद्देश में ६६श्लोक—"केचित् श्रीवसुधा-देवीं कला वपि विवृण्वते। अनंगमंजरी केचित् जाह्नवींच प्रचक्षते। उभयन्तु समीचीनं पूर्वन्यायात् सतां मतम्॥" श्रीजाह्नवा-माता के आश्रित भक्तवृन्द भी नित्यानन्द प्रभु के गणों में गिने जाते हैं।

(७) रघुनाथ वैद्य—

रघुनाथ वैद्य उपाध्याय महाशय।
याँहार दर्शने कृष्णप्रेमभक्ति हय॥२२॥

२२। प॰ अनु॰—श्रीनित्यानन्द प्रभु के भक्तों में एक रघुनाथ वैद्य उपाध्याय महाशय थे। जिनके दर्शन से श्रीकृष्ण में प्रेमभक्ति होती है।

(८) सुन्दरानन्द (गोपाल-२)

सुन्दरानन्द—नित्यानन्देर शाखा, भृत्य मर्म्म।
याँर संगे नित्यानन्द करे ब्रजनर्म्म॥२३॥

२३। प॰ अनु॰—श्रीनित्यानन्द प्रभु की एक शाखा सुन्दरानन्द है, जो प्रभु के अन्तरङ्ग सेवक हैं एवं जिनके साथ प्रभु व्रजभाव में परिहास करते हैं।

अनुभाष्य

२३। सुन्दरानन्द—चै:भा: अन्त्य, षष्ठ अ:—"प्रेम-रस-समुद्र सुन्दरानन्द नाम। नित्यानन्द स्वरूपेर पार्षद-प्रधान॥" गौ: ग: १२७—"पुरा सुदाम-नामासीद् अद्य ठक्-कुर सुन्दर:।" ये द्वाद्वश गोपाल में अन्यतम 'सुदाम' हैं।

इनका श्रीपाट—महेशपुर गाँव। इ,वि,आर लाइन में 'माजदिया' (पहला नाम 'शिवनिवास' था) स्टेशन से १४ मील पूर्वी दिशा की ओर; अधूना यशोहर जिला में स्थित है। इस स्थान पर प्राचीन स्मृतिचिह्न-स्वरूप केवल सुन्दरानन्द की जन्मस्थली को छोड़कर और कुछ नहीं है। गाँव के प्रान्त में स्थित श्रीपाट में एक बाउल रहता है। श्रीमन्दिर और श्रीविग्रह आदि, सभी कुछ ही दिन पहले प्रतिष्ठित हुये हैं। वर्तमान महेशपुर में श्रीश्रीराधा-वल्लभ एवं श्रीश्रीराधा-रमण की सेवा होती है। उसके सामने वेत्रवती नदी है। सुन्दरानन्द ठाकुर चिरकुमार थे, इसलिये इनका वंश नहीं है। ज्ञाति-भाईयों का एवं सेवायेत-शिष्य का वंश विद्यमान है। वीरभूम जिला के मङ्गलडिहि-गाँव में सुन्दरानन्द के ज्ञाति-वंश वर्तमान है। वहाँ श्रीबलराम जी की सेवा होती है। सुन्दरानन्द ठाकुर के द्वारा प्रतिष्ठित श्रीश्रीराधावल्लभ-विग्रह को बहरमपुर सैदावाद के गोस्वामीगण ले गये थे, उसके बाद वर्तमान विग्रह प्रतिष्ठित हुये। अधूना महेशपुर के जमीन्दार महाशयगण इनके सेवायेत है। माघी-पूर्णिमा के दिन सुन्दरानन्द ठाकुर का तिरोभाव उत्सव मनाया जाता है।

(९) कमलाकर पिप्पलाइ (गोपाल-३)

कमलाकर पिप्पलाइ—अलौकिक रीत।
अलौकिक प्रेम ताँर भुवने विदित॥२४॥

२४। प॰ अनु॰—कमलाकर पिप्पलाइ की अलौकिक रीति है। इनका अलौकिक प्रेम भुवन में प्रसिद्ध है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४। कमलाकर पिप्पलाइ वशंज के माहेश के श्रीजगन्नाथदेव के सेवक हैं।

अनुभाष्य

२४। कमलाकर पिप्पल्लाइ—गौ: ग १२८ श्लोक—"कमलाकर: पिप्पलाइ-नाम्नासीद् यो महावल:॥" ये द्वाद्वश गोपाल के अन्यतम 'महाबल' है। माहेश के श्रीजगन्नाथविग्रह इनके द्वारा ही प्रतिष्ठित हैं। माहेश-स्थित श्रीजगन्नाथदेव का मन्दिर इ,आइ,आर लाइन में श्रीराम पुर-स्टेशन से लगभग ढाई मील की दूरी पर है।

कमलाकर के पुत्र का नाम चतुर्भुज है; चतुर्भुज के दो पुत्र हैं—नारायण और जगन्नाथ। नारायण का पुत्र जगदानन्द; इनके पुत्र—राजीवलोचन। इनके समय में श्रीजगन्नाथदेव की सेवा-हेतु धन की कमी पड़ गई थी। ढाका के नवाब ओयालिश सा (सूजा?) ने १०६० साल में जगन्नाथदेव के लिये ११८५ बिघा जमीन प्रदान की। यह जमीन माहेश से डेढ कोस पश्चिम की ओर जगन्नाथपुर गाँव में है। जगन्नाथदेव के नाम से ही इस मौजा का नाम 'जगन्नाथपुर' हुआ है।

प्रवाद है कि, कमलाकर के छोटे भाई निधिपति पिप्पलाइ ने बड़े भाई का अनुसन्धान करते-करते माहेश में आकर उन्हें देखा। वे किसी भी प्रकार से उन्हें अपने देश वापस ले जाने में असमर्थ होकर अन्त में अपने

परिवार और भाईयों के परिवारवर्ग के साथ महेश में आकर रहने लगे। अभी भी माहेश गाँव में कमलाकर पिप्पलाइ के वशंज श्रीमान् प्रसाददास अधिकारी आदि सहित लगभग तीस ब्राह्मण घर वास कर रहे हैं।

किंवदन्ती यह है कि, 'ध्रुवानन्द' नामक किसी एक उदासीन वैष्णव ने पुरुषोत्तमक्षेत्र में जाकर अपने हाथों से रन्धन करके श्रीजगन्नाथदेव को भोगनिवेदन के लिए बहुत इच्छा प्रकट की परन्तु रात को स्वप्न में देखा कि, श्रीजगन्नाथदेव उनके समक्ष आविर्भूत होकर उन्हें गंगा के तट पर स्थित माहेश-गाँव में जाकर श्रीजगन्नाथ की प्रतिष्ठा के उपरान्त अपने हाथों से नित्य भोग प्रदान करने की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये कह रहे हैं। माहेश में उपस्थित होकर ध्रुवानन्द ने देखा कि, गंगा-जल पर श्रीजगन्नाथ, बलराम एवं सुभद्रादेवी के विग्रह तैर रहे हैं। ऐसा देखकर वे तीनों विग्रह को जल से उठाकर गङ्गा के तट पर कुटीर का निर्माण करके इनकी सेवा करने लगे। उनके अप्रकट के पश्चात् कौन श्रीजगन्नाथ के उपयुक्त सेवक बनेंगे, यह चिन्ता उनके हृदय में आने पर, उन्हें स्वप्न में श्रीजगन्नाथदेव से आदेश मिला कि, सुन्दरवन के पास 'खालिजुलि'-गाँव में रहने वाले 'श्रीकमलाकर पिप्पलाइ' नामक श्रीजगन्नाथ-देव के एक परमभक्त वैष्णव-शिरोमणि अगले दिन प्रातः माहेश आने पर उन्हें यह सेवाभार दिया जाये। अगले दिन प्रातः ध्रुवानन्द ने कमलाकर को देखा और इनके हाथों में श्रीजगन्नाथदेव का सेवाभार सौंप दिया। कमलाकर श्रीजगन्नाथदेव के सेवाभार में अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् 'अधिकारी' उपाधि को प्राप्त हुये। राढ़ीय श्रेणी में स्थित शौक्रब्राह्मणगणों के ५५ प्रकार ग्रामिणों में 'पिप्प-लाइ' अन्यतम है।

(१०) सूर्यदास एवं (११) कृष्णदास सरखेल—

सूर्यदास सरखेल, ताँर भाइ कृष्णदास।
नित्यानन्दे दृढ़ विश्वास, प्रेमेर निवास॥२५॥

२५। प० अनु॰—सूर्यदास सरखेल और उनके भाई कृष्णदास प्रेम के निवास स्वरूप हैं और दोनों का श्री नित्यानन्द प्रभु में दृढ़ विश्वास है।

अनुभाष्य

२५। सूर्यदास सरखेल—भक्तिरत्नाकर के द्वाद्वश तरङ्ग में—"नवद्वीप हइते अल्पदूर 'शालिग्राम'। तथा वैसे पण्डित सूर्यदास नाम॥ गौड़े राजा यवनेर कार्ये सुसमर्थ। 'सरखेल' ख्याति, उपार्जिल बहु अर्थ॥ सूर्य-दास—चारि भ्राता अति शुद्धाचार। वसुधा-जाह्नवा-नामे ताँर कन्याद्वय॥" गौ:ग:६५—"श्रीवारुणी-रेवतवंश-सम्भवे, तस्य प्रिये द्वे वसुधा च जाह्नवी। श्रीसूर्य्यदासस्य महात्मनः सुते, ककुद्मिरूपस्य च सूर्य्यतेजसः॥"

बड़गाछि—इ,वि,आर लाइन में 'मुड़ागाछा' स्टेशन से २ मील की दूरी पर बड़गाछि या बहिरगाछि—धर्म-दह-गाँव के उस पार 'गुड़गुड़े' खाल के तट पर। इसके पास ही शालिग्राम और रुक्गुणपुर है।

कृष्णदास सरखेल—गौरीदास पण्डित एवं सूर्यदास सरखेल के छोटे भाई। ये श्रीनित्यानन्द प्रभु के विवाह के समय अधिवास के दिन बड़गाछि से शालिग्राम गये। 'भक्तिरत्नाकर' के द्वादश तरंग में—"नाना द्रव्य लैया विप्रगणेर सहिते। कृष्णदास पण्डित आइला वाटी हइते॥"

(१२) गौरीदास पण्डित (गोपाल-४)

श्रीगौरीदास पण्डिते प्रेमोद्दंडभक्ति।
कृष्णप्रेमा दिते, निते, धरे महाशक्ति॥२६॥

२६। प० अनु॰—श्रीगौरीदास पण्डित में प्रेम के कारण उद्दण्ड भक्ति है। इनमें श्रीकृष्णप्रेम देने की व ग्रहण करने की महाशक्ति है।

अनुभाष्य

२६। श्रीगौरदास पण्डित—हरिहोड़ के पुत्र एवं राजा कृष्णदास के द्वारा सहायता-प्राप्त थे। यह व्रज के द्वाद्वश गोपाल में से 'सुबल सखा' हैं। इनका पूर्वी-निवास—इ,वि,आर लाइन में मुड़ागाछा-स्टेशन से कुछ ही दूर शालिग्राम में, पश्चात् अंबिका-कालना में था। गौ: ग: १२८—"सुवलो यः प्रियश्रेष्ठः स गौरीदास पण्डि-

तः।" चैः भाः अन्त्य, षष्ठ अः—"गौरीदास पण्डित परम भाग्यवान्। कायमनोवाक्ये नित्यानन्द याँर प्राण॥" "सरखेल सूर्यदास पण्डित उदार। ताँर भ्राता गौरीदास पण्डित प्रचार॥ शालिग्राम हैते ज्येष्ठ भ्रातारे कहिया। गङ्गातीरे कैला वास 'अंबिका' आसिया॥" उनकी (साड़े बाइस) शाखाएँ हैं—(१) श्रीनृसिंचैतन्य, (२) कृष्णदास, (३) विष्णुदास, (४) बड़े बलरामदास, (५) गोविन्द, (६) रघुनाथ, (७) बडु गङ्गादास, (८) आउलिया गंगाराम, (९) यादवाचार्य, (१०) हृदयचैतन्य, (११) चाँद हालदार, (१२) महेश पण्डित, (१३) मुकुट राय, (१४) भातुया गङ्गाराम, (१५) आउलिया चैतन्य, (१६) कालिया कृष्णदास, (१७) पातुया गोपाल, (१८) बड़े जगन्नाथ, (१९) नित्यानन्द, (२०) भावि, (२१) जगदीश, (२२) राइया कृष्णदास, साड़े बाइस। अन्न-पूर्णा। गौरीदास पण्डित के ज्येष्ठपुत्र—(बड़े) बलराम एवं कनिष्ठ—रघुनाथ। रघुनाथ के पुत्र—महेश पण्डित और गोविन्द; कन्या—अन्नपूर्णा। शालिग्राम-निवासी श्रीकंसारि मिश्र के ('घोषाल' पदवी एवं वात्स्यगोत्र) छह पुत्र—(१) दामोदर, (२) जगन्नाथ, (३) सूर्यदास सरखेल (वसुधा-जाह्नवा के पिता), (४) गौरीदास, (५) कृष्णदास सरखेल, (६) नृसिंह चैतन्य। कंसारि मिश्र के ज्ञाति-वंशीय में कोई-कोई अब भी शालिग्राम में वास करते हैं। गौरीदास पण्डित या हृदयचैतन्य का वंश नहीं है। कोई-कोई कहते हैं कि, जो है, वे सब गौरीदास पण्डित अथवा हृदय चैतन्य के शिष्य शाखा के वंशावली है। जाह्नवा-देवी ने श्रीवृन्दावन जाकर तातश्री अथवा गौरीदास पण्डित का समाज देखकर क्रन्दन किया था। "गौरीदास पण्डितेर समाधि देखिते। बहे बारिधारा नेत्रे, नारे निवारिते॥" (भक्तिरत्नाकर, ११ तरङ्ग द्रष्टव्य है)।

गौरीदास के शिष्य—हृदयचैतन्य; हृदयचैतन्य के शिष्य—अन्नपूर्णादेवी के पुत्र गोपीरमण। इनके वंशावली ही अधूना कालना में महाप्रभु के अधिकारीगण हैं।

शान्तिपुर के उस पार गंगा के तट पर वर्द्धमान जिला में स्थित श्रीपाट अम्बिका-कालना एक महकम् और छोटा शहर है। हावड़ा-ब्यांडेल-वारहारोया लाइन में कालनाकोर्ट स्टेशन से लगभग १कोस पूर्वी दिशा की ओर श्रीपाट—वर्द्धमान के राजा के नये समाजवाटी या बाजार के निकट ही स्थित है। यह प्रसिद्धि है कि गौरीदास के देवालय के प्रवेशद्वार पर एक अपूर्व इमलीवृक्ष है, उस इमलीवृक्ष के नीचे श्रीमन् महाप्रभु के साथ गौरीदास पण्डित का मिलन हुआ था। देवालय श्वेतप्रस्तर से सजा हुआ है और घर के तीन प्रकोष्ठ में श्रीविग्रहगण इस प्रकार से अधिष्ठित हैं—(१) श्रीगौरीदास, (२) श्रीराधाकृष्ण, (३) श्रीगौर-नित्यानन्द, (४) श्रीजगन्नाथ, (५) श्रीबलराम एवं (६) श्रीरामसीता। पण्डित गौरीदास के भवन की पश्चिम दिशा की ओर श्रीसूर्यदास पण्डित का देवालय और कुछ ही दूर सिद्ध श्रीभगवान्दास बाबाजी का आश्रम है।

जिस स्थान पर वर्तमान देवालय स्थित है, उसे 'अम्बिका' कहते हैं, इसके उत्तरी दिशा की ओर कालना है; इसलिये दोनों के मिलने से इसका नाम 'अम्बिका-कालना' हुआ है। सुना जाता है कि, श्रीमन् महाप्रभु की हस्तवाहित वैठा (नाँव को चलाने वाला चप्पु) और श्रीहस्तलिखित गीता (भः रः ७म तः द्रष्टव्य) आज भी मन्दिर में वर्तमान है।

गौरनिताइगत-प्राण
गौरीदास पण्डित—

नित्यानन्दे समर्पिल जाति-कुल-पाँति।
श्रीचैतन्य-नित्यानन्दे करि' प्राणपति॥२७॥

२७। प० अनु०—इन्होनें श्रीचैतन्य-नित्यानन्द को प्राणपति बनाकर अपनी जाति, कुल और पाँति (पंक्ति-भोजन) सबकुछ श्रीनित्यानन्द प्रभु के चरणों में समर्पित कर दी।

अमृतप्रवाह भाष्य

२७। पाँति—पंक्ति-भोजन।

एकादश परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

(१३) पुरन्दर पण्डित—

नित्यानन्द प्रभुर प्रिय—पण्डित पुरन्दर।
प्रेमार्णव-मध्ये फिरे यैछन मन्दर॥२८॥

२८। प० अनु०—पुरन्दर पण्डित श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्रिय हैं। वे मन्दरपर्वत की भाँति प्रेमसागर में घूमते रहते हैं।

अनुभाष्य

२८। पुरन्दर पण्डित—चै:भा: अन्त्य षष्ठ अ:—"पुरन्दर पण्डित परम शान्त दान्त। नित्यानन्दस्वरूपे वल्लभ एकान्त॥ अन्त्य, ५अ:—"तबे आइलेन प्रभु खड़दह-ग्रामे। पुरन्दर पण्डितेर देवालय-स्थाने॥ खड़दह-ग्रामे प्रभु नित्यानन्द राय। यत नृत्य करिलेन कथन ना याय॥ पुरन्दर पण्डितेर परम उन्माद। वृक्षेर उपरि चड़ि' करे सिंहनाद॥ मुञिरे 'अङ्गद' 'बलि' लंफ दिया पड़े॥"

(१४) परमेश्वरीदास (गोपाल-५)

परमेश्वरदास—नित्यानन्दैक-शरण।
कृष्णभक्ति पाय, ताँरे ये करे स्मरण॥२९॥

२९। प० अनु०—परमेश्वर दास श्रीनित्यानन्द प्रभु के एकान्तिक शरणागत हैं जो व्यक्ति इनका स्मरण करते हैं उन्हें कृष्णभक्ति प्राप्त होती है।

अनुभाष्य

२९। परमेश्वर या परमेश्वरी-दास—चै:भा: अन्त्य षष्ठ अ:—"नित्यानन्द-जीवन परमेश्वर दास। याँहार विग्रहे नित्यानन्देर विलास॥ अन्त्य, ५म अ:—"कृष्ण-दास, परमेश्वर दास,—दुइजन। गोपभावे हइ हइ करे सर्वक्षण॥ पुरन्दर पण्डित; परमेश्वरीदास। याँहार विग्रहे गौरचन्द्रेर प्रकाश॥ सत्वरे धाइया आइलेन सेइक्षणे। प्रभु देखि' प्रेमयोगे कान्दे दुइजने॥" ये कुछ समय के लिये खड़दह में थे। गौ:ग: १३२—"नाम्नाज्र्जुन: सखा प्राग् यो दास: श्रीपरमेश्वर:।" ये द्वादश गोपाल में से एक 'अर्जुन' सखा हैं। ईश्वरी-श्रीजाह्नवा जब खेतुरि-महोत्सव पर गईं थीं, तब परमेश्वर उनके साथ थे। (भक्तिरत्नाकर के दशम तरङ्ग में)। जाह्नवा-माता की आज्ञानुसार इन्होंने आटपुर में 'श्रीराधागोपीनाथ' विग्रह की प्रतिष्ठा की। (उसी में १३ तरङ्ग द्रष्टव्य है)।

श्रीवैष्णव-वन्दना में—"परमेश्वरदास ठाकुर वन्दिव सावधाने। श्रृगाले लओयान नाम संकीर्तन-स्थाने॥" भक्ति-रत्नाकर के १३ तरङ्ग में परमेश्वरी ठाकुर की कथाएँ हैं।

परमेश्वरी ठाकुर का श्रीपाट आटपुर—हावड़ा-आमता-रेलवे लाइन पर चाँपाडांगा-शाखा के आटपुर-स्टेशन के एवं वर्द्धमान-राज तेज बाहादुर के दीवान परलोक पधार चुके कृष्णकुमार मित्र के द्वारा स्थापित श्रीराधागोविन्द के प्राचीन मन्दिर के निकट है। पहले इसका नाम था 'विशखाला'।

मन्दिर के सामने ही विस्तृत छाया प्रदानकारी एक साथ दो बकुल वृक्ष एवं पृथक्-पृथक् एक कदम्ब वृक्ष और इन दोनों के बीच परमेश्वरी ठाकुर की समाधि एवं इसके ऊपर तुलसीमंच सुशोभित है। प्रवाद है कि, श्रील परमेश्वरी ठाकुर के समय जो दो बकुल वृक्ष थे, उसी की शाखा से वर्तमान वृक्षद्वय की उत्पत्ति हुई है। प्रत्येक वर्ष कदम्ब-वृक्ष में एक फूल आता है, उसी से श्रीविग्रह की श्रीचरणपूजा होती है।

परमेश्वरी ठाकुर वैद्यकुल में आविर्भूत हुये। उनके भ्रातृवंशीयगण ही श्रीपाट के वर्तमान सेवायेत हैं। हुगली जिला के चंडीतला-डाकघर के अन्तर्गत गरलगाछा-गाँव में भी इस वंश में से कोई-कोई रहते हैं। कुछ दिन पहले भी इनके अनेक शौक्र-ब्राह्मण-शिष्य थे। परन्तु काल के प्रभाव से सांसारिक लोगों की भाँति इन सब ने वैद्यव्यवसाय को अवलम्बन करने से ब्राह्मण वंशीय सभी ने धीरे-धीरे उन सबका शिष्यत्व स्वीकार करना छोड़ दिया है। इन सबकी उपाधि 'अधिकारी' है। श्री राधिका प्रसन्न अधिकारी कविराज महाशय एवं नटवर अधिकारी महाशय की विधवा एवं पुत्र-सन्तानहीना सास श्रीपाट की वर्तमान सेवायेत है। 'गुप्त' इनके ज्ञातिवर्ग की उपाधि है।

ये सब अपने आपको साधारण 'वैद्य' का अभिमान कर देवल-ब्राह्मणों के द्वारा ठाकुर की पूजा करवा रहे

हैं। आजकल आटघर सेवायेत हैं एवं आटघर मिलित होकर दो घर हुये हैं। पहले विग्रह-सेवा के लिये प्रचुर जमीन की व्यवस्था थी, परन्तु इन्होंनें सारी जमीन खो दी। अभी कुछ देवोत्तर सम्पत्ति के द्वारा अतिशय कष्ट के साथ विग्रह की सेवा चल रही है।

ऐसा देखा जाता है कि मन्दिर में एक ही सिंहासन पर श्रीबलदेव एवं श्रीराधागोपीनाथ श्रीविग्रह विराजमान हैं, सम्भव है कि बलदेव विग्रह बाद में प्रतिष्ठित हुये हैं। एक ही सिंहासन पर श्रीबलदेव एवं श्रीमती के साथ श्रीकृष्णविग्रह का अधिष्ठान—तत्त्वविरोधपूर्ण विषय है। वैशाखी-पूर्णिमा में परमेश्वरी ठाकुर का तिरोभाव-उत्सव सम्पन्न होता है।

(१५) जगदीश पण्डित—

श्रीजगदीश पण्डित हय जगत्-पावन।
कृष्णप्रेमामृत वर्षे, येन वर्षा घन॥३०॥

३०। प० अनु०—श्रीजगदीश पण्डित जगत् को पवित्र करनेवाले हैं। ये मेघों की वर्षा की भाँति जैसे कृष्णप्रेम रूपी अमृत की वर्षा करते हैं।

अनुभाष्य

३०। श्रीजगदीश पण्डित का श्रीपाट—यशड़ा-गाँव नदीया जिला के चाकदह स्टेशन से (इ, वि, आर लाइन में) एक मील के अन्दर है। चैः भाः आदि, ४र्थ अः एवं चैः चः आदि, १४श पः ३९ संख्या द्रष्टव्य है। यशड़ा-श्रीपाट के वर्णन के सम्बन्ध में जाना जाता है कि, जगदीश भट्ट पूर्वीभारत के गौहाटी-अंचल में आवि- र्भूत हुये थे। उनके पिता कमलाक्ष-गयधर बन्द्यघटीय भट्टनारायण के पुत्र हैं। जगदीश के पिता-माता, दोनों ही परम विष्णु-भक्तिपरायण गृहस्थी थे। माता-पिता के अप्रकट होने के उपरान्त जगदीश ने अपनी पत्नी 'दुःखिनी' एवं भाई महेश के साथ अपनी जन्मभूमि का परित्याग किया और गङ्गा तट पर वास करते हुए वे वैष्णवसङ्ग में समय बीताने के लिये श्रीमायापुर में श्रीजगन्नाथ मिश्र के घर के निकट रहने लगे। श्रीगौरसुन्दर ने जगदीश को हरिनाम प्रचार के लिए नीलाचल जाने का आदेश किया। श्रीमन् महाप्रभु के आदेशानुसार जगदीश पण्डित नीलाचल में नामप्रचार के समय श्रीजगन्नाथदेव से एक प्रार्थना की। उस प्रार्थना के फलस्वरूप उन्हें श्रीजगन्नाथदेव की श्रीमूर्त्ति प्राप्त हुई। उस श्रीमूर्त्ति को लाकर उन्होंने आधुनिक चाकदह-थाना के अधीन गङ्गातट पर स्थित यशड़ा-गाँव में प्रतिष्ठित किया। प्रवाद है कि, जगदीश पण्डित पुरुषो-त्तम से इस जगन्नाथ-मूर्त्ति को एक यष्टि (लाठि) पर वहन कर यशड़ा-गाँव ले आये थे। आज भी जगदीश पण्डित की एक यष्टि 'जगन्नाथ-विग्रह-आना-यष्ठि' के रूप में यशड़ा के सेवायेतगणों के द्वारा प्रदर्शित होती है।

कथित है कि, सपार्षद श्रीगौर-नित्यानन्द प्रभु ने दो बार आकर यशड़ा-गाँव में सङ्कीर्तनविहार, हरिकथा-कीर्तन और महा-महोत्सव किया था।

श्रीजगदीश पण्डित ने गृहस्थ-लीलाभिनय किया था। उनका एक ही पुत्र था, जिनका नाम 'रामभद्र गोस्वा-मी' था।

पहले गङ्गा के तट पर वटवृक्ष के नीचे जगन्नाथ-मूर्त्ति प्रतिष्ठत थी; परन्तु बाद में गोयाड़ी-कृष्णनगर के राजा कृष्णचन्द्र ने विग्रह के लिए मन्दिर का निर्माण किया। कृष्णनगर के राजा के द्वारा निर्मित मन्दिर जीर्ण हो जाने पर स्थानीय उमेशचन्द्र मजुमदार की सह-धर्मिणी मोक्षदा दासी ने १३२४ वर्ष में वर्तमान मन्दिर का संस्कार किया। यह बात एक प्रस्तर-फलक पर खुदित है। यह मन्दिर चूड़ाविहीन साधारण गृहाकार में है। सामने एक छोटा प्राङ्गन है। मन्दिर में श्रीजगन्नाथदेव, श्रीराधावल्लभ जी और जगदीश की धर्म-पत्नी दुःखिनी-माता के द्वारा स्थापित श्रीगौर-गोपाल-मूर्त्ति विराजित है।

यशड़ा में श्रीमन् महाप्रभु जब जगदीश पण्डित का घर पवित्र करके नीलाचल जाने को तैयार हुये, तब दुःखिनी श्रीगौरसुन्दर के विरह में नितान्त कातर हो उठीं। तब श्रीमन् महाप्रभु गौर-गोपाल-विग्रह के रूप में यशड़ा-गाँव में दुःखिनी की सेवा स्वीकार करने को राजी हो

गये। तब से श्रीगौरगोपाल-विग्रह (पीतवर्ण दारुमयी गोपाल-मूर्त्ति) वहाँ सेवित हो रही है।

गङ्गा यहाँ से लगभग एक कोस की दूरी पर चली गई। कालना के सिद्ध भगवान्दास बाबाजी महाशय ने कुछ समय तक यशड़ा-गाँव में भजन किया था। उसके साथ बाबाजी महाशय इस स्थान से जाकर कालना में रहने लगे। कभी-कभी वे कालना से यहाँ आते थे। तब विजयचन्द्र गोस्वामी महोदय श्रीजगन्नाथदेव के सेवायेत थे। श्रीललितमोहन गोस्वामी श्रीपाट के वर्तमान सेवायेत हैं। ये सब वाँडुय्ये (बन्दोपाध्याय, बन्द्यवंशजात) हैं; इनके मामा गांगुली-वंशीय हैं। गदाधर नामक किसी एक वैष्णव कवि के द्वारा रचित जगदीश पण्डित गोस्वामी सूचक गीत आज भी यशड़ा गाँव में गाया जाता है। गीत में जगदीश पण्डित का जीवन-वृत्तान्त अल्प अक्षरों में ग्रथित हैं। खंज भगवान् के पुत्र रघुनाथाचार्य जगदीश पण्डित गोस्वामी के शिष्य थे।

पौषी शुक्ला तृतीया के दिन जगदीश पण्डित का तिरोभाव हुआ। प्रति वर्ष पौषी शुक्ला द्वाद्वशी में जगदीश पण्डित का जन्मोत्सव होता है और स्नानयात्रा के उपलक्ष में अनेक लोगों का समागम होता है।

(१६) धनंजय पण्डित (गोपाल-६)—

नित्यानन्द-प्रियभृत्य पण्डित धनंजय।
अत्यन्त विरक्त, सदा कृष्णप्रेममय॥३१॥

३१। प० अनु०—धनंजय पण्डित श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्रिय सेवक हैं। वे अत्यन्त विरक्त एवं सदा कृष्णप्रेम में मग्न रहते थे।

अनुभाष्य

३१। श्रीधनंजय पण्डित—ये काटोया के निकट शीतल-गाँव के निवासी हैं। ये द्वाद्वश गोपाल में अन्यतम 'वसुदाम' सखा हैं। गौ: ग: १२७—"वसुदामसखा यश्च पण्डित: धनंजय:।" चै:भा: अन्त्य, षष्ठ अ:—"धनंजय पण्डित महान्त विलक्षण। याँहार हृदये नित्यानन्द अनुक्षण॥"

शीतलग्राम—वर्द्धमान जिला के अन्तर्गत मङ्गल-कोट-थाने में और कैचर-डाकघर के अन्तर्गत है। वर्द्धमान से काटोया-लाइट् रेल में काटोया से ९ मील की दूरी पर कैचर-स्टेशन में उतरकर १मील उत्तर-पूर्वी कोण पर है। देवालय खड का बनाया हुआ घर है, चारों ओर मिट्टी की दीवार है। बहुत वर्ष पहले 'बाजारवन कावाशी' गाँव के मल्लिक महोदय ने श्रीविग्रह के लिये एक पक्के घर का निर्माण किया था। ६४/६५ वर्ष व्यतीत हो चुकें हैं, वह मन्दिर अब टूट गया है। प्राचीन मन्दिर की नींव अभी भी वर्तमान है। प्रवेशपथ के बार्यी ओर एक तुलसी की बेदी है,—वही धनंजय पण्डित की समाधि-बेदी है। घर के भीतर पश्चिमद्वार पर श्रीधनंजय-सेवित श्रीगोपीनाथ, श्रीश्रीनिताइ-गौर और श्रीदामोदर- विग्रह विराजमान हैं। देवालय से कुछ दूर एक बगीचे में प्रतिवर्ष श्रीविग्रह को ले जाकर प्रत्येक वर्ष माघ मास के मध्य में तिरोभाव-उत्सव सम्पन्न होता है। किसी-किसी का कहना है कि, धनंजय पण्डित की वास्तविक जन्मभूमि चट्टग्राम जिला (वर्तमान बङ्गलादेश) के 'जाड़' गाँव में है। वहाँ से आकर इन्होंने शीतलग्राम और साँचड़ा-पाँचड़ा गाँव में श्रीविग्रह-सेवा को प्रकाशित किया।

कथित है, ये कुछदिन नवद्वीप में श्रीमन् महाप्रभु के साथ सङ्कीर्तन करके शीतलग्राम लौट आये और वहाँ से श्रीवृन्दावन-धाम के दर्शन को चले गये। वृन्दावन जाने से पहले वर्तमान मेमारी-स्टेशन के तीन कोस दक्षिण की ओर स्थित साँचड़ा-पाँचड़ा गाँव में कुछ समय रहकर वहाँ अपने सहयात्री शिष्य की श्रीसेवा को प्रकाशित करने के लिए अनुमति देकर वृन्दावन के लिये प्रस्थान किया। इसलिये साँचड़ा-पाँचड़ा गाँव को भी लोग "धनंजय का पाट" कहते हैं। आजकल इस गाँव में धनंजय पण्डित का कोई निदर्शन नहीं है; परन्तु इस शीतलग्राम में ही उनका प्रधान श्रीपाट है। वृन्दावन से लौटकर इन्होंने जलन्दि-गाँव में देवसेवा की और वहाँ से फिर शीतलग्राम आकर श्रीगौराङ्गदेव की सेवा को प्रकट किया।

सुना जाता है कि, धनंजय का कोई वंश नहीं था। संजय नाम का उनका एक भाई था। जिसके पुत्र का नाम रामकानाइ ठाकुर था। संजय का श्रीपाट—वर्द्धमान जिला के ४/५ कोस पूर्व की ओर लोकनगर-डाकघर के अन्तर्गत जलन्दि-गाँव में है। संजय के वंश के धरोहरों में अब श्रीनीलमणि ठाकुर और राखाल चन्द्र ठाकुर आदि एवं दौहित्र-सन्तान श्रीकानाइलाल मुखोपाध्याय आदि जलन्दि-गाँव में ही वास कर रहे हैं। उस स्थान पर श्रीराधागोविन्द की सेवा है। वर्तमान बोलपुर के अति निकट मुलुकगाँव में उक्त रामकानाइ का श्रीपाट है। सेवायेत—श्रीयुगलकिशोर मुखोपाध्याय और श्रीगौर-किशोर मुखोपाध्याय इसी स्थान पर रहते थे। किसी-किसी का कहना है कि, संजय धनंजय के शिष्य थे। शीतलग्राम में अब जो सेवायेत हैं, वे सब धनंजय पण्डित के शिष्य के वंशधर हैं। धनंजय के शिष्य जीवनकृष्ण के द्वारा स्थापित प्राचीन विग्रह श्रीश्यामसुन्दरजी अब गोपाल राय-चौधुरी के भवन में विराजमान हैं।

(१७) महेश पण्डित (गोपाल-७)

महेश पण्डित—व्रजेर उदार गोपाल।
ढक्कावाद्ये नृत्य करे प्रेमे मातोयाल॥३२॥

३२। प० अनु—महेश पण्डित व्रज के उदार गोपाल हैं, जो ढ़ोलादि वाद्य को सुनकर प्रेम में उन्मत्त हो नृत्य करने लगते थे।

अनुभाष्य

३२। महेश पण्डित—इनका श्रीपाट बङ्गाब्द १३३४ वर्ष से पहले कुछेक महीने तक पालपाड़ा में स्थित था। बाद में चाकदह के सामने काठलधूलि गाँव में स्थानान्तरित हो गया। ये द्वाद्वश-गोपाल में अन्यतम 'महाबाहु' सखा हैं। गौ: ग: १२९—"महेश पण्डितः श्रीमन् महाबाहुर्ब्रजे सखा।" चै:भा: अन्त्य षष्ठ अ:— "महेश पण्डित अति परम महान्त"।

पालपाड़ा—नदीया जिला के इ,वि,आर लाइन में चाकदह-स्टेशन से एक मील दक्षिण की ओर जङ्गल में स्थित है। गङ्गा यहाँ से दूर है। महेश पण्डित पहले जिराट् के पूर्वीतट पर मसिपुर या यशीपुर (?) नामक स्थान में रहते थे। परन्तु मसीपुर गङ्गा के गर्भ में समाहित हो जाने के कारण वे उस स्थान से सुखसागर के निकट-वर्ती बेलडांगा में महेश पण्डित के द्वारा प्रतिष्ठित श्रीविग्रह कुछ समय के लिये सुख-सागर के सामने वेलेडाङ्गा में थे, बाद में गङ्गा के कारण वेलेडाङ्गा भी ध्वंसप्राप्त हो जाने से पालपाड़ा के जमीन्दार नवकुमार चट्टोपाध्याय ने श्रीविग्रह को उस समय के सेवायेत बाबाजी रामकृष्णदास से पूछकर पालपाड़ा ले आये और वहाँ एक मन्दिर का निर्माण किया। नवकुमार बाबु के पुत्र रजनी बाबु ने १८८३ ख्रीष्टाब्द में मन्दिर की जमीन हरेकृष्णदास बाबाजी के हाथों रजिष्ट्री करके सौंप दी। तब से उसका नाम 'पालपाड़ा-पाट' चल रहा है। पालपाड़ा पाँचनगर परगणा के अन्तर्गत है। बेलेडाङ्गा, बेरिग्राम, सुखसागर, चान्दुड़े, मनसापोता, पालपाड़ा आदि चौदह मौजा पाँचनगर में रहने के कारण कोई-कोई उसे 'नागरदेश' कहते हैं। किसी-किसी के मतानुसार, यह महेश पण्डित यशड़ा-श्रीपाट के जगदीश पण्डित के छोटे भाई हैं। वे सब कहते हैं कि, जगदीश, हिरण्य और महेश पण्डित—तीन भाई थे। जगदीश—ज्येष्ठ, हिरण्य—मध्यम और महेश—कनिष्ठ है। महेश पण्डित ही जगदीश के भाई हैं या नहीं, इस विषय में प्रामाणिक ग्रन्थों में उल्लेख न रहने के कारण इसकी सत्यता सन्देह की सीमा में है।

श्रीमहेश पण्डित श्रीनित्यानन्द प्रभु के साथ पाणिहाटी के महोत्सव में उपस्थित थे और उत्सव के उपरान्त श्रीनित्यानन्द प्रभु के साथ सप्तग्राम गये थे। भक्तिरत्नाकर के ८म तरङ्ग में लिखा है कि, श्रीनरोत्तम ठाकुर जब खड़दह आये थे, तब महेश पण्डित भी वहाँ उपस्थित थे।

श्रीपाट का मन्दिर छोटे घर-जैसा है। जीर्ण मन्दिर में श्रीगौरनित्यानन्द-श्रीमूर्त्ति, श्रीगोपीनाथ, श्रीमदनमोहन, श्रीराधागोविन्द और शालग्राम विराजित हैं। मन्दिर के सामने महेश पण्डित की फूलसमाज-बेदी है। अब भिक्षा

के द्वारा ही सेवा का निर्वाह होता है। स्थानीय श्रीकालीकृष्ण चक्रवर्त्ती प्रत्येक वर्ष २५रु की सहायता करते हैं। श्रीमहेश पण्डित की कोई वंशावली नहीं है। श्रीसनातनदास बाबाजी वर्तमान सेवायेत हैं।

(१८) पुरुषोत्तम पण्डित (गोपाल-८)

नवद्वीपे पुरुषोत्तम पण्डित महाशय।
नित्यानन्द-नामे याँर महोन्माद हय॥३३॥

३३। प० अनु—नवद्वीप के पुरुषोत्तम पण्डित महोदय को नित्यानन्द प्रभु के नाम (के श्रवण एवं कीर्त्तन) से महा उन्माद हो जाता है।

अनुभाष्य

३३। पुरुषोत्तम पण्डित—चैःभाः अन्त्य षष्ठ अः—"पण्डित पुरुषोत्तम नवद्वीपे जन्म। नित्यानन्द स्वरूपेर महाभृत्य मर्म्म॥" ये द्वाद्वश गोपाल के अन्यतम 'स्तोक-कृष्ण' हैं। गौःगः १३० श्लोक—"स्तोककृष्णः सखा प्राग् जो दासः श्रीपुरुषोत्तमः।" किसी-किसी का कहना है कि, इनका श्रीपाट सुखसागर में है।

(१९) बलराम-दास—

बलराम दास—कृष्णप्रेमरसास्वादी।
नित्यानन्द-नामे हय परम उन्मादी॥३४॥

३४। प० अनु॰—बलराम दास कृष्णप्रेम रस के आस्वादन करनेवाले हैं। वे श्रीनित्यानन्द प्रभु के नाम से परम उन्मत्त हो जाते हैं।

अनुभाष्य

३४। बलरामदास—चैःभाः अन्त्य, षष्ठ अः—"प्रेमरसे महाम त्त बलराम दास। याँहार वातासे सब पाप याय नाश॥"

(२०) यदुनाथ कविचन्द्र—

महाभागवत यदुनाथ कविचन्द्र।
याँहार हृदये नृत्य करे नित्यानन्द॥३५॥

३५। प० अनु—यदुनाथ कविचन्द्र महाभागवत हैं। जिनके हृदय में नित्यानन्द प्रभु नृत्य करते हैं।

अनुभाष्य

३५। यदुनाथ कविचन्द्र—चैःभाः अन्त्य षष्ठ अः—"यदुनाथ कविचन्द्र—प्रेमरसमय। निरवधि नित्यानन्द याँहार हृदय॥" उसी में मध्य, १म अः—"रत्नगर्भ आचार्य विख्यात याँर नाम। नित्यानन्द प्रभुर वापेर संगी, जन्म—एकग्राम॥ तिन पुत्र—ताँर कृष्णपद मकरन्द। कृष्णानन्द, जीव, यदुनाथ कविचन्द्र॥"

(२१) द्विज कृष्णदास—

राढ़े याँर जन्म कृष्णदास द्विजवर।
श्रीनित्यानन्देर तिंहो परम किंकर॥३६॥

३६। प० अनु॰—श्रेष्ठ द्विज कृष्णदास का जन्म राढ़देश में हुआ था। वे श्रीनित्यानन्द प्रभु के परम सेवक हैं।

अनुभाष्य

३६। कृष्णदास—चैःभाः अन्त्य, षष्ठ अः—"राढ़े जन्म महाशय विप्र कृष्णदास। नित्यानन्द-पारिषदे याँहार विलास॥"

(२२) कालाकृष्णदास (गोपाल-९)

कालाकृष्णदास बड़ वैष्णवप्रधान।
नित्यानन्द-चन्द्र बिना नाहि जाने आन॥३७॥

३७। प० अनु॰—काला कृष्णदास बहुत प्रधान वैष्णव हैं, वे श्रीनित्यानन्द प्रभु के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते हैं।

अनुभाष्य

३७। काला कृष्णदास—चैःभाः अन्त्य, षष्ठ अः—"प्रसिद्ध कालिया कृष्णदास त्रिभुवने। गौरचन्द्र लभ्य हय याँहार स्मरणे॥" गौःगः १३२—"कालः श्रीकृष्णदासः स यो लवंगः सखा ब्रजे।" ये द्वाद्वश गोपाल में अन्यतम 'लवङ्ग' सखा हैं। इनके श्रीपाट 'आकड़हाट' गाँव—

वर्द्धमान जिला के काटोया-थाना एवं डाकघर के अन्तर्गत और काटोया से 'नवद्वीप-काटोया' राजमार्ग के पास स्थित है। इ,आइ,आर लाइन में ब्यांडेल-जङ्कशन से आगे काटोया-स्टेशन पर उतरकर दो मील, अथवा काटोया से पहले दाँइहाट-स्टेशन में उतरकर लगभग एक मील की दूरी पर है। आकाइहाट-गाँव बहुत ही छोटा है, इसलिये वहाँ बहुत कम लोग रहते हैं। श्रीपाट आजकल श्रीहीन है। कालाकृष्णदास ठाकुर की समाधि मन्दिर ध्वस्त हो चुकी है। रास्ते से आमबगीचे के भीतर होकर जाने से सामने एक टूटी हुई कोठरी दिखाई देती है। कोठरी में श्रीविग्रह रहित बेदी और कोठरी के पूर्व-दक्षिण कोण की ओर खड़ की चाला (छोटा-सा घर) है, इसमें सेवायेत गणों का समाज है। हरेरामदास बाबाजी वर्तमान सेवायेत हैं। दक्षिण दिशा की ओर एक पुष्करिणी है—जिसे "नूपुरकुण्ड" कहते हैं। प्रवाद है, इस पुष्करिणी में श्रीखण्डनिवासी मुकुन्दनन्दन रघुनाथ ठाकुर का और किसी-किसी के मतानुसार श्रीनित्यानन्द प्रभु का नूपुर गिरा था। सुनने में आता है कि वह नूपुर आकाइहाट-श्रीपाट के श्रीराधावल्लभ व श्रीगोपालजी, आकाइहाट से तीन कोस की दूरी पर कडुइ-गाँव में महान्त के घर आज भी विराजमान है। १२०० (बंगाब्द) वर्ष की हाथों से लिखी एक श्रीचैतन्यभागवत और १२०० वर्ष की हाथों से लिखी एक श्रीचरितामृत भी वहाँ है। चैत्रमास की कृष्णाद्वादशी के वारुणी के दिन यहाँ श्रीकाला-कृष्णदास ठाकुर का तिरोभाव-उत्सव सम्पन्न होता है।

पावना जिला के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध बेड़ाबन्दरगाह से लगभग ३ मील पश्चिम की ओर इच्छामती नदी के उत्तरीतट पर स्थित 'सोनातला' गाँवनिवासी 'गोस्वामी' महोदय के अनुसार—काला कृष्णदास वारेन्द्र श्रेणी के ब्राह्मण कुल में आविर्भूत भरद्वाज-गोत्र एवं भादर-गाँव के निवासी हैं। आकाइहाट से हरिनाम प्रचार करने के लिए काला-कृष्णदास पावना नामक स्थान पर आये। जिस स्थान पर उन्होंने आश्रम बनाया, उस स्थान पर अभी भी गृहादि के भग्न चिह्न विद्यमान हैं। उनके परिवार वालों ने भी बाद में इस स्थान पर आगमन किया। आकाइहाट में वारेन्द्र-ब्राह्मण न रहने के कारण उन्होंने इस देश में ही विवाह किया एवं कुछदिनों के पश्चात् वे फिर आकाइहाट और वहाँ से श्रीवृन्दावन चले गये।

सोनातला-गाँव में वास करते समय उनका 'श्रीमोहन दास' नामक एक पुत्र हुआ; जिसे मामा के घर में सोनातला या भादुटी-मथुरापुर में रखकर एवं सम्पूर्ण सम्पत्ति प्रदान करके वे धर्मपत्नी-सहित श्रीवृन्दावन चले गये। श्री वृन्दावन में भी उनका 'गौराङ्गदास' नामक एक और पुत्र हुआ। श्रीवृन्दावन में जन्म होने के कारण 'गौराङ्गदास' का दूसरा नाम वृन्दावनदास रखा गया। कुछ समय पश्चात् उन्होंने कनिष्ठ पुत्र वृन्दावनदास को ज्येष्ठपुत्र मोहनदास के पास भेज दिया और सम्पत्ति के छह आना अंश स्वीकार करने की आज्ञा प्रदान की। गौराङ्गदास ने श्रीवृन्दावन के श्रीगोविन्द जी के अनुरूप श्रीकालाचाँद विग्रह को प्रकाशित किया और अपने बड़े भाई के साथ श्रीविग्रह की सेवा करने लगे।

काला-कृष्णदास ठाकुर के श्रीविजयगोविन्द गोस्वा-मी प्रमुख वंशधरगण आजकल पावना-जिला के सोनातला आदि स्थानों पर आज भी वर्तमान हैं।

सोनातला में स्थित आश्रम-भवन के निंव, मन्दिर की ईंट और पुष्करिणी का घाट आज भी दिखाई देता है। यहाँ के श्रीविग्रह—श्रीकालाचाँद जी पालाक्रमानुसार कालाकृष्णदास के वंशधरगणों के द्वारा ही सेवित होते हैं। यहाँ अग्रहायण-मास के कृष्णाद्वादशी के दिन काला-कृष्णदास ठाकुर का तिरोभाव-उत्सव सम्पन्न होता है।

(२३) सदाशिव कविराज,
(२४) पुरुषोत्तम (गोपाल-१०)

श्रीसदाशिव कविराज—बड़ महाशय।
श्रीपुरुषोत्तमदास—ताँहार तनय॥३८॥

३८। प० अनु—श्रीसदाशिव कविराज बड़े महाशय हैं। इनके पुत्र श्रीपुरुषोत्तम दास हैं।

'नागर' पुरुषोत्तम—

आजन्म निमग्न नित्यानन्देर चरणे।
निरन्तर बाल्य-लीला करे कृष्ण-सने॥३९॥

३९। प॰ अनु॰—श्रीपुरुषोत्तमदास जन्म से ही श्री नित्यानन्द प्रभु के चरणों में निमग्न रहते थे और निरन्तर श्रीकृष्ण के साथ बाल्यलीला करते थे।

अनुभाष्य

३८-३९। सदाशिव कविराज और नागर पुरुषोत्तम—चैः भाः अन्त्य, षष्ठ अः—"सदाशिव कविराज महा-भाग्यवान्। याँर पुत्र श्रीपुरुषोत्तम दास नाम॥ बाह्य नाहि पुरुषोत्तम दासेर शरीरे। नित्यानन्दचन्द्र याँर हृदये विहरे॥" गौःगः १५६—"पुरा चन्द्रावली यासीद् ब्रजे कृष्णप्रिया परा। आजकल गौड़देशे सा कविराजः सदाशिवः॥" १३१ श्लोक—"सदाशिवोसुतो नाम्ना नागरः पुरुषोत्तमः। वैद्यवंशोद्भवो नाम्ना दामा यो वल्लवो ब्रजे॥" सदाशिव कविराज के पिता कंसारि सेन—कृष्णलीला में व्रज के 'रत्नावली' सखी हैं। कोई-कोई कहते हैं कि, कंसारि सेन का निवास—इ,आइ,आर लाइन पर गुप्तिपाड़ा में है, परन्तु अब इसका कोई चिह्न नहीं दिखता। जो भी हो, इन सबकी भाँति चार पुरुष-परम्परा से सिद्ध गौरभक्त अन्यत्र विरला ही है।

श्रीपुरुषोत्तम ठाकुर का श्रीपाट पहले चाकदह और शिमुरालि-स्टेशन से कुछ दूरी पर स्थित सुखसागर में था। बेलेडाङ्गागाँव के ध्वंसप्राप्त हो जाने से, श्रीपुरुषोत्तम ठाकुर के सभी श्रीविग्रह सुखसागर लाये गये। परन्तु बाद में वे भी गङ्गा के गर्भ में समा जाने से, उस स्थान पर श्रीजाह्नवा-माता की जो गद्दी थी उस गद्दी के श्रीविग्रह-गणों के साथ पुरुषोत्तम ठाकुर के भी श्रीविग्रह साहेब-डाङ्गा बेड़िगाँव में लाये गये। बेड़िगाँव के भी ध्वंस हो जाने से जाह्नवा माता की गद्दी (आसन) के श्रीविग्रहगण के साथ पुरुषोत्तम ठाकुर के श्रीविग्रह लगभग ५० सालों से चांदुड़े-गाँव में विराजमान हैं।

भागीरथी के तट पर चांदुड़े-गाँव—नदीया जिला के अन्तर्गत एवं चाकदह-थाना के अधीन और इ,वि,आर लाइन में 'सिमुरालि'-स्टेशन से एक मील की दूरी पर व 'पालपाड़ा' से एक मील आगे स्थित है।

प्राचीन सुखसागर नदीगर्भ में समा जाने के कारण नवीन सुखसागर इस चांदुड़े-गाँव से ३/४ मील की दूरी पर कालीगंज के दक्षिण की ओर अवस्थित है।

श्रीनित्यानन्द प्रभु के दामाद—श्रीमती गङ्गादेवी के पतिदेव—जिराट्-निवासी श्रीमाधवाचार्य (माधव चट्टो-पाध्याय) किसी-किसी के मतानुसार श्रीनित्यानन्द प्रभु के तथा किसी-किसी के मतानुसार श्रीजाह्नवादेवी के और किसी-किसी के मतानुसार इन श्रीपुरुषोत्तम ठाकुर के शिष्य थे। 'वैष्णव-वन्दना' के लेखक श्रीदेवकीनन्दन दास इन्हीं के ही शिष्य थे, इसके विषय में वैष्णव-वन्दना में स्पष्ट उल्लेख है।

वर्तमान मन्दिर मिट्टी की दीवारों से बना हुआ प्राचीर युक्त एक खड (फूस का बना हुआ घर) का घर है। मन्दिरगृह में श्रीजगन्नाथ, बलराम, सुभद्रा, निताइ-गौर—दो-दो विग्रह, गोपीनाथ, जाह्नवा-माता, बालगोपाल, राधा-गोविन्द—पाँचयुगल; रेवती और बलराम, एवं शालग्राम विराजित हैं। किसी-किसी का ऐसा कहना है कि इनमें से कुछ श्रीमूर्त्तियाँ पुरुषोत्तम ठाकुर के द्वारा प्रतिष्ठित हैं एवं शेष श्रीमूर्त्तियाँ जाह्नवा-देवी की गद्दी की हैं। यह श्रीपाट 'वसु-जाह्नवा का पाट' के नाम से भी विख्यात है। निम्नलिखित सेवायेत महान्तगणों के नाम चांदुड़े-श्रीपाट में मिलते हैं—

(१) गोपाल-दास महान्त, (२) रामकृष्ण, (३) बिहारीदास, (४) रामदास, (५) गोपाल-दास और (६) वर्तमान वृद्ध सेवायेत सीतानाथ दास।

(२५) कानु ठाकुर—

ताँर पुत्र—महाशय श्रीकानु ठाकुर।
याँर देहे रहे कृष्ण-प्रेमामृतपूर॥४०॥

४०। प॰ अनु॰—श्रीपुरुषोत्तम के पुत्र महाशय श्रीकानु ठाकुर हैं। जिनका शरीर कृष्ण प्रेमामृत से सदा पूर्ण रहता है।

अनुभाष्य

४०। कानु ठाकुर—कोई-कोई इन्हें द्वादशगोपाल में अन्यतम कहते हैं। इनका निवास—बोधखाना है। इ,वि, आर सेंट्रल सेक्शन में 'झिकरगाछा-घाट स्टेशन पर उतरकर कपोताक्ष-नदी से नाँव के द्वारा अथवा स्थल-मार्ग से दो या ढाई मील की दूरी पर श्रीपाट बोधखाना स्थित है।

ठाकुर कानाइ के ऊर्द्धतन (ऊपर के) चतुर्थ पुरुष श्रीकंसारि सेन का नाम 'सम्बरारि' है। देवकीनन्दन ने वैष्णव-वन्दना में कानाइ के ऊर्द्धतन चार पुरुषों का नाम उल्लेख किया है।

"श्रीकंसारि सेन वन्दों सेन श्रीवल्लभ। सदाशिव कविराज वन्दों एकमने। निरन्तर प्रेमोन्माद, बाह्य नाहि जाने। इष्टदेव वन्दों श्रीपुरुषोत्तम नाम। के कहिते पारे ताँर गुण अनुपाम॥"

पुरुषोत्तम ठाकुर सदाशिव के पुत्र हैं और कानु ठाकुर पुरुषोत्तम ठाकुर के पुत्र हैं। कानु ठाकुर के वंशीयगण पुरुषोत्तम ठाकुर को 'नागर पुरुषोत्तम' से पृथक् मानते हैं। उन सबका कहना है कि, 'दास पुरुषोत्तम' के रूप में जिनका नाम गौरगणोद्देश में उल्लिखित है, एवं व्रजलीला में जो स्तोक-कृष्ण हैं, वही कानु ठाकुर के पिता हैं, परन्तु गौरगणोद्देश में वैद्यवंश में आविर्भूत सदाशिवपुत्र पुरुषोत्तम ही 'नागर पुरुषोत्तम' के रूप में उल्लिखित हैं। यह 'नागर-पुरुषोत्तम' व्रजलीला में 'दाम' नामक सखा हैं। कानुठाकुर के वंशीयगणों में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि, पुरुषोत्तम ठाकुर गङ्गा के पूर्वीतट पर 'सुखसागर' नामक गाँव में रहते थे। पुरुषोत्तम की पत्नी का नाम 'जाह्नवा' था। ठाकुर कानाइ के आविर्भाव के पश्चात् ही जाह्नवा अप्रकट हुईं। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने जब सुना कि, पुरुषोत्तम ठाकुर की धर्मपत्नी का देहान्त को चुका है, तब प्रभु पुरुषोत्तम के घर आये और द्वाद्वश वर्ष के शिशु को अपने भवन खडदह ले गये।

कानुठाकुर के वंशीयगणों के मतानुसार १४५७ शकाब्द में (बङ्गाब्द ९४२ वर्ष) आषाढ़-मास के शुक्ला-द्वितीया बृहस्पतिवार रथयात्रा के दिन कानाइ ठाकुर आविर्भूत हुये थे। बचपन से ही ठाकुर में कृष्णभक्ति-परायणता को देखकर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने उनका नाम "शिशुकृष्णदास" रखा था।

शिशु कृष्णदास जब पाँच वर्ष के थे, तब वे ईश्वरी जाह्नवा-माता के साथ श्रीवृन्दावन-धाम गये थे। श्रीजीव गोस्वामी प्रमुख व्रजवासियों ने शिशुकृष्णदास के भावादि को देखकर उन्हें 'ठाकुर कानाइ' नाम प्रदान किया। जनश्रुति है कि, ठाकुर कानाइ जब वृन्दावन में कीर्तन के आनन्द में विह्वल होकर नृत्य कर रहे थे, तब उनके दक्षिण चरण का एक नूपुर अन्तर्हित हो गया था, तब ठाकुर कानाई ने कहा कि, 'जिस स्थान पर यह नूपुर गिरा है, मैं उसी स्थान पर निवास करूँगा।' सुनने में आता है, यशोहर जिला के 'बोधखाना' नामक गाँव में यह नुपुर गिरा था, तब से ठाकुर कानाइ 'बोधखाना' आकर रहने लगे।

इनके वंश-परम्परा में और एक जनश्रुति प्रचलित है कि, श्रीमन् महाप्रभु के आविर्भाव के ३/४ सौ साल पहले से सदाशिव के कोई पूर्व पुरुष के द्वारा प्रतिष्ठित 'प्राणवल्लभ' विग्रह की सेवा चली आ रही थी। यह 'प्राणवल्लभ' अभी भी 'बोधखाना' में सेवित हो रहे हैं।

'वर्गी-हङ्गामा' के समय ठाकुर कानाइ के ज्येष्ठ पुत्र की सन्तान को छोड़कर वंशीवदन आदि अन्यान्य पुत्रगण बोधखाना छोड़कर भाग गये एवं नदीया जिला के अन्तर्गत 'भाजन घाट' नामक गाँव में जाकर रहने लगे। ठाकुर कानाइ के कनिष्ठ सन्तानों में से 'हरिकृष्ण गोस्वामी' नामक कोई एक 'वर्गी-हंगामा' मिट जाने के पश्चात् बोधखाना में आये। इन्होंने 'प्राणवल्लभ' नाम से और एक नये विग्रह की प्रतिष्ठा की। अभी भी बोध-खाना गाँव में ठाकुर कानाइ के ज्येष्ठ पुत्रों के वंशीय गणों के द्वारा प्राचीन "श्रीप्राणवल्लभ" की और कनिष्ठ पुत्र के वंशीयगणों के द्वारा नूतन-प्रतिष्ठित "प्राण-वल्लभ" की सेवा हो रही है। भाजनघाट में "श्रीराधा वल्लभ" विग्रह सेवित हो रहे हैं। प्रेम-विलास ग्रन्थ में

लिखा है कि, कानु ठाकुर खेतरि के उत्सव के समय जाह्नवा-देवी और वीरभद्रप्रभु के साथ वहाँ उपस्थित थे।

पुरुषोत्तम ठाकुर एवं कानु ठाकुर के अनेक शौक्र-ब्राह्मण शिष्य थे। पुरुषोत्तम ठाकुर के शौक्र-ब्राह्मण शिष्यों में से प्रधान चार के नाम इस प्रकार से वर्णित हैं—

"तस्य प्रियतमाः शिष्याश्चत्वारो ब्राह्मणोत्तमाः। श्रीमुखो माधवाचार्य्यो यादवाचार्य्यो-पण्डित॥ देवकी-नन्दन-दासः प्रख्यातो गौड़ मंडले। येनैव रचिता पुस्ती श्रीमद्वैष्णववन्दना॥" ये माधवाचार्य श्रीनित्यानन्द प्रभु की कन्या गङ्गादेवी के पति हैं। सुख-सागर गाँव ध्वंस हो जाने के पश्चात् पुरुषोत्तम के द्वारा प्रतिष्ठित श्रीविग्रह-समूह चांदुड़िया में लाये गये। आजकल जिराट के गङ्गा-वंशीयगणों की देखरेख में उनके अन्यान्य विग्रह के साथ सेवित हो रहे हैं। पुरुषोत्तम ठाकुर का श्रीपाट "वसु-जाह्नवा" का श्रीपाट नाम से भी प्रसिद्ध है।

कानु ठाकुर के शिष्यवृन्द ने मेदिनीपुर-जिला के शिलावती नदी के पास गड़वेता नामक गाँव में वास किया। सामवेदीय कौथुमी-शाखा के राढ़ीश्रेणीय "श्रीराम" नामक एक ब्राह्मण कानाइ ठाकुर के प्रसिद्ध शिष्य थे।

(२६) उद्धारण ठाकुर (गोपाल-११)

महाभागवत-श्रेष्ठ दत्त उद्धारण।
सर्वभावे सेवे नित्यानन्देर चरण॥४१॥

४१। प॰ अनु॰—उद्धारण दत्त श्रेष्ठ महाभागवत थे। वे सब प्रकार से श्रीनित्यानन्द प्रभु के चरणों की सेवा करते थे।

अनुभाष्य

४१। उद्धारणदत्त—गौ:ग: १२९श्लोक—"सुबाहुर्यो ब्रजे गोपो दत्त उद्धारणाख्यकः।" इनका निवास स्थान हुगली जिला के अन्तर्गत त्रिशविघा-स्टेशन के पास सरस्वती नदी के तट पर स्थित सप्तग्राम में है। पहले 'सप्तग्राम' कहने से वासुदेवपुर, वाँशवेड़िया, कृष्णपुर, नित्यानन्दपुर, शिवपुर, शंखनगर और सप्तग्राम—को समझा जाता था। चै:भा: अन्त्य, षष्ठ अः—"उद्धारणदत्त महा-वैष्णव उदार। नित्यानन्द-सेवाय याँहार अधिकार॥" अन्त्य ५म अः—"कतदिन थाकि' नित्यानन्द खड़दहे। सप्तग्राम आइलेन सर्वगणसहे॥ उद्धारण-दत्त भाग्यवन्तेर मन्दिरे। रहिलेन प्रभुवर त्रिवेणीर तीरे॥ कायमनोवाक्ये नित्यानन्देर चरण। भजिलेन अकैतवे दत्त उद्धारण॥ यतेक वणिककुल उद्धारण हैते। पवित्र हइल द्विधा नाहिक इहाते॥" ये शौक्र सुवर्णवणिक कुल में आविर्भूत हुये थे।

सप्तग्राम में श्रील उद्धारण ठाकुर के द्वारा प्रतिष्ठित एवं स्वहस्त-सेवित श्रीमन् महाप्रभु की षड्भुज मूर्त्ति है। उनके दायीं ओर श्रीनित्यानन्द प्रभु और बायीं ओर श्रीगदाधर विराजमान हैं। श्रीराधागोविन्द मूर्त्ति, श्रीशाल-ग्राम और सिंहासन-बेदी के नीचे श्रीउद्धारण ठाकुर महाशय का चित्रपट अर्च्चित हो रहा है। वर्तमान श्रीमन्दिर के सामने एक बृहत् नाट्य मन्दिर है। नाट्य-मन्दिर के प्रत्येक स्तम्भ में स्मृतिरक्षक प्रस्तरफलक पर मन्दिर-निर्माता और श्रीपाट के संस्कारकों के नाम लिखे हुए हैं। नाट्यमन्दिर के सामने ही एक सुशीतल छायापूर्ण माधवीमण्डप है। माधवीमण्डप के दोनों ओर दो स्तम्भ हैं—एक में उद्धारण ठाकुर महाशय का एक चित्रपट और दूसरे में प्रस्तरफलक पर चतुर्युग के चारों तारक ब्रह्मनाम लिखे हुए है।

१२८३ वर्ष में निताइ दास बाबाजी नामक एक भिक्षु ने श्रीपाट के लिये १२ बिघा भूमि संग्रह की। तत्पश्चात किसी-किसी की विशेष चेष्टा से श्रीपाट की सेवा कुछदिनों के लिये होते रहने पर भी धीरे-धीरे सेवा में शृंखला का अभाव दिखाई दिया। तदुपरान्त १३०६ वर्ष में हुगली के भूतपूर्व साव्जज बलराम मल्लिक और कोलकाता निवासी अनेक धनी सुवर्ण-वणिकों की एक जुट चेष्टा से अब श्रीपाट की सेवा में कुछ परिपाटी दिखाई देती है।

अर्धशताब्दी पहले एक टूटी-फूटी कुटिया में हुगली के वालि-निवासी परलोकगत जगमोहन दत्त के द्वारा प्रतिष्ठित श्रील उद्धारण ठाकुर की एक दारुमयी श्रीमूर्त्ति

विराजित थी। वह श्रीमूर्त्ति अब सप्तग्राम-श्रीपाट में नहीं है। उनका चित्रपट ही अब पूजित हो रहा है। अनुसन्धान से जाना गया कि उद्धारण ठाकुर की वह श्रीमूर्त्ति अब हुगली के वालि-निवासी श्रीमदनदत्त महोदय के भवन में और ठाकुर के द्वारा सेवित श्रीशालग्राम उसी गाँव में श्रीनाथ दत्त के घर में विराजमान है।

ठाकुर उद्धारण काटोया से ढेड़ मील उत्तरी दिशा की ओर 'नैहाटी'-गाँव में राजा के दीवान थे। दाँइहाट स्टेशन के सामने आज भी उस राजवंशीयगणों के राजमहल के भग्नावशेष दिखाई देते हैं। ठाकुर राजकार्य के उपलक्ष में जिस स्थान पर वास करते थे, वह आज भी 'उद्धारण-पुर' नाम से अभिहित है। वर्णन है कि ठाकुर के द्वारा प्रतिष्ठित यहाँ के श्रीनिताइगौर-विग्रह वन-ओयारीवाद की राजधानी में लाये गये। इस स्थान पर स्थित मन्दिर के पश्चिम ओर, (किसी-किसी के मतानुसार, वृन्दावन में) ठाकुर की समाधि वर्तमान है। किसी के मतानुसार, ठाकुर के पिता का नाम श्रीकर, माता का नाम भद्रावती और पुत्र का नाम श्रीनिवास है।

(२७) वैष्णवानन्द आचार्य—

आचार्य वैष्णवानन्द भक्ति-अधिकारी।
पूर्वे नाम छिल याँर 'रघुनाथ पुरी'॥४२॥

४२। प० अनु०—पहले जिनका नाम रघुनाथपुरी था, वे ही आचार्य वैष्णवानन्द भक्ति के अधिकारी हैं।

अनुभाष्य

४२। वैष्णवानन्द आचार्य—चैःभाः—"आचार्य वैष्णवानन्द परम उदार। पूर्वे 'रघुनाथपुरी'—नाम ख्याति याँर॥" गौःगः ९७—रघुनाथपुरी को अष्टपुरी के नामोल्लेख में अणिमादि अष्ट-सिद्धि के अन्यतम निरुपित किया गया है।

(२८) विष्णुदास, नन्दन, गङ्गादास—तीन भाई—

विष्णुदास, नन्दन, गंगादास,—तिन भाई।
पूर्वे याँर घरे छिल ठाकुर निताइ॥४३॥

४३। प० अनु०—विष्णुदास, नन्दन और गङ्गादास नामक तीन भाई हैं। श्रीनित्यानन्द प्रभु पहले इनके घर में रहते थे।

अनुभाष्य

४३। विष्णुदास, नन्दन और गङ्गादास—ये तीनों भाई नवद्वीपवासी भट्टाचार्य हैं। विष्णुदास और गङ्गादास कुछदिनों के लिये नीलाचल में श्रीमन् महाप्रभु के पास रहते थे। (आदि, १० पः१५१ संख्या)। नन्दनाचार्य के घर में श्रीमन् महाप्रभु और श्रीअद्वैतप्रभु छिपे हुये थे। श्री नित्यानन्द प्रभु ने भी नवद्वीप में आकर यहाँ कुछदिन वास किया। चैःभाः अन्त्य, षष्ठ अः—"चतुर्भुज पण्डित नन्दन गंगादास। पूर्वे याँर घरे नित्यानन्देर विलास॥"

(२९) परमानन्द उपाध्याय, (३०) श्रीजीव पण्डित—

नित्यानन्दभृत्य—परमानन्द उपाध्याय।
श्रीजीव पण्डित नित्यानन्द गुण गाय॥४४॥

४४। प० अनु०—परमानन्द उपाध्याय श्रीनित्यानन्द प्रभु के सेवक हैं और श्रीजीव पण्डित श्रीनित्यानन्द प्रभु का गुणगान करते थे।

अनुभाष्य

४४। परमानन्द उपाध्याय—चैःभाः अन्त्य, षष्ठ अः—"परमानन्द उपाध्याय—वैष्णव एकान्त।"

श्रीजीव पण्डित—श्रीनित्यानन्द प्रभु के पिता हाड़ाइ ओझा के बालमित्र रत्नगर्भ आचार्य के मध्यमपुत्र हैं। चैःभाः अन्त्य षष्ठ अः—"महाभाग्यवन्त जीव पण्डित उदार। याँर घरे नित्यानन्द-चन्द्रेर विहार।" ये व्रज की इन्दिरा हैं—गौः गः १६९ श्लोक।

(३१) परमानन्द गुप्त—

परमानन्द गुप्त—कृष्णभक्त महामति।
पूर्वे याँर घरे नित्यानन्देर वसति॥४५॥

४५। प० अनु०—परमानन्द गुप्त बड़े बुद्धिमान एवं कृष्ण भक्त थे। श्रीनित्यानन्द प्रभु पहले इनके घर में वास करते थे।

अनुभाष्य

४५। परमानन्द गुप्त—चैःभाः अन्त्य षष्ठ अः—"प्रसिद्ध परमानन्द गुप्त महाशय। पूर्वे याँर घरे नित्यानन्देर आलय॥" गौःगः १९४ और १९९ श्लोक—ये व्रज की मञ्जुमेधा हैं—"परमानन्द गुप्तो यत्कृता कृष्णस्तवावली।"

(३२) नारायण, (३३) कृष्णदास
(३४) मनोहर, (३५) देवानन्द—

नारायण, कृष्णदास, आर मनोहर।
देवानन्द—चारि भाई निताइ-किंकर॥४६॥

४६। प॰ अनु॰—नारायण, कृष्णदास, मनोहर और देवानन्द—ये चारों भाई श्रीनित्यानन्द प्रभु के दास हैं।

अनुभाष्य

४६। नारायण, कृष्णदास, मनोहर और देवानन्द—चैः भाः अन्त्य, षष्ठ अः—"कृष्ण-दास, देवानन्द—दुइ शुद्धमति। नित्यानन्दप्रिय 'मनोहर', 'नारायण'। 'कृष्ण-दास' 'देवानन्द'—एइ चारिजन॥"

(३६) होड़ कृष्णदास—

होड़ कृष्णदास—नित्यानन्दप्रभु-प्राण।
श्रीनित्यानन्द-पद बिना नाहि जाने आन॥४७॥

४७। प॰ अनु॰—होड़ कृष्णदास श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्राण हैं। वे श्रीनित्यानन्द प्रभु के चरणों के अतिरिक्त कुछ नहीं जानते हैं।

अनुभाष्य

४७। होड़ कृष्णदास—"बड़गाछि-निवासी सुकृति कृष्णदास। याँहार मन्दिरे नित्यानन्देर विलास॥" और बड़गाछि की महिमा (चैःभाः अन्त्य, षष्ठ अः)—नवनी होड़ द्रष्टव्य है।

(३७) नकड़ि, (३८) मुकुन्द, (३९) सूर्य,
(४०) माधव, (४१) श्रीधर (गोपाल-१२)
(४२) रामानन्द, (४३) जगन्नाथ, (४४) महीधर—

नकड़ि, मुकुन्द, सूर्य, माधव, श्रीधर।
रामानन्द वसु, जगन्नाथ, महीधर॥४८॥

४८। प॰ अनु॰—नकड़ि, मुकुन्द, सूर्य, माधव, श्रीधर, वसु रामानन्द, जगन्नाथ और महीधर—सब श्री नित्यानन्द प्रभु के भृत्य हैं।

(४५) श्रीमन्त, (४६) गोकुलदास,
(४७) हरिहरानन्द, (४८) शिवाइ,
(४९) नन्दाइ, (५०) परमानन्द—

श्रीमन्त, गोकुलदास, हरिहरानन्द।
शिवाइ, नन्दाइ, अवधूत परमानन्द॥४९॥

४९। प॰ अनु॰—श्रीमन्त, गोकुलदास, हरि-हरानन्द, शिवाइ, नन्दाइ और अवधूत परमानन्द—सभी श्रीनित्यानन्द प्रभु के किंकर हैं।

(५१) वसन्त, (५२) नवनी, (५३) गोपाल,
(५४) सनातन, (५५) विष्णाइ, (५६) कृष्णानन्द,
(५७) सुलोचन—

वसन्त, नवनी होड़, गोपाल, सनातन।
विष्णाइ हाजरा, कृष्णानन्द, सुलोचन॥५०॥

५०। प॰ अनु॰—वसन्त, नवनी होड़, गोपाल, सनातन, विष्णाइ हाजरा, कृष्णानन्द और सुलोचन—ये भी श्रीनित्यानन्द प्रभु के दास हैं।

अनुभाष्य

५०। नवनी होड़—बड़गाछि-निवासी हरि होड़ के पुत्र राजा कृष्णदास होड़। बड़गाछि (बहिरगाछि)—इ,वि,आर लालगोला-घाट लाइन में मुड़ागाछा-स्टेशन से दो मील की दूरी पर—धर्मदह के उस पार 'गुड़गुड़े' खाल के तट पर स्थित है। इसके सामने शालिग्राम में राजा कृष्णदास के उद्योग से श्रीनित्यानन्द प्रभु का विवाह हुआ (भक्तिरत्नाकर १२ तरङ्ग)। 'रुकुणपुर' बहिरगाछि से कुछ दूर है। नवनी होड़ इनके पुत्र हैं। इनकी वंशावली अब रुकुणपुर में है। ये सब शौक्रदक्षिण राढ़ीय कायस्थ ब्रह्मसंस्कारविशिष्ट रहकर सभी वर्णों को दीक्षा प्रदान

करते हैं। पहले बड़गाछि में गङ्गा प्रवाहित होती थी, अब वह 'काल्शि के खाल' नाम से प्रसिद्ध है।

कृष्णानन्द—३५ संख्या द्रष्टव्य है।

(५८) कंसारि, (५९) रामसेन,
(६०) रामचन्द्र, (६१) गोविन्द,
(६२) श्रीरङ्ग, (६३) मुकुन्द—

कंसारि सेन, रामसेन, रामचन्द्र कविराज।
गोविन्द, श्रीरंग, मुकुन्द, तिन कविराज॥५१॥

५१। प० अनु०—कंसारि सेन, रामसेन और चार रामचन्द्र कविराज तथा गोविन्द, श्रीरङ्ग एवं मुकुन्द नामक तीन कविराज भी नित्यानन्द के किंकर हैं।

अनुभाष्य

५१। कंसारि सेन—ये व्रज की 'रत्नावली' हैं। गौः गः १९४ और २०० श्लोक एवं 'सदाशिव कविराज' द्रष्टव्य हैं।

रामचन्द्र कविराज—खण्डवासी चिरंजीव और सुनन्दा के पुत्र एवं श्रीनिवासाचार्य के शिष्य और ठाकुर नरोत्तम के प्रियमित्र हैं। नरोत्तम ठाकुर ने प्रत्येक जन्म में इनके सङ्ग की प्रार्थना की है। गोविन्द कविराज इनके छोटे भाई हैं। इनकी कृष्णभक्ति को देखकर श्रीजीव गोस्वामी प्रभु ने वृन्दावन में इन्हें 'कविराज' नाम प्रदान किया। ये सम्पूर्ण जीवन संसार से विरक्त थे। वे ठाकुर महोदय और श्रीनिवास आचार्य प्रभु के प्रचार व भजन के प्रधान एवं प्रियतम साथी थे। इन्होंने पहले श्रीखण्ड में, पश्चात् भागीरथी के तट पर 'कुमारनगर' में आकर वास किया (भक्तिरत्नाकर द्रष्टव्य है)।

गोविन्द कविराज—खण्डवासी चिरंजीव के कनिष्ठ पुत्र एवं रामचन्द्र कविराज के भाई हैं। ये पहले शाक्त थे और बाद में श्रीनिवासाचार्य प्रभु के दीक्षित शिष्य हुए। इन्होंने पहले श्रीखण्ड में, बाद में कुमारनगर में, तत्पश्चात् पद्मानदी के दक्षिण तट पर "तेलिया बुधरि" गाँव में आकर वास किया। इनकी काव्य-प्रतिभा को देखकर श्रीजीव गोस्वामी प्रभु ने इन्हें भी 'कविराज' नाम प्रदान किया। ये "सङ्गीत-माधव" नाटक और 'गीतामृत' आदि ग्रन्थों के रचयिता हैं। (भक्तिरत्नाकर नवम तरङ्ग द्रष्टव्य है)।

(६४) पीताम्बर, (६५) माधवाचार्य, (६६) दामोदर, (६७) शंकर, (६८) मुकुन्द, (६९) ज्ञानदास, (७०) मनोहर—

पीताम्बर, माधवाचार्य, दास दामोदर।
शंकर, मुकुन्द, ज्ञानदास, मनोहर॥५२॥

५२। प० अनु—पीताम्बर, माधवाचार्य, दामोदर दास, शंकर, मुकुन्द, ज्ञानदास और मनोहर—सब श्री नित्यानन्द प्रभु के किंकर हैं।

(७१) गोपाल, (७२) रामभद्र,
(७३) गौरांगदास, (७४) नृसिंह-चैतन्य,
(७५) मीनकेतन—

नर्त्तक गोपाल, रामभद्र, गौरांगदास।
नृसिंह-चैतन्य, मीनकेतन रामदास॥५३॥

५३। प० अनु—नर्त्तक गोपाल, रामभद्र, गौराङ्गदास, नृसिंह-चैतन्य और मीनकेतन रामदास भी श्रीनित्यानन्द प्रभु के भृत्य हैं।

अनुभाष्य

५३। मीनकेतन रामदास—गौःगः ६८श्लोक—"अमुं प्राविशतां कार्य्यात् निशठैल्मुकौ। मीनकेतन-रामादिर्व्यूहः संकर्षणोऽपरः॥"

(३६) श्रीठाकुर वृन्दावनदास—

वृन्दावनदास—नारायणीर नन्दन।
'चैतन्य-मंगल' येंहो करिल रचन॥५४॥

५४। प० अनु—चैतन्य मङ्गल के रचियता नारायणी नन्दन वृन्दावनदास भी श्रीनित्यानन्द प्रभु के दास हैं।

अनुभाष्य

५४। वृन्दावनदास—गौःग १०९—"वेदव्यासो य एवासीद् दासो वृन्दावनोऽधुना। सखा यः कुसुमापीडः कार्यतस्तं तमाविशत्॥" ये श्रीवास की भ्रातृसुता (भतीजी) नारायणीदेवी के पुत्र और चैतन्यभागवत के लेखक

हैं। भाष्यकार-कृत चैतन्यभागवत की भूमिका में "ठाकुर की जीवनी" शीर्षक प्रबन्ध द्रष्टव्य है।

एकादश परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

व्यासदेव-द्वारा श्रीमद्भागवत में कृष्णलीला और चैतन्यभागवत में गौरलीला का वर्णन—

भागवते कृष्णलीला वर्णिला वेदव्यास।
चैतन्य-लीलाते व्यास—वृन्दावन दास॥५५॥

५५। प० अनु०—श्रीमद्भागवत में जैसे श्रीवेदव्यास ने कृष्णलीला वर्णन की है। उसी प्रकार श्रीचैतन्यलीला के व्यास श्रीवृन्दावन दास ने चैतन्यलीला वर्णन की है।

वीरभद्रगोसाञि-शाखा—सर्वश्रेष्ठ—

सर्वशाखा-श्रेष्ठ वीरभद्र गोसाञि।
ताँर उपशाखा यत, तार अन्त नाइ॥५६॥

५६। प० अनु०—सभी शाखाओं में श्रेष्ठ वीरभद्र गोसाईं की शाखा है। इनके उपशाखाओं का कोई अन्त नहीं पा सकता।

असंख्य नित्यानन्दगण; आत्मशोधन के लिए इन सबका गुण-कीर्तन—

असंख्य नित्यानन्दगण—के करु गणन।
आत्मपवित्रता-हेतु लिखिलाम कत जन॥५७॥

५७। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु के भक्त अनन्त हैं इनकी गणना कौन कर सकता है? फिर भी अपने को पवित्र करने के लिए कुछेक भक्तों का नाम उल्लेख किया है।

इन सबके कृष्णप्रेमदान से जगत् का उद्धार—

एइ सर्वशाखा पूर्ण—पक्क-प्रेमफले।
यारे देखे, तारे दिया भासाइल सकले॥५८॥

५८। प० अनु०—यह समस्त शाखाएँ पके हुए प्रेम-फल से पूर्ण हैं। इन्होंने जिस पर भी दृष्टिपात किया उसे ही प्रेम में बहा दिया।

इन सबकी निरन्तर कृष्णप्रीति-चेष्टा—

अनर्गल प्रेम सबार, चेष्टा अनर्गल।
प्रेम दिते, कृष्ण दिते (सबे) धरे महाबल॥५९॥
संक्षेपे कहिलाङ एइ नित्यानन्द गण।
याँहार अवधि ना पाय 'सहस्र-वदन'॥६०॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥६१॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में नित्यानन्द-स्कन्द-शाखा-वर्णन नामक एकादश परिच्छेद समाप्त।

५९-६१। प० अनु०—इन सबका प्रेम बाधा रहित है, इनकी चेष्टाएँ में भी कोई विघ्न नहीं है। प्रेम देने में एवं कृष्ण देने में सब महाशक्ति रखते हैं। मैंने संक्षेप में ही श्रीनित्यानन्द प्रभु के भक्तों का वर्णन किया है। सहस्त्र मुख श्रीशेष भी इनकी थाह नहीं पा सकते। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋ ❋ ❋

द्वादश परिच्छेद

कथासार—इस द्वादश परिच्छेद में श्रीअद्वैतप्रभु की शाखासमूह का वर्णन करके इनमें से श्रीअच्युतानन्द के पथावलम्बी वैष्णवों को 'सारग्राही' और अन्य सबको 'असार' कहकर निर्देशित किया है। अन्त में श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी की शाखा का वर्णन करके इस परिच्छेद का समापन किया है। बीच में श्रीअद्वैतनन्दन गोपाल-मिश्र और अद्वैतदास कमलाकान्त विश्वास—इन दोनों की कथा का वर्णन हुआ है। प्रथम जीवन में गुण्डिचा-मन्दिर के संस्कार के समय श्रीगोपाल की प्रेममूर्च्छा एवं श्रीमन् महाप्रभु की कृपा से मूर्च्छाभङ्ग आदि का वर्णन हुआ है। आचार्य-किंकर कमलाकान्त विश्वास ने राजा प्रतापरुद्र के निकट श्रीअद्वैतप्रभु का कर्ज चुकाने के लिये तीन सौ रुपये की भिक्षा की; यह सुनकर श्रीमन् महाप्रभु ने उस वाउलिया विश्वास को दण्ड दिया एवं श्रीअद्वैताचार्य के अनुरोध से इनका शोधन किया।

(अ:प्र:भा)

सारग्राही और असारग्राही के भेद से
दो प्रकार के अद्वैतदासगण—

अद्वैताङ्घ्र्यब्जभृंगांस्तान सारासारभृतोऽखिलान्।
हित्वाऽसारान् सारभृतो नौमि चैतन्यजीवनान्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। श्रीअद्वैतप्रभु के अनुगत जन दो प्रकार के हैं, अर्थात् 'सारग्राही' और 'असारवाही'। इसमें से असार-वाहियों का परित्याग करके समस्त सारवाही श्रीचैतन्य महाप्रभु के दासों को प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

१। सारासारभृतः (सारः अद्वैतानुगो गौर-हरिजनः, असारः तदनुगाभिमानी गौरहरिविमुखजनः, तौ विभ्रतीति तान्) अखिलान् (सर्वान्) अद्वैताङ्घ्र्यब्जभृंगान् (अद्वैतस्य अङ्घ्रि एव अब्जे तयोः भृंगान् भ्रमरान् अद्वैतसेवकान्) (मत्वा) असारान् (तदनुप्रायान् शुद्धभक्तिरहितान् मायावा-दिनः) हित्वा (त्यक्त्वा) चैतन्यजीवनान् (चैतन्यं एवं जीवनं येषां तान् गौरप्राणान्) सारभृतः (सारग्राहिनः भागव-तान) तान् (अद्वैत-भक्तान्) नौमि (नमस्करोमि)।

जय जय महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य।
जय जय नित्यानन्द जयाद्वैत धन्य॥२॥

२। प० अनु०—महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो तथा अतिधन्य श्रीअद्वैतप्रभु की जय हो।

गौरभक्त सारग्राही अद्वैतदासगणों की वन्दना—

श्रीचैतन्यामरतरोर्द्वितीयस्कन्दरूपिणः।
श्रीमदद्वैतचन्द्रस्य शाखारूपान् गणान्नुमः॥३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३। श्रीचैतन्याख्य अमरतरु (कल्पवृक्ष) के द्वितीय स्कन्दरूपी श्रीअद्वैतप्रभु के शाखास्वरूप गणसमूह को नमस्कार करता हूँ।

अनुभाष्य

३। श्रीचैतन्यामरतरोः (गौरामरवृक्षस्य) द्वितीय स्कन्दरूपिणः श्रीमदद्वैतचन्द्रस्य शाखारूपान् (वृक्षशाखा-तुल्यान्) गणान् (आश्रितकृष्णजनान्) (वयं) नुमः (नम-स्कुर्म्मः)।

वृक्षेर द्वितीय स्कन्द—आचार्य-गोसाञि।
ताँर यत शाखा हइल, तार लेखा नाञि॥४॥

४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु रूपी वृक्ष के द्वितीय स्कन्द श्रीआचार्य गोसाईं हैं। उनकी जितनी शाखाएँ निकली, उनकी गणना नहीं की जा सकती।

गौर की कृपा से सारग्राही
अद्वैत-दासों का ही विस्तार—

चैतन्य-मालीर कृपाजलेर सेचने।
सेइ जले पुष्ट स्कन्द बाड़े दिने दिने॥५॥
सेइ स्कन्दे यत प्रेमफल उपजिल।
सेइ कृष्णप्रेमफले जगत् भरिल॥६॥
सेइ जल स्कन्दे करे शाखाते संचार।
फले-फुले बाड़े, शाखा हइल विस्तार॥७॥

५-७। प० अनु०—श्रीचैतन्य माली के कृपाजल के सिंचन से यह स्कन्द पुष्ट हुआ और प्रतिदिन बढ़ता ही चला गया। इस स्कन्द में जितने भी प्रेम फल उत्पन्न हुए उन कृष्ण प्रेमफल से सम्पूर्ण जगत् भर गया। उस जल को अर्थात् श्रीचैतन्य महाप्रभु के कृपा रूपी जल को स्कन्ध श्रीअद्वैताचार्य ने अपनी शाखाओं अर्थात् अपने गणों में संचार किया, जिससे शाखा में फल और फूल बढ़ने लगे और शाखा भी बड़ गई।

श्रीअद्वैतदासगणों के दो पृथक् मत—

प्रथमे त' एकमत आचार्येर गण।
पाछे दुइमत हैल दैवेर कारण॥८॥

८। प० अनु०—पहले श्रीअद्वैत आचार्य के सभी गण एकमत थे। परन्तु बाद में दैव इच्छा से उनमें दो मत हो गये।

सारग्राहीगण की श्रीअद्वैत के आनुगत्य में गौरभक्ति,
असारगणों के द्वारा स्वतन्त्रभाव में गौरविरोध—

केह त' आचार्येर आज्ञाय, केह त' स्वतन्त्र।
स्वमत कल्पना करे दैव-परतन्त्र॥९॥

९। प० अनु०—कोई आचार्य की आज्ञा से, तो कोई स्वतन्त्र-भाव से दैवाधीन होकर स्वमत की कल्पना करने लगा।

आचार्य का आनुगत्य ही सार, अन्यथा असार—

आचार्येर मत येइ, सेइ मत सार।
ताँर आज्ञा लंघि चले, सेइ त' असार॥१०॥

१०। प० अनु०—जो आचार्य का मत है वही सार मत है। अन्य जो उनकी आज्ञा उल्लंघन कर चलते हैं वे सब असार मत वाले हैं।

अभक्त श्रीअद्वैत के दासाभिमानियों
के उल्लेख का कारण एवं दृष्टान्त—

असारेर नामे इहा नाहि प्रयोजन।
भेद जानिवारे करि एकत्र गणन॥११॥
धान्यराशि मापे यैछे पात्ना सहिते।
पश्चाते पात्ना उड़ाञा संस्कार करिते॥१२॥

११-१२। प० अनु०—असारग्राहियों के नामों का यहाँ प्रयोजन नहीं है। केवल भेद जानने के लिये एकसाथ गिनती की गई है। जिस प्रकार धान्य को छिलके के साथ तोला जाता है परन्तु बाद में छिलके को त्यागकर धान्य को ही ग्रहण किया जाता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

८-१२। पहले श्रीअद्वैतप्रभु के सभी अनुयायी एकमत थे; परन्तु बाद में कुछ लोग दैव इच्छा से पृथक् मतावलम्बी हो गये। जो आचार्य के मतानुसार चले, वे शुद्धवैष्णव हैं। जो दैव-परतन्त्र होकर आचार्य के द्वारा उपदष्टि मत से अलग अन्य किसी प्रकार के अपने-अपने मतों के कल्पना करने लगे, वे असारग्राही हैं। असार व्यक्तियों के नामों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। तथापि सारग्राही वैष्णवों को असारवाहियों से अलग रखने की इच्छा से एकसाथ गिनती करके जैसे धान के छिलके को पृथक् करने के समान उल्लेख कर रहा हूँ। अन्न-रहित असार धान (भूसी) को पातना कहते हैं।

(१) अच्युतानन्द-शाखा—

अच्युतानन्द-बड़ शाखा, आचार्य-नन्दन।
आजन्म सेविला तेहों चैतन्यचरण॥१३॥

१३। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य के पुत्र श्रीअच्युतानन्द, श्रीअद्वैत स्कन्द की एक बड़ी शाखा है। इन्होंने जीवन भर श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों की सेवा की।

अच्युत के गुणवर्णन—

चैतन्य गोसाञिर गुरु—केशव भारती।
एइ पितार वाक्य शुनि' दुःख पाइल अति॥१४॥
जगद्गुरुते तुमि कर ओइछे उपदेश।
तोमार एइ उपदेशे नष्ट हइल देश॥१५॥
चौद्द भुवनेर गुरु—चैतन्य-गोसाञि।
ताँर गुरु—अन्य, एइ कोन शास्त्रे नाइ॥१६॥
पञ्चम वर्षेर बालक कहे सिद्धान्तेर सार।
शुनिया पाइला आचार्य सन्तोष अपार॥१७॥

१४-१७। प० अनु०—'श्रीचैतन्य गोसाईं के गुरु केशव भारती हैं।' पिता के यह वचन सुनकर अच्युतानन्द को बहुत दुःख हुआ। (तब उन्होंने श्रीअद्वैताचार्य से कहा) 'जगद्गुरु (श्रीचैतन्य महाप्रभु) के विषय में आप इस प्रकार कह रहे हैं, आपके इस उपेदश से देश का सर्वनाश हो जायेगा। श्रीचैतन्य गोसाईं चौदह भुवनों के गुरु हैं; उनका कोई दूसरा गुरु है; यह बात किसी भी शास्त्र में नहीं है। पाँच वर्ष के बालक के मुख से ऐसे सिद्धान्त के सार वचन को सुनकर आचार्य परम सन्तुष्ट हुए।

अनुभाष्य

१३-१७। अच्युतानन्द—श्रीअद्वैतप्रभु के ज्येष्ठ-पुत्र हैं। श्रीचैतन्यभागवत के अन्त्यखण्ड के नवम अध्याय में लिखित है—"अद्वैतेर ज्येष्ठपुत्र श्रीअच्युतानन्द।" संस्कृत भाषा में लिखित "अद्वैतचरित" ग्रन्थ में उल्लिखित है कि, "अच्युतः कृष्णमिश्रश्च गोपालदास एव च। रत्नत्रयमिदं प्रोक्तं सीतागर्भाब्धि-संभवम्। आचार्यतन-येष्वेते त्रयो गौरगणाः स्मृताः॥ चतुर्थो बलरामश्च स्वरूपः पञ्चम स्मृतः। षष्ठस्तु जगदीशाख्य आचार्य-तनया हि षट्॥

अतः श्रीअद्वैतप्रभु के गौरभक्त तीनों पुत्रों में से श्रीअच्युतानन्द ही ज्येष्ठ हैं। श्रीअद्वैतप्रभु का विवाह पंचदश शक-शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ है। श्रीमन् महाप्रभु ने जिस वर्ष नीलाचल से रामकेलि होते हुए वृन्दावन जाने का मन बनाया उसी वर्ष अर्थात् १४३३-३४ शकाब्द में अच्युतानन्द केवल पाँच वर्ष के थे। चैःभाः अन्त्यखण्ड के चतुर्थ अध्याय में वे "पंचवर्ष वयस मधुर दिगम्बर" के रूप में उक्त हैं। इसलिये अच्युतानन्द ने १४२८ शकाब्द में जन्मग्रहण किया है। अच्युत के जन्म से पहले श्रीमन् महाप्रभु के जन्म के समय श्री अद्वैतपत्नी सीतादेवी प्रभु के जन्म के उपरान्त उन्हें देखने के लिये आयी थीं। अतः २१ वर्षों में उनके और भी तीन पुत्र होने की असंभावना नहीं है। 'नित्यानन्ददायिनी' पत्रिका का मुद्रण १७९२ शकाब्द में हुआ। उसमें प्राकृत सहजिया सखीभेखी-गुट के लोकनाथ दास नामक किसी एक व्यक्ति ने 'सीताद्वैतचरित' नामक एक बङ्गला कविता ग्रन्थ में अच्युतानन्द को श्रीमन् महाप्रभु के सहपाठी के रूप में वर्णित किया है; यह बात चैतन्यभागवत के विरुद्ध है। श्रीमन् महाप्रभु जिस वर्ष संन्यास ग्रहणकर शान्तिपुर में श्रीअद्वैत के भवन आये तब १४३१ शकाब्द था, तब अच्युतानन्द तीन वर्ष के बालक थे—(चैःभाः अन्त्य, १म अः) "दिगम्बर शिशुरूप अद्वैत-तनय। आसिया पड़िला गौरचन्द्र-पदतले। धूलार सहित प्रभु लइलेन कोले॥ प्रभु बले,—अच्युत, आचार्य मोर पिता। से सम्बन्धे तोमाय आमाय (हइ) दुइ भ्राता॥" श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीनवद्वीप में अपने महा प्रकाश से पहले श्रीअद्वैत को ले आने के लिये श्रीराम पण्डित को शान्तिपुर में भेजा था। उस समय अच्युतानन्द भी पिता-माता के साथ आनन्द-क्रन्दन में डूब गये थे। "अद्वैतेर तनय अच्युतानन्द नाम। परम बालक, सेहो कान्दे अविराम॥" फिर श्री अद्वैतप्रभु जब भक्ति के विरुद्ध ज्ञान की व्याख्या कर रहे थे, और श्रीमन् महाप्रभु उन पर प्रहार कर रहे थे, तब भी अच्युतानन्द उपस्थित थे। प्रभु के संन्यास के २/३ वर्ष पहले हुईं ये सारी घटनाएँ स्वीकार करनी ही पड़ेगी। (चैःभाः मध्य, १९ अः)—"अच्युत प्रणाम करे अद्वैत-तनय।" श्रीअच्युत बाल्यकाल से ही श्रीमन् महाप्रभु के भक्त थे। इन्होंने पत्नी ग्रहणकर कभी संसार धर्म का पालन किया है, ऐसी कोई भी बात नहीं सुनी जाती है। श्रीअद्वैत-शाखा के वर्णन में इनका नाम शिष्यों में अग्रणी है। श्रीयदुनन्दनदास के द्वारा रचित श्रीगदाधर पण्डित

गोस्वामी की "शाखानिर्णयामृत" ग्रन्थ के माध्यम से हम जान सकते हैं कि, अच्युतानन्द ठाकुर गदाधर के शिष्य एवं शाखा हैं—"महारसामृतनन्दमच्युतानन्दनामकम्। गदाधर-प्रियतमं श्रीमदद्वैतनन्दनन्दम्॥" अच्युतानन्द ने नीलाचल में श्रीमन् महाप्रभु का चरण आश्रय करके भजन किया। (आदि १०मपः)— "अच्युतानन्द—अद्वैत आचार्यतनय। नीलाचले रहे प्रभुर चरण आश्रय॥" श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी ने अपना शेष जीवन श्रीमन् महाप्रभु के निकट नीलाचल में व्यतीत किया; इसी कारण से यह देखने में आता है कि अच्युतानन्द आदि श्रीअद्वैतप्रभु की वास्तविक सेवक-मण्डलिय में से अनेकों ने श्रीगदाधर का चरण आश्रय किया था। इस बात का निदर्शन है कि, अच्युतानन्द, श्रीमन् महाप्रभु के प्रति बाल्यकाल से ही प्रबल भक्ति-अनुरागी थे। प्रत्येक वर्ष जगन्नाथ रथ के सामने (श्रीमन् महाप्रभु के) नृत्य-कीर्तन के समय भी हम प्रभु के प्रिय अच्युतानन्द का वर्णन सर्वत्र देखते हैं।—आदि, १३पः ४५२ द्रष्टव्य है। "शान्तिपुर आचार्येर एक सम्प्रदाय। अच्युतानन्द नाचे ताहा, आर सब गाय॥" इस समय बालक की आयु केवल ६ वर्ष की थी। श्रीकविकर्णपूर के द्वारा रचित श्रीगौरगणोद्देशदीपिका में अच्युतानन्द 'श्रीगदाधर के शिष्य एवं श्रीकृष्णचैतन्य के प्रिय' के रूप में कीर्तित हैं। किसी ने उन्हें 'कार्तिक' और किसी ने उन्हें 'अच्यु-ता'—नाम की गोपी के रूप में निर्देशित किया है। ग्रन्थकार के मतानुसार दोनों मतों ही समीचीन (उचित) है। "तस्य पुत्रोऽच्युतानन्दः कृष्णचैतन्यवल्लभः। श्रीमत् पण्डित गोस्वामी-शिष्यः प्रिय इति श्रुतम्॥ यः कार्त्तिकेयः प्रागा-सीत् इति जल्पन्ति केचन। केचिदाहु रसविदोऽच्युता नाम्नी तु गोपिका। उभयन्तु समीचीनं द्वयोरेकत्र संङ्गतात्॥" श्रीनरहरिदास के द्वारा प्रणीत 'नरोत्तम-विलास' ग्रन्थ में खेतरि-महोत्सव के समय श्रीअच्युतानन्द के आगमन एवं योगदान की कथा सविस्तार वर्णित है। जननी श्रीसीता और श्रीजाह्नवा के अनुरोध से नितान्त असमर्थ होने पर भी वे महोत्सव के समय उपस्थित थे। इन्हीं नरहरिदास के मतानुसार जीवन के अन्तिम क्षणों में उन्होंने शान्तिपुर के भवन में वास किया था; परन्तु ऐसा जाना जाता है कि, श्रीमन् महाप्रभु के प्रकटकाल में वह श्रीमन् महाप्रभु के साथ एवं बाद में श्रीगदाधर के निकट पुरी में वास किया था। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि विवाह न करने के कारण उनकी कोई सन्तान नहीं थी।

(२) कृष्णमिश्र—

कृष्णमिश्र-नाम आर आचार्य-तनय।
चैतन्य-गोसाञि बैसे याँहार हृदय॥१८॥

१८। प० अनु०—कृष्णमिश्र नाम के श्रीआचार्य के एक और पुत्र हैं। इनके हृदय में श्रीचैतन्य गोसाईं सदा वास करते हैं।

अनुभाष्य

१८। कृष्णमिश्र—संस्कृतभाषा में लिखित 'अद्वैत-चरित' ग्रन्थ में—"अच्युतः कृष्णमिश्रश्च गोपालदास एव च। रत्नत्रयमिदं प्रोक्तं सीता-गर्भाब्धिसम्भवम्॥" श्री अद्वैतप्रभु के छह पुत्रों में से 'अच्युत, कृष्णमिश्र और गोपाल'—ये तीनों भाई श्रीगौराङ्ग महाप्रभु के दास्य में नियुक्त थे। गौःगः ८८ श्लोक—"कार्त्तिकेयः कृष्णमिश्र-स्ततसाम्यादिति केचन।" कृष्णमिश्र के दो पुत्र थे—(१) रघुनाथ चक्रवर्त्ती, (२) दोलगोविन्द। इनमें से रघुनाथ का वंश शान्तिपुर के मदनगोपाल के मोहल्ला में गणकर, मिर्जापुर और कुमारखालि में वर्तमान है। दोलगोविन्द के तीन पुत्र थे—(१) चाँद, (२) कन्दर्प, (३) गोपीनाथ। कन्दर्प का वंश मालदह जिकावाड़ी में है। गोपीनाथ के तीन पुत्र—(१) श्रीवल्लभ, (२) प्राणवल्लभ और (३) केशव थे। श्रीवल्लभ का वंश मशियाडारा (महिषडेरा?) दामुकदिया और चण्डीपुर आदि स्थानों पर विराजमान है। श्रीवल्लभ के ज्येष्ठपुत्र गङ्गानारायण से मशियाडारा की वंश-धारा एवं कनिष्ठ पुत्र रामगोपाल से दामुकदिया, चण्डीपुर, शोलमारि आदि गाँवों की वंशधारा है। प्राण-वल्लभ और केशव का वंश उथली में वास कर रहा है। प्राणवल्लभ के पुत्र रत्नेश्वर, उनके पुत्र कृष्णराम, उनके कनिष्ठ सन्तान लक्ष्मीनारायण, उनके पुत्र नवकिशोर, उनके द्वितीय पुत्र राममोहन की ज्येष्ठ सन्तान 'जगबन्धु'

और तृतीय पुत्र 'वीरचन्द्र' ने भिक्षुकाश्रम स्वीकार करके काटोया में श्रीमन् महाप्रभु के विग्रह की स्थापना की। लोग इन्हें 'बड़ेप्रभु' और 'छोटेप्रभु' कहते थे। इन्होंने ही श्रीनवद्वीपधाम-परिक्रमा का प्रवर्त्तन किया था। कृष्ण मिश्र की पूर्ण वंशतालिका के बारे में वैष्णवमंजुषा के चतुर्थ संख्या में "अद्वैत-वंश" द्रष्टव्य है।

(३) गोपाल का बाल-चरित्र—

श्रीगोपाल नामे आर आचार्येर सुत।
ताँहार चरित्र, शुन, अत्यन्त अद्भुत॥१९॥
गुंडिचा-मन्दिरे महाप्रभुर सम्मुखे।
कीर्तने नर्त्तन करे बड़ प्रेमसुखे॥२०॥
नाना-भावोदगम देहे अद्भुत नर्त्तन।
दुइ गोसाञि 'हरि' बले आनन्दित मन॥२१॥
नाचिते नाचिते गोपाल हइल मूर्च्छित।
भुमेते पड़िल, देहे नाहिक संवित॥२२॥
दुःखित हइला आचार्य पुत्र कोले लञा।
रक्षा करे नृसिंहेर मन्त्र पड़िया॥२३॥
नाना मन्त्र पड़ेन आचार्य, ना हय चेतन।
आचार्येर दुःखे वैष्णव करेन क्रन्दन॥२४॥
तबे महाप्रभु ताँर हृदे हस्त धरि'।
'उठह, गोपाल—बल बल 'हरि' 'हरि'॥२५॥
उठिल गोपाल प्रभुर स्पर्श-ध्वनि शुनि'।
आनन्दित हञा सबे करे हरिध्वनि॥२६॥
आचार्येर आर पुत्र—श्रीबलराम।
आर पुत्र—'स्वरूप'-शाखा 'जगदीश' नाम॥२७॥

१९-२७। प० अनु०—श्रीगोपाल नाम के आचार्य के एक और पुत्र हैं। अब इनके अत्यन्त अद्भुत चरित्र को श्रवण कीजिये। एक समय वे गुण्डिचा मन्दिर में श्रीमन् महाप्रभु के सामने कीर्तन करते हुए बड़े प्रेमसुख से नृत्य कर रहे थे। नृत्य के समय उनके शरीर में अनेक भावों का उद्गम हो रहा था। जिसे देखकर श्रीचैतन्य एवं श्रीअद्वैत गोसाईं आनन्दित मन से 'हरि' बोल रहे थे। नाचते-नाचते गोपाल मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े तथा शरीर चेतना रहित हो गया। दुःखी होकर आचार्य ने पुत्र को गोद में लिया और नृसिंह मन्त्र का उच्चारण करके उसकी रक्षा करने लगे। आचार्य के द्वारा अनेक मन्त्र पढ़ने पर भी जब बालक को चेतना न आयी तो आचार्य का दुःख देखकर सभी वैष्णव भी क्रन्दन करने लगे। तब श्रीमन् महाप्रभु ने गोपाल के हृदय पर हाथ रखकर कहा, 'उठो गोपाल'! 'हरि' 'हरि' बोलो। प्रभु के हाथों का स्पर्श और उनकी ध्वनि को सुनते ही गोपाल उठ बैठे और सभी आनन्दित होकर हरिध्वनि करने लगे। आचार्य के और पुत्र श्रीबलराम 'स्वरूप' और उन्हीं की शाखा कहलाने वाले (छटे पुत्र का) नाम 'जगदीश' है।

अनुभाष्य

१९। गोपाल—श्रीअद्वैतप्रभु के तीन वैष्णव-पुत्रों में से एक हैं। मध्य, १२पः १४३-१४९ संख्या द्रष्टव्य है।

२२। सम्वित—संविद् ज्ञान।

२७। बलराम, स्वरूप और जगदीश—संस्कृत 'अद्वैत चरित' ग्रन्थ में—"चतुर्थो बलरामश्च स्वरूपः पंचमः स्मृतः। षष्ठस्तु जगदीशाख्य आचार्यतनया हि षट्॥" ये तीनों गौर विमुख स्मार्त्त अथवा मायावादी हैं, अतः अवैष्णव हैं। बलराम की तीन पत्नियों के गर्भ से नौ पुत्रों का जन्म हुआ। प्रथम पक्ष के कनिष्ठ सन्तान मधुसूदन ने 'गोसाईं भट्टाचार्य' नाम से विख्यात होकर स्मार्त्तधर्म को स्वीकार किया। इनके पुत्र राधारमण ने 'गोस्वामी भट्टाचार्य' नाम ग्रहण करके त्यक्तगृह (गृहत्यागी) के लिये योग्य पदवी 'गोस्वामी' शब्द की अवमानना की और स्मार्त्त रघुनन्दन के आनुगत्य में श्रीअद्वैतप्रभु की 'कुश-पुत्तलिका' का दहन करके प्रेत या राक्षस श्राद्धकार्य को करके श्रीहरिभक्तिविलासादि विष्णु-भक्तिपरक स्मृति के विरुद्ध आचरण करके मूर्खता एवं महापराध का प्रदर्शन किया। शुद्धभक्त न होते हुये भी कुछ ग्रन्थ और कुछ मूल ग्रन्थों की टीका की रचना की। वे सब शुद्धभक्त के लिये आदरणीय नहीं है। बलराम की वंशतालिका—मंजुषा (चतुर्थ संख्या में) द्रष्टव्य है।

(४) कमलाकान्त—

'कमलाकान्त विश्वास'—नाम आचार्य-किंकर।
आचार्य-व्यवहार सब—ताँहार गोचर॥२८॥

२८। प॰ अनु॰—'कमलाकान्त विश्वास' नामक आचार्य के एक किंकर हैं, जो आचार्य की व्यवहार कुशलता के सम्बन्ध में सब जानते थे।

अनुभाष्य

२८। कमलाकान्त विश्वास—आदि, १०म प:१४९ संख्या में लिखित 'कमलानन्द' एवं मध्य १०म प:९४ संख्या में लिखित 'कमलाकान्त' सम्भवत: एक ही व्यक्ति हैं। विश्वास कमलाकान्त—आदि १०म प:११९ संख्या में लिखित नाम के व्यक्ति के साथ एक है। कमलाकान्त-ब्राह्मण प्रभु के निजगण हैं। कमलाकान्त विश्वास—श्रीअद्वैतप्रभु के सेवक होकर प्रभु के गण हैं। श्रीपरमानन्द-पुरी नवद्वीप से नीलाचल आते समय नवद्वीपवासी ब्राह्मण कमलाकान्त को अथवा कमलानन्द को साथ लेकर नीलाचल आये। मध्य १०म प:९४—"प्रभुर एकभक्त 'द्विज कमलाकान्त' नाम। ताँरे लइया नीलाचले करिला प्रयाण॥"

कमलाकान्त का चरित्र—

नीलाचले तिंहो एक पत्रिका लिखिया।
प्रतापरुद्रेर स्थाने दिल पाठाइया॥२९॥
सेइ पत्रीर कथा आचार्य नाहि जाने।
कोन पाके सेइ पत्री आइल प्रभुस्थाने॥३०॥

२९-३०। प॰ अनु॰—एक बार उन्होंने एक पत्रिका लिखकर नीलाचल में प्रतापरुद्र के पास भेज दी। आचार्य उस पत्र के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते थे। परन्तु किसी प्रकार से वह पत्रिका प्रभु के पास आ पहुँची।

कमलाकान्त के पत्र में
बाउल-मत—

से पत्रीते लेखा आछे,—एइ त' लिखन।
ईश्वरत्वे आचार्येरे क'रेछे स्थापन॥३१॥
किन्तु ताँर दैवे किछु हइयाछे ऋण।
ऋण शोधिवारे चाहि मुद्रा शत-तिन॥३२॥
पत्र पड़िया प्रभुर मने हैल दुःख।
बाहिरे हासिया किछु बले चाँदमुख॥३३॥
आचार्येरे स्थापियाछे करिया ईश्वर।
इथे दोष नाहि, आचार्य—दैवत ईश्वर॥३४॥

३१-३४। प॰ अनु॰—उस पत्रिका में लिखा है कि, श्रीअद्वैताचार्य स्वरूपतः ईश्वर हैं। परन्तु दैववश उन पर कुछ ऋण हो गया है। उस ऋण को चुकाने के लिये तीन सौ मुद्राओं की आवश्यकता है। पत्र पढ़कर श्रीमन् महाप्रभु के मन में दुःख हुआ, परन्तु बाहर में हँसकर चन्द्रमुख प्रभु ने कहा—'आचार्य को ईश्वर के रूप में स्थापित किया है। इसमें कोई भी दोष नहीं है, आचार्य वस्तुतः ईश्वर ही हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

३४। दैवत ईश्वर—वस्तुतः ईश्वर।

षड़ैश्वर्यशाली नारायण को जीव समझकर
दरिद्रबुद्धि करना ही मायावाद अथवा बाउल मत—

ईश्वरेर दैन्य करि' करियाछे भिक्षा।
अतएव दण्ड करि' कराइब शिक्षा॥३५॥

३५। प॰ अनु॰—ईश्वर को दीन बनाकर कमलकान्त ने जो भिक्षा माँगी है। उसके लिए मैं उसे दण्ड देकर शिक्षा दूँगा।

अनुभाष्य

३५। ईश्वरेर दैन्य करि'—ईश्वर को दीन बनाकर।

बाउलिया को दण्ड—

गोविन्देरे आज्ञा दिल,—'इहाँ आजि हैते।
बाउलिया 'विश्वासे' एथा ना दिबे आसिते'॥३६॥
दण्ड शुनि' 'विश्वास' हइल परम दुःखित।
शुनिया प्रभुर दण्ड आचार्य हरषित॥३७॥

३६-३७। प॰ अनु॰—श्रीमन् महाप्रभु ने गोविन्द को आदेश दिया,—'आज से उस बाउलिया (पागल) 'विश्वास' को यहाँ मत आने देना।' इस प्रकार के दण्ड को सुनकर 'विश्वास' परम दुःखित हुये। किन्तु श्रीअद्वैत-प्रभु इस दण्ड को सुनकर हर्षित हुए।

अमृतप्रवाह भाष्य

३६। बाउलिया विश्वास,—कमलाकान्त विश्वास का सिद्धान्त (बाउल अर्थात्) पागल की भाँति होने के कारण उन्हें 'बाउलिया विश्वास' कहा गया है।

अनुभाष्य

३६। विश्वासे—कमलाकान्त विश्वास को।

श्रीअद्वैतप्रभु के द्वारा
उनको सान्त्वना-दान—

विश्वासेरे कहे,—तुमि बड़ भाग्यवान्।
तोमारे करिल दण्ड प्रभु भगवान्॥३८॥
पूर्वे महाप्रभु, मोरे करेन सम्मान।
दुःख पाइ' मने आमि कैलुं अनुमान॥३९॥
मुक्ति—श्रेष्ठ करि' कैनु वाशिष्ठ व्याख्यान।
क्रुद्ध हइया प्रभु मोरे कैल अपमान॥४०॥
दण्ड पाञा हैल मोर परम आनन्द।
ये दण्ड पाइल भाग्यवान् श्रीमुकुन्द॥४१॥
ये दण्ड पाइल श्रीशची भाग्यवती।
से दण्ड-प्रसाद आर लोक पाबे कति॥४२॥
एत कहि' आचार्य ताँरे करिया आश्वास।
आनन्दित हइया आइल महाप्रभु-पाश॥४३॥

३८-४३। प० अनु०—श्रीअद्वैतप्रभु ने कमलाकान्त विश्वास को कहा,—तुम बड़े भाग्यवान् हो, क्योंकि भगवान् ने तुम्हें दण्ड दिया है। पहले श्रीमन् महाप्रभु मेरा बहुत सम्मान करते थे तब दु:खित होकर मैंने मन में कुछ अनुमान लगाया। मैंने वशिष्ठ की व्याख्या करते हुए मुक्ति को श्रेष्ठ बताया यह सुनकर श्रीमन् महाप्रभु मुझ पर क्रोधित होकर मेरा अपमान करने लगे। इस प्रकार दण्ड को पाकर मैं परम आनन्दित हुआ। जिस दण्ड को पाकर श्रीमुकुन्द भी भाग्यवान बने एवं जिस दण्ड को भाग्यवती श्रीशचीदेवी ने भी प्राप्त किया। उस दण्ड प्रसाद को और कोई क्या प्राप्त करेगा। ऐसा कहकर श्री अद्वैतप्रभु ने कमलाकान्त विश्वास को आश्वासन दिया और वे आनन्दित होकर श्रीमन् महाप्रभु के निकट चले आये।

अमृतप्रवाह भाष्य

४०। अद्वैतप्रभु ने योगवाशिष्ट की व्याख्या करते-करते किसी छल से मुक्ति को भक्ति से श्रेष्ठ कहा था।

अनुभाष्य

४०। वाशिष्ठ—योगवाशिष्ट रामायण—यह विष्णु-भक्ति-विरोधी मायावाद अथवा ब्रह्म-सायुज्यरूप निर्वाण-मोक्ष के प्रतिपादक हैं, इसलिये शुद्धभक्तों के लिये अध्ययन योग्य नहीं है।

४०-४२। अद्वैतदण्ड—चैः भाः मध्य, १९अः, मुकुन्द-दण्ड—चैः भाः मध्य, १०अः एवं शचीमाता का दण्ड—चैः भाः मध्य २२ अध्याय द्रष्टव्य है।

कमलाकान्त का दण्ड देखकर
प्रभु के प्रति श्रीअद्वैत के वचन—

प्रभुके कहेन,—तोमार ना बुझि ए लीला।
आमा हइते प्रसादपात्र करिला कमला॥४४॥
आमारेह कभु येइ ना हय प्रसाद।
तोमार चरणे आमि कि कैनु अपराध॥४५॥

४४-४५। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य ने श्रीमन् महाप्रभु से कहा,—आपकी यह लीला समझ में नहीं आती। मुझसे भी बड़कर कमलाकान्त को कृपापात्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुझ पर ऐसी कृपा कभी नहीं हुई। मैंने आपके चरणों में क्या अपराध किया है।

श्रीमन् महाप्रभु की हँसी एवं कृपा—

एत शुनि' महाप्रभु हासिते लागिला।
बोलाइया कमलाकान्ते प्रसन्न हइला॥४६॥

४६। प० अनु०—यह सुनकर श्रीमन् महाप्रभु हँसने लगे और प्रसन्न होकर कमलाकान्त को बुलाने लगे।

अद्वैत की उक्ति—

आचार्य कहे,—इहाके केने दिले दरशन।
दुइ प्रकारेते करे मोरे विडम्बन॥४७॥
शुनिया प्रभुर मन प्रसन्न हइल।
दुँहार अन्तर-कथा दुँहे से जानिल॥४८॥

४७-४८। प० अनु०—आचार्य ने कहा,—आपने इसे दर्शन क्यों दिया? इसने दो प्रकार से मेरी विडम्बना की है। यह सुनकर प्रभु का मन प्रसन्न हुआ। दोनों एक-दूसरे के मन के भाव को जान गये।

अनुभाष्य

४७। वह मुझे अप्राकृत नारायण कहता है, फिर कार्यवशः मुझे प्राकृत अर्थभिक्षु दरिद्र भी समझता है।

बाउलिया के प्रति महाप्रभु की उक्ति—

प्रभु कहे,—बाउलिया, ओइछे केने कर।
आचार्येर लज्जा-धर्म-हानि से आचर॥४९॥

४९। प० अनु—प्रभु ने कहा,—बाउलिया (पागल)! ऐसा क्यों करते हो? इस प्रकार का आचरण करने से आचार्य की लज्जा-धर्म की हानि होती है।

प्रभु के द्वारा वैष्णव-आचार्य
का कर्त्तव्य-निर्णय—

प्रतिग्रह कभु ना करिबे राजधन।
विषयीर अन्न खाइले दुष्ट हय मन॥५०॥
मन दुष्ट हइले नहे कृष्णेर स्मरण।
कृष्णस्मृति बिना हय निष्फल जीवन॥५१॥
लोकलज्जा हय, धर्म-कीर्त्ति हय हानि।
ओइछे कर्म ना करिह कभु इहा जानि॥५२॥

५०-५२। प० अनु—कभी भी राजधन की भिक्षा स्वीकार मत करना। विषयी का अन्न खाने से मन दुष्ट हो जाता है और दुष्ट मन होने से श्रीकृष्ण का स्मरण नहीं होता और कृष्णस्मृति के बिना जीवन निष्फल हो जाता है। इससे न केवल लोकलज्जा होती है, परन्तु धर्म एवं कीर्त्ति की भी हानि होती है। यह सब जानकर ऐसा कर्म कभी मत करना।

श्रीअद्वैत का आनन्द—

एइ शिक्षा सबाकारे, सबे मने कैल।
आचार्य-गोसाञि मने आनन्द पाइल॥५३॥

५३। प० अनु—यह शिक्षा सब के लिये है, सभी ने इसे हृदय में ग्रहण किया। यह देखकर आचार्य गोसाईं के मन में आनन्द हुआ।

अमृतप्रवाह भाष्य

४९-५३। कमलाकान्त ने श्रीअद्वैत आचार्य को 'ईश्वर' के रूप में स्थापित करके राजा के पास से धन माँगा था। इस प्रकार के कार्य करने से श्रीमन् महाप्रभु नितान्त असंतुष्ट हुये। आचार्य के 'ईश्वर' होने पर भी उनकी जगत्-शिक्षकतारूप मानवलीला प्रसिद्ध है। ऋणग्रस्त होकर राजा के पास से धन माँगना आचार्य के लिये निर्लज्ज व्यवहार है। अर्थ की लालसा सर्वतोभावेन त्यागयोग्य है और फिर परदेसी राजा के पास कर्ज चुकाने के लिये अर्थ की लालसा का प्रकाशन करने पर धर्म की हानि होती है। राजा स्वभाविक रूप से विषयी होते हैं। विषयी का अन्न खाने से चित्त दुष्ट होता है; चित्त दुष्ट हो जाने से कृष्णस्मृति का अभाव होता है, जिससे जीवन निष्फल हो जाता है। सभी के लिये यह निषिद्ध है, विशेषतः धर्माचार्यों के लिये यह विशेषरूप से निषिद्ध है। नामोपदेश (नाम का उपदेश करना)—आचार्य का कर्त्तव्य है, परन्तु धन लेकर जो लोग नाम का उपदेश करते हैं, वे सब 'नामोपदेष्टा' पद के योग्य नहीं है, बल्कि नामापराधी है। इस अवस्था में ऐसा करना विशेषरूप से निषिद्ध है। नामोपदेशक आचार्य के द्वारा भिक्षा माँगने से लोकलज्जा और धर्म-कीर्त्ति की नितान्त हानि होती है।

श्रीमन् महाप्रभु और श्रीअद्वैतप्रभु—एक दूसरे के मर्मज्ञ—

आचार्येर अभिप्राय प्रभुमात्र बुझे।
प्रभुर गम्भीर वाक्य आचार्य समुझे॥५४॥
एइ त' प्रस्तावे आछे बहुल विचार।
ग्रन्थ-बाहुल्येर भये नारि लिखिवार॥५५॥

५४-५५। प० अनु०—आचार्य के अभिप्राय को केवल प्रभु ही समझते हैं और प्रभु के गम्भीर वचन को आचार्य ही समझते हैं। इस सम्बन्ध में अनेक विचार हैं। परन्तु ग्रन्थ के बड़े हो जाने के भय से यहाँ उल्लेख नहीं कर रहा हूँ।

(५) यदुनन्दनाचार्य-शाखा—

श्रीयदुनन्दनाचार्य—अद्वैतेर शाखा।
ताँर शाखा-उपशाखा-गणेर नाहि लेखा॥५६॥
वासुदेव दत्तेर तेंहो कृपार भाजन।
सर्वभावे आश्रियाछे चैतन्य-चरण॥५७॥

५६-५७। प॰ अनु॰—श्रीयदुनन्दनाचार्य श्रीअद्वैताचार्य के शाखा में गिने जाते हैं। इनकी शाखा और उपशाखाओं में जितने भक्त हैं उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। ये यदुनन्दनाचार्य श्रीवासुदेव दत्त के कृपापात्र हैं एवं सर्वभाव से श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों को आश्रय लिए हुए हैं।

अनुभाष्य

५७। यदुनन्दनाचार्य—श्रीरघुनाथदास गोस्वामी प्रभु के पाञ्चरात्रिक-दीक्षागुरु हैं। अन्त्य, षष्ठ प: १६०-१६९ संख्या द्रष्टव्य है।

वासुदेवदत्त—व्रज के मधुव्रत गायक है। गौ:ग: १४० श्लोक और आदि, १०म प: ४१ संख्या द्रष्टव्य है।

(६) भागवताचार्य, (७) विष्णुदास,
(८) चक्रपाणि, (९) अनन्त आचार्य—

भागवताचार्य, आर विष्णुदासाचार्य।
चक्रपाणि आचार्य, आर अनन्त आचार्य॥५८॥

५८। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैतप्रभु के गणों में भागवताचार्य, विष्णुदासाचार्य, चक्रपाणि आचार्य और अनन्त आचार्य भी हैं।

अनुभाष्य

५८। भागवताचार्य—पहले श्रीअद्वैतप्रभु के गणों में, पश्चात् श्रीगदाधर के गणों में प्रविष्ट हुये। यदुनन्दनदास के द्वारा लिखित शाखा-निर्णयामृत ग्रन्थ के षष्ठ श्लोक में—"वन्दे भागवताचार्यं गौराङ्ग प्रियपात्रकम्। येनाकारि महाग्रन्थों नाम्ना 'प्रेमतरंगिणी'॥" गौ:ग: १९५ और २०२। ये व्रज की श्वेतमंजरी हैं। आदि १०म प:११३ द्रष्टव्य है।

विष्णुदासाचार्य—खेतरी-महोत्सव के समय अच्युतानन्द प्रभु के साथ गये थे (भक्तिरत्नाकर की दशम तरङ्ग द्रष्टव्य है)।

अनन्त आचार्य—व्रज की अष्टसखियों में से 'सुदेवी' हैं। ये श्रीअद्वैतप्रभु के गणों में रहने पर भी, पश्चात् गदाधर-शाखा में प्रविष्ट हुये। गौ:ग: १६५—"अनन्ताचार्य गोस्वामी या 'सुदेवी' पुरा व्रजे।" आदि, ८म प:५९-६० संख्या द्रष्टव्य है। शाखानिर्णयामृत में ११ श्लोक—"वन्देऽनन्ताद्धुतरसमनन्ताचार्य संज्ञकम्। लीलानन्तादूभुतमयं गौरप्रेम्नो हि भाजनम्॥" इनके शिष्य हरिदास पण्डित गोस्वामी—वृन्दावन में श्रीगोविन्द-सेवा के अध्यक्ष थे। इनके शिष्य—श्रीराधाकृष्ण गोस्वामी 'साधनदीपिका' ग्रन्थ के रचयिता हैं। (भ:र:सि: २य तरङ्ग)।

(१०) नन्दिनी, (११) कामदेव, (१२) चैतन्यदास,
(१३) दुर्लभविश्वास, (१४) वनमालिदास—

नन्दिनी, आर कामदेव, चैतन्यदास।
दुर्लभ विश्वास, आर वनमालि दास॥५९॥

५९। प॰ अनु॰—नन्दिनी, कामदेव, चैतन्य-दास, दुर्लभ विश्वास और वनमालिदास श्रीअद्वैतप्रभु के गणों में गिने जाते हैं।

अनुभाष्य

५९। नन्दिनी—गौ:ग: ८९—"नन्दिनी जंगली ज्ञेया जया च विजया क्रमात्।" सीता-गर्भजात अद्वैत-कन्या (?)

(१५) जगन्नाथ और (१६) भवनाथ कर;
(१७) हृदयानन्द, (१८) भोलानाथ—

जगन्नाथ कर, आर कर भवनाथ।
हृदयानन्द सेन, आर दास भोलानाथ॥६०॥

६०। प॰ अनु॰—जगन्नाथकर, भवनाथकर, हृदयानन्दसेन और भोलानाथदास श्रीअद्वैतप्रभु के गणों में है।

(१९) यादव, (२०) विजय, (२१) जनार्दन,
(२२) अनन्तदास, (२३) कानुपण्डित, (२४) नारायण—

यादवदास, विजयदास, जनार्दन।
अनन्तदास, कानुपण्डित, दास नारायण॥६१॥

६१। प॰ अनु॰—यादवदास, विजयदास, जनार्दन,

अनन्तदास, कानुपण्डित और नारायण-दास श्रीअद्वैत-शाखा में है।

(२५) श्रीवत्स, (२६) हरिदास ब्रह्मचारी,
(२७) पुरुषोत्तम और (२८) कृष्णदास ब्रह्मचारी—

श्रीवत्स पण्डित, ब्रह्मचारी हरिदास।
पुरुषोत्तम ब्रह्मचारी आर कृष्णदास॥६२॥

६२। प० अनु—श्रीवत्स पण्डित, हरिदास ब्रह्मचारी, पुरुषोत्तम ब्रह्मचारी और कृष्णदास भी श्रीअद्वैत-शाखा में गिने जाते हैं।

अनुभाष्य

६२। हरिदास ब्रह्मचारी—श्रीअद्वैत और श्रीगदाधर, दोनों के गणों में गिने जाते हैं, शाखानिर्णयामृत में ९म श्लोक—"श्रीयुतं हरिदासाख्यं ब्रह्मचारी महाशयम्। परमानन्द-सन्दोहं वन्दे भक्त्यामुदाकरम्॥"

(२९) पुरुषोत्तम पण्डित, (३०) रघुनाथ,
(३१) वनमाली, (३२) वैद्यनाथ—

पुरुषोत्तम पण्डित, आर रघुनाथ।
वनमाली कविचन्द्र, आर वैद्यनाथ॥६३॥

६३। प० अनु—पुरुषोत्तम पण्डित, रघुनाथ, वनमाली कविचन्द्र और वैद्यनाथ की गिनती भी श्रीअद्वैत-शाखा में होती है।

(३३) लोकनाथ, (३४) मुरारि पण्डित,
(३५) हरिचरण, (३६) माधव पण्डित—

लोकनाथ पण्डित, आर मुरारि पण्डित।
श्रीहरिचरण, आर माधव पण्डित॥६४॥

६४। प० अनु—लोकनाथ पण्डित, मुरारि पण्डित, श्रीहरिचरण और माधव पण्डित श्रीअद्वैतप्रभु के गणों में हैं।

(३७) विजय, (३८) श्रीराम पण्डित—

विजय पण्डित, आर पण्डित श्रीराम।
असंख्य अद्वैत-शाखा कत लइब नाम॥६५॥

६५। प० अनु—विजय पण्डित और श्रीराम पण्डित भी इस शाखा में हैं। श्रीअद्वैत-शाखा असंख्य है, किन-किन का नाम उल्लेख किया जाये।

अनुभाष्य

६५। श्रीरामपण्डित—श्रीवास पण्डित के छोटे भाई। गौः गः ९१—"पर्वताख्यो मुनिवरो यः आसीन्नारदप्रियः। श्रीरामपण्डितः श्रीमान् तत्कनिष्ठ-सहोदरः॥" मध्य, १३ पः३९ संख्या द्रष्टव्य है।

गौरकृपा के बल पर सारग्राही-
अद्वैतदासगणों की वृद्धि—

मालि-दत्त जल अद्वैत-स्कन्द योगाय।
सेइ जले जीये शाखा,—फूल-फल पाय॥६६॥

६६। प० अनु—श्रीचैतन्य माली के दिये हुए जल से श्रीअद्वैत स्कन्द पुष्ट हुई, उसी जल से सब शाखा जीवित होकर फल, फूल को प्राप्त हुई।

दुर्भाग्य से असार अद्वैतदासाभिमानियों
के द्वारा ही गौरविरोध एवं गौरकृपा
के अभाव से ध्वंस—

इहार मध्ये मालि-पाछे कोन शाखागण।
ना माने चैतन्य-माली दुर्दैव कारण॥६७॥
सृजाइल, जीयाइल, ताँरे ना मानिल।
कृतघ्न हइला, तारे स्कन्द क्रुद्ध हइल॥६८॥
क्रुद्ध हञा स्कन्द तारे जल ना संचारे।
जलाभावे कृश शाखा शुकाइया मरे॥६९॥

६७-६९। प० अनु—माली के अन्तर्धान के पश्चात् इन सभी शाखाओं में से कोई-कोई शाखा अपने दुर्दैव के कारण चैतन्यमाली को अस्वीकार करने लगी। जिन्होंने जन्म दिया, जीवित रखा, उन्हें नहीं मानने के कारण वे कृतघ्न बन गये, (इसलिए) इन सबके प्रति (श्रीअद्वैत) रूपी स्कन्द क्रोधित हो गई। क्रोधित होकर स्कन्द ने जल का सञ्चार नहीं किया और जल के अभाव से शाखाएँ शक्तिहीन होने के कारण सूखकर मृत्यु को प्राप्त हुईं।

गौरकृष्णभक्त—यम के गुरु,
गौरकृष्णविमुख—
यम के द्वारा दण्डयोग्य—

चैतन्य-रहित देह—शुष्क काष्ठ-सम।
जीवितेइ मृत सेइ, मैले दण्डे यम॥७०॥
केवल ए गण-प्रति नहे एइ दण्ड।
चैतन्य-विमुख येइ सेइ त' पाषण्ड॥७१॥
कि पण्डित, कि तपस्वी, किवा गृही, यति।
चैतन्य-विमुख येइ, तार एइ गति॥७२॥

७०-७२। प० अनु०—चैतन्य-रहित शरीर सूखे काठ के समान है। जीवित अवस्था में भी वे मृत है और मरने पर यमराज के द्वारा दण्डनीय है। केवल श्रीअद्वैता-चार्य के गणों के प्रति यह दण्ड नहीं है; परन्तु जो श्रीचैतन्य महाप्रभु से विमुख है, वह सब पाखण्डी हैं। क्या पण्डित, क्या तपस्वी, क्या गृहस्थ और क्या यति (संन्यासी) जो श्रीचैतन्य महाप्रभु से विमुख है, उनकी यही गति है।

अनुभाष्य

७०। दूतों के प्रति यमराज की उक्ति—(भाः ६/२/२९)—"जिह्वा न व्यक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्। कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥"

केवल अच्युत के अनुगतजन ही सारग्राही
गौरभक्त एवं श्रीअद्वैत-कृपाप्राप्त—

ये ये लैल श्रीअच्युतानन्देर मत।
सेइ आचार्येर गण—'महाभागवत'॥७३॥
सेइ सेइ,—आचार्येर कृपार भाजन।
अनायासे पाइल सेइ चैतन्य-चरण॥७४॥

७३-७४। प० अनु०—जिस-जिस ने श्रीअच्युतानन्द के मत को स्वीकार किया, वे सब आचार्य के गण 'महाभागवत' हैं। वही आचार्य के कृपापात्र हैं और इन्होंने अनायास ही श्रीचैतन्यचरण को प्राप्त किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

६७-७३। श्रीअद्वैतप्रभु—भक्ति-कल्पतरु के एक स्कन्द श्रीचैतन्य स्वयं माली के रूप में जल सेंचन करके उस स्कन्द को और इनके शाखासमूह को पुष्ट कर रहे हैं; फिर भी दुर्देव वश किसी शाखा ने माली के अन्तर्धान के पश्चात माली को न मानकर स्कन्द को ही कल्पतरु के कारण के रूप में निर्देशित किया। कृतघ्न होने के कारण वृक्ष के सृष्टिकर्त्ता और पालनकर्त्ता (श्रीमन् महाप्रभु) को स्वीकार नहीं करनेवाली पापिष्ठ शाखाओं को स्कनध रूपी श्रीअद्वैतप्रभु ने जल सींचना बन्द कर दिया और जल अभाव के कारण क्षीण शाखासमूह सूख-कर मरने लगीं। केवल उन शाखाओं को ही इस प्रकार दण्ड दिया गया, ऐसा नहीं है। सामान्यतः कोई पण्डित हो या कोई तपस्वी हो, कोई गृहस्थी हो या फिर यति, (सभी) चैतन्यविमुख हो जाने से पाखण्डी बन जाते हैं। जिन सब महात्माओं ने श्रीअच्युतानन्द का मत ग्रहण किया था, वही श्रीअद्वैताचार्य प्रभु के गणों में 'महा-भागवत' हैं।

द्वादश परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

उन सब शुद्धभक्तवृन्द
की वन्दना—

सेइ आचार्यगणे मोर कोटी नमस्कार।
अच्युतानन्द प्राय, चैतन्य-जीवन याँहार॥७५॥
एइ त' कहिलाङ आचार्य-गोसञिर गण।
तिन स्कन्देर कैल शाखार संक्षेप गणन॥७६॥
शाखार उपशाखा, तार नाहिक गणन।
किछुमात्र कहि' करि दिग्‌दरशन॥७७॥

७५-७७। प० अनु०—अच्युतानन्द की भाँति श्रीचैतन्य महाप्रभु ही जिन सबके जीवन हैं, उन आचार्यों के चरणकमलों में मेरा कोटि-कोटि नमस्कार है। यहाँ तक श्रीआचार्य गोसाईं के गणों का वर्णन किया है और तीन स्कन्दों (श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं श्रीअद्वैतप्रभु) के शाखाओं की संक्षेप में गणना की है। उनकी शाखा-उपशाखाओं की गिनती नहीं हो सकती, केवल कुछ दिग्दर्शन मात्र दिया गया है।

श्रीगदाधर के शिष्य
या उपशाखासमूह—

श्रीगदाधर पण्डित—उपशाखा महोत्तम।
ताँर उपशाखा किछु करि ये गणन॥७८॥

७८। प० अनु०—श्रीगदाधर पण्डित की उपशाखा सर्वोत्तम है। अब इनकी उपशाखाओं का कुछ वर्णन करता हूँ।

(१) ध्रुवानन्द, (२) श्रीधर, (३) हरिदास ब्रह्मचारी और रघुनाथ भागवताचार्य—

शाखा-श्रेष्ठ ध्रुवानन्द, श्रीधर ब्रह्मचारी।
भागवताचार्य, हरिदास ब्रह्मचारी॥७९॥

७९। प० अनु०—ध्रुवानन्द, श्रीधर ब्रह्मचारी, भागवताचार्य और हरिदास ब्रह्मचारी श्रेष्ठ शाखाएँ हैं।

अनुभाष्य

७९। ध्रूवानन्द ब्रह्मचारी—गौ:ग: १५२—"ध्रूवानन्द ब्रह्मचारी ललित्येपरे जगु:। स्वप्रकाशविभेदेन समीचीनं मतन्तु तत्॥" शाखानिर्णयामृत में ४श्लोक—"ध्रूवानन्दमहं वन्दे सदोज्ज्वल-विलासिनम्। स्व-स्वभावं ददौ यस्मै कृपया श्रीगदाधर:॥"

श्रीधर ब्रह्मचारी—गौ:ग: १९४ और १९९ श्लोक ब्रज के चन्द्रलतिका हैं। शाखानिर्णयामृत में ५ श्लोक—श्रीश्रीधरं सुदामाख्यं ब्रह्मचारिणमद्भुतम्। प्रेमामृतमयं सर्वं गौरलीलाविलासकम्॥"

(५) अनन्ताचार्य, (६) कविदत्त, (७) नयनमिश्र, (८) गंगामन्त्री, (९) मामुठाकुर, (१०) कंठाभरण—

अनन्त आचार्य, कविदत्त, मिश्र नयन।
गंगामन्त्री, मामु ठाकुर, कंठाभरण॥८०॥

८०। प० अनु०—अनन्त आचार्य, कविदत्त, नयनमिश्र, गंगामन्त्री, मामु ठाकुर और कण्ठाभरण उपशाखा में सम्मिलित हैं।

अनुभाष्य

८०। कविदत्त—शा: नि: १४— "महाभावचमत्काररूपनित्यं स्वभावजम्। राधाकृष्णौ यस्य हृदि वन्दे तं कविदत्तकम्॥" ये ब्रज की कलकण्ठी हैं—गौ: ग: १९७ और २०७ श्लोक।

नयनमिश्र—गौ: ग: १९६ और २०७ श्लोक—ये व्रज की नित्यमञ्जरी हैं। शा: नि: १श्लोक—"वन्दे श्री-नयनान्दमिश्रं प्रेमसुधार्णवम्। गदाधरस्य गौरस्य प्रेमरत्नैकमाजनम्॥"

गंगामन्त्री—गौ:ग: १९६ और २०५—ये व्रज की चन्द्रिका हैं। शा: नि: १६—"गंगा-मन्त्रिणमीडेऽहं सेवा सौख्यविलासिनम्। नामप्रेम-प्रकाशार्थं स्वर्धून्या य: सुमन्त्रित:॥"

मामु ठाकुर—श्रीमहाप्रभु इन्हें 'मामा' कहकर पुकारते थे। इसलिये लोग इन्हें 'मामुठाकुर' कहते थे। पूर्वीबङ्गाल में और उत्कल-देश में मामा को 'मामु' कहते हैं। इनका वास्तविक नाम जगन्नाथ चक्रवर्ती है, ये नीलाम्बर चक्रवर्त्ती के भतीजे हैं। इनका निवास फरीदपुर जिला के मगड़ोवा गाँव में है। श्रीगदाधर के अप्रकट के पश्चात् मामुठाकुर पुरी के 'श्रीटोटा-गोपीनाथ' के सेवाधिकारी बने थे। गौ:ग: १९६ और २०५ श्लोक—ये व्रज की कलभाषिणी हैं। शा: नि: १७—"य: प्रेम्ण गौरचन्द्रेण परिवारगणै: सह। उत्कले भाषितो मामुस्तं वन्दे मामु-ठाकुरम्॥" टोटा-गोपीनाथ के सेवकगण की गुरु-प्रणाली (१) श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी (श्रीमती राधिका, मत-भेद में सौभाग्य-मंजरी), (२) तदनुग श्रीजगन्नाथ चक्रवर्ती 'मामु' गोस्वामी (श्रीरूप-मंजरी?),(३) तदनुग रघुनाथ गोस्वामी, (४) रामचन्द्र, (५) राधावल्लभ, (६) कृष्णजीवन, (७) श्यामसुन्दर, (८) शान्तामणि, (९) हरिनाथ, (१०) नवीनचन्द्र, (११) मतिलाल, (१२) दयामयी, (१३) कुंजबिहारी।

कंठाभरण—इनका नाम श्रीअनन्त चट्टराज है—गौ: ग: १९६ और २०६—"श्रीकण्ठाभरणो-पाधिरनन्तश्चट्ट-वंशज:।" ये व्रज की गोपाली हैं। शा: नि: १८—"लीलाकलापसंयुक्तं राधाकृष्णरसात्मकम्। श्रीकण्ठा-भरणं वन्दे तयो: कण्ठावतारकम्॥"

(११) भूगर्भ गोस्वामी,
(१२) भागवतदास—

भूगर्भ गोसाईं, आर भागवत दास।
येइ दुइ आसि' कैल वृन्दावने वास॥८१॥

८१। प० अनु०—भूगर्भ गोसाईं और भागवतदास, इन दोनों ने वृन्दावन में आकर वास किया।

अनुभाष्य

८१। भूगर्भ गोसाईं—व्रज की 'प्रेम-मंजरी' हैं एवं श्रीलोकनाथ गोस्वामी के अभिन्न हृदय सुहृत् हैं। गौः गः १८७—"भूगर्भठक्कुरस्यासीत् पूर्वाख्या प्रेममंजरी।" शाः निः २४—"गोस्वामी नंच भूगर्भं भूगर्भोत्थं सुविश्रुतम्। सदा महाशयं वन्दे कृष्णप्रेमप्रदं प्रभुम्॥ श्रील गोविन्द-देवस्य सेवासुखविलासिनम्। दयालुं प्रेमदं स्वच्छं नित्य-मानन्दविग्रहम्॥"

भागवत दास—शाः निः ३१—"भूगर्भसंगिनं वन्दे श्रीभागवतदासकम्। सदा राधाकृष्णलीलागानमण्डित-मानसम्॥"

(१३) वाणीनाथ ब्रह्मचारी, (१४) वल्लभचैतन्य—

वाणीनाथ ब्रह्मचारी—बड़ महाशय।
वल्लभचैतन्यदास—कृष्णप्रेममय॥८२॥

८२। प० अनु०—वाणीनाथ ब्रह्मचारी बड़े महाशय और कृष्णप्रेममय वल्लभचैतन्यदास इनके (श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी के) उपशाखा में है।

अनुभाष्य

८२। वाणीनाथ ब्रह्मचारी—शाः निः ३२—"भक्त-संघट्टभक्ताख्यं भक्तवृन्देन राजितम्। ब्रह्मचारिणमीड़े तं वाणीनाथमहाशयम्॥" आदि, १०म पः११४ संख्या द्रष्टव्य है।

वल्लभचैतन्य—शाः निः ३३—"कृष्णप्रेममयं स्वच्छं परमानन्ददायिनम्। वन्दे वल्लभचैतन्यं लीलागान-युतान्तरम्॥" इस शाखा में स्थित श्रीमान् नलिनीमोहन गोस्वामी कुलिया नवद्वीप के अन्तर्गत गानतला में श्रीमदनगोपालदेव की सेवा करते हैं।

(१५) श्रीनाथ, (१६) उद्धव,
(१७) जितामित्र, (१८) जगन्नाथ,—

श्रीनाथ चक्रवर्ती, आर उद्धव दास।
जितामित्र, काष्ठकाटा जगन्नाथदास॥८३॥

८३। प० अनु०—श्रीनाथ चक्रवर्ती, उद्धवदास, जितामित्र और काष्ठकाटा जगन्नाथदास भी श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी की उपशाखा में हैं।

अनुभाष्य

८३। श्रीनाथ चक्रवर्ती—शाः निः १३—"वन्दे श्रीनाथ नामानं पण्डितं सद्गुणाश्रयम्। कृष्णसेवापरिपाटी यत्नैर्येन सुसेविता॥"

उद्धवदास—शाः निः ३५—"अतिदीनजने पूर्ण प्रेम-वित्त प्रदायकम्। श्रीमदुद्धवदासाख्यं वन्देऽहं गुणशालि-नम्॥"

जितामित्र—गौःगः २०२—"रिपवः षट् काममुख्या जिता येन वशीकृताः। यथार्थनामा गौरेण जितामित्रः स निर्म्मितः॥" ये ब्रज की श्याममंजरी हैं। शाः निः ३६—"यस्य श्रीपुस्तकं कृष्ण-माधुर्य-प्रेमपोषकम्। जितामित्र-महं वन्दे सर्वाभीष्टप्रदायकम्॥"

जगन्नाथदास—इनका निवास ढाकाविक्रमपुर के अन्तर्गत काष्ठकाटा (काठादिया) नामक ग्राम में है। इनके वंशधर सम्प्रति आड़ियल-गाँव, कामारपाड़ा और पाइकपाड़ा गाँव में वास करते हैं। इनके द्वारा प्रतिष्ठित 'यशोमाधव' विग्रह की सेवा आड़ियल के 'गोस्वामी' गण करते हैं। ये श्रीरूप गोस्वामी पाद के द्वारा लिखित 'कृष्णगणोद्देश' में उल्लिखित समसमाज में स्थित ६४ संख्यक सखियों में से २६ संख्यक सखी 'तिलकिनी'—चित्रादेवी की उपसखी हैं। १४२ श्लोक—"रसालिका तिलकिनी शौरसेनी सुगंधिका॥" इनके वंशधर—(२) रामनृसिंह, (३) रामगोपाल, (४) रामचन्द्र, (५) सनातन, (६) मुक्ताराम, (७) गोपीनाथ, (८) गोलोक, (९) हरिमोहन शिरोमणि, (१०) राखालराज। (१) गोपीनाथ के कनिष्ठ पुत्र—(८) माधव, (९) लक्ष्मीकान्त हैं।

सूर्यदास सरखेल के द्वारा रचित 'भोगनिर्णय-पद्धति'

में—"ततः सुचित्रा यूथाश्च ये महान्तो भवन्ति तान्। जगन्नाथाख्यदासश्च ठक्कुरो जगदीशकः॥" शाः निः ४८—"वन्दे जगन्नाथदासं काष्ठकाटेति विश्रुतम्। दत्तं येन त्रैपुरे च श्रीहरिनाम मंगलम्॥" अर्थात् इन्होंने त्रिपुर-प्रदेश में हरिनाम का प्रचार किया है।

(१९) हरि आचार्य, (२०) पुरिया गोपाल,
(२१) कृष्णदास ब्रह्मचारी, (२२) पुष्पगोपाल—

श्रीहरि आचार्य, दास पुरियागोपाल।
कृष्णदास ब्रह्मचारी, पुष्पगोपाल॥८४॥

८४। प० अनु—श्रीहरि आचार्य, पुरिया-गोपाल-दास, कृष्णदास ब्रह्मचारी और पुष्पगोपाल भी इस उप-शाखा में हैं।

अनुभाष्य

८४। हरि आचार्य—गौःगः १९६ और २०७—ये ब्रज की कालाक्षी है। शाः निः ३७—"हरिदासाचार्यं बंगदेश-निवासिनम्। वन्दे तं परया भक्त्या स्वोज्ज्वलेनोज्ज्व-लीकृतम्॥"

पुरियागोपालदास—शाः निः ३८—"वन्दे गोपालदा-साख्यं सादिपुरनिवासिनम्। राधाकृष्ण-प्रेमरसैः प्लावितं विक्रमं पुरम्॥" अर्थात् ये विक्रमपुर में हरिनाम के प्रचारक हैं।

कृष्णदास ब्रह्मचारी—ये व्रज की अष्टसखियों में से इन्दुलेखा हैं। गौःगः १६४—"इन्दुलेखा ब्रजे यासीद् श्रीराधायाः सखी पुरा। कृष्णदास ब्रह्मचारी कृतवृन्दावन-स्थितिः॥" शाः निः ४१—"कृष्णदास-ब्रह्मचारी—कृष्ण-प्रेमप्रकाशकम्। वन्दे तमुज्ज्वलधियं वृन्दावननिवासिनम्॥"

पुष्पगोपाल—शाः निः ३९—"पुष्पगोपालनामानं वन्दे प्रेमविलासिनम्। स्वरसैः पुष्पितः स्वर्णग्रामको नामधे-यतः॥"

(२३) श्रीहर्ष, (२४) रघुमिश्र, (२५) लक्ष्मीनाथ,
(२६) चैतन्यदास, (२७) रघुनाथ—

श्रीहर्ष, रघुमिश्र, पण्डित लक्ष्मीनाथ।
बंगवाटी-चैतन्यदास, श्रीरघुनाथ॥८५॥

८५। प० अनु—श्रीहर्ष, रघुमिश्र, लक्ष्मीनाथ पण्डित, बङ्गवाटी-चैतन्यदास और रघुनाथ भी उपशाखा है।

अनुभाष्य

८५। श्रीहर्ष—गौःगः १९४ और २०१—ये ब्रज के सुकोशिनी है। शाः निः ४०—"वन्दे श्रीहर्षमिश्राख्यं कृष्ण-प्रेमविनोदिनम्। गौरप्रेम्णा मत्तचित्तं महानन्दरसांकुरम्॥

रघुमिश्र—गौःगः १९५ और २०१—ये ब्रज की कर्पूर-मंजरी है।

लक्ष्मीनाथ पण्डित—गौःगः १९६ और २०५—ये व्रज की रसोन्मादा हैं। शाः निः ४२—"ब्रजलक्ष्मीनाथदासं करूणालयविग्रहम्। महाभावान्वितं वन्दे ब्रजसौभाग्य-दायकम्॥"

बंगवाटी-चैतन्यदास—गौःगः १९६ और २०६—ये ब्रज की काली हैं। शाः निः ४३—"बंगवाट्या श्रीचैतन्य दासं वन्दे महाशयम्। सदा प्रेमाश्रुरोमांच-पुलकांचित-विग्रहम्॥" इनकी शाखा-परम्पराः—(२) मथुराप्रसाद, (३) रुक्मिणी-कान्त, (४) जीवनकृष्ण, (५) युगल-किशोर, (६) रतनकृष्ण, (७) राधामाधव, (८) ऊषा-मणि, (९) वैकुण्ठनाथ, (१०) लालमोहन साहा शंखनिधि (ढाकावासी)।

रघुनाथ—ये व्रज के वरांगदा हैं। गौःगः १९४ और २००—"रघुनाथो द्विजोः कश्चिद् गौरांगनन्दयसेवकः।" शाः निः४४—"वन्दे श्रीरघुनाथाख्यं प्रेमकन्द महाशयम्। यन्नामश्रवणेनैव वृन्दावनरसं लभेत्॥"

(२८) अमोघ, (२९) हस्तिगोपाल, (३०)चैतन्यवल्लभ,
(३१) यदु, (३२) मंगलवैष्णव—

अमोघ पण्डित, हस्तिगोपाल, चैतन्यवल्लभ।
यदु गांगुलि आर मंगल वैष्णव॥८६॥

८६। प० अनु०—अमोघ पण्डित, हस्तिगोपाल, चैतन्यवल्लभ, यदु गांगुलि और मङ्गल वैष्णव भी उप-शाखा हैं।

अनुभाष्य

८६। अमोघ पण्डित—शाः निः ५९—"अमोघ-

पण्डितं वन्दे श्रीगौरेणात्मसात् कृतम्। प्रेमगद्गद- सान्द्रांगं पुलकाकुलविग्रहम्॥"

हस्तिगोपाल—ये व्रज की हरिणी हैं। गौः गः १९६ और २०६—"हस्तिगोपालदासाख्यं प्रेममत्तकलेवरम्। नमामि परया भक्त्या गौरप्रेममयं परम्॥" शाः निः ६१।

चैतन्यवल्लभ—शाः निः ६०—"चैतन्यवल्लभं नाम वन्दे प्रेमरसालयम्। गदाधरस्य गौरस्य गुणगानाभिला-षिणम्॥"

यदु गांगुलि—शाः निः ३४—"यदुनाथ चक्रवर्ती लीलाभागवताभिधम्। प्रेमकन्दं महाभिज्ञं वन्दे भक्त्या महाशयम्॥" वर्द्धमान जिला के पालिग्राम-चाणक-निवासी श्रीनलिनाक्ष ठाकुर इस शाखा के वंशधर हैं।

मङ्गल वैष्णव—शाः निः ४७—"मंगलं वैष्णवं वन्दे शुद्धचित्तकलेवरम्। वृन्दावनेशयोर्लीलामृत-स्निग्ध-कलेवरम्॥" इनका निवास मुर्शिदाबाद के अन्तर्गत टिटकणा गाँव में है। पितृकुल मुर्शिदाबाद की देवी किरीटेश्वरी के सेवायेत थे। प्रवाद है कि, इन्होंने पहले वृहदव्रत स्वीकार करके घर को त्याग दिया; पश्चात् मयनाडाल में अपने शिष्य प्राणनाथ अधिकारी की कन्या से विवाह किया। इनके वंश के धरोहरगण आजकल काँदड़ा के ठाकुर के रूप में प्रसिद्ध हैं। काँदड़ा वर्द्धमान जिला के काटोया के पास एक गाँव का नाम है। वहाँ कुछदिन पहले मंगल ठाकुर के वंश के ३६ घर अधिवासी थे।

ठाकुर महाशय के प्रसिद्ध शिष्यों में मयनाडाल के प्राणनाथ अधिकारी, काकड़ा-निवासी पुरुषोत्तम चक्रवर्ती और मयनाडाल के नृसिंहप्रसाद मित्र ठाकुर का नाम उल्लेख-योग्य है। मयनाडाल के अधिकारी वंश कालोप हो चुका है, परन्तु इनके दौहित्र-वंश विद्यमान है। पुरुषोत्तम चक्रवर्ती के वंश में से श्रीकुंजबिहारी चक्रव र्त्ती और राधावल्लभ चक्रवर्ती अब वीरभूम के अन्तर्गत साकुले-श्वर के अधीन आङ्गड़ा गाँव में वास करते हैं। ये सभी श्रीचैतन्यमंगल का गान करते हैं। नृसिंहप्रसाद मित्रठाकुर के वंश में सुधाकृष्ण मित्रठाकुर और निकुंजबिहारी मित्र ठाकुर की प्रसिद्धि है। ये सब मृदंगविद्या के आचार्य है।

मङ्गलठाकुर महाशय ने गौड़ेश्वर के लिये गौड़ से क्षेत्र तक मार्ग-प्रस्तुतिकरण और दीर्घिका (बृहत् सरोवर) के खननकार्य के समय 'श्रीराधावल्लभ' युगलविग्रह को प्राप्त किया था। तब वे काँदड़ा के पश्चिम में राणीपुर-नामक गाँव में निवास करते थे। ठाकुर महाशय के द्वारा पूजित श्रीनृसिंहशिला आज भी काँदड़ा में विराज-मान है। विग्रह की सेवा के लिये गौड़ेश्वर के द्वारा प्रदत्त सम्पदा नष्ट हो जाने के कारण मङ्गल ठाकुर भिक्षा करके सेवा करते थे।

मङ्गलठाकुर के तीन पुत्र थे—(१) राधिका-प्रसाद, (२) गोपीरमण और (३) श्यामकिशोर। इन तीनों भाईयों का वंश विद्यमान है। बाद में काँदड़ा में श्रीवृन्दावनचन्द्र की सेवा स्थापित हुई।

(३३) शिवानन्द चक्रवर्ती—

चक्रवर्ती शिवानन्द शाखाते उद्दाम।
मदनगोपाल पाये याँहार विश्राम॥८७॥
एइ त' संक्षेपे कहिलाङ पण्डितेर गण।
ओइछे आर शाखा-उपशाखार गणन॥८८॥

८७-८८। प० अनु०—श्रीशिवानन्द चक्रवर्ती अत्यन्त प्रबल शाखा हैं, ये श्रीमदनगोपाल के चरणों में विश्राम करते हैं। यहाँ तक संक्षेप में श्रीगदाधर पण्डित के भक्तों का वर्णन किया है। इस प्रकार अन्य शाखा-उपशाखओं का वर्णन होगा।

अनुभाष्य

८७। शिवानन्द चक्रवर्ती—गौःगः १८३ श्लोक—"श्रीमल्लवंगमंजर्य्याः प्रकाशत्वेन विश्रुतः। शिवानन्द चक्रवर्ती कृतवृन्दावन स्थितिः॥" शाः निः १०—"शिवानन्दमहं वन्दे कुमुदानन्द-नामकम्। रसोज्ज-वलयुतं स्वच्छं वृन्दाकानन-वासिनम्॥" आदि ८म पः७० संख्या द्रष्टव्य है।

इसके अतिरिक्त श्रीयदुनन्दनदास ने उनके द्वारा लिखित 'शाखा-निर्णय' में कुछ और गदाधर-शाखा के

सम्बन्ध में बताया गया है। जैसे, (१) मध्वाचार्य, (२) गोपालदास, (३) हृदयानन्द, (४) वल्लभट्ट, (इनके नामानुसार 'वल्लभ' या 'पुष्टिमार्गीय' सम्प्रदाय प्रसिद्ध है), (५) मधुपण्डित (खड़दह से दो मील पूर्व की ओर 'साँइवोना' गाँव में इनका श्रीपाट है)। मधुपण्डित ही वृन्दावन के प्रसिद्ध गोपीनाथदेव के प्रतिष्ठाता और सेवक हैं। (६) अच्युतानन्द, (७) चन्द्रशेखर, (८) वक्रेश्वर पण्डित (?) (९) दामोदर, (१०) भगवान् आचार्य (दूसरे), (११) अनन्ताचार्यवर्य (दूसरे), (१२) कृष्णदास, (१३) परमानन्द भट्टाचार्य, (१४) भवानन्द गोस्वामी, (१५) चैतन्यदास, (१६) लोकनाथ भट्ट (श्रीठाकुर नरोत्तम के गुरु, यशोहर जिला के तालखड़ि-निवासी, वृन्दावन के 'श्रीराधाविनोद' के प्रतिष्ठाता एवं भूगर्भठाकुर के प्रगाढ़ मित्र) ? (१७) गोविन्दाचार्य, (१८) अक्रूर ठाकुर, (१९) संकेताचार्य, (२०) प्रतापादित्य, (२१) कमलाकान्त आचार्य (२२) यादवाचार्य, (२३) नारायण पड़िहारी (क्षेत्रवासी)।

द्वादश परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

गदाधर-गणों की ऐकान्तिकी गौरभक्ति—

पण्डितेर गण सब,—भागवत धन्य।
प्राणवल्लभ—सबार श्रीकृष्णचैतन्य॥८९॥

८९। प० अनु०—श्रीगदाधर पण्डित के सभी गण धन्य एवं भागवत हैं। इन सबके प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण-चैतन्य हैं।

निताइ-अद्वैत-गदाधर के गणों के स्मरण का महात्म्य—

एइ तिन स्कन्देर कैलुँ शाखार गणन।
याँ-सबा-स्मरणे भवबन्ध-विमोचन॥९०॥
याँ-सबा-स्मरणे पाइ चैतन्यचरण।
याँ-सबा-स्मरणे हय वांछित पूरण॥९१॥
अतएव ताँ-सबार वन्दिये चरण।
चैतन्य-मालीर कहि लीला-अनुक्रम॥९२॥

९०-९२। प० अनु०—मैंने इन तीन (श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैत, श्रीगदाधर) स्कन्दों के शाखाओं की गिनती की है। इनके स्मरण से भवबन्धन से छुटकारा मिलता है। इनका स्मरण करने से श्रीचैतन्यचरण की प्राप्ति होती है एवं इनके स्मरण से समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इसलिए इन सबके चरणकमलों की वन्दना करता हूँ और चैतन्यमाली के लीला का अनुक्रम वर्णन करता हूँ।

ग्रन्थकार की दैन्योक्ति—

गौरलीलामृतसिन्धु—अपार अगाध।
के करिते पारे ताँहा अवगाह-साध॥९३॥
ताहार माधुरी-गन्धे लुब्ध हय मन।
अतएव तटे रहि' चाकि एक कण॥९४॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे याँर आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥९५॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में अद्वैत-स्कन्द शाखा-वर्णन नामक द्वाद्वश-परिच्छेद समाप्त।

९३-९५। प० अनु०—श्रीगौरहरि की लीलाओं का अमृत सिन्धु अपार और अगाध है। इसमें अवगाहन करने के विषय में कौन सोच सकता है? इसकी माधुरी के सौरभ से मन में लोभ हो जाता है, अत: तट पर रहते हुए इसके एक कण का आस्वादन करता हूँ। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

✵ ✵ ✵

त्रयोदश परिच्छेद

कथासार—इस परिच्छेद में श्रीमन् महाप्रभु के जन्म का वर्णन हुआ है। आदिलीला ही गृहस्थ-आश्रम की लीला है और अन्त्यलीला ही संन्यासलीला है। अन्त्य लीला प्रथम छह वर्ष 'मध्यलीला' के नाम से जाने जाते हैं, जिसमें दक्षिण-देश और वृन्दावन आदि तीर्थों में गमनागमन एवं नाम-प्रचार का वर्णन है। श्रीहट्टनिवासी उपेन्द्रमिश्र के पुत्र का नाम जगन्नाथ मिश्र है। इन्होंने नवद्वीप में रहकर नीलाम्बर चक्रवर्ती की कन्या शचीदेवी से विवाह किया। पहले इनकी आठ कन्या हुईं परन्तु वे सभी कन्याएँ जन्म लेने के साथ ही परलोक गमन कर गयीं। तब नवम-गर्भ से श्रीविश्वरूप प्रभु का जन्म हुआ और १४०७ शकाब्द के फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन सन्ध्या के समय, सिंह लग्न और सिंह राशि में चन्द्र ग्रहण-काल में कृष्णनाम-कीर्तन के साथ श्रीगौरचन्द्र अवतीर्ण हुए। बालक के जन्मवार्त्ता को सुनकर आर्यागण (पतिव्रता स्त्रियाँ) अनेक उपहारों को साथ लिये शिशु-दर्शन को आईं। बालक की कोष्ठि (जातक-पत्रिका) और हस्तविचार करते समय नीलाम्बर चक्रवर्ती को इस बालक में महापुरुषों के समस्त चिह्न दिखाई दिये।

(अ:प्र:भा)

श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से
अधम व्यक्ति भी उनकी लीला
का वर्णन करने में समर्थ—

स प्रसीदतु चैतन्यदेवो यस्य प्रसादतः।
तल्लीवर्णने योग्यः सद्यः स्यादधमोऽप्ययम्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनकी प्रसन्नता से यह अधम व्यक्ति भी उनकी लीला का वर्णन करने में शीघ्र ही योग्यता प्राप्त कर रहा है, वे श्रीचैतन्यदेव मेरे प्रति प्रसन्न हों।

अनुभाष्य

१। यस्य (श्रीकृष्णचैतन्यदेवस्य) प्रसादतः (अनु-कम्पया) अयं (मादृशः) अधमः अपि तल्लीलावर्णने सद्यः योग्यः स्यात्, स चैतन्यदेवः प्रसीदतु।

जय जय श्रीकृष्णचैतन्य गौरचन्द्र।
जयाद्वैतचन्द्र जय जय नित्यानन्द॥२॥
जय जय गदाधर जय श्रीनिवास।
जय मुकुन्द वासुदेव जय हरिदास॥३॥
जय दामोदर स्वरूप जय मुरारि गुप्त।
एइ सब चन्द्रोदये तमः कैल लुप्त॥४॥

२-४। प॰ अनु॰—श्रीकृष्णचैतन्य श्रीगौरचन्द्र की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो, श्रीगदाधर पण्डित की जय हो, जय हो तथा श्रीनिवास की जय हो। श्रीमुकुन्द और श्रीवासुदेव की जय हो, श्रीहरिदास की जय हो। श्री दामोदर-स्वरूप की जय हो एवं श्रीमुरारि गुप्त की जय हो। इन सब चन्द्र समान भक्तों के उदय होने से अज्ञान अर्थात् अन्धकार लुप्त हो गया।

चन्द्ररूपी भक्तों की हरिभजन रूपी किरणों
से जीवों का अज्ञान-तमोगुण विनाश—

जय श्रीचैतन्यचन्द्रेर भक्त पूर्णचन्द्रगण।
सबार प्रेम-ज्योत्स्नाय उज्ज्वल त्रिभुवन॥५॥

५। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्यचन्द्र के पूर्णचन्द्र-स्वरूप भक्तवृन्द की जय हो। जिनकी प्रेम-ज्योत्स्ना से त्रिभुवन उज्ज्वलित हो गया है।

गौरलीला का वर्णन आरम्भ—

एइ त' कहिल ग्रन्थारम्भे मुखबन्ध।
एबे कहि चैतन्य-लीलाक्रम-अनुबन्ध॥६॥

६। प० अनु—यहाँ तक ग्रन्थ के प्रारम्भ में भूमिका का वर्णन किया है। अब चैतन्य-लीला का क्रमानुसार वर्णन करता हूँ।

सर्वप्रथम सूत्ररूप में और उसके बाद
विस्तृत रूप से वर्णन करने की प्रतिज्ञा—

प्रथमे त' सूत्ररूपे करिये गणन।
पाछे ताहा विस्तारि करिब विवरण॥७॥

७। प० अनु—पहले सूत्र रूप में लीलाओं का वर्णन कर रहा हूँ। तत्पश्चात् उनका विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा।

महाप्रभु की ४८ वर्ष पर्यन्त प्रकटलीला—

श्रीकृष्णचैतन्य नवद्वीपे अवतरि।
आटचल्लिश वत्सर प्रकट विहरि॥८॥
चौद्दशत सात शके जन्मेर प्रमाण।
चौद्दशत पञ्चान्ने हइल अन्तर्धान॥९॥

८-९। प० अनु—श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने नवद्वीप में अवतीर्ण होकर ४८वर्ष तक प्रकट लीला की है। १४०७ शकाब्द में प्रभु का जन्म हुआ और १४५५ शकाब्द में उनका अन्तर्धान हुआ।

प्रथम २४ वर्ष नवद्वीप में गृहस्थ लीला, शेष
२४ वर्ष नीलाचल में संन्यास-लीला अभिनय—

चब्बिश वत्सर प्रभु कैल गृहवास।
निरन्तर कैल ताहे कीर्तन-विलास॥१०॥
चब्बिश वत्सर-शेषे करिया संन्यास।
आर चब्बिश वत्सर कैल नीलाचले वास॥११॥

१०-११। प० अनु—चौबीस वर्ष तक प्रभु ने गृह में वास करते हुये निरन्तर कीर्तन-विलास किया और उसके बाद संन्यासाश्रम को स्वीकार करके प्रभु ने चौबीस वर्ष तक नीलाचल (पुरी) में वास किया।

शेष चौबीस वर्षों में से छह वर्ष उत्तर और दक्षिण भारत के अन्तर्गत भगवान् श्रीकृष्ण का अन्वेषण और प्रचार—

तार मध्ये छय वत्सर-गमनागमन।
कभु दक्षिण, कभु गौड़, कभु वृन्दावन॥१२॥
अष्टादश वत्सर रहिला नीलाचले।
कृष्णप्रेम-लीलामृते भासाल सकले॥१३॥

१२-१३। प० अनु—उन चौबीस वर्षों के प्रथम छह वर्षों में प्रभु कभी दक्षिणदेश, कभी गौड़देश और कभी वृन्दावन आते जाते रहते थे तथा शेष अठारह वर्षों तक नीलाचल में रहकर प्रभु ने सबको कृष्णप्रेम रूपी लीलामृत में बहा दिया।

गृहस्थ-लीला ही आदिलीला तथा
संन्यास-लीला ही मध्य और अन्त्यलीला—

गार्हस्थ्ये प्रभुर लीला—'आदि'-लीलाख्यान।
'मध्य'-'अन्त्य'-नामे—शेषलीलार दुइनाम॥१४॥

१४। प० अनु—गृहस्थ आश्रम में प्रभु ने जो लीलाएँ की उन्हें 'आदिलीला' कहते हैं एवं 'शेषलीला' के अन्तर्गत 'मध्य' और 'अन्त्य' नामक दो लीलाओं का वर्णन हुआ है।

'चैतन्यचरित' में मुरारीगुप्त कर्तृक आदि
लीला का तथा 'कड़चामें' स्वरूप दामोदर
कर्तृक शेष-लीला का वर्णन—

आदिलीला-मध्ये प्रभुर यतेक चरित।
सूत्ररूपे मुरारि गुप्त करिला ग्रथित॥१५॥
प्रभुर ये-शेष-लीला स्वरूप-दामोदर।
सूत्र करि' ग्रन्थिलेन ग्रन्थेर भितर॥१६॥

१५-१६। प० अनु—आदिलीला में प्रभु की जितनी चरितगाथाएँ हैं, उसे श्रीमुरारिगुप्त ने सूत्ररूप में ग्रथित किया है तथा प्रभु की शेषलीलाओं को श्रीस्वरूप-दामोदर ने सूत्र रूप से ग्रन्थ में ग्रन्थित किया है।

इन दोनों (श्रीमुरारि गुप्त और श्रीस्वरूप दामोदर) के सूत्र ही श्रीमन् महाप्रभु की लीला-वर्णन के मूल स्त्रोत्र—

एइ दुइ जनेर सूत्र देखिया शुनिया।
वर्णना करेन वैष्णव क्रम ये करिया॥१७॥

१७। प० अनु—इन दोनों के सूत्रों को देखकर और सुनकर ही वैष्णवगण लीलाओं को क्रमानुसार वर्णन करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७। श्रीमुरारिगुप्त की आदिलीला के सूत्रसमूह अब भी वर्तमान हैं, उसे देखकर एवं श्रीस्वरूप गोस्वामी के कड़चा-सूत्र को श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के मुख से सुनकर ही वैष्णववृन्द उनका वर्णन करते हैं।

आदिलीला के चार भाग—

बाल्य, पौगण्ड, कैशोर, यौवन,—चारि भेद।
अतएव आदिखण्डे लीला चारि भेद॥१८॥

१८। प॰ अनु॰—जिस प्रकार बाल्य, पौगण्ड, कैशोर और यौवन चार भाग हैं। उसी प्रकार आदिखण्ड की लीलाएँ भी चार भाग में विभक्त हैं।

शुभ फाल्गुनी पूर्णिमा की वन्दना—

सर्वसद्गुणपूर्णां तां वन्दे फाल्गुनपूर्णिमाम्।
यस्यां श्रीकृष्णचैतन्योऽवतीर्णः कृष्णनामभिः॥१९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९। वैवस्वतमनोरष्टाविंशतियुगसम्भवे। चतुर्द्दश-शताब्दे वै सप्तवर्षसमन्विते॥ भागीरथीतटे रम्ये शचीगर्भ-महार्णवे। राहुग्रस्ते पूर्णिमायां गौराङ्गः प्रकटोऽभवत्॥

उस सर्वसद्गुणपूर्ण फाल्गुनी पूर्णिमा की मैं वन्दना करता हूँ, जिस पूर्णिमा में श्रीकृष्णनाम-सहित श्रीकृष्ण-चैतन्य अवतीर्ण हुये।

अनुभाष्य

१९। यस्यां (फाल्गुन-पौर्णमास्या) कृष्णनामभिः सह श्रीकृष्ण-चैतन्यः (राधाकृष्णा-भिन्नविग्रहः मूलावतारी गोलोकनाथः निजलोकतः गौरप्रकोष्ठात् प्रपंचे भौम-नवद्वीपे) अवतीर्णः, तां सर्वसद्गुणपूर्णां फाल्गुन-पूर्णिमां (प्रापंचिक कालावतीर्णाम् अप्राकृतां सेवापरां तिथिरूपां देवीम् अह) वन्दे।

चन्द्रग्रहण के छल से जीवों को हरिनाम करने के लिये प्रेरित करना—

फाल्गुनपूर्णिमा—सन्ध्याय प्रभुर जन्मोदय।
सेइकाले दैवयोगे चन्द्रेर ग्रहण हय॥२०॥

'हरि' 'हरि' बले लोक हरषित हञा।
जन्मिला चैतन्यप्रभु 'नाम' जन्माइया॥२१॥

२०-२१। प॰ अनु॰—फाल्गुणीपूर्णिमा की सन्ध्या के समय प्रभु का जन्म हुआ। दैवयोग से उसी समय चन्द्रग्रहण भी लगा हुआ था। हर्ष और उल्लास से सभी लोग 'हरि' 'हरि' बोल रहे थे। अतएव 'हरि' नाम को जन्म देते हुये श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जन्म ग्रहण किया।

आदिलीला में सर्वत्र हरिनाम प्रवर्तन—

जन्म-बाल्य-पौगण्ड-कैशोर-युवाकाले।
हरिनाम लओयाइला प्रभु नाना-छले॥२२॥

२२। प॰ अनु॰—जन्म से लेकर बाल्य, पौगण्ड, कैशोर और युवा अवस्था में प्रभु ने अनेक प्रकार की युक्तियों के द्वारा लोगों से हरिनाम करवाया।

नाम उच्चारण कराने के छल से क्रन्दन और नाम लेने पर ही शान्त होना—

बाल्यभाव-छले प्रभु करेन क्रन्दन।
'कृष्ण' 'हरि' नाम शुनि' रहये रोदन॥२३॥

२३। प॰ अनु॰—बाल्यभाव के छल से प्रभु जब क्रन्दन करते थे, तब वह क्रन्दन केवल 'कृष्ण' 'हरि' का नाम सुनकर ही बन्द होता था।

दर्शन करने हेतु आने वाले सभी व्यक्तियों द्वारा नाम का उच्चारण—

अतएव 'हरि' 'हरि' बले नारीगण।
देखिते आइसे येवा सर्व-बन्धुजन॥२४॥

२४। प॰ अनु॰—इसलिए प्रभु के दर्शन के लिए आने वाली सभी नारियाँ एवं बन्धु-बान्धव 'हरि' 'हरि' कहने लगे।

'गौरहरि' नाम की प्रारम्भिक सूचना—

'गौरहरि' बलि' तारे हासे सर्व नारी।
अतएव हैल ताँर नाम 'गौरहरि'॥२५॥

२५। प॰ अनु॰—सभी स्त्रियाँ उन्हें गौरहरि कहकर हँसने लगी थी। इसलिए उनका नाम गौरहरि हो गया।

वयस वृद्धि के साथ-साथ सब समय
जीव को नाम के लिये प्रेरणा प्रदान—

बाल्य-वयस—यावत् हाते खड़ि दिल।
पौगण्ड-वयस—यावत् विवाह ना कैल॥२६॥
विवाह करिले हैल नवीन यौवन।
सर्वत्र-लओयाइल प्रभु नाम-संकीर्तन॥२७॥

२६-२७। प० अनु०—बाल्यावस्था के उचित समय आने पर प्रभु ने पढ़ना-लिखना आरम्भ किया। पौगण्ड अवस्था तक प्रभु ने विवाह नहीं किया। विवाह करने के समय से प्रभु का यौवन आरम्भ होता है। इस अवस्था में प्रभु ने सर्वत्र श्रीहरि नाम संकीर्त्तन किया।

पौगण्ड अवस्था में अध्ययन-अध्यापना करते
समय प्रतिविषय में कृष्णनाम-व्याख्या तथा
सभी को नाम करने के लिये प्रेरणा प्रदान—

पौगण्ड-वयसे पड़ेन, पड़ान शिष्यगणे।
सर्वत्र करेन कृष्णनामेर व्याख्याने॥२८॥
सूत्र-वृत्ति-टीकाय कृष्णनामेर तात्पर्य।
शिष्येर प्रतीत हय—सबार आश्चर्य॥२९॥

२८-२९। प० अनु०—पौगण्ड वयस में प्रभु अध्ययन करते एवं शिष्यों को पढ़ाते थे। वे सर्वत्र कृष्ण-नाम की व्याख्या करते रहते। प्रभु के सूत्र, वृत्ति और टीकाओं में कृष्णनाम का ही तात्पर्य होता। जिसे समझ कर सभी शिष्य आश्चर्यचकित हो जाते।

अमृतप्रवाह भाष्य

२९। शिष्यों को व्याकरण-सूत्र, उसकी वृत्ति और टीका पढ़ाते समय कृष्णनाम का तात्पर्य ही शिष्यों को सिखाया करते थे। उसी शिक्षा का आश्रय करके गोस्वामी महोदय गण (श्रीजीवप्रभु) ने बाद में 'लघु' एवं 'बृहत्' नाम से दो 'हरिनामामृत व्याकरण' की रचना की। इन दोनों व्याकरण-ग्रन्थों का अध्ययन करने से जीवों में शब्द-ज्ञान और कृष्णभक्ति उदित होती है।

अनुभाष्य

२८-२९। चै:भा: मध्य १म अ:—"आविष्ट हइया प्रभु करये व्याख्यान। सूत्रवृत्ति-टीकाय सकले हरिनाम॥ प्रभु बले,—सर्वकाल सत्य कृष्णनाम। सर्वशास्त्रे कृष्ण बइ ना बलये आन॥ कृष्णेर चरण छाड़ि' ये आर वाखाने। व्यर्थ जन्म याय तार अकथ्य कथने॥ कृष्णेर भजन छाड़ि' ये शास्त्र वाखाने। से अधम कभु शास्त्रमर्म्म नाहि जाने॥ शास्त्रेर ना जाने मर्म्म, अध्यापना करे। गर्द्दभेर प्राय मात्र शास्त्र बहि' मरे॥"

सभी को कृष्णनाम-कीर्तन में लगाना—

यारे देखे, तारे कहे,—कह कृष्णनाम।
कृष्ण-नामे भासाइल नवद्वीप-ग्राम॥३०॥

३०। प० अनु०—जिसे भी देखते उसी को कृष्णनाम उच्चारण करने के लिए कहते, इस प्रकार प्रभु ने समस्त नवद्वीप ग्राम के लोगों को कृष्णनाम में आप्लावित कर दिया।

कैशोर अवस्था में स्वयं कीर्तन करके सभी
को नाम करने के लिये प्रेरणा प्रदान—

किशोर-वयसे आरम्भिला संकीर्तन।
रात्र-दिने प्रेमे नृत्य, संगे भक्तगण॥३१॥
नगरे नगरे भ्रमे कीर्त्तन करिया।
भासाइल त्रिभुवन प्रेमभक्ति दिया॥३२॥

३१-३२। प० अनु०—किशोर-वयस में प्रभु ने संकीर्तन आरम्भ किया और रातदिन भक्तवृन्द के साथ प्रेम में नृत्य करते। नगर-नगर में भ्रमण कर उन्होंने कीर्त्तन किया और प्रेमभक्ति देकर त्रिभुवन को निमग्न कर दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

३२। श्रीनवद्वीपधाम—जाह्नवी नदी के द्वारा घिरा हुआ, सोलह कोस सीमा के अन्तर्गत है। इसमें नवविधा भक्ति के पीठ स्वरूप 'अन्त:' 'सीमन्त' 'गोद्रुम' 'मध्य' 'कोल' 'ऋतु' 'जह्नु' 'मोदद्रुम' और 'रुद्र'—ये नौ द्वीप विराजमान हैं। इनमें से अन्तर्द्वीप के मध्यस्थ श्रीमायापुर गाँव में श्रीजगन्नाथ मिश्र का भवन है। इन सब नगरों में कीर्तन करके प्रभु ने प्रेमभक्ति के द्वारा त्रिभुवन को प्लावित किया है।

नवद्वीप में सम्पूर्ण चौबीस वर्ष ही
जीवों को नाम के लिए प्रेरणा प्रदान—

चब्बिश वत्सर ओइछे नवद्वीप-ग्रामे।
लओयाइल सर्वलोके कृष्णप्रेम-नामे॥३३॥

३३। प० अनु०—इस प्रकार चौबीस वर्ष तक प्रभु ने नवद्वीप के सभी लोगों को कृष्णप्रेम रूपी नाम करवाया।

नीलाचल के अन्तिम २४ वर्षों में से ६ वर्ष
समुद्र से हिमाचल तक नाम प्रेम-प्रचार—

चब्बिश वत्सर छिला करिया संन्यास।
भक्तगण लञा कैला नीलाचले वास॥३४॥
ताँर मध्ये नीलाचले छय वत्सर।
नृत्य, गीत, प्रेमभक्ति-दान निरन्तर॥३५॥
सेतुबन्ध, आर गौड़-व्यापि वृन्दावन।
प्रेम-नाम प्रचारिया करिला भ्रमण॥३६॥

३४-३६। प० अनु०—अन्तिम चौबीस वर्ष प्रभु ने संन्यासी बनकर रहे और भक्तवृन्द के साथ नीलाचल में वास किया। नीलाचल में वास करते हुए छह वर्ष तक निरन्तर नृत्य, गीत व प्रेमभक्ति प्रदान की। फिर सेतुबन्ध से लेकर सम्पूर्ण गौड़देश और वृन्दावन तक भ्रमणकर प्रेम-नाम प्रचार किया।

ये ६ वर्ष ही—मध्यलीला
और केवल नाम प्रचारमय—

एइ 'मध्यलीला' नाम—लीला-मुख्यधाम।
शेष अष्टादश वर्ष—'अन्त्यलीला' नाम॥३७॥

३७। प० अनु०—यही छह वर्ष की मुख्य लीला का नाम 'मध्यलीला' है और शेष अठारह वर्ष की लीला 'अन्त्यलीला' के नाम से जानी जाती है।

अवशिष्ट १८ वर्षों में ६ वर्ष केवल
कीर्तन-नृत्य द्वारा प्रेम-प्रचार—

तार मध्ये छय वत्सर भक्तगण-संगे।
प्रेमभक्ति लओयाइला नृत्यगीत-रंगे॥३८॥

३८। प० अनु०—इसमें से छह वर्ष तक प्रभु ने भक्तवृन्द के साथ आनन्द में नृत्यगीत करते हुए सभी को प्रेमभक्ति प्रदान की।

शेष १२ वर्ष केवल कृष्णविरह में अनुक्षण
कृष्णप्रेम का आस्वादन और प्रेमावस्था-प्रदर्शन—

द्वादश वत्सर शेष रहिला नीलाचले।
प्रेमावस्था शिखाइला आस्वादन-च्छले॥३९॥
रात्रि-दिवसे कृष्णविरह-स्फुरण।
उन्मादेर चेष्टा करे प्रलाप-वचन॥४०॥

३९-४०। प० अनु०—शेष द्वादश वर्षों में प्रभु ने नीलाचल में रहते समय स्वयं आस्वादन करने के छल से भक्तों को प्रेम की अवस्थाओं की शिक्षा प्रदान की एवं रात-दिन श्रीकृष्ण के विरह की स्फूर्ति होने पर, प्रभु उन्माद की भाँति प्रलाप वचन कहते रहते।

अनुभाष्य

३९। जातप्रेम व्यक्ति संभोग के पुष्टिकारक अप्राकृत विप्रलम्भरस में अवस्थान करते हैं। इस प्रेमास्था को स्वयं श्रीगौरसुन्दर ने जगत् के जीवों को स्वयं आस्वादन करने की इच्छा से सिखाया। विप्रलम्भ के बिना सम्भोग की पुष्टि नहीं है।

उद्धव के दर्शन से श्रीमती राधारानी
के समान प्रभु का महाभाव—

श्रीराधार प्रलाप येछै उद्धव-दर्शने।
सेइमत उन्माद-प्रलाप करे रात्रिदिने॥४१॥

४१। प० अनु०—उद्धव को देखकर जैसे श्रीराधा प्रलाप करती थीं, उसी प्रकार प्रभु भी रातदिन उन्माद-प्रलाप करते रहते।

अनुभाष्य

४१। सुदीर्घ विप्रलम्भरस के मूर्त्तिमान आदर्श, उद्धव के दर्शन से श्रीमती वृषभानुनन्दिनी (श्रीराधा) के 'चित्र-जल्प'—भावमय-स्वरूप ही श्रीगौरसुन्दर हैं। असूया, ईर्ष्या और मदयुक्त अवज्ञा मुद्राओं के द्वारा श्रीराधिका ने श्रीकृष्ण के अकौशल व्यवहार के सम्बन्ध में वार्तालाप

करते हुये भ्रमर को उपलक्ष करके जो प्रजल्प किया था, उन सभी भावों में श्रीगौरसुन्दर मग्न थे—आदि, ४र्थ प:१०७-१०८ संख्या द्रष्टव्य है।

स्वरूप और रामानन्द राय के साथ चण्डीदास, विद्यापति और श्रीगीतगोविन्द की आलोचना—

विद्यापति, जयदेव, चण्ड़ीदासेर गीत।
आस्वादेन रामानन्द-स्वरूप-सहित॥४२॥

४२। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु श्रीरामानन्द राय और श्रीस्वरूप दामोदर के साथ विद्यापति, जयदेव एवं चण्डीदास के गीतों का आस्वादन करते थे।

अनुभाष्य

४२। विद्यापति—यह मिथिलावासी एक वैष्णव कवि थे। राजा शिवसिंह एवं रानी लछिमादेवी के राज्यकाल में इनका प्रादुर्भाव हुआ, अर्थात् १४ शक शताब्दी के प्रथम चरण में इन्होंने गीतों की रचना की। श्रीमन् महाप्रभु के प्रकटकाल के लगभग एक सौ वर्ष पहले इनका आविर्भाव हुआ था। ये मैथिली ब्राह्मण थे। इनके द्वादश अधस्तन (वंशज) वर्तमान-काल में भी जीवित हैं, इनके द्वारा रचित कृष्णगीतों में प्रचुर अप्राकृत विप्रलम्भ रसों का आदर्श दिखाई देता है। इन भावों को श्रीमन् महाप्रभु आस्वादन करते थे।

जयदेव—वंगेश्वर 'लक्ष्मणसेन' राजा के राजपाट के समय ये भोजदेव के औरस में वामादेवी के गर्भ से प्रकट हुये। किसी-किसी के मतानुसार वह समय एकादश अथवा द्वादश शक शताब्दी का था। बङ्गाल की राजधानी नवद्वीप-नगर में इन्होंने बहुत दिनों तक निवास किया। वीरभूम जिला के 'केन्दुविल्व' गाँव में, अन्य किसी के मतानुसार उत्कलदेश में, किसी और के मतानुसार दक्षिणदेश में इन्होंने जन्मग्रहण किया था। इन्होंने अपना शेष जीवन श्रीजगन्नाथ क्षेत्र में व्यतीत किया। इनके कविताग्रन्थ का नाम 'गीतगोविन्द' या 'अष्टपदी' है। इसमें भी प्रचुर अप्राकृत विप्रलम्भ-रस का समावेश दिखाई देता है। श्रीभागवत-कथित रासस्थली से व्रजराज-कुमार के चले जाने के उपलक्ष में संभोगरस के पुष्टिकारक विप्रलम्भ रस की अवतारणा इसमें वर्णित है। अष्टपदी की टीका और टीकाकारों का नाम 'वैष्णव-मंजुषा' (१म संख्या में द्रष्टव्य है)।

चण्डीदास—यह वीरभूम-जिला के अन्तर्गत 'नान्नुर' गाँव के विप्रकुल में १४शक शताब्दी के प्रथम चरण के उपरान्त आविर्भूत हुये।

संभवतः विद्यापति ठाकुर के साथ इनकी मित्रता थी। इनकी लेखनी में अप्राकृत विप्रलम्भरस की प्रचुरता विद्यमान है।

चण्डीदास आदि भक्तवृन्द के द्वारा प्रस्फुटित भावावली ही श्रीमन् महाप्रभु के लिये परमप्रिय आस्वादनीय वस्तु थी। श्रीराधा के भाव में विभावित होकर, श्रीदामोदर स्वरूप और श्रीरामानन्द राय—इन दोनों अन्तरङ्ग भक्तों के साथ विप्रलम्भ-रसास्वादन के द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र ने अपनी वाञ्छाओं की पूर्त्ति की।

परमहंसकुल-शिरोमणि श्रीदामोदर-स्वरूप और श्रीराय रामानन्द की भाँति अद्वितीय चिन्मय कृष्णरस-तत्त्ववेत्ता के साथ स्वयं भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने तीनों भक्तों के द्वारा रचित जो अप्राकृत गीतिसमूह का आस्वादन किया है, वही अद्वितीय भोक्ता सच्चिदानन्द विग्रह श्रीनन्द-नन्दन के प्रति "कृष्णमयी" श्रीराधिका की महाभाव-विचित्रता का विकास है,—वह इस नश्वर स्थूल और सूक्ष्मजगत् के भोग एवं त्याग—इन दोनों विषयों में उदासीन, परममुक्त एवं निष्किंचन, श्रीराधा की दासता में नित्य अभिलाषी, महासौभाग्यवान् व्यक्ति के लिये ही सदैव अनुसरणयोग्य विषय है। प्राकृत काव्यरसामोदी, निरीश्वर साहित्यप्रिय, देहारामी व्यक्तिगण गवेषणा के निमित्त एवं प्राकृत सहजिया-सम्प्रदाय जड़ेन्द्रियतर्पण के लिये 'रागानुगा' अभिमान करके चण्डीदास, विद्यापति और जयदेव के द्वारा रचित गीतिसमूह की आलोचना करने की धृष्टता का जो प्रदर्शन करते हैं, इस प्रदर्शन के फलस्वरूप जगत में व्यभिचार (भ्रष्टाचार) एवं नास्तिकता वृद्धि को प्राप्त होकर उन सबको नरकगामी करा देती

है। इसलिये देहात्म बुद्धिसम्पन्न, असत्-तृष्णामय, अनर्थ युक्त अनधिकारी कहीं परम-मुक्तकुल के आराध्य श्रीराधाकृष्ण के अलौकिक लीलाविलास को प्राकृत नायक-नायिका की भाँति रसहीन कुत्सित काम क्रीड़ा-विलास अथवा उस जैसा समझकर इन्द्रिय-तर्पण न कर लें, इसलिये राधाकृष्णलीला की किसी प्रकार की आलोचना उन सबके लिये नितान्त निषिद्ध है।

श्रीराधाके कृष्ण विरह की चेष्टा
से उत्पन्न कृष्णप्रेमास्वादन द्वारा
अपनी तीन वाञ्छाओं की पूर्त्ति—

कृष्णेर वियोगे यत प्रेम-चेष्टित।
आस्वादिया पूर्ण कैल आपन-वाञ्छित॥४३॥
अनन्त चैतन्यलीला क्षुद्र जीव हञा।
के बलिते पारे, ताहा विस्तार करिया॥४४॥

४३-४४। प० अनु०—कृष्ण के विरह में जितनी भी प्रेमचेष्टाएँ हैं, उन सबका आस्वादन करके श्रीमन् महाप्रभु ने अपनी वाञ्छाओं की पूर्त्ति की। चैतन्यलीला अनन्त है, क्षुद्र जीव कैसे इसका विस्तारपूर्वक वर्णन कर सकता है?

स्वयं अनन्तदेव भी गौरलीला का अन्त पाने में असमर्थ—

सूत्र करि' गणे यदि आपने अनन्त।
सहस्त्र-वदने तिंहो नाहि पाय अन्त॥४५॥

४५। प० अनु०—अनन्त भगवान् भी यदि उन लीला-ओं को सूत्र रूप में वर्णन करें, तो भी सहस्त्र मुखों से उनका वर्णन करने पर अन्त नहीं पा सकते।

मुरारिगुप्त और श्रीस्वरूप दामोदर के द्वारा
रचित सूत्र में आदि और शेष लीला का लेखन—

दामोदर-स्वरूप, आर गुप्त मुरारि।
मुख्यमुख्य लीला सूत्रे लिखियाछे विचारि'॥४६॥

४६। प० अनु०—श्रीस्वरूप-दामोदर एवं श्रीमुरारि-गुप्त ने मुख्य-मुख्य लीलाओं को सूत्र रूप में विचार करके लिखा है।

उन्हीं सूत्रों के अनुसार वृन्दावन दास
ठाकुर द्वारा गौरलीला-वर्णन—

सेइ अनुसारे लिखि लीला-सूत्रगण।
विस्तारि' वर्णियाछेन ताहा दास-वृन्दावन॥४७॥

४७। प० अनु०—उसी के अनुसार मैं उन लीला के सूत्रों को लिख रहा हूँ जिसे श्रीवृन्दावनदास ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

श्रीवृन्दावन दास की रचना के माधुर्य का वर्णन—

चैतन्य-लीलार व्यास,—दास वृन्दावन।
मधुर करिया लीला करिला रचन॥४८॥

४८। प० अनु०—श्रीवृन्दावनदास चैतन्यलीला के व्यास हैं। उन्होंने अत्यधिक मधुररूप से लीलाओं का वर्णन किया है।

ग्रन्थकार द्वारा उनके द्वारा छोड़े गये अंश के वर्णन की प्रतिज्ञा—

ग्रन्थ-विस्तार-भये छाड़िला ये ये स्थाने।
सेइ सेइ स्थाने किछु करिब व्याख्याने॥४९॥

४९। प० अनु०—ग्रन्थविस्तार के भय से उन्होंने जिन-जिन लीलाओं को छोड़ दिया है। उन-उन लीलाओं का मैं कुछ वर्णन करूँगा।

श्रीवृन्दावन दास ठाकुर को ग्रन्थकार द्वारा मर्यादा-प्रदान—

प्रभुर लीलामृत तिंहो कैल आस्वादन।
ताँर भुक्त-शेष किछु करिये चर्वण॥५०॥

५०। प० अनु०—श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने प्रभु की लीलामृत का आस्वादन किया है। उन्हीं का कुछ भुक्ता-वशेष (जूठा) मैं चर्वण कर रहा हूँ।

आदिलीला-सूत्रारम्भ—

आदिलीला-सूत्र लिखि, शुन, भक्तगण।
संक्षेपे लिखिये सम्यक् ना याय लिखन॥५१॥

५१। प० अनु०—हे भक्तवृन्द, सुनिये! मैं आदिलीला के सूत्रों को संक्षेप में लिख रहा हूँ क्योंकि उन्हें सम्पूर्ण रूप में लिखना सम्भव नहीं है।

तीन इच्छाओं की पूर्त्ति हेतु
श्रीकृष्ण का गौररूप में अवतार—

कोन वाञ्छा पूरण लागि' ब्रजेन्द्रकुमार।
अवतीर्ण हैते मने करिला विचार॥५२॥

५२। प० अनु०—किसी इच्छा की पूर्त्ति के लिये व्रजेन्द्रकुमार ने मन-ही-मन अवतीर्ण होने का विचार किया।

कृष्ण के गुरुजनों का अवतार—

आगे अवतारिला ये ये गुरु-परिवार।
संक्षेपे कहिये, कहा ना याय विस्तार॥५३॥

५३। प० अनु०—उन्होंने अपने से पहले जिन-जिन गुरुवर्गों को अवतीर्ण कराया उनको संक्षेप में कहता हूँ, विस्तार से कहना सम्भव नहीं है।

गुरुवर्ग का नाम—

श्रीशची-जगन्नाथ, श्रीमाधवपुरी।
केशव भारती, आर श्रीईश्वरपुरी॥५४॥
अद्वैत आचार्य, आर पण्डित श्रीवास।
आचार्यरत्न, विद्यानिधि, ठाकुर हरिदास॥५५॥
श्रीहट्ट-निवासी श्रीउपेन्द्रमिश्र-नाम।
वैष्णव, पण्डित, धनी, सद्गुण-प्रधान॥५६॥

५४-५६। प० अनु—श्रीशची-जगन्नाथ, श्रीमाधव पुरी, श्रीकेशवभारती, श्रीईश्वरपुरी, श्रीअद्वैत आचार्य, श्रीवास पण्डित, श्रीआचार्यरत्न, श्रीविद्यानिधि, श्रीहरि-दास ठाकुर और श्रीउपेन्द्रमिश्र—ये सब गुरुवर्ग हैं। इनमें से श्रीहट्ट-निवासी श्रीउपेन्द्रमिश्र वैष्णव, पण्डित, धनी और सद्गुणों से पूर्ण हैं।

अनुभाष्य

५६। उपेन्द्रमिश्र—गौःगः ३५—"पर्ज्जन्यो नाम गोपाल आसीत् कृष्णपितामहः। उपेन्द्र मिश्रः संजातः श्रीहट्टे सप्त पुत्रवान्॥" श्रीहट्ट-जिला के अन्तर्गत 'ढ़ाका-दक्षिण'—गाँव में इनका निवास है। आज भी वहाँ श्रीइन्द्र-कुमार मिश्र प्रमुख कोई-कोई अपने आपको इनके अध-स्तन के रूप में परिचय देकर वास करते हैं।

उपेन्द्र मिश्र के सात पुत्र—

सप्त मिश्र ताँर पुत्र—सप्त ऋषिश्वर।
कंसारि, परमानन्द, पद्मनाभ, सर्वेश्वर॥५७॥
जगन्नाथ, जनार्द्दन, त्रैलोक्यनाथ।
नदीयाते गंगावास कैल जगन्नाथ॥५८॥

५७-५८। प० अनु०—इनके सात पुत्र थे, जोकि सप्तऋषि थे। इनके नाम कंसारि, परमानन्द, पद्मनाभ, सर्वेश्वर, जगन्नाथ, जनार्द्दन और त्रैलोक्यनाथ है। इनमें से श्रीजगन्नाथ ने नवद्वीप में गङ्गा के तट पर निवास किया था।

कृष्णावतार में
जगन्नाथ का परिचय—

जगन्नाथ मिश्रवर—पदवी 'पुरन्दर'।
नन्द-वसुदेव पूर्वे सद्गुण-सागर॥५९॥

५९। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ मिश्रवर की पदवी 'पुरन्दर' थी। वे पूर्व में सद्गुणों के सागर श्रीनन्द-वसुदेव थे।

शची और नीलाम्बर चक्रवर्ती—

ताँर पत्नी 'शची'-नाम, पतिव्रता सती।
याँर पिता 'नीलाम्बर' नाम चक्रवर्ती॥६०॥

६०। प० अनु—इनकी पतिव्रता सती स्वरूप पत्नी का नाम 'शचीदेवी' था। जिनके पिता का नाम 'नीलाम्बर चक्रवर्ती' था।

अनुभाष्य

६०। नीलाम्बर चक्रवर्ती—गौः गः १०४— "नीला-म्बर चक्रवर्ती गौरस्य भावि जन्म यत्। सभायां कथयामास तेनासौ 'गर्ग' उच्यते। श्रीशच्या जनकत्वेन सुमुखो वल्लवो मतः॥ इनके ज्ञातिवंश फरीदपुर जिला के अन्तर्गत मग्डोवा गाँव में विद्यमान हैं। इनके भतीजे जगन्नाथ चक्रवर्ती अर्थात् 'मामुठाकुर' पण्डित गोस्वामी के शिष्य के रूप में श्रीक्षेत्र में टोटागोपीनाथ के सेवक थे। 'प्रेम-विलास'-ग्रन्थ में लिखा है कि, नीलाम्बर नवद्वीप में 'वेलपुकुरिया' नामक स्थान पर रहते थे। फिर काजीपाड़ा

में भी इनका घर (वासस्थान) होने से, गाँव के सम्बन्ध में काजी प्रभु के मामा के रूप में भी जाने जाते हैं। काजी का निवास समाधि के साथ विक्षिप्त होने की सम्भावना नहीं रहने से पूर्वकथित 'वेलपुकुरिया' पल्ली के सभी स्थान समूह 'वामनपुकुर' नामक पल्ली में परिवर्तित हो गये हैं, ऐसा जाना जाता है।

श्रीनित्यानन्द, गंगादास, मुरारि, मुकुन्द—

राढ़देशे जन्मिला ठाकुर नित्यानन्द।
गंगादास पण्डित, गुप्त मुरारि, मुकुन्द॥६१॥

६१। प० अनु—राढ़देश में श्रीनित्यानन्द प्रभु, गङ्गादास पण्डित, मुरारिगुप्त एवं मुकुन्द का जन्म हुआ।

अनुभाष्य

६१। राढ़देश में—वीरभूम-जिला के अन्तर्गत एकचक्रा गाँव में; वह इ,आइ,आर लूपलाइन में 'मल्लारपुर'-स्टेशन से लगभग आठ मील पूर्व दिशा की ओर स्थित है। एकचक्रा-गाँव उत्तर-दक्षिण में लम्बाई में चार कोस व्याप्त है। 'वीरचन्द्रपुर' अथवा 'वीरभद्रपुर' एकचक्रा की सीमा में स्थित है। वीरभद्र प्रभु के नाम से उस स्थान का नाम वीरचन्द्रपुर या वीरभद्रपुर हुआ है।

विगत १३३१ साल (बङ्गाब्द) के आषाढ़ मास में वज्रपात होने के कारण मन्दिर का चूड़ा टूट चुका है एवं मन्दिर भी बहुत जीर्ण हो चुका है। इससे पहले कभी भी श्रीमन्दिर के ऊपर इस प्रकार दैवदुर्विपाक नहीं हुआ था।

श्रीमन्दिर में श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु के द्वारा प्रतिष्ठित 'श्रीबंकिम राय' अथवा 'बाँका-राय' नामक श्रीकृष्ण-विग्रह विराजमान है। श्रीबंकिम राय के दक्षिण में जाह्नवा और बायीं ओर श्रीमती राधिका विराजित हैं। सेवायेतवृन्द कहते हैं कि, श्रीबंकिमराय में श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु प्रविष्ट हो जाने के कारण परवर्त्ति समय में उनके दाहिनी ओर जाह्नवा-माता की स्थापना हुई। पश्चात् श्रीमन्दिर में और भी अन्यान्य श्रीविग्रह स्थापित हुए हैं। श्रीमन्दिर के और एक सिंहासन पर 'मुरलीधर' और 'राधामाधव' श्रीविग्रह विराजित हैं एवं दूसरे सिंहासन पर मुर्शिदाबाद-जिला के विप्रघाटि-गद्दी के श्रीमनो-मोहन, श्रीवृन्दावनचन्द्र एवं श्रीनिताइ-गौर विग्रह को एकचक्रा में लाकर उन सबकी एक वर्ष से सेवा की जा रही है। कथित है कि, केवल श्रीबंकिमराय ही प्राचीन एवं नित्यानन्द प्रभु के द्वारा प्रतिष्ठत श्रीविग्रह हैं। प्रवाद है, श्रीमन्दिर के पूर्वी दिशा की ओर कदम्बखण्डी के घाट पर यमुना के जल में श्री बंकिमराय विग्रह तैर रहे थे; श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु ने उस विग्रह को जल से उठाकर सेवा-हेतु प्रतिष्ठित किया और वीर-चन्द्रपुर से लगभग १/२ मील पश्चिम की ओर 'भड्डापुर' नामक स्थान पर निम के वृक्ष के नीचे श्रीमती प्रकाशित हुईं। इसलिये अनेक व्यक्ति पहले बंकिमराय की श्रीमती को "भड्डापुर की ठाकुरानी" नाम से अभिहित किया करते थे। श्रीमन्दिर में अलग एक सिंहासन पर बाँकाराय के दाहिनी ओर 'योगमाया' विराजित हैं। श्रीमन्दिर और जगमोहन ऊँचे पक्के भित् के ऊपर स्थित हैं। सामने ही छोटा नाट्यमन्दिर है। सुनने में आता है कि, श्रीबाँकाराय के मन्दिर के उत्तरी दिशा की ओर 'भाण्डीश्वर' शिव अधिष्ठित थे एवं हाड़ाइ पण्डित उस वैष्णवराज शिव की आराधना किया करते थे। वर्तमान में वह शिवलिंग अन्तर्धान हो चुका है एवं उस स्थान पर श्रीजगन्नाथ विग्रह प्रतिष्ठित हैं।

श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु ने किसी मन्दिर आदि का निर्माण नहीं किया था। वीरभद्र प्रभु के समय का मन्दिर १२९८ (बङ्गाब्द) में टूट जाने पर 'शिवानन्द स्वामी' नामक किसी एक ब्रह्मचारी ने उस मन्दिर का संस्कार किया। श्रीविग्रह के भोग के लिये नित्यप्रति १७ सेर १० छटाक चावल की व्यवस्था है।

सेवायेत 'गोस्वामीवृन्द' नित्यानन्दान्वय श्रीगोपीजन-वल्लभानन्द के शाखा-वंश हैं। सेवा के लिये गोस्वामीयों के नाम से जमीनदारी की व्यवस्था है, इससे ही सेवा होती है। 'गोस्वामी' गण तीन भागों में विभक्त हैं, वे सब बारी-बारी सेवा करते हैं। श्रीगोष्ठविहारी 'गोस्वामी' जमीनदारी के आठ आना आठ गंडा, श्रीविजयचन्द्र

'गोस्वामी' आदि पाँच आना चौदह गंडा और श्रीप्रसन्न-कुमार बन्दोपाध्याय (गोस्वामियों के दौहित्र-सन्तान) एक आना अठारह गंडा के अंशीदार हैं।

मन्दिर से कुछ दूर 'विश्रामतला' नामक स्थान विद्यमान है। प्रवाद है, इसी स्थान पर श्रीनित्यानन्द प्रभु बाल्यकाल में सखाओं के साथ नाना प्रकार की ब्रजलीला एवं रासलीला का अभिनय किया करते थे।

'आमलीतला' नामक स्थान पर एक विस्तृत इमली का वृक्ष विराजित है। नेड़ादि सम्प्रदायों ने इस स्थान के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की काल्पनिक कहानियों का सृजन हुआ है। प्रवाद है, "श्वेतगङ्गा" नामक एक दीर्घिका का खनन वीरभद्र प्रभु के अनुगत १२०० नेड़ाओं ने किया था। कुछ ही दूर गोस्वामियों का समाधि-स्तंभ है; मौड़ेश्वर से द्वारकेश्वर नद तक उत्तर वाहिनी यमुना को पार करके १/२ मील के भीतर श्रीनित्यानन्द प्रभु का सूतिका-मन्दिर है। सूतिका-मन्दिर के सामने प्राचीन नाटमन्दिर था, अब वह टूटकर विस्तृत वटवृक्ष के द्वारा आच्छादित हो चुका है। परवर्ति समय में उस प्रांगण में एक भव्य मन्दिर का निर्माण हुआ है—इसमें श्रीगौर-नित्यानन्द-विग्रह विराजित हैं। जगमोहन के प्रस्तरफलक में स्वर्गीय प्रसन्नकुमार कारफरमा के स्मृतिरक्षार्थ १३२३ वर्ष, वैशाख मास में इस मन्दिर-संस्कार की कथाएँ लिपिबद्ध हैं।

जिस स्थान पर सूतिका-मन्दिर अवस्थित है, उस स्थान को "गर्भावास" नाम से अभिहित किया जाता है। सेवा के लिये लगभग ४३ बिघा भूमि की व्यवस्था है। इसमें से २० बिघा निष्कर भूमि है—वह दिनाजपुर के महाराज की भूमि है। गर्भवास के निकट हाड़ाई पण्डित का टोलगृह था।

उस स्थान के सेवायेतवृन्द के नाम—(१) श्रीराघव-चन्द्र गोस्वामी (ब्रज की चम्पकलता—गौः गः १६२, गोवर्द्धनवासी, तिरोभाव-तिथि—ज्यैष्ठ शुक्ला त्रयोदशी), (२) जगदानन्ददास (तिरोभाव-तिथि—राधाष्टमी), (३) कृष्णदास (चिड़िया-कुंज के, तिरोभाव-तिथि—कृष्ण-जन्माष्टमी, (४) नित्यानन्ददास, (५) रामदास, (६) ब्रजमोहनदास, (७) कानाइदास, (८) गौरदास, (९) शिवानन्ददास, (१०) हरिदास (वर्तमान सेवायेत)।

गर्भवास अथवा सूतिका-मन्दिर से कुछ ही दूरी पर बकुलतला है। इस स्थान पर श्रीनित्यानन्द प्रभु सखाओं के साथ "झाल-झपेटा" खेल खेलते थे। यह बकुलवृक्ष अति आश्चर्य है इस वृक्ष की शाखाप्रशाखा समूह ठीक सर्प की भाँति मुख-फणादि विशिष्ट हैं; लगता है, अनन्तदेव श्रीनित्यानन्द प्रभु की इच्छा से इन रूप में प्रकाशित हैं। वृक्ष भी बहुत प्राचीन है। सुनने में आता है, इस वृक्ष के दो डाल पहले अलग-अलग थे; खेलते समय सखावृन्द को एक डाल से दूसरे डाल में आते जाते कष्ट होता देखकर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने दोनों शाखाओं को एकसाथ मिला दिया।

हाँटुगाड़ा—किंवदन्ती है, श्रीनित्यानन्द प्रभु ने समस्त तीर्थों को इस स्थान पर लाकर समावेश किया था। आज भी इस धाम के वासीगण गङ्गादि तीर्थ में न जाकर इस तीर्थ में ही स्नान करते हैं। श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु ने इस स्थान पर दधिचिड़ा-महोत्सव किया था। प्रवाद है, उन्होंने इस स्थान पर घुटनों पर बैठकर दधिचिड़ा का भोजन किया था। इसलिये यहाँ गड्ढा हो गया; इसी कारण इस स्थान का नाम 'हाटुगाड़ा' है। बारह मास तक इस कुण्ड में जल रहता है।

कार्त्तिक मास में गोष्ठ के समय इस स्थान पर बड़ा मेला होता है। माघी शुक्ला त्रयोदशी में श्रीनित्यानन्द प्रभु के जन्मोत्सव के समय भी वीरचन्द्रपुर में विराट मेले का आयोजन होता है। गौःगः ११श्लोक—"भक्तस्वरूपो नित्यानन्दो ब्रजे यः श्रीहलायुधः।" एवं ५८-५९ श्लोक—"बलदेवो विश्वरूपो व्यूहः संकर्षणो मतः। नित्यानन्दावधूतश्च प्रकाशेन स उच्यते॥" यही व्रज के बलराम हैं।

अन्त में स्वयं अवतीर्ण—

असंख्य भक्तेर कराइला अवतार।
शेषे अवतीर्ण हैला ब्रजेन्द्रकुमार॥६२॥

६२। प० अनु—असंख्य भक्तवृन्द को पहले अवतरित करवाकर अन्त में स्वयं व्रजेन्द्रकुमार अवतीर्ण हुये।

अनुभाष्य

६२। आदि ३य प:९३ द्रष्टव्य है।

श्रीमन् महाप्रभु के अवतीर्ण होने से पहले
श्रीअद्वैताचार्य ही सभी के पूज्य और प्रधान—

प्रभुर आविर्भावपूर्वे यत वैष्णवगण।
अद्वैत-आचार्येर स्थाने करेन गमन॥६३॥

६३। प० अनु—श्रीमन् महाप्रभु के आविर्भाव से पहले समस्त वैष्णववृन्द श्रीअद्वैत-आचार्य के स्थान पर जाते थे।

श्रीअद्वैतप्रभु की भक्ति-व्याख्या—

गीता-भागवत कहे आचार्य गोसाञि।
ज्ञान-कर्म निन्दि' करे भक्तिर बड़ाइ॥६४॥

६४। प० अनु—आचार्य-गोसाईं (श्रीअद्वैताचार्य) गीता-भागवत की कथा सुनाते थे एवं ज्ञान और कर्म की निन्दा करके भक्ति की श्रेष्ठता का वर्णन करते थे।

एकमात्र कृष्णभक्ति की ही
अभिधेय के रूप में व्याख्या—

सर्वशास्त्रे कहे कृष्णभक्तिर व्याख्यान।
ज्ञान, योग, तपो-धर्म्म नाहि माने आन॥६५॥

६५। प० अनु—श्रीअद्वैताचार्य सभी शास्त्रों में कृष्ण भक्ति की ही व्याख्या करते थे एवं ज्ञान, योग, तप, धर्म आदि किसी को भी न मानते थे।

उनको प्रधान-मानकर सभी
वैष्णवों द्वारा कृष्णभजन—

ताँर संगे आनन्द करे वैष्णवेर गण।
कृष्णकथा, कृष्णपूजा, नामसंकीर्तन॥६६॥

६६। प० अनु—उनके साथ वैष्णववृन्द कृष्णकथा, कृष्णपूजा और नामसंकीर्तन करते हुए परम आनन्द में रहते थे।

प्रकट होकर आचार्य को जीवों की इन्द्रियसुख
की तत्परता को देखकर दु:ख की प्राप्ति—

किन्तु सर्वलोक देखि' कृष्णबर्हिमुख।
विषये निमग्न लोक देखि' पाय दु:ख॥६७॥

६७। प० अनु—श्रीअद्वैताचार्य सभी लोगों को विषयी में मग्न एवं श्रीकृष्ण से बर्हिमुख देखकर दु:खी होते थे।

लोगों के उद्धार हेतु आचार्य की गम्भीर चिन्ता—

लोकेर निस्तार-हेतु करेन चिन्तन।
केमते ए सर्वलोकेर हइबे तारण॥६८॥

६८। प० अनु—लोगों के उद्धार के लिए आचार्य चिन्ता करने लगे। किस प्रकार से इन सभी लोगों का उद्धार होगा।

स्वयं श्रीकृष्ण के अवतार द्वारा
ही लोगों का उद्धार सम्भवपर—

कृष्ण अवतरि' करेन भक्तिर विस्तार।
तबे त' सकल लोकेर हइबे निस्तार॥६९॥

६९। प० अनु—यदि 'कृष्ण अवतीर्ण' होकर भक्ति का प्रचार करें, तभी सब लोगों का उद्धार हो सकता है।

स्वयं श्रीकृष्ण को अवतरित कराने हेतु कृष्णपूजा—

कृष्ण अवतारिते आचार्य प्रतिज्ञा करिया।
कृष्णपूजा करे तुलसी-गंगाजल दिया॥७०॥

७०। प० अनु—श्रीकृष्ण को अवतीर्ण कराने के लिए आचार्य ने प्रतिज्ञा की और तुलसी-गङ्गाजल देकर कृष्णपूजा करने लगे।

श्रीकृष्ण का आह्वान और श्रीकृष्ण का आकर्षण—

कृष्णेर आह्वान करे सघन हुँकार।
हुँकारे आकृष्ट हैला ब्रजेन्द्रकुमार॥७१॥

७१। प० अनु—सघन हुँकार करके वे श्रीकृष्ण का आह्वान करने लगे और उनकी हुँकार के द्वारा व्रजेन्द्र-कुमार आकृष्ट हुये।

अनुभाष्य

६७-७१। आदि ३य प:९५-१०९ संख्या एवं चै:भा: आदि, २य अध्याय द्रष्टव्य है।

गौरावतार से पहले मिश्र और शची
की आठ कन्याओं की मृत्यु—

जगन्नाथमिश्र-पत्नी शचीर उदरे।
अष्ट कन्या क्रमे हैल, जन्मि' जन्मि' मरे॥७२॥

७२। प० अनु—श्रीजगन्नाथ मिश्र की पत्नी श्रीशची देवी के गर्भ में एक-एक करके आठ कन्याएँ ने जन्म लिया, परन्तु जन्म के बाद सब मृत्यु को प्राप्त हुईं।

मिश्र का दु:ख और पुत्र प्राप्ति
के लिये विष्णु की आराधना—

अपत्य-विरहे मिश्रेर दु:खी हैल मन।
पुत्र लागि' आराधिल विष्णुर चरण॥७३॥

७३। प० अनु—सन्तान के विरह में मिश्र का मन दु:खी हुआ और उन्होंने पुत्र प्राप्ति के लिए विष्णु के चरणकमलों की आराधना की।

उनकी नवम सन्तान—विश्वरूप—

तबे पुत्र जनमिल 'विश्वरूप' नाम।
महा-गुणवान् तेंहो—'बलदेव'-धाम॥७४॥

७४। प० अनु—तब एक पुत्र ने जन्म लिया जिसका नाम 'विश्वरूप' था। वे महागुणवान बलदेव-धाम स्वरूप थे।

अनुभाष्य

७४। विश्वरूप—श्रीगौरहरि के बड़े भाई थे। विवाह से पहले ही संन्यास ग्रहण करके इन्होंने 'शंकरारण्य' नाम प्राप्त किया। विश्वरूप १४३१ शकाब्द में मुम्बई-प्रदेश के शोलापुर जिला के अन्तर्गत 'पाण्डेरपुर' में अप्रकट हुये। वे विश्व के 'उपादान' एवं 'निमित्त'—दोनों कारणस्वरूप हैं। गौ: ग: ५८-५९ श्लोक—"अंशांसिनोर-भेदेन व्यूह आद्य: शचीसुत:। बलदेवो विश्वरूपो व्यूह: संकर्षणो मत:॥ नित्यानन्दवधूतश्च प्रकाशेन स उच्यते॥" गौरचन्द्रोदये धर्मं प्रति वाक्यं कलेर्यथा—'अस्याग्रजस्त्व-कृतदारपरिग्रह: सन् संकर्षण: स भगवान् भुवि विश्वरूप:। स्वीयं मह: किल पुरीश्वरमर्पयित्वा पूर्वं परिव्रजित एवं तिरोवभुव'॥ इति 'नित्यानन्दावधूतो मह इति महितं हन्त संकर्षणं य:' इति च। 'यदा श्रीविश्वरूपोऽयं तिरोभूत: सनातन:। नित्यानन्दावधूतेन मिलित्वापि तदा स्थित:॥"

विश्वरूप ही वैकुण्ठ के महासंकर्षण—

बलदेव-प्रकाश—परव्योमे 'संकर्षण'।
तेंहो-विश्वेर उपादान-निमित्त-कारण॥७५॥
ताँहा वई विश्वे किछु नाहि देखि आर।
अतएव 'विश्वरूप' नाम ये ताँहार॥७६॥

७५-७६। प० अनु०—परव्योम के सङ्कर्षण ही बलदेव के प्रकाश हैं। वे विश्व के उपादान और निमित्त कारण हैं। उनके अतिरिक्त विश्व में और कुछ नहीं है। इसलिये उनका नाम 'विश्वरूप' है।

अमृतप्रवाह भाष्य

७५। विश्वरूप—परव्योम में स्थित महासंकर्षण के अवतार।

(श्रीमद्भागवत १०.१५.३५)

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे।
ओत प्रोतमिदं यस्मिन् तन्तुष्वङ्ग यथा पट:॥७७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७७। अनन्त भगवान् जगदीश्वर में कुछ भी विचित्र (आश्चर्यजनक) नहीं है,—जिनमें यह विश्व वस्त्र के तन्तुविषय की भाँति ओतप्रोतरूप में प्रतीत होता है।

अनुभाष्य

७७। श्रीबलदेव के द्वारा धेनुकासुर वध-लीला को उद्देश करके श्रीशुकदेव श्रीपरीक्षित से कहते हैं,—

हे अंग, (राजन्) यस्मिन् इदं विश्वं तन्तुषु पट: (वसन) यथा (इव) ओतं प्रोतं (मिथ: सन्मिलित) (तस्मिन्) अनन्ते (अपरिछिन्ने) जगदीश्वरे भगवति

(तस्मिन विष्णौ) एतं (असुरनिधानादिक) चित्रम् (आश्-चर्य) न हि (एव) भवति।

प्रभु द्वारा 'बड़ा भाई'
बोलने का कारण—

अतएव प्रभु ताँरि बले, 'बड़ भाई'।
कृष्ण, बलराम दुइ—चैतन्य, निताइ॥७८॥

७८। प० अनु०—अतः प्रभु उन्हें 'बड़ा भाई' कहकर पुकारते हैं। जैसे कृष्ण, बलराम हैं, वैसे ही चैतन्य और निताइ हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

७८। क्योंकि महासंकर्षण 'उपादान' और 'निमित्त' कारण के रूप में विश्व में ओतप्रोतभाव से विराजमान हैं, इसलिये उन्हें श्रीमन् महाप्रभु के 'बड़े भाई' के रूप में अभिहित किया है; परन्तु कृष्णलोक में जो कृष्ण-बलराम हैं, वे ही चैतन्य और निताइ हैं। अतः श्रीनित्यानन्द प्रभु—मूल संकर्षण अर्थात् बलदेव हैं।

पुत्र-प्राप्ति से मिश्र-शची
को आनन्द—

पुत्र पाञा दम्पति हैला आनन्दित मन।
विशेषे सेवन करे गोविन्दचरण॥७९॥

७९। प० अनु०—पुत्र को पाकर दम्पति श्रीजगन्नाथ मिश्र और श्रीशचीदेवी का मन अत्यन्त आनन्दित हुआ एवं वे विशेष भाव से श्रीगोविन्द के चरणों की सेवा करने लगे।

प्रकट होने से १३ मास पहले
श्रीकृष्ण का शचीदेवी के
गर्भ में प्रवेश—

चौद्दशत छय शके शेष माघ-मासे।
जगन्नाथ-शचीर देहे कृष्णेर प्रवेशे॥८०॥

८०। प० अनु०—१४०६ शकाब्द के माघ मास के अन्त में श्रीजगन्नाथ मिश्र और श्रीशचीदेवी के देह में श्रीकृष्ण प्रविष्ट हुये।

शची के अलौकिक अवस्था परिवर्तन
को देखकर मिश्र का विस्मित होना—

मिश्र कहे शची-स्थाने,—देखि अन्य रीत।
ज्योतिर्मय देह, गेह लक्ष्मी-अधिष्ठित॥८१॥
याँहा ताँहा सर्वलोक करये सम्मान।
घरे पाठाइया देय धन, वस्त्र, धान॥८२॥

८१-८२। प० अनु०—श्रीशचीदेवी के आलौकिक लक्षणों को देखकर श्रीजगन्नाथ मिश्र श्रीशचीदेवी से कहने लगे—'तुम्हारा देह ज्योतिर्मय हो रहा है, ऐसा प्रतीत होता है जैसे हमारे घर में लक्ष्मी वास कर रही है।' जहाँ भी जाता हूँ, सभी लोग मेरा सम्मान करते हैं और स्वयं ही घर में धन, वस्त्र, धान आदि भेज देते हैं।

देवताओं को स्तुति करते हुए
देखकर शची का विस्मित होना—

शची कहे,—मुञि देखों आकाश-उपरे।
दिव्यमूर्ति लोक आसि' स्तुति येन करे॥८३॥

८३। प० अनु०—श्रीशची कहती हैं,—जब भी मैं आकाश की ओर देखती हूँ तो ऐसा लगता है, जैसे अनेक दिव्यमूर्त्तिधारी लोग आकर मेरी स्तुति कर रहे हैं।

श्रीकृष्ण का पहले मिश्र के हृदय में
प्रवेश, बाद में शची के हृदय में प्रवेश—

जगन्नाथ मिश्र कहे,—स्वप्न ये देखिल।
ज्योतिर्मय-धाम मोर हृदये पशिल॥८४॥

८४। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ मिश्र ने कहा,—मैंने स्वप्न में देखा कि, एक ज्योतिर्मय-धाम आकर मेरे हृदय में प्रवेश कर गया है।

किसी महापुरुष के आविर्भाव की आंशका—

आमार हृदय हैते तोमार हृदये।
हेन बुझि, जन्मिवेन कोन महाशये॥८५॥

८५। प० अनु०—फिर मेरे हृदय से वे तुम्हारे हृदय में चला गया, ऐसा लगता है कि किसी महापुरुष का जन्म होने वाला है।

दोनों के द्वारा विशेष रूप से नारायण-सेवा—

एत बलि' दुँहे रहे हरषित हञा।
शालग्राम सेवा करे विशेष करिया॥८६॥

८६। प० अनु—इतना कहकर दोनों हर्षित हुए एवं विशेषरूप से शालग्राम की सेवा करने लगे।

अनुभाष्य

८०-८६। यही सिद्धान्त है कि, श्रीजगन्नाथ एवं श्रीशची की नित्यसिद्धता के कारण उनका हृदय और शरीर शुद्धसत्त्वमय है,—कभी भी साधारण प्राकृत जीव की भाँति नहीं। विशुद्धसत्त्व का नाम 'वसुदेव' है; वसुदेव में ही चिद्‌विलासी वासुदेव प्रकट होते हैं (भा. ४/३/२३ श्लोक के गौड़ीय भाष्यके अन्तर्गत 'विवृति' द्रष्टव्य है। जड़ेन्द्रिय-तर्पणमय प्राकृत रक्त-मांसमयशरीर-सम्पन्न स्त्री-पुरुष की कामक्रीड़ा एवं गर्भ की भाँति श्रीजगन्नाथ और श्रीशचीदेवी का मिलन एवं श्रीशचीदेवी में गर्भ का संचार नहीं हुआ है; अतः मन-ही-मन इस प्रकार चिन्तन करना भी अपराध है। भगवत् सेवोन्मुख चित्त में विचार करने से शुद्ध-सत्त्वमयी श्रीशचीदेवी की अप्राकृत-गर्भ-महिमा हृदयङ्गम होगी। भाः १०/२/१६ श्लोक—"भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयंकरः। आविवेशांश-भागेन मन आनकदुन्दुभेः॥" श्रीधर-स्वामिकृतटीका—'मन आविवेश' मनस्याविवर्भूव;—जीवानामिव न धातु-सम्बन्ध इत्यर्थः।" उसी भा:१०/२/१८ में और १९ श्लोक भी इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य हैं। इस सम्बन्ध में श्रीरूप-गोस्वामी प्रभु के द्वारा रचित लघुभागवतामृत में १६०-१६५ श्लोक के मर्मानुवाद—भाः १०/२/१६ श्लोक में स्थित प्रकटलीलाविर्भाव के प्रसङ्ग में 'आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः'—इस वचन से श्रीकृष्ण पहले आनक-दुन्दुभि (वसुदेव महाराज) के हृदय में प्रकट हुये। तत्‌पश्चात् आनकदुन्दुभि के हृदय से देवकी के हृदय में प्रकट हुये। देवकी का वात्सल्यरूप प्रेमानन्दामृत समूह के द्वारा पालित होकर श्रीकृष्ण ने उन देवकी के हृदय में चन्द्र की भाँति उत्तरोत्तर स्वयं की वृद्धि का प्रदर्शन किया। पश्चात् देवकी के हृदय से तिरोहित होकर श्रीकृष्ण कंस के कारागार में स्थित सूतिकाघर में देवकी की शय्या पर आविर्भूत हुये। देवकी आदि ने तब योग-माया से अविभूत होकर विचार किया कि लौकिक रीति के अनुसार ही शिशु ने परमसुख से जन्मग्रहण किया है। भक्त और भगवान् की इस प्रकार मनुष्योचित अप्राकृत भावनिचय अति उपादेयभाव से परम चमत्कारमय चिल्लीला-विलास का सहायक होकर माया-मुग्ध महा-सूरियों को भी विमोहित एवं परव्योम-वैकुण्ठ से भी मथुरा-धाम की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर रहा है। इस प्रकार से श्रीकृष्ण नित्यकाल नित्य यशोदा के नित्यपुत्र के रूप में विराजमान होकर अनन्त अप्रकट-लीला में भी इस प्रकार विलास कर रहे हैं। प्रियतम भक्तवृन्द के लिये आनन्ददायक एवं स्वयं का भी चमत्कारकारक इस प्रकार की लीलाओं के उल्लास के द्वारा श्रीलीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण नित्यकाल व्रज में विलास करते हैं। अप्राकृत नन्द-यशोदा के अप्राकृत असमोर्द्ध-वात्सल्य के वश में भगवान् नित्य ही स्वयं को उनके नित्यपुत्र के रूप में जानते हैं। श्रीदशम स्कन्द में (१०/५/१)—"आत्मज उत्पन्न होने से महात्मा नन्द अत्यन्त आह्लादित हुये।" उसी दशम स्कन्द में ही (१०/ ६/४३)—उदार-हृदय नन्द ने विदेश (मथुरा) से लौटकर निजपुत्र कृष्ण को गोद में उठाकर उसका मस्तक आघ्राण करके परमानन्द को प्राप्त किया।" फिर (१०/९/२१)—"यह भगवान् गोपिकासुत श्रीकृष्ण भक्तवृन्द के लिये जिस प्रकार सुलभ हैं; देहात्मवादी, तपस्वी अथवा आत्मदर्शी ज्ञानियों के लिये कभी भी उस प्रकार सुखलभ्य नहीं है।"

श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण—"तदिदमानकदुन्दु-भेर्हृदयस्तेन स्वयं भगवत रूपेण कृष्णेन सहैक्यं प्राप्य देवकीहृदि प्राकट्यं गच्छेत्—'ततो जगन्मंगलमच्युतांश' समाहितं ('सम्यग्‌भूतमेवाहितं वैधदीक्षया अर्पितम्' इति स्वामिचरणाः) शूर-सुतेनदेवी ('शुद्धसत्त्वेत्यर्थः' इति स्वामिचरणाः) दधार सर्वात्मकं आत्मभूतं काष्ठा यथा-नन्दकरं मनस्तः॥" (भाः १०/२/१८) इति शुकोक्तेः। यद्यपि देवकीहृदीत्युक्तं, तथापि तद्‌गर्भस्थितिर्बोध्या,—

'दिष्ट्याम्ब, ते कुक्षिगतः परः पुमान्' (भाः १०/२/४१) इति देवस्तोत्रात्। *** जन्मप्रकरणे—'देवक्यां देव-रूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः। आविरासीद यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥' (भाः १०/३/८) इति"।

"पूर्व दिशा में जैसे चन्द्रमा का उदय होता है, उसी प्रकार शुद्धसत्त्वमयी देवकी ने शूरसेन (वसुदेव) के द्वारा कृष्णदीक्षा प्राप्त होकर जगन्मङ्गलस्वरूप सर्वात्मा एवं परमात्मा श्रीअच्युत को हृदय में धारण किया,—श्रीमद्भागवत के इस वचन से जाना जाता है कि, श्री आनकदुन्दुभि के (वसुदेव के) हृदय से स्वयं भगवान् देवकी के हृदय में प्रकट हुये। इस स्थान पर यद्यपि 'देवकी के हृदय में' वचन का व्यवहार हुआ है, तथापि इसके द्वारा देवकी की गर्भावस्थिति को ही समझना चाहिए। क्योंकि श्रीमद्भागवत में "हे मातः, आपकी कुक्षि (गर्भ) में परम पुरुष अधिष्ठित हैं" यह देवस्तुति देखी जाती है। भगवान् के जन्म-प्रकरण में भी—"पूर्णचन्द्र जैसे पूर्वदिशा में उदित होते हैं, उसी प्रकार सर्वगुहाशय (सर्वान्तर्यामी) विष्णु देवकी के हृदय में आविर्भूत हुये" यह भागवतवचन विशेषरूप से द्रष्टव्य है।

यहाँ (७९ पयार में) "विशेषे सेवन करे गोविन्द-चरण" इस वचन से मिश्र एवं शची की नित्य गोविन्द चरणसेवा-निमग्न हृदय में ही श्रीगौरसुन्दर आविर्भूत हुये ऐसा जानना चाहिए।

१३ मास में भी अवतरित
होने की असम्भावना—

हैते हैते हैल गर्भ त्रयोदश मास।
तथापि भूमिष्ठ नहे,—मिश्रेर हैल त्रास॥८७॥

८७। प॰ अनु॰—इस प्रकार होते-होते गर्भ १३ मास का हो गया। फिर भी भूमिष्ठ न होने के कारण श्रीजगन्नाथ मिश्र भयभीत हो गये।

नीलाम्बर चक्रवर्ती की गणना—

नीलाम्बर चक्रवर्ती कहिल गणिया।
एइ मासे पुत्र हबे शुभक्षण पाञा॥८८॥

८८। प॰ अनु॰—तब नीलाम्बर चक्रवर्ती ने गिनकर (ज्योतिष-विचार कर) कहा, इसी मास में ही शुभ समय में पुत्र का जन्म होगा।

गौरप्रभु का
अवतरण—

चौद्दशत सातशके मास ये फाल्गुन।
पौर्णमासीर सन्ध्याकाले हैले शुभक्षण॥८९॥
सिंह-राशि, सिंह-लग्न, उच्च ग्रहगण।
षड्वर्ग, अष्टवर्ग, सर्व सुलक्षण॥९०॥

८९-९०। प॰ अनु॰—१४०७ शकाब्द के फाल्गुन मास की पूर्णिमा की सन्ध्या में शुभ समय उपस्थित हुआ। उस समय सिंह-राशि, सिंह-लग्न, श्रेष्ठ ग्रहसमूह, षड्वर्ग, अष्टवर्ग, आदि सर्व सुलक्षण-युक्त शुभ समय का उदय हो गया।

अमृतप्रवाह भाष्य

८९। जन्मकोष्ठीः—

शक १४०७।१०। २२।२८।४५

	दिनं	
७	११	८
१५	५४	३८
४०	३७	४०
१३	६	२३

प्रभु के जन्म के समय—मेष में शुक्र अश्विनी-नक्षत्र में, सिंह में केतु उत्तर फाल्गुनी-नक्षत्र में, चन्द्रमा पूर्व फाल्गुनी नक्षत्र में, वृश्चिक में शनि ज्येष्ठा-नक्षत्र में, धनु में बृहस्पति पूर्वषाड़ा—नक्षत्र में, मकर में मङ्गल श्रवणा-नक्षत्र में, कुम्भ में रवि पूर्वभाद्रपद में, राहु पूर्व-भाद्रपद नक्षत्र में, मीन में बुध उत्तरभाद्रपद नक्षत्र में, सिंह लग्न।

नवमाधिपति मङ्गल ऊँचे, शुक्र और शनि लगभग ऊँचे, बृहस्पति अपने घर में धर्म-स्थान में स्थित शुक्र को देख रहे हैं। दशमाधिपति गुरुदृष्ट शुक्र नवम में।

अनुभाष्य

८९। श्रीचैतन्यचन्द्रोदय-नाटक के अन्त में—शाके चतुर्दशशते रवि-वाजियुक्ते गौरो हरिधरणीमंडल आविरासीत्।" अनेक घटनासमूह एवं निर्दिष्ट समय के साथ इस शकाब्द में श्रीमन् महाप्रभु के उदय-काल का सामाञ्जस्य नहीं होता, इसलिये किसी-किसी के मतानुसार १४२६ अथवा अन्य शकाब्द ही शुद्ध होगा ऐसा मानते हैं।

९०। षड्वर्ग—क्षेत्र, होरा, द्रेक्काण, नवांश, द्वादशांश, और त्रिंशांश,—इन छह को 'षड्वर्ग' कहते हैं। लग्न के स्पष्ट अंश के अनुसार कथित षड्वर्ग के अधिपति का विचार करके सुलक्षण को स्थिर किया।

अष्टवर्ग—'बृहत् जातकादि' ग्रन्थों में कथित ग्रह के तात्कालिक स्थान से निर्दिष्ट रेखापात करके अष्टवर्ग गिने जाते हैं। इससे फल योजना के द्वारा होराशास्त्रविद्गण शुभाशुभ-निर्णय की व्यवस्था करते हैं। इस गणना में भी चक्रवर्त्ती महादेय ने श्रीमन् महाप्रभु में सुलक्षणों का दर्शन किया।

चन्द्रमा को तिरस्कार करके
ही जैसे श्रीगौरचन्द्र का उदय—

अ-कलंक गौरचन्द्र दिला दरशन।
स-कलंक चन्द्रे आर कोन् प्रयोजन॥९१॥

९१। प० अनु०—इस शुभक्षण में अ-कलंक (निष्कंलक) श्रीगौरचन्द्र ने दर्शन दिया। अतः स-कलंक (कलंक युक्त) चन्द्र से और क्या प्रयोजन है?

चन्द्रग्रहण और उसके उपलक्ष्य में
जीवों द्वारा हरिनाम-ग्रहण—

एत जानि' चन्द्रे राहु करिला ग्रहण।
'कृष्ण' 'कृष्ण' 'हरि' नामे भासे त्रिभुवन॥९२॥
जय जय ध्वनि हैल सकल भुवन।
चमत्कार हैया लोक भावे मने मन॥९३॥

९२-९३। प० अनु०—ऐसा जानकर कि राहु ने चन्द्र को ग्रास किया है, त्रिभुवन में 'कृष्ण' 'कृष्ण' 'हरि' नाम की ध्वनि होने लगी। समस्त भुवन में जय-जयकार की ध्वनि होने लगी और लोग मन-ही-मन चमत्कार का अनुभव करने लगे।

जीवों के द्वारा हरिनाम
उच्चारण करते समय,
प्रभु का अवतार—

जगत् भरिया लोक बले—'हरि' 'हरि'।
सेइक्षणे गौरकृष्ण भूमे अवतरि॥९४॥

९४। प० अनु०—जिस समय लोग 'हरि' 'हरि' कह रहे थे, उसी क्षण श्रीगौरकृष्ण पृथ्वी पर अवतीर्ण हुये।

उस समय यवनों द्वारा भी उपहास
के छल से हरिनाम ग्रहण—

प्रसन्न हइल सब जगतेर मन।
'हरि' बलि' हिन्दुके हास्य करये यवन॥९५॥

९५। प० अनु०—समस्त जगतवासियों का मन प्रसन्न हो गया और यवन भी हिन्दुओं की हँसी उड़ाते हुए हरि-हरि कहने लगे।

स्वर्ग में देवताओं
को आनन्द-प्राप्ति—

'हरि' बलि' नारीगण देइ हुलाहुलि।
स्वर्गे वाद्य-नृत्य करे देव कुतुहली॥९६॥

९६। प० अनु०—'हरि' 'हरि' कहती हुईं नारियाँ हुलाहुलि (उलुध्वनि) करने लगीं और स्वर्ग के देवता भी वाद्य बजाते हुए, नृत्य करने लगे।

सभी स्थानों पर
आनन्द की लहर—

प्रसन्न हैल दश दिक्, प्रसन्न नदीजल।
स्थावर-जङ्गम हैल आनन्दे विह्वल॥९७॥

९७। प० अनु०—दशों दिशाएँ प्रसन्न हो गईं, नदी का जल भी प्रसन्न हो गया। स्थावर और जङ्गम सभी आनन्द से विह्वल हो उठे।

प्रभु की जन्मलीला का सूत्र; हरिनाम कीर्तन के बीच में श्रीगौरहरि का आविर्भाव—

नदीया-उदयगिरि, पूर्णचन्द्र गौरहरि,
कृपा करि' हइल उदय।
पाप-तमो हैल नाश, त्रिजगतेर उल्लास,
जगभरि' हरिध्वनि हय॥९८॥

९८। प० अनु०—नदीया के उदयगिरि पर पूर्णचन्द्र गौरहरि कृपापूर्वक उदित हुए हैं। जिसके फलस्वरूप पापरूपी अन्धकार का नाश हुआ, त्रिभुवन को उल्लास हुआ तथा सम्पूर्ण जगत् हरिध्वनि से भर गया।

श्रीअद्वैतप्रभु का आनन्दित होकर नृत्य करना—

सेइकाले निजालय, उठिया अद्वैत राय,
नृत्य करे आनन्दित-मने।
हरिदासे लञा संगे, हुँकार-कीर्तन-रङ्गे,
केने नाचे, केह नाहि जाने॥९९॥

९९। प० अनु०—उसी समय श्रीअद्वैत राय अपने निवास पर उठकर आनन्दित-मन से, हरिदास को साथ लेकर, हुँकार एवं कीर्तन के आनन्द में नृत्य करने लगे। परन्तु यह कोई नहीं जान पाया कि वे नृत्य क्यों कर रहे हैं।

अनुभाष्य

९९। निजालय—शान्तिपुर के भवन में। प्रभु के जन्म वाले दिन हरिदास ठाकुर शान्तिपुर में थे।

चन्द्रग्रहण के समय लोगों द्वारा हरिध्वनि—

देखि' उपराग हासि', शीघ्र गङ्गाघाटे आसि',
आनन्दे करिल गङ्गास्नान।
पाञा उपराग-छले, आपनार मनोबले,
ब्राह्मणेरे दिल नाना दान॥१००॥

१००। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य ग्रहण को देखकर हँसते हुए शीघ्र गङ्गा के घाट पर चले आये और उन्होंने आनन्दपूर्वक गङ्गा में स्नान किया। ग्रहण के छल से और अपने मनोबल से (मन के द्वारा) ब्राह्मणों को अनेक दान दिया।

अनुभाष्य

१००। उपराग—ग्रहण, मनोबल से—मन के उत्साह से। अथवा मन के द्वारा ब्राह्मणों को दान किया था। भाः (१०/३/११)—"स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा। कृष्णावतारोत्सव-संभ्रमोऽस्पृशन्मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम्॥" भगवान् श्रीहरि को पुत्र के रूप में दर्शन करके वसुदेव ने कृष्णजन्मोत्सव के कारण आनन्दित होकर मन-ही-मन ब्राह्मणों को दस हजार गैयाएँ दान की।

श्रीअद्वैताचार्य द्वारा हरिदास को श्रीमन् महाप्रभु के शुभाविर्भाव का इङ्गित प्रदान—

जगत् आनन्दमय, देखि मने सविस्मय,
ठारेठोरे कहे हरिदास।
तोमार ओइछन रङ्ग, मोर मन परसन्न,
देखि—किछु कार्ये आछे भास॥१०१॥

१०१। प० अनु०—जगत् को आनन्दमय देखकर श्रीअद्वैताचार्य सविस्मित मन से हरिदास को इङ्गित कर कहने लगे, तुम इतने आनन्द में हो एवं मेरा मन भी अत्यन्त प्रसन्न है। ऐसा लगता है कोई विशेष कार्य प्रकाशित होने वाला है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०१। देखि किछु कार्ये आछे भास,—लगता है यह किसी विशेष कार्य का प्रकाशन है।

अनुभाष्य

१०१। ठारे-ठोरे—इङ्गित करके

श्रीवास का आनन्दपूर्वक हरिनाम-कीर्तन—

आचार्यरत्न, श्रीवास, हैल मने सुखोल्लास,
याइ, स्नान कैल गङ्गा-जले।
आनन्दे विह्वल मन, करे हरिसंकीर्तन,
नाना दान कैल मनोबले॥१०२॥

१०२। प० अनु०—आचार्यरत्न और श्रीवास के मन में भी सुख का अपूर्व उल्लास हुआ। दोनों ने जाकर

गङ्गाजल में स्नान किया और आनन्द-विह्वल मन से हरिसङ्कीर्तन करते हुये अपने मनोबल से बहुत दान किया।

सम्पूर्ण जगत् के सभी भक्तों के हृदय में आनन्द—

एइ मत भक्तयति, याँर येइ देशे स्थिति,
ताँहा ताँहा पाञा मनोबले।
नाचे, करे सङ्कीर्तन, आनन्दे विह्वल मन,
दान करे ग्रहणेर छले॥१०३॥

१०३। प० अनु०—इस प्रकार जहाँ-जहाँ जितने भी भक्त संन्यासी थे, वहाँ-वहाँ अपने मनोबल से सबकुछ जानकर, सभी आनन्द-विह्वल मन से सङ्कीर्तन-नृत्य करने लगे और ग्रहण के छल से दान देने लगे।

स्वर्णकान्ति शिशु के दर्शन से
नर-नारी सभी को आनन्द—

ब्राह्मण-सज्जन-नारी, नाना-द्रव्ये पात्र भरि',
आइला सबे यौतुक लइया।
येन काँचा-सोना-द्युति, देखि, बालकेर मूर्ति,
आशीर्वाद करे सुख पाञा॥१०४॥

१०४। प० अनु०—सभी ब्राह्मण और सज्जन व्यक्तियों की स्त्रियाँ विभिन्न द्रव्यों से भरे हुए पात्र को साथ लिये बालक को देखने आईं और कच्चे सोने की द्युति की भाँति बालक के कलेवर को देखकर अत्यन्त सुखी हृदय से आशीर्वाद करने लगीं।

देवियों द्वारा ब्राह्मणी-वेश धारण कर,
मर्त्यलोक में आकर गौरदर्शन—

सावित्री, गौरी, सरस्वती, शची, रम्भा, अरुन्धती,
आर यत देव-नारीगण।
नाना-द्रव्ये पात्र भरि', ब्राह्मणीर वेश धरि',
आसि' सबे करेन दरशन॥१०५॥

१०५। प० अनु०—सावित्री, गौरी, सरस्वती, शची, रम्भा, अरुन्धती और जितनी भी देवियाँ है, सभी ब्राह्मणी का वेश धारणकर तथा नाना प्रकार के द्रव्यों को पात्र में भरकर, बालक का दर्शन करने लगीं।

अनुभाष्य

१०५। सावित्री—ब्रह्मा की पत्नी; गौरी—शिवपत्नी; सरस्वती—नृसिंहकान्ता, जैसे श्रीधरस्वामि टीका—"वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि। यस्यास्ते हृदये संवित्तं नृसिंहमहं भजे॥" शची,—इन्द्रपत्नी; रम्भा,—स्वर्गनर्त्तकी; अरुन्धती,—वशिष्ठपत्नी।

आकाश में देवताओं आदि द्वारा
आनन्द-पूर्वक प्रणाम, स्तुति और नृत्य—

अन्तरीक्षे देवगण, सिद्ध, गन्धर्व, चारण,
स्तुति-नृत्य करे वाद्य-गीत।
नर्तक, वादक, भाट, नवद्वीपे यार नाट'
सबे आसि' नाचे पाञा प्रीत॥१०६॥
केबा आसे केबा याय, केबा नाचे केबा गाय,
सम्भालिते नारे कार बोल।
खण्डिलेक दुःख-शोक, प्रमोदपूरित लोक,
मिश्र हैला आनन्दे विह्वल॥१०७॥

१०६-१०७। प० अनु०—आकाश में देवतागण, सिद्ध, गन्धर्व और चारण वाद्य-गीत के साथ स्तुति-नृत्य करने लगे। नवद्वीप में जिनका आविर्भाव हुआ, उन्हें देखने के लिये न र्त्तक, वादक, भाट आदि सभी आकर प्रेम से नृत्य करने लगे। कौन-आ रहा था, कौन-जा रहा था, कौन नाच रहा था या कौन-गा रहा था, किसी को किसी की बात समझ में नहीं आ रही थी। सभी लोगों के दुःख और शोक नष्ट हो गये तथा सभी लोक आनन्द से भर गये। यह सब देखकर श्रीजगन्नाथ मिश्र आनन्द से विह्वल हो गये।

अनुभाष्य

१०६। सिद्ध—मन्त्रसिद्धि से प्राप्त-देवयोनि।

गन्धर्व—स्वर्ग के गायक, ब्रह्मा की कान्ति से उत्पन्न; गुह्यलोक—इनके निवास स्थान है।

चारण—'देवानां गायनास्ते च चारणाः स्तुतिपाठकाः।' देवयोनि-विशेष।

१०७। सम्भालिते—समझने में। देव, नर, सिद्ध आदि

भिन्न-भिन्न श्रेणी में स्थित हैं, इसलिये एक दूसरे की बात समझने में असमर्थ है।

प्रभु का जातकर्म—

आचार्यरत्न, श्रीनिवास, जगन्नाथमिश्र-पाश,
आसि' ताँरि करे सावधान।
कराइल जातकर्म, ये आछिल विधि-धर्म,
तबे मिश्र करे नाना दान॥१०८॥

१०८। प० अनु०—आचार्यरत्न और श्रीनिवास श्रीजगन्नाथ मिश्र के पास आये और उन्होंने उन्हें सावधान कर विधि-धर्म के अनुसार जातकर्म करवाया। तब श्रीजगन्नाथ मिश्र ने बहुत दान दिया।

अनुभाष्य

१०८। आचार्यरत्न—चन्द्रशेखर; श्रीनिवास—श्रीवास पण्डित।

शुभकर्म के उपलक्ष्य में मिश्र द्वारा दान—

यौतुक पाइल यत, घरे वा आछिल कत,
सब धन विप्रे दिल दान।
यत नर्तक गायन, भाट, अकिंञ्चन जन,
धन दिया कैल सबार मान॥१०९॥

१०९। प० अनु०—उपहार में जो प्राप्त हुआ एवं जो कुछ भी घर में था, सब धन ब्राह्मणों को दान किया और जितने भी नर्तक, गायक, भाट और अकिंचन जन थे, सभी को धन देकर सम्मानित किया।

मालिनी ठाकुरानी और प्रभु की मौसी द्वारा माङ्गलिक कार्य—

श्रीवासेर ब्राह्मणी, नाम ताँर 'मालिनी',
आचार्यरत्नेर पत्नी-सङ्गे।
सिन्दूर, हरिद्रा, तैल, खइ, कला, नाना फल,
दिया पूजे नारीगण रङ्गे॥११०॥

११०। प० अनु०—श्रीवास की 'मालिनी' नामक ब्राह्मणी (धर्मपत्नी) आचार्यरत्न की पत्नी के साथ आईं और सिन्दूर, हरिद्रा, तैल, खइ, कैला तथा अनेक प्रकार के फल देकर, वहाँ आनेवाली नारियों की आनन्द-पूर्वक पूजा करने लगीं।

सीता ठाकुरानी का कृत्य—

अद्वैत-आचार्य-भार्या, जगत् पूजिता आर्या,
नाम ताँर 'सीता ठाकुराणी'।
आचार्येर आज्ञा पाञा, गेला उपहार लञा,
देखिते बालक-शिरोमणि॥१११॥

१११। प० अनु०—जगत् पूजिता श्रीअद्वैत आचार्य की पतिव्रता पत्नी का नाम 'सीता ठाकुराणी' है। वे आचार्य की आज्ञा पाकर तथा उपहार लेकर बालक-शिरोमणि को देखने के लिये आयीं।

अनुभाष्य

१११। प्रभु के जन्मदिन के पश्चात् किसी एकदिन श्रीअद्वैतप्रभु की अनुमति पाकर उनकी भार्या सीतादेवी उपहार लेकर शान्तिपुर से नवद्वीप में शिशुदर्शन को आईं। यद्यपि उस समय नवद्वीप में श्रीअद्वैतप्रभु का घर था, तथापि 'निजालय' का उल्लेख होने से तब वे शान्तिपुर में थे, ऐसा प्रतीत होता है।

शिशु रूपी प्रभु के अलङ्कार—

सुवर्णेर कड़ि-वउलि, रजतमुद्रा-पाशुलि,
सुवर्णेर अङ्गद, कङ्कण।
दु-बाहुते दिव्य शंख, रजतेर मलबङ्क,
स्वर्णमुद्रार नाना हारगण॥११२॥
व्याघ्रनख हेमजड़ि, कटि-पट्टसूत्र-डोरी,
हस्त-पदेर यत आभरण।
चित्रवर्ण पट्टसाड़ी, बुनि फोतो पट्टपाड़ी,
स्वर्ण-रोप्य-मुद्रा बहुधन॥११३॥

११२-११३। प० अनु०—बालक रूप में प्रभु के अङ्ग में सोने से बनी हुई कड़े (कमर के धारण करने योग्य), चाँदी के पदाभरण, सोने का अङ्गद, कङ्कण, दोनों बाहुओं में दिव्य शंख, चाँदी के वाँकमल, स्वर्णमुद्रा के अनेक हार समूह, व्याघ्रनख सोने में जड़ा कटिपट्टसूत्र-डोरी, हाथों और चरणों में आभरण-समूह,

चित्रवर्ण पट्टसाड़ी, बालक के परिधान योग्य वस्त्र और सोने एवं चाँदी की मुद्रा से अनेक अलङ्कार सज्जित थे।

अनुभाष्य

११२। कड़िवउलि—स्वर्ण की बनी हुई कटिवलय; पाशुलि—चाँदी के पदाभरणविशेष; अंगद, कंकण,—सोने की चूड़ियाँ, बालियाँ अनन्त; दिव्य शंख—शंख-निर्मित वलय, शाँखा; मलवंक—वाँक्‌मल।

११३। हेमजड़ि—व्याघ्रनखयुक्त जड़ोया अलङ्कार; कटिपट्टसूत्रडोरि—धुनुसि; चित्रवर्ण पट्टसाड़ी,—विचित्र रेशमी वस्त्र; वुनि फोतो पट्टपाड़ी—बुनी हुई रेशम के पाड़विशिष्ट फतुया अर्थात् शिशु के परिधानयोग्य वस्त्र।

माङ्गलिक अनुष्ठान—

दूर्वा, धान्य, गोरोचन, हरिद्रा, कुंकुम, चन्दन,
मङ्गल-द्रव्य पात्र भरिया।
वस्त्र-गुप्त दोला चड़ि' सङ्गे लञा दासी-चेड़ी,
वस्त्रालङ्कार पेटारि भरिया॥११४॥
भक्ष्य भोज्य उपहार, सङ्गे लइल बहु भार,
शचीगृहे हेल उपनीत।
देखिया बालक-ठाम, साक्षात् गोकुल-कान,
वर्णमात्र देखि विपरीत॥११५॥

११४-११५। प० अनु०—अद्वैत-पत्नी सीतादेवी दूर्वा, धान्य, गोरोचन, हरिद्रा, कुंकुम, चन्दन आदि माङ्गलिक द्रव्य एक पात्र में भरकर, वस्त्र के द्वारा ढकी हुई, गाड़ी में रखकर, पेटारि में वस्त्र और अलङ्कार डालकर, साथ अनेक खाने योग्य भोज्य, उपहार-स्वरूप बहुत सारी सामग्री को लेकर दासियों के साथ शची के घर उपस्थित हुईं। सीतादेवी ने देखा कि, बालक का गठन (ठाम) साक्षात् गोकुल के कृष्ण जैसा है, केवल वर्णमात्र विपरीत है (अर्थात् कृष्ण का वर्ण श्याम है और इसका वर्ण गौर है।)

अनुभाष्य

११४। गोरोचन—गोमस्तक से प्राप्त उज्ज्वल पीतद्रव्य अथवा शुष्कपित्त; कुंकुम—काश्मीर देश के गन्धद्रव्य विशेष। "काश्मीर देशके क्षेत्रे कुंकुमं यद्भवेत् हि तत्। सूक्ष्मकेशरमारक्तं पद्मगन्धि तदुत्तमम्॥ वाह्लीकदेशसंजातं कुंकुमं पाण्डुरं भवेत्। केतकागन्धयुक्तं तन्मध्यमं सूक्ष्म-केशरम्॥ कुंकुमं पारसीकेयं मधुगन्धि तदीरितम्। ईषत् पाण्डुरवर्णं तदधमं स्थूलकेशरम्॥"

वस्त्रगुप्तदोला—वस्त्र के द्वारा आवृत डोली या खां-चाम; चेड़ी—दासी।

११५। ठाम,—गठन; कान,—कानु अथवा कृष्ण; कृष्ण का वर्ण—इन्द्रनील-घन-श्याम; विश्वम्भर का वर्ण—इसके विपरीत गौरवर्ण।

शिशु के स्वर्णकान्ति युक्त देह के दर्शन से स्त्रियों में वात्सल्य की उत्पत्ति—

सर्व अङ्ग-सुनिर्माण, सुवर्ण-प्रतिमा-भान,
सर्व अङ्ग-सुलक्षणमय।
बालकेर दिव्य ज्योति, देखि' पाइल बहु प्रीति,
वात्सल्येते द्रविल हृदय॥११६॥

११६। प० अनु०—सुनिर्मित, सुवर्ण-प्रतिमा की भाँति सुलक्षणमय सर्व अङ्ग और बालक की दिव्य ज्योति को देखकर सीतादेवी एवं उनके साथ आईं सभी नारियों ने अतिशय प्रीति का अनुभव किया और सभी का हृदय वात्सल्य से द्रवीभूत हो गया।

अनुभाष्य

११६। सुनिर्माण—अङ्गप्रत्यङ्ग का सुष्ठ गठन; भान-भ्रम।

शिशु को आशीर्वाद और रक्षाकवच-बन्धन—

दूर्वा धान्य दिल शीर्षे, कैल बहु आशीषे,
चिरजीवी हओ दुइ भाई।
डाकिनी-शाँखिनी हैते, शङ्का उपजिल चिते,
डरे नाम थुइल 'निमाइ'॥११७॥

११७। प० अनु०—सिर पर दूर्वा और धान देकर सभी ने मिलकर बहुत आशीर्वाद किया और कहा,—'दोनों भाई चिरंजीवी हो'। फिर डाकिनी और शाँखिनी से मन

में शंका उदय होने के कारण भयभीत होकर 'निमाइ' नाम रख दिया ।

अनुभाष्य

११७। दुई भाई,—विश्वरूप और विश्वम्भर।

डाकिनी-शाँखिनी,—पार्वती-महेश के सहवर्त्तिनी (अनुगामिनी) स्त्री-योनि-प्राप्त अशुभ-कारिणी प्रेतयोनि-विशेष। ये सब अपदेवता पवित्र निम्बवृक्ष और निम्बवृक्ष के आस-पास के स्थान पर जाने में असमर्थ हैं।

शची-मिश्र द्वारा पूजा—

पुत्रमाता-स्नानदिने, दिल वस्त्र विभूषणे,
पुत्र-सह मिश्रेरे सम्मानि'।
शची-मिश्रेर पूजा लञा, मनेते हरिष हञा,
घरे आइला सीता-ठाकुराणी॥११८॥

११८। प॰ अनु॰—पुत्र (निमाइ) और माता श्री शचीदेवी के स्नान के दिन श्रीसीता ठाकुराणी ने पुत्र (निमाइ) और श्रीजगन्नाथ मिश्र को वस्त्र, भूषण देकर सम्मानित किया तथा शचीदेवी और श्रीजगन्नाथ मिश्र के द्वारा पूजा को प्राप्त कर एवं मन में अत्यन्त हर्षित होकर श्रीसीता ठाकुराणी अपने घर शन्तिपुर लौट आयीं।

अमृतप्रवाह भाष्य

११८। पुत्रमाता स्नानदिने,—अर्थात् पञ्चम दिन पाँचट एवं नवम दिन नत्ता-दिवस में।

अनुभाष्य

११८। पुत्रमाता-स्नान के दिन में अर्थात् निष्क्रामण के दिन में। बङ्गाल में पहले (पूर्वकाल में) ब्राह्मण आदि वर्ण जननाशौच चार मास तक स्वीकार करते थे। पश्चात् सूर्यदेव का दर्शन करते थे। तदुपरान्त चार मास के बदले विप्रादि द्विजवर्ण में २१ दिन जननाशौच स्वीकार करने की व्यवस्था है; परन्तु शूद्रादि के लिये एक मास की व्यवस्था है। कर्त्ताभजा और सतीमा के गुट के 'हरिनुट' में तत्काल ही जननाशौच की निवृत्ति है।

बङ्गाल में समाजिक-व्यवहार में वर्तमान में भी यह विदाई के समय की रीत दिखाई देती है। आत्मीय-कुटुम्ब समाजिकरूप से किसी के घर जाने पर उनकी विदाई के समय वही गृहस्थ उनको वस्त्र आदि देकर सम्मान किया करते हैं। श्रीजगन्नाथ मिश्र एवं श्रीशचीदेवी के निकट इस प्रकार पूजा पाकर सीताठाकुराणी शान्तिपुर लौट आयीं।

शची और मिश्र को पुत्र-प्राप्ति से आनन्द—

ओइछे शची-जगन्नाथ, पुत्र पाञा लक्ष्मीनाथ,
पूर्ण हइल सकल वाञ्छित।
धन-धान्ये भरे घर, लोकमान्य-कलेवर,
दिने दिने हय आनन्दित॥११९॥

११९। प॰ अनु॰—इस प्रकार लक्ष्मीनाथ को पुत्र के रूप में पाकर श्रीशचीदेवी एवं श्रीजगन्नाथ मिश्र की सारी वाञ्छाएँ पूर्ण हो गईं। धन और धान्य से भरे हुये घर में लोकमान्य-कलेवर को देखकर वे दोनों नित्यप्रति आनन्द का अनुभव करने लगे।

अनुभाष्य

११९। लोकमान्य-कलेवर,—श्रीमन् महाप्रभु के श्रीअंग लोकमान्य होने के कारण अर्थात् उनके सौन्दर्य, ऐश्वर्य और लावण्य के दर्शन से आकृष्ट होकर देव, नर एवं अन्यान्य लोगों को सम्मान देते हुये देखकर पितामाता को आनन्द प्राप्त हुआ।

मिश्र—शान्त, संयत और उदार वैष्णव—

मिश्र—वैष्णव, शान्त, अलम्पट, शुद्ध, दान्त,
धनभोगे नाहि अभिमान।
पुत्रेर प्रभावे यत, धन आसि' मिले तत,
विष्णुप्रीते द्विजे देन दान॥१२०॥

१२०। प॰ अनु॰—श्रीजगन्नाथ मिश्र शान्त अलम्पट, शुद्ध, दान्त (इन्द्रियों का दमन करने वाले) वैष्णव थे। उनका धनभोग में कुछ भी अभिमान न था। पुत्र के प्रभाव से जितना भी धन घर में आता था, वह सब विष्णु प्रीति-हेतु ब्राह्मणों को दान किया करते थे।

अनुभाष्य

१२०। प्राकृत-विषयीगण जिस प्रकार से स्त्रीपुत्र आदि की बातों में आकर धन आदि के भोग के अभिमान में व्यस्त रहते हैं, श्रीजगन्नाथ मिश्र शुद्धभक्त होने के कारण वैसे नहीं थे। उन्होंने सबकुछ भगवान् को अर्पणकर ब्राह्मणादि योग्यपात्रों को इसका अवशेष प्रदान किया। केवल अपनी भोग बुद्धि को ध्यान में रखकर कुछ भी स्वीकार नहीं किया।

चक्रवर्ती द्वारा प्रभु की
कुण्डली-गणना—

लग्न गणि' हर्षमति, नीलाम्बर चक्रवर्ती,
गुप्ते किछु कहिल मिश्रेरे।
महापुरुषेर चिह्न, लग्ने अङ्गे भिन्न भिन्न,
देखि,—एइ तारिबे संसारे॥१२१॥

१२१। प॰ अनु॰—लग्न का विचार करके हर्षित श्रीनीलाम्बर चक्रवर्ती ने गुप्तरूप से श्रीजगन्नाथ मिश्र को कहा, इस बालक के लग्न और अङ्ग के भिन्न-भिन्न स्थानों में महापुरुषों के चिह्न हैं। देखता हूँ—यह बालक संसार का उद्धार करेगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२१। लग्ने अंगे भिन्न-भिन्न—(सामुद्रिक मतानुसार) लग्न में अर्थात् जातक की कुण्डली में, अङ्ग में अर्थात् शरीर में।

त्रयोदश परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

१२१। गुप्ते—अप्रकाशित रूप से (छिपकर)।

जन्मवृत्तान्त-श्रवण-माहात्म्य—

ओइछे प्रभु शची-घरे, कृपाय कैल अवतारे,
येइ इहा करये श्रवण।
गौरप्रभु दयामय, ताँरे हयेन सदय,
सेइ पाय ताँहार चरण॥१२२॥

१२२। प॰ अनु॰—इस प्रकार प्रभु कृपा-पूर्वक श्रीशची के घर में अवतरित हुये। जो इस जन्मवृत्तान्त को सुनता है, दयामय गौरप्रभु उसके प्रति दया करते हैं और उसे प्रभु के चरणों की प्राप्ति होती है।

गौर-विरोधी विषयी का दुर्भाग्य—

पाइया मानुष-जन्म, ये ना शुने गौरगुण,
हेन जन्म तार व्यर्थ हैल।
पाइया अमृतधुनी, पिये विषगर्त-पानि,
जन्मिया से केने नाहि मैल॥१२३॥
श्रीचैतन्य-नित्यानन्द, आचार्य अद्वैतचन्द्र,
स्वरूप-रूप-रघुनाथदास।
इँहा-सबार श्रीचरण, शिरे वन्दि निजधन,
जन्मलीला गाइल कृष्णदास॥१२४॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में जन्म महोत्सव वर्णन नामक त्रयोदश-परिच्छेद समाप्त।

१२३-१२४। प॰ अनु॰—मनुष्य-जन्म पाकर जो श्रीगौर महाप्रभु के गुणों की महिमा को नहीं सुनता, उसका जन्म व्यर्थ है। वह अमृतधुनी (सुधा-नदी) को पाकर विषगर्त्त (विषभरे गड्ढे) का पानी पीता है। वह जन्म लेते ही मर क्यों नहीं गया। श्रीचैतन्य-नित्यानन्द, आचार्य श्रीअद्वैतचन्द्र, श्रीस्वरूप-रूप और श्रीरघुनाथदास,—इन सबके श्रीचरणों को अपना धन मानकर तथा अपने मस्तक द्वारा इनके श्रीचरणों की वन्दना करते हुए, कृष्णदास द्वारा जन्मलीला का गायन किया गया है।

अनुभाष्य

१२३। अमृतधुनी—सुधा-नदी। कृष्णभक्ति-रूप-सुधा स्त्रोत का जलपान त्याग करके जो व्यक्ति विषय-विषकूप का (आत्मा के लिये अस्वास्थकर) का जल पीता है, वह नितान्त मूढ़ है और उसका जीवन धारण करना अनुचित है।

श्रीमद् प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद के द्वारा रचित चैतन्य चन्द्रामृत में—"अचैतन्यमिदं विश्वं यदि चैतन्यमीश्वरम्। न भजेत् सर्वतो मृत्युरुपास्यममरोत्तमैः॥ अचैतन्यमिदं

विश्वं यदि चैतन्यमीश्वरम्। न विदुः सर्वशास्त्रज्ञाह्यपि भ्राम्यन्ति ते जनाः॥ प्रसारित-महाप्रेम-पीयुषरस-सागरे। चैतन्यचन्द्रे प्रकटे यो दीनो एव सः॥ अवतीर्णे गौरचन्द्रे विस्तीर्णे प्रेमसागरे। सुप्रकाशितरत्नौघे यो दीनो दीन एव सः॥" (भाः २/३/१९,२०,२३)—"श्वविड्-वराहोष्ट्र-खरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥ बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये, न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य। जिह्वासती दार्द्दुरिकैव सूत, न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥ जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुन् न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु। श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥" (भाः १०/१/४)—"निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छोत्रमनोऽभिरामात्। क उत्तमश्लोकः गुणानुवादात् पुमान् विरज्येत बिना पशुघ्नात्॥" (भाः ३/२३/५६)—"** न तीर्थपादसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥"

१२४। श्रीमन् महाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैत प्रभु, श्रीदामोदरस्वरूप, श्रीरूप एवं श्रीरघुनाथदास के श्रीपादपद्म ही श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी एवं इनके अनुयायी शुद्धभक्त अथवा अन्तरङ्ग भक्तवृन्द के निजधन हैं। विषयीयों के धन-समूह मायिक बन्धन-स्वरूप(दाम) हैं; वास्तव में वह 'ऋण'-शब्दवाच्य हैं। कृष्ण-विमुख जीव, परमार्थ को धन न जानकर जड़-भोगमय ऋणरूप काम को 'धन' समझते हैं। जिन सब वस्तुओं को 'धन' समझकर विषयी जीव व्यस्त हैं, हरिजनों की इसमें ऋण-बुद्धि है; धन-बुद्धि नहीं है। अपितु, निजकृपा-रूप धनदान से भगवान् जिन्हें धनी बनाते हैं, उनके जागतिक धन-समूह का अपहरण करते हैं। "यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद् धनं शनैः।" ठाकुर नरोत्तम कहते हैं,—"धन मोर नित्यानन्द"; "राधाकृष्ण-श्रीचरण, सेइ मोर प्राणधन"; "जय पतितपावन, देह मोरे एइ धन, तुया बिना अन्य नाहि भाय"; "श्रीरूपमंजरीपद, सेइ मोर सम्पद, सेइ मोर भजन-पूजन। सेइ मोर प्राणधन"। "प्रेमरत्न-धन हेलाय हाराइनु। अधने यतन करि' धन तेयागिनु" आदि।

स्मार्तो की शौक्रबुद्धि के बल पर श्रीरघुनाथदास के पादपद्म में विप्रत्व के अभावरूप शूद्रत्व का आरोप उनकी भक्ति सम्पत्ति में ऋण मात्र है; परन्तु उनके पादपद्म में अप्राकृत ब्रह्मण्योपलब्धि भक्तों की निज सम्पत्ति है।

त्रयोदश परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

✵ ✵ ✵

चतुर्दश परिच्छेद

कथासार—इस चतुर्दश परिच्छेद में प्रभु की बाल्य-लीला वर्णित हुई हैं। प्रभु का जानुचंक्रमण (घुटनों के बल पर चलना), क्रन्दन के छल से नाम-प्रचार, मृत्तिका (मिट्टी) भक्षण के छल से माता को ज्ञान-प्रदान, प्रसाद देकर अतिथि-विप्र का उद्धार, चोर के कन्धों पर चढ़कर उसे भुलाकर अपने घर ले आना, व्याधि के छल से एकादशी के दिन हिरण्य-जगदीश का नैवेद्य भक्षण, बाल-चपलता, माता को मूर्च्छित देखकर नारियल ले आना, गङ्गा के तट पर कन्याओं के साथ परिहास, लक्ष्मीदेवी की पूजा-स्वीकार, उच्छिष्ठ-भाण्डपूर्ण गड्ढे में बैठकर माता को ब्रह्मज्ञान-प्रदान एवं माता की आज्ञा का पालन; मिश्र का शुद्ध वात्सल्यता—ये सब बाल्यलीला के प्रकरण हैं।

(अ:प्र:भा:)

(हः भः विः २० विः १म श्लोक)

कथञ्चन स्मृते यस्मिन् दुष्करं सुकरं भवेत्।
विस्मृते विपरीतं स्यात् श्रीचैतन्यममूं भजे॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनको थोड़ा-सा भी स्मरण करने से दुष्कर (कठिन) विषय भी सुकर (सहज) हो जाता है और जिनकी विस्मृति हो जाने से सुकर भी दुष्कर हो जाते हैं; मैं उन्हीं श्रीचैतन्य महाप्रभु का भजन करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यस्मिन् (गौरकृष्णे) कथञ्चन (येन केन प्रकारेणापि) स्मृते (स्मरणपथमारूढ़े सति) दुष्करं (दुःसाध्यं कर्म्म) सुकरं (सहजसाध्यमनुष्ठान) भवेत्, यस्मिन् (गौरकृष्णे) विस्मृते (सति) विपरीतं (सहज-साध्यमनुष्ठानं दुःसाध्यं कर्म्म) स्यात्, तम अमुं श्रीचैतन्यम् भजे।

जय जय श्रीचैतन्य, जय नित्यानन्द।
जयाद्वैताचन्द्र, जय गौरभक्तवृन्द॥२॥
प्रभुर कहिल एइ जन्मलीला-सूत्र।
यशोदा-नन्दन यैछे हैल शचीपुत्र॥३॥
संक्षेपे कहिल जन्मलीला-अनुक्रम।
एबे कहि बाल्यलीला-सूत्रेर गणन॥४॥

२-४। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो तथा गौरभक्तवृन्द की जय हो। मैंने प्रभु की जन्मलीला के सूत्र का एवं कैसे यशोदा-नन्दन ही शचीदेवी के पुत्र के रूप में आविर्भूत हुये, इसका वर्णन किया है। मैंने जन्मलीला-अनुक्रम का संक्षेप में ही वर्णन किया है। अब बाल्यलीला-सूत्रों के सम्बन्ध में कहता हूँ।

मनुष्य के समान
होने पर भी
गौरलीला अप्राकृत—

वन्दे चैतन्यकृष्णस्य बाल्यलीलां मनोहरम्।
लौकिकीमपि तामीश-चेष्टया बलितान्तराम्॥५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५। मैं श्रीचैतन्य-कृष्ण की मनोहर बाल्यलीला की वन्दना करता हूँ; यह बाल्यलीला लौकिक लीला की भाँति होने पर भी ईश्वर चेष्टा से मिश्रित है।

अनुभाष्य

५। चैतन्यदेवस्य (गौरकृष्णस्य) लौकिकीं (प्रापंचिकमानुषचेष्टिताम्) अपि ईशचेष्टया (अलौकिक प्रयासेन) बलितान्तरां (बलितं युक्तं अन्तरं यस्याः ता) मनोहरां (हृदयाकर्षिणीं) बाल्यलीलां (शैशवक्रीड़ाम्) अहं वन्दे।

अपने श्रीचरणकमल के नीचे शंख-चक्र-ध्वज-वज्र-मीन-चिह्न-प्रदर्शन—

बाल्यलीलाय आगे प्रभुर उत्तान-शयन।
पिता-माताय देखाइल चिह्न चरण॥६॥
गृहे दुइजन देखि' लघुपद चिह्न।
ताहातेइ ध्वज, वज्र, शंख, चक्र, मीन॥७॥
देखिया दोहाँर चित्ते जन्मिल विस्मय।
कार पदचिह्न घरे, ना पाय निश्चय॥८॥

६-८। प० अनु०—बाल्यलीला में सबसे पहले उत्तान शयन के समय प्रभु ने मातापिता को चरण-चिह्न दिखाये। घर में दोनों ने शिशु के छोटे पद-चिह्न को देखा जिसमें ध्वज, वज्र, शंख, चक्र और मीन विद्यमान थे। यह देख कर दोनों का चित्त बहुत विस्मित हुआ; परन्तु ये निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि, घर में यह किसके चरणचिह्न हैं।

अनुभाष्य

६। उत्तान,—ऊर्द्धमुख में स्थित, अर्थात् अपने चरणों को अपने मुख के पास लाकर, चित्त होकर शयन करते समय; पाठभेद में—'उत्थान'; इस अर्थ में (माता-पिता की अनुपस्थिति में) चरण के बल पर खड़े होने के प्रयत्न करने पर भी अभ्यास नहीं होने के कारण बालकों जैसी असमर्थता दिखाकर शयन किया। (जिसके फल-स्वरूप उनके चरण चिह्न पृथ्वी पर दिखाई देने लगे, जिन्हें देखकर माता-पिता विस्मित हुए)।

मिश्र की उक्ति—

मिश्र कहे,—बालगोपाल आछे शिला-सङ्गे।
तिंहो मूर्त्ति-हञा खेले, जानि, घरे रङ्गे॥९॥
सेइ क्षणे जागि' निमाइ करये क्रन्दन।
अङ्के लञा शची ताँरे पियाइल स्तन॥१०॥

९-१०। प० अनु०—मिश्र ने कहा,—शालग्राम-शिला के साथ घर में बालगोपाल विराजित हैं लगता है, वे ही मूर्त्ति बनकर आनन्द से घर में खेलते हैं। निमाइ उसी क्षण जागकर क्रन्दन करने लगे। यह देखकर शची माता ने उन्हें गोद में लेकर स्तन पान कराया।

शची और मिश्र, दोनों के द्वारा निमाइ के चरणचिह्न-दर्शन—

स्तन पियाइते पुत्रेर चरण देखिल।
सेइ चिह्न पाये देखि'—मिश्रे बोलाइल॥११॥
देखिया मिश्रेर हैल आनन्दित मति।
गुप्ते बोलाइल नीलाम्बर चक्रवर्ती॥१२॥

११-१२। प० अनु०—स्तन पिलाते समय पुत्र के चरणों में उन्हीं चिह्नों को देखकर शची माता ने मिश्र को बुलाया। यह देखकर मिश्र अत्यन्त आनन्दित हुए और उन्होंने गुप्त रूप से नीलाम्बर चक्रवर्ती को बुलाया।

नीलाम्बर चक्रवर्ती की उक्ति—

चिह्न देखि' चक्रवर्ती बलेन हासिया।
लग्न गणि' पूर्वे आमि राखियाछि लिखिया॥१३॥
बत्रिश लक्षण—महापुरुष-भूषण।
एइ शिशु-अङ्गे देखि से सब लक्षण॥१४॥

१३-१४। प० अनु०—चरणचिह्न को देखकर नील-ाम्बर चक्रवर्ती ने हँसकर कहा, मैंने तो पहले से ही लग्न का विचार लिख रखा है। महापुरुषों में जो बत्तीस लक्षण भूषण स्वरूप हैं, वह सब इस बालक के अङ्गों में देख रहा हूँ।

महापुरुष के ३२ लक्षण—तथाहि सामुद्रिके तृतीय-श्लोक—

पञ्चदीर्घः पञ्चसूक्ष्मः सप्तरक्तः षडुन्नतः।
त्रिह्रस्व-पृथु-गम्भीरो द्वात्रिंशल्लक्षणो महान्॥१५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५। नासा, भुज, हनु, नेत्र एवं जानु—ये पाँच दीर्घ (बड़े); त्वचा, केश, ऊंगलीपर्व, दन्त और रोम—ये पाँच सूक्ष्म (पतले); नेत्र, पदतल, करतल, तालु, अधर, ओष्ठ (होठ) एवं नाखुन—ये सात रक्त (लाल); वक्ष, स्कन्ध, नाखुन, नासिका, कटि और मुख—ये छः उन्नत; ग्रीवा, जङ्घा एवं मेहन—ये तीन ह्रस्व (छोटे); कटि, ललाट और वक्ष—ये तीन विस्तीर्ण (चौड़े); नाभि, स्वर, सत्व—ये तीन गम्भीर। जो इन बत्तीस लक्षणों से युक्त होते हैं, वे महापुरुष हैं।

अनुभाष्य

१५। पञ्चदीर्घः (पञ्च नासाभुजहनुनेत्रजानूनि दीर्घाणि यस्य सः), पञ्चसूक्ष्मः (पञ्च त्वक् केशांगुलिपर्वदन्त-रोमाणि सूक्ष्माणि यस्य सः) सप्तरक्तः (सप्त नयनप्रान्त-पदतल-करतल-ताल्व अधरौष्ठनखाः च रक्ताः रक्तवर्णाः यस्य सः) षट् वक्षः स्कन्ध-नख-नासिकाकटिमुखानि उन्नतानि उच्चाणि यस्य सः), त्रिह्रस्वपृथुगम्भीरः (त्रीणि ग्रीवाजङ्घा-मेहनानि ह्रस्वाणि लघुनि, त्रीणि कटिल-लाटवक्षांसि पृथुनि विशालानि, त्रीणि नाभि-स्वर-सत्त्वानि गम्भीराणि यस्य सः) द्वात्रिंशल्लक्षणः (एतानि द्वात्रिंशत् लक्षणानि यस्य सः जनः) महान् (महापुरुष)।

चक्रवर्ती द्वारा बालक का माहात्म्य-वर्णन और भविष्यवाणी—

नारायणेर चिह्नयुक्त श्रीहस्त-चरण।
एइ शिशु सर्वलोके करिबे तारण॥१६॥
एइ त' करिबे वैष्णव-धर्मेर प्रचार।
इहा हैते हबे दुइ कुलेर निस्तार॥१७॥

१६-१७। प० अनु०—इस शिशु के श्रीहस्त और चरण में नारायण के चिह्न हैं, ये सभी लोगों का उद्धार करेगा। ये ही वैष्णव धर्म का प्रचार करेगा एवं इससे दोनों कुलों का उद्धार होगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७। दुइ कुलेर (दोनों कुलों का),—पितृकुल एवं मातृकुल।

नामकरण और महोत्सव—

महोत्सव कर, सब बोलाह ब्राह्मण।
आजि दिन भाल,—करिब नाम-करण॥१८॥

१८। प० अनु—इसलिए सभी ब्राह्मणों को बुलाकर महोत्सव कीजिए। आज का दिन शुभ है इसलिए आज ही इसका नाम करण करूँगा।

'विश्वम्भर' नाम—

सर्वलोके करिबे एइ धारण पोषण।
'विश्वम्भर' नाम इहार,—एइ त' कारण॥१९॥
शुनि' शची-मिश्रेर मने आनन्द बाड़िल।
ब्राह्मण-ब्राह्मणी आनि' महोत्सव कैल॥२०॥

१९-२०। प० अनु०—ये सभी लोगों को धारण और पोषण करेगा (अर्थात् जिस प्रकार श्रीवराह भगवान् ने पृथ्वी का रसातल से उद्धार करने हेतु उसको धारण किया था, उसी प्रकार यह बालक भी कलियुग के निम्न प्रवृत्ति वाले लोगों की चेतना को रसातल अर्थात् बहुत निम्न अवस्था से उठाने हेतु उनको धारण करेगा तथा उना पोषण करके उन्हें भगवद् पादपद्मों की ओर उन्मुख करेगा)। इसलिये इसका नाम 'विश्वम्भर' होगा। यह सुनकर श्रीशचीदेवी और श्रीजगन्नाथ मिश्र बड़े आनन्दित हुये तथा दोनों ने ब्राह्मण और ब्राह्मणियों को बुलाकर महोत्सव का अनुष्ठान किया।

अनुभाष्य

१९। चैःभाः आदि, ३य अः—"जगत् हइल सुस्थ इहान जनमे। पूर्वे येन पृथिवी धरिला नारायणे॥ अतएव इहान 'श्रीविश्वम्भर' नाम॥"

'विश्वम्भर'—अथर्ववेदसंहिता के २य काण्ड, ३य अनुवाक्, ३य प्रपाठक, १६ मन्त्र, ५म संख्या—"विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा।"

अलौकिक-चेष्टा-प्रदर्शन—

तबे कत दिने प्रभुर जानु चङ्क्रमण।
नाना चमत्कार तथा कराइल दर्शन॥२१॥

२१। प० अनु—फिर कुछ दिनों के पश्चात् प्रभु ने जानुचंक्रमण आरम्भ किया। उस समय प्रभु ने अनेक प्रकार के चमत्कार प्रदर्शित किये।

अनुभाष्य

२१। जानुचंक्रमण,—हामागुड़ि (घुटनों के बल पर चलना)। चैःभाः आदि ३य अः—"जानु-गति चले प्रभु परम सुन्दर। कटीते किंकिणी बाजे अति मनोहर॥ एकदिन एक सर्प बाड़ीते बेड़ाय। धरिलेन सर्प प्रभु बालकलीलाय॥ कुण्डली करिया सर्प रहिल बेड़िया। ठाकुर थाकिला सर्प उपरे शुइया॥ प्रभुरे एड़िया सर्प पलाय तखन॥"

हरिनाम से क्रन्दन की निवृत्ति—

क्रन्दनेर छले बलाइल हरिनाम।
नारी सब 'हरि' बले—हासे गौरधाम॥२२॥

२२। प॰ अनु॰—क्रन्दन के छल से प्रभु सबसे हरि नाम करवाते। (जब स्त्रियाँ प्रभु को रोते हुए देखती) तो वे 'हरि हरि' कहती, यह देखकर प्रभु हँसने लगते।

अनुभाष्य

२२। चैःभाः आदि ३य अः—"तावत् कान्देन प्रभु कमल-लोचन। हरिनाम शुनिले रहेन ततक्षण॥ परम संकेत एइ सबे बुझिलेन। कान्दिलेइ हरिनाम सबेइ लयेन॥ प्रभु येइ कान्दे सेइ क्षणे नारीगण। हाते तालि दिया करे हरिसंकीर्तन॥ निरवधि सबार वदने हरिनाम। छले बलायेन प्रभु, येन इच्छा तान॥"

बालकों के साथ क्रीड़ा—

तबे कत दिने कैल पद-चङ्क्रमण।
शिशुगणे मिलि' कैल विविध खेलन॥२३॥
एकदिन शची खइ-सन्देश आनिया।
वाटा भरि' दिया बले—खाओ त' बसिया॥२४॥

२३-२४। प॰ अनु॰—तब कुछ दिनों में प्रभु ने पद-चंक्रमण (पैरों पर चलना) आरम्भ किया और अन्य बालकों के साथ मिलकर अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते। एक दिन शची माता ने खइ (खील) और सन्देश को कटोरी में भरकर प्रभु को दिया और कहा 'इसे यहाँ बैठकर खाओ'।

अनुभाष्य

२३। चैः भाः आदि ३य अः—"एइमते दिने दिने श्रीशचीनन्दन। हाँटिया करेन प्रभु आंगने भ्रमण॥"

२४। बाटा—खाने की सामग्रियाँ अथवा ताम्बुल रखने का पात्र या आधार, बर्त्तन।

निमाइ द्वारा मिट्टी खाना—

एत बलि' गेला शची गृहे कर्म करिते।
लुकाइया लागिला शिशु मृत्तिका खाइते॥२५॥

२५। प॰ अनु॰—इतना कहकर शची माता घर का काम करने चली गईं और उधर बालक छिपकर मिट्टी खाने लगा।

अनुभाष्य

२५। यह घटना चैतन्यभागवत के आदि १३पः ४९ संख्या में कही गई अन्यान्य (बाल्य लीलाओं में) इस वर्णन नहीं है, इसका यहीं पर वर्णन किया गया है।

शची द्वारा उसका
कारण-पूछना—

देखि' शची धाञा आइला करि 'हाय' 'हाय'।
माटि काड़ि' लञा बले माटि केने खाय॥२६॥

२६। प॰ अनु॰—यह देखकर शची माता 'हाय' 'हाय' करती हुई दौड़कर आयीं और मिट्टी को छीनकर कहने लगी, 'मिट्टी क्यों खाते हो।'

निमाइ का दार्शनिक उत्तर—

कान्दिया बलेन शिशु—केने कर रोष।
तुमि माटि खाइते दिले मोर किबा दोष॥२७॥

२७। प॰ अनु॰—रोते हुये बालक बोला,—क्यों क्रोध करती हो? तुमने ही तो मुझे मिट्टी खाने को दी है, इसमें मेरा क्या दोष है?

सबकुछ ही मिट्टी का विकार—

खइ-सन्देश-अन्न, यतेक—माटिर विकार।
इह माटि, सेह माटि, कि भेद-विचार॥२८॥
माटि—देह, माटि—भक्ष्य, देखह विचारि'।
अविचारे देह दोष कि बलिते पारि॥२९॥

२८-२९। प॰ अनु॰—तुमने जो मुझे खइ, सन्देश और अन्न दिया है वह सब मिट्टी के ही विकार हैं। यह भी मिट्टी है, वह भी मिट्टी है, इसमें क्या भेद-विचार है? विचार करके देखो,—यह शरीर मिट्टी से बना हुआ है और खाने के पदार्थ भी मिट्टी के हैं। परन्तु बिना विचार के यदि मुझे दोष दो तो मैं क्या कह सकता हूँ।

शची का उत्तर—

अन्तरे विस्मित शची बलिल ताहारे।
माटि खाइते ज्ञानयोग के शिखाल तोरे॥३०॥

३०। प॰ अनु॰—यह सुनकर शचीदेवी मन-ही-मन बहुत विस्मित हुईं और बालक से कहने लगीं—मिट्टी खाने का ज्ञानयोग तुम्हें किसने सिखाया।

द्रव्य और उसके विकार विशेष तथा
अनुकूल और प्रतिकूल का वैशिष्ट्य—

माटिर विकार अन्न खाइले देह-पुष्टि हय।
माटि खाइले रोग हय, देह याय क्षय॥३१॥
माटिर विकार घटे पानि भरि' आनि।
माटि-पिण्डे धरि यबे, शोषि' याय पानि॥३२॥

३१-३२। प॰ अनु॰—मिट्टी के विकार अन्न खाने से शरीर पुष्ट होता है, परन्तु मिट्टी खाने से रोग हो जाता है तथा शरीर का नाश भी होता है। मिट्टी के विकार घट (घडे) में जल भर कर लाया जा सकता है, परन्तु मिट्टी के पिण्ड (डेले) पर जल रखने से वह सूख जाता है।

उसको सुनकर प्रभु की उक्ति—

आत्म लुकाइते प्रभु बलिया ताँहारे।
आगे केन इहा माता ना शिखाले मोरे॥३३॥
एबे से जानिलाङ, आर माटि ना खाइब।
क्षुधा लागे यबे, तबे तोमार स्तन पिब॥३४॥
एत बलि' जननीर कोलेते चड़िया।
स्तन पान करे प्रभु ईषत् हासिया॥३५॥

३३-३५। प॰ अनु॰—माता के वचन सुनकर प्रभु अपने को छिपाते हुए कहने लगे—आपने पहले मुझे इस बात की शिक्षा क्यों नहीं दी? अब मैं जान गया हूँ, इसलिए पुनः मिट्टी नहीं खाऊँगा। जब भूख लगेगी, तुम्हारे स्तन का दूध ही पीऊँगा। इतना कहकर प्रभु शची माता की गोद में चढ़ गये और मन्द-मन्द हँसते हुए स्तन पान करने लगे।

अनुभाष्य

२७-३३। भोज्यविषयों को स्वीकार करना ही अचित्-जातीय चेष्टा है, इसमें हरिसेवा नहीं है। निर्वि-शेषवादीगण प्रतिकूल विषयों के साथ कृष्णसेवा के अनुकूल विषयों को भी भ्रमवश समजातीय समझते हैं। उस प्रकार की धारणाएँ प्राकृत सिद्धान्त-समूह के नितान्त भ्रमयुक्त अस्फुट विकास है, उसे अर्थात् इस प्रकार की मूढ़-निर्विशेष-चिन्ता की अकर्मण्यता को, श्रीमन् महाप्रभु ने माता के मुख में मिट्टी और घट के सहज दृष्टान्त के द्वारा प्रदर्शित किया।

अनेक प्रकार से ऐश्वर्यलीला प्रकटन—

एइ मते नाना-छले ऐश्वर्य देखाय।
बाल्यभाव प्रकटिया पश्चात् लुकाय॥३६॥

३६। प॰ अनु॰—इस प्रकार प्रभु छलपूर्वक अनेक प्रकार का ऐश्वर्य दिखाने लगे। परन्तु बाल्य भाव को प्रकट कर अपना ऐश्वर्य छिपा लेते।

तैर्थिक विप्र का अन्नभोजन और उद्धार—

अतिथि-विप्रेर अन्न खाइल तिनबार।
पाछे गुप्ते सेइ विप्रे करिल निस्तार॥३७॥

३७। प॰ अनु॰—प्रभु ने एक अतिथि-ब्राह्मण का अन्न तीन बार खा लिया और फिर गुप्तरूप से उसका उद्धार किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

३७। एक तैर्थिक ब्राह्मण आये। श्रीजगन्नाथ मिश्र के घर में अतिथि बनकर श्रीजगन्नाथ मिश्र ने उन्हें रसोई बनाने की सामग्री लाकर दी। ब्राह्मण ने खाना पकाया। तैर्थिक ब्राह्मण ने जब ध्यान में गोपाल को भोग निवेदन किया, तब निमाइ आकर उसका अन्न खाने लगे। निमाइ के द्वारा स्पर्श किये हुए अन्न को परित्याग करके अतिथि ब्राह्मण ने और एकबार भोजन पकाया। इस बार भी ध्यान में निवेदन के समय वही घटना हुई। फिर तीसरी बार जब भोजन पकाया गया; उस समय घर के सभी सदस्य सो रहे थे; ब्राह्मण ध्यान में गोपाल को अन्न निवेदन कर रहे थे, तब निमाइ आकर वह अन्न खाने लगा। दैवहत ब्राह्मण हाहाकार करने लगे, तब निमाइ ने

कहा,—"हे विप्र! जब मैं ब्रज में यशोदा-नन्दन था तब भी तुम्हारे साथ ऐसी घटना घटी थी, इस बार भी तुम्हारी भक्ति से आकृष्ट होकर मैंने कृपापूर्वक तुम्हें दर्शन दिया है।' तब ब्राह्मण ने अपने इष्टदेव का दर्शन करके महाप्रेम में मुग्ध होकर स्वयं को धन्य माना और अवशिष्ट प्रसाद की सेवा की। प्रभु ने उनको इस गुप्तलीला का प्रकाश करने के लिये निषेध किया।

अनुभाष्य

३७। श्रीचैतन्यभागवत के आदिलीला का तृतीय अध्याय द्रष्टव्य है।

चोरों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न करना—

चोरे लञा गेल प्रभुके बाहिरे पाइया।
तार स्कन्धे चड़ि' आइला तारे भुलाइया॥३८॥

३८। प० अनु०—एक बार प्रभु को घर से बाहर खेलते हुए देखकर चोर उन्हें उठा ले गये परन्तु अपने प्रभाव से प्रभु उसको भुलाकर उसी के कन्धों पर चढ़कर घर लौट आये।

अमृतप्रवाह भाष्य

३८। अत्यन्त बाल्यकाल में जब श्रीमन् महाप्रभु स्वर्णालङ्कार से भूषित होकर द्वार के बाहर खेल रहे थे। तब दो चोर उन्हें कन्धों पर चढ़ाकर सन्देश खिलाने के लिये ले गये। चोर ने सोचा कि, 'वन के भीतर ले जाकर बालक को मारकर इसके सारे अलङ्कार ले लूँगा। श्रीमन् महाप्रभु ने अपनी माया का विस्तार किया और उन दोनों को (भ्रम में डालकर) मार्ग भुला दिया, जिससे वह चोर प्रभु को कन्धों पर चढ़ाकर उनके घर के द्वार पर ही ले आये। प्रभु के आत्मीयवर्ग (सम्बन्धीजन), जो खोज में इधर-उधर भागदौड़ कर रहे थे, उन सबके सामने दोनों चोर बालक को रखकर भाग गये। अनेक यत्न के साथ बालक शची माता के आङ्गन में लाये गये।

अनुभाष्य

३८। श्रीचैतन्यभागवत के आदिलीला का तृतीय अध्याय द्रष्टव्य है।

एकादशी के दिन हिरण्य-जगदीश
के घर में विष्णुनैवेद्य-भोजन—

व्याधि-छले जगदीश-हिरण्य-सदने।
विष्णु-नैवेद्य खाइल एकादशी-दिने॥३९॥

३९। प० अनु०—एक बार एकादशी के दिन प्रभु ने रोग के छल से हिरण्य और जगदीश के भवन में विष्णु-नैवेद्य खाया।

अमृतप्रवाह भाष्य

३९। जगदीश और हिरण्य पण्डित के घर में एकादशी के दिन (विष्णु)—नैवेद्य तैयार हो रहा था। श्रीमन् महाप्रभु ने उस नैवेद्य को खाने की इच्छा से अपने पिता को हिरण्य-जगदीश के घर भेजा। बालक की प्रार्थना सुनकर हिरण्य-जगदीश कुछ आश्चर्यान्वित होकर बोले, 'आज एकादशी है और हमारे घर में विष्णु-नैवेद्य प्रस्तुत हो रहा है, यह बालक इस बात को कैसे जान गया? अवश्य ही इसमें कोई वैष्णवी शक्ति है।' उन्होंने उन नैवेद्य-द्रव्य को बालक के खाने के लिये भेज दिया। शरीर व्याधिग्रस्त हुआ है, विष्णु-नैवेद्य खाने से उस पीड़ा से मुक्ति मिलेगी, इस छल से महाप्रभु ने नैवेद्य मँगाया था। लाये गये नैवेद्य को पहले बालकों को खिलाया, फिर स्वयं ने भी कुछ खाया। इससे वे व्याधि से मुक्त हो गये। जगन्नाथ मिश्र के घर से हिरण्य-जगदीश का भवन,—कुछ दूरी पर स्थित है, लगभग एक कोस दक्षिण-पूर्व दिशा की ओर; शिशु के लिये इतनी दूर की बात को जानना असम्भव है।

अनुभाष्य

३९। श्रीचैतन्यभागवत के आदि लीला का चतुर्थ अध्याय द्रष्टव्य है।

बालकोचित्त लीला—चोरी और कलह आदि—

शिशुगण लये पाड़ा-पड़सीर घरे।
चुरि करि' द्रव्य खाय, मारे बालकेरे॥४०॥

४०। प० अनु०—प्रभु बालकों को साथ लेकर पड़ोसियों के घर चले जाते और वहाँ जाकर खाद्य सामग्री

की चोरी करके खाते तथा (उस घर के) बालकों को मारते।

अनुभाष्य

४०। चै:भा: आदि ३य अ:—"निकटे वसये यत बन्धुवर्ग घरे। प्रतिदिन कौतुके आपने चुरि करे॥ कारो घरे दुग्ध पिये, कारो भात खाय। हाँड़ि भाँगे यार घरे किछुइ ना पाय॥ घरे यदि शिशु थाके, ताहारे काँदाय।" उसी में ४र्थ अ:—"केह बले, पुत्र—अति-बालक आ-मार। कर्णे जल दिया तारे कान्दाय अपार॥"

शची के पास शिकायत और शची का तिरस्कार—

शिशु सब शची-स्थाने कैल निवेदन।
शुनि' शची पुत्रे किछु दिना उलाहन॥४१॥
"केने चुरि कर, केने मारह शिशुरे।
केने पर-घरे याह, कि वा नाहि घरे"॥४२॥

४१-४२। प० अनु०—सभी बालक शची माता के पास जाकर निमाइ के कार्यों को निवेदन करने लगे। जिसे सुनकर शची माता निमाइ को डाँटते हुए कहने लगीं—'तुम चोरी क्यों करते हो? बालकों को क्यों मारते हो? दूसरों के घर क्यों जाते हो? हमारे घर में क्या नहीं है?

अनुभाष्य

४१। ओलाहन,—तिरस्कार, भर्त्सना।

प्रभु का क्रोध और घर में तोड़फोड़—

शुनि' क्रुद्ध हञा प्रभु घर-भितर याञा।
घरे यत भाण्ड छिल, फेलिल भाङ्गिया॥४३॥

४३। प० अनु०—शची माता के द्वारा शासन करने पर, प्रभु क्रोधित हो, घर के भीतर चले गये और घर के सभी बर्तनों को फेंकते हुए तोड़ने लगे।

प्रभु को सान्त्वना और प्रभु का लज्जित होना—

तबे शची कोले करि' कराइल सन्तोष।
लज्जित हइला प्रभु जानि' निज दोष॥४४॥

४४। प० अनु०—तब शची माता ने प्रभु को गोद में लेकर सन्तुष्ट किया और प्रभु भी अपने दोष को जानकर लज्जित हुए।

माता पर प्रहार, माता को मूर्छित देखकर दुष्प्राप्य नारियल लाना—

कभु मृदुहस्ते कैल माताके ताड़न।
माताके मूर्छिता देखि' करये क्रन्दन॥४५॥
नारीगण कहे,—"नारिकेल देह आनि'।
तबे सुस्थ हइबेन तोमार जननी॥"४६॥
बाहिरे याञा आनिलेन दुइ नारिकेल।
देखिया अपूर्व हैला विस्मित सकल॥४७॥

४५-४७। प० अनु०—कभी अपने कोमल हाथों से प्रभु ने माता की ताड़ना की तो माता मूर्च्छित होने (का अभिनय करने लगीं) यह देखकर प्रभु रोने लगे। तब स्त्रियाँ कहने लगीं—'अपनी माता को नारियल लाकर दो तभी वह स्वस्थ हो सकती है। यह सुनकर प्रभु तुरन्त ही बाहर से दो नारियल ले आये जिसे देखकर सभी अत्यन्त विस्मित हो गये।

अनुभाष्य

४६। लोचनदास ठाकुर के द्वारा रचित चैतन्यमङ्गल के आदि में,—'तँहि एक दिव्य नारी कहिल हासिया। चिबुक धरिया विश्वम्भरे बले वाणी। नारिकेल-फल दुइ माये देह आनि'॥ तबे से जीयये शची—एइ तोर माता। इहा शुनि' विश्वम्भर हरिष हइला। तखनि युगल नारिकेल आनि' दिला॥"

स्नान के समय कुमारी बालिकाओं के साथ कौतुक—

कभु शिशु-सङ्गे स्नान करिल गङ्गाते।
कन्यागण आइला ताँहा देवता पूजिते॥४८॥
गङ्गास्नान करि' पूजा करिते लागिला।
कन्यागण-मध्ये प्रभु आसिया बसिला॥४९॥

४८-४९। प० अनु०—कभी बालकों के साथ प्रभु गङ्गा स्नान कर रहे थे। उसी समय कन्याएँ देव पूजन के लिए वहाँ आयीं और गङ्गा स्नान के बाद जब वे पूजा करने लगीं तो प्रभु कन्याओं के बीच में आकर बैठ गये।

कुमारिओं के प्रति
प्रभु की उक्ति—

कन्यारे कहे,—आमा पूज, आमि दिब वर।
गङ्गा-दुर्गा—दासी मोर, महेश-किङ्कर॥५०॥
आपनि चन्दन परि' परेन फुलमाला।
नैवेद्य काड़िया खान—सन्देश, चाल, कला॥५१॥

५०-५१। प० अनु०—प्रभु कन्याओं से कहने लगे—'तुम मेरी पूजा करो, मैं तुम्हें वरदान दूँगा। गङ्गा, दूर्गा—मेरी दासियाँ हैं एवं महेश मेरे दास हैं। इतना कहकर प्रभु स्वयं ही चन्दन और फूल-मालाएँ उठाकर अपने अङ्ग पर धारण कर ली और सन्देश, चावल, केला आदि नैवेद्य छीनकर खाने लगे।

कन्याओं द्वारा उत्तर प्रदान—

क्रोधे कन्यागण कहे,—शुन हे निमाञि।
ग्राम-सम्बन्धे हउ तुमि आमा-सबार भाई॥५२॥
आमा-सबार पक्षे इहा कहिते ना युयाय।
ना लह देवता-सज्ज, ना कर अन्याय॥५३॥

५२-५३। प० अनु०—कन्याएँ क्रोधित होकर कहने लगी—'हे निमाइ, सुनो! गाँव के सम्बन्ध से तुम हम सबके भाई लगते हो। हम सबसे ऐसा कहना उचित नहीं है। देवताओं के लिये सज्जित द्रव्यसामग्री को मत छीनो, ऐसा अन्याय मत करो।'

छल से प्रभु द्वारा वर प्रदान—

प्रभु कहे,—तोमा-सबाके "दिलाङ एइ वर।
तोमा-सबार भर्त्ता हबे परम सुन्दर॥५४॥
पण्डित, विदग्ध, युवा, धनधान्यवान्।
सात सात पुत्र हबे-चिरायु, मतिमान्"॥५५॥
वर शुनि' कन्यागणेर अन्तरे सन्तोष।
बाहिरे भर्त्सन करे करि' मिथ्या रोष॥५६॥

५४-५६। प० अनु०—प्रभु ने कहा,—"तुम सबको मैं यह वर देता हूँ कि तुम्हारा पति परमसुन्दर, पण्डित, विदग्ध, युवक तथा धन, धान्य से युक्त हो और तुम सबके सात-सात चिरायु तथा बुद्धिमान पुत्र हों। वरदान पाकर कन्यागण अन्दर से तो सन्तुष्ट हुईं, परन्तु बाहर से मिथ्या रोष दिखाकर भर्त्सना करने लगीं।

दौड़कर भागने वाली कन्याओं
के प्रति शाप के छल से
झूठमूठ का क्रोध—

कोन कन्या पलाइल नैवेद्य लइया।
तारे डाकि' कहे प्रभु सक्रोध हइया॥५७॥
यदि नैवेद्य ना देह हइया कृपणी।
बूढ़ा भर्त्ता हबे, आर चारि सतिनी॥५८॥

५७-५८। प० अनु०—कोई कन्या नैवेद्य लेकर भागने लगी तो उसे बुलाकर प्रभु क्रोधित होकर कहने लगे, 'यदि तुम कृपणता करके मुझे नैवेद्य न दोगी, तो तुम्हें बूढ़ा पति और चार-चार सौतने प्राप्त होगी।

भय से बालिकाओं द्वारा
नैवेद्य-अर्पण—

इहा शुनि' ता-सबार मने हैल भय।
कोन किछु जाने, किबा देवाविष्ट हय॥५९॥
आनिया नैवेद्य तारा सम्मुखे धरिल।
खाइया नैवेद्य तारे इष्टवर दिल॥६०॥

५९-६०। प० अनु०—यह सुनकर वे सब मन-ही-मन भयभीत हो उठीं और सोचने लगी,—'ऐसा लगता है ये कुछ जानता है या फिर इसमें किसी देवता का आवेश है।' इसलिए वह लौट आईं और अपने नैवेद्य को प्रभु के सम्मुख रख दिया। प्रभु ने भी उस नेवैद्य को खाकर इष्टवर प्रदान किया।

प्रभु की मधुर चपलता-युक्त
लीला से सभी को सुख—

एइमत चापल्य सब लोकेरे देखाय।
दुःख कारो मने नहे, सबे सुख पाय॥६१॥

६१। प० अनु०—इस प्रकार प्रभु सबको चपलता दिखाने लगे। किन्तु किसी के भी मन में दुःख नहीं हो रहा था, सभी सुख का ही अनुभव कर रहे थे।

वल्लभ की पुत्री लक्ष्मीदेवी के साथ साक्षात्कार—

एकदिन वल्लभाचार्य-कन्या 'लक्ष्मी' नाम।
देवता पूजिते आइल करि' गङ्गा स्नान॥६२॥

६२। प० अनु०—एकदिन वल्लभाचार्य की कन्या 'लक्ष्मी' देव-पूजन के लिए गङ्गा स्नान करने आयीं।

परस्पर के दर्शन से दोनों को सुख—

ताँरे देखि प्रभुर हैल साभिलाष मन।
लक्ष्मी चित्ते सुख पाइल प्रभुर दर्शन॥६३॥

६३। प० अनु०—उन्हें देखकर प्रभु के मन में एक अभिलाषा हुई एवं प्रभु को देखकर लक्ष्मी के मन में भी प्रसन्नता छा गयी।

दोनों की नित्यसिद्ध स्वाभाविक प्रीति और प्रसन्नता—

साहजिक प्रीति दुँहार करिल उदय।
बाल्यभावे छन्न तनु हइल निश्चय॥६४॥
दुँहा देखि' दुहार चित्ते हइल उल्लास।
देवपूजा-छले कैल दुँहे परकाश॥६५॥

६४-६५। प० अनु०—इन दोनों की स्वाभाविक प्रीति जो अब तक बाल्य-भाव से प्रच्छन्न थी, वह आज निश्चित रूप से प्रकटित हो गयी। दोनों एक दूसरे को देखकर उल्लसित हो उठे तथा देवपूजा के छल से दोनों ने अपने-अपने मन की बात को प्रकाशित कर दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

६४। लक्ष्मी—भगवान् की नित्यपत्नी और भगवान्—लक्ष्मी के नित्यपति हैं। अतः उन दोनों में जो नित्यप्रीति विद्यमान है, वह स्वभाविक (सहजात) है। वह प्रीति बाल्यभाव में प्रच्छन्न स्वरूप होकर प्रतीत हुई।

प्रभु द्वारा लक्ष्मी को अपने अर्चन के लिए आदेश प्रदान—

प्रभु कहे,—'आमा' पूज, आमि-महेश्वर।
आमारे पूजिले पाबे अभीप्सित वर॥६६॥

६६। प० अनु०—प्रभु लक्ष्मीदेवी को कहने लगे—'तुम मेरी पूजा करो, मैं महेश्वर हूँ। मेरी पूजा करने से तुम्हें अभिलषित वर की प्राप्ति होगी।

लक्ष्मी द्वारा आदेश-पालन—

लक्ष्मी ताँर अङ्गे दिल स-पुष्प चन्दन।
मल्लिकार माला दिया करिल वन्दन॥६७॥

६७। प० अनु०—लक्ष्मी ने प्रभु के श्रीअंग में पुष्प के साथ चन्दन प्रदान किया, फिर मल्लिका की माला देकर वन्दना की।

प्रभु का सन्तोष—

प्रभु ताँर पूजा पाञा हासिते लागिल।
श्लोक पड़ि' ताँर भाव अङ्गीकार कैल॥६८॥

६८। प० अनु०—उनकी पूजा को पाकर प्रभु हँसने लगे और एक श्लोक के उच्चारण के द्वारा लक्ष्मीदेवी के भावों को ग्रहण करने लगे।

अनुभाष्य

६२-६८। वल्लभाचार्य—नवद्वीपवासी राजपण्डित। गौः गः ४४ श्लोक—"पुरासीत् जनको राजा मिथिलाधिपतिर्महान्। अधूना वल्लभाचार्य्यो भीष्मकोऽपि च सम्मतः॥ श्रीगौरहरि ने पहले इनकी कन्या 'लक्ष्मीप्रिया' देवी से विवाह किया।

लक्ष्मीदेवी—गौ:ग: ४५श्लोक—"श्रीजानकी रुक्मिणी च 'लक्ष्मी' नाम्नी च तत्सुता। चैतन्यचरिते व्यक्ता लक्ष्मी नाम्नी च सा यथा॥ सा वल्लभाचार्य-सुता चलन्ती स्नातुं सखीभिः सुरदीर्घिकायां। लक्ष्मीरनेनैव कृतावतारा प्रभोर्ययौ लोचनवर्त्म तत्र॥"

(श्रीमद्भागवत १०.२२.२५)

सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति॥६९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६९। हे साध्वीगण, तुम सबकी पूजा का तात्पर्य मैं जान गया हूँ, इससे मुझे विशेष आनन्द की प्राप्ति हुई है। तुम्हारी अभिलाषाएँ निश्चित ही सिद्ध होने योग्य हैं।

अनुभाष्य

६९। कात्यायनी-व्रतपरा कृष्णकामा गोपियों के

वस्त्रहरण के पश्चात् उन्हें फिर से वस्त्र लौटा देने पर उन सबकी कृष्णकामना को देखकर श्रीकृष्ण ने कहा,—

हे साध्यः (सत्यः)! मदर्च्चनं (मत्प्राप्त्यर्थं अर्च्चनं तदेव) भवतीनां (गोपीना) संकल्पः (मनोरथः, मनोगत-भावः इत्यर्थः, युष्माभिः लज्जया अकथित अपि) मया विदितः (सन्) अनुमोदितः (स्वीकृतः च); (अतः) सः असौ (संकल्पः) सत्यः (यथार्थः) भवितुम अर्हति (योग्य भवति)।

एइमत लीला दुँहे करि गेला घरे।
गम्भीर चैतन्य-लीला के बुझिते पारे॥७०॥

७०। प० अनु०—इस प्रकार की लीला करने के उपरान्त दोनों अपने घर चले गये। चैतन्य-लीला अत्यन्त गम्भीर है इसको कौन समझ सकता है?

प्रभु की चपलतापूर्ण लीलाओं को
देखकर सभी की शिकायत—

चैतन्य-चापल्य देखि' प्रेमे सर्वजन।
शची-जगन्नाथे देखि' देन उलाहन॥७१॥

७१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की चपलता (चंचलता) को देखकर सब लोग प्रेम से श्रीशची देवी एवं जगन्नाथ मिश्र को देखकर उलाहना देते।

शची द्वारा निमाइ को पकड़ने की चेष्टा—

एकदिन शची-देवी पुत्रेरे भर्त्सिया।
धरिवारे गेला पुत्रे, गेला पलाइया॥७२॥

७२। प० अनु—एकदिन शचीदेवी पुत्र को डाँटते हुए उसे पकड़ने गईं, परन्तु प्रभु भाग गये।

फैंकी हुई हाँड़ियों के ऊपर निमाइ का बैठना—

उच्छिष्ट-गर्ते त्यक्त-हाण्डीर उपर।
बसियाछेन सुखे प्रभु देव-विश्वम्भर॥७३॥

७३। प० अनु—एक ऐसा गड्ढा, जहाँ पर उच्छिष्ट (जूठी) हाड़ियाँ पड़ी थी, एक दिन प्रभु विश्वम्भर सूखपूर्वक उन हाड़ियों पर जाकर बैठ गये।

अनुभाष्य

७३। चैःभाः आदि ७म अः—"विष्णुनैवेद्येर यत वर्ज्ज्य हाँड़िगण। बसिलेन प्रभु हाँड़ि करिया आसन॥ माये आसि देखिया करेन हाय हाय। एस्थानेते, बाप बसिवारे ना युयाय॥ प्रभु बोले,—सर्वत्र मोर अद्वितीय ज्ञान। एसब हाड़िते मूले नाहिक दूषण॥ विष्णुर रन्धन-स्थाली कभु नाहि दुष्ट हय। से हाँड़ि परशे आर स्थान शुद्ध हय।"

शची द्वारा पुत्र को शुद्ध-अशुद्ध का
विचार समझाकर सुधारने की चेष्टा—

शची आसि' कहे,—केने अशुचि छुँइला।
गङ्गास्नान कर याइ'—अपवित्र हइला॥७४॥

७४। प० अनु—शची माता ने आकर कहा,—तुमने अपवित्र स्थान का स्पर्श क्यों किया? अब तुम अपवित्र हो गये, जाकर गङ्गा स्नान करो।

पुत्र द्वारा माता को
ब्रह्मज्ञान उपदेश—

इहा शुनि' माताके कहिल ब्रह्मज्ञान।
विस्मिता हइया माता कराइल स्नान॥७५॥

७५। प० अनु०—यह सुनकर प्रभु ने माता को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया, जिसे सुनकर माता विस्मित हो गई और स्वयं निमाइ को स्नान कराने लगीं।

अमृतप्रवाह भाष्य

७५। प्रभु ने कहा,—हे माता, उच्छिट और अनुच्छिष्ट, ये दोनों नरभाव हैं, वास्तव में इसमें कुछ भी सत्य नहीं है। आपने इन बर्त्तनों में विष्णु के लिये भोग-द्रव्य रन्धन करके विष्णु को अर्पण किया है, अतः ये सब बर्त्तन कभी भी उच्छिट नहीं हो सकते। आत्मा—नित्य पवित्र वस्तु है, उसके लिये उच्छिष्टादि विचारों का क्या प्रयोजन? इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान को सुनकर शचीमाता विस्मित हो गईं और बालक को स्नान कराने लगीं।

चतुर्द्दश परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

शयन के समय शची द्वारा देवताओं का दर्शन—

कभु पुत्रसङ्गे शची करिला शयन।
देखे, दिव्यलोक आसि' भरिल भवन॥७६॥
शची बले,—याह, पुत्र, बोलाह बापेरे।
मातृ-आज्ञा पाइया प्रभु चलिला बाहिरे॥७७॥

७६-७७। प० अनु—किसी दिन शचीमाता, निमाइ के साथ सो रही थीं, उसी समय उन्होंने देखा कि दिव्य लोक से आये देवताओं से उनका घर भर गया। शचीमाता ने कहा,—जाओ पुत्र, पिता को बुला लाओ। माता की आज्ञा पाकर प्रभु बाहर चल पड़े।

माता के कहने पर चलते समय नूपुर
चरणों में न होने पर भी नूपुर की ध्वनि—

चलिते चरणे नूपुर बाजे झन्झन्।
शुनि' चमकित हैल पितामातार मन॥७८॥

७८। प० अनु०—प्रभु के चलते समय चरणों में नूपुरों की झंकार होने लगी, जिसे सुनकर पितामाता चमत्कृत हो गये।

मिश्र का विस्मय—

मिश्र कहे,—एइ बड़ अद्भुत काहिनी।
शिशुर शून्यपदे केने नूपुरेर ध्वनि॥७९॥

७९। प० अनु—मिश्र ने कहा,—बड़े आश्चर्य की बात है! बालक के खाली पाँव से नुपूर की ध्वनि क्यों आ रही है?

देवताओं के दर्शन से
शची का विस्मित होना—

शची कहे,—आर एक अद्भुत देखिल।
दिव्य दिव्य लोक आसि' अङ्गन भरिल॥८०॥
किबा कोलाहल करे, बुझिते ना पारि।
काहाके वा स्तुति करे, अनुमान करि॥८१॥

८०-८१। प० अनु—शचीदेवी ने कहा,—मैंने भी एक आश्चर्य देखा है। दिव्य-दिव्य लोकों के देवताओं से हमारा आँगन भर गया और वह कोलाहल करते हुए क्या कह रहे थे मैं समझ नहीं पा रही थी। मेरे अनुमान से वे लोग किसी की स्तुति कर रहे थे।

दोनों का निमाइ की कुशल-चिन्ता करना—

मिश्र बले,—किछु हउक, चिन्ता किछु नाइ।
विश्वम्भरेर कुशल हउक,—एइ मात्र चाइ॥८२॥

८२। प० अनु—मिश्र ने कहा,—कुछ भी हो, चिन्ता की कोई बात नहीं है। विश्वम्भर कुशल रहे, मैं केवल यही चाहता हूँ।

प्रभु की चपलता देख मिश्र द्वारा तीव्र भर्त्सना—

एकदिन मिश्र पुत्रेर चापल्य देखिया।
धर्म-शिक्षा दिल बहु भर्त्सना करिया॥८३॥

८३। प० अनु—एकदिन मिश्र ने पुत्र की चपलता को देखकर उसकी बहुत भर्त्सना की एवं पुत्र को धर्म के सम्बन्ध में शिक्षा प्रदान की।

रात्रि में स्वप्न-दर्शन—एक ब्राह्मण
द्वारा मिश्र की भर्त्सना—

रात्रे स्वप्न देखे,—एक आसि' ब्राह्मण।
मिश्रेरे कहये किछु सरोष वचन॥८४॥
"मिश्र, तुमि पुत्रेर तत्त्व किछुइ ना जान।
भर्त्सन-ताड़न कर,—पुत्र करि' मान॥८५॥

८४-८५। प० अनु०—उसी रात श्रीजगन्नाथ मिश्र ने स्वप्न में देखा कि, एक ब्राह्मण आकर उन्हें क्रोधित स्वर से कुछ कह रहा है। "मिश्र, तुम अपने पुत्र के तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते हो, उसे केवल अपना पुत्र मानकर ताड़न भर्त्सन करते हो।

मिश्र का अप्राकृत स्नेहपूर्ण उत्तर—

मिश्र कहे,—देव, सिद्ध, मुनि केने नय।
ये से बड़ हउक, एबे आमार तनय॥८६॥
पुत्रेर लालन-शिक्षा—पितार स्वधर्म।
आमि ना शिखाले, कैछे जानिबे धर्म-मर्म॥८७॥

८६-८७। प० अनु—श्रीजगन्नाथ मिश्र ने कहा—

भले ही वे देव, सिद्ध, मुनि क्यों न हो, या फिर कोई महान् व्यक्ति ही क्यों न हो। किन्तु अभी तो मेरा पुत्र ही है। पुत्र का लालन (पालनपोषण) करना और उसे शिक्षा देना—पिता का स्वधर्म है। यदि मैं शिक्षा न दूँ, तो धर्म के मर्म को कैसे जान सकेगा?

विप्र और मिश्र की उक्ति और प्रत्युक्ति—

विप्र कहे,—एइ यदि दैव-सिद्ध हय।
स्वतःसिद्धज्ञान तबे शिक्षा व्यर्थ हय॥८८॥
मिश्र कहे,—पुत्र केने नहे नारायण।
तथापिह पितार धर्म—पुत्रके शिक्षण॥८९॥

८८-८९। प० अनु०—ब्राह्मण ने कहा,—यदि तुम्हारा पुत्र सिद्ध देवता है तो इसका ज्ञान स्वतः सिद्ध है, इसलिए तुम्हारी शिक्षा देना व्यर्थ है। मिश्र ने उत्तर दिया,—पुत्र यदि स्वयं नारायण ही क्यों न हो, तब भी पुत्र को शिक्षा देना पिता का धर्म है।

अनुभाष्य

८८। अन्त्य, ४र्थ पः१७४-१७६ संख्या दृष्टव्य है। भागवत (११।२८।४)—उद्धव के प्रति भगवद्वाणी—"किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्। वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च।" अर्थात् "भद्राभद्र वस्तुज्ञान नाहि अप्राकृते।" द्वैते भद्राभद्रज्ञान—सब मनोधर्म। एइ भाल, एइ मन्द, एइ सब भ्रम॥" (भाः ११।१९।४५)—"गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभय-वर्जितः।" एवं (भाः ११।२१।३)—"शुद्ध्य-शुद्धी विधीयते समानेष्वपि वस्तुषु। द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ। धर्म्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ॥"

पुत्र निमाइ को अशिक्षित और अनभिज्ञ समझकर उसे शिक्षा देकर ज्ञानी बनाने की अभिलाषा को देखकर ब्राह्मण ने मिश्र से कहा,—"तुम्हारे पुत्र के नित्यसिद्ध देवता होने के कारण उसके नित्यसिद्ध स्वाभाविक ज्ञान को तुम मूढ़ता समझ रहे हो और उसे शिक्षा देना चाहते हो। यह व्यर्थ की शिक्षा देना है, ऐसा करना तुम्हारे लिये अनुचित है।

प्रभु के प्रति मिश्र का शुद्ध वात्सल्य-स्नेह—

एइमते दुँहे करेन धर्मेर विचार।
शुद्ध वात्सल्य मिश्रेर, नाहि जाने आर॥९०॥

९०। प० अनु०—इस प्रकार दोनों धर्म का विचार करने लगे। परन्तु श्रीजगन्नाथ मिश्र में शुद्ध वात्सल्य भाव होने के कारण वे इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते।

अनुभाष्य

९०। भः रः सिः पः विः ४र्थ लः—"विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः। एष 'वत्सल-नामात्र प्रोक्तः। (भाः १०।८।४५) "त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः। उपगीयमान माहात्म्यं हरिं सामान्यतात्मज॥"

स्वप्न समाप्त होने पर मिश्र का विस्मित होना तथा बन्धुओं को स्वप्न के सम्बन्ध में बताना—

एत शुनि' द्विज गेला हञा आनन्दित।
मिश्र जागिया हइला परम विस्मित॥९१॥
बन्धु-बान्धव-स्थाने स्वप्न कहिल।
शुनिया सकल लोक विस्मित हइल॥९२॥
एइमत शिशुलीला करे गौरचन्द्र।
दिने दिने पिता-मातार बाड़िल आनन्द॥९३॥

९१-९३। प० अनु०—इतना सुनकर ब्राह्मण आनन्दित होकर चला गया और मिश्र जगकर परम विस्मित हुए। मिश्र ने अपने बन्धु-बान्धवों को स्वप्न के सम्बन्ध में बताया, जिसे सुनकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। इस प्रकार श्रीगौरचन्द्र बाल्यलीला करते, जिसे देखकर पिता-माता का आनन्द प्रतिदिन बढ़ता जाता था।

निमाइ के हाथ में कलम (खड़िया)—

कत दिने मिश्र पुत्रेर हाते खड़ि दिल।
अल्प दिने द्वादश-फला अक्षर शिखिल॥९४॥

९४। प॰ अनु॰—कुछ दिनों के बाद श्रीजगन्नाथ मिश्र ने पुत्र के हाथों में कलम (खड़िया, बत्ती) प्रदान की और थोड़े ही दिनों में निमाइ द्वाद्वश-फला अक्षर सीख गया।

अनुभाष्य

९४। द्वाद्वश फला—रेफ,ण,न,म,य,र,ल, व,ऋ,ॠ,ऌ और लह फला।

चतुर्द्दश परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

इस बाल्यलीला के सूत्र का
चैतन्यभागवत में वर्णन—

बाल्यलीला-सूत्र एइ कहिल अनुक्रम।
इहा विस्तारियाछेन दास-वृन्दावन॥९५॥

अतएव बाल्यलीला संक्षेपे सूत्र कैल।
पुनरुक्ति-भये विस्तारिया ना कहिल॥९६॥

श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥९७॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिलीला में बाल्यलीला-सूत्र वर्णन नामक चतुर्द्दश परिच्छेद समाप्त।

९५-९७। प॰ अनु॰—इस प्रकार मैंने बाल्यलीला को सूत्र रूप से कहा है क्योंकि श्रील वृन्दावनदास ठाकुर ने इन लीलाओंको विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। इसलिए मैंने बाल्यलीला को संक्षेप में सूत्ररूप से ही वर्णन किया है, पुनरुक्ति के भय से विस्तार-पूर्वक नहीं कहा है। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

✵ ✵ ✵

पञ्चदश परिच्छेद

कथासार—इस पञ्चदश परिच्छेद में महाप्रभु का गङ्गादास पण्डित से व्याकरण पढ़ना, पञ्जी-टीका में योग्यता प्राप्ति, माता को एकादशी के दिन अन्न खाने के लिये निषेध करने का वर्णन है। श्रीविश्वरूपप्रभु ने संन्यास लेकर उनको भी संन्यास लेने हेतु आह्वान किया तथा उन्होंने श्रीविश्वरूप प्रभु की बात को अनसुना करके माता-पिता की सेवा करने की इच्छा प्रकाशित की, ऐसा देख विश्वरूप प्रभु ने उनको पुनः घर भेज दिया, (श्रीमन् महाप्रभु ने अपने स्वप्न में देखी) यह कथा सुनाई। पुरन्दरमिश्र का परलोक गमन, वल्लभाचार्य की कन्या लक्ष्मी-देवी के पाणि-ग्रहण इत्यादि का विवरण सूत्र रूप में वर्णित हुआ है।

(अः प्रः भाः)

गौर की पूजा करने से दुर्बुद्धि भी सुबुद्धि—
(हः भः विः ७ विः श्लोक)

कुमनाः सुमनस्त्वं हि याति यस्य पादाब्जयोः।
सुमनोऽर्पणमात्रेण तं चैतन्यप्रभुं भजे॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनके श्रीचरणकमलों में सुमन (फूल) अर्पण करने मात्र से ही, कुमन वाला व्यक्ति भी सुमनत्व प्राप्त कर लेता है, उन श्रीचैतन्य महाप्रभु का मैं भजन करता हूँ।

अनुभाष्य

१। कुमनाः (कृष्णेतरविषयाविष्टं मनो यस्य सः) यस्य (चैतन्यदेवस्य) पदाब्जयोः (चरणकमलयोः) सुमनोर्हपणमात्रेण (सुमनसां पुष्पाणां सु शुभं कृष्णसेवापरं मनस्तस्य वा अर्पणमात्रेण) सुमनस्त्वम् (अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतं कृष्णानुशीलन परस्वभाव) हि (निश्चित) याति (प्राप्नोति) तं चैतन्यप्रभुं अहं वन्दे।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र, जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो तथा गौरभक्तवृन्द की जय हो।

पौगण्ड-लीला में अध्ययन-लीला ही प्रधान—

पौगण्ड-लीलार सूत्र करिये गणन।
पौगण्ड-वयसे प्रभुर मुख्य अध्ययन॥३॥

३। प॰ अनु॰—पौगण्ड लीला के सूत्र का वर्णन करते है। पौगण्ड लीला में प्रभु की अध्ययन लीला ही मुख्य है।

अमृतप्रवाह भाष्य

३। मुख्य अध्ययन,—मुख्य कार्य ही अध्ययन-लीला।

महाप्रभु की सुविस्तृत
पौगण्डलीला—

पौगण्डलीला चैतन्यकृष्णस्यातिसुविस्तृता।
विद्यारम्भमुखा पाणिग्रहणान्ता मनोहरा॥४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४। श्रीकृष्णाचैतन्य के विद्या आरम्भ से पाणिग्रहण पर्यन्त मनोहर पौगण्डलीला अत्यन्त विस्तृत है।

अनुभाष्य

चैतन्यकृष्णस्य (भगवतो राधाकृष्णभिन्न-विग्रहस्य विश्वम्भरस्य) विद्यारम्भमुखा (विद्याभ्यासारम्भः मुख आदिर्यस्याः सा) पाणिग्रहनान्ता (पाणिग्रहणं च अन्तः समाप्तो यस्याः सा) मनोहरा (सकलहृदयाकर्षिणी) पौगण्ड लीला (पञ्चम हायनमारम्भ्य दशवर्ष पर्यन्त-व्यापक-कालः पौगण्डं तत्र या लीला अति सुविस्तृता (सुबहुला)।

पण्डित गङ्गादास से व्याकरण-अध्ययन—

गंगादास पण्डित-स्थाने पड़ेन व्याकरण।
श्रवण-मात्रे कण्ठे कैल सूत्रवृत्तिगण॥५॥

५। प० अनु०—श्रीगङ्गादास पण्डित के टोल में प्रभु व्याकरण पढ़ते थे। एक बार श्रवण करने मात्र से ही सूत्र-वृत्ति आदि को कण्ठस्थ कर लेते।

अमृतप्रवाह भाष्य

५। सर्वप्रथम विष्णु और सुदर्शन के निकट सामान्य विद्या उपार्जन करके गङ्गादास पण्डित से व्याकरण पढ़ने लगे।

थोड़े समय में ही सभी शास्त्रों में पारदर्शी दृष्टि—

अल्पकाले हैला पञ्जी-टीकाते प्रवीण।
चिरकालेर पडुया जिने हइया नवीन॥६॥

६। प० अनु०—थोड़े समय में ही पञ्जी-टीका में प्रवीण हो गए। प्रभु नवीन छात्र होते हुए भी बहुत समय से पढ़ रहे छात्रों को पराजित कर देते।

अध्ययन-लीला प्रभुर दास वृन्दावन।
'चैतन्यमङ्गले' कैल विस्तारित वर्णन॥७॥

७। प० अनु०—श्रील वृन्दावन दास ठाकुर ने अपने 'चैतन्यमङ्गल' में श्रीमन् महाप्रभु की अध्ययन लीला का विस्तृत वर्णन किया है।

अनुभाष्य

७। चै: भा: आदि, चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम अ: द्रष्टव्य।

एक दिन मातार पदे करिया प्रणाम।
प्रभु कहे,—माता, मोरे देह एक दान॥८॥

८। प० अनु०—एकदिन शचीमाता के श्रीचरणों में प्रणाम करके प्रभु कहने लगे—माता! मुझे एक दान दीजिए।

शची-माता को एकादशी-व्रत पालन करने के लिए कहना—

माता बले,—ताइ दिब, या तुमि मागिबे।
प्रभु कहे,—एकादशीते अन्न ना खाइबे॥९॥

९। प० अनु०—माता ने कहा—जो तुम माँगोगो, वही दूँगी। प्रभु ने कहा—एकादशी के दिन अन्न नहीं खाना।

अनुभाष्य

९। श्रीजीव प्रभु भक्ति सन्दर्भ के (२९९ संख्या में)—"स्कान्दे—मातृहा पितृहा चैव भ्रातृहा गुरुहा तथा। एकादश्यान्तु यो भुङ्क्ते विष्णुलोकच्युतो भवेत्'॥ अत्र वैष्णवानां निराहारत्वं नाम महाप्रसादान्न-परित्याग एव; तेषामन्य भोजनस्य नित्यमेव निषिद्धत्वात्। आग्नेये—'एकादश्यां न भोक्तव्यं तद्व्रतं वैष्णवं महत्।' तत्र तावदस्य अवैष्णवेऽपि नित्यत्वम्।" वैष्णवगण महाप्रसाद के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु किसी दिन किसी भी समय स्वीकार नहीं करते। किन्तु एकादशी के दिन महाप्रसाद-त्याग करने का नाम ही 'उपवास' है।

शची कहे,—ना खाइब, भालइ कहिला।
सेइ हैते एकादशी करिते लागिला॥१०॥

१०। प० अनु०—शचीमाता ने कहा—तुमने ठीक ही कहा है, मैं उस दिन अन्न नहीं खाऊँगी। उस दिन से शचीमाता एकादशी करने लगी।

विश्वरूप का विवाह
करने की चेष्टा—

तबे मिश्र विश्वरूपेर देखिया यौवन।
कन्या मागि' विवाह दिते कैल मन॥११॥

११। प० अनु०—जगन्नाथ मिश्र विश्वरूपप्रभु के यौवन को आया देखकर किसी कन्या का हाथ माँगकर उनका विवाह करने के विषय में मन-ही-मन विचार करने लगे।

विश्वरूप द्वारा संन्यास ग्रहण—

विश्वरूप शुनि' घर छाड़ि' पलाइला।
संन्यास करिया तीर्थ करिवारे गेला॥१२॥

१२। प० अनु—ऐसा सुनकर विश्वरूप घर छोड़कर भाग गये। संन्यास लेकर तीर्थ यात्रा करने के लिए निकल पड़े।

शची और मिश्र का दुखी होना
तथा प्रभु द्वारा सान्त्वना प्रदान—

शुनि शचि-मिश्रेर दुःखी हैल मन।
तबे प्रभु माता-पितार कैल आश्वासन॥१३॥

१३। प० अनु०—ऐसा सुनकर शचीमाता और जगन्नाथ मिश्र का मन बहुत दुःखी हुआ। उस समय प्रभु ने अपने माता-पिता को आश्वासन दिया।

कृष्ण का भजन करने के लिए सन्तान द्वारा संन्यास ग्रहण करने पर माता-पिता के कुल का उद्धार—

भाल हैल,—विश्वरूप संन्यास करिल।
पितृकुल मातृकुल,—दुइ उद्धारिल॥१४॥

१४। प० अनु०—अच्छा ही हुआ जो विश्वरूप ने संन्यास ग्रहण कर लिया है। इससे उन्होंने पितृकुल तथा मातृकुल—दोनों का उद्धार कर दिया है।

प्रभु के आश्वासन से माता-पिता सन्तुष्ट—

आमि त' करिब तोमा' दुहाँर सेवन।
शुनिया सन्तुष्ट हैल पितामातार मन॥१५॥

१५। प० अनु०—मैं तो आप दोनों की सेवा करूँगा। प्रभु के ऐसे वचनों को सुनकर माता-पिता का मन सन्तुष्ट हो गया।

प्रभु का मूर्छित होना—

एकदिन नैवेद्य-ताम्बुल खाइया।
भुमिते पड़िला प्रभु अचेतन हञा॥१६॥

१६। प० अनु०—एकदिन श्रीमन् महाप्रभु ने नैवेद्य (भगवान् के श्रीचरणों में निवेदन-योग्य) ताम्बुल (पान) खाया और साथ-ही-साथ अचेतन होकर भूमि पर गिर पड़े।

विश्वरूप के साथ साक्षात्कार और प्रभु के संन्यास के सम्बन्ध में दोनों के बीच वार्तालाप—

आस्ते-व्यस्ते पिता-माता मुखे दिल पानि।
सुस्थ हञा कहे प्रभु अपूर्व काहिनी॥१७॥

१७। प० अनु०—व्याकुल हो रहे माता-पिता ने प्रभु के मुख में पानी दिया। स्वस्थ होकर प्रभु एक अपूर्व कहानी सुनाने लगे।

एथा हैते विश्वरूप मोरे लञा गेला।
संन्यास करह तुमि' आमारे कहिला॥१८॥

१८। प० अनु०—मुझे विश्वरूप यहाँ से ले गये, और मुझे संन्यास ग्रहण करने के लिए कहने लगे।

आमि कहि—आमार अनाथ पिता-माता।
आमि बालक,—संन्यासेर किबा जानि कथा॥१९॥

१९। प० अनु०—मैंने उनसे कहा—मेरे माता-पिता अनाथ हैं। मैं बालक हूँ—मैं संन्यास के विषय में क्या जानता हूँ।

गृहस्थ हइया करि पितृ-मातृ-सेवन।
इहाते सन्तुष्ट हबेन लक्ष्मी-नारायण॥२०॥

२०। प० अनु०—मैं गृहस्थ होकर अपने माता-पिता की सेवा करता हूँ। इससे लक्ष्मी-नारायण मेरे प्रति सन्तुष्ट होंगे।

तबे विश्वरूप इँहा पाठाइल मोरे।
माताके कहिला कोटि कोटि नमस्कारे॥२१॥

२१। प० अनु०—तब विश्वरूप ने मुझे पुनः यहाँ भेज दिया तथा मुझसे कहा कि, माता को मेरी ओर से कोटि-कोटि नमस्कार कहना।

एइमत नाना लीला करे गौरहरि।
कि कारणे लीला—इहा बुझिते ना पारि॥२२॥

२२। प० अनु०—इस प्रकार गौरहरि अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं, किन्तु किस उद्देश्य से करते है—मैं इसे नहीं समझ सकता।

मिश्र का अप्रकट होना—

कतदिन रहि' मिश्र गेला परलोक।
माता-पुत्र दुँहार बाड़िल हृदि शोक॥२३॥

२३। प॰ अनु॰—कुछ दिन के उपरान्त जगन्नाथ मिश्र परलोक सिधार गये। माता और पुत्र दोनों के हृदय का शोक और अधिक बढ़ गया।

अनुभाष्य

२३। चै: भा: आदि, ८म अ:—"हेन मते कतदिन थाकि' मिश्रवर। अन्तर्ध्यान हैल नित्यसिद्ध कलेवर॥ मिश्रेर विजये प्रभु कान्दिला विस्तर। दशरथ-विजये ये हेन रघुवर॥ दु:ख रस-ए सकल, विस्तारि' कहिते। दु:ख हय, अतएव कहिल संक्षेपे॥"

प्रभु द्वारा पिता का श्राद्ध—

बन्धु-बान्धव आसि' दुँहा प्रबोधिल।
पितृक्रिया विधिमते ईश्वर करिल॥२४॥

२४। प॰ अनु॰—बन्धु-बान्धवों ने आकर दोनों को सान्त्वना दी। भगवान् श्रीगौरहरि ने स्वयं विधि के अनुसार अपने पिता की क्रिया की।

गृहस्थ-लीला
करने की इच्छा—

कत दिने प्रभु चित्ते करिला चिन्तन।
गृहस्थ हइलाम, एबे चाहि गृहधर्म॥२५॥

२५। प॰ अनु॰—कुछ समय के उपरान्त प्रभु ने अपने मन-ही-मन विचार किया कि मैं अब गृहस्थ हो गया हूँ, अत: मुझे गृहधर्म का पालन करना चाहिये।

गृहिणी से ही गृह—

गृहिणी बिना गृहधर्म ना हय शोभन।
एत चिन्ति, विवाह करिते हैल मन॥२६॥

२६। प॰ अनु॰—गृहिणी के बिना गृहस्थधर्म शोभा नहीं देता। ऐसा विचार कर श्रीमन् महाप्रभु ने विवाह करने का मन बनाया।

[स्मृति (प्रभु?) वचन]

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
तया हि सहित: सर्वान् पुरुषार्थान् समश्नुते॥२७॥

२७। प॰ अनु॰—केवल घर को ही गृह नहीं कहते, सहधर्मिणी (गृहिणी) को ही घर कहा जाता है। क्योंकि गृही व्यक्ति गृहिणी के साथ मिलकर ही (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि) समस्त पुरुषार्थों का उपभोग कर सकता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२७। गृह को 'गृह' नहीं कहते, गृहिणी को 'गृह' कहते हैं, गृहिणी के साथ समस्त पुरुषार्थ का भोग करना।

पञ्चदश परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

२७। गृहम् (आवासमन्दिर) गृहं न, गृहिणी (गृहाधिष्ठात्री सहधर्मिणी) एव गृहम् उच्यते। तया (गृहिण्या) सहित: (मिलित: सन्) (मानव:) सर्वान् पुरुषार्थान् (धर्म्मार्थकाममोक्षादीन् चतुर्वर्गान्) समश्नुते (प्राप्नोति)। महा: भा: शा: प: १४४ अ: ५ श्लोक द्रष्टव्य।

लक्ष्मीदेवी के
साथ साक्षात्कार—

दैवे एक दिन प्रभु पड़िया आसिते।
वल्लभाचार्येर कन्या देखे गङ्गा-पथे॥२८॥

२८। प॰ अनु॰—दैवयोग से एकदिन जब प्रभु पढ़ कर आ रहे थे, उसी समय श्रीवल्लभाचार्य की कन्या को गङ्गा के पथ पर जाते देखा।

वनमाली पण्डित द्वारा घटक
का कार्य सम्पादन करना—

पूर्वसिद्ध भाव दुँहार उदय करिला।
दैवे वनमाली घटक शची-स्थाने आइला॥२९॥

२९। प॰ अनु॰—एक दूसरे को देखकर दोनों का पूर्वसिद्ध (नित्य) भाव उदित हो गया। दैवयोग से वनमाली नामक घटक शची-माता के पास आया।

अनुभाष्य

२९। वनमाली घटक—नवद्वीपवासी विप्र। इन्होंने

श्रीमन् महाप्रभु के विवाह में घटक का कार्य किया। गौः गः ४९—'विश्वामित्रोऽपि घटकः श्रीरामोद्वाहकर्म्माणि। रुक्मिण्या प्रेषितो विप्रो यश्च श्रीकेशवं प्रति। तावयं वनमाली यत् कर्म्मनाचार्य यतां गतः॥"

सम्बन्ध और लक्ष्मीदेवी
के साथ प्रभु का विवाह—

शचीर इङ्गिते सम्बन्ध करिल घटन।
लक्ष्मीके विवाह कैल शचीर नन्दन॥३०॥

३०। प॰ अनु॰—शचीमाता के इङ्गित से घटक ने सम्बन्ध करा दिया। इस प्रकार से श्रीशचीनन्दन ने लक्ष्मी के साथ विवाह किया।

चैतन्यभागवत में पौगण्डलीला
का सुविस्तृत वर्णन—

विस्तारिया वर्णिला ताहा वृन्दावन-दास।
एइ त' पौगण्ड-लीलार सूत्र प्रकाश॥३१॥

३१। प॰ अनु॰—श्रीवृन्दावन दास ने इसका विस्तृत रूप से वर्णन किया है। यहाँ तक श्रीमन् महाप्रभु की पौगण्ड लीला का सूत्र कहा गया है।

अनुभाष्य

३१। चैः भाः, आदि १०म अः द्रष्टव्य है।

चैः भाः आदि ८म अः—उपनयन और माता को सुवर्णदान करना इत्यादि बहुत विस्तृत रूप में वर्णन किया गया है।

पञ्चदश परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

पौगण्ड-लीलाय लीला बहु त' प्रकार।
वृन्दावन-दास इहाँ करियाछेन विस्तार॥३२॥

३२। प॰ अनु॰—पौगण्ड-वयस में अनेक प्रकार की लीलाएँ हैं, श्रीवृन्दावन दास ठाकुर ने उनका विस्तृत रूप से वर्णन किया है।

अतएव दिङ्मात्र इहाँ देखाइल।
'चैतन्यमङ्गले' सर्वलोके ख्याति हैल॥३३॥

३३। प॰ अनु॰—'चैतन्यमङ्गल' ग्रन्थ के द्वारा ऐसी लीलाओं की सर्वजगत में प्रसिद्धि है, इसलिये मैंने यहाँ इङ्गित मात्र किया है।

श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥३४॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में पौगण्ड़
लीलासूत्र-वर्णन नामक पञ्चदश-परिच्छेद समाप्त।

३४। प॰ अनु॰—श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

षोडश परिच्छेद

कथासार—इस षोडश परिच्छेद में श्रीमन् महाप्रभु की कैशोर-लीला का वर्णन है। अध्यापन, पण्डित-विजय, गङ्गा में जलकेलि, अर्थ-सञ्चय हेतु बङ्गदेश में गमन, वहाँ पर विद्या-विचार और नाम-सङ्कीर्तन, तपन मिश्र के साथ साक्षात्कार, उनको साध्य सा धन तत्त्व का उपदेश, वाराणसी जाने की आज्ञा प्रदान करना इत्यादि लीलाओं का वर्णन किया गया है। श्रीमन् महाप्रभु जिस समय बङ्ग विजय के लिये गये थे, उस समय पीछे से सर्प के आघात के छल से लक्ष्मीदेवी की वैकुण्ठ-प्राप्ति। महाप्रभु ने आकर शचीदेवी को तत्त्वज्ञान के द्वारा शान्त किया और फिर श्रीविष्णुप्रिया से विवाह किया। दिग्वि-जयी केशव काश्मीरी के साथ वार्त्तालाप और उनके द्वारा रचित गङ्गा के माहात्म्य-सूचक श्लोकों का विचार करके उनमें पञ्चालङ्कार-गुण और पञ्चालङ्कार-दोष दिखाकर उनके गर्व को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। दिग्वि-जयी कवि रात्रि में सरस्वती देवी द्वारा प्रभु के तत्त्व को जानकर अगले दिन उनके शरणागत हुए।

(अ:प्र:भा:)

सदा कृपा करने में लगे हुये गौरहरि—

कृपासुधा-सरिद्यस्य विश्वमाप्लावयन्त्यपि।
नीचगैव सदा भाति तं चैतन्यप्रभुं भजे॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनकी कृपा-सुधा-स्त्रोतस्वती विश्व को आप्ला-वित करने पर भी सदैव नीचे की ओर बहती हुई दिखाई दे रही है, मैं उन्हीं श्रीचैतन्य महाप्रभु का भजन करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यस्य (चैतन्यदेवस्य) कृपा-सुधा-सरित (कृपा-मृतनदी) विश्वं (संसार) आप्लावयन्ती (निमज्जयन्ती) अपि, सदा नीचगा (निम्नगामिनीऐश्वर्यविहीनेषु अकिञ्च-नेषु दीनजनेषु करुणामयी एव) भाति (प्रकाशते), तं चैतन्यप्रभुम् (अह) भजे।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैताचार्य की जय हो तथा गौरभक्तवृन्द की जय हो।

लक्ष्मी-सरस्वती द्वारा
पूजित श्रीगौरहरि—

जीयात् कैशोर-चैतन्यो मूर्तिमत्या गृहाश्रमात्।
लक्ष्म्यार्च्चितोऽथ वाग्देव्या दिशांजयि-जयच्छलात्॥३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३। गृहस्थाश्रम में मूर्त्तिमती लक्ष्मीदेवी के द्वारा अर्चित तथा दिग्विजयी को पराजित कराने का छल करके श्री सरस्वतीदेवी ने जिनका अर्चन किया था, ऐसे कैशोर श्री चैतन्यदेव जययुक्त हों।

अनुभाष्य

३। गृहाश्रमात् (गृहाश्रमं प्राप्य) मूर्तिमत्या (शरीर-धारिण्या) लक्ष्म्या अर्च्चित: (सेवित:) अथ दिशांजयि-जयच्छलात् (दिग्विजयी-केशव काश्मीरख्या-विवुधस्य जयव्यपदेशात्) वाग्देव्या (सरस्वत्या) अर्च्चित: (पूजि-त:) कैशोर-चैतन्य: (किशोर-वयसि स्थित: चैतन्य:) जीयात्।

कैशोर-लीला—

एइ त' कैशोर-लीला-सूत्र-अनुबन्ध।
शिष्यगण पड़ाइते करिला आरम्भ॥४॥

४। प॰ अनु॰—यहाँ से श्रीचैतन्यदेव की कैशोर

लीला के सूत्र का वर्णन करते हैं। श्रीमन् महाप्रभु ने अब शिष्यों को पढ़ाना आरम्भ कर दिया है।

अनुभाष्य

४। कैशोर,—ग्यारह वर्ष से पन्द्रह वर्ष तक की अवस्था को किशोर कहते हैं, उसी अवस्था के अनुरूप ही महाप्रभु भावान्वित हैं।

निमाइ की अध्यापना
से सभी विस्मित—

शत शत शिष्य संगे सदा अध्यापन।
व्याख्या शुनि' सर्वलोकेर चमकित मन॥५॥

५। प० अनु०—निमाइ सदैव शत-शत शिष्यों को शिक्षा प्रदान करते। उनकी व्याख्या सुनकर सभी का मन चमत्कृत हो जाता।

निमाइ से पराजित होने पर
भी पण्डितों में सन्तोष—

सर्वशास्त्रे सर्व पण्डित पाय पराजय।
विनयभङ्गीते कारो दुःख नाहि हय॥६॥

६। प० अनु०—समस्त शास्त्रों के सभी पण्डित निमाइ से पराजित हो जाते। पराजित होने पर भी निमाइ के विनीत भाव को देखकर किसी को भी दुःख नहीं होता था।

अमृतप्रवाह भाष्य

६। पण्डितों को सभी शास्त्रों में पराजित करने पर भी उनके विनीत भाव की कुशलता को देखकर किसी को दुःख नहीं होता था।

विविध औद्धत्य करे शिष्यगण-संगे।
जाह्नवीते जलकेलि करे नाना रंगे॥७॥

७। प० अनु०—शिष्यों के साथ प्रभु अनेक प्रकार की चञ्चलता करते तथा गङ्गा के जल में अनेक प्रकार से जलकेलि करते।

पूर्वी बङ्गाल में जाकर नामसंकीर्तन करने की प्रेरणा प्रदान—

कतदिन कैल प्रभु बंगेते गमन।
याँहा याय, ताँहा लओयाय नाम-संकीर्तन॥८॥

८। प० अनु०—कुछ दिनों के पश्चात् प्रभु बङ्गाल में गये। जहाँ-जहाँ जाते, वहाँ पर नाम-सङ्कीर्त्तन कराते।

प्रभु के पण्डित्य की ख्याति सुनकर
अनेक छात्रों द्वारा अध्ययन—

विद्यार प्रभाव देखि' चमत्कार चित्ते।
शत शत पडुया आसि लागिला पड़िते॥९॥

९। प० अनु०—प्रभु की विद्या के प्रभाव को देखकर सभी का चित्त चमत्कृत हो जाता। शत-शत विद्यार्थी आकर उनके निकट पढ़ने लगे।

प्रभु के साथ तपन मिश्र का साक्षात्कार
और साध्य-साधन-तत्त्व-जिज्ञासा—

सेइ देशे विप्र, नाम—मिश्र तपन।
निश्चय करिते नारे साध्य-साधन॥१०॥

१०। प० अनु०—उस स्थान पर तपन मिश्र नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह साध्य साधन तत्त्व के विषय में निश्चय नहीं कर पा रहा था।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०। साध्य-साधन—साधन के द्वारा जो साधित (प्राप्त) होता है, उसका नाम 'साध्य' है। जिस मार्ग (उपाय) को अपनाने से साध्यवस्तु की प्राप्ति होती है, उसी का नाम 'साधन' है।

अनेक शास्त्रों में अनेक मुनियों
के अनेक मतों से बुद्धि-विभ्रम—

बहुशास्त्रे बहुवाक्ये चित्ते भ्रम हय।
साध्य-साधन-श्रेष्ठ ना हय निश्चय॥११॥

११। प० अनु०—अनेक शास्त्रों के अनेकानेक वाक्यों द्वारा चित्त में भ्रम उत्पन्न होता है। जिससे श्रेष्ठ साध्य तथा श्रेष्ठ साधन का निर्णय नहीं हो पाता।

अमृतप्रवाह भाष्य

११-१३। शास्त्र अनेक हैं। इन शास्त्रों में जिसको साध्य और जिसको साधन कहा गया है, वे भिन्न-भिन्न हैं। बहुत शास्त्र पढ़ने पर, कौन-सा साध्य श्रेष्ठ तथा कौन-सा साधन श्रेष्ठ है—उसका निश्चिय न कर पाने के कारण चित्त भ्रमित हो जाता है। तपनमिश्र के हृदय में इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न होने पर उन्हें स्वप्न में एक विप्र ने निमाइ-पण्डित के निकट जाने तथा उनसे साध्य-साधन निश्चित कर लेने हेतु आदेश प्रदान किया। तथा साथ ही बता दिया कि 'निमाइ-पण्डित साक्षात् ईश्वर हैं, इसमें किसी प्रकार का कोई संशय नहीं करना'।

अनुभाष्य

११। (भाः ७।१३।८) * ग्रन्थान् नैवाभ्यसेद्बहून्। न व्याख्यामुपयुञ्जीत *' अर्थात् बहुत ग्रन्थों का कलाभ्यास (थोड़े-थोड़े अंश को पढ़ने का अभ्यास) नहीं करना तथा शास्त्र व्याख्या-जीवी (शास्त्रों की व्याख्या से उपार्जित धन द्वारा अपना जीवन-यापन करने वाला) मत बनना—चरम कल्याण को प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले (भगवद्भजन इच्छुक) को सर्वप्रथम इस प्रलोभन का परित्याग करना चाहिये—भः रः सिः पूर्व, २ लः।

भाः ११।२१।३०,३६—"एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम्। मानिनाञ्चातिलुब्धानां मद्वार्तापि न रोचते॥ शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रिमनोमयम्। अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥" अर्थात् कर्म और ज्ञानकाण्ड के पोषक शास्त्रों को लेकर व्यवसाय करनेवाले निष्काम भगवद्भक्ति के विरोधी चिकने-चुपड़े मधुर (मनोहर) तथा मात्सर्य और फलभोगतात्पर्यमय वाक्यों को श्रवण व पाठ करके अनभिज्ञ तरलमति कोमल श्रद्धा वाले व्यक्ति जीव के नित्यसाधन कृष्णभक्ति और नित्यसाध्य कृष्णप्रेम की परम महिमा तथा सौन्दर्य को नहीं समझ पाते। जिसके फलस्वरूप वे अनादि बहिर्मुख बहुत आसानी से कर्मी और ज्ञानी के आनुगत्य को स्वीकार कर जीव के निर्मत्सर हितैषी शुद्ध कृष्ण-भक्तों की कृपा-प्राप्त करने से वञ्चित हो जाते हैं। अतएव ऐसे व्यक्ति भक्ति-उन्मुखी सुकृति के अभाव में एकमात्र नित्य कल्याण के मार्ग शुद्ध-भक्ति से अत्यधिक दूर जाकर अन्त में अशेष दुर्गति तथा दुर्दशा की चरम सीमा को प्राप्त करते हैं। जिस समय श्रीगौरसुन्दर ने वाराणसी धाम में श्रीसनातन गोस्वामी प्रभु के प्रश्न के उत्तर में साध्य-साधन तत्त्व का कीर्त्तन किया था, उस समय वहाँ पर तपन मिश्र भी उपस्थित थे। श्रीमन् महाप्रभु के उत्तर को सुनकर उनके संशय की मीमांसा हुई थी। अनेक शास्त्र और अनेक गुरुब्रुव (नामधारी गुरु) के आनुगत्य को स्वीकार करने वाले अबोध जीवों के मङ्गल हेतु श्रीमन् महाप्रभु ने अपने भक्त तपनमिश्र के चरित्र द्वारा (इस संशय की मीमांसा द्वारा) शिक्षा प्रदान की है।

स्वप्न में एक विप्र द्वारा उनको
निमाइ पण्डित के पास जाकर
तत्त्व जिज्ञासा करने हेतु उपदेश—

स्वप्ने एक विप्र कहे,—शुनह तपन।
निमाञिपण्डित-स्थाने करह गमन॥१२॥

१२। प॰ अनु॰—श्रीतपन मिश्र को स्वप्न में एक ब्राह्मण ने कहा,—तपन! सुनो, तुम निमाइ पण्ड़ित के पास जाओ।

तिंहो तोमार साध्य-साधन करिबे निश्चय।
साक्षात् ईश्वर तिंहो,—नाहिक संशय॥१३॥

१३। प॰ अनु॰—वह (निमाइ पण्डित) तुम्हारे लिये साध्य-साधन तत्त्व का निश्चय करेंगे। वे साक्षात् ईश्वर हैं, इसमें कोई भी संशय नहीं है।

प्रभु को स्वप्न का
वृत्तान्त सुनाना—

स्वप्न देखि' मिश्र आसि' प्रभुर चरणे।
स्वप्नेर वृत्तान्त सब कैल निवेदने॥१४॥

१४। प॰ अनु॰—स्वप्न देखने के उपरान्त तपन मिश्र प्रभु के चरणों में आये तथा उन्होंने स्वप्न में जो कुछ भी देखा था, उसे कह दिया।

प्रभु द्वारा हरिनाम को ही साध्य-
साधन के रूप में कीर्त्तन—

प्रभु तुष्ट हञा साध्य-साधन कहिल।
नाम-संकीर्तन कर,—उपदेश कैल॥१५॥

१५। प० अनु०—प्रभु ने प्रसन्न होकर साध्य-साधन तत्त्व के विषय में बताया तथा नाम-सङ्कीर्त्तन करने का उपदेश किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५। प्रभु ने कहा,—अभेद ब्रह्मज्ञान तथा जीव का स्वर्ग आदि भुक्ति—जीव के लिये साध्य नहीं है; कृष्णप्रेम ही एकमात्र साध्य है। कर्म और ज्ञान,—ये उक्त साध्य प्राप्ति के साधन व उपाय नहीं हैं। शुद्ध नामाश्रय-भक्ति ही साध्यवस्तु प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

उनको काशी जाने का आदेश—

ताँर इच्छा,—प्रभुसंगे नवद्वीपे वसि।
प्रभु आज्ञा दिल,—तुमि याह वाराणसी॥१६॥

१६। प० अनु०—उनकी (श्रीतपन मिश्र की) इच्छा थी कि वे प्रभु के साथ नवद्वीप में वास करे, परन्तु प्रभु ने उन्हें वाराणसी में वास करने की आज्ञा दी।

ताँहा आमा-संगे तोमार हबे दरशन।
आज्ञा पाञा मिश्र कैल काशीते गमन॥१७॥

१७। प० अनु०—वहीं पर ही तुम्हें मेरे दर्शन होंगे। प्रभु की आज्ञा पाकर मिश्र ने काशी प्रस्थान किया।

भविष्य में काशी में प्रभु-सेवा का सौभाग्य
तथा श्रीसनातन के प्रश्न करने पर प्रभु के
श्रीमुख से साध्य-साधन-तत्त्व की पूर्ण
मीमांसा श्रवण करने का सौभाग्य-प्राप्ति—

प्रभुर अनन्त लीला बुझिते ना पारि।
स्वसंग छाड़ाञा केन पाठान काशीपुरी॥१८॥

१८। प० अनु०—मैं प्रभु की अनन्त लीला को नहीं समझ सकता। अपना संग छुड़ाकर उन्हें काशी पुरी में क्यों भेज दिया?

पूर्वी बंगाल के सभी निवासियों का मंगल—

एइ मत बङ्गेर लोकेर कैल सबार हित।
'नाम' दिया भक्त कैल, पड़ाञा पण्डित॥१९॥

१९। प० अनु०—इस प्रकार से प्रभु ने पूर्वबङ्गवासी सभी लोगों का कल्याण (हित) किया। उन्हें 'नाम' प्रदान करके भक्त तथा पढ़ाकर पण्ड़ित बना दिया।

अमृप्रवाह भाष्य

१९। नाम प्रदान करके अर्थात् "हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥" इस कृष्णनाम को प्रदानकर बङ्गवासी लोगों को भक्त तथा शास्त्र पढ़ाकर अनेक लोगों को पण्डित बना दिया।

एइ मत बङ्गे प्रभु करे नाना लीला।
एथा नवद्वीपे लक्ष्मी विरहे दुःखी हैला॥२०॥

२०। प० अनु०—इस प्रकार श्रीमन् महाप्रभु तो पूर्व बङ्ग में अनेक लीलाएँ कर रहे हैं, तथा दूसरी ओर नवद्वीप में श्रीलक्ष्मीप्रिया देवी विरह में दुःखी हो रही थीं।

प्रभु के विच्छेद रूपी कालसर्प के
डसने से लक्ष्मीदेवी अप्रकट—

प्रभुर विरह-सर्प लक्ष्मीरे दंशिल।
विरह-सर्प-विषे ताँर परलोक हैल॥२१॥

२१। प० अनु०—प्रभु के विरह रूपी सर्प ने लक्ष्मी-प्रिया देवी को डस लिया। विरह रूपी सर्प के विष से वे परलोक सिधार गई।

अमृतप्रवाह भाष्य

२१। प्रभु के विच्छेद का दुःख सर्प बनकर लक्ष्मी-प्रिया देवी को डस गया तथा उन्होंने परलोक अर्थात् अपने सर्वश्रेष्ठ लोक वैकुण्ठ की ओर प्रस्थान किया।

अन्तर्यामी प्रभु का अपने देश को लौटकर आना—

अन्तरे जानिला प्रभु, याते अन्तर्यामी।
देशेरे आइला प्रभु शची-दुःख जानि'॥२२॥

२२। प० अनु०—क्योंकि महाप्रभु अन्तर्यामी हैं, इसलिये वे सबकुछ जान गये तथा शची माता के दुःख की चिन्ता करके लौट आये।

प्रभु के मुख से तत्त्वज्ञान-श्रवण करके शची का दुःख कम होना—

घरे आइला प्रभु बहु लञा धन-जन।
तत्त्व कहि' कैल शचीर दुःख-विमोचन॥२३॥

२३। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु बहुत धन-जन लेकर घर आये तथा तत्त्व-ज्ञान के द्वारा शची माता के दुःख को दूर किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२३। तत्त्व कहि'—पाठान्तर में 'तत्त्वजाले'—"के कस्य पति पुत्रादयः" अर्थात् 'कौन किसका पति, कौन किसका पुत्र, कौन किसकी पत्नी' इस प्रकार के तत्त्वज्ञान रूपी जाल का विस्तार करके शची माता के दुःख को दूर किया।

प्रभु का विद्या-विलास—

शिष्यगण लञा पुनः विद्यार विलास।
विद्या-बले सबा जिनि' औद्धत्य प्रकाश॥२४॥

२४। प० अनु—पुनः प्रभु शिष्यों को विद्या अध्ययन कराने लगे और विद्या के बलपर प्रभु सभी को पराजित करके औद्धत्य (विनयाभाव) को प्रकट करने लगे।

राजपण्डित सनातन की पुत्री श्रीविष्णुप्रिया के साथ विवाह तथा केशव काश्मीरी की पराजय—

तबे विष्णुप्रिया-ठाकुराणीर परिणय।
तबे त' करिल प्रभु दिग्विजयी जय॥२५॥

२५। प० अनु—कुछ दिनों के उपरान्त श्रीविष्णुप्रिया ठाकुरानी के साथ श्रीमन् महाप्रभु का विवाह हुआ। इसके पश्चात् प्रभु ने दिग्विजयी को पराजित किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२५। दिग्विजयी,—'केशव-मिश्र' नाम के एक काश्मीरी पण्डित। श्रीमन् महाप्रभु से शिक्षित होने के बाद श्रीनिम्बादित्य सम्प्रदाय में आचार्यत्व प्राप्त करके उनके द्वारा रचित वेदान्तपरिजात आदि भाष्य की टिप्पणी हुई है।

अनुभाष्य

२५। दिग्विजयी,—'केशव' नाम के एक काश्मीरी पण्डित। उस समय ये भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों पर अपनी प्रतिभा द्वारा पण्डितों को पराजित करने के उद्देश्य से भ्रमण करते-करते अन्त में गौड़देश के श्रीनवद्वीप में उपस्थित हुए। श्रीमन् महाप्रभु से पराजित होने के उपरान्त श्रीमन् महाप्रभु के तत्त्व को जानकर भगवद् भजन के उद्देश्य से निम्बार्क-सम्प्रदाय में प्रवेश किया। इन्होंने निम्बार्क द्वारा रचित वेदान्त-दर्शन के 'पारिजात'—भाष्य के टीकाकार श्रीनिवासाचार्य के 'वेदान्त-कौस्तुभ' नामक टीका पर 'कौस्तुभप्रभा' नाम की टिप्पणी लिखी। भक्ति-रत्नाकर के द्वादश तरङ्ग में—'श्रीनिम्बादित्य की शिष्य परम्परा—(१) श्रीनिवासाचार्य, (२) विश्वाचार्य, (३) पुरुषोत्तम, (४) विलास, (५) स्वरूप, (६) माधव, (७) बलभद्र, (८) पद्म, (९) श्याम, (१०) गोपाल, (११) कृपा, (१२) देवाचार्य (१३) सुन्दरभट्ट, (१४) पद्मनाभ, (१५) उपेन्द्र, (१६) रामचन्द्र, (१७) वामन, (१८) कृष्ण, (१९) पद्माकर, (२०) श्रवण, (२१) भुरि, (२२) माधव, (२३) श्याम, (२४) गोपाल, (२५) बलभद्र, (२६) गोपीनाथ, (२७) केशव, (२८) गोकुल, (२९) केशव काश्मीरी। (वहीं भः रः में)— "सरस्वती-देवीर करिया मन्त्र जाप। हैल सर्वविद्यास्फूर्ति बाड़िल प्रताप॥ सर्वदिशा जय करि' 'दिग्वजयी' ख्याति। काश्मीर-देशस्थ अति शिष्ट विप्र-जाति॥ सर्व त्याग करि' प्रभु आज्ञाय चलिला। वर्णि लीलाभोग 'लघुकेशव' नामेते॥" अर्थात् सरस्वती देवी का मन्त्र जप करने पर इनको सभी विद्याओं की स्फूर्ति हुई तथा इनका प्रताप बहुत बढ़ गया। सभी दिशाओं के सभी विद्वानों को पराजित करने के कारण इनकी दिग्विजयी नाम से ख्याति हो गई। ये काश्मीर-देश के बहुत कुलीन ब्राह्मण थे। प्रभु की आज्ञा

से सबकुछ त्यागकर (दिग्विजयी बनने तक की स्पृहा को त्यागकर) चल दिये। इनकी लीला 'लघुकेशव' के नाम से वर्णन की गई है। वैष्णव-मञ्जुषा (प्रथम संख्या) द्रष्टव्य है।

ठाकुर श्रीवृन्दावन दास को सम्मान-प्रदान—

वृन्दावन दास इहा करियाछेन विस्तार।
स्फुट नाहि करे दोष-गुणेर विचार॥२६॥

२६। प० अनु०—यद्यपि श्रीवृन्दावन दास ठाकुर ने इसका (प्रभु द्वारा दिग्विजयी को पराजित करने की लीला का) विस्तार किया है, तथापि उसके (दिग्विजयी द्वारा कहे गये श्लोक) के दोष और गुणों का खोलकर विचार नहीं किया।

केशव-काश्मीरी के श्लोक के दोष और गुणों का विचार—

सेइ अंश कहि, ताँरे करि' नमस्कार।
या शुनि' दिग्विजयी कैल आपना धिक्कार॥२७॥

२७। प० अनु०—इसलिये मैं उनको (श्रीवृन्दावन-दास ठाकुर को) नमस्कार करके उसी अंश का (वृन्दावन-दास ठाकुर द्वारा छोड़े गये अंश का) वर्णन कर रहा हूँ, जिसको सुनकर दिग्विजयी ने अपने आपको धिक्कार दिया था।

दिग्विजयी-पराजय-वृत्तान्त,
दिग्विजयी का आगमन—

ज्योत्सनावती रात्रि, प्रभु शिष्यगण संगे।
बसियाछेन गंगातीरे विद्यार प्रसंगे॥२८॥

२८। प० अनु०—ज्योत्सनामयी (चाँदनी) रात्रि के दिन प्रभु अपने शिष्यों को गङ्गा के तट पर पढ़ा रहे थे।

हेनकाले दिग्विजयी ताँहाइ आइला।
गंगारे वन्दन करि' प्रभुरे मिलिला॥२९॥

२९। प० अनु०—उसी समय दिग्विजयी वहाँ पर आये तथा गङ्गा की वन्दना करके प्रभु से भेंट की।

प्रभु का मानद (सम्मान प्रदान करने वाला) धर्म—

बसाइल ताँरे प्रभु आदर करिया।
दिग्विजयी कहे मने अवज्ञा करिया॥३०॥

३०। प० अनु०—श्रीमहाप्रभु ने उन्हें आदर-पूर्वक बिठाया। महाप्रभु के प्रति मन ही मन में अवज्ञा करके दिग्विजयी कहने लगे।

अभिमानी होने के कारण दिग्विजयी
द्वारा प्रभु का अनादर करना—

व्याकरण पड़ाह, निमाञि पण्डित-तोमार नाम।
बाल्यशास्त्रे लोके तोमार कहे गुणग्राम॥३१॥

३१। प० अनु०—व्याकरण पढ़ाने वाला "निमाइ पण्डित" क्या तुम्हारा नाम है? बाल्यशास्त्र में निपुण लोग तुम्हारा गुणगान करते हैं।

अनुभाष्य

३१। बाल्यशास्त्र,—व्याकरण; क्योंकि सभी शास्त्रों के अध्ययन से पहले भाषा को जानने के लिये व्याकरण शास्त्र के अध्ययन का नियम ही प्रचलित है।

व्याकरण-मध्ये, जानि, पड़ाह कलाप।
शुनिलुँ फाँकिते तोमार शिष्येर संलाप॥३२॥

३२। प० अनु०—मैं जानता हूँ कि तुम व्याकरण में कलाप पढ़ाते हो। मैंने तुम्हारे शिष्यों का फाँकि (जटिल प्रश्नों के विषय में वार्त्ता) करते समय संलाप सुना है।

अमृतप्रवाह भाष्य

३२। तुम 'कलाप' नामक व्याकरण पढ़ाते हो तथा मैंने तुम्हारे शिष्यों द्वारा व्याकरण की फाँकि में अर्थात् कठिन प्रश्न के विषय में संलाप अर्थात् विशेष प्रकार का जो एक आलाप होता है, उसको सुना है।

प्रभु की दैन्य उक्ति तथा गङ्गा
का स्तव करने हेतु अनुरोध—

प्रभु कहे, व्याकरण पड़ाइ—अभिमान करि।
शिष्येते ना बुझे, आमि बुझाइते नारि॥३३॥

३३। प० अनु॰—श्रीमन् महाप्रभु ने कहा—मैं अभि-मान करता हूँ कि मैं व्याकरण पढ़ाता हूँ। न तो मेरे शिष्य मेरी बात समझते हैं और न ही मैं उनको समझा सकता हूँ।

काँहा तुमि सर्वशास्त्रे कवित्वे प्रवीण।
काँहा आमि सबे शिशु—पड़ुआ नवीन॥३४॥

३४। प० अनु॰—कहाँ आप, जो सभी शास्त्रों में विशेषतः कवित्व में प्रवीण हैं और कहाँ मैं, जो अभी नया विद्यार्थी बना हूँ।

तोमार कवित्व किछु शुनिते हय मन।
कृपा करि' कर यदि गंगार वर्णन॥३५॥

३५। प० अनु॰—आपके कवित्व को सुनने की मन में बहुत इच्छा हो रही है। आपकी बहुत कृपा होगी यदि आप गङ्गा का वर्णन करें।

दिग्विजयी द्वारा सौ श्लोकों के माध्यम से गङ्गा का स्तव करना—

शुनिया ब्राह्मण गर्वे वर्णिते लागिला।
घटी एके शत श्लोक गंगार वर्णिला॥३६॥

३६। प० अनु॰—ऐसा सुनकर गर्व-पूर्वक ब्राह्मण वर्णन करने लगा। उसने एक घटि (दो दण्ड) में गङ्गा के विषय में एक सौ श्लोक वर्णन किये।

अमृतप्रवाह भाष्य

३६। घटि एके,—एक घटिका (दो दण्ड) में।

प्रभु द्वारा प्रशंसा तथा मान-प्रदान—

शुनिया करिल प्रभु बहुत सत्कार।
तोमा सम पृथिवीते कवि नाहि आर॥३७॥

३७। प० अनु॰—श्लोकों को सुनकर महाप्रभु ने उनका बहुत आदर-सत्कार किया और कहा कि, पृथ्वी पर तुम्हारे समान और कोई कवि नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

३७। करिल सत्कार,—सत्कार किया अर्थात् सम्मान प्रदान किया।

तोमार कविता-श्लोक बुझिते कार शक्ति।
तुमि भाल जान अर्थ, किंवा सरस्वती॥३८॥

३८। प० अनु॰—तुम्हारी कविता के श्लोकों का अर्थ समझने की शक्ति किस में है? उनके यथार्थ अर्थों को या तो आप ठीक से जानते है, या फिर सरस्वती।

अमृतप्रवाह भाष्य

३८। किंवा,—किवा (या फिर)

स्तव में से एक श्लोक की व्याख्या करने हेतु अनुरोध—

एक श्लोकेर अर्थ यदि कर निज-मुखे।
शुनि' सब लोक तबे पाय बड़सुखे॥३९॥

३९। प० अनु॰—यदि आप किसी एक श्लोक का अर्थ स्वयं अपने मुख से कर दे, तो हम सभी उसे सुनकर बहुत आनन्दित होगें।

अलौकिक श्रुतिधर प्रभु द्वारा सौ श्लोकों में से एक श्लोक की आवृत्ति—

तबे दिग्विजयी व्याख्यार श्लोक पूछिल।
शत-श्लोकेर एक श्लोक प्रभु त' पड़िल॥४०॥

४०। प० अनु॰—तब दिग्विजयी पण्डित ने पूछा कि, "किस श्लोक की व्याख्या करूँ"। ऐसा सुनकर श्रीमन् महाप्रभु ने सौ श्लोकों में से एक श्लोक कह सुनाया।

अमृतप्रवाह भाष्य

४०। दिग्विजयी ने पूछा कि कौन से श्लोक की व्याख्या करनी है।

केशव-काश्मीरी द्वारा रचित (कथित) गङ्गा-माहात्म्य-श्लोक—

महत्वं गङ्गायाः सततमिदमाभाति नितरां
यदेषा श्रीविष्णोश्चरणकमलोत्पत्तिसुभगा।

द्वितीय-श्रीलक्ष्मीरिव सुरनरैरर्च्यचरणा
भवानीभर्त्तु र्या शिरसि विभवत्यद्‌भुतगुणा॥४१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४१। गङ्गादेवी का महत्व सदैव दैदीप्यमान है, क्योंकि ये अति सौभाग्यशाली है। ये श्रीविष्णु के चरणकमलों से उत्पन्न हुईं है तथा यह लक्ष्मीदेवी के द्वितीय स्वरूप के समान मनुष्यों तथा देवताओं द्वारा पूजित होती है। ये अद्‌भुत गुणों वाली है, भवानी पति महादेव के मस्तक पर विराजमान है।

अनुभाष्य

४१। गङ्गायाः इदं महत्वं सतत (नित्य) नितरां (निः संशयेन) आभाति (प्रकाशते); यत् (यस्मात्) एषा (गङ्गा) श्रीविष्णोश्चरणकमलोत्पत्ति-सुभगा (श्रीविष्णो-श्चरणकमलयोः भगवत् पादपद्मयोः उत्पतिः सृष्टिः, तया सुशोभनं भगं ऐश्वर्यं यस्याः सा) द्वितीय-श्रीलक्ष्मीरिव (सौन्दर्यशालिनी द्वितीयकमला इव) सुरनरैः (देवमान-वाद्यैः) अर्चाचरणाः (सेवितपदाः) भवानीभर्त्तुः (भवान्याः भर्त्ता स्वामी तस्य गिरिशस्य भवस्येत्यर्थः) शिरसि (मस्त-के) या (गङ्गा) विभवति; अतः (इयम्) अद्‌भुत-गुणा (चमत्कारगुणशलिनी)।

'एइ श्लोकेर अर्थ कर'—प्रभु यदि कहिल।
विस्मित हञा दिग्विजयी प्रभुके पूछिल॥४२॥

४२। प० अनु०—जब श्रीमन् महाप्रभु ने कहा कि इस श्लोक (ऊपरलिखित श्लोक) का अर्थ कीजिये, तब दिग्विजयी ने विस्मित होकर प्रभु से पूछा।

प्रभु की स्मृतिशक्ति को देखकर दिग्विजयी का विस्मित होना तथा जिज्ञासा करना—

झंझावात-प्राय आमि श्लोक पड़िल।
तार मध्ये श्लोक तुमि कैछे कण्ठे कैल॥४३॥

४३। प० अनु०—मैंने प्रायः आँधी के समान श्लोकों को पढ़ा। उनमें से तुमने इस श्लोक को कैसे कण्ठस्थ किया।

प्रभु द्वारा सविनय उत्तर प्रदान—

प्रभु कहे, देवेर वरे तुमि—'कविवर'।
ओइछे देवेर वरे केह हय—'श्रुतिधर'॥४४॥

४४। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु ने कहा,—'जैसे तुम देवताओं के वर से 'कविवर' हो, वैसे ही कोई-कोई देवताओं के वर से 'श्रुतिधर' (सुनने के साथ-ही-साथ स्मरण कर लेने वाला) होता है।

दिग्विजयी की व्याख्या—

श्लोकेर अर्थ कैल विप्र पाइया सन्तोष।
प्रभु कहे,—कह श्लोकेर किबा गुण-दोष॥४५॥

४५। प० अनु०—सन्तुष्ट होकर ब्राह्मण ने श्लोक की व्याख्या की। उनकी व्याख्या सुनकर श्रीमन् महाप्रभु ने कहा कि, अब आप इस श्लोक के गुण तथा दोषों के विषय में बताइये।

प्रभु के अनुरोध से अपने श्लोक के निर्दोष होने का निर्देश तथा गुण-वर्णन—

विप्र कहे, श्लोके नाहि दोषेर प्रकाश।
उपमालङ्कार-गुण, किछु अनुप्रास॥४६॥

४६। प० अनु०—ब्राह्मण ने कहा कि इस श्लोक में कोई भी दोष नहीं है। इसमें उपमा अलङ्कार तथा कुछ अनुप्रास हैं, जो इस श्लोक के गुण है।

अमृतप्रवाह भाष्य

४६। उपमा अलङ्कार—उपमा देकर आलङ्कारिक गुण प्रकाश करना। अनुप्रास,—श्लोक के अन्तिम चरण में अनेक बार 'भ' वर्ण के बहुत बार (आसपास) प्रयोग करके शब्द-चातुर्य दिखाया गया है।

प्रभु और कवि की उक्ति-प्रत्युक्ति—

प्रभु कहेन,—कहि, यदि ना करह रोष।
कह तोमार एइ श्लोके किबा आछे दोष॥४७॥

४७। प० अनु०—श्रीमहाप्रभु ने कहा,—यदि आप क्रोध न करें, तो आपके इस श्लोक में क्या-क्या दोष हैं, उसे कहता हूँ।

प्रभु द्वारा प्रशंसा और कविता के
गुण-दोष विचार करने हेतु अनुरोध—

प्रतिभार वाक्य तोमार देवता सन्तोषे।
भालमते विचारिले जानि' गुण-दोषे॥४८॥

४८। प॰ अनु॰—यद्यपि काव्य की प्रतिभा को देखकर देवता भी तुमसे सन्तुष्ट हैं, तथापि भली-भाँति विचार करने पर इसके गुण और दोष देखे जा सकते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

४८। नये-नये ढंग से वाक्य विन्यास करने की जो बुद्धि-शक्ति है, उसको प्रतिभा कहते हैं। तुमने इस श्लोक में उस बुद्धि का परिचय देकर देवताओं को भी सन्तुष्ट कर दिया है; अर्थात् इन वाक्यों में तुम्हारी प्रतिभा-शक्ति का प्रचुर प्रमाण मिलता है। किन्तु अच्छी तरह विचार करने से इसके गुण और दोषों को जाना जा सकता है।

ताते भाल करि' श्लोक करह विचार।
कवि कहे,—ये कहिले सेइ वेदसार॥४९॥

४९। प॰ अनु॰—इसलिये आप अच्छी तरह से इस श्लोक का विचार कीजिये। कवि ने कहा—"तुमने जो कुछ कहा है, वही वेद का सार है।

दिग्विजयी द्वारा प्रभु को काव्यरस में अनभिज्ञ समझकर उपहास—

वैयाकरण तुमि, नाहि पड़ अलंकार।
तुमि कि जानिबे एइ कवित्वेर सार॥५०॥

५०। प॰ अनु॰—तुम तो केवल व्याकरण जानते हो, तुमने अलङ्कार नहीं पढ़ा है। तुम इस कवित्व के सार को कैसे समझ सकते हो।

अमृतप्रवाह भाष्य

५०। तुम वैयाकरण अथवा व्याकरण विद् अर्थात् (केवलमात्र) बालविद्या-विशारद हो, इसलिये अलङ्कार आदि शास्त्र का विचार करने में असमर्थ हो।

प्रभु की उक्ति—

प्रभु कहेन,—अतएव पूछिये तोमारे।
विचारिया गुण-दोष बुझाह आमारे॥५१॥

५१। प॰ अनु॰—श्रीमन् महाप्रभु ने कहा—इसलिये तो मैं आपसे कह रहा हूँ कि, विचार करके श्लोक के गुण और दोषों के विषय में मुझे समझाएँ।

नाहि पड़ि अलंकार, करियाहि श्रवण।
ताते एइ श्लोके देखि बहु दोष-गुण॥५२॥

५२। प॰ अनु॰—यद्यपि मैंने अलङ्कार इत्यादि नहीं पढ़े हैं तथापि उनका श्रवण किया है। इसलिये इस श्लोक में बहुत से दोष और गुण देखता हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

५२। यह ठीक है कि मैंने अलङ्कार नहीं पढ़े हैं, किन्तु पण्डितों के मुख से श्रवण किये हैं। उसी के आधार पर इस श्लोक में अनेक गुण और दोष देखता हूँ।

कवि के अनुरोध पर प्रभु द्वारा श्लोक के गुण-दोष विचार—

कवि कहे,—कह देखि, कोन् गुण-दोष।
प्रभु कहेन,—कहि, शुन, ना करिह रोष॥५३॥

५३। प॰ अनु॰—कवि ने कहा,—यदि ऐसी बात है, तो दिखाओ कि इसमें क्या-क्या गुण और दोष हैं। श्रीमहाप्रभु ने कहा,—ठीक है, मैं बताता हूँ, परन्तु आप क्रोध मत करना।

पाँच दोष और पाँच गुण—

पञ्च दोष एइ श्लोके पञ्च अलंकार।
क्रमे आमि कहि, शुन, करह विचार॥५४॥

५४। प॰ अनु॰—इस श्लोक में पाँच दोष हैं तथा पाँच अलङ्कार (गुण) है। मैं क्रम-पूर्वक इनका वर्णन कर रहा हूँ। आप सुनकर विचार कीजिये।

श्लोक में पाँच दोष; प्रथम दोष की व्याख्या—

'अविमृष्ट-विधेयांश'—दुइ ठांइ चिह्न।
'विरुद्धमति', भग्नक्रम', 'पुनरात्त', दोष तिन॥५५॥

५५। प॰ अनु॰—अविमृष्ट-विधेयांश का चिह्न दो बार प्रयोग हुआ है। 'विरुद्धमति', 'भग्नक्रम', 'पुनरात्त' तीन दोष हैं।

'गङ्गार महत्व'—श्लोके मूल 'विधेय'।
इदं शब्दे 'अनुवाद'—पाछे अभिधेय॥५६॥

५६। प॰ अनु॰—'गङ्गा का महत्व'—श्लोक में मूल 'विधेय' है। 'इदं' शब्द 'अनुवाद' है, जिसको अभिधेय से पीछे कहा गया है।

'विधेय' आगे कहि' पाछे कहिला 'अनुवाद।
एइ लागि' श्लोकेर अर्थ करियाछे वाद॥५७॥

५७। प॰ अनु॰—'विधेय' पहले कहकर बाद में 'अनुवाद' कहा है। इसलिये इस श्लोक का अर्थ दोषपूर्ण हो गया है।

तथाहि एकादशीतत्वे धृतो न्यायः—

अनुवादमनुक्तैव न विधेयमुदीरयेत्।
नह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति॥५८॥

अनुभाष्य

५८। आदि, द्वितीय परिच्छेद, ७४ संख्या द्रष्टव्य है।

दूसरे दोष की व्याख्या—

'द्वितीय-श्रीलक्ष्मी'—इँहा 'द्वितीयत्व' विधेय।
समासे गौण हैल, शब्दार्थ गेल क्षय॥५९॥

५९। प॰ अनु॰—'द्वितीय-श्रीलक्ष्मी'—इस पद में भी अविमृष्ट-विधेयांश दोष है। इन शब्दों में समास करने से पद का मुख्य अर्थ नष्ट हो गया है।

'द्वितीय' शब्द—विधेय, ताहा पड़िल समासे।
'लक्ष्मीर समता' अर्थ करिल विनाशे॥६०॥

६०। प॰ अनु॰—'द्वितीय' शब्द 'विधेय' है, उसका समास किया है। ऐसा कहने से 'लक्ष्मी के समान का, अर्थ नष्ट हो गया है।

'अविमृष्ट-विधेयांश'—एइ दोष नाम।
आर एक दोष आगे, शुन सावधान॥६१॥

६१। प॰ अनु॰—इस दोष का नाम अविमृष्ट-विधेयांश है। आगे और भी एक दोष है, उसे आप सावधान होकर सुनिये।

तृतीय दोष की व्याख्या—

'भवानीभर्त्तुः' शब्द दिले पाइया सन्तोष।
'विरुद्धमति'—कृत् नाम एइ महा दोष॥६२॥

६२। प॰ अनु॰—बहुत सन्तुष्ट होकर आपने भवानीभर्त्तुः शब्द व्यवहार किया है, इसमें विरुद्धमति-कृत् नामक एक महादोष है।

भवानी-शब्दे कहे महादेवेर गृहिणी।
ताँर भर्त्ता कहिला द्वितीय भर्त्ता जानि'॥६३॥

६३। प॰ अनु॰—भवानी शब्द कहने से महादेव की पत्नी जानी जाती है, उसका पति अर्थात् महादेव की पत्नी का पति कहने से ऐसा ज्ञान होता है कि उनका दूसरा पति भी है।

'शिवपत्नीर भर्त्ता'—इहा शुनिते विरुद्ध।
'विरुद्धमतिकृत्'-शब्द शास्त्रे नहे शुद्ध॥६४॥

६४। प॰ अनु॰—'शिव की पत्नी का पति' यह सुनने में विरुद्ध लगता है। 'विरुद्धमतिकृत्'—शब्द शास्त्र में शुद्ध नहीं माना गया।

अमृतप्रवाह भाष्य

५४-८४। "महत्वं गङ्गायाः" इस श्लोक में जो पाँच अलङ्कार हैं, वे गुण हैं तथा पाँच दोष हैं। अर्थात् दो स्थानों पर अविमृष्ट—विधेयांश दोष है, तथा तीन स्थानों पर विरुद्धमति, पुनरुक्ति और भग्नक्रम नामक दोष है। पहला अविमृष्ट-विधेयांश दोष यह है कि इस श्लोक में गङ्गा का महत्त्व ही मूल विधेय है, तथा 'इदं' शब्द—अनुवाद; इस स्थान पर 'गङ्गा का महत्त्व' पहले लिखकर 'इदं' शब्द बाद में लिखना अवैध है। अनुवाद अर्थात् परिज्ञात विषय पहले न लिखने से अर्थ की हानि होती है। दूसरा अविमृष्ट-विधेयांश दोष यह है कि 'द्वितीय-श्रीलक्ष्मीरिव'—इसके प्रयोग से 'द्वितीयत्व'—विधेय

अर्थात् अपरिज्ञात विषय है, उसको आगे लिखकर समास करने से अर्थ गौण होकर नष्ट हो जाता है, अर्थात् लक्ष्मी के समान दिखाना ही अर्थ का तात्पर्य था, वह समास-दोष से नष्ट हो गया है। तृतीय दोष जो विरुद्धमति-कृत् है, वह 'भवानीभर्त्तुः' शब्द में दिखाया जा रहा है; ऐसे प्रयोग से 'भवानी' शब्द से महादेव की पत्नी समझ में आता है, 'भवानीभर्त्तु' शब्द से भवानी के दूसरे पति,—सुनकर मन में ऐसा आभास होता है। ऐसे शब्द-व्यवहार करने से काव्य 'विरुद्धमतिकृत्' दोष से दूषित हो जाता है। चौथा दोष यह है कि 'विभवति' क्रिया में वाक्य शेष होने पर, उस स्थान पर 'अद्‌भुतगुण' विशेषण प्रयोग करना पुनरात्त' दोष हुआ है। पञ्चम दोष—'भग्नक्रम'; १म, ३य और ४र्थ—इन तीन पदों में 'त' कार, 'र' कार और 'भ' कार का अनुप्रास है, दूसरे पाद में अनुप्रास नहीं है, यही 'भग्नक्रम' दोष है। अलङ्कार स्वरूप पाँच गुण होने पर भी इन पाँच दोषों से श्लोक नष्ट हो गया। दस अलङ्कार युक्त श्लोक में यदि एक भी दोष रहे, तो वह श्वेतकुष्ठ-युक्त, भूषणों से भूषित सुन्दर शरीर के समान निन्दित होता है। अब गुण की बात बता रहा हूँ—तुम्हारे इस श्लोक में दो शब्दालङ्कार' और तीन अर्थालङ्कार है—(१म) तीन पादों में जो अनुप्रास है, वह शब्दालङ्कार है। (२य) 'श्रीलक्ष्मी' इस प्रयोग से पुनरुक्ति दोष नहीं होता, पुनक्तिवदाभास-रूप शब्दालङ्कार होता है। 'श्री' और 'लक्ष्मी' को एक वस्तु मानने पर किसी प्रकार का कोई दोष नहीं होता। 'श्रीयुतलक्ष्मी'—ऐसा अर्थ करने पर यद्यपि अर्थ में विभेद होता है, तथापि ऐसा करने पर भी पुनरुक्ति नहीं होती, वह 'पुनरात्तवदाभास' शब्दालङ्कार है। (३य) 'लक्ष्मीरिव' इस प्रयोग में उपमा अलङ्कार स्वरूप अर्थालङ्कार है। (४र्थ) और एक विरोधाभास-रूप अर्थालङ्कार है, वह विष्णुचरण-कमलोत्पन्न गङ्गा के सम्बन्ध में है। जल से ही कमल की उत्पति होती है, किन्तु कमल से जल की उत्पति—ऐसी विरुद्ध कथा से विरोधालङ्कार होता है। ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति से गङ्गा का प्रकाश होने के कारण इसमें विरोधमात्र नहीं है, केवल 'विरोधाभास' है, वही अलङ्कार है। (५म) गङ्गा के माहात्म्य-रूप साध्यवस्तु को साधन कर रहा है जो वाक्य अर्थात् विष्णु-पादोत्पत्ति-वाक्य वह-वह वाक्य ही 'अनुमान' अलङ्कार है।

इसका एक अन्य दृष्टान्त—

'ब्राह्मण-पत्नीर भर्त्ता-हस्ते देह दान'।
शब्द शुनितेइ हय द्वितीयभर्त्ता ज्ञान॥६५॥

६५। प० अनु—ब्राह्मण की पत्नी के पति के हाथ में दान दो। ऐसा सुनने मात्र से ही उनका कोई दूसरा पति है, ऐसा जान पड़ता है।

चौथे दोष की व्याख्या—

'विभवति' क्रियाय वाक्य—साङ्ग, पुनः विशेषण।
'अद्‌भुतगुणा'—एइ पुनरात्त दूषण॥६६॥

६६। प० अनु—'विभवति' क्रिया पर वाक्य सम्पूर्ण होता है, किन्तु पुनः 'या'-शब्द के विशेषण 'अद्‌भुतगणा' पाद का प्रयोग करना पुनरात्त दोष है।

पाँचवे दोष की व्याख्या—

तिन पादे अनुप्रास देखि अनुपम।
एक पादे नाहि, एइ दोष 'भग्नक्रम'॥६७॥

६७। प० अनु०—श्लोक के तीन पादों में अनुपम अनुप्रास देखता हूँ। किन्तु एक पाद में कोई भी अनुप्रास नहीं है, इस दोष का नाम 'भग्नक्रम' दोष है।

पाँच दोषों के कारण श्लोक की महिमा में हानि—

यद्यपि एइ श्लोके आछे पञ्च अलंकार।
एइ पञ्चदोषे श्लोक कैल छारखार॥६८

६८। प० अनु—यद्यपि इस श्लोक में पाँच अलङ्कार है, तथापि इन पाँच दोषों ने श्लोक को नष्ट कर दिया है।

दश अलंकारे यदि एक श्लोक हय।
एक दोषे सब अलङ्कार हय क्षय॥६९॥

६९। प॰ अनु॰—यदि एक श्लोक में भले ही दस अलङ्कार भी क्यों न हो, तथापि केवलमात्र एक दोष से ही सभी अलङ्कार क्षय (नष्ट) हो जाते हैं।

उपमा—

सुन्दर शरीर यैछे भूषणे भूषित।
एक श्वेतकुष्ठे यैछे करये विगीत॥७०॥

७०। प॰ अनु॰—जैसे भूषणों से भूषित सुन्दर शरीर में एक श्वेतकुष्ठ का दाग पूरे शरीर को निन्दित कर देता है।

अनुभाष्य

७०। विगीत—निन्दित।

तथाहि भरतमुनिवाक्यम्—

रसालङ्कारवत् काव्यं दोषयुक् चेद्विभूषितम्।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥७१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७१। अलङ्कारों से विभूषित सुन्दर शरीर कुष्ठ युक्त होने से जिस प्रकार निन्दनीय होता है, रसमय और अलङ्कार युक्त काव्य भी दोषयुक्त होने पर निन्दित होता है।

अनुभाष्य

७१। विभूषितं (समलंकृत) सुन्दरं (मनोहरम्) अपि वपुः (शरीर) यथा एकेन श्वित्रेण (श्वेताख्य-कुष्ठरोगेन) दुर्भगं (श्री-रहितं मलिन) स्यात्, तथा रसाल-ङ्कारवत् काव्यं (रसः शृंगारादिः अलङ्कारः अनुप्रासोप-मादिः, ताभ्यां युक्तं, काव्यं रसात्मकं वाक्य) चेत् (यदि) दोषयुक् तथा दुर्भगं (श्रीहीन) ज्ञेयम्।

श्लोक के पाँच गुण—

पञ्च अलङ्कारेर एबे शुनह विचार।
दुइ शब्दालङ्कार, तिन अर्थ-अलङ्कार॥७२॥

७२। प॰ अनु॰—अब पाँच अलङ्कारों का विचार सुनिये। दो शब्दालङ्कार तथा तीन अर्थालङ्कार है।

प्रथम और द्वितीय गुण—दोनों ही शब्दालङ्कार—

शब्दालङ्कार—तिनपादे आछे अनुप्रास।
'श्रीलक्ष्मी' शब्दे 'पुनरुक्तवदाभास'॥७३॥

७३। प॰ अनु॰—तीन पदों में जो अनुप्रास हैं तथा 'श्रीलक्ष्मी' शब्द में जो पुनरुक्तवदा-भास है, ये दो शब्दा-लङ्कार हैं।

प्रथम-चरणे पञ्च 'त'-कारेर पाँति।
तृतीय-चरणे हय पञ्च 'रेफ'-स्थिति॥७४॥
चतुर्थ-चरणे चारि 'भ'-कार-प्रकाश।
अतएव शब्दालङ्कार अनुप्रास॥७५॥

७४-७५। प॰ अनु॰—प्रथम चरण में पाँच बार 'त'-कार का प्रयोग हुआ है। तीसरे पाद में पाँच बार 'र'-कार तथा चतुर्थ चरण में चार बार 'भ'-कार का प्रयोग है। अतएव यह अनुप्रास नाम का शब्दालङ्कार है।

श्री'-शब्दे, 'लक्ष्मी'-शब्दे—एक वस्तु उक्त।
पुनरुक्तप्राय भासे, नहे पुनरुक्त॥७६॥

७६। प॰ अनु॰—'श्री' और 'लक्ष्मी' शब्द एक ही वस्तु का नाम है, इससे पुनरुक्ति की प्रतीति होती है, किन्तु ऐसा है नहीं।

'श्रीयुक्त लक्ष्मी' अर्थे अर्थेर विभेद।
पुनरुक्तवदाभास, शब्दालङ्कार-भेद॥७७॥

७७। प॰ अनु॰—'श्रीयुक्तलक्ष्मी' अर्थ में अर्थ का विभेद है। इस प्रकार का जो पुनरुक्तवदाभास है, वह शब्दालङ्कार का एक भेद है।

तृतीय, चर्तुथ और पञ्चम गुण—
तीनों ही अर्थालङ्कार—

'लक्ष्मीरिव' अर्थालङ्कार—उपमा-प्रकाश।
आर अर्थालङ्कार आछे, नाम—'विरोधाभास'॥७८॥

७८। प॰ अनु॰—'लक्ष्मीरिव' पाद में 'उपमा'-अर्थालङ्कार है। श्लोक में और एक 'विरोधाभास' नाम का अर्थालङ्कार है।

'गङ्गाते कमल जन्मे'—सबार सुबोध।
'कमले गङ्गार जन्म'—अत्यन्त विरोध॥७९॥

७९। प० अनु०—गङ्गा से कमल की उत्पत्ति होती है—इसको सभी अच्छी तरह जानते हैं। किन्तु कमल से गङ्गा का जन्म होता है—इसमें अत्यन्त विरोध है।

'इँहा विष्णुपादपद्मे गङ्गार उत्पत्ति'।
विरोधालङ्कार इहार महा-चमत्कृति॥८०॥

८०। प० अनु०—यहाँ श्रीविष्णु के पादपद्म (चरण-कमलों) से गङ्गा की उत्पत्ति कही गई है, यह महा-चमत्कारी विरोधालङ्कार है।

ईश्वर-अचिन्त्यशक्त्ये गङ्गार प्रकाश।
इहाते विरोध नाहि, विरोध-आभास॥८१॥

८१। प० अनु०—ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से गङ्गा की उत्पत्ति है, इसमें विरोध का आभास होने पर भी विरोध नहीं है।

कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति का परिचय—
(श्रीभगवद्—श्रीकृष्णचैतन्य पादोक्त श्लोक)

अम्बुजमम्बुनि जातं क्वचिदपि न जातमम्बुजादम्बु।
मुरभिदि तद्विपरीतं पादाम्भोजान्महानदी जाता॥८२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८२। जल में ही कमल उत्पन्न होता है, कमल से कभी भी जल उत्पन्न नहीं होता, किन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि श्रीकृष्ण में इसके विपरीत देखा जाता है, उनके श्रीचरणकमलों से महानदी गङ्गा का जन्म हुआ है।

अनुभाष्य

८२। अम्बुनि (जले) अम्बुजं (पद्म) जातम् (उत्पन्नम्); क्वचित् (कुत्र) अपि अम्बुजात् (पद्मात्) अम्बु (जल) न जातम्, किन्तु मुरभिदि (मुरारौ कृष्णे) तद्विपरीतं (कार्य-कारण-भावयोर्वैषम्य) दृश्यते, यतः (कृष्णपाद-पद्मात्) महानदी (गङ्गा) जाता (निःसृता)।

गङ्गार महत्व—साध्य, साधन ताहार।
विष्णुपादोत्पत्ति—'अनुमान'-अलङ्कार॥८३॥

८३। प० अनु०—इस श्लोक में गङ्गा का माहात्म्य साध्य है अर्थात् गङ्गा के माहात्म्य का वर्णन करना ही इस श्लोक का साध्य है तथा महिमा का साधन अर्थात् कारण श्रीविष्णुपादपद्मों से उत्पन्न होना है। यह अनुमान-अलङ्कार है।

स्थूल एइ पञ्च दोष, पञ्च अलङ्कार।
सूक्ष्म विचारिये यदि आछये अपार॥८४॥

८४। प० अनु०—ये पाँच दोष तथा पाँच अलङ्कार तो स्थूल रूप से विचार करने पर जान पड़ते हैं, परन्तु यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाये, तब तो इसमें असंख्य दोष है।

अदोषदर्शी प्रभु द्वारा कवि को उत्साह-प्रदान—

प्रतिभा, कवित्व तोमार देवता-प्रसादे।
अविचार काव्ये अवश्य पड़े दोष-बाधे॥८५॥

८५। प० अनु०—देवताओं की कृपा से आपने कवित्व करने की प्रतिभा तो प्राप्त की है, परन्तु अविचार पूर्वक कविता रचने से अवश्य ही उसमें दोष रहता ही है।

अनुभाष्य

८५। यदि काव्य का विचार न किया जाये, तो निश्चित रूप से उसके दोष सहज रूप से दिखाई नहीं देते।

विचार करिले कवित्व हय सुनिर्मल।
सालङ्कार हैले अर्थ करे झलमल॥८६॥

८६। प० अनु०—विचार करने पर कवित्व सुनिर्मल (सुन्दर) होता है, तथा अलङ्कार लगाने पर उसका अर्थ झलमल करता है अर्थात् अत्यधिक स्पष्ट होता है।

दिग्विजयी का विस्मित होकर मन ही मन विचार—

शुनिया प्रभुर वाक्य दिग्विजयी विस्मित।
मुखे ना निःसरे वाक्य, प्रतिभा—स्तम्भित॥८७॥

८७। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु के वाक्यों को सुनकर दिग्विजयी बहुत विस्मित हुये। उनके मुख्य से वाक्य नहीं निकल रहे थे, तथा उनकी प्रतिभा स्तम्भित हो गई।

कहिते चाहये किछु, ना आइसे उत्तर।
तबे विचारये मने हइया फाँपर॥८८॥

८८। प० अनु०—कुछ कहना तो चाहता था, परन्तु कुछ उत्तर न दे पाये। तब मन-ही-मन किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर विचार करने लगा।

पडुया बालक कैल मोर बुद्धि-लोप।
जानि, सरस्वती मोरे करियाछेन कोप॥८९॥

८९। प० अनु०—एक विद्यार्थी बालक ने मेरी बुद्धि का नाश कर दिया है। लगता है कि श्रीसरस्वती देवी मुझसे रुष्ट हो गई है।

प्रभु की अलौकिक व्याख्या को—
सरस्वती की व्याख्या समझना—

ये व्याख्या करिल, से मनुष्येर नहे शक्ति।
निमाञि-मुखे रहि' बले आपने सरस्वती॥९०॥

९०। प० अनु०—जो इस बालक ने व्याख्या की है, ऐसी व्याख्या करने की शक्ति किसी मनुष्य की तो नहीं हो सकती। निमाइ के मुख से तो स्वयं सरस्वती ही बोल रही है।

प्रभु के लिये कवि की उक्ति—

एत भावि' कहे,—शुन, निमाञि पण्डित।
तव व्याख्या शुनि' आमि हइलाङ् विस्मित॥९१॥

९१। प० अनु०—ऐसा विचारकर दिग्विजयी कहने लगा,—सुनो, निमाइ पण्डित! तुम्हारी व्याख्या सुनकर तो मैं विस्मित हो गया हूँ।

अलङ्कार नाहि पड़, नाहि शास्त्राभ्यास।
केमने ए सब अर्थ करिले प्रकाश॥९२॥

९२। प० अनु०—तुमने न तो अलङ्कार पढ़ा है और न ही शास्त्रों का अभ्यास किया है। फिर तुमने किस प्रकार से इन सब अर्थों को प्रकाशित किया है।

इहा शुनि' महाप्रभु अति बड़ रङ्गी।
ताँहार हृदय जानि' कहे, करि' भङ्गी॥९३॥

९३। प० अनु०—ऐसा सुनकर महान् कौतुकी श्रीमन् महाप्रभु उनके हृदय के भावों को जानकर भङ्गी-पूर्वक कहने लगे।

प्रभु द्वारा सरस्वती को ही
व्याख्या-नैपुण्य का कारण बताना—

शास्त्रेर विचार भाल-मन्द नाहि जानि।
सरस्वती ये बलाय, सेइ बलि वाणी॥९४॥

९४। प० अनु०—मैं शास्त्रों के अच्छे और बुरे विचारों को नहीं जानता। श्रीसरस्वती मुझसे जो बुलवाती है, मैं केवलमात्र वही कहता हूँ।

सरस्वती पर दिग्वजयी का अभिमान—

इहा शुनि' दिग्विजयी करिल निश्चय।
शिशुद्वारे देवी मोरे कैल पराजय॥९५॥

९५। प० अनु०—महाप्रभु के इन वचनों को सुनकर दिग्विजयी ने निश्चय किया कि स्वयं देवी ने ही मुझे इस बालक के द्वारा पराजित कराया है।

आजि ताँरे निवेदिब, करि' जप-ध्यान।
शिशुद्वारे कैल मोरे एत अपमान॥९६॥

९६। प० अनु०—आज ही मैं जप-ध्यान इत्यादि के द्वारा उनसे (देवी से) निवेदन करके पूछुँगा कि एक छोटे से बालक द्वारा क्यों मेरा इतना अपमान कराया।

ग्रन्थकार द्वारा घटना के मुख्य कारण का निर्देश—

वस्तुतः सरस्वती अशुद्ध श्लोक कराइल।
विचार-समय ताँर बुद्धि आच्छादिल॥९७॥

९७। प० अनु०—वास्तव में श्रीसरस्वती देवी ने ही

अशुद्ध श्लोक की रचना कराई तथा विचार करते समय भी उसकी बुद्धि को आच्छादित कर दिया।

कवि के पराजित होने पर शिष्यों द्वारा मुस्कराना तथा प्रभु द्वारा उसका निषेध—

तबे शिष्यगण सब हासिते लागिल।
ता'-सबा निषेधि' प्रभु कविके कहिल॥९८॥

९८। प॰ अनु॰—तभी श्रीमन् महाप्रभु के सभी शिष्य हँसने लगे। उन सबको हँसने से रोककर प्रभु कवि को कहने लगे—

कवि को प्रभु द्वारा सम्मान प्रदान—

तुमि महापण्डित हओ, कवि-शिरोमणि।
याँर मुखे बाहिराय ओइछे काव्यवाणी॥९९॥

९९। प॰ अनु॰—"आप महान् पण्ड़ित हैं एवं कवियों में शिरोमणि हैं; क्योंकि आपके मुख से ऐसी काव्यवाणी प्रकट हो रही है।

तोमार कवित्व येन गङ्गाजल-धार।
तोमा-सम कवि कोथा नाहि देखि आर॥१००॥

१००। प॰ अनु॰—आपकी कविता तो गङ्गाजल की धारा के समान है, मैंने आपके समान कवि कहीं नहीं देखा है।

जयदेव, कालिदास और भवभूति के कवित्व में भी दोष—

भवभूति, जयदेव, आर कालिदास।
ताँ-सबार कवित्वे हय दोषेर प्रकाश॥१०१॥

१०१। प॰ अनु॰—भवभूति, जयदेव और कालिदास की कविताओं में भी किसी-किसी स्थान पर दोष दिखाई देते हैं।

अनुभाष्य

१०१। भवभूति अथवा श्रीकंठ—ये 'मालतीमाधव', 'उत्तर-चरित', 'वीरचरित' इत्यादि संस्कृत नाटकों के प्रणेता है। भोजराजा के राज्यकाल के समय इनका उदय-समय है। वे पद्मनगर-निवासी भट्टगोपाल नामक काश्यप गोत्रीय श्रोत्रिय विप्र के पौत्र नीलकण्ठ के पुत्र हैं।

कालिदास—सम्राट् विक्रमादित्य की सभा में स्व-नामधन्य नवरत्नों में अन्यतम महाकवि थे। इनके द्वारा रचित 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव', 'अभिज्ञान-शकुन्तल', 'मेघदूत' इत्यादि लगभग तीस-चालीस संस्कृत महा-काव्य, नाटक और अन्यान्य विषयों पर आधारित ग्रन्थ हैं।

जयदेव—आदि, १७ प:४२ संख्या द्रष्टव्य है।

षोडश परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

श्लोक-रचना ही प्रकृत (वास्तव) गुण—

दोष-गुण-विचारे एइ अल्प करि' मानि।
कवित्व-करणे शक्ति ताँहा से बाखानि॥१०२॥

१०२। प॰ अनु॰—दोष और गुणों के विचार में यह तो बहुत साधारण सी बात है, किन्तु आपकी कविता रचना की शक्ति प्रशंसनीय है।

प्रभु की दैन्योक्ति—

शैशव-चापल्य किछु ना लबे आमार।
शिष्येर समान मुञि ना हङ तोमार॥१०३॥

१०३। प॰ अनु॰—मेरी शिशु के समान चपलता को आप अपने हृदय में मत रखना। मैं तो आपके शिष्य के भी समान नहीं हो सकता।

प्रभु द्वारा उनको सविनय वाक्यों द्वारा विदाई-दान—

आजि' बासा याह, कालि मिलन आबार।
शुनिब तोमार मुखे शास्त्रेर विचार॥१०४॥

१०४। प॰ अनु॰—आज आप अपने वासस्थान पर जाइये, कल पुनः मिलेंगे। मैं आपके मुख से शास्त्रों के विचार श्रवण करूँगा।

रात्रि में कवि द्वारा सरस्वती की आराधना—

एइमते निज-घरे गेला दुइ जन।
कवि रात्रे कैल सरस्वती-आराधन॥१०५॥

१०५। प० अनु०—इस प्रकार दोनों अपने-अपने घर चले गये और कवि रात्रि में सरस्वती की आराधना करने लगा।

सरस्वती के उपदेश से
प्रभु में ईश्वर-बुद्धि—

सरस्वती रात्रे ताँरे उपदेश कैल।
साक्षात् ईश्वर करि' प्रभुरे जानिल॥१०६॥

१०६। प० अनु०—श्रीसरस्वती देवी ने रात्रि में दिग्विजयी को जो उपदेश दिया, उसके द्वारा उन्होंने श्रीमन् महाप्रभु को साक्षात् ईश्वर के रूप में स्वीकार किया।

प्रातःकाल प्रभु के श्रीचरणों
में शरण-ग्रहण और
प्रभु की कृपा—

प्राते आसि' प्रभुपदे लइल शरण।
प्रभु कृपा कैल, ताँर खण्डिल बन्धन॥१०७॥

१०७। प० अनु०—प्रातःकाल उन्होंने श्रीमन् महाप्रभु के श्रीचरणकमलों की शरण ग्रहण की और महाप्रभु ने उन पर कृपा की, जिससे उनके सारे बन्धन कट गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०७। बन्धन,—पण्ड़ित अभिमान रूपी माया का बन्धन।

षोड़श परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

दिग्विजयी की सुकृति—

भाग्यवन्त दिग्विजयी सफल-जीवन।
विद्या-बले पाइल महाप्रभुर चरण॥१०८॥

१०८। प० अनु०—भाग्यवान् दिग्विजयी का जीवन सफल हो गया। विद्या के बल पर उसने श्रीमन् महाप्रभु के श्रीचरणकमलों को प्राप्त कर लिया।

एसब लीला वर्णियाछेन वृन्दावनदास।
ये किछु करिल इहाँ, विशेष प्रकाश॥१०९॥

१०९। प० अनु०—इन सब लीलाओं का श्रीवृन्दावन दास ठाकुर ने वर्णन किया है। जो कुछ विशेष लीला थी, वह यहाँ वर्णन की गई है।

चैतन्य-गोसाञिर लीला—अमृतेर धार।
सर्वेन्द्रियतृप्ति हय श्रवणे याहार॥११०॥

११०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की लीलाएँ अमृत की धारा के समान है, उनका श्रवण करने से सभी इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं।

श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥१११॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिलीला में कैशोरलीला-सूत्र-वर्णन नामक षोड़श-परिच्छेद समाप्त।

१११। प० अनु०—श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋ ❋ ❋

सप्तदश परिच्छेद

कथासार—इस परिच्छेद में श्रीमन् महाप्रभु के सोलह वर्ष की आयु से लेकर संन्यास-ग्रहण तक समस्त लीला को सूत्र रूप में लिखने का तात्पर्य यह है कि व्यासावतार श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने श्रीचैतन्यभागवत में इन सब लीलाओं को विस्तृत रूप से वर्णन किया है। तब भी जिस-जिस स्थान पर श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने किसी अंश को छोड़ा है, उसी का ही कुछ विशेष वर्णन इस परिच्छेद में पाया जाता है। आम्र-महोत्सव-लीला और काजी के साथ श्रीमन् महाप्रभु के परस्पर वार्त्तालाप का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। अन्त में बताया गया है कि यशोदानन्दन ने ही शचीनन्दन के रूप में चार प्रकार के भक्तभावों को आस्वादन किया है। श्रीराधिका के प्रेमरस का माधुर्य आस्वादन करने के लिए श्रीराधिका के भाव को अङ्गीकार कर ऐकान्तिक रूप से गोपीभाव को स्वीकार किया। जितने भी प्रकार के भक्तभाव हैं, उनमें से गोपीभाव सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि गोपीभाव में श्री व्रजेन्द्रनन्दन के अतिरिक्त और किसी के भी भजनीयत्व का प्रकाश नहीं है। श्रीकृष्ण द्वारा कौतुक-पूर्वक चतुर्भुज रूप धारण करने पर गोपियाँ उनको नमस्कार करके चली गईं, इसलिए साधारण गोपीभाव में भी श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्यान्य मूर्त्तियों का केवलमात्र परित्याग होता है। किन्तु गोपीयों में शिरोमणि श्रीमती राधिका का भाव सर्वश्रेष्ठ है। श्रीराधिका के दर्शन करके श्रीकृष्ण चतुर्भुज रूप नहीं रख पाये। इस गौर-लीला में व्रजेश्वर नन्द महाराज—पिता श्रीजगन्नाथ मिश्र के रूप में एवं व्रजेश्वरी श्रीयशोदा—माता श्रीशची देवी हैं। श्रीचैतन्य-गोसाईं साक्षात् नन्दसुत हैं अर्थात् नन्द के पुत्र के प्रकाश व विलास नहीं, स्वयं नन्दसुत हैं। श्रीनित्यानन्द प्रभु के वात्सल्य, दास्य और सख्य—तीन भाव हैं एवं श्रीअद्वैतप्रभु के—सख्य और दास्य दो भाव हैं। अन्यान्य सभी अपने-अपने पूर्वाधिकार के अनुसार श्रीमन् महाप्रभु की सेवा करते हैं। एक ही तत्त्व—वंशीमुख, गोप-विलासी, श्याम-रूप में कृष्ण है और फिर कभी द्विज, कभी संन्यासी वेश धारण कर गौररूप में श्रीकृष्णचैतन्य हैं। अब विरोध का स्थान यह है कि जो कृष्ण हैं, वही गोपी बने हैं। अवश्य ही यह चिन्ता सुदुर्बोध है, किन्तु कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति से यह भी सम्भव है। इसमें तर्क करना वृथा है, क्योंकि अचिन्त्य भाव में तर्क की योजना करना अत्यन्त मूर्खता का कार्य है। इस परिच्छेद के अन्त में श्रीकविराज गोस्वामी ने व्यासदेव का अनुकरण किया है अर्थात् जिस प्रकार व्यासदेव ने श्रीमद्भागवत में किया उसी प्रकार इन्होंने भी इस आदिलीला के सप्तदश परिच्छेद का अनुवाद पृथक-पृथक लिखा है।

(अ:प्र:भा:)

गौरकृपा से अपवित्र
व्यक्ति भी पवित्र—

वन्दे स्वैराद्भुतेहं तं चैतन्यं यत्प्रसादतः।
यवनाः सुमनायन्ते कृष्णनामप्रजल्पकाः॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनकी कृपा से यवन लोग भी सत् चरित्र होकर कृष्णनाम का जप करते हैं, मैं उन स्वच्छन्द तथा अद्भुत चेष्टा-परायण (लीला-परायण) श्रीचैतन्यदेव की वन्दना करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यत् (यस्य चैतन्यदेवस्य) प्रसादतः (अनुकम्पया) यवनाः (म्लेच्छाः) कृष्णनाम-प्रजल्पकाः (नामोच्चारणनिष्ठापराः सन्तः) सुमनायन्ते (सुमनसः इव आचरन्ति) तं स्वैराद्भूतेहं (स्वैरा स्वतन्त्रा अद्भुता

अलौकिकी ईहा चेष्टा यस्य तं स्मार्त विधि-लंघन-समर्थ) चैतन्यम् अहं वन्दे।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैताचार्य की जय हो तथा गौरभक्तवृन्द की जय हो।

कैशोर-लीलार सूत्र करिल गणन।
यौवनलीलार सूत्र करि अनुक्रम॥३॥

३। प॰ अनु॰—पूर्व परिच्छेद में कैशोर लीला के सूत्र की गणना की गई है। अब यौवन-लीला का सूत्र वर्णन कर रहा हूँ।

यौवन में अनेक लीला-विलास—

विद्या-सौन्दर्य-सद्वेश-सम्भोग-नृत्यकीर्त्तनैः।
प्रेमनामप्रदानैश्च गौरो दिव्यति यौवने॥४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४। विद्या, सौन्दर्य, सुन्दर वेश, सम्भोग (माल्य-चन्दनादि)—नृत्य, कीर्त्तन, प्रेम और नाम-दान के द्वारा श्रीगौरचन्द्र यौवन अवस्था में शोभा को प्राप्त हुये हैं।

अनुभाष्य

४। गौरः यौवने (पञ्चदशवर्षातिक्रान्ते यौवन-प्राकट्ये) विद्यासौन्दर्य-सद्वेशसम्भोग नृत्यकीर्त्तनैः (परमार्थ-ज्ञानलावण्य-साधुवेशवसनमाल्यचन्दनादि-सम्भोग नृत्य-कीर्त्तनादिभिः) प्रेमनाम प्रदानैः (प्रेम्ना सह कृष्णनाम वितरणैः दीव्यति (क्रीड़ति)।

यौवन लीला—

यौवन प्रवेशे अङ्गेर अङ्ग विभूषण।
दिव्य वस्त्र, दिव्य वेश, माल्य-चन्दन॥५॥

५। प॰ अनु॰—यौवन अवस्था में प्रवेश करने पर श्रीमन् महाप्रभु के अङ्ग ही उनके सम्पूर्ण शरीर पर आभूषण के रूप में प्रतीत होते थे। वे दिव्य वस्त्र, दिव्य वेश, माला तथा चन्दन धारण करते थे।

विद्यार औद्धत्ये काँहो ना करे गणन।
सकल पण्डित जिनि' करे अध्यापन॥६॥

६। प॰ अनु॰—विद्या की औद्धत्य (विनय के अभाव) के कारण वे किसी को कुछ भी नहीं समझते थे। सभी पण्डितों को पराजित कर स्वयं अध्यापना करते थे।

वायुव्याधिच्छले कैल प्रेम परकाश।
भक्तगण लञा कैल विविध विलास॥७॥

७। प॰ अनु॰—वायु-व्याधि के छल से प्रभु ने प्रेम प्रकाश किया। फिर भक्तों को साथ लेकर अनेक प्रकार से विलास किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

७। अध्ययन और अध्यापन समाप्त करके शुद्ध-भक्ति का प्रचार करने के लिये श्रीगौरचन्द्र ने कुछ दिनों तक वायुव्याधि के छल से विद्यार्थियों को सर्वत्र कृष्णनाम व्याख्या करके, व्याकरण के सभी सूत्रों में कृष्ण-सम्बन्ध दिखाकर, उनको अध्ययन-कार्य से निरस्त करने का प्रयास किया।

अनुभाष्य

७। चैः भाः आदि, १२श अः द्रष्टव्य है।

गया में ईश्वरपुरी के साथ मिलन और दीक्षाभिनय—

तबे त' करिला प्रभु गयाते गमन।
ईश्वरपुरीर सङ्गे तथाइ मिलन॥८॥

८। प॰ अनु॰—इसके उपरान्त श्रीमन् महाप्रभु ने गया यात्रा की और वहीं पर श्रीईश्वरपुरी से उनका मिलन हुआ।

अनुभाष्य

८। चैः भाः आदि, १७श अः द्रष्टव्य है।

दीक्षा-अनन्तरे हैल, प्रेमेर प्रकाश।
देशे आगमन पुनः प्रेमेर विलास॥९॥

९। प॰ अनु॰—दीक्षा के उपरान्त श्रीमन् महाप्रभु में प्रेम का प्रकाश हुआ तथा नवद्वीप आकर उन्होंने प्रेम-पूर्वक लीला-विलास किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

८-९। 'परलोक सिधार गये पिता का गया में जाकर श्राद्ध करूँगा' ऐसा विचारकर श्रीमन् महाप्रभु ने अपने अनेक शिष्यों के साथ गया यात्रा की। परन्तु मार्ग में ज्वर होने से ब्राह्मण का चरणामृत पान करके वे व्याधि से मुक्त हुये। अतएव इस लीला के द्वारा उन्होंने संसार के लोगों को ब्राह्मणों को सम्मान करने का कर्त्तव्य प्रदर्शित किया। गया पहुँचकर उन्होंने श्रीईश्वरपुरी से कृष्णमन्त्र में दीक्षा प्राप्त की तथा उस मन्त्र को ग्रहण करने से महाप्रभु में प्रेम प्रकाशित होने लगा। गया-कार्य करके जब वे श्रीधाम नवद्वीप में आये तो प्रेम का प्रचार करने लगे।

अनुभाष्य

९। चैः भाः आदि, १७श अः और मध्य, १म अः द्रष्टव्य है।

दीक्षा के उपरान्त नवद्वीप-लीला,
अद्वैत का विश्वरूप-दर्शन—

शचीके प्रेमदान, तबे अद्वैत-मिलन।
अद्वैत पाइल विश्वरूप-दरशन॥१०॥

१०। प॰ अनु॰—शचीमाता को प्रेमदान देकर श्रीमन् महाप्रभु का श्रीअद्वैतप्रभु से मिलन हुआ और श्रीअद्वैतप्रभु ने उनके विश्वरूप का दर्शन किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०। एकदिन श्रीमन् महाप्रभु श्रीवास पण्डित के घर में विष्णु-सिंहासन पर बैठकर कहने लगे कि, मेरी माता ने श्रीअद्वैताचार्य के चरणों में वैष्णव-अपराध किया है। उस अपराध के नष्ट न होने तक तथा श्रीअद्वैत द्वारा क्षमा न किये जाने तक उनको प्रेम-भक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। यह सुनकर भक्त लोग श्रीअद्वैतप्रभु को ले आये। श्रीअैद्वत, (आई शचीमाता का माहात्म्य गान करते-करते) प्रेमाविष्ट हो गये। श्रीशचीदेवी ने उस समय अवसर पाकर श्रीअद्वैतप्रभु के चरणों की धूलि को लेकर अपने अपराध से मुक्ति प्राप्त की। तब, "प्रसन्न हइया प्रभु बले जननीरे। एखन से विष्णु भक्ति हइल तोमारे॥ अद्वैतेर स्थाने अपराध नाहि आर।" अर्थात् प्रसन्न होकर श्रीमन् महाप्रभु ने शचीमाता को कहा—'अब आपको विष्णु भक्ति की प्राप्ति हुई। अद्वैतप्रभु के चरणों में अब आपका कोई भी अपराध नहीं रह गया।' तभी श्रीशचीदेवी को प्रेमभक्ति की प्राप्ति हुई।

एकदिन श्रीवास अङ्गन में प्रेमाविष्ट होकर श्री अद्वैतप्रभु ने श्रीमन् महाप्रभु को कहा—'आपने अर्जुन को जिस विश्वरूप का दर्शन कराया था, मुझे भी उसी विश्वरूप का दर्शन कराइये।' उनके ऐसा कहने पर प्रभु ने उन्हें अपना विश्वरूप दिखाया।

अनुभाष्य

१०। शचीमाता को प्रेमदान—चैः भाः मध्य २२ श अः और अद्वैत-मिलन—चैः भाः मध्य, ६अः, अद्वैत का विश्वरूप दर्शन—चैः भाः मध्य २४ अः द्रष्टव्य है।

प्रभुर अभिषेक तबे करिल श्रीवास।
खाटे बसि' प्रभु कैला ऐश्वर्य-प्रकाश॥११॥

११। प॰ अनु॰—तब श्रीवास पण्डित ने श्रीमन् महाप्रभु का अभिषेक किया तथा सिंहासन पर बैठे हुये प्रभु ने अपना ऐश्वर्य प्रकाशित किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

११। एकदिन श्रीवास-भवन में सभी भक्तों ने मिलकर श्रीमन् महाप्रभु का अभिषेक किया। विष्णु सिंहासन पर बैठे हुये महाप्रभु ने अपने राजराजेश्वर—ऐश्वर्य को प्रकाशित किया। एक ओर भक्तों ने एकसाथ मिलकर कीर्त्तन किया तथा दूसरी ओर श्रीअद्वैत आदि

भक्तों ने श्रीमन् महाप्रभु का षोड़श उपचार द्वारा पूजन किया तथा महाप्रभु, भक्तों की अभिलाषा के अनुरूप उनको वर प्रदान करने लगे।

अनुभाष्य

११। श्रीवास के घर में विष्णु-सिंहासन पर विराज-मान महाप्रभु द्वारा 'सातप्रहरिया' भाव—चैः भाः मध्य, नवम अध्याय द्रष्टव्य है।

श्रीनित्यानन्द के साथ मिलन—

तबे नित्यानन्द-स्वरूपेर आगमन।
प्रभुके मिलिया पाइला षड्भुज-दर्शन॥१२॥

१२। प॰ अनु॰—उसी समय श्रीनित्यानन्द प्रभु का आगमन हुआ और उन्होंने श्रीमन् महाप्रभु से मिलकर प्रभु के षड्भुज रूप का दर्शन प्राप्त किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२। श्रीनित्यानन्द प्रभु वीरभूम-जिले के 'एकचक्र' नामक ग्राम में श्रीपद्मावती देवी के गर्भ से हाड़ाइ पण्डित के पुत्र के रूप में आविर्भूत हुये। श्रीनित्यानन्द प्रभु जब कुछ बड़े हुए तो एक संन्यासी ने आकर हाड़ाइ पण्डित से श्रीनित्यानन्द प्रभु को भिक्षा के रूप में माँग लिया। तभी से उस संन्यासी के साथ श्रीनित्यानन्द प्रभु ने बहुत स्थानों पर भ्रमण किया और भ्रमण करते-करते मथुरा मण्डल में आकर बहुत दिनों तक वास किया। श्रीमन् महाप्रभु के आकर्षण से श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीनवद्वीप आकर नन्दन आचार्य के घर में रहने लगे और श्रीमन् महाप्रभु भक्तों के साथ आकर नित्यानन्द प्रभु को वहाँ से अपने स्थान पर ले आये।

अनुभाष्य

१२। नित्यानन्दमिलन—चैः भाः मध्य, तृतीय अध्याय तथा श्रीवास-भवन में श्रीव्यास-पूजा के उपलक्ष्य में श्रीनित्यानन्द प्रभु को श्रीमन् महाप्रभु द्वारा षड्भुज (शंख, चक्र, गदा, पद्म, श्रीहल और मूषल धारण किये हुए रूप का) दर्शन, चैः भाः मध्य, पञ्चम अध्याय द्रष्टव्य है।

निताइ को प्रभु द्वारा षड्भुज, चतुर्भुज और द्विभुज रूप का प्रदर्शन—

प्रथमे षड्भुज ताँरे देखाइल ईश्वर।
शंखचक्रगदापद्म—शार्ङ्गवेणुधर॥१३॥

१३। प॰ अनु॰—पहले श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीनित्या-नन्द प्रभु को अपने शंख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष तथा वेणु धारण किये हुये षड्भुज रूप का दर्शन कराया।

पाछे चतुर्भुज हैला, तिन अङ्ग वक्र।
दुइ हस्ते वेणु बाजाय, दुइ हस्ते शंख-चक्र॥१४॥

१४। प॰ अनु॰—तत्पश्चात् चतुर्भुज होकर उन्होंने त्रिभङ्ग रूप धारण कर लिया और दो हाथों से वेणु बजाते हुए, दो हाथों में शंख-चक्र धारण कर लिया।

तबे त' द्विभुज केवल वंशीवन्दन।
श्याम-अङ्ग पीतवस्त्र व्रजेन्द्रनन्दन॥१५॥

१५। प॰ अनु॰—तब द्विभुज होकर केवल वंशी बजाने लगे एवं श्याम अङ्ग, पीत वस्त्र धारण कर व्रजेन्द्र-नन्दन के रूप में दर्शन देने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३-१५। एकदिन श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु को शंख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष और वेणु धारण किये हुये षड्भुज रूप का दर्शन कराया। फिर दो हाथों में शंख-चक्र और दो हाथों में वंशी धारण कर चतुर्भुज रूप का दर्शन कराया एवं अन्त में केवल वंशीधारी श्री कृष्णरूप का दर्शन कराया—यह प्रसङ्ग श्रीचैतन्य मङ्गल के मध्यलीला में द्रष्टव्य है।

गौर ही नित्यानन्द-बलराम—

तबे नित्यानन्द-गोसाञिर व्यास-पूजन।
नित्यानन्दावेशे कैल मूषल धारण॥१६॥

१६। प॰ अनु॰—तब श्रीनित्यानन्द प्रभु ने व्यास-पूजा की और श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु के आवेश में मूषल धारण कर लिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६। श्रीमन् महाप्रभु के आदेश पर श्रीनित्यानन्द प्रभु पूर्णिमा की रात्रि के प्रकाश में व्यास-पूजा करेंगे, ऐसा कहकर श्रीवास पण्डित द्वारा द्रव्य आदि का आयोजन कराया गया। सङ्कीर्त्तन करते-करते श्रीनित्यानन्द प्रभु ने पुष्पमाला श्रीमन् महाप्रभु के गले में पहना दी। उसी समय श्रीनित्यानन्द प्रभु ने महाप्रभु के षड्भुज रूप का दर्शन किया और व्यास पूजा से सम्बन्धित कुछ भी न हो सका।

श्रीवास अङ्गन में व्यासपूजा की पूर्व रात्रि में, सङ्कीर्तन के समय श्रीमन् महाप्रभु श्रीबलराम प्रभु के आवेश में विष्णु सिंहासन पर बैठकर श्रीनित्यानन्द प्रभु से हल और मूषल माँगने लगे। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने जब अपने हाथ श्रीमन् महाप्रभु के हाथ में समर्पित किये तब सभी भक्तों ने हल और मूसल के प्रत्यक्ष दर्शन किये।

शची का स्वप्न दर्शन और जगाइ-माधाइ का उद्धार—

तबे शची देखिल, रामकृष्ण—दुइ भाई।
तबे निस्तारिल प्रभु जगाइ-माधाइ॥१७॥

१७। प० अनु०—तब श्रीशचीमाता ने राम-कृष्ण दोनों भाइयों का दर्शन किया। और इसके बाद प्रभु ने जगाइ और माधाइ का उद्धार किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७। एक बार रात्रि में श्रीशचीदेवी ने स्वप्न देखा कि, उनके घर में सेवित श्रीकृष्ण-बलराम, दोनों मूर्त्तियाँ गौराङ्ग और नित्यानन्द के साथ नैवेद्य को लेकर छीना-झपटी कर रहे हैं। अगले दिन श्रीगौराङ्ग महाप्रभु की इच्छा से श्रीशचीदेवी ने नित्यानन्द प्रभु को अपने घर पर भोजन करने के लिये कहा। जिस समय श्रीविश्वम्भर और श्रीनित्यानन्द प्रभु भोजन कर रहे थे, उसी समय शचीमाता ने देखा कि, साक्षात् कृष्ण-बलराम भोजन कर रहे हैं, इस प्रकार उनका दर्शन करके शचीमाता को प्रेम-मूर्च्छा हो गयी।

जगाइ और माधाइ नवद्वीप में जन्म ग्रहण करके अनेक प्रकार के पापों में रत रहते थे। जिस समय श्रीमन् महाप्रभु की आज्ञा से श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं हरिदास ठाकुर ने घर-घर में जाकर नाम प्रचार करने के समय इन दोनों शराबियों के क्रोध में पड़ गये। जगाई और मधाई उन्मत्त होकर उनके पीछे दौड़ने लगे, जिससे श्रीनित्यानन्द प्रभु तथा श्रीहरिदास ठाकुर भाग गये। और एक दिन माधाइ ने श्रीनित्यानन्द प्रभु के मस्तक पर टूटे हुये मटके (भाण्ड) को मारकर आघात किया। मधाइ के इस कार्य से जगाइ कुछ दुःखी हुआ। इस दृष्टान्त को सुनकर श्रीमन् महाप्रभु अपने शिष्यों के साथ वहाँ आये और जगाइ-माधाइ को दण्ड देने के लिये उद्यत हुये। करूणामय गौराङ्ग महाप्रभु ने जगाइ के भद्र व्यवहार के विषय में सुनकर उसको प्रेमालिङ्गन प्रदान किया। भगवान् के दर्शन और स्पर्श से उन दोनों पापियों का चित्त परिवर्तित हो गया। इस प्रकार श्रीमन् महाप्रभु ने उनको हरिनाम प्रदानकर उनका उद्धार किया।

प्रभु का 'सातप्रहरिया' भाव—

तबे सप्तप्रहर छिला प्रभु भावावेशे।
यथा तथा भक्तगण देखिल विशेषे॥१८॥

१८। प० अनु०—तब श्रीमन् महाप्रभु सात प्रहर तक भावावेश में रहे, जिसे सभी भक्तों ने दर्शनकर उनकी विशेष-कृपा प्राप्त की।

अमृतप्रवाह भाष्य

१८। एकदिन श्रीवास पण्डित के घर पर श्रीमन् महाप्रभु जब विष्णु-सिंहासन पर बैठे थे तो भक्तों ने 'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्' इत्यादि पुरुषसूक्त पाठ करके तथा गङ्गाजल से उनका अभिषेक और अनेक उपचारों द्वारा उनकी पूजा करके अनेक प्रकार के खाद्य द्रव्य द्वारा भोजन निवेदन किया। प्रभु भक्तों द्वारा प्रदान की गयी साम्रगी को आस्वादन करने लगे। उस दिन सात पहर तक इस भाव का आवेश था तथा महाप्रभु ने सभी अवतारों के भावों का दर्शन कराया था। भक्तों को पुराने गुप्त संवाद बताकर सभी के सन्देह को दूर करके

सभी को वरदान दिया। इस भाव को कोई-कोई 'सात-प्रहरिया भाव' तथा कोई-कोई महाप्रकाश भी कहते हैं।

अनुभाष्य

१८। श्रीवास के भवन में श्रीमन् महाप्रभु का सप्त-प्रहर भाव—उस समय प्रभु के अभिषेक के लिए जल लाने वाली 'दुःखी' नामक एक भाग्यवती स्त्री को प्रभु ने 'सुखी' नाम प्रदान किया। खोला बेचा (केले की जड़ इत्यादि को बेचने वाले) श्रीधर को महाप्रकाश दर्शन, मुरारि गुप्त को राम रूप के दर्शन, श्रीहरिदास ठाकुर के प्रति कृपा, श्रीअद्वैत के निकट गीता का सत्य-पाठ कथन और मुकुन्द के प्रति कृपा इत्यादि—चैः भाः मध्य, नवम अध्याय द्रष्टव्य है।

मुरारि के घर में वराह का आवेश—

वराह-आवेश हैला मुरारि-भवने।
ताँर स्कन्धे चड़ि' प्रभु नाचिला अङ्गने॥१९॥

१९। प॰ अनु॰—मुरारि गुप्त के घर पर प्रभु को वराह-आवेश हो गया तथा उस आवेश में मुरारि के स्कन्ध पर चढ़कर श्रीमन् महाप्रभु उनके आङ्गन में नृत्य करने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९। एकदिन श्रीमन् महाप्रभु 'शूकर! शूकर! कहकर चीत्कार करते हुए स्वयं वराह रूप धारण कर मुरारि गुप्त के भवन में प्रवेश कर गये। वहाँ जल से भरे हुये एक पात्र को (लोटे को) पृथ्वी को उठाने के समान दाँतो से उठाकर जल पान करने लगे। अन्य किसी दिन प्रभु मुरारि के कन्धे पर चढ़कर नृत्य करने लगे।

अनुभाष्य

१९। मुरारि गुप्त के घर में प्रभु का वराह आवेश—चैः भाः मध्य, तृतीय अध्याय द्रष्टव्य है।

शुक्लाम्बर की माधुकरी-भिक्षा से प्राप्त तण्डुल-भोजन—

तबे शुक्लाम्बरेर कैल तण्डुल भक्षण।
'हरेर्नाम' श्लोकेर कैल अर्थ विवरण॥२०॥

२०। प॰ अनु॰—फिर श्रीमन् महाप्रभु ने शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी के चावल का आस्वादन किया, और 'हरेर्नाम' श्लोक के अर्थ की व्याख्या की।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०। शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी—यह श्रीनवद्वीप में गङ्गा तट पर वास करने वाले हैं। श्रीमन् महाप्रभु जिस समय नृत्य कर रहे थे, यह भिक्षा के चावल की झोली के साथ वहाँ आकर उपस्थित हुये। भक्तवात्सल्य वशतः श्रीमन् महाप्रभु इनकी झोली से भिक्षा के सभी चावल अत्यन्त प्रेमपूर्वक भक्षण करने लगे।

अनुभाष्य

२०। श्रीमन् महाप्रभु द्वारा शुक्लाम्बर के भिक्षावृत्ति से प्राप्त चावल-भक्षण—चैः भाः मध्य, १६श अः द्रष्टव्य है।

हरिनाम के बिना जीव की अन्य कोई गति नहीं है—
(बृहन्नारदीय ३८।१२६ वचन)

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥२१॥

अनुभाष्य

२१। आदि, ७म पः७६ संख्या द्रष्टव्य है।

'हरेर्नाम'—श्लोक की व्याख्या—

कलिकाले नामरूपे कृष्ण-अवतार।
नाम हैते हय सर्वजगत्-निस्तार॥२२॥

२२। प॰ अनु॰—कलियुग में श्रीकृष्ण नाम के रूप में अवतरित होते हैं। इस नाम से ही सम्पूर्ण जगत का उद्धार होता है।

दार्ढ्य लागि' 'हरेर्नाम'-उक्ति तिनबार।
जड़ लोक बुझाइते पुनः 'एव'-कार॥२३॥

२३। प॰ अनु॰—इसकी दृढ़ता दिखाने के लिये उपर्युक्त श्लोक में 'हरेर्नाम' तीन बार कहा गया है। (इतने पर भी जिनको विश्वास न हो) ऐसे जड़ लोगों

को समझाने के लिये पुनः 'एव'—कार का प्रयोग किया गया है।

'केवल' शब्दे पुनरपि निश्चय-करण।
ज्ञान-योग-तप आदि कर्म निवारण॥२४॥

२४। प० अनु०—फिर से दृढ़तापूर्वक निश्चय कराने तथा ज्ञान-योग-तप आदि कर्मों की अनुपयोगिता दर्शाने के लिये 'केवलं' शब्द का प्रयोग किया गया है।

अन्यथा ये माने, तार नाहिक निस्तार।
नाहि, नाहि, नाहि—तिन उक्त 'एव'-कार॥२५॥

२५। प० अनु०—जो इसका दूसरा अर्थ मानते हैं, उनका कभी भी उद्धार नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, नहीं हो सकता—यह तीन बार 'एव'-कार के द्वारा कहा गया है।

नाम ग्रहण करने की प्रणाली—
तृण हैते नीच हञा सदा लबे नाम।
आपनि निरभिमानी, अन्ये दिबे मान॥२६॥

२६। प० अनु०—तृण से भी अधिक दीन-हीन होकर, स्वयं निराभिमान रहकर दूसरों को सम्मान करते हुए निरन्तर नाम करना चाहिए।

तरुसम सहिष्णुता वैष्णव करिबे।
भर्त्सन ताड़ने काके किछु ना बलिबे॥२७॥

२७। प० अनु०—वैष्णव को वृक्ष के समान सहिष्णु होना चाहिये। किसी के द्वारा भर्त्सना (तिरस्कार) करने अथवा ताड़ना करने पर भी कुछ भी नहीं बोलना चाहिये।

काटिलेह तरु येन किछु ना बोलय।
शुकाइया मरे, तबु जल ना मागय॥२८॥

२८। प० अनु०—किसी के द्वारा काटने पर जैसे वृक्ष कुछ नहीं कहता तथा सूख कर मरने की अवस्था उपस्थित होने पर भी किसी से जल नहीं माँगता।

एइमत वैष्णव कारे किछु ना मागिबे।
अयाचित-वृत्ति, किम्बा शाक-फल खाबे॥२९॥

२९। प० अनु०—इस प्रकार वैष्णव कभी किसी से कुछ नहीं माँगेगे। या तो अयाचित-वृत्ति (अर्थात् किसी के द्वारा अपने आप प्रदान की गई वस्तु को स्वीकार करने की वृत्ति) या फिर शाक-फल इत्यादि खायेंगे।

सदा नाम लबे, यथा-लाभेते सन्तोष।
एइमत आचार करे भक्तिधर्म-पोष॥३०॥

३०। प० अनु०—वैष्णव को सदा ही हरिनाम करना चाहिये, तथा जो कुछ भी प्राप्त हो, उसी में ही सन्तुष्ट रहना चाहिये। ऐसा आचरण करने से भक्तिधर्म की वृद्धि होती है।

अनुभाष्य

२६-३०। अन्त्य, २०श प:२२-२६ संख्या द्रष्टव्य है।

श्रीमुख की वाणी—(श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र द्वारा उक्त शिक्षाष्टक के अन्तर्गत एक पद्य)
तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥३१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३१। जो अपने आपको तृण की अपेक्षा अधिक छोटा मानते हैं, जो वृक्ष के समान सहिष्णु होते हैं, स्वयं मानशून्य तथा दूसरे लोगों को सम्मान प्रदान करते हैं, वही सदैव श्रीहरिनाम कीर्त्तन के अधिकारी हैं।

अनुभाष्य

३१। तृणादपि (सर्वपददलित गुरुभावरहितात् तृणा-दपि) सुनीचेन (सर्वतोभावेन नीचेन प्राकृत-मर्यादा-रहितभाव-समन्वितेन) तरोरपि (वृक्षादपि) सहिष्णुना (सहनगुणयुक्तेन जनेन) अमानिना (स्वयं मननीयोऽपि तादृश प्राकृतमर्यादा-परित्यागेन) मानदेन (अन्येभ्यः मानरहितेभ्यः अयोग्येभ्यः अपि मानं गौरवं प्रदेन, एवम्भूतेन जनेन) सदा (नित्यकाल) हरिः (एव) कीर्त्तनीयः (अधरोष्ठजिह्वादौ उच्चारणीयः)।

इस श्लोक के अनुसार चलने को कविराज
गोस्वामी द्वारा सभी को सनिर्बन्ध अनुरोध—

ऊर्द्ध्वबाहु करि' कँहो, शुन, सर्वलोक।
नाम-सूत्रे गाँथि' पर कण्ठे एइ श्लोक॥३२॥

३२। प० अनु०—मैं ऊर्द्धबाहु होकर (दोनों हाथों को ऊपर उठाकर) कह रहा हूँ "हे समस्त जगत्वासियों! सुनो! इस श्लोक को नाम रूपी माला में पिरोकर अपने कण्ठ में धारण करो।

प्रभु आज्ञाय कर एइ श्लोक आचरण।
अवश्य पाइबे तबे श्रीकृष्ण-चरण॥३३॥

३३। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु की आज्ञा अनुसार इस श्लोक का आचरण करो। ऐसा करने से तुम्हें अवश्य ही श्रीकृष्ण चरणों की प्राप्ति होगी।

अमृतप्रवाह भाष्य

३२-३३। ग्रन्थकार कह रहे हैं—हे समस्त जगत-वासियों! मैं ऊर्द्धबाहु होकर कह रहा हूँ, तुम श्रवण करो। कृष्णनाम रूपी माला में इस श्लोक को पिरोकर अपने कण्ठ में धारण करो। तात्पर्य यह है कि अधिकारी नहीं होने पर नामग्रहण करने से 'नामाभास' व 'नामापराध' होता है। इससे जीवों को नाम का वास्तविक फल 'कृष्ण प्रेम' प्राप्त नहीं होता। महाप्रभु द्वारा रचित इस 'तृणादपि' श्लोक में जो उपदेश प्रदान किया गया है, उसके अनुसार आचरण करते-करते हरिनाम ग्रहण करो, तब अवश्य ही श्रीकृष्णचरण प्राप्त होंगे।

अनुभाष्य

३२-३३। नामसूत्रे गाँथि—श्रीहरिनाम रूपी सूत्र में माला व रक्षाकवच पिरोने का द्रव्य—प्राकृताभिमान रहित भाव-चतुष्टय, यथा—(१) सुनीचत्व, (२) सहिष्णुत्व, (३) अमानित्व, (४) मानदत्व। प्राकृताभिमान रहने पर सदैव हरिनाम कीर्त्तन करना सम्भवपर नहीं है। जड़ीय अभिमान इत्यादि हरिनाम में बाधक है। अभिमान-चतुष्टय-रहित होने पर शुद्धजीव सदैव हरिनाम कीर्त्तन कर सकते हैं। ऐसी साधन-भक्ति के अनुशासन रूपी आज्ञा प्रतिपालन करने पर हरिनाम-कीर्त्तन के फल-स्वरूप अवश्य ही श्रीकृष्णचरण प्राप्त होंगे।

सम्पूर्ण एक वर्ष पर्यन्त
श्रीवास के घर में संकीर्त्तन—

तबे प्रभु श्रीवासेर गृहे निरन्तर।
रात्रे सङ्कीर्तन कैल एक सम्वत्सर॥३४॥

३४। प० अनु०—इसके पश्चात् श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीवास भवन में निरन्तर एक वर्ष तक रात्रि में सङ्कीर्त्तन किया।

द्वेषी पाषण्डी व्यक्तियों
का प्रवेश निषेध—

कपाट दिया कीर्त्तन करे परम आवेशे।
पाषण्डी हासिते आइसे, ना पाय प्रवेशे॥३५॥

३५। प० अनु०—प्रभु द्वार बन्द करके परम आवेश-पूर्वक कीर्त्तन करने लगे। पाषण्डी परिहास करने आते, किन्तु उनको अन्दर प्रवेश प्राप्त न होता।

श्रीवास के प्रति हिंसा और विद्वेष—

कीर्त्तन शुनि' बाहिरे तारा ज्वलि' पुड़ि' मरे।
श्रीवासेरे दुःख दिते नाना युक्ति करे॥३६॥

३६। प० अनु०—बाहर ही खड़े रहकर वे पाषण्डी कीर्त्तन सुनकर जल मरते थे। वे सब श्रीवास को दुःख देने के अनेक प्रकार के विचार करने लगे।

श्रीवास के विरुद्ध गोपाल-चापाल का काण्ड—

एकदिन विप्र, नाम—'गोपाल चापाल'।
पाषण्डी-प्रधान सेइ दुर्म्मुख, वाचाल॥३७॥

३७। प० अनु०—एकदिन 'गोपाल चापाल' नाम का एक ब्राह्मण, जो कि पाषण्ड़ियों का प्रधान, दुर्मुख तथा वाचाल था।

अनुभाष्य

३७। चैतन्यभागवत में 'गोपाल चापाल' का कोई वृत्तान्त प्राप्त नहीं होता।

भवानी-पूजार सब सामग्री लइया।
रात्रे श्रीवासेर द्वारे स्थान लेपाइया॥३८॥
कलार पात उपरे थुइल उड़फूल।
हरिद्रा, सिन्दूर आर रक्तचन्दन, तण्डुल॥३९॥
मद्यभाण्ड-पाशे धरि' निज घरे गेल।
प्रातःकाले श्रीवास ताहा त' देखिल॥४०॥

३८-४०। प० अनु०—उसने भवानी पूजा की समस्त साम्रगी तथा रात्रि में श्रीवास के द्वार को लिपवाकर, केले के पत्ते के ऊपर जवाफूल, हल्दी, सिन्दूर, लाल चन्दन तथा चावल रखे। उसके निकट ही शराब से भरे हुये घड़े को रखकर अपने घर चला गया। प्रातः काल होने पर श्रीवास पण्ड़ित ने यह सब देखा।

श्रीवास को शक्ति उपासक-प्रतिपादन करने की चेष्टा—

बड़ बड़ लोकेरे आनिल बोलाइया।
सबारे कहे श्रीवास हसिया हासिया॥४१॥
नित्य रात्रे करि आमि भवानी-पूजन।
आमार महिमा देख, ब्राह्मण सज्जन॥४२॥

४१-४२। प० अनु०—श्रीवास पण्ड़ित ने प्रतिष्ठित लोगों को बुलवाकर हँसकर कहा—"हे सज्जन ब्राह्मणों! मेरी महिमा देखो! मैं रात्रि में नित्य भवानी पूजा करता हूँ।

अनुभाष्य

४१। बोलाइया—डाकाइया (बुलवाकर)।

स्थानीय सज्जन व्यक्तियों के मन
में क्षोभ और स्थान-शुद्धिकरण—

तबे सब शिष्टलोक करे हाहाकार।
ओइछे कर्म हेथा कैल कोन् दुराचार॥४३॥

४३। प० अनु०—सभी सभ्य व्यक्ति हाहाकार करके कहने लगे कि किस दुराचारी व्यक्ति ने यहाँ ऐसा कार्य किया है।

हाड़िके आनिया सब दूर कराइल।
जल-गोमय दिया सेइ स्थान लेपाइल॥४४॥

४४। प० अनु०—सभी ने हाड़ि (मेहतर) को बुलाकर वहाँ पर सफाई कराई, तथा जल और गोबर द्वारा उस स्थान को लिपवा दिया।

वैष्णव-अपराध के फलस्वरूप गोपाल चापाल को कुष्ठ—

तिन दिन रहि' सेइ गोपाल चापाल।
सर्वाङ्गे हइल कुष्ठ, बहे रक्तधार॥४५॥

४५। प० अनु०—तीन दिन के उपरान्त उस गोपाल चापाल के सभी अङ्गों में कुष्ठ रोग हो गया तथा रक्त की धाराएँ बहने लगी।

अमृतप्रवाह भाष्य

३५-४५। जिस समय महाप्रभु श्रीवास अङ्गन में द्वार बन्द करके कीर्त्तन के आनन्द का आस्वादन करते थे, उस समय अनेक नवद्वीप वासी बहिर्मुख ब्राह्मण वैष्णवों का परिहास करने के लिये अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करते। 'गोपाल चापाल' नामक कोई वाचाल भट्टाचार्य देवी पूजा की वस्तुएँ केले का पत्ता, जवाफूल और लाल चन्दन इत्यादि मद्य के बर्तन के साथ बन्द दरवाजे के बाहर रख गया था। प्रातःकाल श्रीवास पण्ड़ित उसको देखकर परिहास पूर्वक सभी को कहने लगे,—'देखो! देखो! मैं नित्य रात्रि के समय भवानी की पूजा करता हूँ, इससे मेरे 'शाक्त' होने की महिमा को तुम सब समझ गये।' सभी सज्जन व्यक्ति ऐसा देखकर अत्यन्त दुःखी हुये तथा उन्होंने हाड़ि (मेहतर को) बुलाकर उस मद्य आदि घृणित द्रव्यों को दूर फैलाकर, जल तथा गोबर से लीपकर उस स्थान को शुद्ध किया। इस वैष्णव-अपराध के फलस्वरूप गोपाल-चापाल को गलत् कुष्ठ रोग (रक्त बहते रहने वाला कुष्ठ रोग) हो गया था।

सर्वाङ्ग बेड़िल कीटे, काटे निरन्तर।
असह्य वेदना, दुःखे ज्वलये अन्तर॥४६॥

४६। प० अनु०—उसके सभी अङ्गों में कीड़े पड़ गये, जो उसे निरन्तर काटते रहते थे। उसे असह्य वेदना होने लगी तथा उसका अन्तर हृदय जलने लगा।

गङ्गा किनारे वास और प्रभु से उद्धार प्राप्ति की कामना—

गङ्गाघाटे वृक्षतले रहे त' बसिया।
एकदिन बले किछु प्रभुके देखिया॥४७॥

४७। प० अनु०—गङ्गा के घाट पर वृक्ष के नीचे वह बैठा रहता। एकदिन महाप्रभु को देखकर कुछ कहने लगा।

ग्राम सम्बन्धे आमि तोमार मातुल।
भागिना, मुइ कुष्ठव्याधिते हआछि व्याकुल॥४८॥

४८। प० अनु०—गाँव के सम्बन्ध से मैं तुम्हारा मामा हूँ। भांजे! मैं कुष्ठ रोग से व्याकुल हो गया हूँ।

लोक सब उद्धारिते तोमार अवतार।
मुञि बड़ दुःखी, मोरे करह उद्धार॥४९॥

४९। प० अनु०—लोगों का उद्धार करने के लिये ही तुम अवतरित हुये हो। मैं बहुत ही दुःखी हूँ, मेरा उद्धार करो।

उसके वैष्णव-अपराधी होने के कारण प्रभु के क्रोधपूर्ण वचन और उद्धार करने हेतु असम्मति—

एत शुनि' महाप्रभुर हइल क्रुध मन।
क्रोधावेशे बले तारे तर्ज्जन—वचन॥५०॥

५०। प० अनु०—यह सुनकर श्रीमन् महाप्रभु मन-ही-मन क्रोधित हो गये। क्रोध के आवेश में महाप्रभु ने उसको डाँटते हुये कहा।

आरे पापि, भक्तद्वेषि, तोरे ना उद्धारिमु।
कोटिजन्म एइ मते कीड़ाय खाओयाइमु॥५१॥

५१। प० अनु०—ओहे पापी! भक्तद्वेषी! मैं तेरा उद्धार नहीं करूँगा। करोड़ों जन्मों तक तुझे ऐसे ही कीड़ों से कटवाऊँगा।

श्रीवासे कराइलि तुइ भवानी-पूजन।
कोटि जन्म हबे तोर रौरबे पतन॥५२॥

५२। प० अनु०—तूने श्रीवास को भवानी की पूजा करवायी है। करोड़ों जन्मों तक तुझे रौरव नामक नरक में रहना पड़ेगा।

अनुभाष्य

५२। भवानीपूजा अवैष्णवों का कृत्य है अर्थात् वैष्णवों का कृत्य नहीं है। उसकी निन्दा करके प्रभु ने मानव को हृदय में बहुत ईश्वरवाद का पोषण करने वाले अर्थात् बहुदेवदेवी की उपासना के पक्षपाती विद्ध वैष्णवों को 'दुःसङ्ग' ज्ञान करने की शिक्षा दी।

पाषण्डी संहारिते मोर एइ अवतार।
पाषण्डी संहारि' भक्ति करिमु सञ्चार॥५३॥

५३। प० अनु०—पाषण्ड़ियों का संहार करने के लिये ही मेरा यह अवतार हुआ है। पाषण्ड़ियों का संहार करके मैं भक्ति का सञ्चार करूँगा।

वैष्णव अपराधी का निरन्तर कष्ट भोग करने के कारण सहज मृत्यु प्राप्ति नहीं—

एत बलि' गेला प्रभु करिते गङ्गास्नान।
सेइ पापी दुःख भोगे, ना याय पराण॥५४॥

५४। प० अनु०—ऐसा कहकर श्रीमन् महाप्रभु गङ्गा-स्नान करने के लिये चले गये। वह पापी दुःख तो बहुत भोग रहा था, परन्तु उसके प्राण नहीं निकल रहे थे।

अनुभाष्य

५४। भोगे—भोग करे अर्थात् भोग रहा था।

प्रभु के आने पर उसकी शरणागति—

संन्यास करिया यबे प्रभु नीलाचले गेला।
तथा हैते यबे कुलिया ग्रामे आइला॥५५॥

५५। प० अनु०—संन्यास ग्रहण करके श्रीमन् महाप्रभु जब नीलाचल चले गये, तथा वहाँ से जब कुलिया ग्राम आये।

अमृतप्रवाह भाष्य

५५। कुलियाग्राम—गङ्गा के पूर्व भाग में उस समय

नवद्वीप था, पश्चिम पार के कुलिया ग्राम अब 'नवद्वीप' के नाम से विख्यात है।

अनुभाष्य

५५। 'कुलिया'-ग्राम—वर्त्तमान नवद्वीप शहर'। 'सबे गङ्गा मध्ये नदीयाय-कुलियाय'—चैःभाः अन्त्य, ३।३८०, कुलिया—गंङ्गा के पश्चिम तट पर और नवद्वीप—पूर्व तट पर। 'भक्तिरत्नाकर'—द्वाद्वश तरङ्ग, 'चैतन्य-चरित' महाकाव्य, 'चैतन्य-चन्द्रोदय' नाटक और 'चैतन्यभागवत' में गङ्गा के पश्चिम तट पर स्थित कुलिया का उल्लेख द्रष्टव्य है। कोलद्वीप के अन्तर्गत कुलिया-ग्राम में आज पर्यन्त 'कुलियार गञ्ज' नामक एक पल्ली है। 'कुलियार दह' नामक जलस्त्रोत है, वह इस समय म्युनिसिपल-शहर नवद्वीप में है। श्रीमन् महाप्रभु के समय गङ्गा के पश्चित तट पर 'कुलिया' और 'पाहाड़पुर' नामक ग्राम था। वह 'बाहिर द्वीप' के खेतों में है। किन्तु उस समय तथा तब तक गङ्गा के पूर्व तट पर स्थित 'अन्तर्दीप' ही नवद्वीप था। वह श्रीमायापुर में 'द्वीपेर माठ' के नाम से अब तक प्रसिद्ध है। काँचड़ा-पाड़ा के निकट जो 'कुलिया' नामक गाँव है, वह उपरोक्त कुलिया ग्राम तथा 'अपराध-भञ्जन पाट' नहीं है। धामविद्वेष के कारण कल्पना और भ्रम हेतु कुछेक वर्षों से, वैसी मिथ्या धारणा की उत्पत्ति हुई है।

तबे सेइ पापी प्रभुर लइल शरण।
हित उपदेश कैल हइया करुण॥५६॥

५६। प० अनु०—उस समय (जिस समय महाप्रभु कुलिया ग्राम आये) उस पापी ने श्रीमन् महाप्रभु की शरण ली। उसके ऊपर कृपा करके श्रीमन् महाप्रभु ने हितोपदेश प्रदान किया।

श्रीवास पण्डित के निकट जाकर
अपराध-क्षमा प्रार्थना हेतु प्रभु का उपदेश—

श्रीवास पण्डितेर स्थाने आछे अपराध।
तथा, याह, तेंहो यदि करेन प्रसाद॥५७॥

शरणागत होने के उपरान्त फिर से
पापाचरण न करने हेतु निषेध—

तबे तोर हबे एइ पाप-विमोचन।
यदि पुनः ओइछे नाहि कर आचरण॥५८॥

५७-५८। प० अनु०—श्रीवास पण्डित के चरणों में तुम्हारा अपराध हुआ है। तुम उन्हीं के पास जाओ, यदि वे कृपा करे तथा तुम फिर से वैसा आचरण नहीं करो, तभी तुम्हें इस पाप से छुटकारा मिल सकता है।

गोपाल-चापाल द्वारा श्रीवास के चरणों
में शरण-ग्रहण और अपराध-मोचन—

तबे विप्र आसि' लइल श्रीवास-शरण।
ताँहार कृपाय हइल पाप विमोचन॥५९॥

५९। प० अनु०—तब उस ब्राह्मण ने श्रीवास पण्डित के चरणों की शरण ग्रहण की। श्रीवास पण्डित की कृपा से उसका पाप दूर हो गया।

और एक दुर्बुद्धि विप्र द्वारा
प्रभु को शाप प्रदान—

आर एक विप्र आइल कीर्त्तन देखिते।
द्वारे कपाट,—ना पाइल भितरे याइते॥६०॥

६०। प० अनु०—और एक ब्राह्मण कीर्त्तन देखने के लिये आया। किन्तु द्वार बन्द होने के कारण अन्दर नहीं जा पाया।

फिरि' गेल विप्र घरे मने दुःख पाञा।
आर दिन प्रभुके कहे गङ्गाय देखिया॥६१॥

६१। प० अनु०—ब्राह्मण मन-ही-मन बहुत दुःखी होकर अपने घर लौट गया। दूसरे दिन श्रीमन् महाप्रभु को गङ्गा के घाट पर देखकर कहने लगा।

शापिब तोमारे मुञि, पाञाछि मनोदुःख।
पैता छिण्डिया शापे प्रचण्ड दुर्मुख॥६२॥
संसार-सुख तोमार हउक विनाश।
शाप शुनि' महाप्रभुर हइल उल्लास॥६३॥

६२-६३। प० अनु०—मैंने मन-ही-मन बहुत दुःख पाया है। मैं तुम्हें शाप दूँगा। ऐसा कहकर वह दुर्मुख ब्राह्मण अपने यज्ञोपवीत को तोड़कर शाप देते हुये कहने लगा—तुम्हारे सांसारिक-सुख सब नष्ट हो जाएँ। उस ब्राह्मण के शाप को सुनकर श्रीमन् महाप्रभु को अत्यधिक उल्लास (आनन्द) हुआ।

प्रभुर शाप-वार्त्ता शुने हञा श्रद्धावान्।
ब्रह्मशाप हैते तार हय परित्राण॥६४॥

६४। प० अनु०—जो व्यक्ति श्रद्धावान् होकर श्रीमन् महाप्रभु के शाप-प्राप्ति की वार्त्ता श्रवण करता है, उसको ब्रह्मशाप से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

अनुभाष्य

६४। मायाधीश प्रभु को शाप आदि के अधीन व यमदण्डय तथा कर्मफल के अधीन जीव समझकर पाषण्डता आह्वान करने की अपेक्षा नित्य सेव्य परमेश्वर जानने पर जीवों की अनादि-कृष्णबहिर्मुखता दूर होती है। यह घटना चैतन्यभागवत में नहीं है।

मुकुन्द को दण्ड
देकर उस पर कृपा—

मुकुन्द-दत्तेरे कैल दण्ड-परसाद।
खण्डिल ताँहार चित्तेर सब अवसाद॥६५॥

६५। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु ने मुकुन्द दत्त पर दण्डस्वरूप कृपा की तथा उनके चित्त के सब दुःख को दूर कर दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

६५। प्रभु ने जिस दिन महाप्रकाश किया था, उस दिन मुकुन्द दत्त द्वार के बाहर खड़े हुए थे। प्रभु ने एक-एक करके दूसरे भक्तों पर कृपा की, उन्होंने प्रभु को बताया कि मुकुन्द दत्त बाहर है। श्रीमन् महाप्रभु ने कहा—'मैं मुकुन्द दत्त के प्रति शीघ्र ही प्रसन्न नहीं होऊँगा, क्योंकि, वह भक्तों के निकट शुद्धभक्ति की कथा तथा मायावादी के साथ बैठकर योगवाशिष्ट-लिखित 'मायावाद' को स्वीकार करता है, इससे मुझे सदैव दुःख होता है। मुकुन्द दत्त ने बाहर से इस बात को सुनकर कहा—'मैं धन्य हूँ', क्योंकि यद्यपि जगत का उद्धार करने वाले श्रीमन् महाप्रभु मुझ पर भले ही शीघ्र प्रसन्न न हो, तथापि कभी न कभी तो अवश्य ही मुझ पर कृपा करेंगे। मुकुन्द दत्त द्वारा मायावादियों के सङ्ग का परित्याग करने की दृढ़ता को देखकर श्रीमन् महाप्रभु ने उसी समय उन्हें अपने निकट बुलाकर प्रसन्नता प्रकाशित की। इस लीला द्वारा मायावादी के सङ्ग-रूप अपराध का दण्ड प्रदान करके शुद्धभक्त-सङ्ग के फलस्वरूप कृपा की।

अनुभाष्य

६५। मुकुन्द के ऊपर दण्ड-रूपी कृपा—चैः भाः मध्य १०म अः द्रष्टव्य है।

अद्वैत को दण्ड-प्रदान
रूपी कृपा—

आचार्य-गोसाञिरे प्रभु करे गुरुभक्ति।
ताहाते आचार्य बड़ हय दुःखमति॥६६॥

६६। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु श्रीअद्वैत आचार्य के प्रति गुरुभक्ति करते थे। इससे श्रीअद्वैताचार्य मन-ही-मन बड़े दुःखी होते।

भङ्गी करि' ज्ञानमार्ग करिल व्याख्यान।
क्रोधावेशे प्रभु ताँरे कैल अवज्ञान॥६७॥

६७। प० अनु०—भङ्गीपूर्वक (जान बूझकर) श्री अद्वैताचार्य प्रभु ज्ञानमार्ग की व्याख्या करने लगे। ऐसा देखकर श्रीमन् महाप्रभु ने क्रोध के आवेश में उनको दण्ड दिया।

तबे आचार्य-गोसाञिर आनन्द हइल।
लज्जित हइया प्रभु प्रसाद करिल॥६८॥

६८। प० अनु०—तब श्रीअद्वैताचार्य प्रभु के हृदय में बहुत आनन्द हुआ और श्रीमन् महाप्रभु ने भी लज्जित होकर उन पर कृपा की।

अमृतप्रवाह भाष्य

६६-६८। श्रीअद्वैताचार्य श्रीमन् महाप्रभु के गुरु श्रीईश्वरपुरी के गुरु-भाई हैं। इस सम्बन्ध हेतु प्रभु अपना दास होने पर भी उनकी गुरुवत् भक्ति करते थे। श्रीअद्वैत श्रीमन् महाप्रभु के इस प्रकार गौरव प्रदान रूपी कार्य से दु:खी होकर महाप्रभु के दण्ड रूपी कृपा-प्रसाद को प्राप्त करने के लिये शान्तिपुर जाकर कुछेक दुर्भागे व्यक्तियों के निकट ज्ञानमार्ग की व्याख्या करने लगे। ऐसा सुनकर श्रीमन् महाप्रभु ने क्रोधाविष्ट होकर शान्तिपुर जाकर श्रीअद्वैत पर बहुत अधिक प्रहार किया। उनके प्रहार से श्रीअद्वैतप्रभु ऐसा कहकर नृत्य करने लगे—"देखो, आज मेरी इच्छा पूर्ण हो गई।" श्रीमन् महाप्रभु कृपणता वशत: मुझमें गुरुज्ञान करते थे, आज उन्होंने अपने दास और शिष्य के रूप में मुझे मायावाद रूपी दुर्मति से रक्षा करने की चेष्टा की।" श्रीअद्वैताचार्य की इस भङ्गी को देखकर महाप्रभु लज्जित होकर उनके प्रति प्रसन्न हो गये।

मुरारि गुप्त की ऐकान्तिकी श्रीरामनिष्ठा—

मुरारिगुप्त-मुखे शुनि' राम-गुणग्राम।
ललाटे लिखिल ताँर 'रामदास' नाम॥६९॥

६९। प० अनु०—मुरारि गुप्त के मुख से राम का गुणगान श्रवण करके श्रीमन् महाप्रभु ने उसके ललाट पर 'रामदास' नाम लिख दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

६९। एकदिन श्रीमन् महाप्रभु ने राममन्त्र के उपासक मुरारि गुप्त को रामचन्द्र का स्तव पाठ करने के लिये कहा। मुरारि गुप्त ने अत्यधिक प्रेमपूर्वक रामाष्टक पाठ किया,—'ईत्थं निशम्य रघुनन्दनराजसिंह-श्लोकाष्टकं स भगवान् चरणं मुरारेः। वैद्यस्य मुर्द्धिन विनिधाय लिलेख भाले त्वं 'रामदास' इति भो भव मत्-प्रसादात।"

अनुभाष्य

६९। चैतन्यमङ्गल मध्यखण्ड—'रामं जगत्रयगुरुं सततं भजामि।' "एइमते रघुवीराष्टक श्लोक शुनि'। मुरारि-मस्तके पद दिलत' आपनि॥ 'रामदास' बलि' नाम लिखिला कपाले। मोर परसादे तुमि 'रामदास' हइले॥ इहा बलि' रामरूप देखाइल ताँरे। स्तव करे मुरारि पड़िया पदतले॥" मुरारि-गुप्त के प्रति प्रभु की कृपा—चै: भा: मध्य, १० अध्याय द्रष्टव्य।

श्रीधर के घर पर लोहे के पात्र में जलपान और वरप्रदान—

श्रीधरेर लौहपात्रे कैल जलपान।
समस्त भक्तेरे दिल इष्ट वरदान॥७०॥

७०। प० अनु०—प्रभु ने श्रीधर के लोहे वाले पात्र से जलपान किया। फिर सभी भक्तों को उनकी इच्छानुसार वर प्रदान किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

७०। प्रथम नगर-कीर्त्तन की रात्रि काजी उद्धार करने के पश्चात् चाँदकाजी कीर्त्तन के साथ-साथ श्रीधर के अङ्गन पर्यन्त आये थे। उसी स्थान पर कीर्त्तन समाप्त होने पर महाप्रभु ने कृपा करके श्रीधर के टूटे हुये लोहे के पात्र में जो जल था, उसको 'भक्त द्वारा प्रदान किया गया जल' जानकर पान किया। काजी उस स्थान से लौटकर चले गये। मायापुर के उत्तर-पूर्व में स्थित उस स्थान को अब तक कीर्त्तन-विश्राम स्थान कहते हैं।

अनुभाष्य

७०। श्रीधर के लौह-पात्र में प्रभु द्वारा जलपान—चै: भा: मध्य २३ अ: द्रष्टव्य।

ठाकुर श्रीहरिदास पर कृपा, शची
के अपराध-मोचन का अभिनय—

हरिदास ठाकुरेरे करिल प्रसाद।
आचार्य-स्थाने मातार खण्डाइल अपराध॥७१॥

७१। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु ने हरिदास ठाकुर पर कृपा की। अद्वैताचार्य के प्रति हुये माता शची के अपराध को दूर कराया।

अमृतप्रवाह भाष्य

७१। महाप्रकाश के दिन हरिदास को आलिङ्गन

करके महाप्रभु ने उनको प्रह्लाद का अवतार घोषित किया तथा उन्हें वर प्रदान किया।

विश्वरूप प्रभु द्वारा संन्यास लेने पर शचीमाता ने अद्वैताचार्य पर दोषारोपण किया था। इससे उनका जो वैष्णव-अपराध हुआ, उसको, माता के द्वारा श्रीअद्वैताचार्य की चरणधूलि लेकर दूर कराया।

अनुभाष्य

७१। हरिदास ठाकुर पर कृपा—चैः भाः मध्य, १०म तथा शची माता पर महाप्रभु की कृपा—चैः भाः मध्य, २२ अध्याय।

एक पाषण्डी छात्र का श्रीनाम में अर्थवाद—

भक्तगणे प्रभु नाम-महिमा कहिल।
शुनिया पडुया ताँहा अर्थवाद कैल॥७२॥

७२। प॰ अनु॰—श्रीमन् महाप्रभु ने भक्तों को नाम की महिमा सुनाई। उनकी व्याख्या को सुनकर विद्यार्थियों ने इसका अर्थवाद किया।

अनुभाष्य

७२। साक्षात् कृष्णाभिन्न श्रीनामप्रभु की महिमा को 'अतिस्तुति' 'अप्रकृत' अतएव 'असत्य' जानकर भेद-बुद्धि का नाम ही 'अर्थवाद' या (मिथ्या) स्तुतिवाद अथवा निन्दावाद है—यह अत्यन्त पाषण्ड़ता या नास्तिकता अर्थात् केवल ईश्वर का विरोध मात्र ही है।

नामे स्तुतिवाद शुनि' प्रभुर हैल दुःख।
सबारे निषेधिल,—इहार ना देखिह मुख॥७३॥

७३। प॰ अनु॰—नाम के विषय में स्तुतिवाद को सुनकर श्रीमन् महाप्रभु को बहुत दुःख हुआ। महाप्रभु ने सभी को निषेध किया कि 'इसका मुख भी नहीं देखना'।

अमृतप्रवाह भाष्य

७२-७३। एकदिन श्रीमन् महाप्रभु ने भक्तों के निकट नाम की अपार महिमा वर्णन की, उसको सुनकर कोई एक दुर्भागा विद्यार्थी कहने लगा,—यह सब नाम-महिमा वास्तविक नहीं हैं, शास्त्रों ने नाम की स्तुतिवाद मात्र की है। इस प्रकार नाम की महिमा का अन्य अर्थ करने पर नाम के प्रति अर्थवाद रूप नामापराध होता है। और कोई भी अपराध इतना भयंकर नहीं है जितना की नामापराध। महाप्रभु ने सभी को उस विद्यार्थी का मुख न देखने का निर्देश दिया तथा सगण सवस्त्र गङ्गा-स्नान किया। तात्पर्य यह है कि,—नामापराधी व्यक्ति का मुख देखने पर सवस्त्र स्नान करना उचित है—यही शिक्षा है।

सगण वस्त्र-सहित गङ्गास्नान और
एकमात्र अभिधेय भक्ति की महिमा-गान—

सगणे सचेले गिया कैल गङ्गास्नान।
भक्तिर महिमा ताँहा करिल व्याख्यान॥७४॥

७४। प॰ अनु॰—प्रभु ने सगण सवस्त्र गङ्गा-स्नान किया एवं वहाँ पर श्रीमन् महाप्रभु ने भक्ति की महिमा की व्याख्या की।

ज्ञान-कर्म-योग-धर्मे नहे कृष्ण वश।
कृष्णवश-हेतु एक—कृष्णप्रेमरस॥७५॥

७५। प॰ अनु॰—ज्ञान-कर्म-योग-धर्म इत्यादि साधन श्रीकृष्ण को वशीभूत नहीं कर सकते, श्रीकृष्ण के वशीभूत होने का एकमात्र कारण 'कृष्णप्रेमरस' है।

(श्रीमद्भागवत ११.१४.२०)

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्ज्जिता॥७६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७६। हे उद्धव, मेरी प्रति की गई प्रबला भक्ति जिस प्रकार मुझे वशीभूत कर सकती है, अष्टांग-योग, अभेद-ब्रह्मवाद रूपी सांख्य-ज्ञान, ब्राह्मणों द्वारा स्वशाखा-अध्ययन रूपी स्वाध्याय, सर्वविध तपस्या और त्याग रूपी संन्यास आदि द्वारा मैं उस प्रकार वशीभूत नहीं होता।

अनुभाष्य

७६। श्रीकृष्ण ने उद्धव को कहा—हे उद्धव, योगः

(मरुन्नियमजयमनियमासन-प्राणायामादिः), सांख्यं (कपिल कथितं तत्त्व-संख्यान) धर्मः (वर्णाश्रम धर्मः), स्वाध्यायः (वेदाध्ययन), तपः, त्यागः (संन्यासः), तथा मां न साधयति (वशीकरोति) यथा मम उर्जिता (वर्द्धिता) भक्तिः मां (वशीकरोति)।

मुरारि की प्रंशसा—

मुरारिके कहे प्रभु कृष्णवश कैला।
शुनिया मुरारि श्लोक कहिते लागिला॥७७॥

७७। प॰ अनु—श्रीमन् महाप्रभु ने मुरारि को कहा कि तुमने श्रीकृष्ण को वशीभूत कर लिया है। महाप्रभु के मुख से ऐसा सुनकर मुरारि ने एक श्लोक सुनाया।

(श्रीमद्भागवत १०.८१.१४ श्लोक)

क्वाहं द्रिदः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।
ब्रह्मबन्धुरितिस्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः॥७८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७८। कहाँ मैं अत्यधिक पापी और दरिद्र तथा कहाँ लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण! अयोग्य ब्राह्मण-सन्तान जानकर उन्होंने मुझे आलिङ्गन किया,—यह अत्यधिक आश्चर्य का विषय है।

अनुभाष्य

७७-७८। महाप्रभु ने मुरारि को कहा,—'तुमने अपनी प्रेमभक्ति द्वारा कृष्ण को वशीभूत कर लिया है।' मुरारि ने उसके उत्तर में 'सुदामा'—विप्र द्वारा कहे गये भागवत के श्लोक का उच्चारण करके उत्तर दिया।

घर जाने में रत 'श्रीसुदामा' अथवा 'श्रीदाम' विप्र के मन-ही-मन उक्ति,—'दरिद्रः (समृद्धिरहित) पापीयान् (पापसहितः) अहः क्व? श्रीनिकेतनः (ऐश्वर्य मूल विग्रहः निखिल-पुण्याश्रयः) कृष्णः क्व? अहं ब्रह्मबन्धुः (शौक्रविप्राधमः) इति (कृष्णेन) बाहुभ्यां परिरम्भितः (आलिङ्गित)। (अयोग्ये मयि ब्रह्मबन्धौ कृष्णालिङ्गनं कदापि न सम्भवतीति कृष्णस्य महत्वमेव दर्शितम्; पद्या-मिदं वक्तुर्दैन्यव्यञ्जकम्)।

श्रीमन् महाप्रभु द्वारा कहे गए वाक्यों को अनुकूल रूप से स्वीकार करने पर श्रीकृष्ण को वशीभूत करने की शक्ति मुरारि में नहीं है, श्रीकृष्ण अपने भक्तवात्सल्य-गुण से अयोग्य दास के किसी एक तुच्छ गुण का उपलक्ष्य करके अभावनीय सौभाग्य के अधिकारी बनाते हैं,—ऐसी भावना से ही इस श्लोक का उच्चारण किया गया है।

श्रीमन् महाप्रभु द्वारा कहे गये वाक्य अपने स्वार्थ के प्रतिकूल समझकर उसको रहित करने के उद्देश्य से यह श्लोक उच्चारित होने पर मुरारि गुप्त ने कहा,—'मैं कृष्ण को वशीभूत करने में सम्पूर्ण अयोग्य हूँ, मैं कृष्ण को वशीभूत नहीं कर पाया।' श्रीदामा-विप्र ने अपनी दरिद्रता, पाप में प्रवृत्ति, अब्राह्मणता इत्यादि अपनी अयोग्यता समूह का उल्लेख करके कृष्णालिङ्गन रूप अपने सौभाग्य का प्रख्यापन किया था, किन्तु मुरारि गुप्त भावना कर रहे हैं,—'इस प्रकार की भावना के भी मैं अयोग्य हूँ'।

दशम-टिप्पणी वैष्णव-तोषणी में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया गया है "क्वेति। पापीयान् दुर्भगः; कृष्ण साक्षात् भगवान्; एवं कृष्णत्व-पापीयस्त्वयोस्तथा दारिद्र्य-श्रीनिकेतत्व योर्विरोधः तथापि ब्रह्मबन्धुः विप्र-कुलजात इति बाहुभ्यां द्वाभ्यामेव परिरम्भितः परिरब्धः। 'स्म'—विस्मये। एवं परिरम्भे विप्रत्वमेव कारण- मुक्तन्, न तु सख्यं, तत्रात्मनोऽतीवायोग्यत्वमननात् अतो भगवतो ब्रह्मण्यतैव श्लाघिता, न तु भक्त वत्सलतापीति।"

इससे पहले के श्लोक में सुदामा का भाव इस प्रकार लिपिबद्ध हुआ है कि जिस वक्ष पर प्राणाधिका कमला विराज करती है, उस वक्ष द्वारा ब्राह्मण-सम्बन्धीय प्रीति-वश ब्रह्मण्यदेव ने मेरे जैसे लक्ष्मीहीन दरिद्र को आलिङ्गन किया। इस श्लोक के भावानुसार उद्धृत अगले श्लोक की टीका में कहा गया है, 'विप्रत्व (ब्राह्मणत्व) ही आलिङ्गन का कारण है,—सख्यत्व नहीं; तथा दैन्यक्रम से श्रीदाम विप्र स्वयं नितान्त अयोग्य हैं, वे स्वयं ब्राह्मणवृत्त नहीं है, केवल भगवान् ही ब्रह्मण्यता के श्रेष्ठत्व और अपने उपादेयत्व-प्रदर्शन के लिये एक ब्रह्मबन्धु को भी वैसी ही प्रीति दिखाई, यही विस्मय का कारण

है। श्रीदाम विप्र अपने दैन्य और अपने अनुत्कर्ष ज्ञापन करने के उद्देश्य से अपने आपको 'ब्रह्मबन्धु' कहकर तिरस्कार किया तथा ब्रह्मबन्धु के प्रति भी कृष्ण को असामान्य अनुग्रह है, इसको व्यक्त करके अपने दैन्य और ब्रह्म स्वभाव का प्रकृत परिचय दिया। इसके द्वारा सुदामा-विप्र ने अपने माहात्म्य के त्याग का ज्वलन्त आदर्श प्रस्तुत किया। ब्रह्मबन्धुत्व—अपना व अपने किसी कृतित्व द्वारा नहीं, बल्कि ब्रह्मबन्धुत्व रूप विषयान्तर ही—जो सुदामा विप्र की अपनी सम्पत्ति नहीं है, वही कृष्णप्रीति का कारण है, अपना महत्व व अपनी कृष्णभक्ति, ऐसे कार्यों से कृष्ण वशीभूत नहीं होते।

मुरारि गुप्त ने भी वैसे भावों का अवलम्बन करके अपने महत्व का आवरण करके दैन्य प्रकाशित किया। मुरारिगुप्त उस समय के सामाजिक-दृष्टिकोण से शौक्रशूद्र मात्र, 'ब्रह्मबन्धु-शब्द वाच्य भी नहीं हैं। तब भी 'स्त्रीशूद्र-द्विजबन्धुनां त्रयी न श्रुतिगोचरा" इस (भा: १।४।२५) श्लोक का तात्पर्य विचार करके मुरारिगुप्त ने शूद्र के समान द्विजबन्धुत्व की भी उपमा ग्रहण की थी।

छान्दोग्य उपनिषद की टीका में शङ्कराचार्य ने 'ब्रह्म-बन्धु' की व्याख्या करते हुए कहा है—"ब्राह्मणान् बन्धून-व्यपदिशति न स्वयं ब्राह्मण-वृत:"। (भा: १।७।५९)—"वपनं द्रविणादानं स्थानिर्यापणं तथा। एषा हि ब्रह्मबन्धुनां वधो नानेयाहिन्त देहिक:॥" कूर्मपुराण—"शूद्रप्रेष्यो भृतो राज्ञा वृषलो ग्रामयाजक:। वधवन्धोपजीवी च षड़ेते 'ब्रह्म-बन्धव:॥" ब्रह्मबन्धु या केवल शौक्र ब्राह्मणत्व अपनी योग्यता का परिचय नहीं हैं, परन्तु उससे वस्तुभेद का सापेक्षत्व ही प्रमाणित होता है।

प्रभु द्वारा आम का वृक्ष लगाना
तथा फल प्रदान करने की कथा—

एकदिन प्रभु सब भक्तगण लञा।
संकीर्त्तन करि' वैसे श्रमयुक्त हञा॥७९॥

७९। प० अनु०—एकदिन श्रीमन् महाप्रभु सभी भक्तों के साथ सङ्कीर्त्तन करने के पश्चात् श्रमयुक्त होकर बैठे थे।

एक आम्रबीज प्रभु अङ्गने रोपिल।
तत्क्षणे जन्मिया वृक्ष बाड़िते लागिल॥८०॥

८०। प० अनु०—उसी समय श्रीमन् महाप्रभु ने एक आम की गुठली लेकर आङ्गन में रोपित कर दी। उसी क्षण वहाँ आम का पेड़ उत्पन्न हो आया तथा वह बढ़ने लगा।

देखिते देखिते वृक्ष लागिल फलिते।
पाकिल अनेक फल, सबेइ विस्मिते॥८१॥

८१। प० अनु०—देखते ही देखते वृक्ष में फल लगने लगे तथा उसमें से अनेक फल पकने लगे, यह देखकर सभी विस्मित हो गये।

शत दुइ फल प्रभु शीघ्र पाड़ाइल।
प्रक्षालन करि' कृष्णे भोग लागाइल॥८२॥

८२। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु ने जल्दी ही दो सौ फल तुड़वाये। उनको धुलवाकर श्रीकृष्ण को भोग लगाया।

रक्त-पीतवर्ण,—नाहि अष्ठि-वल्कल।
एकजनेर पेट भरे खाइले एक फल॥८३॥

८३। प० अनु०—आम के फल लाल और पीले रंग के थे, उसमें गुठली-छिलकादि नहीं था। एक व्यक्ति का पेट एक फल खाने से ही भर जाता था।

देखिया सन्तुष्ट हैला शचीर नन्दन।
सबाके खाओयाल आगे करिया भक्षण॥८४॥

८४। प० अनु०—ऐसा देखकर श्रीशचीनन्दन बहुत सन्तुष्ट हुये। स्वयं खाकर उन्होंने सभी को वे फल खिलाये।

अष्ठि-वल्कल नाहि,—अमृत-रसमय।
एक फल खाइले रसे उदर पूरय॥८५॥

८५। प० अनु०—उसमें गुठली तथा छिलका नहीं

था—वह तो केवल रसमय अमृत ही था। एक फल के रस का पान करने से ही पेट भर जाता था।

एइमत प्रतिदिन फले बारमास।
वैष्णव खायेन फल,—प्रभुर उल्लास॥८६॥

८६। प० अनु०—इस प्रकार वह वृक्ष प्रतिदिन फल देता तथा बारह महीने फलता। वैष्णव लोग उन फलों को खाते तथा उनको खाता देखकर महाप्रभु आनन्दित होते।

अमृतप्रवाह भाष्य

७९-८६। किसी दिन महाप्रभु भक्तों के साथ कीर्त्तन करते-करते श्रमयुक्त होकर जहाँ पहुँचे थे, वहाँ के एक भक्त के आङ्गन में एक आम की गुठली को बो दिया, उसी समय उसमें फल लग गये तथा आम्रमहोत्सव हुआ। वह स्थान अब 'आम्रघट' ('आमघाटा') नाम से प्रसिद्ध है।

अनुभाष्य

७९-८६। यह घटना श्रीचैतन्यभागवत में नहीं है।

एइ सब लीला करे शचीर नन्दन।
अन्य लोक नाहि जाने बिना भक्तगण॥८७॥

८७। प० अनु०—इस प्रकार श्रीशचीनन्दन ये सब लीलाएँ करते रहे। उनके भक्तों के अतिरिक्त कोई भी इन लीलाओं को नहीं जान सकता।

एइ मत बारमास कीर्त्तन अवसाने।
आम्रमहोत्सव प्रभु करे दिने दिने॥८८॥

८८। प० अनु०—इस प्रकार बारह महीने कीर्त्तन के अन्त में श्रीमन् महाप्रभु प्रतिदिन आम्र-महोत्सव करते।

कीर्त्तन के समय प्रभु द्वारा मेघों को न बरसने का आदेश—

कीर्त्तन करिते प्रभु आइला मेघगण।
आपन-इच्छाय कैल मेघ निवारण॥८९॥

८९। प० अनु—एकदिन जिस समय श्रीमन् महाप्रभु कीर्त्तन कर रहे थे, उस समय बादल आ गये। अपनी इच्छा से श्रीमन् महाप्रभु ने बादलों को रोक दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

८९। एकदिन श्रीमन् महाप्रभु (अपने आवास स्थान से) कुछ दूरी पर सङ्कीर्त्तन कर रहे थे, उस समय अत्यन्त बादल (मेघाडम्बर) आ गये। महाप्रभु ने जान-बूझकर जब उन बादलों को जाने की आज्ञा दी, तब उसी समय सारे बादल चले गये। इस कारण उस गङ्गाचर भूमि को अभी तक 'मेघेर चर' कहते हैं। सम्प्रति गङ्गा के स्त्रोत परिवर्तित होने के कारण 'बेलपुखुरिया' गाँव उस 'मेघेर चर' में स्थानान्तरित हो गया है। बेलपुखुरिया पहले जहाँ पर था, उस स्थान का वर्त्तमान नाम 'तारणवास' और 'टोटा' हुआ है।

अनुभाष्य

८९। चैतन्यमङ्गल मध्यखण्ड—"दिन अवसान, सन्ध्या धन्य दिगन्तर। आचम्भिते मेघारम्भ गगन-मण्डल॥ घनघन-गरजय गम्भीर निनादे। देखिया वैष्णवगण गणिल प्रमादे॥ तबे महाप्रभु से मन्दिरा करि' करे। नामगुण सङ्कीर्त्तन करे उच्चैः स्वरे। देवलोक कृतार्थ करिब हेन मने। ऊर्द्ध्वमुखे चाहे प्रभु आकाशेर पाने॥ दूर गेल मेघगण प्रकाश आकाश। हरिषे वैष्णवगणेर बाड़िल उल्लास॥ निरमल भेल शशी-रंजित रजनी। अनुगत गुण गाये नाचये आपनि॥"

श्रीवास द्वारा विष्णु-सहस्त्रनाम पाठ—

एकदिन प्रभु श्रीवासे आज्ञा दिल।
'बृहत् सहस्त्र नाम' पड़, शुनिते मन हैल॥९०॥

९०। प० अनु०—एकदिन जब महाप्रभु के मन में 'बृहद् सहस्त्रनाम' श्रवण करने की इच्छा हुई तो उन्होंने श्रीवास पण्ड़ित को सुनाने की आज्ञा दी।

प्रभु की नृसिंहावेश-लीला—

पड़िते आइला स्तवे नृसिंहेर नाम।
शुनिया आविष्ट हैला प्रभु गुणधाम॥९१॥

९१। प० अनु०—उस स्तव में श्रीनृसिंह भगवान् का नाम सुनकर गुणों के आकर स्वरूप श्रीमन् महाप्रभु आविष्ट हो गये।

पाषण्डी व्यक्तियों के एकमात्र दण्डविधाता श्रीनृसिंह के आवेश में प्रभु द्वारा पाषण्डी दलन—

नृसिंह-आवेशे प्रभु हाते गदा लञा।
पाषण्डी मारिते याय नगरे धाइया॥९२॥

९२। प० अनु०—नृसिंह के आवेश में महाप्रभु अपने हाथों में गदा लेकर पाषण्ड़ियों को मारने हेतु नगर की ओर दौड़ पड़े।

लोगों में भय—

नृसिंह-आवेश देखि' महातेजोमय।
पथ छाड़ि' भागे लोक पाञा बड़ भय॥९३॥

९३। प० अनु०—महातेजोमय नृसिंह के आवेश को देखकर लोग बहुत भयभीत होकर मार्ग छोड़कर इधर-उधर भागने लगे।

अनुभाष्य

९३। भागे—पलायन करे अर्थात् भागने लगे। यह घटना श्रीचैतन्यभागवत में नहीं है।

प्रभु का क्रोध-सम्वरण और करुणा—

लोक-भय देखि' प्रभुर बाह्य हइल।
श्रीवास-गृहेते गिया गदा फेलाइल॥९४॥

९४। प० अनु०—लोगों को भयभीत देखकर श्रीमन् महाप्रभु को बाह्य-ज्ञान हुआ। वे गदा को फैंककर श्रीवास के घर आ गये।

श्रीवास के प्रति प्रभु की उक्ति—

श्रीवासे कहेन प्रभु करिया विषाद।
लोक भय पाय—मोर हय अपराध॥९५॥

९५। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु विषाद-पूर्वक श्रीवास पण्डित को कहने लगे—'मुझे देखकर लोग भयभीत होते हैं—इससे मेरा अपराध होता है।

अनुभाष्य

९०-९५। चैतन्यमङ्गल मध्यखण्ड—"पितृकर्म करे सेइ श्रीवास-पण्ड़ित। शुनये 'सहस्रनाम' अति शुद्ध-चित्त॥ हेनकाले सेइ ठाञि गेला गौरहरि। शुनये 'सहस्र-नाम' मनोरथ पूरि'॥ शुनिते-शुनिते भेल नृसिंह-आवेश। क्रोधे राङ्गा दु'-नयन, उर्द्ध भेल केश॥ पुलकित सब अङ्ग अरुण वरण। घनघन हुँकार सिंहेर गर्जन॥ आचम्भिते गदा लञा धाइल सत्वर। देखिया सकल लोक काँपिल अन्तर॥ सब सम्वरिया प्रभु बसिला आसने। ना जानि, कि अपराध भैगेला आमार॥"

श्रीवास की उक्ति, गौरनाम करने से अपराध-क्षय—

श्रीवास बलेन,—ये तोमार नाम लय।
तार कोटि अपराध, सब हय क्षय॥९६॥

९६। प० अनु०—श्रीवास पण्डित ने कहा,—जो आपका नाम लेता है, उसके करोड़ों-करोड़ों अपराध नष्ट हो जाते हैं।

गौरदर्शन से संसार-ध्वंस—

अपराध नाहि, कैले लोकेर निस्तार।
ये तोमा' देखिल, तार छूटिल संसार॥९७॥

९७। प० अनु०—आपके अपराध होने की तो बात ही क्या? आपने तो लोगों का उद्धार कर दिया है। जिस-जिस ने आपके दर्शन किये हैं, उन सबका संसार बन्धन नष्ट हो गया।

एत बलि' श्रीवास करिल सेवन।
तुष्ट हञा प्रभु आइला आपन-भवन॥९८॥

९८। प० अनु०—इतना कहकर श्रीवास पण्डित उनकी सेवा करने लगे। श्रीमन् महाप्रभु सन्तुष्ट होकर अपने घर लौट आये।

महाभाग्यवान् शैव के स्कन्ध पर प्रभु का शिवावेश—

आर दिन शिवभक्त शिवगुण गाय।
प्रभुर अङ्गने नाचे, डम्बरु बाजाय॥९९॥

९९। प० अनु०—और एकदिन एक शिव-भक्त, शिव का गुणगान गा रहा था, तथा श्रीमन् महाप्रभु के आङ्गन में डमरु बजा-बजाकर नृत्य कर रहा था।

महेश-आवेश हैला शचीर नन्दन।
तार स्कन्धे चड़ि' नृत्य कैल बहुक्षण॥१००॥

१००। प० अनु०—उसे देखकर श्रीशचीनन्दन गौर-हरि को महेश का आवेश हो गया। उसके कंधे पर चढ़कर महाप्रभु ने बहुत देर तक नृत्य किया।

नृत्यपरायण भिक्षु को
कृष्णप्रेम-प्रदान—

आर दिन एक भिक्षुक आइला मागिते।
प्रभुर नृत्य देखि' नृत्य लागिला करिते॥१०१॥

१०१। प० अनु०—और एकदिन एक भिक्षुक माँगने के लिये आया। प्रभु के नृत्य को देखकर वो भी नृत्य करने लगा।

प्रभु-सङ्गे नृत्य करे परम उल्लासे।
प्रभु तारे प्रेम दिल, प्रेमरसे भासे॥१०२॥

१०२। प० अनु०—वे परमान्दित होकर श्रीमन् महाप्रभु के साथ नृत्य करने लगा और श्रीमन् महाप्रभु द्वारा प्रेम दान दिये जाने पर वे प्रेमरस में उन्मत्त हो गया।

प्रभु द्वारा ज्योतिषी से अपने-
पूर्वपरिचय की जिज्ञासा—

आर दिने ज्योतिष एक सर्वज्ञ आइल।
ताहारे सम्मान करि' प्रभु प्रश्न कैल॥१०३॥

१०३। प० अनु०—और एकदिन एक सर्वज्ञ ज्योतिष आया। उनका बहुत सम्मान आदर करके श्रीमन् महाप्रभु ने उनसे एक प्रश्न पूछा।

अनुभाष्य

१०३। सर्वज्ञ,—भूत, भविष्य और वर्त्तमान को जानने वाला त्रिकालज्ञ।

के आछिलुँ पूर्वजन्मे आमि, कह गणि'।
गणिते लागिला सर्वज्ञ प्रभुवाक्य शुनि'॥१०४॥

१०४। प० अनु०—मैं अपने पूर्वजन्म में कौन् था, आप गणना करके बताईये। श्रीमन् महाप्रभु की बात सुनकर सर्वज्ञ गणना करने लगा।

अनुभाष्य

१०४। अभी भी पूर्व बङ्गाल में (विशेषतः ढाका की ओर) 'छिल', 'छिले', 'छिलाम' इत्यादि क्रिया-विभक्ति के स्थान पर 'आछिल', 'आछिला' और 'आछिलाम' व्यवहार होता चला आ रहा है।

ज्योतिषी की प्रभु में परमेश्वर-बुद्धि—

गणि' ध्याने देखे सर्वज्ञ,—महाज्योतिर्मय।
अनन्त वैकुण्ठ-ब्रह्माण्ड,—सबार आश्रय॥१०५॥

१०५। प० अनु०—गणना करने वाला सर्वज्ञ अपने ध्यान में एक महान् ज्योतिर्मय मूर्त्ति को देखने लगा, जो अनन्त वैकुण्ठ और अनन्त ब्रह्माण्डों के आश्रय हैं।

परमतत्व, परब्रह्म, परम-ईश्वर।
देखि' प्रभुर मूर्त्ति सर्वज्ञ हइल फाँफर॥१०६॥

१०६। प० अनु०—परमतत्व, परब्रह्म, परम ईश्वर इत्यादि प्रभु के रूपों को देखकर सर्वज्ञ (ज्योतिषी) संकट में पड़ गये।

ज्योतिषी की बुद्धि-विभ्रान्त—

बलिते ना पारे किछु, मौन हइल।
प्रभु पुनः प्रश्न कैल, कहिते लागिल॥१०७॥

१०७-१०८। प० अनु०—वे कुछ नहीं बोल पा रहा था। उनको मौन देखकर श्रीमन् महाप्रभु ने पुनः प्रश्न किया।

प्रभु के प्रश्न करने पर ज्योतिषी का उत्तर—

पूर्वजन्मे छिला तुमि परम-आश्रय।
परिपूर्ण भगवान्—सर्वैश्वर्यमय॥१०८॥

पूर्वे यैछे छिला तुमि एबेह सेरूप।
दुर्विज्ञेय नित्यानन्द—तोमार स्वरूप॥१०९॥

१०९। प० अनु०—जिसको सुनकर वे कहने लगा कि पूर्वजन्म में आप सभी के परम आश्रय, सर्वेश्वर्यमय परिपूर्ण भगवान् थे। आप जैसे पहले थे, अभी भी वैसे ही हैं। दुर्विज्ञेय नित्यानन्द—आपका स्वरूप है।

प्रभु द्वारा अपने गोपस्वरूप का परिचय प्रदान—

प्रभु हासि' कैला,—तुमि किछु ना जानिला।
पूर्वे आमि आछिलाम जातिते गोयाला॥११०॥

११०। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु ने हँसकर कहा,—तुम्हें कुछ भी नहीं जान पाये, मैं अपने पूर्वजन्म में जाति का ग्वाला था।

गोपगृहे जन्म छिल, गाभीर राखाल।
सेइ पुण्ये हैलाङ आमि ब्राह्मण-हाओयाल॥१११॥

१११। प० अनु०—मेरा जन्म गोपगृह में हुआ था, मैं गैयाओं की रक्षा करता था। उसी पुण्य के फलस्वरूप अब मैं ब्राह्मण का पुत्र हुआ हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

१११। गैयाओं की सेवा करने से पुण्य होता है, मैंने गोपाल बनकर पूर्वजन्म में गैयाओं की सेवा द्वारा जो पुण्य अर्जन किया था, उसी के फलस्वरूप मैं इस बार 'ब्राह्मण' बना हूँ।

अनुभाष्य

११०-१११। सर्वज्ञ ज्योतिषी के साथ प्रभु के रहस्य-पूर्ण वाक्य।

श्यामरूप के दर्शन से ज्योतिषी की
बुद्धि विभ्रम और शरण-ग्रहण—

सर्वज्ञ कहे, आमि ताहा ध्याने देखिलाङ।
ताहाते ऐश्वर्य देखि' फाँफर हइलाङ॥११२॥

११२। प० अनु०—सर्वज्ञ कहने लगा कि मैंने अपने ध्यान में तो वह सब देखा था, परन्तु उसमें ऐश्वर्य को देखकर संकट में पड़ गया।

सेइरूपे एइरूपे देखि एकाकार।
कभु भेद देखि, एइ मायाय तोमार॥११३॥

११३। प० अनु०—उस रूप तथा इस रूप को मैं एक समान ही देखता हूँ। कभी-कभी आपकी माया के कारण उनमें भेद देखता हूँ।

ज्योतिषी को कृपा
और प्रेम प्रदान—

ये हओ, से हओ तुमि, तोमाके नमस्कार।
प्रभु तारे प्रेम दिया कैल पुरस्कार॥११४॥

११४। प० अनु०—आप जो हैं, सो हैं, आपको मेरा नमस्कार है। श्रीमन् महाप्रभु ने उनको प्रेम दान देकर पुरस्कृत किया।

अनुभाष्य

१०७-११४—ज्योतिषी का वृत्तान्त श्रीचैतन्य-भागवत में दिखाई नहीं देता।

प्रभु द्वारा बलदेव के आवेश में यमुना
को आकर्षित करने की लीला—

एक दिन प्रभु विष्णुमण्डपे बसिया।
'मधु आन', 'मधु आन' बलेन डाकिया॥११५॥

११५। प० अनु०—एकदिन श्रीमन् महाप्रभु विष्णु के सिंहासन पर बैठकर जोर-जोर से 'मधु लाओ', 'मधु लाओ' कहने लगे।

नित्यानन्द-गोसाञि प्रभुर आवेश जानिल।
गङ्गाजल-पात्र आनि' सम्मुखे धरिल॥११६॥

११६। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीमन् महा-प्रभु के आवेश को जानकर गङ्गाजल का पात्र लाकर उनके सामने रख दिया।

अनुभाष्य

११६। चैः भाः मध्य २५अः द्रष्टव्य।

जलपान करिया नाचे हञा विह्वल।
यमुनाकर्षण-लीला देखये सकल॥११७॥

११७। प० अनु०—जलपान करके श्रीमन् महाप्रभु विह्वल होकर नृत्य करने लगे। सभी ने यमुनाकर्षण की लीला के दर्शन किये।

अमृतप्रवाह भाष्य

११७। यमुनाकर्षण लीला,—बलदेव प्रभु ने एकदिन यमुना के प्रति क्रोधित होकर हल तथा मूषल द्वारा उन को आकर्षित किया था। श्रीमन् महाप्रभु ने बलदेव-आवेश में जब 'मधु लाओ', 'मधु लाओ' कहा, उस समय सभी पूर्वोक्त यमुनाकर्षण-लीला देख रहे थे।

अनुभाष्य

११७। बलदेव गोकुल में जाकर चैत्र और वैशाख मास में गोपियों से परिवृत होकर वास कर रहे थे। वारुणी पान करते हुए बलदेव ने जलक्रीड़ा के लिये यमुना को अपने निकट आह्वान किया। (भा. १०।६५। २५-३०,३३)—'स आजुहाव यमुनां जलक्रीड़ार्थमीश्वरः। निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः। अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह॥ पापे त्वं मामनादृत्य यन्नायासि मयाहुता। नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम्॥ एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम्। उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप॥ राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम्। यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते॥ परं भावं भगवतो भगवन्नामजानतीम्। मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन् प्रपन्नां भक्तवत्सल॥ ततो व्यमुञ्चत् यमुनां याचितो भगवान् बलः। विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट॥ अद्यापि दृश्यते राजन् यमुना-कृष्टवर्त्मना। बलस्यानन्त-वीर्यस्य वीर्यं सुचयतीव हि।"

चन्द्रशेखर आचार्यरत्न का
प्रभु को बलदेव रूप में दर्शन—

मदमत्त-गति बलदेव-अनुकार।
आचार्य शेखर ताँरै देखे रामाकार॥११८॥

११८। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु बलदेव का अनुकरण करते हुये मदमस्त गति से चलने लगे। आचार्य शेखर ने उन्हें रामाकार (बलराम) रूप में देखा।

वनमाली आचार्य का प्रभु के हाथ में स्वर्ण हल-दर्शन—

बनमाली आचार्य देखे सोनार लाङ्गल।
सबे मिलि' नृत्य करे आनन्दे विह्वल॥११९॥

११९। प० अनु०—श्रीवनमाली आचार्य ने श्रीमन् महाप्रभु के हाथ में सोने का हल देखा तथा सभी अत्यन्त आनन्दित हो नृत्य करने लगे।

अनुभाष्य

११९। चैतन्यमङ्गल मध्यखण्ड—"वनमाली नाम ताँर पुत्र एक सङ्गे। विप्रकुले जन्म बैसे पूर्वदेश बङ्गे। देखिलेक काञ्चन-निर्मित कलेवर। रत्न-विभूषित येन सुमेरु-शिखर॥ हलायुध वेशे नाचे तिन लोकनाथ॥ आदि, १०म पः ७३ संख्यामें उल्लिखित 'वनमाली पण्डित' ने भी श्रीमन् महाप्रभु के हाथों में हल-मूषल देखा था। उनकी 'पण्डित' उपाधि, तथा इनकी "आचार्य"—उपाधि, क्या दोनों एक हैं, या फिर अलग-अलग व्यक्ति?

बारह घण्टे नृत्य—

एइमत नृत्य हइल चारि प्रहर।
सन्ध्याय गङ्गास्नान करि' सबे गेला घर॥१२०॥

१२०। प० अनु०—इस प्रकार चार प्रहर पर्यन्त नृत्य होता रहा। सन्ध्या के समय गङ्गास्नान करके सभी अपने-अपने घर चले गये।

प्रभु की आज्ञा से घर-घर में कृष्ण-कीर्त्तन—

नगरिया लोके प्रभु यबे आज्ञा दिला।
घरे घरे सङ्कीर्त्तन करिते लागिला॥१२१॥

१२१। प० अनु०—जब श्रीमन् महाप्रभु ने नगर-वासियों को सङ्कीर्त्तन करने की आज्ञा दी, तब सभी घर-घर में सङ्कीर्त्तन करने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२१। नगर में नाम प्रचार करते समय श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीवास-अङ्गन के आस-पास रहने वाले नगरवासियों को सर्वप्रथम ताली बजा-बजाकर हरिनाम करने की आज्ञा प्रदान की, क्रमशः मृदङ्ग-करताल आदि बजने लगे। तब से घर-घर में सङ्कीर्त्तन का प्रचार होता आ रहा है।

नामगीति—

'हरि हरये नमः, कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन'॥१२२॥
मृदङ्ग-करताल सङ्कीर्त्तन-महाध्वनि।
'हरि' 'हरि'-ध्वनि बिना अन्य नाहि शुनि॥१२३॥

१२२-१२३। प० अनु०—'हरि हरये नमः, कृष्ण यादवाय नमः। गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन'—का कीर्त्तन होने लगा। मृदङ्ग तथा करताल के साथ सङ्कीर्त्तन की महाध्वनि होने लगी। 'हरि' 'हरि' की ध्वनि के बिना और कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा था।

कीर्त्तन-विरोधी यवन और काजी—

शुनिया ये क्रुद्ध हैल सकल यवन।
काजी-पाशे आसि' सब कैल निवेदन॥१२४॥

१२४। प० अनु०—सर्वत्र कीर्त्तन की ध्वनि सुनकर सभी यवन बड़े क्रोधित हुये। काजी के पास जाकर सब निवेदन करने लगे।

अनुभाष्य

१२४। नगरवासियों का कृष्ण-कीर्त्तन और काजी का क्रोध तथा काज़ी का उद्धार—चै:भा: मध्य, २३अ: द्रष्टव्य है। काजी—फौजदार, चाँदकाजी। पहले जमींदार राजा या मंडल ही भूमि पर कर संग्रह करते थे। दण्ड का विधान और शासन आदि की पर्यालोचना काजी लोगों द्वारा ही सम्पादित होती थी। जमींदार व काजी—ये दोनों ही सूबा-बङ्गाल के सूबेदार के अधीन थे। नदिया, इस्लामपुर और बागोयान इत्यादि परगना ही उस समय हरि होड़ का या तदधस्तन कृष्णदास होड़ का था। इनके भूमिपति होने पर भी काजी ने ही शासन का भार स्वीकार किया था। कहते हैं कि, चाँदकाजी बंगाल के नवाब 'हुसेन शाह' के गुरु थे। किसी-किसी के मत से इनका नामान्तर—'मौलाना सिराजुद्दीन' तथा किसी-किसी के मत में 'हविवर रहमान' था। इनके अधस्तन अभी भी उस स्थान पर वर्त्तमान है तथा चाँदकाजी की समाधि भी विद्यमान है।

काजी द्वारा मृदङ्ग तोड़ना—

क्रोधे सन्ध्याकाले काजी एक घरे आइल।
मृदङ्ग भाङ्गिया लोके कहिते लागिल॥१२५॥

१२५। प० अनु०—सन्ध्या के समय काजी बड़ा क्रोधित होकर एक घर में आया। फिर मृदङ्ग को तोड़ लोगों को कहने लगा।

अनुभाष्य

१२५। अभी भी 'खोल-भाङ्गार-डाङ्गा' नाम से प्रसिद्ध भूमिखण्ड श्रीमायापुर गाँव में विराजमान है।

काजी का कीर्त्तन से विरोध और न करने की आज्ञा—

एतकाल प्रकटे केह ना कैल हिन्दुयानि।
एबे ये उद्यम चालाओ, कार बल जानि'॥१२६॥

१२६। प० अनु०—इतने समय तक तो किसी ने भी इस प्रकार हिन्दुओं की तरह आचरण नहीं किया। किन्तु अब तुम लोग किसके बल पर इतना उद्यम कर रहे हो।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२६। वक्तियार खिलजी के आगमन के पश्चात् चाँदकाजी पर्यन्त नवद्वीप में हिन्दुओं की तरह आचरण बहुत नीचे जा पहुँचा था। जिनकी वास्तविक हिन्दु धर्म में आस्था थी, वे चुपचाप एकबार "हरि हरि" बोलकर चुप रहते थे। काजी ने इसलिये कहा कि इतने समय तक तो ऐसा हिन्दुओं का आचरण नहीं था, अब किसके बल पर इस प्रकार का प्रयास कर रहे हो?"

केह कीर्त्तन ना करिह सकल नगरे।
आजि आमि क्षमा करि' याइतेंछो घरे॥१२७॥

१२७। प० अनु०—आज तो मैं तुम सबको क्षमा करके अपने घर जाने दे रहा हूँ, परन्तु आज के बाद कोई भी नगर में कीर्त्तन नहीं करना।

आर यदि कीर्त्तन करिते लाग पाइमु।
सर्वस्व दण्डिया तार जाति ये लइमु॥१२८॥

१२८। प० अनु०—अब यदि मुझे किसी के कीर्त्तन करने की भनक भी लगी, तो उसका सबकुछ छीनकर उसकी जाति भी नष्ट कर दूँगा।

दुःखी सज्जन व्यक्तियों का प्रभु के निकट आवेदन—

एत बलि' काजी गेल,—नगरिया लोक।
प्रभु-स्थाने निवेदिल पाञा बड़ शोक॥१२९॥

१२९। प० अनु०—इतना कहकर काजी चला गया। सारे नगरवासियों ने बड़े दुःखी होकर महाप्रभु के चरणों में निवेदन किया।

प्रभु का क्रोधित होना तथा सभी को सङ्कीर्त्तन करने का आदेश—

प्रभु आज्ञा दिल-याइ' करह कीर्त्तन।
मुञि संहारिमु आजि सकल यवन॥१३०॥

१३०। प० अनु०—महाप्रभु ने आज्ञा दी कि तुम सभी जाकर कीर्त्तन करो। मैं आज ही सभी यवनों का संहार कर दूँगा।

घरे गिया सब लोक करये कीर्त्तन।
काजीर भये स्वच्छन्द नहे, चमकित मन॥१३१॥

१३१। प० अनु०—सभी लोग अपने-अपने घर जाकर कीर्त्तन तो करने लगे, परन्तु काजी के भय से स्वछन्द रूप में नहीं कर पा रहे थे, उनके मन में काजी का भय लगा ही हुआ था।

ता-सबार अन्तरे भय प्रभु मने जानि'।
कहिते लागिला लोके शीघ्र डाकि' आनि'॥१३२॥

१३२। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु मन-ही-मन जान गये कि इन सभी के मन में अभी भी भय है, इसलिये महाप्रभु कहने लगे कि इन सभी लोगों को जल्दी ही बुलाकर ले आओ।

नगरे नगरे आजि करिमु कीर्त्तन।
सन्ध्याकाले कर सभे नगर-मण्डन॥१३३॥

१३३। प० अनु०—आज नगर-नगर कीर्त्तन करूँगा, तुम सभी सन्ध्या के समय नगर को अच्छी तरह से सजा दो।

सन्ध्याते दिउटी सबे ज्वाल घरे घरे।
देख, कोन् काजी आसि' मोरे माना करे॥१३४॥

१३४। प० अनु०—सन्ध्या के समय सभी अपने-अपने घर में दीपक (मशाल) जलाओ। मैं देखता हूँ कि कौन काजी आकर मुझे रोकता है।

एत कहि' सन्ध्याकाले चले गौरराय।
कीर्त्तनेर कैल प्रभु तिन सम्प्रदाय॥१३५॥

१३५। प० अनु०—इतना कहकर सन्ध्या के के समय श्रीगौरहरि चल पड़े। श्रीमन् महाप्रभु ने कीर्त्तन करने वालों के तीन दल बना दिये।

तीन सम्प्रदायों में कीर्त्तन-विभाग—

आगे सम्प्रदाये नृत्य करे हरिदास।
मध्ये नाचे आचार्य-गोसाञि परम उल्लास॥१३६॥

१३६। प० अनु०—सबसे आगे वाले दल में श्रीहरिदास नृत्य कर रहे थे, तथा बीच वाले दल में श्रीअद्वैताचार्य प्रभु परम आनन्दित होकर उल्लास के साथ नृत्य कर रहे थे।

पाछे सम्प्रदाये नृत्य करे गौरचन्द्र।
ताँर सङ्गे नाचि' बुले प्रभु नित्यानन्द॥१३७॥

१३७। प० अनु०—पीछे वाले दल में श्रीगौरसुन्दर नृत्य कर रहे थे और उनके साथ ही श्रीनित्यानन्द प्रभु भ्रमण करते-करते नृत्य कर रहे थे।

वृन्दावन दास इहा 'चैतन्यमङ्गले'।
विस्तारि' वर्णियाछेन चैतन्य-कृपाबले॥१३८॥

१३८। प० अनु०—श्रीवृन्दावन दास ठाकुर ने श्रीमन् महाप्रभु की कृपा से इस लीला का 'श्रीचैतन्यमङ्गल' में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

कीर्त्तन करते-करते नवद्वीप-नगर-भ्रमण—

एइ मत कीर्त्तन करि' नगरे भ्रमिला।
भ्रमिते भ्रमिते प्रभु काजीद्वारे गेला॥१३९॥

१३९। प० अनु०—इस प्रकार कीर्त्तन करते-करते पूरे नगर में भ्रमण किया। भ्रमण करते-करते महाप्रभु काजी के द्वार पर आ गये।

अनुभाष्य

१३९। चै:भा: मध्य २३श अ:—"तुया चरणे मन लागहुँ रे। (शार्ङ्गधर) तुया चरणे मन लागहुँ रे॥ चैतन्य-चन्द्रेर एइ आदि सङ्कीर्त्तन। भक्तगण गाय नाचे श्रीशची-नन्दन॥ गङ्गा तीरे पथ आछे नदीयाय। आगे सेइ पथे नाचि' याय गौर राय॥ आपनार घाटे आगे बहु नृत्य करि'। तबे माधाइर घाटे गेला गौरहरि॥ 'नाचे विश्वम्भर, सबार ईश्वर, भागीरथी-तीरे तीरे'। (ध्रु) वारकोनाघाटे नागरिया-घाटे गिया। गङ्गानगर दिया प्रभु गेला 'सिमु-लिया'॥ नदीयार एकान्ते—नगर 'सिमुलिया'। नाचिते नाचिते प्रभु उतरिल गिया॥ काजिर बाड़ीर पथ धरिला ठाकुर। आइला नाचिया यथा काजिर नगर॥"

तर्ज्ज-गर्ज्ज करे लोक, करे कोलाहल।
गौरचन्द्र-बले लोक प्रश्रय-पागल॥१४०॥

१४०। प० अनु०—लोग तर्जन-गर्जन करते हुए बहुत जोर-जोर से शोर मचाने लगे। श्रीगौरचन्द्र के बल से उनके प्रश्रय में बलवान होकर सभी उन्मत्त हो उठे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४०। श्रीश्रीगौरसुन्दर के बल से लोग तब प्रश्रय प्राप्त करने हेतु पागल हो गये।

काजी द्वारा अपने आपको छिपा लेना—

कीर्त्तनेर ध्वनिते काजी लुकाइल घरे।
तर्ज्जन गर्ज्जन शुनि' ना हय बाहिरे॥१४१॥

१४१। प० अनु०—कीर्त्तन की ध्वनि सुनकर काजी अपने घर में छिप गया। लोगों की तर्जना-गर्जना को सुनकर वो बाहर नहीं निकल रहा था।

अभ्रद लोगों की क्रिया—

उद्धत लोक भाङ्गे काजीर घर-पुष्पवन।
विस्तारि' वर्णिला इहा दास-वृन्दावन॥१४२॥

१४२। प० अनु०—उद्धत लोग काजी के घर-बगीचे को तोड़ने लगे। श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने विस्तृत रूप में इसका वर्णन किया है।

अनुभाष्य

१३८-१४२। चै:भा: मध्य, २३अ: द्रष्टव्य।

भ्रद सज्जन व्यक्तियों द्वारा काजी का आह्वान—

तबे महाप्रभु तार द्वारेते बसिला।
भव्यलोक पाठाइया काजीरे बोलाइला॥१४३॥

१४३। प० अनु०—महाप्रभु तो काजी के द्वार पर ही बैठ गये तथा भव्य (सज्जन् प्रतिष्ठित) लोगों को काजी को बुलाने के लिये भेज दिया।

काजी को लौकिक मर्यादा-दान—

दूर हइते आइला काजी माथा नोङाइया।
काजीरे बसाइला प्रभु सम्मान करिया॥१४४॥

१४४। प० अनु०—काजी दूर से ही माथा नीचे करके आया। श्रीमन् महाप्रभु ने काजी को सम्मान देकर बैठाया।

काजी के आचरण से प्रभु की विस्मयसूचक उक्ति—

प्रभु बलेन,—आमि तोमार आइलाम अभ्यागत।
आमा देखि' लुकाइला,—ए-धर्म केमत॥१४५॥

१४५। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु ने कहा,—मैं तुम्हारा अतिथि बनकर आया हूँ और तुम मुझे देखकर छिप रहे हो,—यह कैसा धर्म है?

काजी का उत्तर—

काजी कहे,—तुमि आइस क्रुद्ध हइया।
तोमा शान्त कराइते रहिनु लुकाइया॥१४६॥

१४६। प० अनु०—काजी ने कहा,—आप क्रोध करके आये हैं। आपके क्रोध को शान्त करने के लिये ही मैं छिपा हुआ था।

एबे तुमि शान्त हैले, आसि' मिलिलाङ्।
भाग्य मोर,—तुमि-हेन अतिथि पाइलाङ॥१४७॥

१४७। प० अनु०—अब आप शान्त हो गये हैं, इसलिये मैं आकर आपसे मिल रहा हूँ। मैं बहुत सौभाग्य-शाली हूँ कि मुझे आपके जैसा अतिथि मिला है।

ग्रामसम्बन्धे 'चक्रवर्ती' हय मोर चाचा।
देह-सम्बन्ध हैते ग्राम-सम्बन्धसाँचा॥१४८॥

१४८। प० अनु०—गाँव के सम्बन्ध से 'चक्रवर्ती' मेरे चाचा हैं। देह के सम्बन्ध से गाँव का सम्बन्ध श्रेष्ठ होता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४८। 'ब्राह्मणपुष्करिणी' गाँव के एक अंश में काजियों का एक पुराना घर अब भी वर्त्तमान हैं। उस गाँव के एक और अंश से संलग्न—'तारणवास', जो पहले बिल्वपुष्करिणी था। वो गाँव तथा काजियों की 'ब्राह्मणपुष्करिणी' एक ही गाँव होने के कारण चाँदकाजी के साथ महाप्रभु का 'मामा' का सम्बन्ध हुआ।

अनुभाष्य

१४८। चक्रवर्ती—नीलाम्बर चक्रवर्ती; चाचा—पिता के भाई, चलती भाषा में 'काका'; साचाँ—वास्तविक, शुद्ध, सच्चा।

नीलाम्बर चक्रवर्ती हय तोमार नाना।
से सम्बन्धे हओ तुमि आमार भागिना॥१४९॥

१४९। प० अनु०—श्रीनीलाम्बर चक्रवर्ती तुम्हारे नाना हैं। उस सम्बन्ध से तुम मेरे भान्जे हो।

अनुभाष्य

१४९। नाना—मातामह अर्थात् माँ के पिताजी।

भागिनार क्रोध मामा अवश्य सहय।
मातुलेर अपराध भागिना ना लय॥१५०॥

१५०। प० अनु०—भांजे के क्रोध को मामा अवश्य ही सहन करता है, तथा भांजा अपने मामा के किसी भी अपराध को क्षमा कर देता है।

एइ मत दुँहार कथा हय ठारे-ठोरे।
भितरेर अर्थ केह बुझिते ना पारे॥१५१॥

१५१। प० अनु०—इस प्रकार दोनों में परस्पर इंगित से बातें होने लगी। इनके मन की बातों को कोई भी समझ नहीं पा रहा था।

प्रभु और काजी की उक्ति और प्रत्युक्ति—

प्रभु कहे,—प्रश्न लागि' आइलाम तोमार स्थाने।
काजी कहे,—आज्ञा कर, ये तोमार मने॥१५२॥

१५२। प० अनु०—महाप्रभु ने कहा,—मैं आपसे एक प्रश्न पूछने के लिये यहाँ पर आया हूँ। काजी ने कहा,—आप आज्ञा कीजिये, आपके मन में जो है, सो कहिये।

इस्लाम धर्म के आचार के सम्बन्ध में प्रभु का प्रश्न—

प्रभु कहे,—गोदुग्ध खाओ, गाभी तोमार माता।
वृष अन्न उपजाय, ताते तेंहो पिता॥१५३॥

१५३। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु ने कहा,—आप गाय का दूध पीते हैं, इस सम्बन्ध से गाय आपकी माता है। बैल अन्न पैदा करता है, इस सम्बन्ध से वे पिता है।

अनुभाष्य

१५३। अन्न उपजाय (अन्न पैदा करता है)—हल से जोतकर धान आदि के बीजों और बीज बोने के लिये भूमि को तैयार करके किसान को बीज और तण्डुल आदि-निर्माण-कार्य में मुख्य रूप से सहायता करता है।

पिता-माता मारि' खाओ—एबा कोन् धर्म।
कोन् बले कर तुमि एमत विकर्म॥१५४॥

१५४। प० अनु०—माता-पिता को मारकर खाते हो—यह कैसा धर्म है? किसके बल पर आप ऐसा विकर्म करते हो।

अनुभाष्य

१५४। एवा—इहा, एई वा (यह, यह भी)

काजी की उक्ति—

काजी कहे,—तोमार यैछे वेद-पुराण।
तैछे आमार शास्त्र—केताव 'कोराण'॥१५५॥

१५५। प० अनु०—काजी ने कहा,—तुम्हारे धर्म में जिस प्रकार वेद-पुराण हैं, उसी प्रकार हमारा शास्त्र 'कुरान' नामक ग्रन्थ है।

अनुभाष्य

१५५। केताब—ग्रन्थ।

सेइ शास्त्रे कहे,—प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग-भेद।
निवृत्ति-मार्गे जीवमात्र-वधेर निषेध॥१५६॥

१५६। प० अनु—उस शास्त्र में प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग नामक दो मार्ग बताये गये है। निवृत्ति मार्ग में जीव-मात्र के वध का निषेध किया गया है।

अनुभाष्य

१५६। 'सरियत', 'तरिकत' और 'मारफत'—तीन प्रकार के पथ हैं।

प्रवृत्ति मार्गे गोवध करिते विधि हय।
शास्त्र-आज्ञाय वध कैले नाहि पाप-भय॥१५७॥

१५७। प० अनु—प्रवृत्ति-मार्ग में गोवध की विधि कही गई है। शास्त्र की आज्ञा से वध करने पर पाप आदि का भय नहीं रहता।

तोमार वेदेते आछे गोवधेर वाणी।
अतएव गोवध करे बड़ बड़ मुनि॥१५८॥

१५८। प० अनु—तुम्हारे वेदों में भी गोवध करने के विषय में बताया गया है। अतएव गोवध तो बड़े-बड़े मुनि भी करते हैं।

पुनर्जीवन प्राप्ति-हेतु वेद-विहित वध-समर्थन—

प्रभु कहे,—वेदे कहे गोवध निषेध।
अतएव हिन्दुमात्र ना करे गोवध॥१५९॥

१५९। प० अनु—श्रीमन् महाप्रभु ने कहा,—वेद तो गोवध का निषेध करते हैं। अतएव कोई भी हिन्दु गोवध नहीं करता।

जियाइते पारे यदि, तबे मारे प्राणी।
वेद-पुराणे आछे हेन आज्ञा-वाणी॥१६०॥

१६०। प० अनु—वेदों तथा पुराणों में ऐसे व्यक्तियों को आज्ञा दी गई है जो प्राणी को मारकर फिर से जीवित कर सकता है।

अतएव 'जरद्गव' मारे मुनिगण।
वेदमन्त्रे सिद्ध करे ताहार जीवन॥१६१॥

१६१। प० अनु—अतएव मुनिगण बूढ़ी गैयाओं को मारते थे। फिर वेदमन्त्रों के जप से उसको नया जीवन प्रदान करते थे।

जरद्गव हञा युवा हय आरबार।
ताते तार वध नहे, हय उपकार॥१६२॥

१६२। प० अनु—वह गाय बूढ़ी अवस्था से युवा अवस्था को प्राप्त कर लेती। इससे उसका वध नहीं, बल्कि उपकार होता था।

कलिकाल में ब्राह्मण निःशक्तिक—

कलिकाले तैछे शक्ति नाहिक ब्राह्मणे।
अतएव गोवध केह ना करे एखने॥१६३॥

१६३। प० अनु—कलियुग में वैसी शक्ति ब्राह्मणों में नहीं है, इसलिये अब कोई भी गोवध नहीं करता।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५६-१६३। काजी ने कहा, उस 'कुरान' शास्त्र में प्रवृत्ति और निवृत्ति नामक दो प्रकार के मार्ग बताये गये हैं। निवृत्ति मार्ग में जीव के वध का निषेध है, किन्तु

हमारे जैसे व्यक्ति, जो प्रवृत्ति मार्ग में रत है, वे शास्त्र की आज्ञा से गोवध करके पापी नहीं बनते। और देखो, तुम्हारे वेद शास्त्रों में भी गोवध की विधि बताई गई है, इसलिये बड़े-बड़े मुनि भी प्राचीनकाल से गोवध करते आये हैं। महाप्रभु ने कहा,—वेदशास्त्र में गोवध विधि नहीं बताई गयी। तब भी गोवध के द्वारा यज्ञ करने के जो वाक्य पाये जाते है, वो सब अत्यन्त वृद्ध गाय के विषय में कहे गये है। मुनिगण वृद्ध गाय को मारकर वेदमन्त्रों से उनको युवावस्था प्रदान कर फिर से जीवित कर देते थे। वैसा वध, वध नहीं है, वह तो वृद्ध गाय का उपकार मात्र है। कलियुग में ब्राह्मणों में ऐसी शक्ति नहीं होने के कारण अब गोवध नहीं किया जा सकता है।

(मलमासतत्त्व में उधृत ब्रह्मवैवर्त्तीय
कृष्णजन्म खण्ड का १८५ अ, १८० श्लोक)

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पर्त्ति कलौ पंच विवर्ज्जयेत्॥१६४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१६४। अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, मांस द्वारा पितृ-श्राद्ध, देवर द्वारा पुत्र-उत्पति—कलिकाल में इन पाँचों का निधेष है।

अनुभाष्य

१६४। अश्वमेधं (अश्वहनन-यज्ञविशेष) गवालम्भं (गोमेध) संन्यासं (चतुर्थाश्रमग्रहण) पलपैतृकं (मांसेन पितृश्राद्ध) देवरेण (पत्युः कनिष्ठ भ्राता) सुतोत्पत्तिं (पुत्रो- त्पादन)—(एतानि) पञ्च कलौ (कलियुगे) विवर्ज्जयेत् (परित्यज्येत)।

प्रभु द्वारा इस्लाम-धर्माचरण
की समालोचना—

तोमरा जीयाइते नार,—वधमात्र सार।
नरक हइते तोमार नाहिक निस्तार॥१६५॥

१६५। प० अनु०—तुम तो गाय को पुनः जीवित नहीं कर सकते,—केवल वध ही करते हो, इसलिये तुम्हारा नरक से कभी भी उद्धार नहीं होगा।

गो-अङ्गे यत लोम, तत सहस्र वत्सर।
गोवधी रौरव-मध्ये पचे निरन्तर॥१६६॥

१६६। प० अनु०—गाय के श्रीअङ्गों में जितने रोम होते हैं, उतने हजार वर्षों तक गाय का वध करने वाला 'रौरव' नामक नरक में सड़ता रहता है।

तोमा-सबार शास्त्रकर्त्ता—सेह भ्रान्त हैल।
ना जानि' शास्त्रेर मर्म ओइछे आज्ञा दिल॥१६७॥

१६७। प० अनु०—तुम सबके शास्त्र को लिखने वाला ही भ्रान्त हो गया। शास्त्रों के वास्तविक मर्म को न जानकर उन्होंने तुम्हें ऐसी आज्ञा दे दी।

अनुभाष्य

१६७। भ्रान्त-वृथा जीव-हिंसा के अनुमोदन-हेतु द्वितीयाभिनिवेश के फलस्वरूप बुद्धिविपर्यय अथवा भ्रम युक्त होना।

काजी निरुतर और शास्त्र की असम्पूर्णता-स्वीकार—

शुनि' स्तब्ध हैल काजी, नाहि स्फुरे वाणी।
विचारिया कहे काजी पराभव मानि'॥१६८॥

१६८। प० अनु०—महाप्रभु की वाणी सुनकर काजी स्तब्ध रह गया, उसके मुख से कुछ भी नहीं निकल रहा था। अपने आपको पराजित मानकर वह विचार पूर्वक कहने लगा।

तुमि ये कहिले, पण्डित, सेइ सत्य हय।
आधुनिक आमार शास्त्र, विचार-सह नय॥१६९॥

१६९। प० अनु०—हे पण्डित! जो आपने कहा, वह सत्य है। हमारे शास्त्र आधुनिक है तथा विचार-सम्मत नहीं है।

अनुभाष्य

१६९। आधुनिक,—नवीन, कालान्तर्गत, वेदों जैसे अपौरुषेय नहीं है।

विचार सह नय,—नित्य-वास्तवसत्य-प्रतिपादक नहीं होने के कारण युक्ति द्वारा सहज रूप से ही खण्डन किये जा सकते हैं।

कल्पित आमार शास्त्र,—आमि सब जानि।
जाति-अनुरोधे तबु सेइ शास्त्र मानि॥१७०॥

१७०। प० अनु०—यद्यपि मैं जानता हूँ कि हमारे शास्त्र कल्पित हैं, तथापि जाति के अनुरोध से उन शास्त्रों को मानता हूँ।

अनुभाष्य

१७०। कल्पित—मनोधर्म से उत्पन्न, अतएव नित्य सत्य नहीं है। जाति—सम्प्रदाय और उसकी निष्ठा।

सहजे यवन-शास्त्रे अदृढ़ विचार।
हासि' ताहे महाप्रभु पूछेन आरबार॥१७१॥

१७१। प० अनु०—काजी ने कहा—यवन शास्त्र स्वभावतः दृढ़ विचार पर प्रतिष्ठित नहीं है। श्रीमन् महाप्रभु हँस पड़े तथा एक बार फिर पूछने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६९-१७१। यवनशास्त्र तीन प्रकर के हैं अर्थात् 'यु' (इहूदि) के पुरातन ग्रन्थ, कोराण और बाइबेल। रन सारे ग्रन्थों की आदि (सबसे प्राचीन) प्रति मिलती है; कोई भी वेदवाणी की भाँति अनादि नहीं है। अतः उन सब शास्त्रों में जो विचार है, उसका मूल सुदृढ़ न होने के कारण सन्देहप्रवण है।

अनुभाष्य

१७१। अदृढ़ विचार—युक्ति द्वारा छेदन व खण्डन योग्य विचार।

प्रभु द्वारा पुनः प्रश्न—

आर एक प्रश्न करि, शुन, तुमि मामा।
यथार्थ कहिबे, छले ना वञ्चिबे आमा'॥१७२॥

१७२। प० अनु०—हे मामा! सुनो, मैं तुमसे और एक प्रश्न कर रहा हूँ। आप सबकुछ सच-सच कहना। छल द्वारा मुझे वञ्चित मत करना।

तोमार नगरे हय सदा सङ्कीर्त्तन।
वाद्यगीत-कोलाहल, सङ्गीत, नर्त्तन॥१७३॥

१७३। प० अनु०—तुम्हारे नगर में सदा सङ्कीर्त्तन होता है। वाद्य-यन्त्रों के माध्यम से कोलाहल तथा संगीत, नर्तन इत्यादि के होता है।

तुमि काजी,—हिन्दु-धर्म-विरोधे अधिकारी।
एबे ये ना कर माना बुझिते ना पारि॥१७४॥

१७४। प० अनु०—तुम काजी हो,—हिन्दु धर्म का विरोध करने के अधिकारी हो, मैं तो समझ नहीं पा रहा हूँ कि अब आप मना क्यों नहीं कर रहे।

काजी द्वारा उत्तर-प्रदान करने समय अपने स्वप्न की कहानी—

काजी बले,—सबे तोमाय बले 'गौरहरि'।
सेइ नामे आमि तोमाय सम्बोधन करि॥१७५॥

१७५। प० अनु०—काजी ने कहा,—सभी तुम्हें 'गौर हरि' कहकर पुकारते हैं। मैं भी तुम्हें उसी नाम से सम्बोधन करता हूँ।

शुन, गौरहरि, एइ प्रश्नेर कारण।
निभृत हओ यदि, तबे करि निवेदन॥१७६॥

१७६। प० अनु०—हे गौरहरि! सुनो, इस प्रश्न का क्या कारण है? यदि आप एकान्त में चले तो मैं निवेदन करूँ।

प्रभु द्वारा आश्वासन-प्रदान—

प्रभु बले,—ए लोक आमार अन्तरङ्ग हय।
स्फुट करि' कह तुमि, ना करिह भय॥१७७॥

१७७। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु ने कहा,—ये सब लोग मेरे अन्तरङ्ग हैं। आपने जो कुछ कहना है स्पष्ट रूप से कहिये, किसी प्रकार का भय मत कीजिये।

अनुभाष्य

१७७। स्फुट—स्पष्ट।

काजी द्वारा स्वप्न-वृत्तान्त का वर्णन—

काजी कहे,—यबे आमि हिन्दुर घरे गिया।
कीर्त्तन करिलुँ माना मृदङ्ग भाङ्गिया॥१७८॥

१७८। प० अनु०—काजी ने कहा,—जब मैं हिन्दु के घर में गया था, उस समय मैंने मृदङ्ग तोड़कर कीर्त्तन करने के लिये मना किया था।

स्वप्न में नृसिंहदेव से भय प्राप्त—

सेइ रात्रे एक सिंह महा-भयंकर।
नरदेह, सिंहमुख, गर्ज्जये विस्तर॥१७९॥
शयने आमार उपर लाफ दिया चड़ि'।
अट्ट अट्ट हासे, करे दन्त-कड़मड़ि॥१८०॥

१७९-१८०। प० अनु०—उस रात्रि को मैंने स्वप्न में एक बहुत ही भयङ्कर सिंह को देखा, जिसकी देह तो मनुष्य जैसी थी, परन्तु मुख सिंह के समान था। वे बहुत जोर-जोर से गर्जन कर रहा था और सोते समय मेरे सीने पर चढ़ गया तथा अट्टहास करते हुये अपने दाँतों को कटकटा रहा था।

अनुभाष्य

१७९। नरदेह, सिंहमुख—श्रीनृसिंह देव, ये भक्त, भक्ति और भगवान् से विद्वेष और विद्वेषी का विनाश करते हैं।

मोर बुके नख दिया घोर-स्वरे बले।
फाड़िमु तोमार बुक मृदङ्ग बदले॥१८१॥

१८१। प० अनु०—मेरे वक्षःस्थल पर नख रखकर बहुत गम्भीर स्वर से कहने लगा—मैं मृदङ्ग के बदले तुम्हारे वक्षःस्थल को फाड़ दूँगा।

अनुभाष्य

१८१। फाड़िमू—विदीर्ण कर दूँगा।

मोर कीर्त्तन माना करिस, करिमु तोर क्षय।
आँखि मुदि' काँपि आमि पाञा बड़ भय॥१८२॥

१८२। प० अनु०—मेरा कीर्त्तन करने के लिये मना करता है, मैं तेरा नाश कर दूँगा। उनकी ऐसी वाणी सुनकर मैंने अपनी आँखे बन्द कर ली तथा भयभीत होकर काँपने लगा।

भीत देखि' सिंह बले हइया सदय।
तोरे शिक्षा दिते कैलु तोर पराजय॥१८३॥

१८३। प० अनु०—मुझे भयभीत देखकर सिंह सदय होकर कहने लगा—तुझे शिक्षा देने के लिये ही मैंने तुझे पराजित किया है।

से दिन बहुत नाहि कैलि उत्पात।
तेञि क्षमा करि' ना करिनु प्राणाघात॥१८४॥

१८४। प० अनु०—उस दिन तुमने बहुत ज्यादा उत्पात नहीं किया था, इसलिये मैंने तुम्हारे प्राण न लेकर तुम्हें क्षमा कर दिया है।

ओइछे यदि पुनः कर, तबे ना सहिमु।
सवंशे तोमारे आर यवन नाशिमु॥१८५॥

१८५। प० अनु०—यदि फिर से तुमने ऐसा किया तो मैं बिल्कुल सहन नहीं करूँगा। वंश-सहित तुम्हें मारकर यवनों का नाश कर दूँगा।

एत कहि' सिंह गेल, आमार हैल भय।
एइ देख, नखचिह्न आमार हृदय॥१८६॥

१८६। प० अनु०—इतना कहकर सिंह चला गया, मैं बहुत भयभीत हो गया। ये देखो, मेरे वक्षःस्थल पर अभी भी नाखुन के निशान हैं।

एत बलि' काजी निज-बुक देखाइल।
शुनि' देखि' सर्वलोक आश्चर्य मानिल॥१८७॥

१८७। प० अनु०—इतना कहकर काजी ने अपना वक्षःस्थल दिखाया। काजी की बातें सुनकर तथा उसके वक्षःस्थल पर लगे चिह्नों को देखकर सभी लोग आश्चर्य-चकित हो गये।

काजी कहे,—इहा आमि कारे ना कहिल।
सेइ दिन एक आमार पियादा आइल॥१८८॥

१८८। प० अनु०—काजी ने कहा,—इस विषय में

मैंने किसी को कुछ नहीं बताया। उस दिन मेरा एक पियादा (सेवक) आया।

अनुभाष्य

१८८। पियादा—(निम्नश्रेणी का दास, संवाद व पत्र वाहक, चलती भाषा में चपरासी)

आसि' कहे,—गेलुँ मुञि कीर्त्तन निषेधिते।
अग्नि उल्का मोर मुखे लागे आचम्बिते॥१८९॥

१८९। प० अनु०—सेवक ने आकर कहा,—मैं जब कीर्त्तन करने के लिये मना करने गया, उस समय न जाने कहाँ से आकर अग्नि की उल्का आकर मेरे मुख पर लगी।

पुड़िल सकल दाड़ि, मुखे हैल व्रण।
येइ पेयादा याय, तार एइ विवरण॥१९०॥

१९०। प० अनु०—मेरी पूरी दाड़ी जल गई तथा मुख पर फफोले पड़ गये। जो भी सेवक कीर्त्तन के लिये मना करने जाता, उसकी ऐसी अवस्था होती।

ताहा देखि' रहिनु मुञि महाभय पाञा।
कीर्त्तन ना वर्जिया घरे रहों त' बसिया॥१९१॥

१९१। प० अनु०—ऐसा देखकर मैं बहुत भयभीत हो गया। मैंने उन सबसे (सेवकों से) कहा कि कहीं पर भी कीर्त्तन बन्द कराने के लिये मत जाओ, चुपचाप अपने-अपने घर पर बैठे रहो।

तबे त' नगरे हइबे स्वच्छन्दे कीर्त्तन।
शुनि' सब म्लेच्छ आसि' कैल निवेदन॥१९२॥

१९२। प० अनु०—ऐसा सुनकर सभी म्लेच्छ मुझे निवेदन करके कहने लगे कि, यदि ऐसा होगा तो नगर में सभी स्वच्छन्द रूप से कीर्त्तन करेंगे।

अनुभाष्य

१९२। म्लेच्छ—"गो-मांस-खादको यस्तु विरुद्धं बहुभाष्यते। सर्वाचारविहीनश्च म्लेच्छ इत्यभिधीयते।

नगरे हिन्दुर धर्म बाड़िल अपार।
'हरि', 'हरि' ध्वनि वइ नाहि शुनि आर॥१९३॥

१९३। प० अनु०—नगर में हिन्दुधर्म बहुत बढ़ गया है। 'हरि' 'हरि' ध्वनि के बिना और कुछ भी सुनाई नहीं देता।

आर म्लेच्छ कहे,—हिन्दु 'कृष्ण' 'कृष्ण' बलि'।
हासे, कान्दे, नाचे, गाय, गड़ि' याय धूलि॥१९४॥

१९४। प० अनु०—एक दूसरा म्लेच्छ कहने लगा,—हिन्दु 'कृष्ण' 'कृष्ण' बोलकर हँसते हैं, रोते हैं, नाचते हैं, गाते हैं तथा धूलि में लोट-पोट खाते हैं।

'हरि', 'हरि' करि' हिन्दु करे कोलाहल।
पातसाह शुनिले तोमार करिबेक फल॥१९५॥

१९५। प० अनु०—'हरि' 'हरि' कहकर हिन्दु कोलाहल करते हैं। यदि पातसाह (बादशाह) ने सुन लिया तब तुम्हें इसका बहुत अच्छा फल मिलेगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९५। बादशाह तुम्हारा आत्मीय होने पर भी तुम्हें दण्ड दे सकता है। पातसाह,—गौड़ देश के बादशाह 'हुसैन शाह'।

अनुभाष्य

१९५। पातशाह—आलाउद्दीन सैयद हुसैन शाह (१४९८-१५११ खृ:) उस समय के बङ्गाल के स्वाधीन नृपति। उन्होंने अपने प्रतिपालक और प्रभु हावसी वंशीय भीषण अत्याचारी नवाब मुज्जफर खाँ को मारकर बंगाल के सिंहासन पर विराजमान हो गये। बंगाल के सिंहासन पर बैठकर उन्होंने 'सैयद हुसैन आलाउदीन सेरिफ मक्का'—नाम धारण किया। 'रियाज उस्-सलातिन' नामक इतिवृत्त प्रणेता गुलाम हुसैन कहते हैं कि नवाब हुसैन शाह के कोई पूर्वपुरुष मक्का सेरिफ में रहने पर, लगता है, अपने वंश के गौरव का स्मरण करके उन्होंने नाम ग्रहण किया, तो भी गौड़ के स्तम्भों पर वे 'हुसैन शाह' के नाम से ही परिचित है। उनकी मृत्यु के बाद

उनके ज्येष्ठ पुत्र नसरतशाह बङ्गाल के नवाब बने (१५२१-१५३३ खृ:)। ये निष्ठुर प्रकृति का नवाब वैष्णवों के प्रति निदारुण अत्याचार करता था तथा अपने पापों के फलस्वरूप एक कर्मचारी के हाथों मस्जिद में मारा गया।

तबे सेइ यवनेरे आमि त' पूछिल।
हिन्दु 'हरि' बले, तार स्वभाव जानिल॥१९६॥
तुमित यवन हञा केने अनुक्षण।
हिन्दुर देवतार नाम लह कि कारण॥१९७॥

१९६-१९७। प० अनु०—तब मैंने उस यवन से पूछा—हिन्दु तो 'हरि' 'हरि' अपने स्वभाव के कारण बोलते हैं। परन्तु तुम यवन होकर किसलिये प्रतिक्षण हिन्दुओं के भगवान् का नाम ले रहे हो।

म्लेच्छ कहे,—हिन्दुरे आमि करि परिहास।
केह केह—कृष्णदास, केह—रामदास॥१९८॥
केह—हरिदास, सदा बले 'हरि' 'हरि'।
जानि कार घरे धन करिबेक चुरि॥१९९॥

१९८-१९९। प० अनु०—म्लेच्छ ने कहा,—मैंने हिन्दुओं को परिहास करके कहा कि तुममे से कोई कृष्ण दास है, तथा कोई रामदास है। कोई हरिदास है, सदा 'हरि' 'हरि' बोलता है, पता नहीं किसके घर में चोरी करेंगे।

सेइ हैते जिह्वा मोर बले 'हरि' 'हरि'।
इच्छा नाहि, तबु बले,—कि उपाय करि॥२००॥

२००। प० अनु०—तब से मेरी जिह्वा 'हरि' 'हरि' बोल रही है। यद्यपि मेरी इच्छा नहीं है, तथापि मेरी जिह्वा बोलना नहीं छोड़ती—मैं क्या उपाय करूँ?

आर म्लेच्छ कहे, शुन—आमि त' एइमते।
हिन्दुके परिहास कैनु से दिन हइते॥२०१॥
जिह्वा कृष्णनाम करे, ना माने वर्जन।
ना जानि, कि मन्त्रौषधि जाने हिन्दुगण॥२०२॥

२०१-२०२। प० अनु०—और एक मलेच्छ कहने लगा, सुनो काजी! मैंने भी एकदिन इसी प्रकार हिन्दुओं का परिहास किया था, उसी दिन से मेरी जिह्वा कृष्णनाम करती है, रोकने पर भी रुकती नहीं है। पता नहीं कि ये हिन्दु कौन सी मन्त्रोषधि जानते हैं

अमृतप्रवाह भाष्य

१९६-२०२। काजी ने कहा,—'हे गौरहरि! मैंने जिस म्लेच्छ सेवक से जिज्ञासा की, उसने उत्तर दिया,—मैंने हिन्दुओं को कहा, 'तुम कोई कोई 'कृष्णदास', 'रामदास', 'हरिदास'—इस नाम के परिचय से 'हरि' 'हरि' बोलते हो; किन्तु 'हरि' 'हरि' शब्द का अर्थ तो 'चोरी करता हूँ' 'चोरी करता हूँ' होता है। इसे सुनकर लगता है कि दूसरों का धन चोरी करने के अभिप्राय से 'हरि' 'हरि' (हरण कर हरण करूँ) ऐसा कहते हो। मैंने जिस दिन से उनके साथ यह परिहास किया है, उस दिन से मेरी जिह्वा अनिच्छा होने पर भी 'हरि' 'हरि' बोल रही है, मैं इसे रोकने का कोई उपाय नहीं कर पा रहा हूँ।

अनुभाष्य

१९८-२०२। परिहास—चार प्रकार नामाभास के अन्यतम; जैसे, (भा. ६।२।१४)—"साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनाम-ग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥" संकेत, परिहास, स्तोभ और अवहेलनामूलक नामाभास किन्तु जड़ीय अक्षर-उच्चारणमात्र नहीं है। नामाभास नित्य-वास्तव वस्तु को उद्देश करके विष्णुस्मृति का उत्पादन कराती है, जीवों के विषय-वासनाओं का विनाश करती है, इसके फलस्वरूप सेवोन्मुख मुक्तजीवों में शुद्ध नामोच्चारण-हेतु अधिकार उदित होता है।

काजी के निकट स्मार्त्त पाषण्डियों का अभियोग—
एत शुनि ता'-सबारे घरे पाठाइल।
हेनकाले पाषण्डी हिन्दु पाँच-सात आइल॥२०३॥

२०३। प० अनु०—इतना सुनकर उन सबको घर भेज दिया। उस समय पाँच-सात पाषण्डी हिन्दु आये।

अनुभाष्य

२०३। पाषण्डी—कर्मजड़, बहवीश्वरवादी विष्णु-वैष्णव द्वेषी पौत्तालिक।

आसि' कहे—हिन्दुर धर्म भाङ्गिल निमाञि।
ये कीर्त्तन प्रवर्त्ताइल कभु शुनि नाइ॥२०४॥

२०४। प० अनु०—वे पाखण्डी कहने लगे कि निमाइ ने हिन्दुओं के धर्म को नष्ट कर दिया है। उसने जिस कीर्त्तन का प्रवर्त्तन किया है, उसे तो हमने पहले कभी सुना भी नहीं है।

मङ्गलचण्डी, विषहरि करि जागरण।
ता'ते नृत्य, गीत, वाद्य,—योग्य आचरण॥२०५॥

२०५। प० अनु०—हम जो मङ्गलचण्डी, विषहरि इत्यादि का जागरण करते हैं, उसमें तो नृत्य, गीत, वाद्य इत्यादि योग्य आचरण है।

पूर्व्वे भाल छिल एइ निमाञि पण्डित।
गया हैते आसिया चालाय विपरीत॥२०६॥

२०६। प० अनु०—पहले तो ये निमाइ पण्डित बहुत अच्छा था, परन्तु गया से आने के बाद पता नहीं इसको क्या हो गया है, अब तो यह उल्टी चाल चलने लगा है।

उच्च करि' गाय गीत, देय करतालि।
मृदङ्ग-करताल-शब्दे कर्णे लागे तालि॥२०७॥

२०७। प० अनु०—हाथों से ताली बजाते हुए उच्च स्वर में गीत गाता है। मृदङ्ग-करताल आदि के शब्द से कान बन्द हो जाते हैं।

ना जानि, कि खाञा मत्त हञा नाचे, गाय।
हासे, कान्दे, पड़े, उठे, गड़ागड़ि जाय॥२०८॥

२०८। प० अनु०—पता नहीं, क्या खाकर मत्त होकर नाचते तथा गाते हैं, हँसते हैं, रोते हैं, गिरते हैं, उठते हैं तथा लोट-पोट होते हैं।

नगरिया पागल कैल सदा सङ्कीर्त्तन।
रात्रे निद्रा नाहि याइ, करि जागरण॥२०९॥

२०९। प० अनु०—निमाइ के सङ्कीर्त्तन ने सभी नगर-वासियों को पागल बना रखा है। हमें रात में नींद नहीं आती है, हम तो जागरण करते हैं।

'निमाञि' नाम छाड़ि' एबे बोलाय 'गौरहरि'।
हिन्दुर धर्म्म नष्ट कैल पाषण्ड सञ्चारि॥२१०॥

२१०। प० अनु०—अब वह अपने आपको निमाइ के स्थान पर 'गौरहरि' बुलवाता है। वह पाषण्ड को फैलाकर हिन्दु धर्म को नष्ट कर रहा है।

कृष्णेर कीर्त्तन करे नीच बाड़ बाड़।
एइ पापे नवद्वीप हइबे उजाड़॥२११॥

२११ प० अनु०—अनेक नीच जाति के लोगों को साथ लेकर कृष्ण-नाम का कीर्त्तन करते हैं (इससे दूर-दूर के नीच लोग आकर इनके साथ मिलकर कीर्त्तन करते हैं,) नीच लोगों की नवद्वीप में वृद्धि होती जा रही है। (तथा वे सभी कृष्णनाम-ग्रहण रूपी पाप कर रहे हैं)। इस पाप से नवद्वीप उजाड़ हो जायेगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

२११। नीच बाड़बाड़—अनेक नीच जातियों के लोगों को लेकर कृष्णकीर्त्तन कर रहा है, इससे नीच जाति की बाड़ अर्थात् वृद्धि हो रही है।

हिन्दुशास्त्रे 'ईश्वर' नाम—महामन्त्र जानि।
सर्वलोक शुनिले मन्त्रेर वीर्य हय हानि॥२१२॥

२१२। प० अनु०—हिन्दु शास्त्र में ईश्वर के नाम को महामन्त्र कहा गया है, सभी लोगों द्वारा मन्त्र सुनने पर मन्त्र की शक्ति कम हो जाती है।

अनुभाष्य

२११-२१२। बहवीश्वरवादि ईश्वर को तथा ईश्वर के नाम को 'कर्मांग'-ज्ञान करने के कारण 'पाषण्ड'—शब्द वाच्य है। कृष्णनाम की महान् औदार्यमयी महिमा को न जानने के कारण प्राकृत उच्च आभिजात्य और सामाजिक पदवी के मोह में भूलकर वे सोचते हैं,—'नीच अर्थात् नीच कुल में उत्पन्न व्यक्ति द्वारा कृष्णनाम ग्रहण करना एक विशेष पापाचरण है। अतएव, कृष्णनाम ग्रहण सत्कुल व उच्च जन्म के सापेक्ष है। ये सब बह्वी-श्वरवादी कृष्णनाम-महामन्त्र को अन्यान्य जाप किये जाने वाले मन्त्रों के साथ एक समान मानकर समझते हैं,—सदा कीर्त्तनीय महामन्त्र उच्चारित व कीर्तित होने पर और हठात् जिह्वा व श्रुतिपथ पर अवतीर्ण होने से—अपने अद्वितीय परमऐश्वर्य को प्रकाश करके आब्रह्म स्तम्भ उद्धार करने की अपेक्षा स्वयं निष्फल हो जाता है,—इतना अधिक श्रौतपन्था के विरोधी, अक्षज-हेतुवादी!!

ग्रामेर ठाकुर तुमि, सब तोमार जन।
निमाइ बोलाइया तारे करह वर्ज्जन॥२१३॥

२१३। प० अनु०—आप गाँव के स्वामी हैं, हम सभी आपके हैं। आपकी प्रजा निमाइ को बुलाकर ऐसा करने के लिये मना कीजिए।

अनुभाष्य

२१३। इसके उपरान्त वे काजी को सम्बोधन करके कह रहे हैं,—आप इस स्थान के स्वामी हैं, गाँव के सभी व्यक्ति आपके अधीन हैं, अतएव आप निमाइ पण्डित को अपने पास बुलाकर उसे यहाँ से निकाल दो।

उनको काजी द्वारा सान्त्वना-प्रदान—

तबे आमि प्रीतिवाक्य' कहिल सबारे।
सबे घरे याह, आमि निषेधिब तारे॥२१४॥

२१४। प० अनु०—तब मैंने उन सबको प्रीतिपूर्वक वचनों के द्वारा कहा कि तुम सभी अपने-अपने घर जाओ, मैं उसको (निमाइ को) ऐसा करने के लिये मना करूँगा।

प्रभु के प्रति काजी की उक्ति—

हिन्दुर ईश्वर बड़ येइ नारायण।
सेइ तुमि हओ,-हेन लय मोर मन॥२१५॥

२१५। प० अनु०—हिन्दुओं के जो सबसे बड़े ईश्वर नारायण हैं, मेरा मन कहता है कि तुम वही हो।

प्रभु की कृपापूर्ण उक्ति—

एत शुनि' महाप्रभु हासिया हासिया।
कहिते लागिला किछु काजिरे छुँइया॥२१६॥

२१६। प० अनु०—ऐसा सुनकर महाप्रभु हँसते-हँसते काजी को स्पर्श करके कहने लगे।

नामाभास से पापक्षय—

तोमार मुखे कृष्णनाम,—ए बड़ विचित्र।
पापक्षय गेल, हैला परम पवित्र॥२१७॥

२१७। प० अनु०—यह बड़ी ही विचित्र बात है कि तुम्हारे मुख से भी कृष्णनाम प्रकाशित हो रहा है। इससे तुम्हारे समस्त पाप नष्ट हो गए हैं तथा तुम परम पवित्र हो गये हो।

'हरि' 'कृष्ण' 'नारायण'—लैले तिन नाम।
बड़ भाग्यवान् तुमि, बड़ पुण्यवान्॥२१८॥

२१८। प० अनु०—तुमने 'हरि' 'कृष्ण' और 'नारा-यण' इन तीन नामों का उच्चारण किया है। तुम बहुत ही भाग्यवान तथा पुण्यवान हो।

अनुभाष्य

२१७-२१८। काजी के मुख में नामाभास उदित हुआ था।

काजी की दैन्योक्ति—

एत शुनि' काजीर दुइ चक्षे पड़े पानि।
प्रभुर चरण छुँइ बले प्रियवाणी॥२१९॥

२१९। प० अनु०—ऐसा सुनकर काजी के दोनों नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे एवं श्रीमन् महाप्रभु के श्रीचरणकमलों को स्पर्श करके काजी प्रियवाणी कहने लगे।

तोमार प्रसादे मोर घुचिल कुमति।
एइ कृपा कर, येन तोमाते रहु भक्ति॥२२०॥

२२०। प० अनु०—आपकी कृपा से मेरी कुमति नष्ट हो गई है। आप मुझ पर ऐसी कृपा कीजिये जिससे मेरे हृदय में आपके प्रति भक्ति रहे।

प्रभु की उक्ति—

प्रभु कहे,—एक दान मागिये तोमाय।
सङ्कीर्त्तन बाद यैछे नहे नदीयाय॥२२१॥

२२१। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु ने कहा—मैं आपसे एक दान माँगता हूँ। वह यह कि नदिया में सङ्कीर्त्तन कभी भी बन्द न हो।

अनुभाष्य

२२१। जिससे नवद्वीप में कृष्णनाम का कीर्त्तन करने में कोई बाधा न हो।

काजी की प्रतिज्ञा—

काजी कहे,—मोर वंशे यत उपजिबे।
ताहाके 'तालाक' दिब, कीर्त्तन ना बाधिबे॥२२२॥

२२२। प० अनु०—काजी ने कहा,—"मेरे वंश में जो कोई भी उत्पन्न होगा, मैं उन सबको भी कीर्त्तन में किसी भी प्रकार की बाधा न उत्पन्न करने के लिये प्रतिज्ञा करा दूँगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

२२२। तालाक—गम्भीर रूप से की गई प्रतिज्ञा।

अनुभाष्य

२२२। आज पर्यन्त काजी के वंशधर कृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन में योगदान करते हैं, किसी भी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं करते।

प्रभु और भक्तों में हर्ष—

शुनि' प्रभु 'हरि' बलि' उठिला आपनि।
उठिल वैष्णव सब करि' हरि-ध्वनि॥२२३॥

२२३। प० अनु०—ऐसा सुनकर श्रीमन् महाप्रभु 'हरि हरि' बोलते हुये उठकर खड़े हो गये। सभी वैष्णव भी 'हरि हरि' ध्वनि करते हुये उठ गये।

सगण प्रभु का घर लौटना—

कीर्त्तन करिते प्रभु करिला गमन।
सङ्गे चलि' आइसे काजी उल्लसित मन॥२२४॥

२२४। प० अनु०—कीर्त्तन करते-करते श्रीमन् महाप्रभु ने वहाँ से प्रस्थान किया और काजी भी साथ-साथ उल्लसित होकर चलने लगा।

काजीरे विदाय दिल शचीर नन्दन।
नाचिते नाचिते आइला आपन भवन॥२२५॥

२२५। प० अनु०—श्रीशचीनन्दन गौरहरि ने काजी को विदाई दी। काजी नाचते-नाचते अपने भवन में लौट आया।

एइ मते काजीरे प्रभु करिला प्रसाद।
इहा येइ शुने ताँर खण्डे अपराध॥२२६॥

२२६। प० अनु०—इस प्रकार श्रीमन् महाप्रभु ने काजी पर कृपा की। जो व्यक्ति इस उपाख्यान का श्रवण करता है, उसके अपराध नष्ट हो जाते हैं।

श्रीवास-भवन में प्रभु द्वारा कीर्त्तन करने के समय श्रीवास पण्डित के पुत्र का देहत्याग—

एक दिन श्रीवासेर मन्दिरे गोसाञि।
नित्यानन्द-सङ्गे नृत्य करे दुइ भाइ॥२२७॥

२२७। प० अनु०—एकदिन दोनों भाई श्रीमन् चैतन्य गोसाईं तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीवास पण्डित के मन्दिर में नृत्य कर रहे थे।

श्रीवास-पुत्रेर ताँहा हैल परलोक।
तबु श्रीवासेर चित्ते ना जन्मिल शोक॥२२८॥

२२८। प० अनु०—उसी समय श्रीवास पण्डित के पुत्र परलोक सिधार गये। ऐसा होने पर भी श्रीवास पण्डित के चि त्त में किसी प्रकार का शोक उत्पन्न नहीं हुआ।

मृत पुत्र के मुख
से तत्त्वकथा—

मृतपुत्र-मुखे कैल ज्ञानेर कथन।
आपने दुइ भाई हैला श्रीवास-नन्दन॥२२९॥

२२९। प॰ अनु॰—श्रीमन् महाप्रभु ने उस मृत पुत्र के मुख से ज्ञान रूपी कथा कहलवाई तथा दोनों भाई (महाप्रभु तथा नित्यानन्द प्रभु) स्वयं श्रीवास पण्डित के पुत्र बन गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

२२९। एक रात श्रीमन् महाप्रभु श्रीवास अङ्गन में कीर्त्तन कर रहे थे, उसी समय श्रीवास के एक पुत्र परलोक सिधार गये। श्रीवास पण्डित ने कीर्त्तन के रस में भंग पड़ने के भय से सभी को शोक प्रकाशित करने के लिये निषेध किया, इसलिये श्रीमन् महाप्रभु ने बहुत रात तक नृत्य कीर्त्तन किया। कीर्त्तन समाप्त होने पर महाप्रभु समझ गये कि इस घर पर कोई विपत्ति आई है। श्रीवास के पुत्र की मृत्यु का संवाद सुनकर पहले तो महाप्रभु ने देरी से संवाद देने के लिये दुःख प्रकाशित किया तथा मृत बालक से सभी के समक्ष जिज्ञासा की,— “ओ बालक, तुमने श्रीवास को परित्याग क्यों कर दिया? मृत बालक ने कहा,—“मेरा जितने दिनों तक श्रीवास के घर में रहना निर्धारित था, अब उसकी समाप्ति होने पर मैं आपकी इच्छा से अन्य स्थान पर जा रहा हूँ। मैं आपका नित्य अनुगत अस्वतन्त्र जीव हूँ—आपकी इच्छा के अतिरिक्त और कुछ करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है।” मृत बालक के मुख से इन वचनों को सुनकर श्रीवास पण्डित के परिवार वालों को दिव्यज्ञान की प्राप्ति हुई, तथा शोक दूर हो गया। इसके उपरान्त मृत बालक का संस्कार किया गया। श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीवास को कहा,—‘जो तुम्हारा पुत्र था, वह तुम्हें छोड़कर चला गया। मैं और नित्यानन्द—तुम्हारे नित्यपुत्र हैं, हम तुम्हें कभी भी नहीं छोड़ पायेंगें।”

अनुभाष्य

२२८-२२९। चैःभाः मध्य २५ अध्याय द्रष्टव्य।

श्रीवास के भाई की पुत्री नारायणी
को अपना उच्छिष्ट-प्रदान—

तबे त' करिला सब भक्ते वर दान।
उच्छिष्ट दिया नारायणीर करिल सम्मान॥२३०॥

२३०। प॰ अनु॰—तब श्रीमन् महाप्रभु ने सभी भक्तों को वरदान दिया, तथा अपना उच्छिष्ट प्रदान करके नारायणी को कृतार्थ किया।

अनुभाष्य

२३०। चैःभाः मध्य, १० अः द्रष्टव्य। कोई-कोई चरित्र-हीन पाषण्ड स्वभाव वाले प्राकृत सहजिया व्यक्ति श्रीलवृन्दावनदास ठाकुर को ‘गोलक’ अर्थात् ‘ऐसी सन्तान जो स्त्री के पति की मृत्यु के पश्चात् उपपति से उत्पन्न हुई हो—ऐसा प्रतिपादन करने हेतु कहते हैं,—श्रीमन् महाप्रभु के उच्छिष्ट या ताम्बुल भोजन करने के फल-स्वरूप विधवा अवस्था में ही श्रीनारायणीदेवी के गर्भ से श्रीवृन्दावनदास ठाकुर का जन्म हुआ था। ऐसा निन्दामय प्रलाप अत्यन्त अपराधमय है अतएव इसको सुनना भी नहीं चाहिये।

यवन कुल में उत्पन्न दर्जी द्वारा प्रभु के
रूप का दर्शन और उन्माद—

श्रीवासेर वस्त्र सिये दरजी यवन।
प्रभु तारे कराइल निजरूप दर्शन॥२३१॥

२३१। प॰ अनु॰—श्रीवास के वस्त्र सीने वाला एक दर्जी, जो कि जाति का यवन था, उसे भी श्रीमन् महाप्रभु ने अपने रूप के दर्शन कराये।

‘देखिनु’ ‘देखिनु’ बलि’ हइल पागल।
प्रेमे नृत्य करे हैल वैष्णव आगल॥२३२॥

२३२। प॰ अनु॰—‘मैंने देखा है’, ‘मैंने देखा है’ कहते-कहते वह पागल सा हो गया। प्रेम में पागल होकर वह नृत्य करने लगा तथा वैष्णवों में अग्रगण्य बन गया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२३१-२३२। श्रीवास के घर के निकट रहने वाला

कोई एक यवन दर्जी उनके वस्त्र सिलाई करता था। वह श्रद्धापूर्वक श्रीमन् महाप्रभु का नृत्य देखकर वो मन्त्र-मुग्ध हो गया, महाप्रभु ने उसे अपने रूप के चिन्मय भाव का दर्शन कराया। वह दर्जी 'मैंने देखा है! मैंने देखा है!' ऐसा कहते-कहते प्रेम में पागल होकर नृत्य करने लगा। आगल-अग्रगण्य।

प्रभु की इच्छानुसार श्रीवास द्वारा
मधुर श्रीकृष्ण लीला-वर्णन—

आवेशेते श्रीवासे प्रभु वंशी त' मागिल।
श्रीवास कहे, वंशी तोमार गोपी हरि' निल॥२३३॥

२३३। प॰ अनु॰—जब आवेश में श्रीमन् महाप्रभु ने अपनी वंशी माँगी, तब श्रीवास पण्डित ने कहा कि आपकी वंशी तो गोपियों ने चुरा ली है।

शुनि' प्रभु 'बल' 'बल' बलेन आवेशे।
श्रीवास वर्णेन वृन्दावन-लीलारसे॥२३४॥

२३४। प॰ अनु॰—ऐसा सुनकर श्रीमन् महाप्रभु आवेश में ही 'बोलो', 'बोलो' कहने लगे। श्रीवास पण्डित वृन्दावन के लीलारस का वर्णन करने लगे।

प्रथमेते वृन्दावन-माधुर्य वर्णिल।
शुनिया प्रभुर चित्ते आनन्द बाड़िल॥२३५॥

२३५। प॰ अनु॰—श्रीवास ने पहले वृन्दावन-माधुर्य का वर्णन किया। ऐसा सुनकर महाप्रभु का चित्त अत्यधिक आनन्दित हो गया।

तबे 'बल' 'बल' प्रभु बले बारबार।
पुनः पुनः कहे श्रीवास करिया विस्तार॥२३६॥

२३६। प॰ अनु॰—तब श्रीमन् महाप्रभु बारम्बार 'बोलो' और 'बोलो' कहने लगे। तथा श्रीवास पण्डित भी पुनः पुनः विस्तार पूर्वक वर्णन करने लगे।

वंशीवाद्ये गोपीगणेर वने आकर्षण।
ताँ-सबार सङ्गे यैछे वन-विहरण॥२३७॥

२३७। प॰ अनु॰—वंशी की ध्वनि द्वारा गोपियों को वन में आकर्षण करके उनके साथ किस प्रकार वन में विहार किया।

ताहि मध्ये छय-ऋतु लीलार वर्णन।
मधुपान, रासोत्सव, जलकेलि कथन॥२३८॥

२३८। प॰ अनु॰—उसके बीच में छह ऋतुओं में की गई लीलाओं का वर्णन किया। मधुपान, रासोत्सव तथा जलकेलि की लीलाएँ का भी गान किया।

'बल' 'बल' बले प्रभु शुनिते उल्लास।
श्रीवास कहेन तबे रासरसेर विलास॥२३९॥

२३९। प॰ अनु॰—सुनते-सुनते अत्यधिक उल्ल-सित होकर श्रीमन् महाप्रभु फिर से 'बोलो', 'बोलो' कह रहे थे। तब श्रीवास पण्डित ने रास-विलास का वर्णन किया।

अनुभाष्य

२३५-२३९। श्रीवास पण्डित द्वारा वर्णित ब्रज की गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के मधुर (शृंगार) रस का वर्णन विशेष रूप से लक्ष्य करने का विषय है।

कहिते, शुनिते ओइछे प्रातःकाल हैल।
प्रभु श्रीवासेरे तोषि' आलिङ्गन कैल॥२४०॥

२४०। प॰ अनु॰—इस प्रकार कहते-सुनते प्रातः काल हो गया। श्रीमन् महाप्रभु ने अत्यधिक प्रसन्नता पूर्वक श्रीवास पण्डित का आलिङ्गन किया।

आचार्यरत्न के घर प्रभु
का लक्ष्मी के वेश में
नृत्य—

तबे आचार्येर घरे कैल कृष्णलीला।
रुक्मिण्यादि-रूप प्रभु आपने हइला॥२४१॥

२४१। प॰ अनु॰—फिर श्रीमन् महाप्रभु ने आचार्य के घर में कृष्णलीला की। श्रीमन् महाप्रभु ने स्वयं ही श्रीरुक्मिणी आदि के रूप को धारण किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४१। एकबार श्रीचन्द्रशेखर आचार्यरत्न के घर में रात्रि के समय श्रीमन् महाप्रभु ने रुक्मिणी आदि के रूप को धारण करके एक लीला का अभिनय किया था। उसमें श्रीअद्वैत, श्रीहरिदास इत्यादि अनेक भक्त नाना प्रकार के साज में सज्जित हुये थे।

अनुभाष्य

२४१। रुक्मिणी के भाव और वेश में महाप्रभु—चै: भा: मध्य १८अ: द्रष्टव्य है।

कभु दुर्गा, लक्ष्मी हय, कभु वा चिच्छक्ति।
खाटे बसि' भक्तगणे दिला प्रेम-भक्ति॥२४२॥

२४२। प॰ अनु॰—श्रीमन् महाप्रभु कभी दुर्गा, तो कभी लक्ष्मी बन जाते तथा कभी चित्शक्ति बन जाते। फिर श्रीमन् महाप्रभु ने सिंहासन पर बैठकर सभी भक्तों को प्रेमभक्ति प्रदान की।

अनुभाष्य

२४२। आद्याशक्ति के वेश में महाप्रभु द्वारा भक्तवृन्द को स्तनपान कराना तथा प्रेमभक्ति प्रदान करने का प्रसंग—चै:भा: मध्य, १८अ: द्रष्टव्य है।

ब्राह्मणी द्वारा प्रभु के पादस्पर्श करने
पर प्रभु का गङ्गा में प्रवेश—

एकदिन महाप्रभु नृत्य-अवसाने।
एक ब्राह्मणी आसि' धरिल चरणे॥२४३॥

२४३। प॰ अनु॰—एकदिन श्रीमहाप्रभु के नृत्य-सङ्कीर्त्तन के अन्त में एक ब्राह्मणी ने आकर उनके चरणों को पकड़ लिया।

चरणेर धूलि सेइ लय बार बार।
देखिया प्रभुर दुःख हइल अपार॥२४४॥

२४४। प॰ अनु॰—वह ब्राह्मणी बार-बार चरणों की धूलि को लेने लगी, उसको ऐसा करते देख प्रभु को बहुत दुःख हुआ।

सेइक्षणे धाइया प्रभु गङ्गाते पड़िल।
नित्यानन्द हरिदास धरि' उठाइल॥२४५॥

२४५। प॰ अनु॰—उसी समय श्रीमन् महाप्रभु दौड़-कर गङ्गा में जाकर कूद पड़े। श्रीनित्यानन्द प्रभु तथा श्रीहरिदास ठाकुर ने जाकर उन्हें बाहर निकाला।

विजय आचार्येर घरे से रात्रे रहिला।
प्रातःकाले भक्त सबे घरे लञा गेला॥२४६॥

२४६। प॰ अनु॰—उस रात्रि श्रीमन् महाप्रभु विजय आचार्य के घर पर ही रहे। प्रातःकाल सभी भक्त उन्हें घर ले गये।

अनुभाष्य

२४३-२४६। इस घटना का चैतन्य भागवत में वर्णन नहीं है।

उच्चस्वर में 'गोपी' 'गोपी'
पुकारते हुये प्रभु—

एकदिन गोपीभावे गृहेते बसिया।
'गोपी' 'गोपी' नाम लय विषन्न हइया॥२४७॥

२४७। प॰ अनु॰—एकदिन अपने घर में बैठे-बैठे गोपीभाव में आविष्ट होकर श्रीमन् महाप्रभु दुःखित हृदय से 'गोपी' 'गोपी' पुकार रहे थे।

अनुभाष्य

२४७-२६३। गोपीभाव में आविष्ट होने के कारण श्रीमन् महाप्रभु द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति क्रोध और दोषारोपण के अप्राकृतत्व को न समझने के कारण एक कर्मजड़ स्मार्त्त विद्यार्थी का, श्रीमन् महाप्रभु के साथ वादानुवाद तथा गोपीभावमय प्रभु का उसको श्रीकृष्ण का पक्षपाती समझकर क्रोधित होकर उसके पीछे दौड़ना तथा ऐसा देख कर्मजड़ हरिविमुख ब्राह्मणब्रुवों द्वारा मोहवशतः प्रभु को पीटने का परामर्श तथा उनकी दुर्गति और दुर्दशा दूर करके प्राकृत समाज की दृष्टि में श्रेष्ठ आभिजात्य और वर्णाभिमानी गुरु का संन्यास आश्रम स्वीकार करने की अभिलाषा—चै:भा: मध्य २६, अ: द्रष्टव्य है।

मर्म को नहीं समझने वाले पाषण्डी
छात्र द्वारा प्रभु को मना करना—

एक पडुया आइल प्रभुके देखिते।
'गोपी' 'गोपी' नाम शुनि' लागिल बलिते॥२४८॥

२४८। प० अनु०—उसी समय एक विद्यार्थी श्रीमन् महाप्रभु के दर्शन करने आया। वह महाप्रभु के मुख से 'गोपी' 'गोपी' नाम सुनकर कहने लगा।

कृष्णनाम ना लओ केने, कृष्णनाम—धन्य।
'गोपी' 'गोपी' बलिले वा किबा हय पुण्य॥२४९॥

२४९। प० अनु०—आप कृष्ण नाम का उच्चारण क्यों नहीं करते? कृष्णनाम तो परम धन्य है। 'गोपी' 'गोपी' कहने से क्या कोई पुण्य होता है?

प्रहार करने हेतु प्रभु का उसके
पीछे दौड़ना, छात्र का पलायन—

शुनि' प्रभु क्रोधे कैल कृष्णे दोषोद्‌गार।
ठेङ्गा लञा उठिला प्रभु पडुया मारिवार॥२५०॥

२५०। प० अनु०—ऐसे वचन सुनकर श्रीमन् महा-प्रभु अत्यधिक क्रोधित होकर परिहास करते हुए कृष्ण में दोषों का आरोप करने लगे तथा लाठी लेकर विद्यार्थी को मारने के लिये उठ खड़े हुये।

अमृतप्रवाह भाष्य

२५०। दोषाद्‌गार—परिहासपूर्वक दोषारोपण करना।

भये पलाय पडुया, प्रभु पाछे पाछे धाय।
आस्ते व्यस्त भक्तगण प्रभुरे रहाय॥२५१॥

२५१। प० अनु०—विद्यार्थी भयभीत होकर दौड़ा जा रहा था तथा श्रीमन् महाप्रभु उसके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। जैसे-तैसे करके भक्तों ने प्रभु को स्थिर किया।

प्रभु को सान्त्वना प्रदान—

प्रभुरे शान्त करि' आनिल निज घरे।
पडुया पलाया गेल पडुया-सभारे॥२५२॥

२५२। प० अनु०—भक्त प्रभु को शान्त करके घर पर ले आये। विद्यार्थी अपने विद्यार्थियों की सभा में जा पहुँचा।

छात्रसमाज में प्रभु के प्रति कड़वी बातें और क्रोध—

पडुया सहस्त्र याहाँ पड़े एकठाञि।
प्रभुर वृतान्त द्विज कहे ताहाँ याइ॥२५३॥

२५३। प० अनु०—जिस स्थान पर एकसाथ सैकड़ों विद्यार्थी पढ़ रहे थे, वह ब्राह्मण विद्यार्थी उसी सभा में जाकर महाप्रभु का वृत्तान्त सुनाने लगा।

शुनि' क्रोध कैल सब पडुयार गण।
सबे मेलि' करे तबे प्रभुर निन्दन॥२५४॥

२५४। प० अनु०—ऐसा सुनकर सभी विद्यार्थी क्रोधित हुए तथा सभी एकसाथ मिलकर महाप्रभु की निन्दा करने लगे।

सब देश भ्रष्ट कैल एकला निमाञि।
ब्राह्मण मारिते चाहे, धर्मभय नाइ॥२५५॥

२५५। प० अनु०—अकेले निमाइ ने सभी स्थानों को भ्रष्ट कर दिया है। यह ब्राह्मण को मारना चाहता है, इसे धर्म का कोई भी भय नहीं है।

प्रभु पर प्रहार करने हेतु षड़यन्त्र—

पुनः यदि ओइछे करे, मारिब ताहारे।
कोन् वा मानुष हय, कि करिते पारे॥२५६॥

२५६। प० अनु०—यदि फिर कभी ऐसा करेगा तो हम उसे मारेंगे। वो चाहे कोई भी क्यों न हो, वह हमारा क्या बिगाड़ लेगा।

प्रभु से हिंसा करने के फलस्वरूप उनकी विद्या-बुद्धि-लुप्त—

प्रभुर निन्दाय सबार बुद्धि हैल नाश।
सुपठित विद्या कारओ ना हय प्रकाश॥२५७॥

२५७। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु की निन्दा करने के कारण उस सबकी बुद्धि नष्ट हो गई। वे भली-भाँति पढ़ी हुई विद्या को भी भूल गये।

अनुभाष्य

२५७। क्योंकि, (श्वेः उः)—"यस्य देवे पराभक्ति-र्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥" अर्थात् जिसकी, परदेवता विष्णु के प्रति जैसी, मुकुन्द-प्रेष्ठ श्रीगुरुदेव के प्रति भी वैसी परमा (अहैतुकी और अव्यवहिता) भक्ति है, उसी महात्मा के शुद्धचित्त में ही इन सभी श्रुतियों के वास्तविक हरिभक्ति-तात्पर्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं, अन्य किसी के हृदय में नहीं। श्रीप्रह्लाद महाराज की उक्ति (भाः ७/५/२४)—"इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा। क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥" श्रीधर टीका—"सा चार्पितैव सती यदि क्रियेत, न तु कृता सती पश्चादर्प्येत, तदुत्तममधीतं' मन्ये, न त्वस्माद् गुरोरधीतं शिक्षितं वा तथाविधं किञ्चिदस्तीति भावः।" अर्थात् पहले आत्म-समर्पण, बाद में हरिभजन-क्रिया—यही विधि है। ऐसा होने पर ही उत्तम शास्त्र अध्ययन हुआ है, ऐसा लगता है। आत्मसमर्पण पूर्वक विष्णुपूजा की अपेक्षा और कुछ भी श्रेष्ठ शिक्षा व अध्ययन नहीं हो सकता। अविद्या के वशीभूत होने के कारण वह जड़विद्याभिमानी (विद्यार्थी) परविद्यावधुजीवन विष्णु की अवज्ञा करने तथा उन दाम्भिकों के नित्य वास्वत-वस्तु विष्णु के निकट आत्म-समर्पण के अभाव हेतु उनके दूषित तथा मलीन हृदय में विद्या की स्फूर्ति नहीं होती, अतएव (भाः ११/११/१८)—"शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि। श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः।" यदि कोई वेद आदि शास्त्रों में पारदर्शी होने पर भी परब्रह्म विष्णु के श्रीचरणों में भक्तिपरायण न हो, तो उसका समस्त शास्त्रा-नुशीलन श्रम केवल व्यर्थ के परिश्रम में ही पर्यवसित होता है।

तथापि दाम्भिक पडुया नम्र नाहि हय।
याहाँ ताहाँ प्रभुर निन्दा हासि' से करय॥२५८॥

२५८। प॰ अनु॰—तब भी वे दाम्भिक विद्यार्थी नम्र नहीं हुए। इधर-उधर सभी स्थानों पर श्रीमन् महाप्रभु की निन्दा करते हुये हंसी उड़ाने लगे।

पाखण्ड़ियों की दुर्गति देख प्रभु की करूणा—

सर्वज्ञ गोसाञि जानि' सबार दुर्गति।
घरे बसि' चिन्तेन ता'-सबार अव्याहति॥२५९॥

२५९। प॰ अनु॰—सर्वज्ञ श्रीमन् महाप्रभु उन सबकी दुर्गति को जानकर घर बैठे-बैठे उनके उद्धार की चिन्ता करने लगे।

अभक्त व्यक्तियों का परिचय—

यत अध्यापक, आर ताँर शिष्यगण।
धर्मी, कर्मी, तपोनिष्ठ, निन्दक, दुर्जन॥२६०॥

२६०। प॰ अनु॰—जितने भी अध्यापक तथा उनके शिष्य हैं—वे सभी धर्मी, कर्मी, तपस्या में निष्ठा रखने वाले, निन्दक तथा दुर्जन हैं।

कृष्ण के विद्वेष करने के अपराध
से मुक्त होने के उपाय की चिन्ता—

एइ सब मोर निन्दा-अपराध हैते।
आमि ना लओयाइले भक्ति, ना पारे लइते॥२६१॥

२६१। प॰ अनु॰—ये सभी मेरी निन्दा रूपी अपराध के कारण ही ऐसे (अर्थात् धर्मी, कर्मी, दुर्जन इत्यादि) हैं। जब तक मैं इन्हें भक्ति प्रदान न करूँ, तब तक ये स्वयं भक्ति नहीं कर सकते।

निस्तारिते आइलाम आमि, हैल विपरीत।
एसब दुर्ज्जनेर कैछे हइबेक हित॥२६२॥

२६२। प॰ अनु॰—मैं तो सभी का उद्धार करने के लिये आया था, किन्तु उसका उल्टा ही हो रहा है। इन सभी दुर्जनों का कैसे कल्याण होगा।

अनुभाष्य

२६२। चैः भाः मध्य, २६ अः—"करिलुँ पिप्पल-खण्ड कफ निवारिते। उलटिया आरो कफ बाड़िल देहेते॥"

आमाके प्रणति करे, हय पापक्षय।
तबे से इहारे भक्ति लओयाइले लय॥२६३॥

२६३। प॰ अनु॰—मुझे नमस्कार करने से पाप नाश हो जाते हैं, तभी इनको भक्ति प्रदान करने पर ये धारण कर सकते हैं।

पाषण्ड़ियों के उद्धार की इच्छा—

मोरे निन्दा करे ये, ना करे नमस्कार।
एसब जीवेरे अवश्य करिब उद्धार॥२६४॥

२६४। प॰ अनु॰—जो मेरी निन्दा करते हैं, मुझे नमस्कार तक भी नहीं करते, मैं इन सभी जीवों का अवश्य ही उद्धार करूँगा।

लौकिक मर्यादामय संन्यास-लीलाभिनय का संकल्प—

अतएव अवश्य आमि सन्न्यास करिब।
संन्यासि-बुद्धये मोरे प्रणत हइब॥२६५॥

२६५। प॰ अनु॰—अतएव मैं अवश्य ही संन्यास ग्रहण करूँगा तथा ये सभी मुझे संन्यासी देखकर मुझे दण्डवत् प्रणाम किया करेंगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६५। शास्त्रों के मतानुसार यदि कोई ब्राह्मण संन्यास ग्रहण करे तो संन्यासी-बुद्धि से अर्थात् संन्यासी को प्रणाम योग्य समझकर गृहस्थ और ब्राह्मण इत्यादि सभी प्रणाम करते हैं। मेरे संन्यास लेने पर निन्दक ब्राह्मण अवश्य ही प्रणाम करके मुझसे सुबुद्धि प्राप्त करेंगे।

संन्यासी समझकर प्रभु को नमस्कार करने के फलस्वरूप पाषण्ड विप्र आदि उच्चजाति के व्यक्तियों में भी शुद्धचित से सेवा-प्रवृत्ति का उदय—

प्रणतिते ह'बे इहार अपराध क्षय।
निर्मल हृदये भक्ति कराइब उदय॥२६६॥

२६६। प॰ अनु॰—जब प्रणाम करने से इनके अपराध नष्ट हो जायेंगे, तब इनके निर्मल हृदय में भक्ति का उदय कराऊँगा।

अनुभाष्य

२६५-२६६। पाषण्ड प्रकृति ब्राह्मण-ब्रुव भी वैष्णव-संन्यासी को दण्डवत्-प्रणाम करेंगे—यही श्रीमन् महाप्रभु की धारणा थी, उस समय सदाचार भी यही था। इस समय जो इन सभी ब्राह्मण-ब्रुवों की अपेक्षा और भी अधिक दाम्भिकता हेतु वैष्णव संन्यासी को दण्डवत् प्रणाम नहीं करते, उनके लिये शास्त्रों की विधि,—"देवता-प्रतिमां दृष्ट्वा यतिञ्चैव त्रिदण्डिनम्। नमस्कारं न कुर्याद् यः प्रायश्चित्तीयते नरः॥" (पाठान्तरे, नमस्कारं न कुर्याच्चेदुपवासेन शुद्ध्यति॥") अर्थात् परमदेवता श्रीविष्णु के विग्रह तथा वैष्णव-त्रिदण्डी-संन्यासी को देखकर यदि कोई ब्राह्मण-ब्रुव प्रणाम न करें, तो इस प्रत्यवाय हेतु अर्थात् अवहेलना के कारण उसे प्रायश्चित करना पड़ता है, अथवा उपवास करके शुद्ध होना पड़ता है।

एसब पाषण्डीर तबे हइबे निस्तार।
आर कोन उपाय नाहि, एइ युक्ति सार॥२६७॥

२६७। प॰ अनु॰—तभी इन सब पाषण्डियों का उद्धार होगा। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है, यही उपयुक्त है।

उसी समय केशव भारती द्वारा नवद्वीप में प्रभु के घर में भिक्षा ग्रहण—

एइ दृढ़ युक्ति करि' प्रभु आछे घरे।
केशव भारती आइला नदीया-नगरे॥२६८॥

२६८। प॰ अनु॰—ऐसा दृढ़ निश्चय कर श्रीमन् महाप्रभु घर पर बैठे थे कि श्रीकेशव भारती उस समय नदिया-नगर में आये।

प्रभु ताँरे नमस्करि' कैल निमन्त्रण।
भिक्षा कराइया ताँरे कैल निवेदन॥२६९॥

२६९। प॰ अनु॰—श्रीमन् महाप्रभु ने उन्हें नमस्कार करके अपने घर निमन्त्रित किया तथा भिक्षा कराने के उपरान्त उनसे निवेदन करने लगे।

भारती के निकट प्रभु का निवेदन—

तुमि त' ईश्वर वटे,—साक्षात् नारायण।
कृपा करि' कर मोर संसार मोचन॥२७०॥

२७०। प० अनु०—यद्यपि आप तो साक्षात् नारायण हैं, तथापि कृपा करके मुझे संसार-बन्धन से मुक्त कीजिये।

भारती की उक्ति—

भारती कहेन,—तुमि ईश्वर, अन्तर्यामी।
ये कह, से करिब,—स्वतन्त्र नाहि आमि॥२७१॥

२७१। प० अनु०—श्रीकेशव भारती कहने लगे—आप तो ईश्वर हो, अन्तर्यामी हो। आप जो कहेंगे, मैं वही करूँगा, क्योंकि मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ।

भारती का काटोया लौटकर आना
और प्रभु द्वारा उनसे संन्यास ग्रहण—

एत बलि' भारती गोसाञि काटोयाते गेला।
महाप्रभु ताहा याइ' संन्यास करिला॥२७२॥

२७२। प० अनु०—इतना कहकर श्रीकेशव भारती काटोया चले गये। वहीं जाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२७२। श्रीमन् महाप्रभु की चौबीस वर्ष की आयु के अन्त में जो माघी शुक्लपक्ष आई, उस उत्तरायण के समय संक्रमण वाले दिन महाप्रभु ने रात्रि के अन्त में श्रीनवद्वीप को त्यागकर 'निदया घाट' से तैरते हुये गङ्गा पारकर कंटक नगर या काटोया गाँव में पहुँचकर केशव-भारती से (एक) दण्ड ग्रहण किया। चन्द्रशेखर आचार्य रत्न ने श्रीमन् महाप्रभु की आज्ञानुसार संन्यास के सभी कृत्यों का अनुष्ठान किया। पूरा दिन कीर्त्तन करते-करते लगभग सन्ध्या के समय क्षौरकार्य (मुण्डन) समाप्त हुआ। अगले दिन प्रातः काल दण्ड धारण तथा संन्यासी का वेश धारण किये हुये श्रीकृष्णचैतन्य ने राढ़देश में भ्रमण करना आरम्भ किया। श्रीकेशवभारती भी कुछ दूरी तक उनके साथ-साथ गये थे।

प्रभु के संन्यास लेते समय निताइ,
आचार्यरत्न और मुकुन्द—

सङ्गे नित्यानन्द, चन्द्रशेखर आचार्य।
मुकुन्ददत्त,—एइ तिन कैल सर्व कार्य॥२७३॥

२७३। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीचन्द्रशेखर आचार्य तथा श्रीमुकुन्ददत्त—इन तीनों ने संन्यास ग्रहण करने के समय का अनुष्ठानिक आवश्यक कार्य किया था।

एइ आदि-लीलार कैल सूत्र गणन।
विस्तारि वर्णिला इहा दास वृन्दावन॥२७४॥

२७४। प० अनु०—इस प्रकार यहाँ तक आदि-लीला की सूत्र रूप में गणना की गई है। इन समस्त लीलाओं को श्रीवृन्दावनदास ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

अनुभाष्य

२७४। चैःभाः मध्य २६, अः द्रष्टव्य।

प्रभु के शान्त छोड़कर दास्य, सख्य,
वात्सल्य और मधुर भाव में उक्त चित्तवृत्ति—

यशोदानन्दन हैला शचीर नन्दन।
चतुर्विध भक्तभाव करे आस्वादन॥२७५॥

२७५। प० अनु०—श्रीयशोदानन्दन श्रीशचीनन्दन के रूप में अवतीर्ण हुये हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु चार प्रकार के भक्तों के भावों का आस्वादन करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

२७५। चार प्रकार के भक्तों का भाव—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रस के आश्रित चार प्रकार के भक्तों के भाव।

आश्रयजातीय भावमय विषयविग्रह ही
गौरसुन्दर—"गौरनागरी"-वाद का निरसन—

स्वमाधुर्य राधा-प्रेमरस आस्वादिते।
राधाभाव अङ्गी करियाछे भालमते॥२७६॥

२७६। प० अनु०—अपने माधुर्य और राधा के प्रेम-रस का आस्वादन करने के लिये श्रीकृष्ण ने बहुत सुन्दरता-पूर्वक श्रीराधा के भावों को अङ्गीकार किया।

गोपी-भाव याते प्रभु धरियाछे एकान्त।
ब्रजेन्द्रनन्दने माने आपनार कान्त॥२७७॥

२७७। प० अनु०—क्योंकि श्रीमन् महाप्रभु ने ऐकान्तिक रूप से गोपीभाव को धारण किया है, इसलिये श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण को ही अपने कान्त के रूप में स्वीकार करते हैं।

गोपिका-भावेर एइ सुदृढ़ निश्चय।
ब्रजेन्द्रनन्दन बिना अन्यत्र ना हय॥२७८॥

२७८। प० अनु०—गोपी-भाव धारण करने वालों का यही सुदृढ़ निश्चय होता है कि ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के बिना अन्यत्र और किसी में भी मन नहीं लगता।

अनुभाष्य

२७६-२७८। श्रीगौरसुन्दर—श्रीराधाभावद्युति सुवलित कृष्ण, अतएव श्रीकृष्ण की सेवा के लिये आश्रय-जातीय श्रीमती राधिका आदि गोपियों के हृदय में जो भाव है, उसे परित्याग करके कभी भी स्वयं श्रीकृष्ण के समान विषय-जातीय चेष्टायुक्त होकर अर्थात् भोक्ता के अभिमान से परस्त्री दर्शन आदि द्वारा 'लम्पट नागर' की वृत्ति का परिचय प्रदान नहीं किया। प्राकृत कामुक पर-स्त्री लम्पट सहजिया-सम्प्रदाय अपने-अपने घृणित काम की प्यास और व्यभिचार जगद्गुरु आचार्य की लीला का प्रदर्शन करने वाले श्रीगौरसुन्दर के स्कन्ध पर आरोपित करके वैष्णव आचार्य शिरोमणि श्रीस्वरूप-दामोदर और ठाकुर वृन्दावनदास के श्रीचरणों में केवलमात्र अपराध की ही वृद्धि करते हैं। चैः भाः आदि, १५ अः—"सबे पर-स्त्री प्रति नाहि परिहास। स्त्री देखिले दूरे प्रभु हन एकपाश॥ एइमत चापल्य करेन सबा-सने। सबे स्त्री-मात्र नाहि देखेन दृष्टि कोणे॥ 'स्त्री' हेन नाम प्रभु एइ अवतारे। श्रवणो ना करिला-विदित संसारे॥ अतएव यत महामहिम सकले। 'गौराङ्गनागर' हेन स्तव नाहि बले॥ यद्यपि सकल स्तव सम्भवे ताहाने। तथापिह स्व-भाव से गाय बुधगणे॥" इन तीन पद्यों में अत्यधिक स्पष्ट रूप से भक्तिसिद्धान्त विरोधी दुर्नीतिपुष्ट कल्पित "गौराङ्गनागरीवाद" का खण्डन हुआ है।

स्वयंरूप कृष्ण के अतिरिक्त अन्य
रूपों में गोपियों की प्रीति नहीं—

श्यामसुन्दर, शिखिपिञ्छ-गुञ्जा-विभूषण।
गोप-वेश, त्रिभङ्गिम, मुरली-वदन॥२७९॥
इहा छाड़ि' कृष्ण यदि हय अन्याकार।
गोपिकार भाव नाहि याय निकट ताहार॥२८०॥

२७९-२८०। प० अनु०—श्यामसुन्दर वर्ण वाले, मयूरपुच्छ-गुञ्जा आदि आभूषणों से विभूषित, गोप-वेशधारी, ललित त्रिभङ्ग, तथा अधरों पर मुरली धारण किये हुये स्वरूप के अतिरिक्त कृष्ण यदि अन्य किसी स्वरूप को धारण करते हैं तो गोपियों का भाव उनके प्रति स्फुरित नहीं होता।

(ललितमाधव में ६अः १४श श्लोक)

गोपीनां पशुपेन्द्रनन्दनजुषो भावस्य कस्तां कृती
विज्ञातुं क्षमते दुरुहपदवीसञ्चारिणः प्रक्रियाम्।
आविष्कुर्वति वैष्णवीमपि तनुं तस्मिन् भुजैर्जिष्णुभि-
यासां हन्त चतुर्भिरद्भुतरुचिं रागोदयः कुञ्चति॥२८१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२८१। किसी एक समय श्रीकृष्ण द्वारा कौतुकपूर्वक अद्भुत रुचि युक्त चतुर्भुज नारायण-मूर्त्ति प्रकाशित करने पर गोपियों के राग का उदय संकुचित हो गया। अतएव नन्दनन्दन के प्रति अनन्य भजनशील दुर्गम पारकीय-पथ का अवलम्बन करनेवाली गोपियों के भाव तथा क्रिया को कौन-सा पण्डित समझ सकता है?

अनुभाष्य

२८१। सूर्यपत्नी सवर्णा के प्रति विशाखा के वचन, गोपीनां दुरुहपदवीसञ्चारिणः (दुरुहायां पदव्यां सञ्चरि-

तुंशील यस्य तस्य) पशुपेन्द्र-नन्दनजुषः (पशु-पेन्द्रस्य गोपराजस्य नन्दस्य नन्दनं सुनूं जुषते सेवते यस्तस्य कृष्ण-सेवापरस्य) भावस्य तां प्रक्रियां विज्ञातुं (बोद्धुं) कः कृति क्षमते (समर्थवान् भवति) ? (यतः हन्त! जिष्णुभिः (जयशीलैः) चतुर्भिः भुजैः (धृतनारायण विग्रहैः) अद्-भुतरुचिं (अद्भुता रुचिः शोभा यस्याः तां अलौकिकीं कान्तिमयीं) वैष्णवीं तनुं आविष्कुर्वति (प्रकटयति सति) तस्मिन् (कृष्णे) अपि यासां (गोपीनां) रागोदयः कुञ्चति (विकाशं न लभते)।

रास के समय आत्मगोपन करने की
इच्छा से कृष्ण द्वारा गोपियों को चतुर्भुज
प्रदर्शन और संरक्षण—

वसन्तकाले रासलीला करे गोवर्द्धने।
अन्तर्धान कैला सङ्केत करि' राधा सने॥२८२॥

२८२। प॰ अनु॰—जिस समय श्रीकृष्ण वसन्त ऋतु में श्रीगोवर्द्धन में रासलीला कर रहे थे, तब श्रीकृष्ण राधा को संकेत करके अन्तर्धान हो गये।

निभृतनिकुञ्जे बसि' देखे राधार वाट।
अन्वेषिते आइला ताहाँ गोपिकार ठाट॥२८३॥

२८३। प॰ अनु॰—निभृत निकुञ्ज में बैठकर श्रीमती राधा की बाट (राह) देख रहे थे। सभी गोपियाँ श्रीकृष्ण को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वहीं आ पहुँची।

अनुभाष्य

२८३। वाट,—वर्त्म वा पथ। 'ठाट'—श्रेणीबद्ध सैन्य।

दूर हैते कृष्ण देखि' बले गोपीगण।
"ऐइ देख कुञ्ज-भितर ब्रजेन्द्रनन्दन"॥२८४॥

२८४। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण को निकुञ्ज में बैठा देख दूर से ही गोपियाँ कहने लगीं—"देखो! इस कुञ्ज के अन्दर ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण बैठे हैं।"

गोपीगण देखि' कृष्णेर हइल साध्वस।
लुकाइते नारिल, भये हैला विवश॥२८५॥

२८५। प॰ अनु॰—गोपियों को देखकर श्रीकृष्ण संकुचित हो गये, वे अब छिपकर बैठने में असमर्थ थे, भयभीत की भाँति विवश हो गये।

अनुभाष्य

२८५। साध्वस—भय, त्रास, शंका, मन का आवेग, सम्भ्रम।

चतुर्भुज मूर्त्ति धरि' आछेन बसिया।
कृष्ण देखि' गोपी कहे निकटे आसिया॥२८६॥

२८६। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण चतुर्भुज रूप धारण करके बैठे थे। श्रीकृष्ण को देखकर गोपियों ने उनके निकट आकर कहा—

गोपियों द्वारा नारायण
की स्तुति—

'इहों कृष्ण नहे, इहों नारायण-मूर्त्ति।'
एत बलि' सबे ताँरे करे नति-स्तुति॥२८७॥

२८७। प॰ अनु॰—ये कृष्ण नहीं हैं, ये तो नारायण हैं। इतना कहकर सभी उनको प्रणाम तथा स्तुति करने लगीं।

'नमो नारायण', देव करह प्रसाद।
कृष्णसङ्ग देह मोरे, घुचाह विषाद॥२८८॥

२८८। प॰ अनु॰—'नमो नारायण'! हे देव! कृपा करो। हमें श्रीकृष्ण का सङ्ग प्रदानकर हमारे विरह-दुःख को दूर करो।

अनुभाष्य

२८८। मोरे—आमादिगके अर्थात् हमें।

एत बलि नमस्करि' गेला गोपीगण।
हेनकाले राधा आसि' दिला दरशन॥२८९॥

२८९। प० अनु०—इतना कहकर गोपियाँ नमस्कार करती हुईं वहाँ से चली गईं। उसी समय श्रीमती राधा ने आकर दर्शन दिया।

श्रीमती राधिका के आगमन मात्र से चतुर्भुज का अन्तर्धान, द्विभुज मूर्त्ति अथवा स्वयंरूप—

राधा देखि' कृष्ण ताँरे हास्य करिते।
सेइ चतुर्भुज मूर्त्ति चाहेन राखिते॥२९०॥
लुकाइला दुइ भुज राधार अग्रेते।
बहु यत्न कैला कृष्ण, नारिल राखिते॥२९१॥

२९०-२९१। प० अनु०—यद्यपि श्रीराधा को आता देख श्रीकृष्ण उनसे भी हास्य करने के लिये अपने उसी चतुर्भुज रूप को बनाये रखना चाहते थे, तथापि अनेक यत्न करने पर भी श्रीकृष्ण अपने उस चतुर्भुज रूप को धारण नहीं कर पाये, श्रीराधा के समक्ष उनकी दो भुजाएँ अपने आप अन्तर्धान हो गईं।

श्रीराधारानी का अचिन्त्य कृष्णप्रेम—

राधार विशुद्ध-भावेर अचिन्त्य प्रभाव।
ये कृष्णेरे कराइला द्विभुज स्वभाव॥२९२॥

२९२। प० अनु०—श्रीमती राधा के विशुद्ध भाव का ही ऐसा अचिन्त्य प्रभाव है कि श्रीकृष्ण को दो भुजाओं वाला बना दिया।

श्रीराधारानी के निकट कृष्ण की चतुराई पराजित, नित्य स्वयंरूप श्यामसुन्दर—
(उज्ज्वलनीलमणि १म अंके श्रीरूपगोस्वामिवाक्य)

रासारम्भविधौ निलीयवसता कुञ्जे मृगाक्षिगणै-
र्दृष्टं गोपयितुं स्वमुद्धरधिया या सुष्ठु सन्दर्शिता।
राधायाः प्रणयस्य हन्त महिमा यस्य श्रिया रक्षितुं
सा शक्या प्रभविष्णुनापि हरिणा नासीच्चतुर्बाहुता॥२९३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२९३। रास के आरम्भ में रासमण्डल को त्यागकर श्रीकृष्ण कौतुक पूर्वक एक कुञ्ज में छिपे हुये बैठे थे। मृगनयनों वाली गोपियों को आया देख शंकितभाव से (अपने आपको छिपाते हुये अपनी मनोहर चतुर्भुज मूर्त्ति को प्रकाशित किया। साधारण गोपियों ने केवलमात्र यही कहा कि, 'ये हमारे प्रेम के विषय श्रीकृष्ण नहीं है।' किन्तु श्रीमती राधा के प्रेम की कैसी आश्चर्यमय महिमा है! श्रीराधा के आगमन मात्र से ही कृष्ण चेष्टा करने पर भी अपनी उस चतुर्भुज मूर्त्ति को धारण नहीं कर पाये।

अनुभाष्य

२९३। गोवर्द्धनोपत्यकायां (परासौलीति ख्यातनाम्नां रासस्थल्या) बसन्तकाले रासारम्भविधौ (रासस्य आरम्भ-विधौ प्रवृत्तिकल्पे) कुञ्जे निलीयवसता (संलग्ना-वस्थितेन) हरिणा (श्रीकृष्णेन) मृगाक्षिगणैः (कुरङ्ग-नयनाभिः) गोपीभिः (प्रविष्टक नामारण्येपेठाख्ये) दृष्टं स्वं (आत्मान) गोपयितुं (बहवीभिस्ताभिः सर्वतः आवृतात् तस्मात् कुञ्जात सहसापसर्पणासम्भवात) उद्धर-धिया (उत्कृष्ट-बुद्धया) या चतुर्बाहुता सुष्ठ सन्दर्शिता, यस्य (कृष्णप्रणयमहिम्नः) श्रियाप्रभविष्णुना (कृष्णेन) अपि या चतुर्बाहुता रक्षितुं न शक्या आसीत—हन्त! (भोः!) राधायाः प्रणयस्य महिमा (माहात्म्यम्-एतादृग-चिन्त्यम्) (गौतमीये-'गोवर्द्धन-गिरौ रम्येस्थितं रासरसो-त्सुकम्।' भगवतोऽपि प्रेमाधीनत्वा त् प्रेमणोऽग्रे ऐश्वर्यं न तिष्ठतीति न शक्यते वक्तुं तस्य नित्यत्वात, किन्तु तिरोभवति)।

नन्द—जगन्नाथ मिश्र, यशोदा—शची—

सेइ ब्रजेश्वर—इहँ जगन्नाथ पिता।
सेइ ब्रजेश्वरी—इहँ शचीदेवी माता॥२९४॥

२९४। प० अनु०—श्रीव्रजेश्वर नन्द महाराज श्रीनव-द्वीप में पिता श्रीजगन्नाथ मिश्र तथा व्रजेश्वरी श्रीयशोदा माता श्रीशचीदेवी के रूप में अवतीर्ण हुई हैं।

व्रज के कानाइ-बलाइ—गौड़ के गौरनिताइ—

सेइ नन्दसुत—इँह चैतन्य-गोसाञि।
सेइ बलदेव—इँह नित्यानन्द-भाई॥२९५॥

२९५। प० अनु०—श्रीनन्दनन्दन श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीबलराम उनके भाई श्रीनित्यानन्द प्रभु के रूप में प्रकट हुये हैं।

मधुररस के अतिरिक्त अन्य रसों में नित्यानन्द राम की गौरकृष्णसेवा—

वात्सल्य, दास्य, सख्य,—तिन भावमय।
सेइ नित्यानन्द—कृष्णचैतन्य-सहाय॥२९६॥

२९६। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीमन् महाप्रभु के प्रति वात्सल्य, दास्य तथा सख्य—इन तीन भावों की निष्ठा रखते हैं तथा श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के सहायक हैं।

प्रेम भक्ति दिया तेंहो भासाल जगते।
ताँर चरित्र-चित्र लोके ना पारे बुझिते॥२९७॥

२९७। प० अनु०—उन्होंने भी प्रेमभक्ति की बाढ़ में सम्पूर्ण जगत को डुबो दिया। उनके अलौकिक चरित्र को लोग नहीं समझ सकते।

भक्तावतार अद्वैत का शुद्धभक्ति-प्रचार—

अद्वैत-आचार्य-गोसाञि भक्त-अवतार।
कृष्ण अवतारिया कैला भक्तिर प्रचार॥२९८॥

२९८। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य प्रभु भक्त-अवतार है। उन्होंने श्रीकृष्ण को अवतरित कराके भक्ति का प्रचार किया।

अद्वैत की दो भावों से गौरकृष्णसेवा—

सख्य, दास्य,—दुइ भाव सहज ताँहार।
कभु प्रभु करेन ताँरे गुरु-व्यवहार॥२९९॥

२९९। प० अनु०—इनमें श्रीमन् महाप्रभु के प्रति सख्य तथा दास्य—यह दोनों भाव सहज रूप से विराजमान हैं। कभी-कभी श्रीमन् महाप्रभु उनके साथ गुरु जैसा व्यवहार करते हैं।

श्रीवासादि शुद्धभक्तों का दास्य—

श्रीवासादि यत महाप्रभुर भक्तगण।
निज निज भावे करेन चैतन्य-सेवन॥३००॥

३००। प० अनु०—श्रीवास आदि जितने भी श्रीमन् महाप्रभु के भक्त है, वे अपने-अपने भावों से श्रीचैतन्य महाप्रभु की सेवा करते हैं।

गदाधर-स्वरूप-रामानन्द-श्रीरूप आदि शक्तियों की मधुररस में गौरकृष्णसेवा—

पण्डित गोसाञि आदि याँर येइ रस।
सेइ सेइ रसे प्रभु हन ताँर वश॥३०१॥

३०१। प० अनु०—पण्डित गोसाईं आदि जिन-जिन भक्तों का जो रस है, श्रीमन् महाप्रभु भी उनके उसी-उसी रस के अनुरूप उनके वशीभूत होते हैं।

अनुभाष्य

२९६-३०१। इन सभी पद्यों में श्रीनित्यानन्द प्रभु तथा श्रीअद्वैताचार्य प्रभु के अप्राकृत परम चमत्कारमय गौरसेवा-भाव के वैचित्र्य का तारतम्य वर्णित हुआ है। गौः गः ११-१६—"भक्तरूपे गौरचन्द्रो यतोहसौ नन्द-नन्दनः। भक्तस्वरूपो नित्यानन्दो ब्रजे यः श्रीहलायुधः॥ भक्तावतार आचार्योऽद्वैतो यः श्रीसदाशिवः। भक्ताख्याः श्रीनिवासाद्या यतस्ते भक्तरूपिणः। भक्तशक्तिर्द्विजाग्रण्यः श्रीगदाधर-पण्डितः॥ श्रीमद्विश्वम्भराद्वैत नित्यानन्दावधू-तकाः। अत्र त्रयः समुन्नयो विग्रहाः प्रभवश्च ते। एको महाप्रभुर्ज्ञेयः श्रीचैतन्यो दयाम्बुधिः। प्रभु द्वौ श्रीयुतो नित्यानन्दाद्वैतो महाशयो गोस्वामिनो विग्रहाश्च ते द्विजश्च गदाधरः। पञ्चतत्वात्मका एते श्रीनिवासश्च पण्डितः॥ यदुक्तं तत्र गोस्वामी श्रीस्वरूपपदाम्बुजैः। त्रयोऽत्र विग्रहा ज्ञेयाः प्रभवश्चात्र ते त्रयः। एको महाप्रभुर्ज्ञेयो द्वौ प्रभु सम्मतौ सताम्॥" उसी में २३-२४ श्लोक—श्रीईश्वरपुरी शृंगाररस के, श्रीअद्वैताचार्य प्रभु दास्य और सख्य रस के तथा श्रीरङ्गपुरी शुद्ध वात्सल्यरस के सेवक थे। आदि ७म प:१०-१७ संख्या द्रष्टव्य।

ब्रज में मुरलीवदन गोपसुत श्यामलीला,
गौड़ में ब्राह्मण यतिवेशधारी कीर्त्तनविग्रह गौरलीला—

तिहँ श्याम,—वंशीमुख, गोपविलासी।
इहँ गौर—कभु द्विज, कभु त' संन्यासी॥३०२॥

३०२। प॰ अनु॰—व्रज में श्रीकृष्ण श्यामवर्ण, वंशीधारी तथा गोप बालक के रूप में विलास करते हैं। नवद्वीप में यह गौर वर्ण हुये हैं तथा कभी तो द्विज (ब्राह्मण) और कभी संन्यासी बनकर लीलाएँ करते हैं।

गोपीभावयुक्त कृष्ण का गौररूप में कृष्णप्रेमास्वादन—

अतएव आपने प्रभु गोपीभाव धरि'।
ब्रजेन्द्रनन्दने कहे 'प्राणनाथ' करि'॥३०३॥

३०३। प॰ अनु॰—अतएव स्वयं प्रभु गोपीभाव को धारण करके व्रजेन्द्रनन्दन को अपने 'प्राणनाथ' कहकर पुकारते हैं।

रूपानुगजनों के आनुगत्य के अतिरिक्त गौराङ्ग महाप्रभु के विप्रलम्भरस में अवगाहन करना दुष्कर—

सेइ कृष्ण, सेइ गोपी,—परम विरोध।
अचिन्त्य चरित्र प्रभुर अति सुदुर्बोध॥३०४॥

३०४। प॰ अनु॰—वही कृष्ण हैं तथा वही गोपी है, इसमें परम विरोध है। श्रीमन् महाप्रभु का अचिन्त्य चरित्र समझना अत्यन्त कठिन है।

अनुभाष्य

३०३-३०४। आदि, १७ प: २७६-२७८ संख्या द्रष्टव्य है।

गौर का परम वैचित्र्यचमत्कारमय
अचिन्त्यभाव तर्कातीत—

इथे तर्क करि' केह ना कर संशय।
कृष्णेर अचिन्त्य शक्ति एइ मत हय॥३०५॥

३०५। प॰ अनु॰—इस विषय में किसी प्रकार का तर्क करके कोई भी सन्देह न करे। क्योंकि, श्रीकृष्ण की अचिन्त्य शक्ति ऐसी ही होती है।

अचिन्त्य, अद्‌भुत कृष्णचैतन्य-विहार।
चित्र भाव, चित्र गुण, चित्र व्यवहार॥३०६॥

३०६। प॰ अनु॰—श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की लीलाएँ अचिन्त्य, अद्‌भुत है। उनके भाव, गुण और लीलाएँ सब कुछ विचित्र हैं।

तार्किकों की दुर्गति—
"संशयात्मा विनश्यति"—

तर्के इहा नाहि माने येइ दुराचार।
कुम्भीपाके पचे सेइ, नाहिक निस्तार॥३०७॥

३०७। प॰ अनु॰—जो दुराचारी कुतर्क के वशीभूत होकर उनकी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव को नहीं मानता, वह कुम्भीपाक नामक नरक में सड़ता है तथा उसका कभी भी उद्धार नहीं होता।

अनुभाष्य

३०७। कुम्भीपाक—एक विशेष प्रकार का नरक। पापी व्यक्ति को 'कुम्भी' नामक पात्र में पकाया जाता है। (भा: ५/२६/१३) "यस्तिह वा उग्रः पशुन् पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितमूत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैल उपरन्धयति।" प्राणियों का वध करने वाला यम द्वारा दण्डित जीव कुम्भीपाक नामक नरक में सड़ता है।

भक्तिरसामृतसिन्धु की स्थायीभाव लहरी में(९३)—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥३०८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३०८। किसी तत्त्व की प्रकृति के अतीत होना ही उसका अचिन्त्य लक्षण है। तर्क—प्राकृत है अतएव वह तत्त्व को स्पर्श तक भी नहीं कर सकता। अतएव किसी भी अचिन्त्यभाव में तर्क मत करना।

सप्तदश परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

३०८। नदी-पर्वत-कानन आदि भूतल पर स्थित पदार्थों के नामों को श्रवण करने की इच्छा रखने वाले धृतराष्ट्र के प्रश्न के उत्तर में सञ्जय ने कहा,—

ये भावाः अचिन्त्याः (प्राकृत-भोगमय-चिन्तातीताः) खलु (निश्चय) तान् अचिन्त्यभावान् तर्केण न योजयेत् (ते हेतुभिः न हन्तव्याः इत्यर्थः); यत च प्रकृतिभ्यः परं (भिन्नम् अतीतम् अप्राकृतमिति यावत्) तत एव अचिन्त्यस्य लक्षणम्।

श्रद्धावान् को ही सेवा की प्राप्ति—

अद्‌भुत चैतन्यलीलाय याहार विश्वास।
सेइ जन याय चैतन्येर पद-पाश॥३०९॥

३०९। प० अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की अद्‌भुत लीलाओं में जिनका विश्वास है, वही व्यक्ति श्रीमन् महाप्रभु के चरणकमलों को प्राप्त करता है।

प्रसङ्गे कहिल एइ सिद्धान्तेर सार।
इहा येइ शुने, शुद्धभक्ति हय तार॥३१०॥

३१०। प० अनु॰—प्रसङ्गवशतः यहाँ सभी सिद्धान्तों के सारस्वरूप सिद्धान्त का वर्णन किया गया है, इसको जो कोई भी श्रवण करता है, उसको शुद्ध-भक्ति की प्राप्ति होती है।

पुनरावृत्ति—

लिखित ग्रन्थेर यदि करि अनुवाद।
तबे से ग्रन्थेर अर्थ पाइबे आस्वाद॥३११॥

३११। प० अनु॰—यदि लिखे हुए ग्रन्थ का अन्त में संक्षेप रूप से वर्णन कर दिया जाये तो ग्रन्थ में कहे हुये विषय को एक साथ आस्वादन किया जा सकता है।

भागवत में व्यास की रीति
अनुसार परिच्छेद-वर्णन—

अतएव भागवते व्यासेर आचार।
कथा कहि' अनुवाद करे बार-बार॥३१२॥

३१२। प० अनु॰—अतएव श्रीमद्‌भागवत में श्री व्यास ने ऐसा ही आचरण किया है। कथा को लिखने के उपरान्त अन्त में बार-बार संक्षेप में वर्णन किया है।

अनुभाष्य

३१२। श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने श्रीमद्‌भागवत के शेषभाग द्वादश स्कन्ध में ५२ श्लोकों में प्रारम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण भागवत को जिस प्रकार संक्षेप में वर्णन करके ग्रन्थ समाप्त किया है, उस महाजन द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण करते हुये ग्रन्थकार ने भी श्रीचैतन्यमहाप्रभु की आदिलीला का सार संक्षेप रूप में वर्णन किया है।

संक्षेप में सभी परिच्छेदों का
वर्णन करते हुए पुनरावृत्ति—

ताते आदि-लीलार करि परिच्छेद गणन।
प्रथम परिच्छेदे कैल 'मङ्गलाचरण'॥३१३॥

३१३। प० अनु॰—इसलिये आदि-लीला के समस्त परिच्छेदों में जो कुछ वर्णन हुआ है, उसे यहाँ संक्षेप में वर्णन करता हूँ। प्रथम परिच्छेद में मङ्गलाचरण किया गया है।

द्वितीय परिच्छेदे 'चैतन्यतत्त्व-निरूपण'।
स्वयं भगवान् येइ ब्रजेन्द्रनन्दन॥३१४॥
तिँह त' चैतन्य-कृष्ण—शचीर नन्दन।
तृतीय परिच्छेदे जन्मेर 'सामान्य' कारण॥३१५॥

३१४-३१५। प० अनु॰—द्वितीय परिच्छेद में चैतन्य-तत्त्व का निरूपण किया गया है। स्वयं भगवान् श्रीब्रजेन्द्र-नन्दन श्रीशचीमाता के पुत्र कृष्ण-चैतन्य के रूप में अतवीर्ण हुये हैं। तृतीय परिच्छेद में उनके अवतरित होने के 'सामान्य' कारण का वर्णन किया गया है।

तँहि मध्ये प्रेमदान—'विशेष' कारण।
युगधर्म—कृष्णनाम-प्रेम-प्रचारण॥३१६॥

३१६। प० अनु॰—उस 'सामान्य' कारण में 'प्रेम-

दान' विशेष कारण हैं, जिसमें महाप्रभु ने युगधर्म-कृष्ण नाम तथा प्रेम के प्रचार का आस्वादन किया है।

चतुर्थे कहिल जन्मेर 'मूल' कारण।
स्वमाधुर्य-प्रेमानन्दरस-आस्वादन॥३१७॥

३१७। प० अनु०—चतुर्थ परिच्छेद में अवतरित होने के 'मूल' अथवा मुख्य कारण स्वमाधुर्य-प्रेमानन्द-रस-आस्वादन का वर्णन किया गया है।

पञ्चमे 'श्रीनित्यानन्द'-तत्त्व निरूपण।
नित्यानन्द हैला राम रोहिणीनन्दन॥३१८॥

३१८। प० अनु०—पञ्चम परिच्छेद में श्रीनित्यानन्द प्रभु के तत्त्व का निरूपण हुआ है। श्रीरोहिणीनन्दन बल-राम ही श्रीनित्यानन्द के रूप में अवतरित हुए।

षष्ठ परिच्छेदे 'अद्वैत-तत्त्वेर' विचार।
अद्वैत-आचार्य—महाविष्णु-अवतार॥३१९॥

३१९। प० अनु०—षष्ठ परिच्छेद में श्रीअद्वैततत्त्व का विचार हुआ है। श्रीअद्वैताचार्य प्रभु श्रीमहाविष्णु के अवतार हैं।

सप्तम परिच्छेदे 'पञ्चतत्त्वेर' आख्यान।
पञ्चतत्त्व मिलि' यैछे कैल प्रेमदान॥३२०॥

३२०। प० अनु०—सप्तम परिच्छेद में पञ्चतत्त्व का वर्णन करते हुए यह भी वर्णित हुआ है कि कैसे उन सबने एक-साथ मिलकर अपूर्वरूप से प्रेमदान किया है।

अष्टमे 'चैतन्यलीला-वर्णन'-कारण।
एक कृष्णनामेर महा-महिमा-कथन॥३२१॥

३२१। प० अनु०—अष्टम परिच्छेद में चैतन्यलीला के वर्णन का कारण तथा एक कृष्णनाम ग्रहण करने की अत्यधिक महिमा का वर्णन किया गया है।

नवमेते 'भक्तिकल्पवृक्षेर वर्णन'।
श्रीचैतन्य-माली कैल वृक्ष आरोपण॥३२२॥

३२२। प० अनु०—नवम परिच्छेद में 'भक्ति-कल्प-वृक्ष का वर्णन' करते हुए यह बताया गया है कि कैसे श्रीचैतन्य महाप्रभु रूपी माली ने इस वृक्ष का आरोपण किया है।

दशमेते मूल-स्कन्धेर 'शाखादि-गणन'।
सर्व शाखागणेर यैछे फल-वितरण॥३२३॥

३२३। प० अनु०—दशम परिच्छेद में मूल स्कन्ध की शाखाओं को गिनाया है और जैसे-जैसे उन्होंने प्रेम फल का वितरण किया, उसका भी वर्णन किया गया है।

एकादशे 'नित्यानन्दशाखा-विवरण'।
द्वादशे 'अद्वैतस्कन्ध शाखार वर्णन'॥३२४॥

३२४। प० अनु०—एकादश परिच्छेद में "नित्यानन्द शाखा का विवरण प्रस्तुत किया गया है। द्वादश परिच्छेद में अद्वैत स्कन्ध रूपी शाखा का वर्णन हुआ है।

त्रयोदशे महाप्रभुर 'जन्म-विवरण'।
कृष्णनाम सह यैछे प्रभुर जनम॥३२५॥

३२५। प० अनु०—त्रयोदश परिच्छेद में श्रीकृष्ण-नाम के साथ आविर्भूत होने वाले श्रीमन् महाप्रभु के जन्म का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्दशे 'बाल्यलीला'र किछु विवरण।
पञ्चदशे 'पौगण्डलीलार' संक्षेपे कथन॥३२६॥

३२६। प० अनु०—चतुर्दश परिच्छेद में बाल्यलीला का कुछ विवरण प्रस्तुत हुआ है। पञ्चदश परिच्छेद में 'पौगण्ड लीला' का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

षोड़शे कहिल 'कैशोरलीला'र उद्देश्य।
सप्तदशे 'यौवनलीला' कहिल विशेष॥३२७॥

३२७। प॰ अनु॰—षोड़श परिच्छेद में 'कैशोर लीला' का उद्देश्य तथा सप्तदश परिच्छेद में यौवन लीला का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

एइ सप्तदश प्रकार 'आदि-लीला'र प्रबन्ध।
द्वादश प्रबन्ध, ताते ग्रन्थ मुखबन्ध॥३२८॥

३२८। प॰ अनु॰—इन सप्तदश परिच्छेदों में आदि लीला का वर्णन है। पहले वाले द्वादश परिच्छेद सम्पूर्ण ग्रन्थ के मुखबन्ध अर्थात् भूमिका स्वरूप है।

पञ्चप्रबन्धे पञ्चवयस चरित।
संक्षेपे कहिल अति,—ना कैल विस्तृत॥३२९॥

३२९। प॰ अनु॰—पाँच प्रबन्धों में अर्थात् त्रयोदश से सप्तदश परिच्छेद में श्रीमन् महाप्रभु की आयु के अनुरूप पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

अनुभाष्य

३२९। आदिलीला में सप्तदश परिच्छेद या प्रबन्ध हैं, उनमें से प्रथम द्वादश परिच्छेद ग्रन्थ के मुखबन्धन व उपक्रमणिका मात्र है। परवर्ती त्रयोदश से सप्तदश परिच्छेद पर्यन्त 'जन्म', 'बाल्य', 'पौगण्ड', 'कैशोर' और 'युवा'—पाँच प्रकार की आयु की कथा पाँच प्रबन्धों के रूप में पाँच परिच्छेद हैं।

वृन्दावन दास इहा 'चैतन्यमङ्गले'।
विस्तारि' वर्णिला नित्यानन्द-आज्ञा-बले॥३३०॥

३३०। प॰ अनु॰—श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने अपने 'श्रीचैतन्यमङ्गल' में श्रीनित्यानन्दप्रभु की आज्ञा के बल से इन सभी लीलाओं का विस्तृत रूप से वर्णन किया है।

गौरलीला अपार—

श्रीकृष्णचैतन्यलीला—अद्भुत, अनन्त।
ब्रह्मा-शिव-शेष याँर नाहि पाय अन्त॥३३१॥

३३१। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु की लीला अद्भुत और अनन्त है। ब्रह्मा-शिव-शेष आदि भी उनकी लीलाओं का पार नहीं पा सकते।

अनुभाष्य

३३१। मध्य, २१श प:१० और १२ संख्या तथा भा: २/७/४१ और १०/१४/७ इत्यादि श्लोक द्रष्टव्य हैं।

गौरलीला के श्रवण कीर्त्तन करने वाले को चरम मङ्गल की प्राप्ति—

ये येइ अंश कहे, शुने सेइ धन्य।
अचिरे मिलिबे तारे श्रीकृष्णचैतन्य॥३३२॥

३३२। प॰ अनु॰—जो जिस अंश को भी कहेगा, या सुनेगा, वही धन्य है। उन्हें शीघ्र ही श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की प्राप्ति होगी।

वृन्दावनवासी भक्तों की वन्दना—

श्रीकृष्णचैतन्य, अद्वैत, नित्यानन्द।
श्रीवास-गदाधरादि यत भक्तवृन्द॥३३३॥
यत यत भक्तगण वैसे वृन्दावने।
नम्र हञा शिरे धरों सबार चरणे॥३३४॥

३३३-३३४। प॰ अनु॰—श्रीकृष्णचैतन्य, श्री अद्वैताचार्य, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीवास, गदाधर आदि जितने भी भक्त हैं। तथा जो-जो भक्त श्रीधाम वृन्दावन में वास कर रहे हैं, मैं अत्यधिक नम्र होकर उन सभी के श्रीचरणकमलों को अपने मस्तक पर धारण करता हूँ।

गुरुप्रणाम—

श्रीस्वरूप-श्रीरूप-श्रीसनातन।
श्रीरघुनाथदास, आर श्रीजीव-चरण॥३३५॥
शिरे धरि वन्दों, नित्य करों ताँर आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥३३६॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में यौवनलीला-सूत्रवर्णन नामक सप्तदश परिच्छेद एवं आदि लीला समाप्त।

३३५-३३६। प० अनु०—श्रीस्वरूप-श्रीरूप श्री सनातन, श्रीरघुनाथदास तथा श्रीजीव गोस्वामी के श्रीचरण कमलों को अपने मस्तक पर धारण करके उनकी वन्दना करता हूँ, तथा उन्हीं श्रीचरणकमलों की प्राप्ति की आशा करते हुए मैं कृष्णदास श्रीचैतन्यचरितामृत का गान करता हूँ।

अनुभाष्य

३३५। श्रीस्वरूपदामोदर; मध्य १०म पः १०२-१२७ संख्या और अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

३१३-३२७। ३१३ संख्या से ३२७ संख्या पर्यन्त परिच्छेद गणना लिखी गई है।

प्रथम परिच्छेदमें—गुर्वादिवन्दन रूपी मङ्गलाचरण।
द्वितीयमें—गौरतत्त्व निर्देश रूपी मङ्गलाचरण।
तृतीयमें—अवतरित होने का सामान्य कारण; प्रेमदान।
चतुर्थमें—अवतरित होने का मूल कारण।
पञ्चममें—नित्यानन्द-तत्त्वनिरूपण।
षष्ठमें—अद्वैततत्त्व-निर्देश।
सप्तममें—पञ्चतत्त्व-निर्देश और प्रचार।
अष्टममें—उपक्रमणिका और नाम-महिमा।
नवममें—भक्तिकल्पवृक्ष के वर्णन का प्रचार
दशममें—गौरगणों की संख्या।
एकादशमें—नित्यानन्द के संगी भक्तों का वर्णन।
द्वादशमें—अद्वैत और गदाधर के संगी भक्तों का वर्णन।
त्रयोदशमें—गौरजन्मलीला।
चतुर्दशमें—बाल्यलीला।
पञ्चममें—पौगण्डलीला।
षोड़शमें—कैशोरलीला।
सप्तदशमें—यौवनलीला।

सप्तदश परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

अष्टम परिच्छेद

कथासार—इस परिच्छेद में श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु की महिमा का वर्णन इस प्रकार हुआ है कि, जन्म-जन्म तक कृष्णनाम करने पर भी नामापराध रहने से प्रेमधन की प्राप्ति नहीं होती। इससे यह समझना होगा कि, नामापराधी के सात्त्विक विकारादि केवल छलमात्र है। जो निष्कपट भाव से श्रीचैतन्य-नित्यानन्द का नाम लेकर आनन्द को प्रकटित करते हैं, उनके हृदय को दोनों प्रभु साक्षात् निरपराध कर देते हैं। तब उनके कृष्णनाम करने से प्रेम का उदय हो आता है। श्रीवृन्दावन दास ठाकुर द्वारा रचित श्रीचैतन्यभागवत में उनके सूत्रधृत शेषलीला का वर्णन होना बाकी था, श्री-वृन्दावनवासी वैष्णव वृन्द की आज्ञा से एवं श्रीमदन-मोहन की आज्ञा माला प्राप्तकर श्रील कविराज गोस्वामी ने इस ग्रन्थ की रचना की।

(अःप्रःभाः)

श्रीगौर महाप्रभु की इच्छा से नितान्त अयोग्य व्यक्ति को भी योग्यता की प्राप्ति—

वन्दे चैतन्यदेवं तं भगवन्तं यदिच्छया।
प्रसभं नर्त्त्यते चित्रं लेखरंगे जड़ोऽप्ययम्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनकी इच्छा से मूर्ख चित्रपुत्तलिका की भाँति होते हुए भी, मैंने अचानक इस ग्रन्थ-लेखनरूप नृत्यकार्य का आरम्भ किया है, उन भगवान् श्रीचैतन्यदेव की मैं वन्दना करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यदिच्छया (यत् यस्य चैतन्यदेवस्य इच्छया) अयम् (अहं कृष्णदासः) जड़ोऽपि (जड़सदृशोऽपि) लेखरंगे (ग्रन्थरचन-क्रीड़ाकार्ये) प्रसभं (हठात्) चित्रम् (आश्चर्यं यथा स्यात् तथा) नर्त्त्यते, तं कृपामयं भगवन्तम् चैतन्यदेवम् अहं वन्दे (प्रणमामि)।

जय जय श्रीकृष्णचैतन्य गौरचन्द्र।
जय जय परमानन्द जय नित्यानन्द॥२॥
जय जयाद्वैताचार्य जय कृपामय।
जय जय गदाधर पण्डितमहाशय॥३॥
जय जय श्रीवासादि यत भक्तगण।
प्रणत हइया वन्दों सबार चरण॥४॥
मूक कवित्व करे याँ-सबार स्मरणे।
पंगु गिरि लंघे, अन्ध देखे तारागणे॥५॥

२-५। प० अनु०—श्रीकृष्णचैतन्य गौरचन्द्र की जय हो, जय हो। परमानन्दस्वरूप श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो। कृपामय अद्वैताचार्य की जय हो, जय हो। श्रीगदाधर पण्डित महाशय की जय हो, जय हो तथा श्रीवासादि सभी भक्तवृन्द की जय हो, जय हो। मैं प्रणत होकर इन सबके श्रीचरणों की वन्दना करता हूँ, जिनके स्मरण मात्र से मूक व्यक्ति भी कविता करने लगता है, पँगु व्यक्ति भी पर्वत को लांघ लेता है एवं अन्धा व्यक्ति भी तारों को देखने में सक्षम हो जाता है।

पञ्चतत्त्व की महिमा को न मानकर पृथक् बुद्धि से गौर अथवा कृष्णपूजा घोर अपराध—

ए-सब ना माने येइ पण्डितसकल।
ता-सबार विद्यापाठ भेक-कोलाहल॥६॥
एइ सब ना माने येबा, करे कृष्णभक्ति।
कृष्ण-कृपा नाहि तारे, नाहि तार गति॥७॥
पूर्वे येन जरासन्ध-आदि राजागण।
वेद-धर्म करि' करे विष्णुर पूजन॥८॥

६-८। प० अनु०—जो पण्डितगण पञ्चतत्त्व को नहीं मानते, उन सबका विद्यापाठ मेंढ़क के कोलाहल के समान है। पञ्चतत्त्व को न मानकर जो कृष्णभक्ति का अनुष्ठान करते हैं उनपर श्रीकृष्ण की कृपा कभी नहीं होती और न ही उनका कभी उद्धार होता है। जिस प्रकार

पहले जरासन्ध आदि राजाओं के द्वारा वेदधर्म के अनुसार विष्णुपूजन किये जाने पर भी उन पर कृष्ण की कृपा नहीं हुई।

अमृतप्रवाह भाष्य

६। एइ सब—इस पञ्चतत्त्व को न मानकर जो लोग कृष्णभक्ति का अनुष्ठान करते हैं, उन सब पर कृष्णकृपा नहीं होती।

अनुभाष्य

७। तारे—उनके प्रति।

कृष्णभक्ति बिना गौरभक्ति, गौरभक्ति बिना कृष्णभक्ति—अभक्ति—

कृष्ण नाहि माने, ताते दैत्य करि' मानि।
चैतन्य ना मानिले तैछे दैत्य तारे जानि॥९॥

९। प० अनु०—क्योंकि वे श्रीकृष्ण को नहीं मानते थे इसलिए उन्हें दैत्य माना जाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति श्रीचैतन्य महाप्रभु को नहीं मानते, उन्हें भी दैत्य के रूप में जाना जाता है।

अनुभाष्य

९। जिस प्रकार से विष्णु परतत्त्व स्वयंरूप श्रीकृष्ण का भजन परित्याग करके उनके प्रति विद्वेष या उदासीनतावश जरासन्ध आदि की वेदमन्त्र के द्वारा विष्णुपूजा भी आसुरिक धर्म में ही पर्यवसित हो गयी थी, उसी प्रकार से अणुचित्धर्म अथवा श्रीचैतन्य महाप्रभु की दासता को विस्मृत होकर जीवों के द्वारा विष्णुपूजा की जो चेष्टा है, वह भी उपद्रवमय आसुरिक धर्म या अवैष्णवता मात्र है।

प्रभु की संन्यास लीला का कारण—

मोरे ना मानिले सब लोक हबे नाश।
इथे लागि' कृपार्द्र प्रभु करिल संन्यास॥१०॥
संन्यासी-बुद्धये मोरे करिबे नमस्कार।
तथापि खंडिबे दुःख, पाइबे निस्तार॥११॥

१०-११। प० अनु०—'मुझे न मानने से सभी लोगों का नाश हो जायेगा।' इसी कारण कृपा हेतु द्रवीभूत होकर प्रभु ने संन्यास ग्रहण किया। मुझे संन्यासी के वेष में देखकर सभी मुझे नमस्कार करेंगे। इससे उनके दुःख दूर हो जायेंगे एवं उनका उद्धार हो जायेगा।

अनुभाष्य

११। श्रीचैतन्यचन्द्र श्रीराधाकृष्णतत्त्व से अभिन्न वस्तु हैं। जो जनसमुदाय अज्ञतावश निज-निज भोगमय जड़ासक्ति के साथ श्रीगौरसुन्दर की लीलाओं को समान मानकर उन्हें समझने में असमर्थ रह गये थे, उन सबकी असुविधा का चिन्तन करके श्रीगौरहरि ने स्वयं लोगों के नेत्रों के समक्ष यतिधर्म ग्रहणकर निर्बोध जनसमुदाय के प्रति दया को प्रकाशित किया।

महावदान्य श्रीगौर में अभक्ति—आसुरिक-वृत्ति—

हेन कृपामय चैतन्य ना भजे येइ जन।
सर्वोत्तम हइलेओ तारे असुरे गणन॥१२॥

१२। प० अनु०—ऐसे कृपामय श्रीचैतन्य महाप्रभु का जो व्यक्ति भजन नहीं करता, सर्वोत्तम होने पर भी उनकी गिनती असुरों में की जाती है।

अनुभाष्य

१२। "जीव केवल कृष्णभजन करें"—श्रीचैतन्यचन्द्र की इस प्रकार की दया को उपलब्धि करने में भी जो लोग असमर्थ हैं, वे कितने भी जगत में श्रेष्ठ एवं विषयी लोगों के लिये आदरणीय क्यों न हो जायें, परन्तु वह निश्चय ही असुर अर्थात् विष्णुभक्ति-रहित अवैष्णव हैं। कृष्णभजन परित्याग करके श्रीचैतन्य के भजन में श्रीचैतन्य महाप्रभु की दया नहीं है—वह भजन कलिजात काल्पनिक है। उसी प्रकार निरीश्वर स्मार्त्त अथवा पंचोपासक-समाज के अनुगमन में क्षुद्र नश्वर स्वार्थ-सिद्धि हेतु विष्णुपूजा-प्रयासकारी की कृष्णचैतन्यात्मक छहतत्त्वों में से किसी एक तत्त्व को छोड़कर अन्य और एक के प्रति श्रद्धा अथवा पूजा, या श्रीकृष्णचैतन्यप्रभु को साधारण एक मर्त्त्यजीवश्रेष्ठ समझकर श्रीकृष्ण के साथ भेद-बुद्धि करके गौरनाम, गौरमन्त्र एवं गौरशक्ति के प्रति जो अश्रद्धा है, वे भी आसुरिक धर्म अर्थात् तत्त्व विरुद्ध कलिजात कल्पनामात्र है।

गौरनित्यानन्द के भजन-हेतु सभी को
कविराज गोस्वामी का सनिर्बन्ध अनुरोध—

अतएव पुनः कहों ऊर्द्धबाहु हञा।
चैतन्य-नित्यानन्द भज कुतर्क छाड़िया॥१३॥

१३। प० अनु०—अतः भुजाओं को ऊपर उठाकर फिर से कह रहा हूँ कि, कुर्तक को छोड़कर श्रीचैतन्य-नित्यानन्द का भजन कीजिये।

प्रत्यक्ष एवं अनुमानवादी तार्किक को भी उपदेश—

यदि वा तार्किक कहे,—तर्क से प्रमाण।
तर्कशास्त्रे सिद्ध येइ, सेइ सेव्यमान॥१४॥

१४। प० अनु०—तर्क करनेवाला यदि कोई कहे कि तर्क ही प्रमाण है तो तर्कशास्त्र के द्वारा जो सिद्ध हुआ है, वही सेव्यमान (सेवनयोग्य) है।

श्रीगौर हरि की दया समस्त दया की अपेक्षा अधिक चमत्कारी—

श्रीकृष्णचैतन्य-दया करह विचार।
विचार करिले चित्ते पाबे चमत्कार॥१५॥

१५। प० अनु०—श्रीकृष्णचैतन्य की दया का विचार कीजिये। विचार करने से हृदय में चमत्कार का अनुभव होगा।

अनुभाष्य

१४-१५। मानवसमूह अपनी-अपनी भोगमयी संकीर्ण बुद्धि के बल पर दया के एक-एक आदर्श की कल्पना करते हैं। परन्तु श्रीचैतन्य-चन्द्र की दया ऐसी नहीं है।

तर्कशास्त्र पाठ करके मनुष्य को यह धारणा होती है कि, स्वरूप निर्धारण एवं सत्य के उद्घाटन में तर्क के समान और कोई वृत्ति समर्थ नहीं है। अतः तर्क की चपेट में आकर जीव यही सोचते हैं कि, तर्क ही एकमात्र पृष्ठपोषक एवं पालक के स्थान पर अधिकार रखता है। किन्तु जिस नींव के ऊपर तर्क प्रतिष्ठित है, उसकी सूक्ष्म आलोचना करने पर बुद्धिमान जीव जान सकते हैं कि, उसके लौकिक ज्ञानेन्द्रियसमूह भगवद्-विषय की ओर अनुधावन करने में कितने दुर्बल, कितना ही असमर्थ एवं अभाव-विशिष्ट हैं। अनेक समय जीव असत्य को ही तर्कसिद्ध सत्य के रूप में स्थिर करते हैं; इसलिये कुर्तक के फलस्वरूप उसे शृगाल-योनि की प्राप्ति होती है।

ऐसा होने पर भी जो लोग प्रधानतः प्रत्यक्ष एवं अनुमान को ही नींव अथवा आश्रय मानकर यथार्थ आश्रय के निर्धारण में प्रस्तुत हैं, उन सबको सम्बोधित करते हुये श्री कविराज गोस्वामी कहते हैं कि, जिनमें दृष्टि है, विचार करने की शक्ति है, जिन्होंने सर्वविध दया के यावतीय चित्रन का अनुभव किया है, अथवा देखने के लिये सामर्थ्य और सुयोग को प्राप्त किया है, वे सभी प्रकार के दया की सूची बनाकर श्रीगौरहरि की दया के साथ तुलना करने पर जान पायेंगे कि, श्रीगौरहरि की दया किसी सृष्टवस्तु में या सृष्टिकर्त्ता में या अवतारा-वली में या अवतारी में भी (श्रीकृष्ण में भी) नहीं है। उदार-विग्रह श्रीगौरहरि की दया निश्चित ही सबसे अधिक विस्मय और चमत्कारिता को आह्वान करती है।

अपराध रहने से असंख्य बार
श्रीकृष्ण का श्रवण-कीर्त्तन भी वृथा—

बहु जन्म करे यदि श्रवण, कीर्त्तन।
तबु त' ना पाय कृष्णपदे प्रेमधन॥१६॥

१६। प० अनु०—बहुत जन्म तक भी यदि कोई श्रवण, कीर्तन करे। तब भी उसे श्रीकृष्णचरणों में प्रेमधन की प्राप्ति नहीं होती।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६। दसविध नामापराधयुक्त पुरुष यद्यपि अनेक जन्म श्रवण एवं कीर्त्तन करते हैं, तब भी श्रीकृष्णचरण में प्रेमधन की प्राप्ति नहीं कर पाते।

अनुभाष्य

१६। श्रीचैतन्यचरण का आश्रय न करके यदि कोई श्रवण-कीर्त्तनाख्या भक्ति का आश्रय करते हैं, तो अनेक जन्मों में भी उनके लिये कृष्ण-प्रेम प्राप्ति की सम्भावना

नहीं है। श्रीचैतन्यचन्द्र की शिक्षानुसार जो लोग तृण से भी सुनीच है, तरु की भाँति सहनशीलता रूपी गुण से विशिष्ट है, स्वयं अमानी होकर दूसरों का सम्मानपूर्वक किसी प्रकार प्राकृत अभिमान में व्यस्त नहीं होते, वे सब दसविध अपराधों के हाथों से मुक्त होकर अनुक्षण कृष्णनाम ग्रहण करने में समर्थ होते हैं एवं प्रेमलाभ करते हैं।

तात्पर्य यह है कि, जीव—श्रीकृष्ण-सेवा-विमुख जड़-इन्द्रिय की तृप्ति अथवा नश्वर स्वार्थसिद्धि-हेतु जड़ इन्द्रिय के द्वारा स्वीकार्य वस्तुविशेष की संज्ञा या साधारण जड़ीय अक्षरों की भाँति वाचक एवं वाच्य-रूप कृष्णनाम और नामी श्रीकृष्ण में भेदबुद्धि स्थापनकर अपने आपको श्रीनाम-प्रभु के नित्यदास न जानकर असंख्य बार अपराधयुक्त नामादि के उच्चारण करने पर भी शुद्ध साधन-भक्ति-लभ्य श्रीकृष्णप्रेम को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। हःभःविः ११श विः २८९ श्लोकधृत पद्म-वचन—"नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा, शुद्धं वा शुद्धवर्णं व्यवहितरहितं तारयत्येव सत्यम्। तच्चेद्देह-द्रविण-जनता-लोभ-पाषण्ड मध्ये निक्षिप्तं स्यान्न फलजनकं शीघ्र-मेवात्र विप्र॥" भःरःसिः पूर्व २य लः—"अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेत्ग्राह्यमिन्द्रियैः। सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥"

श्रीकृष्ण में प्रेमभक्ति—सुदुर्ल्लभा—
(भःरःसिः १।१।३६ तन्त्रवचन)

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्ल्लभा॥१७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१७। ज्ञानचेष्टा के द्वारा सहज ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है और यज्ञादि पुण्य-कर्मों के द्वारा स्वर्गभोगादि सुलभ हो जाते हैं; परन्तु सहस्त्र-सहस्त्र साधन करने पर भी हरिभक्ति से प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि, साधन के साथ और भी कुछ प्रक्रियाएँ (शुद्धभक्त का दास्य एवं परतत्त्व का सम्बन्ध-ज्ञान) है, जिन्हें अपनाने से हरिभक्ति की प्राप्ति होती है।

जीवों में भाव अथवा रति से पहले तक ही श्रीकृष्ण का मुक्ति प्रदान और रति देखने पर प्रेमभक्तिदान—

कृष्ण यदि छुटे भक्ते भुक्ति मुक्ति दिया।
कभु भक्ति ना देन राखेन लुकाइया॥१८॥

१८। प॰ अनु॰—भक्ति का साधन करने पर भी भुक्तिमुक्ति की इच्छा करने वाले भक्तों को श्रीकृष्ण भुक्ति-मुक्ति प्रदानकर उससे दूर चले जाते हैं, परन्तु भक्ति सहज में नहीं देते, उसे छिपाकर रखते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१८। यदि भक्तवृन्द भुक्तिमुक्ति की आशाएँ रखते हैं, तो श्रीकृष्ण शुद्धभक्तितत्त्व को छिपाकर उन्हें भुक्तिमुक्ति देकर अवसर प्राप्त करते हैं अर्थात् उससे दूर चले जाते हैं।

छुटे—छोड़कर चले जाते हैं।

श्रीकृष्ण के साथ रस-सम्बन्ध न होने से मुक्तिमात्र-लाभ—
(श्रीमद्भागवत ५.६.१८)

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदुनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किंकरो वः।
अस्त्वेवमंग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥१९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९। श्रीनारद ने कहा,—हे वत्स युधिष्ठिर! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तुम सबके एवं यादवों के सम्बन्ध में कभी पति, गुरु, देवता, प्रियबन्धु, कुलपति और कभी किंकर (दास) भी बन जाते हैं। यहाँ यही जानने योग्य है कि श्रीमुकुन्द भजनशील लोगों को सहज में 'मुक्ति' तो प्रदान कर देते हैं, किन्तु जिनकी भजन में निष्ठा चातुरी है, उसे देखकर वे उस भक्त को 'भक्तियोग' देते हैं।

अनुभाष्य

१९। ऋषभदेव के चरित्र-वर्णन-प्रसङ्ग में परीक्षित के प्रति श्रीशुकदेव के वचन—

हे राजन्, भगवान् मुकुन्दः (श्रीकृष्णः) भवतां (पांडवाना) यूदनां च पतिः (अधीश्वरः पालकः) गुरुः

(उपदेष्टा), दैवं (उपास्य-विग्रहः) प्रियः (आत्मा), कुलपति क्व च (कदाचित् दौत्यादिषु) वः (युष्माकं पांडवाना), किंकर (आज्ञावहः) च। हे अंग, एवम् अस्तु, (तथापि स भगवान्) भजतां (जनानां, सकाम-भक्तेभ्य इति यावत्) मुक्तिं ददाति, कर्हिचित् (कदापि) (तेभ्यः) भक्तियोगं न ददाति स्म।

किन्तु उदारविग्रह श्रीगौरसुन्दर की पामर तक को भी प्रेमभक्ति-प्रदान-लीला—

हेन प्रेम श्रीचैतन्य दिला यथा तथा।
जगाइ माधाइ पर्यन्त—अन्येर का कथा॥२०॥

२०। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने किन्तु ऐसे प्रेम को जहाँ-तहाँ प्रदान किया। अन्य का तो कहना ही क्या, जगाइ-माधाइ तक को भी यह प्रेम प्रदान किया।

अनुभाष्य

२०। जगाइ-मधाइ की भाँति पापिष्ठ एवं दुर्नीति-परायण व्यक्ति भी गौरकृपा प्राप्त कर पाप अथवा दुर्नीति परित्याग-पूर्वक किसी दिन श्रीकृष्णप्रेम को लाभ करेंगे।

सभी स्थानों पर श्रीमन् महाप्रभु की विचार-रहित निर्हेतुक निगूढ़ प्रेम-वितरण-लीला—

स्वतन्त्र-ईश्वर प्रेम—निगूढ़ भाण्डार।
बिलाइल यारे तारे, ना कैल विचार॥२१॥

२१। प॰ अनु॰—श्रीमन् महाप्रभु स्वतन्त्र ईश्वर हैं, इसलिए उन्होंने इस निगूढ़ प्रेम के भण्डार को बिना विचार किये सभी में वितरण किया।

गौर-निताइ की सेवा से ही कृष्णप्रेमोदय—

अद्यापिह देख चैतन्य-नाम येइ लय।
कृष्णप्रेमे पुलकाश्रु-विह्वल से हय॥२२॥
'नित्यानन्द' बलिते हय कृष्णप्रेमोदय।
आउलाय सकल अंग अश्रु-गंगा वय॥२३॥

२२-२३। प॰ अनु॰—अब भी देखा जाता है कि जो व्यक्ति श्रीचैतन्य महाप्रभु का नाम ग्रहण करते हैं, वह कृष्णप्रेम में पुलकाश्रु से विह्वल हो जाते हैं। 'नित्यानन्द प्रभु' का नाम उच्चरण करने से कृष्णप्रेम का उदय हो जाता है एवं गङ्गा की तरह अश्रु बहने लग जाते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

२१-२२। श्रीचैतन्य-अवतार का यह एक विशेष आश्चर्य विषय है कि, जो कोई भी इनके निकट आता है, उसे पात्रापात्र का विचार किये बिना ही श्रीमन् महाप्रभु निगूढ़ प्रेमभण्डार प्रदानकर देते हैं, क्योंकि वे स्वतन्त्र ईश्वर हैं। और भी देखो कि, श्रीचैतन्यचन्द्र जगद्गुरु के रूप में अवतीर्ण हुये हैं। इसलिए अपराधी हो या निरपराधी, जो शरणागत होकर 'हे गौराङ्ग! हे कृष्णचैतन्य!' कहकर उनका आह्वान करते हैं, वे कृष्णप्रेम से पुलकाश्रु द्वारा विह्वल हो जाते हैं।

अपराध होने से मुक्तकुल के उपास्य श्रीकृष्णनाम के उदय होने का अभाव—

'कृष्णनाम' करे अपराधेर विचार।
कृष्ण बलिले अपराधीर ना हय विकार॥२४॥

२४। प॰ अनु॰—'कृष्णनाम' अपराधों का विचार करते हैं इसलिए 'कृष्ण' उच्चारण करने से अपराधी व्यक्ति में कोई भी विकार नहीं होता।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४। नामापराध—यथा, पद्मपुराण में—(१) सतां निन्दा, (२) श्रीविष्णु-सकाशात् शिवनामादेः स्वातन्त्र्यम-ननम्, (३) गुर्ववज्ञा, (४) श्रुतितदनुयायिशास्त्रनिन्दा, (४) हरिनाम-महिम्नि अर्थवाद-मात्रमेतदिति मननम्, (६) तत्रप्रकारान्तरेणार्थ-कल्पनम्, (७) नामबलेन पापे प्रवृत्तिः, (८) अन्यशुभक्रियाभिर्नाम्नां साम्यमननम्, (९) अश्रद्दधाने विमुखे च नामोपदेशः, (१०) श्रुतेऽपि नाम्नां माहात्म्ये तत्राप्रीतिर्हि। (विस्तृत व्याख्या अनुभाष्य में द्रष्टव्य है) ये दस अपराध रहने से श्रीकृष्ण कृपा नहीं करते। अपराधी व्यक्ति को कृष्णनाम में सात्त्विक विका-रादि नहीं होते।

अनुभाष्य

२४। दस-नामापराध के सम्बन्ध में मूल श्लोक—

(१) "सतां निन्दा नाम्नः परमपराधं वितनुते यतः ख्यातिं यातं कथम् उ सहते तद्विगर्हाम्। (२) शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुण-नामादि-सकलं, धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः॥ (३) गुरोरवज्ञा (४) श्रुति-शास्त्र-निन्दनं (५) तथार्थवादो (६) हरिनाम्नि कल्पनम् (७) नाम्नोबलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥ (८) धर्म-व्रत-त्याग-हुतादि-सर्वशुभक्रिया-साम्यमपि प्रमादः। (९) अश्रद्दधानो विमुखेऽप्यशृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः॥ (१०) श्रुतेऽपिनाम-माहात्म्ये यः प्रीतिरहितो नरः। अहंममादि-परमो नाम्नि सोऽप्य-पराधकृत्॥"

(१) साधुवर्ग की निन्दा श्रीनाम के समक्ष परम अपराध का विस्तार करती है, जिन सब नामपरायण साधुओं से जगत में कृष्णनाम-महिमा की प्रसिद्धि होती है (प्रसारित होते हैं), उन सब साधुओं की निन्दा श्रीनाम-प्रभु कैसे सहन करेंगे? इसलिए साधुनिन्दा- नामापराध है; (२) इस संसार में मङ्गलमय श्रीविष्णु के नाम, रूप, गुण और लीलादि में जो व्यक्ति बुद्धि के द्वारा परस्पर भेद दर्शन करते हैं, अर्थात् प्राकृत वस्तुओं की भाँति श्रीविष्णु के नाम, रूप, गुण एवं लीला, नामी श्रीविष्णु से भिन्न है,—ऐसी धारणा करते हैं; अथवा शिवादि देवताओं को प्रतिद्वंदीज्ञान से श्रीविष्णु से स्वतन्त्र या भिन्नरूप से दर्शन करते हैं, उनके द्वारा उस नाम के छल में नामापराध निश्चय ही अहितकर है; (३) नाम-तत्त्व-वित् गुरु को प्राकृत एवं मर्त्त्यबुद्धि से असूया (हिंसा); (४) वेद एवं सात्वत-पुराणादि की निन्दा; (५) हरिनाम की महिमा को अतिस्तुति और (६) भगवन्नाम-समूह को काल्पनिक समझना नामापराध है; (७) जिसकी नाम के बल पर पाप आचरण करने की प्रवृत्ति होती है, अनेक यम, अनेक नियम, ध्यान-धारणादि कृत्रिम योग-प्रक्रियासमूह के द्वारा भी उस अपराधी की निश्चितरूप से शुद्धि नहीं होती; (८) धर्म, व्रत, त्याग अथवा होमादि प्राकृत शुभकर्मसमूह के साथ अप्राकृत नाम-ग्रहण को समान अथवा तुल्य ज्ञान करना भी अनवधान या प्रमाद है अर्थात् यह भी नामापराध है; (९) श्रद्धाहीन अथवा नामश्रवण में विमुख व्यक्ति को उपदेश दान भी मङ्गलमय श्रीनाम के समक्ष अपराध है; (१०) जो व्यक्ति नाम की अद्भुत महिमा को सुनकर भी 'मैं' और 'मेरा'—इसरूप देहात्म-बुद्धिविशिष्ट होकर श्रीनाम-ग्रहण-श्रवण में प्रीति अथवा आदर का प्रदर्शन नहीं करते, वे भी नामापराधी हैं।

कृष्णप्रीतिवाञ्छा के अतिरिक्त अपराधी के
पाषाण-हृदय में शुद्ध भाव नहीं, कृत्रिम मात्र—
(श्रीमद्भागवत २.३.२४)

तदश्मसारं हृदयं वतेदं
यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषुहर्षः॥२५॥

अमृतप्रवाहभाष्य

२५। हरिनाम ग्रहण करने पर भी जिनके हृदय में विकार, नेत्रों में जल एवं शरीर में रोमांच नहीं होता, उनका हृदय प्रस्तरमय अर्थात् कठिन अपराधों के कारण उनका हृदय भी कठिन हो गया है, जो नाम के द्वारा भी नहीं पिघलता।

अनुभाष्य

२५। श्रीसूत के मुख से श्रीशुक परीक्षित-संवाद सुनते-सुनते ऋषिवृन्द और भी अधिक सुनने के अभि-लाषी हुये, तब हरिकथा श्रवण-विमुख जनसमुदाय की निन्दा के प्रसङ्ग में श्रीसूत के प्रति शौनक-वचन—

यत् हृदयं गृह्यमाणैः (कीर्त्त्यमानैरपि) हरिनामधैयैः न विक्रियेत, वत (अहो!) तत् इदं हृदयं अश्मसारं (नामापराधवशात् अश्मवत् पाषाणखंडतुल्यः सारो यस्य तत्, (कठिनमेव) अथ यदा विकारो भवति, (तदा) नेत्रेजलं (अश्रुः) गात्ररूहेषु हर्षः (रोमांचः) भवति। (अति-गंभीराणां महाभागवतानां हरिनामभिः चित्तद्रवेऽपिवहिर-श्रुपुलकादिनां अदर्शनात् कृत्रिमाभ्यासानुकारपराणां पिच्छिलचित्तानां जड़ीय-प्रतिष्ठाभिलाषिणां सत्त्वाभासाद्य-भावेऽपि वहिः कपटाश्रु-पुलकादयो दृश्यन्ते। अतएव

बहुनामग्रहणेऽपि कनिष्ठाधिकारिणां विषयभोगप्रवणत्वात् कृत्रिम-चित्तद्रवभावो नामापराधलिंगमेवेति सन्दर्भः)।

श्रीमद्भागवत के 'गौड़ीय भाष्य' में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती टीका, तथ्य एवं विवृत्ति द्रष्टव्य है।

स्वप्रकाश नामप्रभु के द्वारा जिह्वा पर उदित होकर कृष्णप्रेम-प्रदान—

'एक' कृष्णनामे करे सर्वपाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥२६॥

२६। प० अनु०—'एक' कृष्णनाम सभी पापों का नाश कर देता है और प्रेम को उदय करानी वाली भक्ति को प्रकाशित कर देता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६। प्रेम के उदय कराने वाली जो साधनभक्ति है, उसे प्रकाशित करता है।

शुद्धनाम का फल तथा कृष्णप्रेम का लक्षण—

प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार।
स्वेद-कम्प-पुलकादि गद्गदाश्रुधार॥२७॥
अनायासे भवक्षय, कृष्णेर सेवन।
एक कृष्णनामेर फले पाइ एत धन॥२८॥

२७-२८। प० अनु०—प्रेम के उदय होने से स्वेद-कम्प, पुलक, तथा गद्गद् अश्रुधारा आदि प्रेम के विकार उत्पन्न होते हैं। संसार बन्धन अनायास छूट जाता है एवं श्रीकृष्ण सेवा की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार एक कृष्णनाम के फलस्वरूप इतने प्रकार के धन प्राप्त हो जाते हैं।

नामापराधी का असंख्य बार श्रवण-कीर्त्तन करना निरर्थक—

हेन कृष्णनाम यदि लय बहुबार।
तबु यदि प्रेम नहे, नहे अश्रुधार॥२९॥
तबे जानि, अपराध ताहाते प्रचुर।
कृष्णनाम-बीज ताहे ना करे अंकुर॥३०॥

२९-३०। प० अनु०—ऐसे कृष्णनाम को यदि असंख्य बार ग्रहण करने पर भी यदि प्रेम उदय नहीं होता और न ही अश्रुधाराएँ बहती हैं। तब समझ लेना चाहिये कि, उस व्यक्ति में प्रचुर अपराध हैं जिससे कृष्णनाम-बीज अङ्कुरित नहीं हो रहा।

गौरनिताइ अथवा उनके नामों में अपराधों का विचार नहीं—

चैतन्य-नित्यानन्दे नाहि एसब विचार।
नाम लैते प्रेम देन, बहे अश्रुधार॥३१॥

३१। प० अनु०—श्रीचैतन्य-नित्यानन्द के नामों में अपराधों का विचार नहीं है। नाम लेने मात्र से वे प्रेम दे देते हैं और अश्रुधाराएँ बहने लगती हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

३१। यदि कोई श्रद्धापूर्वक श्रीचैतन्य-नित्यानन्द का आश्रय करते हैं, तो क्षणकाल में ही उनका पूर्व अपराध समूह मार्जित हो जाता है एवं उनके मुख में कृष्णनाम का उदय होते ही वे प्रेम दे देते हैं।

अनुभाष्य

३१। श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु के आश्रित जन 'तृणादपि' श्लोक के अनुसार निष्कपट होकर शुद्धनाम ग्रहण करते हैं। जिससे उनमें प्रेम अश्रु दिखाई देते हैं।

कृष्णनाम अपराधों का विचार करते हैं, परन्तु श्रीगौर-नित्यानन्द के नामों में अपराधों का विचार नहीं है। अपराधी कृष्णनाम करने पर कभी भी नाम-फल (कृष्ण-प्रेम) प्राप्त नहीं कर सकते। श्रीगौर-नित्यानन्द का नाम ग्रहण करनेवाले व्यक्ति अपराधी होने पर भी नाम करते-करते अपराध-मोचन के अन्त में नाम-फल प्राप्त करते हैं। इसका विचार एवं सिद्धान्त यही है कि,—श्रीगौर-नित्यानन्द के निकट कृष्णविमुख साधक कृष्णोन्मुख होने के लिये जाते हैं। और साधनसिद्ध, अनर्थमुक्त कृष्णोन्मुख के द्वारा उच्चारित कृष्णनाम अनर्थयुक्त अवस्था में कभी भी फल प्रदान नहीं करता। श्रीगौर-नित्यानन्द अनर्थयुक्त जीवों के भी सेव्यवस्तु हैं। इसलिए इन दोनों की सेवा भाग्यहीन जीवों के लिये कृष्णसेवा की अपेक्षा अधिक प्रयोजनीय है। साधक शिक्षा की अप्राप्ति में

सिद्ध होने के अभिमान से जब कृष्णनाम की सेवा करने के लिये उद्यत होता है तो उसके निकट अनर्थ ही आकर उपस्थित होते हैं; किन्तु श्रीनिताइ-गौर के भजन में सिद्धा-भिमान की छलना न रखकर अनर्थयुक्त अवस्था में भी, जगद्गुरु दोनों शिक्षकों के निकट उपस्थित होने से, इन अनर्थ युक्त व्यक्ति को वे अनर्थ से मुक्त करवाकर उन्हें स्वयंरूप एवं स्वयं-प्रकाश के स्वरूप की उपलब्धि करा देते हैं उससे ही जीवों का स्वरूप-ज्ञान उदित होता है।

कृष्णनाम एवं गौरनाम,—दोनों ही नामी से अभिन्न है। श्रीकृष्ण को श्रीगौर की अपेक्षा लघु अथवा संकीर्ण जानने से, उसे अविद्या का कार्य जानना होगा। वास्तव में, जीवों के लिये प्रयोजन-विचार से श्रीगौर-नित्यानन्द के नाम ग्रहण करने की उपयोगिता अधिक है। श्रीगौर-नित्यानन्द उदार एवं औदार्य के अन्तर्गत मधुर है। श्री-कृष्ण की उदारता—केवल मुक्त, सिद्ध आश्रित जनों पर होती है; परन्तु श्रीगौर-नित्यानन्द के औदार्यस्रोत्र में अनर्थयुक्त अपराधी जीव भोगमय अपराधों के हाथों से मुक्त होकर श्रीगौर-कृष्ण के पादपद्म को प्राप्त करते हैं।

महावदान्य श्रीगौर के भजन के
अतिरिक्त और कोई गति नहीं—

स्वतन्त्र ईश्वर प्रभु अत्यन्त उदार।
ताँरे ना भजिले कभु ना हय निस्तार॥३२॥

३२। प० अनु०—श्रीगौराङ्ग महाप्रभु स्वतन्त्र ईश्वर एवं परम उदार हैं। उनका भजन न करने से कभी भी उद्धार नहीं हो सकता।

अनुभाष्य

३२। 'श्रीचैतन्य-भजन' कहने से श्रीकृष्ण को छोड़-कर श्रीराधा-कृष्ण से पृथक् गौर-भजन को नहीं समझा जाता। इस प्रकार कल्पित भजनरूप माया की दास्यता में कृष्णप्रेममाधुर्य की अवस्थिति नहीं है। श्रीचैतन्य के अतिप्रिय निजजन श्रीस्वरूप-रूप-रघुनाथ आदि आचार्यों का उल्लंघन करके जो लोग काल्पनिक चेष्टाओं के द्वारा मानते हैं कि गौरभजन हो गया है, उनका कभी भी उद्धार नहीं हो सकता। उन सबके माया-कल्पित दौरात्म्य समूह श्रीराधाकृष्ण से अभिन्न श्रीगौराङ्ग महाप्रभु के श्रीअंग में नियुक्त होने से महापराध होता है एवं उस अपराध के फलस्वरूप नरक की ओर जाने की गति तेज हो जाती है। तब वे श्रीराधा-कृष्ण के सेवापरायण भक्तवृन्द में दोषदर्शन करते हुये श्रीरूपादि आचार्यों के चरणों में अपराध कर बैठते हैं और प्रकाशित करते हैं कि,—श्रीगौराङ्ग महाप्रभु को वे सब मुख से ही 'अवतारी' मानते हैं और अन्यान्य नैमित्तिक-मनोधर्म के प्रचारकों की भाँति श्रीमन् महाप्रभु को केवल एक साधु के रूप में मानते हैं।

व्यासावतार श्रीवृन्दावनदास ठाकुर के द्वारा रचित
श्रीचैतन्यभागवत के श्रवण से ही जीवों का परम मङ्गल—

ओरे मूढ़ लोक, शुन चैतन्यमंगल।
चैतन्य-महिमा याते जानिबे सकल॥३३॥
कृष्णलीला भागवते कहे वेदव्यास।
चैतन्य-लीलार व्यास—वृन्दावनदास॥३४॥
वृन्दावन-दास कैल 'चैतन्यमंगल'।
याँहार श्रवणे नाशे सर्व अमंगल॥३५॥

३३-३५। प० अनु०—इसलिए अरे मूढ़ लोगों! श्रीचैतन्यमङ्गल (श्रीचैतन्यभागवत) श्रवण करो। जिसके श्रवण से सभी श्रीचैतन्य महाप्रभु की महिमा को जान सकेंगे। श्रीवेदव्यास ने श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण लीला का वर्णन किया है, उसी प्रकार श्रीचैतन्य लीला का वर्णन करनेवाले व्यास श्रीवृन्दावनदास हैं। श्रीवृन्दावन-दास ने 'चैतन्यमङ्गल' की रचना की है। इसके श्रवण से सभी अमङ्गल नष्ट हो जाते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

३३। चैतन्यमङ्गल,—वर्धमानजिला में, मन्त्रेश्वर थाना के अन्तर्गत देनुड़ गाँव के निवासी श्रीवृन्दावनदास ठाकुर के द्वारा रचित 'चैतन्यभागवत' नामक गन्थ है। यह ग्रन्थ पहले 'चैतन्यमङ्गल' के नाम से जाना जाता था। ऐसी प्रसिद्धि है कि श्रीलोचनदास ठाकुर के द्वारा

'चैतन्यमङ्गल' नामक ग्रन्थ आरम्भ करने पर श्रीवृन्दावन-दास ठाकुर ने अपने ग्रन्थ का नाम परिवर्तित कर दिया था।

अनुभाष्य

३४। श्रीवृन्दावनदास—भाष्यकार के द्वारा सम्पादित श्रीचैतन्यभागवत की भूमिका में "ठाकुर का जीवन चरित्र" द्रष्टव्य है।

चैतन्यभागवत—श्रीगौरनिताइ की महिमा एवं भक्तिसिद्धान्त की खान—

चैतन्य-निताइर याते जानिये महिमा।
याते जानि कृष्णभक्तिसिद्धान्तेर सीमा॥३६॥
भागवते यत भक्तिसिद्धान्तेर सार।
लिखियाछेन इहाँ जानि' करिया उद्धार॥३७॥

३६-३७। प० अनु०—इस ग्रन्थ के द्वारा श्रीचैतन्य-निताइ की महिमा के सम्बन्ध में तथा कृष्णभक्तिसिद्धान्त की चरम सीमा के सम्बन्ध में जाना जाता है। श्रीमद्भागवत में वर्णित समस्त भक्तिसिद्धान्त के सार को उद्धरित करके इस ग्रन्थ में लिख दिया है।

अनुभाष्य

३६। श्रीमद्भागवत—भक्तिसिद्धान्त का मूल ग्रन्थ है, किन्तु श्रीमद्भागवतम् ग्रन्थ सुविस्तृत होने के कारण अनेक व्यक्ति इसके सारांश को ग्रहण करने में असमर्थ है। श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने उन सारांश समूह को स्व-रचित 'श्रीचैतन्यभागवत' ग्रन्थ में लिपिबद्ध किया है। कृष्णभक्ति सिद्धान्तविद्गण ही श्रीनिताई-गौर की महिमा सुष्ठुरूप से जानने में समर्थ हैं। सभी भक्तिग्रन्थों ने उनके स्वर में स्वर मिलाकर कहा है कि भक्तिसिद्धान्त के अतिरिक्त भक्तिदेवी सेवित नहीं हो सकती।

चैतन्यभागवत के श्रवण से दुर्जन व्यक्ति में भी सज्जनता—

'चैतन्यमंगल' शुने यदि पाषण्डी यवन।
सेह महा-वैष्णव हय ततक्षण॥३८॥

३८। प० अनु०—यदि यवन और पाखण्डी भी श्रीचैतन्यमङ्गल का श्रवण करते हैं तो वे भी उसी क्षण महावैष्णव बन जाते हैं।

उनकी अलौकिक रचना—

मनुष्य रचिते नारे ऐछे ग्रन्थ धन्य।
वृन्दावनदास-मुखे वक्ता श्रीचैतन्य॥३९॥

३९। प० अनु०—किसी मनुष्य के द्वारा ऐसे महिमा युक्त ग्रन्थ की रचना नहीं हो सकती। श्रीवृन्दावनदास के मुख से श्रीचैतन्य महाप्रभु ने ही सबकुछ बुलवाया है।

एक ग्रन्थ के द्वारा ही जगत् का उद्धार—

वृन्दावनदास-पदे कोटि नमस्कार।
ओइछे ग्रन्थ करि' तेंहो तारिला संसार॥४०॥

४०। प० अनु०—श्रीवृन्दावनदास ठाकुर के चरणों में मेरा कोटि नमस्कार है। जिन्होंने इस ग्रन्थ की रचना करके सम्पूर्ण संसार का उद्धार किया है।

प्रभु की कृपापात्री नारायणी के पुत्र—श्रीवृन्दावनदास—

नारायणी—चैतन्येर उच्छिष्ठ-भाजन।
ताँर गर्भे जन्मिला श्रीदास-वृन्दावन॥४१॥

४१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के उच्छिष्ठ प्रसाद को प्राप्त करने वाली श्रीनारायणीदेवी के गर्भ से ही श्रीवृन्दावनदास ठाकुर का जन्म हुआ है।

अमृतप्रवाह भाष्य

४१। नारायणी—श्रीवास पण्डित के भाई की पुत्री थीं। इनके बाल्यकाल में, श्रीमन् महाप्रभु अपने कीर्तन के अन्त में इन्हें अपना उच्छिष्ठ-भोजन दिया करते थे।

अनुभाष्य

४१। श्रीनारायणीदेवी के सम्बन्ध में श्रीकविकर्णपूर ने श्रीगौर-गणोद्देशदीपिका में लिखा है कि—"अम्बिकाया स्वसा यासीन्नाम्ना श्रीलकिलिम्बिका। कृष्णोच्छिष्टं प्रभुंजाना सेयं नारायणी मता॥" श्रीकृष्ण की स्तनदात्री—'अम्बिका' और उनकी बहन—'किलिम्बिका'। वे श्री-कृष्ण का उच्छिष्ट भोजन करती थीं। श्रीगौरावतार में

वही 'नारायणी देवी' हैं।

श्रीवास के भाई की पुत्री श्रीनारायणीदेवी के गर्भजात सन्तान ही श्रीवृन्दावन ठाकुर हैं। इनकी माता श्रीगौरसुन्दर की उच्छिष्ट-भोजी तथा कृपापात्री थीं। उनके परिचय से ही ठाकुर महाशय परिचित हैं, अतः पूर्व-पुरुषों का परिचय (अर्थात् उनके पितृकुल, विशेष करके उनके पिता आदि का परिचय वैष्णव के परिचय में आवश्यक नहीं होता इसलिए उन्हें छोड़ दिया गया है।

गौरचरित्र-वर्णन द्वारा उनका जगदुद्धार—

ताँर कि अद्‌भुत चैतन्यचरित-वर्णन।
याहार श्रवणे शुद्ध कैल त्रिभुवन॥४२॥

४२। प० अनु०—श्रीवृन्दावनदास ठाकुर के द्वारा श्रीचैतन्य-चरित का वर्णन कैसा अद्‌भुत है, जिसके श्रवण से त्रिभुवन भी पवित्र हो गया।

श्रीनिताइगौर के भजन में ही मङ्गल,
उसके लिये ही जीवों को अनुरोध—

अतएव भज, लोक, चैतन्य-नित्यानन्द।
खंडिबे संसार-दुःख, पाबे प्रेमानन्द॥४३॥

४३। प० अनु०—अतः हे जगत के लोगों! श्रीचैतन्य-नित्यानन्द का भजन कीजिये। इससे सांसारिक दुःखों का खण्डन होगा और प्रेमानन्द की प्राप्ति होगी।

ठाकुर वृन्दावन के द्वारा पहले सूत्राकार में,
पश्चात् विस्तृतरूप में गौरलीला-वर्णन—

वृन्दावन-दास कैल 'चैतन्य-मंगल'।
ताहाते चैतन्य-लीला वर्णिल सकल॥४४॥
सूत्र करि' सब लीला करिल ग्रन्थन।
पाछे विस्तारिया ताहार कैल विवरण॥४५॥
चैतन्यचन्द्रेर लीला अनन्त अपार।
वर्णिते वर्णिते ग्रन्थ हइल विस्तार॥४६॥

४४-४६। प० अनु०—श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने 'चैतन्यमङ्गल' की रचना की है। जिसमें उन्होंने सम्पूर्ण चैतन्य-लीला का वर्णन किया है। पहले उन्होंने सूत्ररूप में सभी लीलाओं का वर्णन किया और फिर विस्तारपूर्वक उनकी व्याख्या की। श्रीचैतन्यचन्द्र की लीलाएँ अपार, अनन्त हैं। इसका वर्णन करते-करते ग्रन्थ का विस्तार होता गया।

किन्तु ग्रन्थविस्तार के भय से सूत्रों
को विस्तार करने की अनिच्छा—

विस्तार देखिया किछु संकोच हैल मन।
सूत्रधृत कोन लीला ना कैल वर्णन॥४७॥

४७। प० अनु०—ग्रन्थविस्तार को देखकर उनका मन कुछ संकुचित हुआ। इसलिए उन्होंने सूत्ररूप में जिन लीलाओं का वर्णन किया था, उनमें से कुछ लीलाओं को विस्तृत रूप से वर्णन नहीं किया।

निताइ की लीला-वर्णन में आवेश हो जाने के
कारण गौर की शेषलीला का असम्पूर्ण वर्णन—

नित्यानन्द-लीला-वर्णने हइल आवेश।
चैतन्येर शेष-लीला रहिल अवशेष॥४८॥

४८। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु की लीला वर्णन करने में उन्हें इतना आवेश हो गया कि श्रीचैतन्य महाप्रभु की शेष-लीला का वर्णन अवशेष रह गया।

गौरसुन्दर की शेषलीला को सुनने
के लिये वृन्दावनवासी की इच्छा—

सेइ सब लीलार शुनिते विवरण।
वृन्दावनवासी भक्तेर उत्कण्ठित मन॥४९॥

४९। प० अनु०—उन अवशेष लीलाओं को विस्तार पूर्वक श्रवण करने के लिये वृन्दावनवासी भक्तवृन्द का मन उत्कण्ठित हो गया।

कल्पवृक्ष के नीचे रत्नसिंहासन पर
श्रीगोविन्द की सेवा का वर्णन—

वृन्दावने कल्पद्रुमे सुवर्ण-सदन।
महा-योगपीठ ताँहा, रत्न-सिंहासन॥५०॥
ताते वसि' आछे सदा व्रजेन्द्रनन्दन।
'श्रीगोविन्द-देव' नाम साक्षात् मदन॥५१॥

राज-सेवा हय ताँहा विचित्र प्रकार।
दिव्य सामग्री, दिव्य वस्त्र-अलंकार॥५२॥
सहस्त्र सेवक सेवा करे अनुक्षण।
सहस्त्र-वदने सेवा ना याय वर्णन॥५३॥

५०-५३। प० अनु०—वृन्दावन के कल्पवृक्ष के नीचे स्वर्ण-सदन पर महायोगपीठ है, जहाँ रत्नसिंहासन पर 'श्रीगोविन्ददेव' नामक साक्षात् मदनस्वरूप श्रीव्रजेन्द्र नन्दन सदैव विराजमान हैं। वहाँ उनकी सेवा राजाओं की भाँति विचित्र प्रकार के दिव्य सामग्रियाँ एवं वस्त्र अलङ्कारों से होती है। हजारों सेवक उनकी अनुक्षण सेवा करते रहते हैं। जिसका वर्णन हजारों मुखों से भी नहीं किया जा सकता।

इसके सेवाध्यक्ष श्रीहरिदास पण्डित का सद्गुण-वर्णन—

सेवार अध्यक्ष—श्रीपण्डित हरिदास।
ताँर यशः-गुण सर्वजगते प्रकाश॥५४॥
सुशील, सहिष्णु, शान्त, वदान्य, गम्भीर।
मधुर-वचन, मधुर-चेष्टा, महाधीर॥५५॥
सबार सम्मान-कर्त्ता, करेन सबार हित।
कौटिल्य-मात्सर्य-हिंसा शून्य ताँर चित॥५६॥
कृष्णेर ये साधारण सद्गुण पञ्चाश।
से सब गुणेर ताँर शरीरे निवास॥५७॥

५४-५७। प० अनु०—उन श्रीगोविन्ददेव की सेवा के अध्यक्ष श्रीहरिदास पण्डित हैं। जिनका यशगुण सम्पूर्ण जगत में प्रकाशित है। वे सुशील, सहिष्णु, शान्त, वदान्य, गम्भीर, महाधीर और मधुरवचन, मधुरचेष्टा आदि गुणों से युक्त है। वे सबका सम्मान एवं हित करनेवाले है। उनका हृदय कुटिलता, मात्सर्य और हिंसा से रहित है। श्रीकृष्ण में जो साधारण पचास सद्गुण विद्यमान है, वह सब गुण उनके शरीर में वास करते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

५७। श्रीकृष्ण में जो साधारण पचास सद्गुण हैं। "अयं नेता सुरम्यांग" आदि (भ:र:सि:, द:वि: १म ल:) श्लोकों में ये पचास सद्गुण वर्णित हैं।

अनुभाष्य

५४। पण्डित हरिदास—श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी के शिष्य श्रीअनन्त आचार्य इनके गुरुदेव हैं। ५९-६५ संख्या एवं अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

(श्रीमद्भागवत ५.१८.१२)

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना।
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः॥
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा।
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥५८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५८। श्रीकृष्ण में जिनकी केवला-भक्ति है, उनमें समस्तगुण सहित देवतागण वास करते हैं। जो हरिभक्ति-विहीन हैं, उनका मन सदैव असत् बाहरी विषयों की ओर धावित रहता है। उनमें महद्गुण आना असम्भव है।

अनुभाष्य

५८। परम भक्त प्रह्लाद के गुणों का वर्णन करते समय श्रीशुकदेव महाराज परीक्षित से कह रहे हैं—

यस्य (भक्तस्य) भगवति (श्रीविष्णौ) अकिंचना (निष्कामा) भक्तिः (आनुकूल्येन सेवनप्रवृत्तिः) अस्ति (विद्यते), तत्र (तस्मिन् भक्ते) सुराः (सर्वे देवाः) सर्वैः गुणैः (निखिल-सद्गुण-राशिभिःसह) समासते (सम्यग् आसते नित्यं वसन्ति)। असति (अनित्ये विषयसुखे) मनोरथेन (मनोधर्म्मेण) बहिः धावतः (भोग-प्रवृत्तस्य) हरौ अभक्तस्य (अन्याभिलाष-कर्म-ज्ञान-योग-पन्थिनः, अतः गृहाद्यासक्तस्य जनस्य हरिभक्त्यसम्भवात्) कुतः महद्गुणाः (महतां गुणाः ज्ञानवैराग्यादयः, श्रेष्ठ सद्-गुणराशयः वा भवन्ति इति शेषः)।

पण्डित हरिदास का परिचय एवं गुरुपरम्परा—

पण्डित-गोसाञिर शिष्य—अनन्त आचार्य।
कृष्णप्रेममय-तनु, उदार, सर्व-आर्य॥५९॥
ताँहार अनन्त गुण के करु प्रकाश।
ताँर प्रिय शिष्य इहँ—पण्डित हरिदास॥६०॥

५९-६०। प० अनु०—श्रीगदाधर पण्डित गोसाईं के शिष्य श्रीअनन्त आचार्य हैं। वे कृष्ण प्रेम की मूर्त्ति, उदार तथा सभी में श्रेष्ठ हैं। इनके अनन्त गुणों को कौन वर्णन कर सकता है। श्रीहरिदास पण्डित इन्हीं के प्रिय शिष्य हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

५९। पण्डित गोसाञि—श्रीगदाधर पण्डित।

अनुभाष्य

५९-६०। अष्टसखियों में अन्यतम सुदेवी सखी गौरावतार में (१) श्रीअनन्ताचार्य हैं। यथा, गौरगणोद्देश दीपिका में १६५ श्लोक—"अनन्ताचार्य गोस्वामी या सुदेवी पुरा ब्रजे।" श्रीपुरुषोत्तम में प्रसिद्ध 'गङ्गामाता मठ'—इन्हीं की ही शाखा-विशेष है। इनकी गुरुपरम्परा में ये 'विनोद मञ्जरी' के रूप में वर्णित हैं। (२) इनके शिष्य श्रीहरिदास पण्डित गोस्वामी है। नामान्तर (नामभेद मे) 'श्रीरघु गोपाल'—श्रीरासमञ्जरी हैं। (३) इनकी शिष्या—श्रीलक्ष्मीप्रिया (गङ्गामाता की मामी)। (४) श्रीगङ्गामाता—पुटिया-राजकन्या; इन्होंने जयपुर के कृष्णमिश्र से 'श्रीरसिकराय' नामक विग्रह को लाकर पुरुषोत्तम में सार्वभौम के घर में उनकी सेवा का प्रकाशन किया है। (५) श्रीवनमाली, (६) श्रीभगवान् दास (बंगवासी), (७) श्रीमधुसूदनदास (उत्कलवासी), (८) श्रीनीलाम्बर-दास, (९) श्रीनरोत्तम दास, (१०) श्रीपीताम्बर दास, (११) श्रीमाधव दास, (१२) इनके शिष्य वर्तमान में गंगामाता-मठ के महान्त है।

निताइ-गौर
के प्रति
इनका अनुराग—

चैतन्य-नित्यानन्दे ताँर परम विश्वास।
चैतन्य-चरिते ताँर परम उल्लास॥६१॥

६१। प० अनु०—श्रीचैतन्य-नित्यानन्द में इनका परम विश्वास था एवं चैतन्य-चरित में वे परम उल्लास का अनुभव करते थे।

वैष्णव में गाढ़ प्रीति—

वैष्णवेर गुणग्राही, ना देखये दोष।
कायमनोवाक्ये करे वैष्णवे सन्तोष॥६२॥

६२। प० अनु०—वे वैष्णवों के गुणों को ही ग्रहण करते थे। किसी में दोष नहीं देखते थे और तन, मन और वचन से वैष्णवों को सन्तुष्ट करते थे।

वैष्णवसभा में उनका चैतन्यभागवत पाठ—

निरन्तर शुने तेंहो 'चैतन्यमंगल'।
ताँहार प्रसादे शुनेन वैष्णवसकल॥६३॥
कथाय सभा उज्ज्वल करे येन पूर्णचन्द्र।
निज-गुणामृते बाड़ाय वैष्णव-आनन्द॥६४॥

६३-६४। प० अनु०—वे निरन्तर 'श्रीचैतन्य-मङ्गल' का श्रवण करते तथा उनकी कृपा से सभी वैष्णव भी श्रवण करते थे। कथा के समय वे पूर्ण चन्द्रमा की भाँति सभा को उज्ज्वल कर देते एवं अपने गुणामृत से वैष्णवों के आनन्द को बढ़ाते रहते।

ग्रन्थकार के प्रति गौर की शेषलीला का
वर्णन करने का आदेश—

तेंहो अति कृपा करि' आज्ञा दिला मोरे।
गौरांगेर शेषलीला वर्णिवार तरे॥६५॥

६५। प० अनु—उन्होंने अति कृपाकर मुझे श्रीगौराङ्ग महाप्रभु की शेष लीला को वर्णन करने का आदेश प्रदान किया।

इन्हीं आदेशकारी भक्तवृन्द का पृथक् परिचय—

काशीश्वर गोसाञिर शिष्य—गोविन्द गोसाञि।
गोविन्देर प्रियसेवक ताँर सम नाञि॥६६॥
यादवाचार्य गोसाञि श्रीरूपेर संगी।
चैतन्यचरिते तेंहो अति बड़ रंगी॥६७॥
पण्डित-गोसाञिर शिष्य—भूगर्भ गोसाञि।
गौरकथा बिना ताँर मुखे अन्य नाइ॥६८॥
ताँर शिष्य—गोविन्द-पूजक चैतन्यदास।
मुकुन्दानन्द चक्रवर्ती, प्रेमी कृष्णदास॥६९॥

आचार्य गोसाञिर शिष्य—चक्रवर्ती शिवानन्द।
निरवधि ताँर चित्ते श्रीचैतन्य-नित्यानन्द॥७०॥
आर यत वृन्दावने वैसे भक्तगण।
शेष-लीला शुनिते सबार हैल मन॥७१॥
मोरे आज्ञा करिला सबे करूणा करिया।
ताँर-सबार बोले लिखि निर्लज्ज हइया॥७२॥

६६-७२। प० अनु०—काशीश्वर गोसाईं के शिष्य श्रीगोविन्द गोसाईं श्रीगोविन्द के प्रियसेवक हैं, उनके समान और कोई नहीं हो सकता है। यादवाचार्य गोसाईं श्रीरूप के सङ्गी हैं तथा चैतन्यचरित में इनका बड़ा ही आनन्द है। पण्डित गोसाईं (श्रीगदाधर पण्डित) के शिष्य श्रीभूर्गभ गोसाईं हैं। इनके मुख में गौर कथा के अतिरिक्त और कुछ नहीं आता। उनके शिष्य श्रीगोविन्द-देव के पुजारी श्रीचैतन्यदास, मुकुन्दानन्द चक्रवर्ती और प्रेमी कृष्णदास थे। आचार्य गोसाईं (श्रीअद्वैताचार्य) के शिष्य श्रीशिवानन्द चक्रवर्ती थे। इनके हृदय में श्रीचैतन्य-नित्यानन्द सदैव वास करते हैं। और भी जितने वृन्दावन में भक्तवृन्द थे, सभी शेष-लीला सुनने को उत्सुक हो उठे। सभी ने करूणाकर मुझे आज्ञा प्रदान की एवं उन सबके कहने पर मैं निर्लज्ज होकर लिख रहा हूँ।

अनुभाष्य

६६। श्रीकाशीश्वर (पण्डित) गोस्वामी—श्रीईश्वर-पुरी के शिष्य हैं। वे काँजिलाल कानुवंशोद्भव वात्स्य-गोत्रीय वासुदेव भट्टाचार्य के पुत्र थे। उनकी उपाधि चौधुरी है। वल्लभपुर के श्रीरुद्रपण्डित (१०प: १०६ संख्या द्रष्टव्य है) इनके भांजे थे। श्रीरामपुर स्टेशन से १ मील की दूरी पर चातरा गाँव में इनके द्वारा प्रतिष्ठित श्रीराधागोविन्द एवं श्रीगौराङ्ग-विग्रह विराजमान हैं। ये बहुत बलवान थे। श्रीमन् महाप्रभु जब प्रतिदिन श्रीजगन्नाथ के दर्शन के लिए जाते थे तो ये आगे चलकर लोगों की भीड़ को पीछे धकेलकर मार्ग प्रशस्त कर देते थे। (आदि, १०म प:१३८- १४२; मध्य, १२श प:२०७; १३श प:८९ संख्या द्रष्टव्य है)। पुरुषोत्तम (जगन्नाथ पुरी) में भक्तवृन्द के द्वारा कीर्तन के पश्चात् वे प्रसाद का परिवेषन करते थे। श्रीमन् महाप्रभु के साथ इनके मिलन के प्रसङ्ग के सम्बन्ध में—मध्य, १०म प:१३४, १८४ संख्या द्रष्टव्य है।

वर्तमान सेवाध्यक्ष—श्रीशिवचन्द्र चौधुरी, काशीश्वर गोस्वामी प्रभु के भ्रातृवंशीय हैं। इस स्थान पर सेवा के लिये नित्यप्रति ९ सेर चावल की व्यवस्था है। गाँव के सामने ही पहले से श्रीविग्रह की सेवा के लिए धन की व्यवस्था थी। परन्तु उनके भ्रातृ-वंशीयगणों ने उन सब सम्पत्तियों को राजद्वार में नष्ट कर दिया। अब सेवा की व्यवस्था अच्छा नहीं है। श्रीगौरगणोद्देश में (१३७ एवं १६६ श्लोक मे)—वृन्दावन में जो कृष्ण के दास 'भृंगार' अथवा जो 'शशिरेखा' हैं, वे ही गौरावतार में काशी-श्वर(?) हैं।

६९। भूगर्भ के (आदि, १२प: ८१) शिष्य—चैतन्यदास, मुकुन्दानन्द एवं कृष्णदास; शिवानन्द—आदि, १२प: ८७ संख्या द्रष्टव्य है।

अष्टम परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

वैष्णवों से आदेश प्राप्त होकर
श्रीमदनगोपाल की आज्ञा-याचना—

वैष्णवेर आज्ञा पाञा चिन्तित-अन्तरे।
मदनगोपाले गेलाङ आज्ञा मागिवारे॥७३॥

७३। प० अनु०—उन वैष्णवों की आज्ञा पाकर मैं चिन्तित हुआ और श्रीमदनगोपाल से अनुमति माँगने गया।

अर्चक गोसाईं दास के द्वारा प्रार्थना करते ही सभी वैष्णवों के सामने मदनगोपाल की आज्ञा-माला का नीचे गिरना

दरशन करि कैलुँ चरण वन्दन।
गोसाञिदास पूजारी करे चरण-सेवन॥७४॥
प्रभुर चरणे यदि आज्ञा मागिल।
प्रभुकण्ठ हइते माला खसिया पड़िल॥७५॥
सर्व वैष्णवगण हरिध्वनि दिल।
गोसाञिदास आनि' माला मोर गले दिल॥७६॥

७४-७६। प० अनु०—श्रीमदनगोपाल का दर्शन करके मैंने उनके चरणों की वन्दना की। पुजारी गोसाईं दास उस समय श्रीमदनगोपाल की चरण सेवा कर रहे थे। प्रभु के चरणों में जब मैंने आदेश के लिये प्रार्थना की, तो उसी समय प्रभु के कण्ठ से माला खुलकर नीचे आ गिरी। यह देखकर सभी वैष्णवों ने हरिध्वनि की और गोसाईं दास ने माला लाकर मेरे गले में डाल दी।

आज्ञा-माला प्राप्ति के
कारण ही इस ग्रन्थ
को लिखने की प्रवृत्ति—

आज्ञा-माला पाञा आमार हइल आनन्द।
ताहाइ करिनु एइ ग्रन्थेर आरम्भ॥७७॥

७७। प० अनु०—आज्ञा-माला पाकर मैं अत्यन्त आनन्दित हुआ और इसी कारण मैंने इस ग्रन्थ को लिखना आरम्भ किया।

ग्रन्थ-रचना में श्रीमदनमोहन
का ही सम्पूर्ण
कर्त्तृत्व अथवा प्रेरणा—

एइ ग्रन्थ लेखाय मोरे 'मदनमोहन'।
आमार लिखन येन शुकेर पठन॥७८॥
सेइ लिखि, मदनगोपाल मोरे ये लिखाय।
काष्ठेर पुत्तली येन कुहके नाचाय॥७९॥

७८-७९। प० अनु०—मुझसे यह ग्रन्थ 'मदनमोहन' लिखवा रहे हैं। मेरा लिखना तो शुक (तोता) के पाठ के समान है। जैसे कठपुतली कुहक के द्वारा नचायी जाती है। उसी प्रकार मैं वही लिख रहा हूँ जो कि श्रीमदनगोपाल मुझसे लिखवा रहे हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

७८। श्रीमदनमोहन की प्रेरणा से ही मैंने श्रीचैतन्य-चरितामृत लिखा है; अतएव शुक पक्षी के पाठ की भाँति इसमें मेरी कोई महिमा नहीं है।

अष्टम परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

ग्रन्थकार की गुरुपरम्परा में मदनमोहन-सेवा—

कुलाधिदेवता मोर—मदनमोहन।
याँर सेवक—रघुनाथ, रूप, सनातन॥८०॥

८०। प० अनु—जिनकी सेवा श्रीरूप, श्रीसनातन और श्रीरघुनाथ करते हैं वे श्रीमदनमोहन ही मेरे कुलाधि-देवता हैं।

ग्रन्थकार के द्वारा ठाकुर वृन्दावनदास
के प्रति गुरुबुद्धि एवं प्रणति—

वृन्दावन-दासेर पादपद्म करि' ध्यान।
ताँर आज्ञा लञा लिखि याहाते कल्याण॥८१॥
चैतन्यलीलाते 'व्यास'—वृन्दावन-दास।
ताँर कृपा बिना अन्ये ना हय प्रकाश॥८२॥

८१-८२। प० अनु०—श्रीवृन्दावनदास ठाकुर के चरणकमलों को ध्यान करते हुए उनकी आज्ञा से यह ग्रन्थ लिख रहा हूँ क्योंकि इसमें मेरा ही कल्याण है। चैतन्यलीला के 'व्यास' श्रीवृन्दावनदास हैं। उनकी कृपा के बिना यह लीलाएँ किसी के हृदय में प्रकाशित नहीं हो सकती।

निज दैन्योक्ति—

मूर्ख, नीच, क्षुद्र मुञि विषय-लालस।
वैष्णवाज्ञा-बले करि एतेक साहस॥८३॥
श्रीरूप-रघुनाथ-चरणेर एइ बल।
याँर स्मृते सिद्ध हय वांछित सकल॥८४॥
श्रीरूप-रघुनाथ पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥८५॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड ग्रन्थकरणे
वैष्णवाज्ञारूपकथन नामक नामाष्टम-परिच्छेद समाप्त।

८३-८५। प० अनु०—मैं मूर्ख, नीच, क्षुद्र और विषय-लालची हूँ। फिर भी, वैष्णव आज्ञा के बल पर इतना साहस कर रहा हूँ। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में यह शक्ति है जिनके स्मरण से सभी वाञ्छाएँ पूर्ण होती है। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋ ❋ ❋

नवम परिच्छेद

कथासार—इस परिच्छेद में भक्ति को एक वृक्ष के रूप में वर्णन करके एक रहस्य की उद्भावना की है। जिसमें विश्वम्भर-श्रीगौराङ्ग महाप्रभु को मूलवृक्ष कहकर भक्तिरूपी वृक्ष के माली एवं इस वृक्ष के फल के दाता एवं भोक्ता के रूप में वर्णन किया गया है। श्रीनवद्वीपधाम में इस फलवृक्ष-रोपन का आरम्भ हुआ और उसके पश्चात् पुरुषोत्तम, वृन्दावन आदि अन्य स्थानों में ऐसे प्रेमफल के उद्यानों को बढ़ाया गया। श्रीमाधवेन्द्रपुरी इस वृक्ष के प्रथम अङ्कुर हैं। उनके शिष्य श्रीईश्वरपुरी ने इस अङ्कुर को पुष्ट किया। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव माली होकर फिरसे अपनी अचिन्त्य-शक्ति के बल से इस वृक्ष के स्कन्ध बने। श्रीपरमानन्दपुरी आदि नौ संन्यासीवृन्द इस वृक्ष के मूल हैं। उस मूल-स्कन्ध के ऊपर श्रीअद्वैतप्रभु और श्रीनित्यानन्दरूप और भी दो स्कन्ध हुए। उन दोनों स्कन्धों से अनेक प्रकार की शाखा और उपशाखागण निकलीं, जिससे सम्पूर्ण जगत का घेर किया। इस वृक्ष के प्रेमफल को जिसको-तिसको सर्वत्र ही दान दिया गया। इस प्रकार भक्तिवृक्ष को रोपण करके उसके फलास्वादन के द्वारा जगत् को आनन्द में डुबो दिया। यह वर्णन एक रूपक मात्र है।

(अ:प्र:भा:)

गौर-कृपा से असम्भव भी सम्भव—

तं श्रीमत्कृष्णचैतन्यदेवं वन्दे जगद्गुरुम्।
यस्यानुकम्पया श्वापि महाब्धिं सन्तरेत् सुखम्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनकी अनुकम्पा से कुक्कुर भी महासागर को पार कर सकता है। उन्हीं जगद्गुरु श्रीकृष्णचैतन्यदेव की मैं वन्दना करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यस्य (चैतन्यदेवस्य) अनुकम्पया (प्रसादेन) श्वा (कुक्कुर:) अपि महाब्धिं (महासमुद्रं) सुखं सन्तरेत् (सन्तरणेन तत्पारं गच्छेत), तं जगद्गुरुं (सर्वजगतां गुरुं पूज्य) श्रीकृष्णचैतन्यदेवम् (अहं) वन्दे।

जय जय श्रीकृष्णचैतन्य गौरचन्द्र।
जय जयाद्वैत जय जय नित्यानन्द॥२॥
जय जय श्रीवासादि गौरभक्तगण।
सर्वाभीष्ट-पूर्त्ति-हेतु याँहार स्मरण॥३॥
श्रीरूप, सनातन, भट्ट रघुनाथ।
श्रीजीव, गोपालभट्ट, दास रघुनाथ॥४॥
एसव-प्रसादे लिखि चैतन्य-लीलागुण।
जानि वा ना जानि करि आपन-शोधन॥५॥

२-५। प० अनु—श्रीकृष्णचैतन्य गौरचन्द्र की जय हो, जय हो। श्रीअद्वैताचार्य की जय हो, जय हो। श्री-नित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो। श्रीवासादि गौरभक्त वृन्द की जय हो, जय हो, इनके स्मरण मात्र से समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीरघुनाथ भट्ट, श्रीजीव, श्रीगोपालभट्ट और श्रीरघुनाथदास की कृपा से श्रीचैतन्य महाप्रभु की गुण लीला को लिख रहा हूँ। इन लीलाओं को मैं जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ, फिर भी अपनी शुद्धि के लिए इन्हें लिख रहा हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

५। आपन-शोधन,—अपने शुद्धिकरण के लिए।

मालाकार—स्वयं श्रीमहाप्रभु—

मालाकार: स्वयं कृष्ण-प्रेमामरतरु: स्वयम्।
दाता भोक्ता तत्फलानां यस्तं चैतन्यमाश्रये॥६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६। श्रीचैतन्य स्वयं प्रेमरूपी-देव वृक्ष हैं, वह स्वयं इसके माली हैं। जो इस वृक्ष के फलसमूह के दाता एवं भोक्ता हैं, मैं उन श्रीकृष्णचैतन्य का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

अनुभाष्य

६। यः (चैतन्यदेवः) स्वयं मालाकारः (उद्यान-रक्षकः) स्वयं कृष्णप्रेमामरतरुः (कृष्णस्य प्रेमैव अमरतरुः अविनाशी वृक्षः कल्पवृक्ष इत्यर्थः) तत्फलानां (कल्प-वृक्षस्य तत्फलाना) दाता, भोक्ता च, (स्वयम् एव) तं (चैतन्यं अहम्) आश्रये (प्रपद्ये)।

मालाकार होने का कारण—अभिधेयाधिदेवत्व की सार्थकता—

प्रभु कहे, आमि 'विश्वम्भर' नाम धरि।
नाम सार्थक हय, यदि प्रेमे विश्व भरि॥७॥

७। प० अनु—प्रभु विचार करने लगे—मैंने 'विश्व-म्भर' नाम धारण किया है। मैं यदि प्रेम से सम्पूर्ण विश्व को भर दूँ, तभी मेरा विश्वम्भर नाम सार्थक होगा।

नवद्वीप में भक्तिफलों के उद्यान की रचना—

एत चिन्ति' लैला प्रभु मालाकार-धर्म।
नवद्वीपे आरम्भिला फलोद्यान-कर्म॥८॥
श्रीचैतन्य मालाकार पृथिवीते आनि'।
भक्ति-कल्पतरु रोपिला सिञ्चि' इच्छा-पानि॥९॥

८-९। प० अनु—यह विचार कर प्रभु ने माली-धर्म को अपनाया और नवद्वीप में फलों के उद्यान का कार्य आरम्भ किया। श्रीचैतन्य माली ने भक्ति-कल्पवृक्ष को पृथ्वी पर लाकर रोपण किया और उसको इच्छारूपी जल के द्वारा सिंचन किया।

इसका प्रथम अङ्कुर—श्रीमाधवेन्द्रपुरी—

जय श्रीमाधवपुरी कृष्णप्रेमपूर।
भक्तिकल्पतरु तेंहो प्रथम अंकुर॥१०॥

१०। प० अनु—जो कृष्णप्रेम से परिपूर्ण हैं, उन श्रीमाधवपुरी की जय हो। वे भक्तिकल्पवृक्ष के प्रथम अङ्कुर हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०। श्रीमाधवपुरी,—इनका नाम श्रीमाधवेन्द्रपुरी है। ये श्रीमध्वाचार्य के सम्प्रदाय में एक प्रसिद्ध संन्यासी हैं। श्रीचैतन्यदेव इनके अनुशिष्य हैं। इनसे पहले श्रीमध्व-सम्प्रदाय में प्रेमभक्ति का कोई लक्षण नहीं था। इनके द्वारा रचित "अयि दर्याद्रनाथ" श्लोक में श्रीमन् महाप्रभु के द्वारा शिक्षित तत्त्व बीजरूप में था।

ईश्वरपुरी से वृद्धि की प्राप्ति—

श्रीईश्वरपुरी-रूपे अंकुर पुष्ट हैल।
आपने चैतन्यमाली स्कन्ध उपजिल॥११॥

११। प० अनु—श्रीईश्वरपुरी के द्वारा यह वृक्ष, अङ्कुर रूप में पुष्ट हुआ और स्वयं श्रीचैतन्यमाली इस वृक्ष के स्कन्ध रूप में प्रकाशित हुये।

अमृतप्रवाह भाष्य

११। श्रीईश्वरपुरी,—श्रीमन् महाप्रभु के मन्त्रगुरु थे। श्रीईश्वरपुरी ने कुमारहट्ट में अर्थात् हालिसहर गाँव में ब्राह्मणकुल में जन्मग्रहण किया था एवं वे श्रीमाधवेन्द्रपुरी के शिष्य थे।

अनुभाष्य

११। श्रीईश्वरपुरी—कुमारहट्ट में (इ,वि, आर लाइन में हालिसहर स्टेशन) विप्रकुल में उद्भुत एवं श्रीमाध-वेन्द्रपुरी के प्रियतम शिष्य हैं। अन्त्यलीला, ८म परिच्छेद, पः संख्या २८-२९—"ईश्वरपुरी करे श्रीपाद सेवन। स्वहस्ते करेन मल-मूत्रादि मार्जन॥ निरन्तर कृष्णनाम कराय स्मरण। कृष्णनाम, कृष्णलीला शुनाय अनुक्षण॥ तुष्ट हइया पुरी ताँरे कैल आलिङ्गन। वर दिल कृष्णे तोमार हउक् प्रेमधन। सेइ हैते ईश्वरपुरी प्रेमेर सागर॥"

श्रीईश्वरपुरी ने श्रीमन् महाप्रभु को गया में दशाक्षर-मन्त्र में दीक्षा देने से पहले नवद्वीप नगर में आकर श्रीगोपीनाथ आचार्य के घर में कुछ महीनों तक वास किया था। उसी समय उन्होंने श्रीमन् महाप्रभु के साथ वार्त्तालाप किया एवं स्वयं के द्वारा रचित 'कृष्णलीलामृत' ग्रन्थ पढ़कर सुनाया था। चैःभाः आदि लीला, ७अः द्रष्टव्य है।

श्रीमन् महाप्रभु जब कुमारहट्ट में श्रीईश्वरपुरीपाद के जन्मस्थान का दर्शन करने आये, तब उन्होंने जीवकुल

को श्रीगुरुभक्ति की शिक्षा देने के लिये—"सेइ स्थानेर मृत्तिका आपने प्रभु तुलि'। लइलेन बर्हिवासे बान्धि' एक झुलि॥" (चैःभाः आदि लीला, १२अः) इस लीला का प्रदर्शन किया था। उसी समय से जो भी श्रीईश्वरपुरी के जन्मस्थान का दर्शन करने आते हैं, वे वहाँ की मिट्टी ले जाते हैं।

अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से माली होकर भी
स्वयं स्कन्ध एवं सभी शाखासमूह के आश्रय—

निजाचिन्त्यशक्त्ये माली हञा स्कन्ध हय।
सकल शाखार सेइ स्कन्ध मूलाश्रय॥१२॥

१२। प अनु—अपनी अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से श्रीमन् महाप्रभु माली होते हुए भी स्कन्ध के रूप में प्रकाशित हैं। यह स्कन्ध सभी शाखाओं की मूल आश्रय है।

नौ संन्यासीवृन्द—नौ मूल—

परमानन्द पुरी, आर केशव भारती।
ब्रह्मानन्द पुरी, आर ब्रह्मानन्द भारती॥१३॥
विष्णपुरी, केशवपुरी, पुरी कृष्णनन्द।
श्रीनृसिंहतीर्थ, आर पुरी सुखानन्द॥१४॥
एइ नव मूल निकसिल वृक्षमूले।
एइ नव मूले वृक्ष करिल निश्चले॥१५॥

१३-१५। प अनु—परमानन्द पुरी, केशव-भारती, ब्रह्मानन्द पुरी, ब्रह्मानन्द भारती, विष्णुपुरी, केशवपुरी, कृष्णानन्द पुरी, श्रीनृसिंहतीर्थ और सुखानन्द पुरी आदि नौ जड़ें, वृक्षके मूल से प्रकटित हुईं। इन नौ जड़ों ने वृक्ष को स्थिर किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४। सम्बन्ध में 'पुरी'—संन्यासीवृन्द सभी श्रीईश्वर-पुरी के आत्मीयवर्ग हैं। 'भारती'-संन्यासीवृन्द—श्रीमन् महाप्रभु के संन्यासदाता गुरु 'केशवभारती' के सम्बन्ध में आत्मीयवर्ग हैं।

अनुभाष्य

१३। श्रीपरमानन्दपुरी—त्रिहुत नामक देश में आविर्भूत विप्र एवं श्रीमाधवेन्द्रपुरी के शिष्य एवं श्रीमहाप्रभु के परम प्रियपात्र हैं। (चैःभाः अन्त्य लीला, ११श अः) "संन्यासीर मध्ये ईश्वरेर प्रियपात्र। आर नाहि एक पुरी गोसाञि से मात्र॥ दामोदर-स्वरूप, परमानन्दपुरी। संन्यासी पार्षद एइ दुइ अधिकारी॥ निरवधि निकटे थाकेन दुइजन। प्रभुर संन्यासे करे दण्डेर ग्रहण॥ पुरी ध्यानपर, दामोदरेर कीर्तन। ** ॥ यत प्रीति ईश्वरेर पुरी-गोसाञिरे। दामोदर-स्वरूपेरेओ तत प्रीति करे॥"

श्रीपरमानन्द पुरी के दर्शन से प्रभु की उक्ति—(चैःभाः अन्त्यलीला, ३य पः) "आजि धन्य लोचन, सफल आजि जन्म। सफल आमार आजि हैल सर्वधर्म॥ प्रभु बले, आजि मोर सफल संन्यास। आजि माधवेन्द्र मोरे हइला प्रकाश॥ कथोक्षणे अन्योऽन्ये करेन प्रणाम। परमानन्दपुरी चैतन्येर प्रियधाम॥"

श्रीपरमानन्द पुरी ने पुरुषोत्तम क्षेत्र में श्रीमन्दिर के पश्चिम दिशा की ओर एक मठ और एक कुँआ का निर्माण करके वास किया। कूएँ का जल अच्छा न होने के कारण श्रीमन् महाप्रभु ने कहा, (चैःभाः अन्त्य लीला, ३य अः)—"महाप्रभु जगन्नाथ मोरे देह एइ वर। गङ्गा प्रवेशुक एइ कूपेर भितर॥ प्रभु बले, शुनह सकल भक्त गण। ए कूपेर जले ये करिबे स्नान पान॥ सत्य सत्य हबे तार गंगास्नान फल। कृष्णे भक्ति हइबे तार परम निर्मल॥ प्रभु बले, आमि ये आछिये पृथिवीते। निश्चयइ जानिह पुरी-गोसाञिर प्रीते॥" गौरगणोद्देश में (११८ श्लोक)—"पुरी श्रीपरमानन्दो य आसीदुद्धव पुरा"।

केशवभारती—श्रीशङ्कर-प्रवर्त्तित दशनामी दण्डियों में अन्यतम 'भारती'-सम्प्रदायभुक्त हैं। सरस्वती, भारती एवं पुरी—ये तीनों सम्प्रदाय दक्षिणापथ के शृंगेरी मठ के अधीन है। श्रीकेशव भारती उस समय काटोया के शाखा मठ में अधिष्ठित थे। कोई-कोई कहते हैं, ये ब्रह्मसंन्यासी होने पर भी श्रीमाध्व सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त श्रीमाधवेन्द्र पुरीपाद के मन्त्रशिष्य एवं वैष्णव संन्यासी थे। वर्द्धमान जिला के अधीन कान्दरा डाकघर के अन्तर्गत खाटुन्दि-गाँव में उनकी देवसेवा एवं मठ स्थापित है। मठाधि-

कारियों के मतानुसार, वे सब केशवभारती के वंश है; केशव के पुत्र (मतभेद में शिष्य) निशापति एवं ऊषापति हैं। निशापति के वंश में श्रीनकड़िचन्द्र विद्यारत्न सेवा-धिकारी के रूप में वर्तमान हैं एवं हुगली के वैंचि के निकट राखालदासपूर में ऊषापति के वंशज विद्यमान हैं। ये सब केशवभारती के पूर्वाश्रम के वंश हो भी सकते हैं। किसी-किसी के मतानुसार, केशवभारती के भाई, मतभेद में—उनके शिष्य माधव भारती के शिष्य बलभद्र हैं, वे भी भारती बने थे। उनके पूर्वाश्रम की दो सन्तान, मदन और गोपाल थीं। मदन—आऊरिया में और गोपाल—देन्दुड़ में रहते थे। मदन के वंश में 'भारती' एवं गोपाल के वंश में 'ब्रह्मचारी' उपाधि है। दोनों वंश के अनेकों उत्तराधिकारी विद्यमान हैं। गौरगणोद्देश में ५२ श्लोक—"मथुरायां यज्ञसूत्रं पुरा कृष्णाय यो मुनिः। ददौ सान्दीपनिः सोऽभूत अद्य केशवभारती॥" ११७ श्लोक "इति केचित् प्रभाषन्तेऽक्रुरः केशव भारती॥" १४३२ शकाब्द में इन्होंने काटोया में निमाई पण्डित को संन्यास प्रदान किया। वैष्णव-मंजुषा—२य संख्या द्रष्टव्य है।

श्रीब्रह्मानन्दपुरी—श्रीमहाप्रभु की नवद्वीप लीला में वह कीर्तन के साथी थे। संन्यास ग्रहण से पहले एवं उस समय भी श्रीमहाप्रभु उन पर विशेष विश्वास करते थे। इसी प्रकार नीलाचल में भी वे श्रीमहाप्रभु के साथी बन-कर आये थे।

श्रीब्रह्मानन्द भारती—जिस समय वे नीलाचल में प्रभु के दर्शन के लिये गये, उस समय उनके पहने हुए वस्त्र मृगचर्म के द्वारा बने हुए थे। श्रीमहाप्रभु उनके निकट उपस्थित होकर छलपूर्वक भारती को देखने की इच्छा प्रकट की। यह सुनकर ब्रह्मानन्द ने चर्माम्बर का त्याग किया और काषाय-बहिर्वास को स्वीकार किया। इन्होंने कुछ दिनों तक नीलाचल में, श्रीमहाप्रभु के निकट वास किया।

अनुभाष्य

१४। केशवपुरी, कृष्णानन्दपुरी, नृसिंहतीर्थ और सुखा नन्दपुरी—गौरगणोद्देश में (९७-१००श्लोक) "कृष्णानन्दः केशवश्च श्रीदामोदर-राघवौ। अनन्तश्च सुखानन्दो गोविन्दो रघुनाथकः॥ पुर्य्युपाधिक्रमात् ज्ञेया अणिमा-द्यष्टसिद्धयः। जायन्तेयाः स्थिता ऊर्द्धरेतसः समदर्शिनः। नव भागवताः पूर्वं श्रीभागवतसंहिताः॥ प्रत्यूचुर्जनकं तेऽद्यभुत्वा सन्न्यासिनः सदा। प्रभुणा गौरहरिणा विहरन्ति स्म ते यथा। श्रीनृसिंहानन्दतीर्थः श्रीसत्यानन्दभारती। श्रीनृसिंह-चिदानन्द-जगन्नाथा हि तीर्थकाः।"

परमानन्दपुरी—
मध्यमूल—

मध्यमूल परमानन्द पुरी महाधीर।
एइ नव मूल वृक्ष करिल सुस्थिर॥१६॥

१६। प० अनु०—महाधीर श्रीपरमानन्द पुरी, वृक्ष के मध्यमूल थे। इस प्रकार इन नौ मूलों ने वृक्ष को सुस्थिर कर दिया।

इनके द्वारा असंख्य शाखाएँ
एवं उपशाखाएँ—

स्कन्धेर उपरे बहु शाखा निकसिल।
उपरि उपरि शाखा असंख्य हइल॥१७॥
विश विश शाखा करि' एक मण्डल।
महा-महा-शाखा छाइल ब्रह्माण्ड सकल॥१८॥
एकेक शाखाते उपशाखा शत शत।
यत उपजिल शाखा के गणिवे कत॥१९॥
मुख्य मुख्य शाखागणेर नाम-गणन।
आगे त' करिब, शुन वृक्षेर वर्णन॥२०॥

१७-२०। प० अनु०—स्कन्ध के ऊपर अनेक शाखा प्रकट हुईं। इन शाखाओं के ऊपर और-और असंख्य शाखाएँ निकल आईं। बीस-बीस शाखाओं को लेकर एक मण्डल बना। इस प्रकार महा-महा शाखासमूह के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में छा गया। एक-एक शाखा से सौ-सौ उपशाखाएँ प्रकट हुईं। इन शाखाओं की गिनती कौन कितनी कर सकता है? मुख्य-मुख्य शाखाओं के नाम की गणना आगे की जायेगी। अभी वृक्ष का वर्णन सुनिये।

मूल स्कन्ध के दोनों ओर दो स्कन्ध—
निताई एवं अद्वैत—

वृक्षेर उपरे शाखा हइल दुइ स्कन्ध।
एक 'अद्वैत' नाम, आर 'नित्यानन्द'॥२१॥

२१। प० अनु०—वृक्ष के ऊपर की शाखा के दो स्कन्ध उत्पन्न हुए। एक स्कन्ध का नाम 'श्रीअद्वैत' और दूसरे का नाम 'श्रीनित्यानन्द' हुआ।

शिष्यप्रशिष्यरूप शाखा-उपशाखा-परम्परा में विस्तार—

सेइ दुइस्कन्धे शाखा यत उपजिल।
तार उपशाखागणे जगत छाइल॥२२॥
बड़ शाखा, उपशाखा, तार उपशाखा।
जगत व्यापिल तार के करिबे लेखा॥२३॥
शिष्य, प्रशिष्य, आर उपशिष्यगण।
जगत व्यापिल तार नाहिक गणन॥२४॥
उडूम्बर-वृक्ष येन फले सर्व अंगे।
एइमत भक्तिवृक्षे सर्वत्र फल लागे॥२५॥

२२-२५। प० अनु०—इन दोनों स्कन्धों से जितनी भी शाखाएँ प्रकट हुईं, उन शाखओं की उपशाखाओं से सम्पूर्ण जगत भर गया। बड़ी शाखा, उपशाखा और उसकी भी उपशाखाओं से जगत व्याप्त हो गया, कौन इसकी गिनती कर सकता है? जैसे उडुम्बर (गूलर) वृक्ष के सारे अङ्ग में फल होते हैं, उसी प्रकार भक्तिरूपी वृक्ष में सर्वत्र फल लग गये।

वहाँ से मालाकार श्रीगौर की
कृष्णप्रेमामृतफल-वितरण-लीला—

मूलस्कन्धेर शाखा-उपशाखागणे।
लागिल ये प्रेमफल,—अमृतके जिने॥२६॥

२६। प० अनु०—मूलस्कन्ध की शाखा और उपशाखा में जो फल निकले, वह अमृत से भी बढ़कर हुए।

बिनमोल प्रेमफल-वितरण—

पाकिल ये प्रेमफल अमृत-मधुर।
बिलाय चैतन्यमाली नाहि लय मूल॥२७॥
त्रिजगते यत आछे धन-रत्नमणि।
एक फलेर मूल्य करि' ताहा नाहि गणि॥२८॥

२७-२८। प० अनु०—श्रीचैतन्यमाली पके हुये अमृत के समान मधुर प्रेमफल को बिना मोल ही बाँटने लगे। त्रिभुवन में जितनी भी धन-रत्नमणि हैं, वे सब भी एक प्रेमफल के मूल्य के समान नहीं है।

अनुभाष्य

२७। मूल—मूल्य।

पात्रापात्र के विचार के बिना वितरण—

मागे वा ना मागे केह, पात्र वा अपात्र।
इहार विचार नाहि जाने, देय मात्र॥२९॥

२९। प० अनु०—कोई माँगे या न माँगे, पात्र (योग्य) है या अपात्र (अयोग्य), इस पर विचार किये बिना ही श्रीमन् महाप्रभु प्रेमफल का वितरण करने लगे।

दीनदुःखी जीवों का उद्धार—

अंजलि अंजलि भरि' फेले चतुर्द्दिशे।
दरिद्र कुड़ाञा खाय, मालाकार हासे॥३०॥
मालाकार कहे,—शुन, वृक्ष-परिवार।
मूलशाखा-उपशाखा यतेक प्रकार॥३१॥

३०-३१। प० अनु०—प्रभु अंजलि-अंजलि भरकर प्रेम फल को चारों ओर फेंकने लगे। दरिद्र उसे उठाकर खाते रहे और माली हँसने लगे। माली कहने लगे—हे वृक्ष-परिवार, मूलशाखा-उपशाखा सब सुनो!

चैतन्य-वृक्ष का सर्वांग ही चेतनमय
एवं चेतनमय फलों के आस्वादन से
अचेतन जीवों में चेतन का उदय—

अलौकिक वृक्ष करे सर्वेन्द्रिय-कर्म।
स्थावर हइया धरे जंगमेर धर्म॥३२॥
ए वृक्षेर अंग हय सब सचेतन।
बाड़िया व्यापिल सबे सकल भुवन॥३३॥

३२-३३। प० अनु०—यह वृक्ष अलौकिक है क्योंकि

यह समस्त इन्द्रियों के द्वारा कर्म करने में सक्षम है, यह स्थावर होते हुए भी जङ्गम का धर्म अपनाये हुये है। इस वृक्ष के सारे अङ्ग सचेतन हैं और यह बढ़कर समस्त जगत में व्याप्त हो गया।

नामप्रेम का प्रचार अकेले असम्भव यह देखकर
सभी को विचार किये बिना वितरण का आदेश—

एकला मालाकार आमि काँहा काँहा याब।
एकला वा कत फल पाड़िया विलाब॥३४॥
एकला उठाञा दिते हय परिश्रम।
केह पाय, केह ना पाय, रहे मने भ्रम॥३५॥
अतएव आमि आज्ञा दिलुँ सबाकारे।
याँहा ताँहा प्रेमफल देह' यारे तारे॥३६॥
एकला मालाकार आमि कत फल खाब।
ना दिया वा एइ फल आर कि करिब॥३७॥
आत्म-इच्छामृते वृक्ष सिंचि निरन्तर।
ताहाते अंसख्य फल वृक्षेर उपर॥३८॥

३४-३८। प० अनु०—मैं अकेला माली, कहाँ-कहाँ जाऊँ और अकेला कितने फल तोड़कर वितरण करूँ। अकेला उठाकर देने में भी मुझे परिश्रम होता है एवं किसी को मिला, किसी को नहीं मिला यह भ्रम भी मन में रह जाता है। अतः मैं सबको आज्ञा प्रदान करता हूँ कि, जहाँ-तहाँ, जिस-किसी को प्रेमफल प्रदान करें। मैं अकेला माली कितने फल खा सकता हूँ और वितरण किये बिना इन फलों का और क्या करूँ। मैं अपने इच्छा रूपी अमृत से इस वृक्ष को निरन्तर सींचता हूँ। जिसके कारण इस वृक्ष पर असंख्य फल प्रकट होते हैं।

प्रेम के आस्वादन से जीवों
को अमृतत्व की प्राप्ति—

अतएव सब फल देह' यारे तारे।
खाइया हउक् लोक अजर अमरे॥३९॥

३९। प० अनु०—इसलिए सभी इस फल को जिस-तिस में बाँट दो। जिससे लोग इसे खाकर अजर-अमर हो जायें।

गौर की दया को देखकर गौरनामकीर्तन
से ही जीवों का नित्यमंगल—

जगत व्यापिया हबे मोर पुण्य ख्याति।
सुखी हइया लोक मोर गाहिबेक कीर्त्ति॥४०॥

४०। प० अनु०—जगत को प्रेम देने से सम्पूर्ण जगत में मेरी पुण्य ख्याति फैल जायेगी और लोग सुखी होकर मेरे कीर्त्ति का गान करेंगे।

अनुभाष्य

४०। जिस प्रकार संसार में, पुण्य के प्रभाव से लोग सुखी होते हैं और पापों के प्रसारण से मुनष्य में दुःख की वृद्धि होती है। इसलिए पुण्यवान् की पवित्र चरित्र-गाथा कीर्त्तित होती है और पापी की दौरात्मा-कथा, लोग मुख में भी लाने की इच्छा नहीं करते, उसी प्रकार कृष्णप्रेम को प्राप्त करके जगत के लोग सुखी होंगे। जिससे प्रेमदाता की सुख्याति की वृद्धि होगी।

भारतभूमि में जन्म लेकर मानवमात्र का
मानव को नित्यदया अथवा कृष्णोन्मुखी
करना अवश्य कर्त्तव्य—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥४१॥

४१। प० अनु०—भारतवर्ष की भूमि पर जिस मनुष्य ने जन्म लिया है, उसे अपना जन्म सार्थक करके परोपकार करना चाहिए।

अनुभाष्य

४१। पवित्र भारतवर्ष के मनुष्यकुल में जन्मग्रहण करके जगत का वास्तव नित्य उपकार करना ही सर्वापेक्षा पवित्र देश में और सर्वापेक्षा श्रेष्ठ प्राणियों में शरीर धारण करने की सफलता है।

काय, मन और वचनों से जीवों को कृष्णभक्ति में उन्मुख
करना ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ दया या मङ्गल आचरण—
(श्रीमद्भागवत १०.२२.३५)

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय आचरणं सदा॥४२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४२। प्राण, अर्थ, बुद्धि एवं वचन के द्वारा दूसरों के प्रति निरन्तर श्रेय आचरण ही देहधारी जीवों के जन्म की सफलता है।

अनुभाष्य

४२। वस्त्रहरण-लीला के अन्त में अपने गोपबालक सखाओं के साथ बहुत दूर जाकर वृक्ष के नीचे बैठकर, विश्राम के समय वृक्षों के परोपकार अथवा दया-प्रवृत्ति एवं सहिष्णुता का दर्शन करके सखाओं के प्रति श्रीकृष्ण का वचन—

सदा प्राणैः अर्थैः धिया वाचा (सर्वतोभावेन) देहिषु (जीवेषु) श्रेय आचरणं (नित्य-मंगलानुष्ठानं भगवद्-वैमुख्यापनोदनपूर्वकतदुन्मुखीकरणेन नित्य-दयायाः सुष्ठु प्रदर्शनमित्यर्थः)—एतावत् एव इह (संसारे) देहिनां (जी-वानां) जन्मसाफल्यं (भवतीति शेषः)।

(विष्णुपुराण ३.१२.४५)

प्राणिनामुपकाराय यदेवेह परत्र च।
कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान् भजेत्॥४३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४३। कर्म, मन एवं वचन के द्वारा इस लोक में तथा परलोक के सम्बन्ध में प्राणियों के लिए जो उपकार योग्य है। उसी का ही बुद्धिमान व्यक्ति आचरण करतें हैं।

अनुभाष्य

४३। मतिमान (बुद्धिमान् जनः) यत् एव कर्म इह (जगति) परत्र (अमूत्र) च प्राणिनाम् उपकाराय (नित्य मंगलाय) भवति, तदेव (भगवद् भक्त्युन्मुखिसुकृतोत्पाद-नमेव) कर्मणा, मनसा, वाचा (कायमनोवाक्येन) भजेत्।

माली मनुष्य आमार नाहि राज्य-धन।
फल-फूल दिया करि पुण्य उपार्जन॥४४॥

४४। प॰ अनु॰—मैं एक माली हूँ, मेरे पास तो न कोई राज्य है और न ही धन, मैं तो केवल फल और फूल देकर ही पुण्य कमाता हूँ।

वृक्ष की निर्हेतुकदया-दर्शन से,
मूल कल्पवृक्ष बनने की इच्छा—

माली हञा वृक्ष हइलाङ एइ त' इच्छाते।
सर्वप्राणीर उपकार हय वृक्ष हैते॥४५॥

४५। प॰ अनु॰—इसी इच्छा से मैं माली होते हुए भी वृक्ष बना हूँ। क्योंकि वृक्ष के द्वारा समस्त प्राणियों का उपकार होता है।

(श्रीमद्भागवत १०.२२.३३)

अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम्।
सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः॥४६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४६। वृक्षों को लक्ष्य करके कह रहे हैं—अहो, ये वृक्ष-समूह समस्त प्राणियों के उपजीवन हैं। इनका जन्म सार्थक हैं। इनके निकट आकर कोई भी याचक विमुख होकर नहीं लौटता। ये सब सुजन की भाँति व्यवहार करते हैं।

नवम परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

४६। वस्त्रहरण-लीला के अन्त में अपने-सखा गोप बालकों के साथ बहुत दूर जाकर वृक्ष के नीचे बैठकर विश्राम के समय वृक्षों दया-प्रवृत्ति एवं सहिष्णुता का दर्शन करके सखाओं के प्रति श्रीकृष्ण का वचन—

अहो एषां (वृक्षाणां) सर्वप्राण्युपजीवनम् (सर्वेषां प्राणिनाम् उपजीवनम्) जन्म सुजनस्य इव वरं (श्रेष्ठं),—येषां (येभ्यः) अर्थिनः (प्रार्थिनः) विमुखाः (विफला-भीष्टाः सन्तः) न यान्ति (प्रत्यावर्त्तन्ते)।

नवम परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

यह सुनकर वृक्ष के अङ्गों में आनन्द—

एइ आज्ञा कैल यदि चैतन्य-मालाकार।
परम आनन्द पाइल वृक्ष-परिवार॥४७॥

४७। प० अनु—श्रीचैतन्य-माली ने जब यह आज्ञा प्रदान की, तो सम्पूर्ण वृक्ष-परिवार (श्रीचैतन्य महाप्रभु के पार्षदगण) को परम आनन्द की प्राप्ति हुई।

अधिकार में भेदभाव के बिना
सभी को प्रेमफल का वितरण—

ये याँहा ताँहा दान करे प्रेमफल।
फलास्वादे मत्त लोक हइल सकल॥४८॥
महा-मादक प्रेमफल पेट भरि' खाय।
मातिल सकल लोक—हासे, नाचे, गाय॥४९॥
केह गड़ागड़ि याय, केह त' हुँकार।
देखि' आनन्दित हञा हासे मालाकार॥५०॥

४८-५०। प० अनु—तब सभी इधर-उधर प्रेमफल का दान करने लगे और उस प्रेमफल के आस्वादन से सभी लोग मत्त हो उठे। महा-मादक प्रेमफल को सभी पेट भरकर खाने लगे और मत्त्वाले की भाँति हँसने, नाचने और गाने लगे। कोई भूमि पर लोटपोट होने लगा, कोई हुँकार करने लगा और ये सब देखकर माली आनन्दित होकर हँसने लगा।

जीव को अपने ही समान कृष्णप्रेम
अर्पण के द्वारा महाभागवत-करण—

एइ मालाकार खाय एइ प्रेमफल।
निरवधि मत्त रहे, विवश-विह्वल॥५१॥
सर्वलोके मत्त कैला आपन-समान।
प्रेमे मत्त लोक बिना नाहि देखि आन॥५२॥

५१-५२। प० अनु०—श्रीचैतन्य माली स्वयं भी प्रेमफल का आस्वादन करके निरन्तर मत्त, विवश और विह्वल रहने लगे तथा सभी लोगों को अपने ही समान इस प्रकार मत्त बना दिया कि प्रेमोन्मत्त लोगों के बिना और कुछ भी दिखाई नहीं देता।

अधम निन्दक आदि का
भी कृष्णप्रेम-प्राप्ति के
कारण उद्धार—

ये ये पूर्वे निन्दा कैल बलि' मातोयाल।
सेइ फल खाय, नाचे, बले—भाल, भाल॥५३॥
एइ त कहिलुँ प्रेमफल-वितरण।
एबे शुन, फलदाता ये ये शाखागण॥५४॥
श्रीरूप-रघुनाथ पदे यार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥५५॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड में भक्तिकल्पतरु वर्णन नामक नवम परिच्छेद समाप्त।

५३-५४। प० अनु०—जिन-जिन लोगों ने पहले श्रीचैतन्य को मतवाला कहकर निन्दा की थी। वे सब भी इस फल को खाकर नाचने लगे और 'अच्छा है, अच्छा है' कहने लगे। यहाँ तक प्रेमफल वितरण के सम्बन्ध में वर्णन किया गया अब उस फल के दाता जो-जो शाखाएँ हुईं, उसका श्रवण करो। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋ ❋ ❋